आर.एन.आई. नं. 3653/57
मुद्रण तिथि 5 से 8 दिसम्बर, 2020
डाक प्रेषण तिथि 10-11 दिसम्बर, 2020

वर्ष : 78 अंक : 12
मार्गशीर्ष, 2077 मूल्य : ₹ 100
पृष्ठ संख्या 476

डाक पंजीयन संख्या JaipurCity/413/2018-20
WPP Licence No. Jaipur City/WPP-04/2018-20
Posted at Jaipur RMS (PSO)

ISSN 2249-2011

हिन्दी मासिक

जिनवाणी

दिसम्बर, 2020

जैन जीवनशैली विशेषाङ्क

आचार्य हस्ती
दीक्षा-शती वर्ष

75th
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं

एसो पंच नमोक्कारो, सव्व-पावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल जयपुर

Website : www.jinwani.in

पारिवारिक शान्ति वहीं कायम रहती है, जहाँ परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने सुख को गौण और दूसरे सदस्यों के सुख को मुख्य मानकर व्यवहार करता है।

– आचार्य श्री हस्ती

संसार की समस्त सम्पदा और भोग
के साधन भी मनुष्य की इच्छा
पूरी नहीं कर सकते हैं।

- आचार्य हस्ती

आवश्यकता जीवन को चलाने
के लिए जरूरी है, पर इच्छा जीवन
को बिगाड़ने वाली है,
इच्छाओं पर नियंत्रण आवश्यक है।

- आचार्य हीरा

जिनका जीवन बोलता है,
उनको बोलने की उतनी जरूरत भी नहीं है।

- उपाध्याय मान

With Best Compliments :
Rajeev Nita Daga Foundation Houston

हमारे आधार स्तम्भ...

श्रद्धेय (स्व.) श्री रतनलालजी बाफना
११ फरवरी १९३५-१६ नवम्बर २०२०

आपकी पावन-स्मृति को विनम्र अभिवादन!

शोकाकुल

बाफना परिवार

एवं समस्त कर्मचारी वृंद

रतनलाल सी. बाफना ज्वेलर्स
जलगाव (HO) • औरंगाबाद • नाशिक • नांदेड • पुना • कोल्हापूर

HONEST, PURE, TRANSPARENT

रतनलाल सी. बाफना गो सेवा अनुसंधान केंद्र
कुंसूबा, जलगाव

जय महावीर

अंक सौजन्य

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

स्व. श्री माँगीलालजी सोलंकी, जालोर

(पुण्य तिथि 14 मार्च, 2008)

स्व. श्रीमती सीतादेवीजी सोलंकी

(पुण्य तिथि 07 अगस्त, 2017)

आपके संस्कार एवं आदर्श ही हमारे जीवन की राह है

सुपुत्र-पुत्रवधू : डॉ. नरपत-यशोदा, बेंगलोर, सुशील-मंजु, मुम्बई, राजेन्द्र-मंजु सोलंकी, जालोर

सुपुत्री-दामाद : श्रीमती रंजना-श्री रतनजी सालेचा, डीसा, श्रीमती हेमा-श्री प्रदीपजी, मुम्बई, श्रीमती ललिता-श्री सुशीलजी सुराणा, मुम्बई, श्रीमती प्रेमलता - स्व. राजेश जी गुलेच्छा, जोधपुर

सुपौत्र-सुपौत्री : डॉ प्रियंक-ममता, मयंक-किनारी, अपेक्षा-प्रभात जी,

अपेक्षित, रिषभ, भाविन

समर्पण

जिनशासन गौरव, आगम रत्नाकर, प्रवचन प्रभाकर, संघनायक आचार्य श्री 1008 श्री हीराचन्द्रजी म.सा., जो अपने अभी तक के आचार्यकाल में श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी के शासन की चहुमुँखी उन्नति-प्रगति के साथ रिकार्ड 100 से अधिक विद्वान् मुमुक्षुओं को दीक्षाएँ प्रदान कर धर्मसंघ की अनूठी सेवा कर रहे हैं, ऐसे व्यसन-मुक्ति के प्रबल प्रेरक गुरुदेव के चरणारविन्दों में कोटि-कोटि वन्दना। शतायु होने की मंगल कामना।

"गुरु हस्ती के दो फरमान, सामायिक-स्वाध्याय महान्"

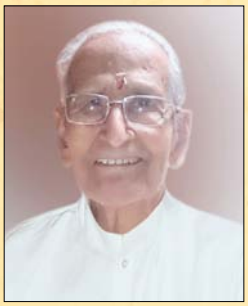

के नारे को अपने जीवन के उत्तरार्द्ध के लगभग 50 वर्षों तक नित्य 10-12 सामायिक के साथ अपनी 93 वर्ष की आयु तक नित्य 4 घण्टे स्वाध्याय एवं 4 घण्टे जप करके आत्मसात् करने वाले गुरु हस्ती-हीरा के अनन्य भक्त, जीवदया में

विशेष समर्पित पूजनीय पिताजी श्रावकरत्न श्रीमान् छत्तरचन्द सा मेहता एवं सरलमना, सहनशीला, संघसेवी, सामायिक-प्रतिक्रमण की नियमित साधिका, तपस्विनी पूजनीया माताजी श्राविकारत्न श्रीमती बिलमकंवरजी मेहता के उपकारों का स्मरण कर श्रद्धासुमन अर्पण।

:: श्रद्धानवत ::

शशि-आनन्द मेहता, कोलकाता **प्रभा-प्रकाश मेहता, आबूधाबी**

सुनीता-अरुण मेहता, जोधपुर **उर्मिला-हणवन्तमल सिंघवी, जोधपुर**

जय गुरु हस्ती जय महावीर जय गुरु हीरा-मान

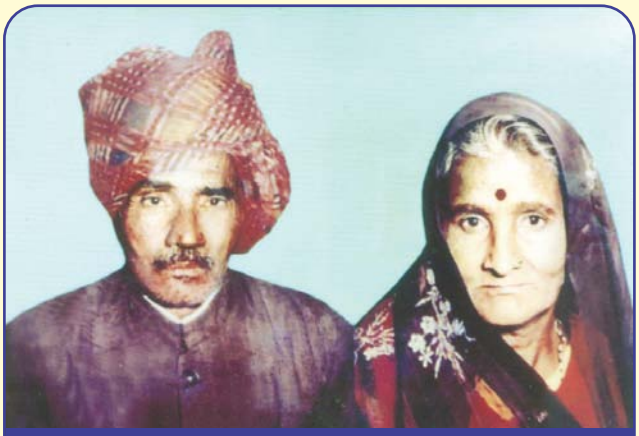

स्व. श्री स्वरूप चन्द जैन स्व. श्रीमती चमेली देवी जैन

आचार्य श्री हस्ती गुरु के परम भक्त एवं घोर तपस्वी पूज्य
श्री श्रीचन्द जी म.सा. के अनन्य भक्त

स्व. श्री स्वरूप चन्दजी जैन पल्लीवाल - स्व. श्रीमती चमेली देवी जी जैन

ढहरा, हिण्डौन सिटी, जिला करौली के पुण्य स्मृति दिवस पर कोटि-कोटि नमन

श्रद्धावनत

जिनेश कुमार जैन - कुमकुम जैन (पुत्र-पुत्रवधू)
सुरेशचन्द जैन - सुनिता जैन (पुत्र-पुत्रवधू)
विमल कुमार जैन - सुनिता जैन (पुत्र-पुत्रवधू)
अभय कुमार जैन - सीमा जैन (पुत्र-पुत्रवधू)
रोहित राज - ज्योति बाला जैन (सुपौत्र-सुपौत्रवधू)
मोहित राज - खुशबू जैन (सुपौत्र-सुपौत्रवधू)
वैभव - अंकिता जैन (सुपौत्र-सुपौत्रवधू)
विनय, विवेक, मोक्षांक (सुपौत्र)
ऋषभ राज, नन्दिका, रक्षिता (प्रपौत्र-प्रपौत्री)

मानतुंग सदन, सी-17, बरकत नगर विस्तार, टोंक रोड, जयपुर-302015 (राज.)
मोबाइल : 94137-49658

इतिहास-मर्मज्ञ शिक्षाविद् डॉ. एस.एल. नागोरी (जैन)

शैक्षणिक लेखन के क्षेत्र में डॉ. नागोरी इतिहास विषय में 151 पुस्तकें लिखकर विश्व में तीन बार वर्ल्ड रिकॉर्ड दर्ज करवाने वाले प्रथम जैन एवं भारतीय हैं। उन्होंने विश्व में भारत और जैन समाज का मस्तक गर्व से ऊँचा किया है। इतिहास मर्मज्ञ डॉ. नागोरी के कीर्तिमान अभी भी अजेय है।

जन्म एवं परिवार परिचय:- डॉ. एस.एल. नागोरी (जैन) का जन्म राजस्थान के चित्तौड़गढ जिले के डूंगला ग्राम में 04.07.1949 को धर्मपरायण दम्पती श्रीमती मनोहर बाई-श्री गुलाबचन्द जी नागोरी के सबसे बडे पुत्र के रूप में हुआ। आपके दो लघुभ्राता जिनशासन की सेवा कर रहे हैं। प्रथम- राष्ट्र सन्त कमलमुनि कमलेश एवं उप-प्रवर्तक श्री चन्द्रेश मुनि जी म.सा.। एक भाई मदनलाल नागोरी तहसीलदार के पद से सेवानिवृत्त हुए हैं। पारिवारिक दृष्टि से भी आप अत्यन्त भाग्यशाली हैं। प्रेरणादायी एवं कर्त्तव्य परायण व सतत सहयोगी पत्नी श्रीमती कान्ता नागोरी का साथ आपको प्राप्त हुआ। आपके पुत्र डॉ. जीतेश, आई.ए.एस. हैं तथा वर्तमान में अहमदाबाद में जी.एस.टी. कमिश्नर के पद पर पदासीन हैं तथा दूसरे पुत्र व्यवसायत हैं।

डॉ. नागोरी ने 1974 ई. में उदयपुर विश्वविद्यालय से एम.ए. इतिहास में प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम रहकर स्वर्ण पदक प्राप्त किया। 1976 ई. में आपने डॉक्टरेट की डिग्री प्राप्त की।

35 वर्षों तक स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्यापन कार्य कर एक आदर्श शिक्षक के रूप में ख्याति प्राप्त की।

वर्ष 2009 ई. में आप प्रोफेसर इतिहास के पद से सेवानिवृत्त हुए।

शैक्षणिक उपलब्धियाँ- आप शोध निदेशक, इतिहास पाठ्यक्रम में समिति के सदस्य, विभिन्न विश्वविद्यालयों की प्रश्न निर्माता, परीक्षक एवं राजस्थान लोक सेवा आयोग के लिए 35 वर्षों से इतिहास विषय विशेषज्ञ के रूप में बुलाये जाते रहे हैं। आप देश के एक मात्र इतिहासकार हैं, जिनके 21 इतिहास कोश (डिक्शनरीज) प्रकाशित हो चुके हैं।

धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन:- धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से भी डॉ. नागोरी अत्यन्त समृद्ध हैं। तप-त्याग के साथ परमार्थ कार्यों में भी आप अग्रणी हैं। डॉ. नागोरी ने 42 वर्ष की युवावस्था में, 1992 में ही श्रावक के 12 व्रत धारण कर लिये थे। साथ ही गत 28 वर्षों से आप ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहे हैं। प्रतिदिन रात्रि में 11 बजे से 3 बजे तक पाँच सामायिक करके प्रभु भक्ति में लीन रहते हैं। आपकी यह धार्मिक व आध्यात्मिक प्रवृत्ति परमार्थ कार्यों में भी दृष्टिगोचर होती है।

दान:- आपने अपने जन्मस्थान डूंगला की गौशाला में पूज्य माता-पिता की स्मृति में 27 लाख रुपये की लागत से जैन साधु एवं साध्वियों के लिए साधना-भवन का निर्माण करवाया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न महाविद्यालयों में तीन लाख की पुस्तकेंभेंट कर चुके हैं। गायों को घास एवं कबूतरों को दाना डलवाना, गरीब विद्यार्थियों की मदद करना एवं वाटर कूलर लगाना आदि कार्यों के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। कई प्रतिष्ठित संस्थाओं ने आपको दानवीर भामाशाह की उपाधि से सम्मानित किया है। अभी तक आप 65 लाख रुपये की राशि दान में निकाल चुके हैं।

प्रमुख सम्मान :

* अमेरिकन बायोग्राफिलकल इन्स्टीट्यूट नॉर्थ केरोलिना (USA) द्वारा आपका नाम विश्व के 125 इतिहासकारों की सूची में शामिल। इसी संस्थान द्वारा मैन ऑफ दी ईयर 2009 के सम्मान से अलंकृत।
* 2011 में लिम्का बुक ऑफ रिकॉर्ड एवं 2011 इण्डिया बुक ऑफ रिकॉर्ड द्वारा सम्मानित।
* 2018 में गोल्डन बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्डस, यूनिक वर्ल्ड रिकॉर्ड एवं इन्क्रेडिबल ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्ड द्वारा वर्ल्ड रिकॉर्ड से नवाजा गया।
* समाजसेवी एवं दानवीर भामाशाह होने के कारण नई दिल्ली की ऑल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन क्रान्फेन्स द्वारा 2017 में 'समाज भूषण' के सम्मान से सम्मानित।

डॉ. नागोरी की हार्दिक मनोकामना है कि उनकी 171 पुस्तकें प्रकाशित हों तथा कुछ समय पश्चात् डूंगला गौशाला में रहकर धर्म साधना करें तथा जीवनपर्यन्त परमार्थ कार्यों में तन-मन-धन से सहयोग करें।

जय गुरु हस्ती जय महावीर जय गुरु हीरा-मान

पारिवारिक शान्ति वहीं कायम रहती है, जहाँ परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने सुख को गौण और दूसरे सदस्यों के सुख को मुख्य मानकर व्यवहार करता है।

-आचार्य श्री हस्ती

जिस व्यक्ति के जीवन में आय के साधन अन्याययुक्त हैं, मन में, विचारों में, कार्यों में निर्मलता-पवित्रता नहीं है तो वह विशुद्धि के मार्ग पर चिन्तन नहीं कर पायेगा।

-आचार्य श्री हीरा

(स्वर्गगमन 20 नवम्बर 1985)

(स्वर्गगमन 26 अप्रेल 2006)

धर्मप्रिय, व्रतनिष्ठ, स्वाध्यायी, समाजसेवी, अतिथि प्रिय

श्रावकरत्न पूज्य श्री शोभागमलजी जैन सुपुत्र श्री मोतीलाल जी जैन

की 35वीं पुण्यतिथि (20 नवम्बर, 2020)

एवं

धर्मपरायणा, वात्सल्य मूर्ति, सेवाभाविनी, सहृदया

श्राविकारत्न श्रीमती कपूरी देवी जी जैन, अलीगढ़ (टोंक)

के उपकारों का पावन स्मरण करते हुए हार्दिक श्रद्धाञ्जलि

सुपुत्र-पुत्रवधू	:	डॉ. धर्मचन्द - मधु जैन, जयपुर, ऋषभ चन्द - मधु जैन, मुम्बई टीकम चन्द - अरूणा जैन, अलीगढ़ (टोंक), विनोद - बबीता जैन, अलीगढ़ (टोंक)
सुपुत्री-जामाता	:	श्रीमती चंचल - भैरूलाल जी जैन, चौथ का बरवाड़ा
सुपौत्र - पौत्रवधू	:	मुदित - दीपांशी, जयपुर, अंकित-खुशबू, मुम्बई
सुपौत्री-पौत्रीवर	:	कनीनिका - अमित जी, मधुरिका - आशीष जी, आकांक्षा - विनय जी
सुपौत्र-सुपौत्री	:	आकृति, लघिमा, वागीशा, सिद्धि, हार्दिक, सार्थक
प्रपौत्री	:	दिशी

जिनवाणी की प्रकाशन योजना में आपका स्वागत है

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर द्वारा विगत 77 वर्षों से प्रकाशित 'जिनवाणी' हिन्दी मासिक पत्रिका मानव के व्यक्तित्व को निखारने एवं ज्ञानवर्धक सामग्री परोसने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। इसमें अध्यात्म, जीवन-व्यवहार, इतिहास, संस्कृति, जीवन मूल्य, तत्त्व-चर्चा आदि विविध विषयों पर पाठ्य सामग्री उपलब्ध रहती है। अनेक स्तम्भ निरन्तर प्रकाशित हो रहे हैं, जिनमें सम्पादकीय, विचार-वारिधि, प्रवचन, शोधालेख, अंग्रेजीलेख, युवा-स्तम्भ, नारी-स्तम्भ आदि के साथ विभिन्न गीत, कविताएँ, विचार, प्रेरक प्रसङ्ग आदि प्रकाशित होते हैं। नूतन प्रकाशित साहित्य की समीक्षा भी की जाती है।

जैनधर्म, संघ, समाज, संगोष्ठी आदि के प्रासङ्गिक महत्त्वपूर्ण समाचार भी इसकी उपयोगिता बढ़ाते हैं। जनवरी, 2017 से 8 पृष्ठों की 'बाल जिनवाणी' ने इस पत्रिका का दायरा बढ़ाया है। अनेक पाठकों को प्रतिमाह इस पत्रिका की प्रतीक्षा रहती है तथा वे इसे चाव से पढ़ते हैं। जैन पत्रिकाओं में जिनवाणी पत्रिका की विशेष प्रतिष्ठा है। इस पत्रिका का आकार बढ़ने तथा कागज, मुद्रण आदि की महँगाई बढ़ने से समस्या का सामना करना पड़ रहा है। जिनवाणी पत्रिका की आर्थिक स्थिति को सम्बल प्रदान करने के लिए पाली में 28 सितम्बर, 2019 को आयोजित कार्यकारिणी बैठक में निम्नाङ्कित निर्णय लिये गए, जिन्हें अप्रेल 2020 से लागू किया गया है-

वर्तमान में श्वेत-श्याम विज्ञापनों से जिनवाणी पत्रिका को विशेष आय नहीं होती है। वर्ष भर में उसके प्रकाशन में आय अधिक राशि व्यय हो जाती है। अत: इन विज्ञापनों को बन्दकर पाठ्य सामग्री प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया।

आर्थिक-व्यवस्था हेतु एक-एक लाख की राशि के प्रतिमाह दो महानुभावों के सहयोग का निर्णय लिया गया। ऐसे महानुभावों का एक-एक पृष्ठ में उनके द्वारा प्रेषित परिचय/सामग्री प्रकाशित करने के साथ वर्षभर उनके नामों का उल्लेख करने का प्रावधान भी रखा गया।

जिनवाणी पत्रिका के प्रति अनुराग रखने वाले एवं हितैषी महानुभावों से निवेदन है कि उपर्युक्त योजना से जुड़कर श्रुतसेवा का लाभ प्राप्त कर पुण्य के उपार्जक बनें। जो उदारमना श्रावक जुड़ना चाहते हैं वे शीघ्र मण्डल कार्यालय या पदाधिकारियों से शीघ्र सम्पर्क करें।

अर्थसहयोगकर्ता जिनवाणी (JINWANI) के नाम से चैक प्रेषित कर सकते हैं अथवा जिनवाणी के निम्नाङ्कित बैंक खाते में राशि नेफ्ट/नेट बैंकिंग/चैक के माध्यम से सीधे जमा करा सकते हैं।

बैंक खाता नाम-JINWANI, बैंक-State Bank of India, बैंक खाता संख्या-51026632986, बैंक खाता-SAVING Account, आई.एफ.एस. कोड-SBIN0031843, ब्रॉच-Bapu Bazar, Jaipur

राशि जमा करने के पश्चात् राशि की स्लिप मण्डल कार्यालय या पदाधिकारियों की जानकारी में लाने की कृपा करें जिससे आपकी सेवा में रसीद प्रेषित की जा सके।

'जिनवाणी' के खाते में जमा करायी गई राशि पर आपको आयकर विभाग की धारा 80G के अन्तर्गत छूट प्राप्त होगी, जिसका उल्लेख रसीद पर किया हुआ है। 'जिनवाणी' पत्रिका में जन्मदिवस, शुभविवाह, नव प्रतिष्ठान, नव गृहप्रवेश एवं स्वजनों की पुण्य-स्मृति के अवसर पर सहयोग राशि प्रदान करने वाले सभी महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। आप जिनवाणी पत्रिका को सहयोग प्रदान करके अपनी खुशियाँ बढ़ाना न भूलें।

-अशोक कुमार सेठ, मन्त्री-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, 9314625596

जिनवाणी प्रकाशन योजना के लाभार्थी

'जिनवाणी' हिन्दी मासिक पत्रिका की अर्थ-व्यवस्था को सम्बल प्रदान करने हेतु निम्नाङ्कित धर्मनिष्ठ उदारमना श्रावकरत्नों से राशि रुपये 1,00,000/- प्राप्त हुई है। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल एवं जिनवाणी परिवार उनका हार्दिक आभारी है।

(1) श्री चंचलमलजी बच्छावत, कोलकाता, अध्यक्ष-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
(2) श्रीमती मंजूजी भण्डारी, बेंगलोर, अध्यक्ष-अ. भा. श्री जैन रत्न श्राविका मण्डल
(3) श्री पी. शिखरमलजी सुराणा, चेन्नई, पूर्व संघाध्यक्ष एवं पूर्व मण्डल अध्यक्ष
(4) श्री विनयचन्दजी डागा, जयपुर, कार्याध्यक्ष-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
(5) डॉ. धर्मचन्दजी जैन, जयपुर, कार्याध्यक्ष-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
(6) श्री अशोक कुमारजी सेठ, जयपुर, मन्त्री-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
(7) श्री राजेन्द्र कुमारजी रितुलजी पटवा, जयपुर, कोषाध्यक्ष-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
(8) श्री दुलीचन्दजी-श्रीमती कमलाजी बाघमार, चेन्नई
(9) श्री चंचलमलजी, अशोक कुमारजी चोरड़िया, जोधपुर
(10) श्री प्रमोदजी महनोत, जयपुर, अध्यक्ष-श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, जयपुर
(11) श्री हिमांशुजी सुपुत्र श्री सोहनलालजी जैन, अलीगढ़-रामपुरा, जिला-टोंक
(12) श्री गौत्तमचन्दजी जैन, पूर्व जिला रसद अधिकारी (अलीगढ़-रामपुरा वाले), जयपुर
(13) न्यायमूर्ति श्री जसराजजी श्री आनन्दजी चौपड़ा, जयपुर
(14) श्री सुशीलजी सोलंकी, मुम्बई
(15) श्री रतनराजजी नेमीचन्दजी भण्डारी, मुम्बई (पीपाड़ सिटी वाले)
(16) नयनतारा रतनलाल सी. बाफणा एण्ड सन्स, जलगाँव
(17) श्री राजरूपमलजी, संजयजी, अंजयजी, दिवेशजी मेहता, शिवाकाशी
(18) डॉ. एस. एल. नागौरीजी, बून्दी
(19) श्री चंचलराजजी मेहता, अहमदाबाद
(20) श्री जिनेश कुमारजी, रोहितराजजी जैन, जयपुर
(21) श्री अरुणजी मेहता, सुनीताजी मेहता छत्तरछाया फाउण्डेशन, जोधपुर
(22) श्री सागरमलजी सेठिया, शिरपुर

वित्तीय वर्ष 2021-22 हेतु अग्रिम रूप से लाभार्थी

(23) श्री भागचन्दजी हेमेशजी सेठ, जयपुर
(24) श्री स्वरूपचन्दजी बाफना, सूरत
(25) श्री सुमतिचन्दजी कोठारी, जयपुर
(26) श्री पवनलालजी मोतीलालजी सेठिया, होलनांथा
(27) श्री विजयजी नाहर, इन्दौर
(28) श्री कैलाशचन्दजी हीरावत, जयपुर
(29) श्री क्रान्तिचन्दजी मेहता, अलवर

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 11
ISSN 2249-2011

जिनवाणी हिन्दी-मासिक

जैन जीवनशैली विशेषाङ्क

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. दीक्षा शताब्दी वर्ष
(माघ शुक्ला 2 विक्रम सम्वत् 2076 से 2077 तक)
एवं
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के हीरक वर्ष
(विक्रम सम्वत् 2002-2077)
के अवसर पर प्रकाशित

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

प्रधान सम्पादक
डॉ. धर्मचन्द जैन
सह सम्पादक
नौरतन मेहता
मनोज कुमार जैन (पाटोली)

प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर

जिनवाणी

जैन जीवनशैली विशेषाङ्क

10-11 दिसम्बर-2020
वीर निर्वाण सम्वत् 2547
मार्गशीर्ष, सम्वत् 2077
वर्ष–78 अंक–12

प्रकाशक
अशोक कुमार सेठ
मन्त्री-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
दुकान नम्बर 182-183 के ऊपर, बापू बाजार
जयपुर-302003(राज.), फोन नं. 0141-2575997
E-mail:editorjinvani@gmail.com

शुल्क/साभार नकद राशि ``JINWANI'' बैंक खाता संख्या SBI 51026632986 IFSC No. SBIN 0031843 में जमा कराकर जमापर्ची (काउन्टर-प्रति) अथवा ड्राफ्ट भेजने का पता 'जिनवाणी', दुकान नं. 182 के ऊपर, बापू बाजार, जयपुर-302003 (राज.) फोन नं.0141-2575997, E-mail : sgpmandal@yahoo.in

संरक्षक
अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ
सामायिक-स्वाध्याय भवन, 2, नेहरू पार्क, जोधपुर (राज.), फोन नं. 0291-2636763

संस्थापक
श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़

सम्पादकीय कार्यालय
आचार्य हस्ती आध्यात्मिक शिक्षण संस्थान
ए-9, महावीर उद्यान पथ, बजाज नगर, जयपुर-302015 (राज.) फोनः 0141-2705088

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त
रजिस्ट्रेशन नं. 3653/57
डाक पंजीयन सं.-JaipurCity/413/2018-20 WPP Licence No. JaipurCity-WPP-04/2018-20
Posted at Jaipur RMS (PSO)

सदस्यता-शुल्क

स्तम्भ सदस्यता	21,000 रु.	संरक्षक सदस्यता	11,000 रु.
आजीवन सदस्यता देश में	1000 रु.(20 वर्ष)	आजीवन सदस्यता विदेश में(20 वर्ष)	12,500 रु.
त्रिवर्षीय सदस्यता	250 रु.	साहित्य आजीवन सदस्यता	4,000 रु.
इस विशेषांक का मूल्य	100 रु.		

ड्राफ्ट 'जिनवाणी' जयपुर के नाम बनवाकर उपर्युक्त पते पर प्रेषित किया जा सकता है।

मुद्रक : दी डायमण्ड प्रिण्टिंग प्रेस, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर, फोन नं. 0141-4043938

नोटः यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों से सम्पादक या मण्डल की सहमति हो।

अध्यात्मयोगिनं वन्दे, युगमनीषिणं गुरुम्।
ध्यानमौनक्षमासूरिं, हस्तिमल्लं गुणाकरम्।।

सम्यग्ज्ञानाय शास्त्रेषु, प्रवृत्तिर्येन कारिता।
चित्तविकारनाशाय, सामायिके नियोजिताः।।

दीक्षाशततमे वर्षे, विशेषाङ्कोऽयमर्प्यते।
जैनजीवनशैल्यां हि, समेषां हितकारकः।।

अध्यात्मयोगी, युगमनीषी पूज्य आचार्यप्रवर
श्री हस्तीमलजी महाराज सा. की
दीक्षा शताब्दी (माघ शुक्ला 2, विक्रम सम्वत् 2076-2077)
के अवसर पर सादर समर्पित

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल एवं जिनवाणी परिवार द्वारा
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के 75वें वर्ष
की सम्पूर्ति पर उपकारी गुरुदेव को
सादर श्रद्धापूर्वक कोटिश: नमन

आगमादर्शसम्पन्नं, जिनशासनगौरवम्।
निर्दोषाचारसम्पृक्तं, संघहितैषिनायकम्।।

हीराचन्द्रं गुरुं पूज्यं, धर्मतीर्थे प्रभावकम्।
सिद्धान्तरक्षकं प्राज्ञं, जयमौनक्षमाशुचिम्।।

अष्टपञ्चाशत्तमे वर्षे, साधुजीवनभास्करम्।
श्रद्धया भूरिशो वन्दे, निर्लोभं निःस्पृहं मुनिम्।।

आगमादर्श, जिनशासनगौरव पूज्य आचार्यप्रवर
श्री हीराचन्द्रजी म.सा. को 58वें दीक्षा-दिवस
कार्तिक शुक्ला षष्ठी के अवसर पर
सादर सश्रद्धा कोटिशः नमन

जैन जीवनशैली नु, विश्वजीवहितैषिणी।
आत्ममनः-प्रसादाय, स्वास्थ्यसंरक्षणाय च।।
पर्यावरण-रक्षायै, सुख-सौहार्दलब्धये।
दुःखक्लेश-विनाशाय, सर्वैर्जनैः समाचर्या।।

समस्त जीवों की हितैषिणी यह जैन जीवनशैली आत्मा एवं मन की प्रसन्नता के लिए, स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के संरक्षण के लिए, सुख-सौहार्द की प्राप्ति के लिए, दु:ख-क्लेश के विनाश के लिए सभी जनों के द्वारा आचरणीय है।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 15
ISSN 2249-2011

प्रकाशकीय

जिनवाणी मासिक पत्रिका अध्यात्म, धर्म, दर्शन, नैतिकता, इतिहास, संस्कृति एवं जीवन मूल्यों की संवाहक है। जनवरी-1943 से इसका निरन्तर प्रकाशन हो रहा है एवं लगभग 15600 आजीवन सदस्य हैं। जिनवाणी पत्रिका के समय-समय पर महत्त्वपूर्ण विशेषाङ्क प्रकाशित होते रहे हैं। अब तक 19 विशेषाङ्क प्रकाशित हो चुके हैं- यथा- 'स्वाध्याय' (1964), 'सामायिक' (1965), 'तप' (1966), 'श्रावक धर्म' (1970), 'साधना' (1971), 'ध्यान' (1972), 'जैन संस्कृति और राजस्थान' (1975), 'कर्म-सिद्धान्त' (1984), 'अपरिग्रह' (1986), 'आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. श्रद्धाञ्जलि अंक' (1991), 'आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' (1992), 'अहिंसा' (1993), 'सम्यग्दर्शन' (1996), 'क्रियोद्धार : एक चेतना' (1997), 'जैनागम' (2002), 'प्रतिक्रमण' (2006), 'गुरु-गरिमा एवं श्रमण-जीवन' (2010-2011), 'आगमादर्श आचार्य श्री हीरा' (2013), 'आचार्यपद' (2016)। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल द्वारा प्रकाशित ये विशेषाङ्क पाठकों द्वारा प्रशंसित हुए हैं।

अध्यात्मयोगी युगमनीषी पूज्य आचार्यश्री हस्तीमलजी म.सा. इस युग के महान् सन्त हुए। उनकी दीक्षा शताब्दी (माघ शुक्ला द्वितीया, विक्रम सम्वत् 1977 से 2077) के अवसर पर सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के निर्णयानुसार जिनवाणी हिन्दी मासिक पत्रिका का **'जैन जीवनशैली'** विशेषाङ्क प्रकाशित करते हुए हमें प्रमोद का अनुभव हो रहा है।

जिनधर्म के उपासक की 'जीवनशैली' के विविध आयामों से यह विशेषाङ्क समृद्ध है। इस जीवनशैली को कोई भी अपना सकता है। यह जीवनशैली एक मनुष्य को अच्छा नागरिक, श्रावक एवं श्रेष्ठ इंसान बनाती है। यह जीवनशैली आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य का संरक्षण करती है तथा मनुष्य को तनावमुक्त जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करती है।

प्रस्तुत विशेषाङ्क हेतु जिन आचार्यों, सन्तों, महासतियों, विद्वज्जनों एवं श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाओं से विचारपूर्ण प्रवचन / आलेख / विचार / रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उनका हम हृदय से आभार ज्ञापित करते हैं। जिन महानुभावों ने स्वेच्छा से एवं हमारे निवेदन पर अर्थ-सहयोग प्रेषित किया है, उनकी उदारता, श्रद्धा एवं धर्म-भावना का आदर करते हैं तथा हृदय से उनका धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

चंचलमल बच्छावत	विनयचन्द डागा	डॉ. धर्मचन्द जैन	अशोक कुमार सेठ
अध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	मन्त्री

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 16
ISSN 2249-2011

विषयानुक्रम

प्रकाशकीय 15
सम्पादकीय 21

प्रथम खण्ड

प्रवचन/आलेख

जीवनशैली के उन्नयन हेतु अमृत वाक्	आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा.	27
जैन जीवनशैली की एक विशेषता : सद्गुणग्रहिता	आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.	33
समाज की विकृतियों का निवारण कैसे?	आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.	36
सामायिक : स्वरक्षा से सर्वरक्षा की ओर	उपाध्यायप्रवर श्री मानचन्द्रजी म.सा.	42
जैनत्व और जीवनशैली	आचार्यप्रवर श्री रामलालजी म.सा.	44
जैन जीवनशैली में ध्यान	आचार्यप्रवर (डॉ.) श्री शिवमुनिजी म.सा.	45
जैन जीवनशैली और अन्तराय कर्म	आचार्यप्रवर श्री विजयराजजी म.सा.	48
पश्चात्ताप से परिवर्तन	आचार्यप्रवर श्री ज्ञानचन्द्रजी म.सा.	58
जैन जीवनशैली के नौ सूत्र	आचार्य महाप्रज्ञ	60
'निसीहि' शब्द के प्रयोग की महत्ता	उपाध्याय श्री अमरमुनिजी म.सा.	64
ज्ञानी का जीवन : एक चिन्तन	उपाध्याय श्री रमेशमुनिजी शास्त्री	67
तीन निधानों का करें सदुपयोग	महान् अध्यवसायी श्री महेन्द्रमुनिजी म.सा.	71
समझें सुदेव का स्वरूप, जिएँ जीवन उसी अनुरूप	मधुरव्याख्यानी श्री गौतममुनिजी म.सा.	74
व्यक्ति एवं समाज-सुधार का उपाय : जैन जीवनशैली	तत्त्वचिन्तक श्री प्रमोदमुनिजी म.सा.	80
'दया पालो' एवं दया-पौषध की संस्कृति में निहित मर्म	तत्त्वचिन्तक श्री प्रमोदमुनिजी म.सा.	88
जैन की जीवनशैली	श्रद्धेय श्री योगेशमुनिजी म.सा.	95
जीवनशैली में जैन कौन?	श्रद्धेय श्री मनीषमुनिजी म.सा.	98
जैन जीवनशैली में कर्मसिद्धान्त का महत्त्व	बहुश्रुत श्री जयमुनिजी म.सा.	100
लक्ष्य दया का अपना हो : हर एक कदम पर यतना हो	महासती श्री विनीतप्रभाजी म.सा.	105
जीवन में करने योग्य एवं नहीं करने योग्य	महासती श्री भाग्यप्रभाजी म.सा.	108
जैनधर्म में सप्त दुर्व्यसनत्याग की सामाजिक प्रासङ्गिकता	समणी डॉ. शशिप्रज्ञा	117
जैन जीवनशैली : एक समग्र विश्लेषण	श्री रणजीत सिंह कूमट	122

जैन जीवनशैली : स्वरूप एवं सन्धारण	प्रो. चाँदमल कर्णावट	130
जैन जीवनशैली : एक चिन्तन	डॉ. दयानन्द भार्गव	132
पर्यावरण-सुरक्षा में जैन जीवनशैली की उपयोगिता	प्रो. (डॉ.) प्रेमसुमन जैन	136
जैन जीवनशैली द्वारा पर्यावरण और स्वास्थ्य-संरक्षण	डॉ. जीवराज जैन	143
गृहस्थ की व्रतनिष्ठ जीवनशैली	प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'	147
Harmony and Peace : A Jain Perspective	*Prof. Sagarmal Jain*	155
जैन श्रावक-व्रतों के सन्दर्भ में सामाजिक संरचना	प्रो. जिनेन्द्र जैन	159
जैन जीवनशैली का महनीय अङ्ग 'प्रतिक्रमण'	प्रो. सुदीप कुमार जैन	167
जीवनशैली में स्याद्वाद का प्रयोग	प्रो. वीरसागर जैन	173
डिप्रेशन से मुक्ति में जैन सिद्धान्त उपयोगी	प्रो. अनेकान्त कुमार जैन	178
भोजन के सन्दर्भ में जैन जीवनशैली	प्रो. कमलेश कुमार जैन	184
Anekānta Philosophy as a Way of Life	*Dr. Narendra Bhandari*	189
जैन जीवनशैली के कुछ आधार बिन्दु	डॉ. पारसमल अग्रवाल	194
जैन जीवन-पद्धति में सामाजिक विकृतियाँ	प्रो. भागचन्द्र जैन	199
जैन जीवनशैली में विकृतियों के विभिन्न रूप	प्रो. श्रीयांस कुमार सिंघई	204
जैनों का आहार : कितना वैज्ञानिक	डॉ. नन्दलाल बोरदिया	207
जैन जीवनशैली और स्वास्थ्य	डॉ. के.एल. पोखरना	214
अपरिग्रही जैन जीवनशैली	डॉ. सुषमा सिंघवी	223
अपरिग्रह सिद्धान्त : सामाजिक न्याय का अमोघ मन्त्र	डॉ. कमलचन्द सोगानी	225
अनेकान्तवाद की जीवनशैली में उपयोगिता	डॉ. धर्मचन्द जैन	228
आगमों में उल्लिखित प्रमुख श्रावकों की जीवनशैली	श्री प्रकाशचन्द जैन	232
श्रावकाचार : एक प्रामाणिक जीवनशैली	डॉ. (श्रीमती) सरोज जैन	235
Śrāvakācāra And Margānusāri Śrāvaka–Guṇas for Business Excellence	*Dr. H. Kushal Chand*	241
Vows in Jainism : Importance and Application	*Dr. Jagat Ram Bhattacharya*	252
जैन जीवनशैली और तनाव-प्रबन्धन	डॉ. तृप्ति जैन	257
'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' और जैन जीवनशैली	डॉ. श्वेता जैन	266
Spirituality of Ahiṃsā : A Jaina Perspective	*Dr. Priyadarshana Jain*	272
जैन जीवनशैली में अहिंसकाहार	डॉ. पी.सी. जैन	280
कर्मवायरस की...पहेली?...समाधान है जैन जीवनशैली	श्री तरुण बोहरा 'तीर्थ'	285
जैन जीवनशैली में अनर्थदण्डविरमण व्रत	डॉ. हेमलता जैन	290

अनर्थदण्ड : व्यर्थ का पाप	डॉ. धर्मचन्द जैन	294
वैज्ञानिक युग और जैन जीवनशैली	डॉ. धर्मेन्द्र कुमार कांकरिया	298
कर्मसिद्धान्त और पुरुषार्थ का पारस्परिक सम्बन्ध	श्री धर्मचन्द जैन	300
जैन जीवनशैली से लाभ	श्री पारसमल चण्डालिया	305
जैनधर्म में अहिंसक जीवनशैली पर बल क्यों?	श्री जिनेन्द्र कुमार जैन	307
अहिंसा की विवेचना	डॉ. एन. के. खींचा	311
सत्य और अस्तेय : अणुव्रत एवं प्रामाणिकता	श्री. पी. शिखरमल सुराणा,डॉ. दिलीप धींग	313
ब्रह्मचर्य की बहुआयामी महिमा	डॉ. दिलीप धींग	317
प्राकृत-साहित्य में निरूपित काम-विजय की प्रेरणा	प्रो. कल्पना जैन	324
जैन-जीवन में अर्थोपार्जन एवं उपयोग	प्रो. सी. एस. बरला	330
अणुव्रतों के पालन से आर्थिक लाभ	श्री वीरचन्द्र जैन	334
जैन परम्परा में व्याप्त उदारता	डॉ. देव कोठारी	337
जीवन में संयम का महत्त्व	डॉ. सुभाष कोठारी	344
जैन जीवनशैली का उदार पक्ष : अन्तरायहीनता	डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन	346
परिमाण-व्रतों का जीवन में महत्त्व	श्री धर्मचन्द जैन	349
पारिवारिक जीवन में शान्ति एवं सामरस्य	श्री शान्तिलाल बोहरा	353
प्रतिक्रमण और स्वास्थ्य	डॉ. चंचलमल चोरडिया	356
आहार का विवेक	सुश्री नेहा चोरडिया	360
संलेखना-संथारा जैन जीवनशैली का शिखर चरमोत्कर्ष	श्री जितेन्द्र कुमार डागा	363
संथारा-मरण : एक विशिष्ट जीवनशैली	श्री अरुण मेहता	371
जैन जीवनशैली का बालकों में बीजारोपण कैसे हो?	डॉ. मंजुला बम्ब	374
जैन जीवनशैली में शाकाहार	श्री पदमचन्द गाँधी	379
ब्रह्मचर्य की जीवनशैली	श्री संजय सुराणा	385
वाणी का संयम : क्यों और कैसे?	डॉ. सुमत कुमार जैन	390
समभाव की साधना : सामायिक आराधना	श्री हेमन्त डागा	397
स्वाध्याय से आत्म-विशुद्धि एवं लोकहित	श्री प्रमोद महनोत	401
स्वाध्याय से होता तत्त्वज्ञान	श्री देवेन्द्रनाथ मोदी	403
विश्वशान्ति के परिप्रेक्ष्य में जैन जीवन-पद्धति	श्री त्रिलोक चन्द जैन	405
शिक्षा में जैन जीवनशैली का समावेश	श्री निपुण डागा	410
सप्तकुव्यसनों के त्याग का महत्त्व	श्रीमती सुशीला बोहरा	413
मदिरापान क्यों वर्जनीय है?	श्री दिलीप जैन	418

नशा : फैशन या व्यसन?	सुश्री प्रियल जैन	422
आधुनिक जीवन में द्यूत-प्रयोग एवं उससे हानियाँ	श्री मनोज कुमार जैन (पाटोली)	426
जैनधर्म में अहिंसा पर अधिक बल क्यों?	श्रीमती सरोज गोलेच्छा	429
जैन परम्परा में चातुर्मास एवं पर्युषण का महत्त्व	श्रीमती सुमन कोठारी, श्री महेन्द्र कुमार जैन	431
जैन जीवनशैली पर लघुकथा	श्रीमती कमला सुराणा	435
जैनधर्म की जीवनशैली : दो उदाहरण	श्री कन्नू जैन	437
जीवन-निर्माण की शैली	डॉ. रमेश 'मयंक'	442
जैन जीवनशैली और विश्वशान्ति	श्री श्रीचन्द जैन	443
जैन धर्म में तप की शैली	श्रीमती सुनीता मेहता	445
जब आप विदेश यात्रा पर जाएँ	श्रीमती सुधा चौधरी	448
श्री उपासकदशाङ्गसूत्र के परिप्रेक्ष्य में जैन जीवनशैली	श्रीमती कश्मीरा शाह	451
जीवन की कला	डॉ. मीनाक्षी डागा	454
भोजन में न छोड़ें जूठन	श्रीमती विमला जैन	456
जैन जीवनशैली अपनाइए : हृदय-रोगों से बचिए	श्रीमती सुशीला पोकरना	458
सुखमय जैन जीवनशैली के कुछ सूत्र	श्री मनीष जैन 'उज्ज्वल'	461
जैन संस्कृति में सेवा-भाव	श्री रेणुमल जैन	463

गीत/कविता/विचार/प्रेरक प्रसङ्ग

गुरु का होना क्यों आवश्यक?	आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.	41
जैनधर्म : जीवन जीने की कला	श्रीमती मंजू जैन	59
प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी श्रावक के करणीय कार्य	श्री नवरतन डागा	70
विचार-बिन्दु	आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.	94
जीवनोपयोगी वचन	श्रद्धेय श्री यशवन्तमुनिजी म.सा.	97
सम्यग्दर्शन की महिमा	सौ. कमला सिंघवी	99
जीवनशैली में तपस्या का महत्त्व	श्रीमती शान्ता नाहर	107
तुमको लाखों प्रणाम	श्री गौतम ओस्तवाल	116
जैन जीवनशैली को आप श्रद्धा से अपनाइये	श्री मोहन कोठारी 'विनर'	121
प्राणिरक्षण से प्रसन्नता	श्री अशोक कुमार जैन (हरसाना वाले)	129
तपस्या का महत्त्व	डॉ. धर्मचन्द जैन	146
संयम का संकल्प भी दु:खहारक	आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा.	166
जीवनशैली के अहिंसक आयाम	डॉ. आई.एम. खींचा	177

जैन जीवनशैली	डॉ. श्वेता जैन	183
विवाह आदि समारोहों में सादगी	श्री पारसमल चण्डालिया	188
जैन जीवनशैली : जीवन का उत्कर्ष	श्रीमती अंशु संजय सुराणा	198
मज़ा या सज़ा	श्री नवरतन डागा	203
हस्ती पट्टधर आचार्यप्रवर हीरा गुरुवर का क्या कहना	श्री श्रीपाल देशलहरा	206
निर्मल सोच के स्वामी बनें	श्रीमती सुमन डागा	213
धर्म पौष्टिक है, स्वादिष्ट बनाना है	आचार्यश्री विजयरत्नसुन्दरसूरिजी म.सा.	227
Five Reasons you should have dinner around Sunset	*Dr. Sharmila Patwa*	240
संस्कार के बिना साक्षरता सुखद नहीं	आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.	251
अपव्यय और दान में अन्तर	आचार्यप्रवर श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री	265
महिमा नमस्कारसूत्र की	श्री राकेश कोचर	279
जीवन का सच्चा धन	डॉ. दिलीप धींग	289
छोड़ने योग्य स्वभाव	आचार्यश्री विजयरत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.	293
रात्रि-भोजन को त्यागें	आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.	297
जीवन में विवेक की आँख जरूरी	आचार्य श्री विजयरत्नसुन्दरसूरिजी म.सा.	304
व्यसन छोड़ें	आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.	323
सपना बना शिक्षक	श्री राकेश मेहता (सी.ए.)	329
जीवन-बोध क्षणिकाएँ	श्रद्धेय श्री यशवन्तमुनिजी म.सा.	333
कुछ प्रचलित मान्यताएँ	श्रीमती निधि दिनेश लोढ़ा	345
पक्षियों को युवतियों की चिन्ता	आचार्य श्री विजयरत्नसुन्दरसूरिजी म.सा.	389
अनुक्रिया और प्रतिक्रिया	श्री राकेश मेहता (सी.ए.)	396
करुणा और अनुकम्पा	श्री कन्हैयालाल लोढ़ा	404
अहिंसा का रास्ता : शान्ति	श्री एस. सी. कटारिया	430
सम्बन्ध	साध्वीयुगल निधि-कृपा	434
बातों के आशय को समझो, तो संघर्ष नहीं होगा	श्री मोहन कोठारी 'विनर'	436
स्वार्थ की प्रीति	प्रियवक्ता श्री विनयचन्दजी म.सा.	450
सामायिक-स्वाध्याय करें	आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.	460
विष से भी अधिक भयंकर : क्रोध	श्री श्रीकान्त गुप्ता	462
गुरुहस्ति-गुणाष्टकम्	श्रद्धेय श्री विनम्रमुनिजी म.सा.	464

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 21
ISSN 2249-2011

सम्पादकीय

डॉ. धर्मचन्द जैन

वह जीवनशैली (Life Style) जो जैन सिद्धान्तों के प्रयोग के अनुरूप हो, जैन जीवनशैली कहलाती है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि के साथ संयम, तप, क्षमा, मार्दव, आर्जव, त्याग आदि धर्मों से युक्त जो जीवनशैली है, वह जैन जीवनशैली है।

यह जीवनशैली दृष्टि को सम्यक् बनाने का मार्ग प्रशस्त करती है। दृष्टि के सम्यक् बनने पर ज्ञान स्वत: सम्यक् हो जाता है तथा फिर जो आचरण होता है वह सम्यक् होता है। जैन जीवनशैली सम्यक् आचरण की जीवनशैली है। जीवनशैली सम्यक् न होने पर जीवन में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। मनुष्य तनाव, दु:ख, निराशा एवं पीड़ा में जीवन जीता है। उसकी भागदौड़ की दिशा गलत होती है, अत: अन्त में रीता रहकर हाथ मलता रह जाता है। इसलिए जीवनशैली को सम्यक् बनाना आवश्यक है। इस जीवनशैली के प्रमुख सिद्धान्तों में कर्मसिद्धान्त, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, नयवाद आदि का भी समावेश होता है।

जीवनशैली में अपनाने योग्य कुछ बिन्दु

जैन जीवनशैली जीने की कला है, जो आत्म-प्रसन्नता के साथ सर्वविध समस्याओं का समाधान सुझाती है। इस जीवनशैली के अपनाने योग्य कतिपय बिन्दु यहाँ प्रस्तुत हैं-

1. नमस्कार मन्त्र में प्रतिपादित पञ्च परमेष्ठी पर आस्था रखना।
2. वीतराग अरिहंत प्रभु एवं सिद्धप्रभु को देव मानना एवं उनकी उपासना करना। उनके बताये मार्ग पर चलने वाले पञ्च महाव्रतधारी, समता के अभ्यासी, पाँच समिति एवं तीन गुप्ति के पालक साधु-साध्वी को गुरु मानना तथा वीतराग प्रभु द्वारा प्ररूपित धर्म में आस्था रखना।
3. पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा (वध) का त्याग। मनुष्य, पशु-पक्षी, सर्प, नेवला आदि पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं।
4. आत्महत्या का त्याग। तनाव की परिस्थिति में भी आत्महत्या के विचार को तिलाञ्जलि दे दें। एक बार उसे टाल दें। सब सही हो जाएगा।
5. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों की भी रक्षा करना। यतना एवं विवेक रखकर इन जीवों की हिंसा से बचा जा सकता है। मक्खी, मच्छर आदि उत्पन्न न हों, इसकी यतना रखी जाए एवं उन्हें मारने से बचा जाए। ये जीव गन्दगी में उत्पन्न होते हैं, अत: घर में गन्दगी न रखी जाए। यतना के साथ साफ-सफाई का पूरा ध्यान रखें।
6. भाषा में सत्य का प्रयोग। इससे विश्वसनीयता बढ़ती है। सत्य बोलते समय हितकारी एवं निर्दोष सत्य का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए जिससे कलह बढ़े एवं राग-द्वेष में वृद्धि हो, दूसरा मरने-मारने पर उतारू हो जाए अथवा वह निराशा एवं आत्महत्या की ओर अग्रसर हो जाय। हितकारी एवं मधुर सीमित भाषा का प्रयोग ही उपादेय है। अल्पभाषी होना उचित है, किन्तु उचित अवसर पर न बोलना भी उचित नहीं है।
7. लेन-देन में एवं व्यापार में प्रामाणिकता का व्यवहार। न स्वयं चोरी करना न इसमें दूसरों की सहायता करना। खोटा माप-तोल नहीं

करना। राज्य के नैतिक नियमों के विरुद्ध व्यापार नहीं करना।

8. परस्त्री/पर पुरुष का सेवन नहीं करना। अपनी पत्नी या अपने पति में ही सन्तोष रखना। उसमें भी मर्यादा रखना। यह काम-भोग की प्रवृत्ति मनुष्य का सब तरह से विनाश कर देती है।
9. परिग्रह की लालसा एवं तृष्णा दु:ख का कारण है। इसकी सीमा कर लेने पर सन्तोष, शान्ति एवं सुख का अनुभव होता है।
10. उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा करना। इससे चित्त में शान्ति का अनुभव होता है एवं स्वास्थ्य भी उत्तम रहता है।
11. अधिक हिंसाकारी एवं समाज के लिए अहितकर व्यापार नहीं करना, जिसमें अङ्गारकर्म, वनकर्म, मदिरा-मांस आदि प्रकार का व्यापार त्याज्य है। पन्द्रह प्रकार का व्यापार अधिक कर्मादान का कारण माना गया है।
12. व्यर्थ की हिंसा एवं व्यर्थ का दुश्चिन्तन त्याज्य है। एक जैन श्रावक निष्प्रयोजन जल, वनस्पति आदि की भी हिंसा नहीं करता एवं व्यर्थ में दूसरे के सम्बन्ध में बुरे विचार नहीं लाता है। व्यर्थ की हिंसा नहीं करने से जीव रक्षा होती है।
13. आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान का परिहार करके सच्चिन्तन एवं सार्थक चिन्तन कर धर्मध्यान में मन लगाना। आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान दु:ख के कारण है।
14. आलस्य एवं प्रमाद को दूर रखना।
15. मन, वचन, काया एवं धन का सदुपयोग करना। मन से किसी का बुरा नहीं चाहना, वचन से किसी को बुरा नहीं कहना, काया से बुरे कार्य नहीं करना, धन-सम्पत्ति आदि जो साधन प्राप्त हैं उनका भी अच्छे कार्यों में अच्छे भाव से उपयोग करना।
16. पर्व तिथि पर उपवासयुक्त पौषध करना।
17. प्रतिदिन अथवा यथावसर समता भाव के अभ्यास के लिए सामायिक करना।
18. साधु-साध्वी को निर्दोष आहार बहराने की भावना रखना। साधर्मियों के प्रति वात्सल्य का भाव रखना तथा जरूरत मन्दों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने हेतु सदैव तत्पर रहना।
19. मृत्युकाल निकट आने पर समाधिमरणपूर्वक देह-त्याग का लक्ष्य रखना।
20. संसार की अनित्यता, अशरणता आदि का चिन्तन कर संसार के भोगों से विरक्ति के भावों को पुष्ट करना।
21. जीवन में क्षमाभाव का प्रयोग करना। दूसरों की छोटी-छोटी भूलों से मन में द्वेष की गाँठ नहीं बाँधना, क्योंकि क्षमाभाव से प्रसन्नता का झरना निरन्तर प्रवाहित होता रहता है।
22. अपनी सोच को सम्यक् बनाना आवश्यक है। यह सोच आत्मगुणों का विकास करती है तथा आत्मा को दु:ख के वास्तविक कारणों का बोध कराती है।
23. हमारे दु:ख का कारण दूसरे को न मानकर स्वयं में रहे कारणों की तलाश कर उन्हें दूर करना चाहिए।
24. मैं ही सही नहीं, दूसरा भी सही हो सकता है, अत: उसके विचारों को भी तटस्थतापूर्वक जानने का प्रयत्न करना चाहिए।
25. प्राणियों की रक्षा एवं पदार्थों के दुरुपयोग से बचना चाहिए, जो एक प्रकार से पर्यावरण का ही संरक्षण है।
26. दूसरों का शोषण करना, उन्हें गुलाम बनाना, उनकी आजीविका का विच्छेद करना उचित नहीं।
27. मन, वचन एवं काया से सत्चिन्तन, सद्भाषण

एवं सत्कार्य करें। इनका दुरुपयोग कर पाप प्रवृत्तियों से अपने को मलिन न बनाएँ।

28. विषम परिस्थितियों के लिए ईश्वर एवं भाग्य को दोष देना उचित नहीं, अपने पुरुषार्थ से जिन स्थितियों को ठीक किया जा सकता है, उन्हें स्वयं करें।
29. सबके प्रति मैत्रीभाव का विस्तार हो, किसी के भी प्रति द्वेष का भाव न हो।
30. पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं वनस्पति का अपव्यय न हो। आवश्यकतानुसार ही इनका उपयोग हो।
31. पशु-पक्षियों के जीवन की रक्षा के लिए तत्पर रहें, इन्हें अपना आहार न बनाएँ, इनके शिकार एवं इनकी हिंसा को प्रोत्साहन न दें।
32. मांस, मदिरा, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, जुआ आदि से दूर रहें।
33. आहार-संयम, वचन-संयम, मन-संयम एवं काया-संयम का पालन करें।
34. लोभ-लालच में आकर शान्ति एवं विवेक का विनाश न करें। धन से अधिक मन एवं तन का स्वास्थ्य महत्त्वपूर्ण है।
35. सत्साहित्य का नियमित स्वाध्याय कर अपने विचारों को पावन बनाया जा सकता है। इससे जीवन की अनेक समस्याओं का निराकरण सम्भव है।
36. कामनाओं पर लगाम लगाकर सुख का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। कई कामनाएँ अनावश्यक तनाव का कारण बनती हैं।
37. अपनी आय में से कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिए, जो अभावग्रस्तों की आवश्यकता पूरी करने वाला हो, मूक प्राणियों का जीवन-रक्षक हो अथवा संघ-समाज की उन्नति में सहायक सिद्ध हो।
38. व्यवहार में कटुता नहीं शालीनता का समावेश हो।
39. चुगली, मिथ्या दोषारोपण एवं परनिन्दा की प्रवृत्ति न हो।
40. दूसरे के सद्गुण ग्रहण करने की दृष्टि का विकास हो। दूसरों के दोष देखने से अपने में दोष आते हैं तथा गुण देखने से गुणों का आधान होता है।
41. जीवन में स्वाद की अपेक्षा स्वास्थ्य का महत्त्व हो।
42. वीतरागदेव की स्तुति करें। गुरु की उपासना करें एवं उनके सान्निध्य का लाभ लें।
43. काम, क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय के लिए सदैव सावधान रहें।
44. हर समस्या का समाधान होता है, अतः किसी भी समस्या से न घबराकर धर्म, धैर्य एवं शान्ति का आलम्बन लें, समाधान निकल आएगा।

जैन जीवनशैली से व्यक्तिगत जीवन में लाभ

जैन सिद्धान्तों को जीवन में अपनाने से व्यक्तिगत जीवन में जिन आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक लाभों का अनुभव होता है, उनमें कतिपय इस प्रकार हैं-

1. चित्त में शान्ति का अनुभव।
2. मन के व्यर्थ भटकाव पर नियन्त्रण।
3. इन्द्रियों पर नियन्त्रण।
4. क्रोध में कमी और नियन्त्रण।
5. अहंकार में कमी तथा विनम्रता का अनुभव।
6. सरलता का अनुभव।
7. लोभ पर नियन्त्रण।
8. अनासक्ति का अनुभव।
9. मोह, ममता में कमी, अतः उससे जन्य दुःख में कमी।
10. आत्मबल का अनुभव।
11. तनाव में कमी।

12. परनिन्दा में अरुचि।
13. दिनचर्या व्यवस्थित।
14. अर्थ एवं काम पुरुषार्थ धर्म के द्वारा नियन्त्रित।
15. जीवन में ईमानदारी एवं प्रामाणिकता।
16. सबके प्रति मैत्री का विकास।
17. करुणा, अनुकम्पा एवं संवेदनशीलता का विकास।
18. सदैव प्रसन्नता का अनुभव।
19. ईर्ष्या-द्वेष में कमी।
20. आत्मिक स्वस्थता का अनुभव।
21. मानसिक स्वस्थता का अनुभव।

शारीरिक स्वास्थ्य में लाभ

1. आत्मिक एवं मानसिक अस्वस्थता के कारणों का निवारण होने पर तत्सम्बन्धी शारीरिक स्वस्थता का अनुभव। आत्मिक एवं मानसिक अस्वस्थता का प्रभाव शारीरिक स्वस्थता पर भी पड़ता है।
2. रात्रि में भोजन करने से उदर-सम्बन्धी जो रोग उत्पन्न होते हैं, रात्रि-भोजन का त्याग करने पर उन रोगों से मुक्ति मिल जाती है। जल पीने का पर्याप्त समय मिल जाता है।
3. बिना भूख के नहीं खाने से पाचन तन्त्र सही रहता है।
4. भूख से अधिक नहीं खाने पर अधिकतर रोगों से स्वत: मुक्ति मिल जाती है।
5. विरुद्ध आहार नहीं करने पर अनेक रोग उत्पन्न नहीं होते हैं।
6. दूध, दही, घी, तेल एवं मिठाई का समय-समय पर त्याग करने से कॉलेस्ट्राल वृद्धि, रक्तचाप वृद्धि, हृदयाघात आदि रोगों से मुक्ति मिल जाती है।
7. पक्ष में एक उपवास, सप्ताह में एक एकाशन, आयम्बिल, नींवी आदि तप करने से शरीर में विद्यमान विषाक्त पदार्थ (Oxidants) समाप्त हो जाते हैं तथा नई कोशिकाएँ पुरानी मृत कोशिकाओं को खाकर शरीर को चुस्ती, स्फूर्ति प्रदान करती हैं।
8. भूख से अधिक नहीं थोड़ा कम खाने (ऊनोदरी तप) से शरीर में आलस्य, प्रमाद आदि का अनुभव नहीं होता है, शरीर में निरन्तर सक्रियता का अनुभव होता है। यह आत्मसाधना में भी सहयोगी तप है।
9. स्वाद के वशीभूत होकर अधिक खाना अहितकर है। अपने शरीर के लिए जो आहार हितकर हो, वह ही किया जाना चाहिए।
10. भोजन के निर्माण में जो शुद्धता घर पर हो सकती है, वह हॉटल, रेस्टोरेण्ट आदि के भोजन में नहीं होती, अत: घर के भोजन को स्वास्थ्य के लिए हितकारी मानकर उसे अधिक महत्त्व देना चाहिए। हॉटल के भोजन में प्राय: स्वाद को अधिक महत्त्व दिया जाता है स्वास्थ्य को नहीं।

पारिवारिक जीवन में प्रयोग एवं लाभ

जैन जीवनशैली को अपनाने से पारिवारिक जीवन में अनेकविध लाभों का अनुभव होता है, यथा-

1. एक-दूसरे के विचारों एवं भावनाओं को समझकर तदनुकूल आचरण करने से पारस्परिक टकराव उत्पन्न नहीं होता। (अनेकान्तवाद का प्रयोग)
2. परिवार में किसी का अपमान नहीं करने का भाव एवं तदनुकूल व्यवहार परिवार को एकसूत्र में बाँधकर रखते हैं।
3. एक-दूसरे के प्रति हित का भाव परिवार में मैत्री को बढ़ावा देता है।
4. क्षमाभाव को अपनाने से एक-दूसरे के प्रति गाँठ नहीं बँधती है तथा प्रेम का धागा मज़बूत रहता है।

5. परिवार में केवल अपने ही सुख की चिन्ता शोभा नहीं देती। छोटे-बड़े सबका ध्यान रखने से सौहार्द का वातावरण बनता है। ('परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का प्रयोग)।
6. पक्षपातपूर्ण व्यवहार न करने से माता-पिता, पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि सबका स्नेह मिलता है।
7. न्याय-नीति से अर्जित धन से परिवार में कलह के अवसर कम होते हैं।
8. प्रार्थना, स्वाध्याय एवं सामायिक साधना के माध्यम से परिवार का वातावरण सुन्दर बनता है।
9. परिवार में वीतराग के प्रति आस्था से राग-द्वेष के कार्यों को बढ़ावा देने की अपेक्षा हित के भावों का अधिक महत्त्व रहता है।
10. भोग-उपभोग की वस्तुओं को परिमित करने से परिवार में शान्ति रहती है।
11. रोग, विपत्ति आदि के समय परिवार के सदस्यों की सेवा का विशेष ध्यान रखने से मैत्री का संवर्धन होता है।
12. आय से अधिक व्यय करना व्यक्ति एवं परिवार के हित में नहीं है। जैन श्रावक का यह लक्षण है कि वह आय से अधिक व्यय नहीं करता है।
13. बड़ों का आदर एवं दादा-दादी, माता-पिता आदि की सेवा से परिवार में सुकून मिलता है।

सामाजिक जीवन में प्रयोग एवं लाभ

जैन जीवनशैली के सामाजिक जीवन में प्रयोग से अनेक लाभ होते हैं, यथा-

1. अनेकान्तवाद का प्रयोग कर एक-दूसरे के विचारों को सुनने, उन पर विचार करने आदि का अवसर प्राप्त होता है, जिससे बहुत से कलह स्वत: निवारित हो जाते हैं।
2. समाज में प्रत्येक सदस्य को आदर देने से एवं छोटी-छोटी भूलों को क्षमा करने से सौहार्द का वातावरण बनता है।
3. दीन-दु:खियों की सेवा कर समाज में सम्प की स्थापना की जा सकती है।
4. प्राकृतिक आपदाओं एवं कष्ट के समय समाज में यथासम्भव सहयोग के लिए तत्पर रहने से आपदाओं पर शीघ्र नियन्त्रण पाया जा सकता है।
5. सामाजिक व्यवहार में अहिंसा, करुणा, मैत्री आदि का प्रयोग मानवता के विकास के लिए वरदान है।
6. अपने व्यवहार में सत्य, नैतिकता एवं प्रामाणिकता का समावेश समाज में विश्वसनीयता को बढ़ाता है।
7. मदिरा, मांस आदि सप्त कुव्यसनों का प्रयोग स्वयं के लिए तो हानिकारक है ही, समाज में भी ऐसे व्यसनी व्यक्ति आदर योग्य नहीं होते हैं।

व्यापारिक क्षेत्र में प्रयोग एवं लाभ

1. प्रामाणिकता के व्यवहार से व्यापार में साख एवं प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, जो व्यापार बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती है।
2. श्रावक को अधिक हिंसाकारी (15 कर्मादान के) व्यवसायों से बचकर आजीविका का साधन अपनाना चाहिए। इससे हिंसा में कमी होगी तथा असंख्य जीवों की शत्रुता से बचा जा सकेगा।
3. न्याय-नीति से कमाया गया धन मनुष्य को जितनी सन्तुष्टि देता है, उतना अन्याय से अर्जित अथाह धन भी कदापि नहीं।
4. अधिक लाभ कमाने की भावना से किसी का शोषण करना मानवीय दृष्टि से एवं अहिंसा अणुव्रत के परिप्रेक्ष्य में उचित नहीं है। ऐसी लोभ प्रवृत्ति स्वयं को कठोर एवं संवेदनाहीन बनाती है।

5. विवेक एवं विश्वास के प्रयोग से व्यापार में अचिन्त्य वृद्धि होती है।
6. व्यापार में सत्य, अचौर्य आदि का व्यवहार दीर्घकालीन प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

कार्यक्षेत्र में जैन जीवनशैली

गृहस्थ जीवन में कोई अध्यापक है, तो कोई प्रशासनिक अधिकारी, कोई चिकित्सक है तो कोई अभियन्ता (Engineer), कोई वकील (Advocate) है तो कोई न्यायाधिपति, कोई चार्टर्ड एकाउन्टेण्ट (C.A.) है तो कोई कम्पनी सेक्रेटरी (C.E.O.), कोई कम्पनी चला रहा है तो कोई नौकरी कर रहा है। आजीविका एवं कार्यक्षेत्र की भिन्नता होते हुए भी जैन जीवनशैली के अनेक सूत्र सबके लिए उपयोगी हैं, यथा-

1. अपने कर्त्तव्य का पालन पूरी ईमानदारी के साथ होने पर जहाँ भी कार्य करते हैं वहाँ का अधिकारी, स्टॉफ आदि सन्तुष्ट रहता है तथा स्वयं को भी आत्मतोष का अनुभव होता है।
2. बेईमानी मनुष्य के सोच-विचार को विकृत बनाती है। इसके कारण वह भ्रष्टाचार में लिप्त होता है। अतः सत्य अणुव्रत का पालन कर कोई गृहस्थ अपने जीवन को भ्रष्ट-आचरण से बचा सकता है।
3. ईमानदार व्यक्ति सबके मध्य प्रतिष्ठा अर्जित करता है तथा दुनिया में सब ईमानदार को पसन्द करते हैं, बेईमान को नहीं।
4. जहाँ तक हो सके अपने साथ कार्य करने वालों के साथ अहिंसा का व्यवहार हो। दूसरे पर बलात् शासन न हो। शासन प्रेमपूर्वक हो, साथ में कार्य करने वालों का हित-चिन्तन भी हो। उसके साथ अहिंसा एवं प्रेम का व्यवहार हो।
5. दूसरों के साथ व्यवहार करते समय क्रोध एवं अहंकार पर नियन्त्रण रखकर माधुर्य की स्थापना की जा सकती है। क्रोध प्रीति का नाश करता है तथा अहंकार दूसरों के साथ समन्वय में बाधा उत्पन्न करता है अतः ये दोनों त्याज्य हैं। इसी प्रकार माया से मित्रता का नाश होता है। अतः मायावी व्यवहार भी त्याज्य है। लोभ युक्त व्यवहार सारे पापों का पोषक है, अतः वह भी त्याज्य है।
6. अपने सहयोगियों के साथ वात्सल्य भाव का प्रयोग कर प्रेममय वातावरण का निर्माण किया जा सकता है। इससे सुखमयता का अनुभव होता है।

अध्यात्मयोगी, युगमनीषी, पूज्य आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. की दीक्षा शताब्दी एवं सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के हीरक वर्ष के अवसर पर 'जैन जीवनशैली' विशेषाङ्क का यह प्रकाशन प्रमोदकारी है। सम्प्रति कोरोना महामारी में इस जीवनशैली की सार्थकता अधिक प्रासङ्गिक सिद्ध हो रही है। अतः यह विशेषाङ्क उपयोग सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत विशेषाङ्क में आचार्यों, सन्तों एवं साध्वियों के प्रवचन, विचार तथा आलेखों के अतिरिक्त विद्वानों, चिन्तकों एवं स्वाध्यायियों के आलेख और विविध रचनाएँ सम्मिलित हैं। सन् 2012 में 6-7 अक्टूबर को रत्नसंघ के अष्टम पट्टधर पूज्य आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के सान्निध्य में सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल द्वारा तृतीय विद्वत्संगोष्ठी का जयपुर चातुर्मास में आयोजन हुआ था। उस समय विद्वानों ने जो आलेख प्रस्तुत किए थे उनका भी इस विशेषाङ्क में समावेश किया गया है तथा अनेक नये आलेख आमन्त्रित कर उन्हें भी इसमें योजित किया गया है। आशा है यह विशेषाङ्क सार्थक सिद्ध होगा।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 27
ISSN 2249-2011

जीवनशैली के उन्नयन हेतु अमृत वाक्

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा.

- यदि मानव में सच्चरित्रता का बल नहीं हो तो शास्त्रों का ज्ञान, वक्तृत्व-कला, निपुणता और प्रगाढ़ पाण्डित्य व्यर्थ हैं।
- समभाव वह लोकोत्तर रसायन है जिसके सेवन से समस्त आन्तरिक व्याधियाँ, वैभाविक परिणतियाँ नष्ट हो जाती हैं।
- निज गुणों को प्रकट करने में परमात्म स्वरूप का चिन्तन एवं गुणगान निमित्त होता है।
- श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह साधु की संयम-साधना में सहायक बने। राग के वशीभूत होकर ऐसा कोई कार्य न करे या ऐसी कोई वस्तु देने का प्रयत्न करे, जिससे साधु का संयम खतरे में पड़ता हो।
- पैर में चुभे काँटे और फोड़े में पैदा हुए मवाद के बाहर निकलने पर जैसे शान्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार सच्चा साधक अपने दोष का आलोचन और प्रतिक्रमण करके ही शान्ति का अनुभव करता है। इसके विपरीत जो प्रायश्चित्त के भय से अथवा लोकापवाद के भय से अपने दुष्कृत को दबाने का प्रयत्न करता है, वह जिनागम का साधक नहीं, विराधक है।
- मनुष्य अर्थनीति में जितना समय लगाता है, उसका आधा समय भी धर्मनीति में लगावे, तो उसका उद्धार हो सकता है।
- हम जिस वस्तु के लिए संघर्षरत होते हैं, न तो उसका स्थायित्व है और न वह अपनी ही है।
- धन, जन पर यदि तीव्र आसक्ति नहीं रहेगी, तो आर्त्त नहीं होगा।
- जहाँ अपध्यान रहेगा, वहाँ शुभध्यान नहीं होगा और जब शुभ भाव नहीं आयेंगे तो बुरे भाव बढ़ेंगे।
- स्वाध्याय को नित्य आवश्यक कर्म मान लिया जाए, तो सहज ही प्रमाद घट सकेगा। आवश्यकता है स्वाध्याय को दैनिक आवश्यक सूची में नियमित स्थान देने की।
- संसार में दुःख के दो कारण हैं-मोह और अज्ञान। सामायिक मोह को घटाने और स्वाध्याय अज्ञान को दूर करने का अमोघ उपाय है।
- भोग सब रोगों का कारण है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये सुख के साधन नहीं हैं, वरन् दुःख की सामग्रियाँ हैं। इन्हीं के द्वारा इन्द्रियाँ मनुष्य को दुःख पहुँचाती हैं तथा मन को अशान्त बनाती हैं।
- यदि चारित्र की आराधना करेंगे तो पाप का भार, कर्म का भार घटेगा, क्षीण होगा। पाप का भार घटने से आत्मा हल्की होगी।
- सद्गुरु मन, वाणी और कर्म से एक समान होते हैं।
- संसार में साधन-सम्पन्न एवं धनी-मानी युवक धर्म-मार्ग की ओर अग्रसर होकर दूसरों को इस ओर लाने का प्रयत्न करें तो उसका विशेष प्रभाव होता है।
- जिस समाज को अपने इतिहास का ज्ञान नहीं, वह कभी भी सही दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। वर्तमान को समुन्नत और भविष्य को उज्ज्वल एवं कल्याणकारी बनाने के लिए अतीत का ज्ञान और उसकी सतत प्रेरणा आवश्यक है।
- जो लोग अज्ञानता या वासना की दासता से अपना लक्ष्य स्थिर नहीं कर पाते, साधना करके भी वे शान्ति प्राप्त नहीं करते। जिनका लक्ष्य स्थिर हो गया है, वे धीरे-धीरे चलकर भी मञ्ज़िल तक पहुँच जाते हैं।
- अनुभूति प्राप्त ज्ञानियों ने कहा है कि मानव! तेरा अमूल्य जीवन भोग के लिए नहीं है। तुझे करणी

करना है, ऐसी करणी कि तेरे अनन्तकाल के बन्धन कट जाएँ। तेरा चरम और परम लक्ष्य मुक्ति है, इसको मत भूल।

- मनुष्य-जीवन पूर्ण अभ्युदय का आधार है, उसे व्यर्थ में गँवाना बुद्धिमानी का कार्य नहीं।
- अतीत भोग-विलास में बीत गया और उसमें किसी प्रकार की साधना नहीं हो सकी, इसकी चिन्ता मत कीजिए। चिन्ता करिए वर्तमान की, जो शेष है। उसका निश्चय सदुपयोग होना चाहिए। मनुष्य वर्तमान अवस्था में जगकर, चेतकर आत्म-कल्याण कर सकता है।
- जीवन का अनमोल समय व्यर्थ ही नष्ट कर डालना, मानव की जड़ता है। जहाँ साधारण मनुष्य धन, जन, सत्ता, कोठी, बंगला और वैभव की सामग्रियाँ प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहते हैं, वहाँ विचारवान और विवेकी पुरुष उन्हें नश्वर और क्षणिक मानकर, आध्यात्मिक जीवन बनाने में तत्पर रहते हैं। संसार की समस्त नश्वर वस्तुएँ बनाने पर भी विनष्ट हो जाती हैं, किन्तु उत्तम जीवन एक बार बना लिया जाए तो वह फिर नष्ट नहीं होता।
- त्याग और वैराग्य के उदित होने पर सद्गुण अपने आप आ जाते हैं। जैसे उषा के पीछे रवि-रश्मियाँ स्वत: ही जगत् को उजाला देती हैं वैसे ही अभ्यास के बल पर सद्गुण अनायास चमक पड़ते हैं।
- लड़ाई, हिंसा या कलह से प्राप्त सम्पदा, स्वयं और परिवार के किसी के लिए भी कल्याणप्रद नहीं हो सकती।
- जैसे घृत की आहुति से आग नहीं बुझती, वैसे ही धन की भूख धन से नहीं मिटती। तन की भूख तो पाव भर अन्न से मिट जाती है, किन्तु मन की भूख असीम है। उसकी दवा त्याग और सन्तोष है, धन-प्राप्ति या तृष्णा पूर्ति नहीं।
- यदि मनुष्य इच्छा को सीमित कर ले तो संघर्ष के सब कारण स्वत: समाप्त हो जाएँगे, विषमता टल जायेगी, वर्गभेद मिटकर सब ओर शान्ति और आनन्द की लहर फैलकर यह पृथ्वी स्वर्ग के समान बन जाएगी।
- उत्तेजक वस्तुओं के भोजन और शृङ्गार प्रधान वातावरण में रहने के कारण बच्चों में काम-वासना शीघ्र जाग्रत होती है।
- समाज यदि समय रहते बच्चों के सुसंस्कार के लिए तन, मन, धन नहीं लगाएगा तो इसके कटु फल उसे अवश्य भोगने पड़ेंगे।
- आज दूसरों को झगड़ते देख मनुष्य उपदेश देता है, किन्तु स्वयं सहनशीलता को जीवन में नहीं अपनाता, संयम और विवेक से काम नहीं लेता।
- साधना के मार्ग में प्रगतिशील वही बन सकता है, जिसमें संकल्प की दृढ़ता हो।
- आम के पत्तों का बन्दनवार लगाकर जो आनन्द मनाते हैं, वे लोग वृक्षों के अङ्ग-भङ्ग का दु:ख भूल जाते हैं।
- आज धर्म और कानून की उपेक्षा कर मनुष्य व्यर्थ की हिंसा बढ़ा रहा है। फलत: देश का पशुधन और शुद्ध भोजन नष्ट होता जा रहा है।
- पुत्र की अपेक्षा पुत्रियों में सुशिक्षा और सुसंस्कार इसलिए आवश्यक है कि उन्हें अपरिचित घरों में जाना तथा जीवन पर्यन्त वहीं रहना है।
- लड़की यदि सुशीला और संस्कारवती होगी तो परिवार को प्रेम के बल पर अविभक्त और अखण्ड रख सकेगी।
- जो विरोधाग्नि का मुकाबला शान्ति के शीतल जल से करते हैं, वे विरोधी को भी जीत लेते हैं।
- ये भौतिक तुच्छ वस्तुएँ, साधारण मनुष्य के मन को हिलाकर अशान्त कर देती हैं, किन्तु ज्ञानी पर इनका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, उल्टे वह इन्हीं पर अपना प्रभाव जमा लेता है।
- राजमहल का विराट् वैभव-प्रदर्शन यदि दर्शकों को

अपनी ओर आकृष्ट करता है तो एक सादी पावन कुटिया भी चित्त को चकित किये बिना नहीं रहती।

- व्यक्ति-जागरण के बिना समाज-धर्म पुष्ट नहीं होता, कारण कि व्यक्तियों का समूह ही तो समाज है।
- स्वेच्छा से उपवास करना शमन है, किन्तु व्यक्ति के आगे से परोसी हुई थाली खींच लेना दमन है।
- समाज में कोई दु:खी है, तो समाज के धनी व्यक्तियों पर यह दायित्व है कि वे उसकी योग्य सहायता करें।
- पाप-कर्म करने के बाद धर्मादा देने की अपेक्षा पहले ही पापों से दूर रहना अच्छा है।
- विरोध का विरोध से और गाली का गाली से प्रतिकार पर संघर्ष बढ़ता है।
- सद्भाव मधुर पानी का तथा दुर्भाव खारे पानी का स्रोत है।
- सन्ताप घटाने के लिए मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ घटानी चाहिए।
- धार्मिक, राजकीय और सामाजिक कार्यों में उग्रता के समय यदि कुछ समय टालकर जवाब दिया जाए और बीच में भगवान का भजन कर लिया जाए तो श्रेयस्कर है।
- उत्तेजना के समय किये जाने वाले काम में विलम्ब करना अच्छा है, किन्तु जीवन को उन्नत बनाने वाले कामों में प्रमाद से दूर रहना अत्यन्त आवश्यक है।
- पागल की बातों को जैसे हम बुरी नहीं मानते, वैसे ही क्रोधादि से पराधीन व्यक्ति की बातों को भी बुरी नहीं माननी चाहिए, क्योंकि वह परवश एवं दया का पात्र है।
- शारीरिक और वाचिक संयम कर लेने से मन आसानी से ध्यान में लग सकता है।
- भगवान के भजन में मन को लगाने के लिए शारीरिक और वाचिक संयम चाहिए। पवित्र साधना एवं पुरुषार्थ के बिना यह सम्भव नहीं है।
- वस्तुत: जो शिक्षा को जीवन में उतार ले, वहीं दूसरों को शिक्षा देने का पूर्ण अधिकारी होता है।
- धार्मिक-जन का जीवन सफेद चादर के समान है। उजली चादर पर छोटी-सी स्याही की बूँद भी खटकती है।
- स्तुति करने वाले शंका करते हैं कि प्रभु तारने वाले नहीं, फिर स्तुति क्यों? उनको समझना चाहिए कि प्रभु-भक्ति तुम्ब की तरह तारक है। मन की मशक में प्रभु-भक्ति एवं सद्विचार की वायु भरने से आत्मा हल्की होकर तिर जाती है।
- शान्ति और समता के लिए न्याय-नीतिपूर्वक धर्म आचरण ही श्रेयस्कर है।
- स्वाध्याय चित्त की स्थिरता और पवित्रता के लिए सर्वोत्तम उपाय है।
- शास्त्र ही मनुष्य का वास्तविक नयन है।
- जिससे जड़-चेतन, आत्मा-परमात्मा तथा बन्ध-मोक्ष का ज्ञान हो, उसको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।
- जैसे घर से निकलकर धर्मस्थान में आते हैं और कपड़े बदलकर सामायिक-साधना में बैठते हैं, उसी तरह कपड़ों के साथ-साथ आदत भी बदलनी चाहिए और बाहरी वातावरण तथा इधर-उधर की बातों को भूलकर बैठना चाहिए।
- आत्मा की कीमत सोने के आभूषणों से नहीं वरन् सदाचार, प्रामाणिकता और सद्गुणों से है।
- बाह्य स्वास्थ्य जितना आवश्यक समझा जा रहा है, अन्तरंग स्वास्थ्य उससे कहीं अधिक आवश्यक है।
- आज विश्व को शस्त्रधारी सैनिकों की नहीं, शास्त्रधारी सैनिकों की आवश्यकता है।
- समाज में तप-संयम का बल जितना बढ़ेगा उतनी ही सुख-शान्ति कायम होगी।
- गृहस्थ भी यदि ज्ञान का धनी है, तो वह साधु-सन्तों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन जाता है।
- विचार की भूमिका पर ही आचार के सुन्दर महल

का निर्माण होता है। विचार की नींव कच्ची होने पर आचार के भव्य प्रासाद को धराशायी होते देर नहीं लगती।

- अपशब्द के प्रत्युत्तर में निरुत्तर रहना, अपशब्द बोलने वाले को हराने की सर्वोत्तम कला है। काँटे का जवाब फूल से देना सज्जनाचार है।
- परिग्रह आत्मा को पकड़ने वाला है, जकड़ने वाला है, यह दुःख और बन्ध का पहला कारण है।
- अपनी सम्पदा का उपयोग करना सीखेंगे तो आपका परिग्रह अधिकरण बनने के बजाय उपकरण बन जायेगा।
- परिग्रह और बन्धन की गाँठ को ढीली करोगे तो बाहर की सामग्रियाँ तुम्हारे पास रहकर भी दुःखदायी नहीं बनेंगी।
- सच्चा जैन लक्ष्मी-दास नहीं, अपितु लक्ष्मी-पति होता है।
- जो व्यक्ति जितना अधिक संयम से रहेगा, वह उतना ही अधिक सुखी और सब तरह से स्वस्थ रहेगा।
- सामायिक वह महती साधना है, जिसके द्वारा जन्म-जन्मान्तरों के सञ्चित कर्म-फल को नष्ट किया जा सकता है।
- आसन-विजय, दृष्टि-विजय और मन-विजय ये तीनों प्रकार की साधनाएँ सामायिक में परमावश्यक है।
- सही रूप में प्रायश्चित्त तभी होगा जबकि गलती करने वाला व्यक्ति मन में विचार करे कि वास्तव में उसने गलती करके बुरा काम किया, उसे इस प्रकार की गलती नहीं करनी चाहिये थी।
- गुरुजनों के समक्ष यदि कोई व्यक्ति अपनी गलती के किसी भी अंश को छुपाकर रखता है, तो वह प्रायश्चित्त न होकर एक और नई गलती करना हो जायेगा।
- जो नैतिक दृष्टि से पतित हो वह धार्मिक दृष्टि से उन्नत कैसे हो सकता है? नैतिकता की भूमिका पर ही धार्मिकता की इमारत खड़ी होती है।
- प्रत्येक मनुष्य सबके प्रति प्रीति और अहिंसा की भावना रखकर अपनी जीवनयात्रा सरलता और सुगमता से चला सकता है। आघात-प्रत्याघात से ही जीवन चलेगा, ऐसा समझना भ्रम है।
- श्रावक को तोलने और मापने में अनुचित-अनैतिक लाभ लेने की प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिए।
- छल-कपट का सेवन करके, नीति की मर्यादा का अतिक्रमण करके और राजकीय विधान का भी उल्लंघन करके धनपति बनने का विचार करना अत्यन्त गर्हित और घृणित विचार है। ऐसा करने वाला कदाचित् थोड़ा बहुत जड़-धन अधिक सञ्चित कर ले, मगर आत्मा का धन लुटा देता है और आत्मिक दृष्टि से वह दरिद्र बन जाता है।
- श्रावक-धर्म का अनुसरण करते हुए जो व्यापारी व्यापार करता है, वह समुचित द्रव्योपार्जन करते हुए भी देश और समाज की बहुत बड़ी सेवा कर सकता है।
- श्रावक अपने अन्तरंग और बहिरंग को समान स्थितियों में रखता है। वचन से कुछ कहना और मन में कुछ रखना एवं क्रिया किसी अन्य प्रकार की करना श्रावक-जीवन से संगत नहीं है। श्रावक भीतर-बाहर में समान होता है।
- जिन्हें उत्तम धर्म-श्रवण करने का सुअवसर मिला है, उन्हें दूसरों की देखा-देखी पाप के पथ पर नहीं चलना चाहिए। उनके हृदय में दुर्बलता, कुशंका और कल्पित भीति (भय) नहीं होनी चाहिए। ऐसा सच्चा धर्मात्मा अपने उदाहरण से सैंकड़ों अप्रामाणिकों को प्रामाणिक बना सकता है और धर्म की प्रतिष्ठा में भी चार चाँद लगा सकता है।
- धर्म-शिक्षा को जीवन में रमाने के लिए काम-वासना को उपशान्त एवं नियन्त्रित करना, मोह की प्रबलता को दबाना और अमर्यादित लोभ का निग्रह

करना आवश्यक है।

- जब आत्मा में सम्यग्ज्ञान की सहस्र-सहस्र किरणें फैलती हैं और उस आलोक से जीवन परिपूर्ण हो जाता है, तब काम, क्रोध और लोभ का सघन अन्धकार टिक ही नहीं सकता।
- मनुष्य के अन्त:करण में व्याप्त सघन अन्धकार को जो विनष्ट कर विवेक का आलोक फैला देता है, वह 'गुरु' कहलाता है।
- जीवन-रथ को कुमार्ग से बचाकर सन्मार्ग पर चलाने के लिए और अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए योग्य गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है।
- जिस प्रकार खाने से ही भूख मिटती है, भोजन देखने या भोज्य पदार्थों का नाम सुनने से नहीं, इसी प्रकार धर्म को जीवन में उतारने से, जीवन के समग्र व्यवहारों को धर्ममय बनाने से ही वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है।
- जो लोग आहार के सम्बन्ध में असंयमी होते हैं, उत्तेजक भोजन करते हैं, उनके चित्त में काम-भोग की अभिलाषा तीव्र रहती है। वास्तव में आहार-विहार के साथ ब्रह्मचर्य का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है।
- मनुष्य के मन की निर्बलता जब उसे नीचे गिराने लगती है तब व्रत की शक्ति ही उसे बचाने में समर्थ होती है।
- व्रत अङ्गीकार नहीं करने वाला किसी भी समय गिर सकता है। उसका जीवन बिना पाल की तलाई जैसा है, किन्तु व्रती का जीवन उज्ज्वल होता है।
- सम्यग्दृष्टि जीव में दर्शनमोहनीय का उदय न होने से तथा चारित्रमोहनीय की भी तीव्रतम शक्ति (अनन्तानुबन्धी कषाय) का उदय न रहने से मूर्च्छा-ममता में उतनी सघनता नहीं होती जितनी मिथ्यादृष्टि में होती है।
- जब तक परिग्रह पर नियन्त्रण नहीं किया जाता और उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जाती तब तक हिंसा आदि पापों का घटना प्राय: असम्भव है।
- जब तक मनुष्य इच्छाओं को सीमित नहीं कर लेता तब तक वह शान्ति नहीं पा सकता और जब तक चित्त में शान्ति नहीं, तब तक सुख की सम्भावना ही कैसे की जा सकती है।
- परिमाण कर लेने से तृष्णा कम हो जाती है और व्याकुलता मिट जाती है। जीवन में हल्कापन आ जाता है और एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव होने लगता है।
- पेट की भूख तो पाव दो पाव आटे से मिट जाती है, मगर मन की भूख तीन लोक के राज्य से भी नहीं मिटती।
- एक अकिञ्चन निस्पृह योगी को जो अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है, वह कुबेर की सम्पदा पा लेने वाले धनाढ्य को नसीब नहीं हो सकता।
- अमर्यादित धन-सञ्चय की वृत्ति के पीछे गृहस्थी की आवश्यकता नहीं, किन्तु लोलुपता और धनवान् कहलाने की अहंकारवृत्ति ही प्रधान होती है।
- जीवन, धन और वैभव जाने वाली वस्तुएँ हैं, किन्तु इन जाने वाली वस्तुओं से कुछ लाभ उठा लिया जाय, अपने भविष्य को कल्याणमय बना लिया जाय, इसी में मनुष्य की बुद्धिमत्ता है, विवेकशीलता है।
- स्वेच्छापूर्वक अङ्गीकार किया हुआ व्रत का बन्धन साहस और शक्ति प्रदान करता है। प्रतिकूल परिस्थिति में इसके द्वारा अपनी मर्यादा से विचलित न होने की प्रेरणा प्राप्त होती है।
- विचार-बल यदि पुष्ट हो तो साधक अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का ठीक तरह से निर्वाह कर सकेगा।
- भोगोपभोग की लालसा जितनी तीव्र होगी, पाप भी उतने ही तीव्र होंगे।
- राग की स्थिति में मनुष्य का विवेक सुषुप्त हो जाता है। जिस पर राग-भाव उत्पन्न होता है, उसके

अवगुण उसे दृष्टिगोचर नहीं होते। गुणवान के गुणों का आकलन करना भी उस समय कठिन हो जाता है।

- किसी उच्च स्थान पर पहुँचने के लिए एक-एक क़दम ही आगे बढ़ाना पड़ता है।
- धर्म-शिक्षा का अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा मन को वशीभूत किया जा सकता है।
- समभाव की साधना की विशेषता यह है कि इससे व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त उच्च, उदार, शान्त और सात्त्विक बनता है।
- धर्म एकान्त मंगलमय है। वह आत्मा, समाज, देश तथा अखिल विश्व का कल्याणकर्त्ता और त्राता है। आवश्यकता इस बात की है कि जनता के मानस में धर्म और नीति के प्रति आस्था उत्पन्न की जाए।
- प्रत्येक साधना परायण व्यक्ति को चार बातें ध्यान में रखनी चाहिए-(1) स्थिर आसन (2) स्थिर दृष्टि (3) मित भाषण और (4) सद्विचार में निरन्तर रमणता। इन चार बातों पर ध्यान रखने वाला लोक-परलोक में लाभ का भागी होता है।
- व्रती पुरुष कुटुम्ब, समाज तथा देश में भी शान्ति का आदर्श उपस्थित कर सकता है और स्वयं भी अपूर्व शान्ति का उपभोक्ता बन सकता है।
- जैसे बिना पाल के तालाब में पानी नहीं ठहरता वैसे ही बिना व्रत के जीवन में सद्गुणों का पानी समाविष्ट नहीं हो सकता, अत: श्रावक अपने में व्रत की पाल अवश्य बाँधें।
- गुणियों के गुणों का कीर्त्तन प्रभावना का कारण है, पर साधक को प्रशंसा सुनकर खुश नहीं होना चाहिए। यही समझना चाहिए कि इसने प्रेमवश मेरे गुण देखे हैं, इसको मेरे दोषों का क्या पता? मुझे अपने दोषों को निकालकर इसके विश्वास पर खरा उतरना है, ताकि उसे धोखा न हो।
- हर मनुष्य के पास मन, वचन और काया के सुप्रणिधान की तीन निधियाँ हैं, जो नवनिधियों की दाता हैं। गरीब से गरीब भी इनसे वञ्चित नहीं है।
- धर्म-साधना के लिए धन की आवश्यकता नहीं है, अमीर-गरीब सब इसका लाभ उठा सकते हैं। कम से कम तीन साधन हर मनुष्य के पास हैं। मन से किसी के लिए बुरा न सोचे, किसी की उन्नति देखकर जलन नहीं करें। क्रोध, कलह, वैर-विरोध का त्याग करें। वचन से सत्य एवं हितकर बोलें, खाली समय हो तो गप्पों में बैठने की अपेक्षा भगवद् भजन करें। काय से किसी को कष्ट न दें। सेवा और सत्संग करें।
- बुद्धिवादी लोग कहते हैं कि जब तक मन शान्त न रहे, सामायिक करना बेकार है। ऐसा तर्क करने वालों को ध्यान देना चाहिए कि दवा रोग की स्थिति में ली जाती है, नीरोग होने पर दवा की आवश्यकता नहीं, वैसे ही राग आदि विकारों की दशा में ही सामायिक-साधना की जाती है। पूर्ण शान्ति मिलने पर तो सामायिक सिद्ध हो चुकी है।
- भारत का विधान तो हर भारतीय को राष्ट्रपति बनने तक का ही अधिकार प्रदान करता है, परन्तु शास्त्र का विधान नर को नारायण और जन को जगपति बनने का अधिकार प्रदान करता है। आवश्यकता है साधना में आगे बढ़ने की।
- माताएँ सुशिक्षित होंगी तो बालक को संस्कारवान बनने में देरी नहीं लगेगी।
- बाँस भी लड़कर भस्म हो जाते हैं। मनुष्य को इससे शिक्षा लेनी चाहिए।
- समाज पक्ष में कारीगर बनना है, मजदूर नहीं। सुई बनना है, कैंची नहीं।
- दरिया में सोने की शिला पकड़कर चलने वाला डूबता और काष्ठ पट्ट लेने वाला तिरता है। यही हाल जग में धन और धर्म का है। धन डुबाता और धर्म तिराता है।
- मनुष्य सोचता है कि झूठ बोलना नहीं छोड़ा जाता, किन्तु जब एक दिन अभ्यास कर लोगे तो मन में हिम्मत आ जायेगी। फिर आगे बढ़ सकोगे।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 33
ISSN 2249-2011

प्रवचन

जैन जीवन शैली की एक विशेषता : सद्‌गुणग्राहिता

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.

पूज्य आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के द्वारा अपने आचार्य पदारोहण के रजतवर्ष के अवसर पर अभिव्यक्त विचारों का संकलन स्व. श्री जगदीशजी जैन, अध्यापक द्वारा किया गया है। ये विचार जैन जीवनशैली की विशेषता को इंगित करते हैं। अत: पुन: प्रकाशित हैं।

-सम्पादक

'गुणिषु प्रमोदम्' गुणीजनों को देखकर प्रमोदभाव की अभिव्यक्ति का संचरण हो; पर वर्तमान में बहुतायत से देखने को मिल रहा है कि संत-सती, श्रावक-श्राविकाएँ, राजनेता, नगरजन, ग्रामीणजन, पड़ौसी आदि का जब कभी भी परस्पर समागम होता है तो एक-दूसरे की निंदा-आलोचना करने का प्रसंग बन ही जाता है। व्यक्ति को यह कार्य पाप जैसा कृत्य नहीं लगता, परन्तु आत्मा को अधःपतन की ओर अग्रसर करने से यह खतरनाक श्रेणी वाला अदृश्य पाप है। निंदा, मिथ्यात्व की भूमिका में ही बनती है। अहंकारी व्यक्ति ही दूसरों की निंदा करता है। अहंकारी, दूसरे के गुणों की प्रशंसा को सहन नहीं कर पाता। यदि निंदा करनी ही है तो दूसरों के दोषों की नहीं, अपितु स्वयं में निहित दोषों की करें। निंदा का रस षट्‌रसों से भी बढ़कर बताया गया है।

भगवान महावीर स्वामी ने दशवैकालिक सूत्र (5.2.41-44) के माध्यम से कथन कर भव्य प्राणियों को सावचेत किया है कि- ''दूसरों के गुणों का वर्जन करके, दोषों को देखने वाला मरते समय तक भी संवर का आराधक नहीं होता है। जबकि दोषों का वर्जन करके गुणों को देखने वाला साधक मरते समय तक आराधक है। दोष दृष्टि रखकर दोष देखने वाला, दोषों की चर्चा करने वाला, स्वयं दोषों से ओत-प्रोत होता जाता है। निंदा करना और सुनना दोनों ही पाप के कारण हैं। स्वयं तो निंदा करनी ही नहीं, यदि कोई आकर सुनाए तो बचाव करना ही श्रेयस्कर है। हम जिस परम्परा से जुड़कर साधना कर रहे हैं, वहाँ की तो ये पंक्तियाँ स्पष्ट उद्‌घोष कर रही हैं- 'निंदा, विकथा नहीं पर घर की, जय बोलो रत्न मुनीश्वर की।' उन्हीं रत्न मुनिवर के नाम से यह परम्परा सुविख्यात है। पूज्य रत्नचन्द्रजी म.सा. परायी चर्चा से कोसों दूर रहे। क्योंकि इसमें रस रखने से समय और शक्ति दोनों का ही ह्रास होता है। कर्मबन्धन के सिवाय कुछ हाथ नहीं आता। पर कुछ लोग अपनी आदत से लाचार होते हैं, मानो किसी की निंदा किये बिना उनका भोजन ही नहीं पचता। जैसे ऊँट कदली वन में जाकर भी, काँटे की ही खोज करता है, वैसे ही ये दोष दृष्टि वाले भाई महापुरुषों, सत्पुरुषों में भी दोष देखने की निंदनीय कुचेष्टा करते हैं। याद रखें-गुरुदेव फरमाया करते-हाथी-घोड़े की सवारी करके, गधे की सवारी न करें। जिन संसारियों के बीच रह रहे हैं, उनमें गुण दोष दोनों विद्यमान हैं। उन्हें नहीं देखते हुए स्वयं को देखें।

आवश्यकता है-गुणग्राही बनकर अपने जीवन को सद्‌गुणों की सौरभ से महकाएँ। यह तो द्रष्टा की दृष्टि पर निर्भर करता है कि वह गुण देखता है या दोष। गुरुदेव के शब्दों में कहूँ-''मनुष्य को मल ग्रहण करने वाली मक्खी के समान नहीं, अपितु मधु ग्रहण करने वाली मक्खी के समान बनने का लक्ष्य रखना है। जब देख ही रहे हैं तो दोष देखकर अपने अनमोल मानव जीवन को वृथा बर्बाद क्यों करें? गुण देखकर अपने जीवन को सद्‌गुणों से आबाद

करें। या तो हम देखें नहीं, यदि देखें तो गुण दृष्टि वाले बनकर केवल गुण को ही देखें। 'मेरी भावना' के अन्तर्गत भी सुन्दर उल्लेख है-''गुण ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे।'' अधिकांश इसका नित्य पठन किया करते हैं, पर अन्तर में कितने उतर सके हैं, विचारणीय बिन्दु है।

संसार में तो गुण-दोष के मिश्रण वाले प्राणी ही मिलेंगे। पूर्ण गुणी तो मात्र परमात्मा है। अतः हम उनके गुण देखकर अपने जीवन में गुणों का संवर्धन करें। **गुणदर्शन**-सामने वाले के गुण देखकर, **गुणवर्णन**-उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए, **गुण ग्रहण**-जो तीसरी सीढ़ी है यानी हम स्वयं पूर्वोक्त दो प्रारम्भिक चरणों को आत्मसात् करते हुए सहज ही उन-उन गुणों के स्वामी बन जाते हैं। पूज्यपाद आचार्य श्री शोभाचन्द्र जी म.सा. से किसी ने पृच्छा करली कि आपको अन्य परम्परा वाले कैसे लगते हैं? सम्यग्दृष्टि या मिथ्या दृष्टि? उनका उत्तर था-भाई! मुझे मेरा ही पता नहीं, मैं उनके बारे में क्या कहूँ? उन्हीं के गुरु भाई पूज्य आचार्य विनयचन्दजी म.सा. के पास आकर जयपुर में शिवजीरामजी महाराज प्रश्नोत्तर-चर्चा किया करते। क्योंकि वे महापुरुष गुण दृष्टि वाले थे। इसीलिये उनके समीप अन्य गच्छ-परम्परा के सन्त-सती, फूल पर भँवरे के सदृश आया करते। दोष तो उन्हें सिर्फ स्वयं के दिखाई देते थे, अन्यों के नहीं, इसी कारण गुणग्राही साधक कहलाये। **महापुरुष दूसरों के दोष कहने में मूक और दोष सुनने के समय बधिर सम रहते हैं। महापुरुषों में यही खूबी होती है कि वे दूसरों के पर्वत जितने दोषों को भी राई जितना देखते हैं और राई जितने गुण को भी पर्वत के समान दर्शाया करते हैं।** किन्तु वर्तमान की तो विडम्बना ही कहें-दूसरों के दोषों को व्यक्ति स्मृति में बराबर जमा करके रखता है और मौका मिलते ही सामने वाले को सुनाने से नहीं चूकता। **अगर सुनने वाला साधक गुणग्राही नहीं है तो वह भी उसके दोषों को सुना डालेगा, इससे वातावरण तो विषम होगा ही, साथ ही दोनों दुःखी भी होंगे।** अतः दूसरों के दोष देखने व याद रखने की प्रवृत्ति की विस्मृति ही श्रेयस्कर है। भगवान की वाणी तो यही कहती है-''कंखे गुणे जाव सरीरभेए।'' अर्थात् जब तक जीवन है, तब तक गुणों की कांक्षा करे, दोषों की कदापि नहीं। सामान्य सद्गृहस्थ को भी निंदा करना शोभा नहीं देता। अतः जो मोक्षमार्ग के पथिक हैं, उनके लिये तो सर्वथा वर्जनीय होने से अनाचरणीय है। जो अनन्त गुणों के स्वामी बनना चाह रहे हैं, उन्हें तो सामने वाले का एक-एक गुण चुन-चुन कर संगृहीत करने की दृष्टि रखनी ही पड़ेगी। हालाँकि गुण दर्शन का कार्य कठिन है, पर इस कठिन कार्य को किये बिना मुक्ति मिलने वाली नहीं है। यह तो निश्चित समझ कर चलिये। **सर्वथा गुण रहित मानव आपको कोई मिलेगा ही नहीं। कोई न कोई गुण तो उसमें अवश्यमेव होगा ही।** क्योंकि सर्वथा गुणहीन मानव तो क्या कोई जड़ वस्तु भी अपने गुण धर्म से रहित नहीं होती। एक तिनका व चिमटी भर धूल में भी गुण रहे हुए हैं। शैतान से शैतान आदमी में भी कोई न कोई गुण अवश्य मिल ही जायेगा। आवश्यकता है गुण द्रष्टा सत्पुरुष बनने की। कहा भी है-''साधु ऐसा चाहिए, जैसे सूप सुभाय। सार-सार को गहि लहे, थोथा देय उड़ाय।।'' हीरे-जवाहरात के बड़े व्यापारी बनकर फिरने वाले यदि कूड़े के ढ़ेर में से गंदगी इकट्ठी करने जैसा घृणित कार्य करे तो उनको शोभा नहीं देने वाला है। वैसे ही यदि चारित्रात्माएँ दूसरे के दोष देखने जैसी प्रवृत्ति रखें, तो वह शोभा देने वाली नहीं है। वह तो फिर कूड़े में से कचरा संचय करने जैसा ही घिनौना कृत्य है। वासुदेव श्री कृष्ण जैसी दृष्टि सभी की हो, जिन्हें दुर्गन्ध युक्त सड़ी देह वाली कुतिया के भी मोती के समान चमकते हुए स्वच्छ सुन्दर दाँतों की पंक्ति ही

दृष्टिगत हुई। हमारी दृष्टि दुर्योधन जैसी न हो, जिन्हें नगरी में एक भी गुणीजन नज़र नहीं आया। दृष्टि हो तो युधिष्ठिर जैसी, जिन्हें एक भी अवगुणी नज़र नहीं आया।

हंस जैसे मोती ही चुगता है, वैसे ही हम भी सद्गुणों के ही मोती चुगें। ''हंसा के तो मोती चुगे, के लंघन कर जाय।'' इसी तरह या तो देखें ही नहीं और यदि देखें तो गुण ही देखें। कवि के शब्दों में- ''उत्तम विद्या लीजिये, यदपि नीच पे होय। पड़यो अपावन ठोर पे, कंचन तजे न कोय।।'' जैसे- गन्दे स्थान पर पड़े हुए सोने को कोई छोड़ता नहीं है, वैसे ही निकृष्ट से निकृष्ट में से कोई न कोई गुण लेने के भावों की प्रधानता रखनी चाहिये।

साधना का मार्ग दूसरों को सुधारने का नहीं, अपितु स्वयं को सुधारने का मार्ग है। यदि किसी में कोई पाप के कारण से कमी है तो भी उसके पाप से घृणा करनी है न कि पापी से। क्योंकि आज का वह पापी निमित्त मिलने पर पाप को त्यागकर धर्मी भी बन सकता है। अधिकांश बन्धु यहाँ चूक जाते हैं। वे उस पापी-दुर्गुणी से ही घृणा करने लग जाते हैं जबकि वह आपके प्रेम का पात्र है। आपके प्रेम-व्यवहार से उसमें परिवर्तन होना सम्भव है। हमारा कर्त्तव्य है परिष्कार करना, न कि तिरस्कार करना। भगवान ने चण्डकौशिक के जीवन में समता भाव और प्रेम से अद्भुत आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिया। प्रेम में दोष दिखते भी नहीं हैं, सिर्फ गुण ही दिखते हैं। यदि दिखते भी हैं तो एक माँ की भाँति उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है।

गुणज्ञ बनें, गुणों के उपासक बनें, इसी सन्दर्भ में कहा भी है-

गुणाः गुणज्ञेषु गुणाः भवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्यतोया प्रभवन्ति नद्यः,
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः।।

गुण गुणज्ञों के पास रहने पर ही गुण होता है, वही निर्गुण को पाकर दोष बन जाता है। उदाहरण स्वरूप नदियाँ स्वादिष्ट जल वाली होती हैं। लेकिन वे ही नदियाँ समुद्र में मिल जाने पर अपेय बन जाती हैं।

हम गुणों के पारखी बनें। जैसे हीरे की पहचान करने में जौहरी कुशल होता है, वैसे ही हम गुणों को पहचान कर ग्रहण करने में दक्ष बनें। यदि एक-एक गुण का भी संचय करेंगे तो एक दिन अनन्त गुणों से सम्पन्न हो जायेंगे। गुण तो आत्मा के भीतर ही विद्यमान हैं, दूसरों के सद्गुण निहारने से वे विकसित होते हैं अतः दूसरों के दोष देखने की भावना को गौण कर सच्चे आराधक-साधक बनें, साथ ही सद्गुणों को निहारकर भव पार होने का मार्ग प्रशस्त करें, यही मंगल मनीषा है।

अङ्क सौजन्य

जिनवाणी हिन्दी मासिक पत्रिका की प्रकाशन योजना के लाभार्थी

श्री राजरूपमलजी, संजयजी, अंजयजी, दिवेशजी जैन, शिवाकाशी

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 36
ISSN 2249-2011

प्रवचन

समाज की विकृतियों का निवारण कैसे?

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.

स्थानकवासी जैन परम्परा में रत्नसंघ के अष्टम पट्टधर जिनशासन गौरव आगम मर्मज्ञआचार्यप्रवर पूज्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा. द्वारा सामायिक-स्वाध्याय भवन, घोड़ों का चौक, जोधपुर (राजस्थान) में 01 सितम्बर 1991 को फरमाए गए इस प्रवचन का आशुलेखन श्री नौरतन मेहता, सह-सम्पादक जिनवाणी, जोधपुर द्वारा किया गया है, जो आज भी प्रासङ्गिक है। **-सम्पादक**

आज सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ का च्यवनकल्याणक है। त्रैलोक्य में शान्ति और समाधि की स्थापना करने वाले, सम्पूर्ण राज्य में फैली हुई महामारी के प्रकोप का निवारण कर जन-जन के अधीर मानस को धैर्य एवं शान्ति प्रदान करने वाले एवं जीवन की प्रत्येक विकृति का शमन कर जीवन में विकास का पथ अङ्गीकार करने वाले भगवान शान्तिनाथ के श्री चरणों में कोटि-कोटि वन्दना।

बन्धुओं! जगत् का प्रत्येक प्राणी शान्ति और समाधि की कामना रखता है। जहाँ असमाधि है, विकृति है, वहाँ कहीं भी शान्ति नहीं, सुख-चैन व आराम नहीं। प्रकृति की ओर दृष्टिपात करिए- आकाश यदि अशान्त है तो वायुयान उड़ान नहीं भर सकेंगे और धरा अशान्त है तो प्राणिमात्र बेचैन रहेगा। मौहल्लों में हड़ताल आदि भी हो तो आप अपने घर से बाहर नहीं निकलना चाहेंगे।

अशान्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व का मार्ग अवरुद्ध कर देती है। जहाँ अशान्ति है वहाँ विकास की गति स्वतः रुक जाती है। जीवन में विकास के लिए और अशांत मानस में शान्ति का स्रोत बढ़ाने के लिए व्यक्ति क्या करे? कहाँ जाए? यह एक विषम समस्या है। समस्या का अत्यन्त सहज समाधान भी है और वह है तीर्थंकर भगवन्तों की वाणी एवं उसके अनुसार आचरण। जीवन से अशान्ति को दूर करने एवं शान्ति और समाधि का राजमार्ग बताने वाले तीर्थंकर भगवन्तों ने प्राणिमात्र के लिए अपने अहं को त्याग कर, मैं और मेरेपन को छोड़ कर, स्व तथा पर हित में अपने को तथा समाज को आगे लाने की बात जगत के समक्ष रखी। व्यक्ति यदि उस मार्ग पर चले तो जीवन में कहीं भी अशान्ति का नाम नहीं रहेगा।

किसी भी विकृति के मूल में होता है-व्यक्ति का अहं। सबसे बड़ा कारण है यह विकृति का। आज व्यक्ति-समूह का सर्वाधिक हिस्सा अपने अहंकार की तुष्टि में अपने अमूल्य जीवन का सर्वनाश कर रहा है। ''मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ, मैं जो चाहूँ हो सकता है। मैं ऐसा कुछ कर दिखाऊँ कि लोग केवल मुझे ही देखें, देखते रह जाएँ। मुझ पर, मेरे कार्य-कलापों पर सभी का ध्यान लगा रहे, सभी सोचें मेरे व्यक्तित्व के बारे में।'' बस इन्हीं सब में डूबा वह अपने रहन-सहन, खान-पान एवं पारिवारिक रीति-रिवाजों को प्रदर्शन की वस्तु बना देता है। उसकी बस एक ही चाहना रहती है- ''लोग दूसरों के नाम को भूल जाएँ, मेरा नाम याद करें।''

मानव का अहं भाव उसके जीवन की सबसे बड़ी विकृति तो है ही, साथ ही अन्य विकारों का जन्म भी उसके इसी अहं भाव की देन है। मानव जीवन के सबसे बड़े शत्रु इस अहं भाव का पोषण होता है-अन्यायोपार्जित धन से। **सामान्य व्यक्ति जो न्याय-नीतिपूर्वक ईमानदारी और सच्चाई से जीवन यापन करता है, उसके जीवन में विकारों का स्थान प्रायः नहीं होता।** यदि कहीं होता भी है तो नहींवत्। ऐसे व्यक्ति को अपने और अपने परिवार के जीवन

को चलाने एवं विकास करने के अतिरिक्त किसी अन्य बात के लिए अवकाश ही कहाँ मिल पाता है।

विकृति की जड़ अहं में है तथा अहंभाव की वृद्धि का एक कारण अन्याय से उपार्जित धन है। किसी एक समाज के लिए ऐसा सोचना बेमानी है। आज विकृतियों का फैलाव कहाँ नहीं है? विश्व का कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ के लोगों के मन में विकारों का समावेश न हो। कोई जाति, कोई समाज ऐसा बता दीजिए जहाँ विकृतियों ने प्रवेश न लिया हो और उनमें बढ़ोतरी न हुई हो। जब सम्पूर्ण मानव जाति ही अनेकानेक विकारों से ग्रसित है और इसी कारण व्यथित, अशान्त एवं बेचैन है तो केवल किसी एक समाज में, किसी एक जाति में ही उसको देखना कहाँ तक उचित है?

मूल में एक भूल और भी हो रही है। **नादान और नासमझ व्यक्ति 'सामाजिक विकृति' को धर्म के साथ जोड़ देते हैं।** विचार-विमर्श के लिए विषय रख देते हैं- ''जैन धर्म में विकृति है।'' **सत्य तो यह है कि जहाँ धर्म है वहाँ विकृति कैसी? और जहाँ विकृति है वहाँ धर्म कैसा?** धर्म और विकृति कभी साथ-साथ नहीं रह सकते। जिन्होंने जैन धर्म को पढ़ा है, उसके बारे में जाना समझा है एवं जैन दर्शन के सिद्धान्तों के बारे में यत्किञ्चित् भी जानकारी है, वे जानते हैं कि विकृति और विकारों से रहित आत्म-धर्म की ओर बढ़ना ही इस धर्म का लक्ष्य है। अतः इसका विकृति से सम्बन्ध जोड़ना और इसमें विकृति को सिद्ध करने की चेष्टा करना हास्यास्पद है। हाँ, समाज के साथ इन विकारों को जोड़ा जा सकता है। **विकृति का उद्गम-स्थल व्यक्ति है, समाज है। धर्म तो सदैव विकृतियों का विनाशक रहा है।** चिन्तन-मनन ही करना है तो उचित रहेगा कि आप 'मानव समाज और विकृतियाँ' जैसे विषय पर चिन्तन करें।

विकृति व्यक्तिगत होती है, अतः उसका प्रारम्भ व्यक्ति से ही होता है। व्यक्तियों का समूह है- समाज। एक व्यक्ति की विकृति जब चाहे, अनचाहे अन्य व्यक्तियों से जुड़ती है तो वह सामाजिक-विकृति का रूप धारण कर लेती है। इन विकृतियों से बचने के लिए समाज को, **समाज में रहने वाले व्यक्ति को सचेतन बनकर, जागरूक बनकर वे कारण दूर करने होंगे, जिनसे विकृतियाँ होती हैं। साथ ही जो विकृतियाँ अब तक विकसित हो चुकी हैं, उन्हें नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील भी बनना होगा।**

आचार्य भगवन्त (आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा.) इन विकृतियों से बचने की प्रेरणा देते हुए फरमाते हैं-''स्वाध्याय वह मार्ग है जिस पर चलकर व्यक्ति और समाज विकृतियों से निर्लिप्त रह सकता है। स्वाध्याय सद्विचारों को जन्म देता है और सद्विचारों से आचरण में शुद्धि आती है। आचरण में शुद्धि विकृतियों को नष्ट कर देती है। जिसके पास सामायिक, स्वाध्याय तथा आत्मचिन्तन का बल है, उसके निकट विकृतियाँ रह ही नहीं सकतीं।'' यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि केवल पठन-पाठन मात्र ही स्वाध्याय नहीं है। पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना और इससे आगे बढ़कर जब चिन्तन, अनुप्रेक्षा के साथ अपने आपको आत्मस्वरूप में स्थित करने की स्थिति आने लगे तभी सही रूप से स्वाध्याय होता है। आज स्वाध्याय में आत्मस्वरूप तक पहुँचने का प्रयत्न होता नहीं। केवल पठन-पाठन तक सीमित हो रहा है-स्वाध्याय। उसके शेष महत्त्वपूर्ण अङ्ग लुप्त हो रहे हैं, गौण समझे जा रहे हैं, तभी तो व्यक्ति विकृतियों का पात्र बनता जा रहा है और वे कम होने के स्थान पर बढ़ती जा रही हैं।

आज मानव अन्धाधुन्ध भौतिकवाद की चकाचौंध के पीछे भाग रहा है। धन, ऐश्वर्य, मान-सम्मान, वैभव-सम्पदा, सत्ता एवं शासन के लिए

वह कुछ भी करने को तैयार है। न्याय-अन्याय, नीति-अनीति तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक वह त्याग चुका है। उसे तो धन चाहिए, भले ही वह किसी भी ढंग से प्राप्त हो। ऐसा **अन्याय-अनीति का धन, दो नम्बर का धन, भ्रष्ट आचरण से प्राप्त धन व्यक्ति के आचरण को भ्रष्ट ही बनाएगा।** ऐसे में विकृतियों का समावेश अवश्यम्भावी हो जाएगा। यही हो रहा है आज। व्यक्ति विकृतियों का पुतला बन गया है। उसका खान-पान, रहन-सहन, उसके रीति-रिवाज सभी विकृतियों से भर गए हैं। **यह फैशन, यह आडम्बर, यह प्रदर्शन, शादी विवाहों में महँगे खर्चीले भोज, विद्युत् सजावट, फोटो, टी.वी., वीडियो, आतिशबाजी, नाच-गाना तथा मदिरापान आदि जिस तरह से जैन-समाज में घुसकर उसके जैनत्व को खोखला बना रहे हैं उससे आप सभी परिचित हैं।** क्यों हो रहा है यह सब? स्पष्ट है समाज ने भी धनार्जन में न्याय-नीति को ताक पर रख दिया है, खूँटी पर टाँक दिया है।

यदि धनार्जन न्याय-नीतिपूर्वक हो रहा हो तो विकृतियों के आने की कोई सम्भावना नहीं बनती। आपने पूनिया श्रावक का नाम सुना है। वह न्याय-नीतिपूर्वक आवश्यकतानुसार धन का उपार्जन कर अपनी जीविका सन्तोष के साथ चलाता था। एक समय नित्य नियमानुसार वह सामायिक-व्रत लेकर स्वाध्याय, मनन-चिन्तन करने लगा। लेकिन सदैव की भाँति आज उसका मन नहीं लगा। वह विचार करने लगा-''क्या बात है? आज मेरा मन अशान्त अस्थिर क्यों है? उसका चिन्तन चलता है। अपनी विगत दिनचर्या पर गहन चिन्तन करने पर भी दिनभर के कार्यकलापों में उसे कोई विपरीतता नज़र नहीं आती है, कोई भूल दिखाई नहीं देती, सामायिक का समय पूर्ण होने पर विधिपूर्वक सामायिक पालकर श्रावक जी सारी बात श्राविका से कहते हैं। श्राविका का चिन्तन चलता है, उसे याद आता है कि कल चूल्हा जलाने पड़ौस के घर से आग लाने गई तो वहीं से बिना पूछे एक छाणा (गोबर का उपला) ले आई थी। श्रावकजी से वह यह बात कहती है बगैर पूछे पड़ौसी का एक उपला ले लेना मन की शान्ति भङ्ग कर देता है। अब आप चिन्तन करिए। अपने जीवन पर, अपने व्यवहारों पर नज़र पसारिए। क्यों अशांत हैं आप सभी? क्या कारण है कि आपका मन सामायिक-स्वाध्याय में नहीं लगता? क्यों सभी गृहस्थ आज मानसिक तनाव से ग्रस्त हैं? आपने कभी इन बातों पर चिन्तन ही नहीं किया। चिन्तन करते तो पता लगता कि जिस जीवन को जिया जा रहा है, वह काले धन पर, दो नम्बर के व्यवसाय पर फल-फूल रहा है। ये बंगले, कारें, कीमती कपड़े, ब्लेक मनी जहाँ होगी वहाँ विकृतियाँ नहीं तो और क्या होगा? वहाँ शान्ति और समाधि कैसे आयेगी?

धन आप सभी को चाहिए। धन गृहस्थ जीवन की आवश्यकता है। **अतः धन का उपार्जन बुरा है, ऐसा कहना तो न्याय संगत नहीं होगा, पर इतना अवश्य कहूँगा आप सभी से कि नीति, न्याय, सदाचरण एवं ईमानदारी पूर्वक धनार्जन होना चाहिये।** जैन श्रावक के लिए स्पष्ट निर्देश है कि वह नीति, न्याय, सदाचरण एवं ईमानदारी पूर्वक धनार्जन करे। मार्गानुसारी के पैंतीस बोलों में एक बोल आता है- **''न्यायसम्पन्नविभवः।''** जो जीव पुण्यशाली हैं, पूर्व जन्मों में जिन्होंने मुक्त हस्त से दान दिया है, ऐसे जीव जहाँ जायेंगे वैभव उनके साथ जायेगा। जहाँ-जहाँ उनके चरण पड़ेंगे, वहाँ-वहाँ कमल खिलेंगे। धन्नाजी की तरह पुण्यशाली जीव अपनी सम्पत्ति छोड़कर यदि सुनसान जंगल में भी चले जाएँ तो वहाँ भी मंगल हो जायेगा। पुण्यवान व्यक्ति गंगा के किनारे खड़ा हो जाए तो वहाँ भी चिन्तामणि रत्न निकल सकता है। किसी खेत में खड़ा हो जाये तो वहाँ भी तो सोने के चरू निकल सकते हैं। राजदरबार में चला जाए तो उसका स्वागत होगा।

आवश्यकता इस बात की है कि पुण्यार्जन किया जाए। न्याय-नीति से धनार्जन कर सर्वकार्यों में उसका विसर्जन किया जाए।

आप कहते हैं-''जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।'' बात सत्य है। व्यक्ति का जैसा आहार हो गया उसी के अनुरूप उसके विचार बनेंगे और जैसे विचार होंगे उसी के अनुरूप उसका आचरण होगा। यही कारण है कि हमारे पूज्य धर्माचार्यों ने पन्द्रह कर्मादानों से उपार्जित किए जाने वाले धन से बचने पर बल दिया है। **पाप और अनीति से अर्जित धन आपके जीवन को पतन के मार्ग पर ले जा रहा है।** आप अपने जीवन के लक्ष्य को समझें। **जिस दिन लक्ष्य समझ कर उस मार्ग पर चलेंगे, विकृतियों का पनपना बन्द हो जायेगा।** यदि लक्ष्य को जाने-समझे बिना ही पथ निर्धारित कर लिया तो जीवन में दुर्व्यसन बढ़ेंगे।

आपका यह समाज, ओसवाल समाज, जिसके लिए कहा जाता था-ओसवाल भोपाल। आज क्या दशा है उस समाज की? **दुर्व्यसनों से दूर रहने वाला और सप्त कुव्यसनों का जन्मजात त्यागी यह समाज आज व्यसनों में कहाँ तक डूब चुका है!** आपके समाज में कोई शराब नहीं पीता था। अन्य समाजों में इस बात के लिए आपकी प्रतिष्ठा थी। आज अधिकांश युवा वर्ग मदिरापान के व्यसन में जकड़ा हुआ है। राजस्थान से बाहर तो इसका एवं अन्य दुर्व्यसनों का विषम रूप है ही, पर राजस्थान में भी ओसवाल समाज इन सबसे अछूता नहीं रह गया है। ग्रामानुग्राम विहारी हम सन्तों ने पाली और बालोतरा में देखा है। आचार्य भगवन्त की सेवा में वहाँ चातुर्मास के अवसर भी हमें मिले थे। इन क्षेत्रों में समाज-व्यवस्था का कुछ साफ-सुथरा, सुधरा हुआ अपेक्षित रूप दिखाई पड़ता था और यही कारण है कि तब वहाँ समाज में एक विशेष अनुशासन था। आज इन क्षेत्रों की स्थिति भी बदल गई है।

जोधपुर में भी ओसवाल समाज की एक संस्था 'ओसवाल सिंह सभा' के नाम से है, लेकिन इस संस्था का अपने समाज पर प्रभाव एवं अंकुश शायद नगण्य है, तभी यहाँ के ओसवाल समाज का संगठन, समाज-व्यवस्था और अनुशासन जैसा होना चाहिए वैसा नहीं रहा है। यदि सिंह सभा का अपना प्रभाव अनुशासन और विशिष्ट कार्यप्रणाली होती, उसका कार्य क्षेत्र विस्तृत होता, उसमें समर्पित कार्यकर्त्ता होते तो विकृतियाँ नहीं बढ़ती।

संघ और संगठन जहाँ जागरूक है; समाज के प्रमुख, अग्रगण्य, मुखिया लोग यदि जाग्रत हैं तो समाज में व्यवस्था और अनुशासन निश्चित रूप से बना रहेगा। आचार्य भगवन्त (गुरुदेव पूज्य श्री हस्तीमलजी म.सा.) के रायचूर चातुर्मास के पश्चात् की एक घटना है। रायचूर चातुर्मास सम्पन्न कर आचार्य भगवन्त विहार कर अनेक क्षेत्र-स्पर्श करते हुए हैदराबाद आए। हैदराबाद की एक इस्लाम धर्मावलम्बी बहन अपने परिजन के साथ सिनेमा देखने गई, बहिन के बाल खुले थे। सिर पर पल्लू नहीं था, कहना चाहिए-सिर ढका हुआ नहीं था। सिनेमा हॉल में उस महिला की कुर्सी के पीछे की सीट पर बैठे किसी चञ्चल युवक के पास संयोगवश कैंची थी। अपनी छेड़खानी करने की आदत से मजबूर उस युवक ने बहुत ही आहिस्ता से कैंची चला दी। मुस्लिम बहन की चोटी के कुछ बाल कट गए। घर आने के बाद यह बात एक से दूसरे को, दूसरे से तीसरे को मालूम हुई, बात फैल गई तो समाज एकत्रित हुआ। वहाँ के मुस्लिम समाज ने तब निर्णय लिया कि इस क्षेत्र की कोई भी इस्लामी बहू-बेटी सिनेमा देखने नहीं जाएगी। जो घर इस नियम का पालन नहीं करेगा, उस घर का समाज का कोई पुरुष मरण-गमी, होने पर कन्धा देने नहीं जाएगा। सच मानिए, उस समाज में उस नियम का

पालन बिना किसी चौकसी (चौकीदारी) के हुआ।

आपका यह ओसवाल समाज विश्वभर के अन्य समाजों में एक विशिष्ट स्थान, एक विशेष प्रभाव, एक गौरवशाली प्रतिष्ठा रखता है। क्या कमी है आपके इस समाज में? **धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, बुद्धि, नाम, प्रतिष्ठा सब कुछ तो है आपके समाज के पास। कमी एक ही है, इस समाज में और वह है-हिम्मत और साहस का अभाव। समाज में झगड़े खड़े हो रहे हैं, विकृतियाँ आ रही हैं, आडम्बर बढ़ रहा है पर देखते- जानते हुए भी किसी की कुछ कहने की हिम्मत नहीं है।** बन्धुओं! आपका समाज शायद कुछ मर्यादाएँ या नियम निर्धारित कर सकता है, पर उसका पालन कितना हो रहा है, यह कैसे ज्ञात होगा? ज्ञात हो गया तो अंकुश कैसे लगेगा? आपके घर में मांस-मिट्टी खाने के लिए नियम बनाने की कभी आवश्यकता ही नहीं थी, फिर इस अभक्ष्य का खान-पान समाज में क्यों प्रारम्भ हो गया? कारण स्पष्ट है, आप जानते हैं ऐसा हो रहा है पर उसे प्रकट करने, कहने की हिम्मत आपमें नहीं। समाज की कोई विकृति आपसे छिपी नहीं, देखते, जानते हैं, मानते हैं सब, पर कहने का करने का, सामर्थ्य नहीं, साहस नहीं।

आचार्य भगवन्त (गुरुदेव आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा.) के दर्शनार्थ जैनेतर समाज के अनेक श्रद्धालुजन आते थे। एक बार चौधरी समाज के एक दर्शनार्थी भाई ने बताया कि उनके यहाँ शादी-विवाह में अमल की अत्यधिक मनुहार की जाती थी तथा चाय-पान का भी बहुत रिवाज था, पर हमने समाजगत नियम बना दिया कि शादी-विवाह में अमल नहीं गालेंगे और न चाय पिलायेंगे। समाज की बात न मानने पर समाज की पञ्चायत दण्ड देगी। कितनी सुन्दर व्यवस्था है इस सामाजिक पञ्चायत की। क्या आप ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं? आप से पूछा जाए तो आप बातें तो बहुत सी कर लेगें, पर नियमों में रहकर चलने की बात पर चुप्पी साध लेंगे, पीछे हट जायेंगे। अरे, समाज की बात तो दूर, आप अपने घर में अपने बच्चों तक को कुछ नहीं कह पाते। हिचकिचाते हैं, उनसे डरते हैं कि कहीं युवा रक्त आपके सामने कुछ कह न दे, कुछ कर न दे। ऐसी हालत में व्यवस्था, अनुशासन भला कैसे रह सकता है? **समाज में अनुशासन रखना है तो समाज के लोगों का मानस बदलना होगा।** मानसिक वृत्ति से ही स्वानुशासन रह सकेगा या फिर भय अर्थात् दण्ड-विधान होना चाहिए। समाज में न तो मानसिकवृत्ति ही है और न ही दण्ड-भय।

समाज-सुधार का जब प्रश्न आता है तो वहाँ समाज-ऐक्य की बात पहले खड़ी होती है। **यदि समाज में संगठन नहीं, एकता नहीं तो एक नियम आज बनता है, कल वह तोड़ दिया जाता है।** सामाजिक एकता का कुछ रूप सिंवाची पट्टी के लोगों में देखने को मिलता है। **जोधपुर के ओसवाल समाज में सुधार के लिए विकृतियाँ दूर करने के लिए, आडम्बर और प्रदर्शन मिटाने के लिए समाज को पहले एक बनना चाहिए।** सिंह-सभा के नाम से संगठन तो है, परन्तु उसका वह रूप नहीं है जो समाज में सुधार ला सके।

समस्या कोई ऐसी नहीं होती जिसका उचित समाधान न हो। जन्म-जन्मान्तर की विकृतियाँ भी नष्ट हो सकती हैं, तो फिर समाज में प्रादुर्भूत विकार भला कैसे दूर नहीं होंगे, निरन्तर प्रयास करने होंगे।

आपके सामने ही कितने ही समाज ऐसे हैं, कितनी ही जातियाँ ऐसी हैं, जिन्होंने अपनी विकृतियाँ-बुराइयाँ दूर की हैं। साँसी जाति, बलाई जाति, खटीक जाति आदि कितनी ही जातियाँ है ऐसी। खटीक समाज जिसमें व्यक्ति के हाथों में छुरी रहती थी, हिंसा ही उसका व्यापार था, आज वह समाज अहिंसक समाज है।

कभी कितना सुन्दर था आपका समाज। अहिंसक वस्त्र पहनना, अहिंसक जूते पहनना, मदिरा-मांस का सेवन न करना, जुआ न खेलना, सामाजिक भोजों में सूर्यास्त पूर्व भोजन करना व करवाना, सामूहिक जीमणवार में जमीकन्द के प्रयोगों का निषेध, बारात आदि में केवल शिष्ट प्रदर्शन होता था। आज स्थिति कितनी विषम बन गई है। सब कुछ उल्टा-पुल्टा हो गया है। अरे आप व्रत-प्रत्याख्यान, सौगन्ध भी लेते हैं तो आडम्बर, प्रदर्शन के साथ और उसमें भी गली रख लेते हैं। रायपुर, नागपुर तथा अनेक स्थानों पर आचार्य भगवन्त (पूज्य आचार्यश्री हस्तीमलजी म.सा.) से कई लोगों ने दहेज न लेने का नियम लिया, पर जब बच्चे की शादी का समय आया तो गली निकाल ली-''बाबू ने माँग कर दी, उसके तो ऐसा नियम लिया हुआ था नहीं।'' बन्धुओं! **इस तरह की गलियाँ निकाल लेने से सुधार होने वाला नहीं है। समाज को संगठित होकर, एकजुट होकर विकृतियाँ दूर करने की कठोर व्यवस्थाएँ बनानी होंगी।**

आपने सामाजिक विकृतियों को दूर करने के प्रयास में भाषण, वाद-विवाद, निबन्ध आदि के आयोजन किए। हम सन्तों को भी बुलाया है, जिससे हमारे कथन का, प्रवचन का समाज पर असर हो। अच्छा ही कर रहे हैं आप, पर देखिए आपके जोधपुर नगर में आज से नहीं वर्षों से कोई न कोई सन्त विराजमान रहे ही हैं। धर्मोपदेश से यह नगर कभी वञ्चित रहा हो, ऐसी बात मेरे ध्यान में नहीं। उधर इस्लाम सम्प्रदाय की तरफ नज़र डालिए, कौनसा फ़कीर आया उनके सम्प्रदाय का यहाँ, फिर भी उनके भीतर अपनी समाज-व्यवस्था है, उस व्यवस्था का एक निश्चित, निर्धारित स्वरूप है।

बन्धुओं! समाज सुधार के लिए परिवर्तन की दिशा में इतना आप सभी से कहना चाहूँगा कि विकृतियों को दूर हटाने के लिए आप स्वयं को प्रयत्नशील होना होगा, आगे आना होगा, साहस दिखाना होगा, आप समाज की विकृतियों को जहाँ भी देखें तो बुलन्दी से कहने की हिम्मत दिखाएँ। उन विकृतियों से आप स्वयं अपने को अलग-थलग रखें। विशेष अवसरों पर समाज के प्रतिष्ठित जन और अन्य भी अपने अहंकार के पोषण की भावना का त्याग करें। आप बुराई को बुराई समझकर विकृतियों के निवारण के लिए व्यक्तिगत एवं संगठित प्रयास करें। ऐसा करने पर ही आपके जीवन से एवं समाज से विकृतियाँ हट सकेंगी।

गुरु का होना क्यों आवश्यक?

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.

गुरुमन्त्र क्या है? वह किसलिए करवाया जाता है? गुरु आपकी परिस्थितियों का, प्रकृति का, पुरुषार्थ का जानकार होता है। प्रदेशी राजा का कोई गुरु नहीं था। गुरु नहीं था तब तक आत्मा को और शरीर को एक मानकर चलता था। उसके लिए उसने न जाने कितनी हिंसाएँ की होंगी, कितने परीक्षण किए होंगे, हिसाब नहीं। कई जीवों की बोटी उतार दी, मानव को पेटियों में बन्द कर दिया, जीवित था तब कितने वज़न का था और मरने के बाद कितना वज़न रहा, जैसे उसने कई परीक्षण किए। लेकिन जब उसने समझ लिया कि जीव अलग है, शरीर अलग है तो तर्क छोड़ दिया। श्रद्धा एवं समर्पण आने पर तर्क छूट जाता है। अब तक जो हिंसा करता था, पापाचरण करता था, जानवर को काटते विचार तक नहीं करता था, वही प्रदेशी बारह व्रती बन गया। कब? जब श्रद्धा जागृत हो गई।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 42
ISSN 2249-2011

प्रवचन

सामायिक : स्वरक्षा से सर्वरक्षा की ओर

उपाध्यायप्रवर श्रद्धेय श्री मानचन्द्रजी म.सा.

उपाध्यायप्रवर पण्डित रत्न श्री मानचन्द्रजी म.सा. द्वारा रविवार, 18 जनवरी, 2004 को मूथाजी का मन्दिर, नागौरी गेट, जोधपुर (राज.) में दिए गए प्रवचन का आशुलेखन जिनवाणी के सह-सम्पादक श्री नौरतनमलजी मेहता द्वारा किया गया है।

-सम्पादक

धर्मप्रेमी बन्धुओं!

सामायिक एवं समत्वभाव को लेकर आपके सामने विवेचन चल रहा है। **सामायिक साधन है, समताभाव साध्य है।** साध्य को लक्ष्य में रखकर साधन किया जाता है। जितने भी साधन हैं वे सब साध्य तक पहुँचाने वाले हैं। साधन साध्य की ओर पहुँचाने का काम करते हैं तो समझना चाहिये कि वे साधन सम्यक् हैं और अगर वे साधन साध्य की ओर पहुँचाने का काम नहीं करें और केवल संसार में भटकाने का काम ही करें तो समझना चाहिये कि वे साधन समीचीन नहीं हैं।

साधन आत्मलक्ष्यी होने चाहिये। **आत्म-लक्ष्यी साधन से ही साध्य तक पहुँचा जा सकता है।** आप चाहे ज्ञान करें या क्रिया, उसके पीछे आत्मा का लक्ष्य होना चाहिये। साधक क्रिया करते हुए भी, ज्ञान के साथ क्रिया करते हुए भी यदि लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ता तो समझना चाहिये साधन ठीक नहीं। यदि लक्ष्य की ओर बढ़ाने में साधन काम कर रहा है तो एक-न-एक दिन परम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। श्रीमद् रायचन्द्र ने एक दोहा कह दिया-

"कोई क्रिया जड़ थई रयो, शुष्क ज्ञान में कोई।
माने मारग मोक्ष रो, करुणा उपजे जोई।।"

आदमी अगर जड़ क्रिया में मस्त बना हुआ है तो वह क्रिया करते हुए भी आत्मा का लक्ष्य हासिल नहीं कर सकता। अभी आप मुनिश्री से सुन गये हैं कि एक बच्चा बैठके में ही सामायिक मानता है। वह मुँहपत्ती, बैठका और सामायिक के उपकरण को ही सामायिक कहता है। आप भी कहीं ऐसा तो नहीं कर रहे हैं? एक ज्ञान तो खूब करता है, पर वह ज्ञान यदि आत्मलक्ष्यी नहीं तो.....?

"भणिया भव सुधरे नहीं, जो नहीं आत्मलक्ष्य।
कोरी चित्री शिल्लिका, दोनों डूबत पक्ष।।"

पढ़ लेने से या पुस्तकों का ज्ञान कर लेने से भव नहीं सुधरता। एक शिला कोरी है एक शिला पर चित्र अंकित है, दोनों को पानी में डाल दिया जाय क्या होगा? दोनों शिलाएँ डूब जायेंगी। चित्र के कारण शिला नहीं डूबे, ऐसा कभी होता नहीं। यही बात है मुक्ति तक पहुँचने के लिए आत्मा का लक्ष्य होना जरूरी है।

आत्मलक्ष्यी व्यक्ति व्यवहार और निश्चय दोनों को लेकर चलता है। आपने जिनवाणी का पान किया है। व्यवहार और निश्चय दोनों को लेकर चलेंगे तो ही आप कल्याण-मार्ग में आगे बढ़ सकेंगे। आप व्यवहार को नहीं छोड़ सकते। व्यवहार छोड़ दिया तो संघ-विच्छेद हो जायेगा और निश्चय छोड़ दिया तो लक्ष्य गौण हो जायेगा।

निश्चय दृष्टि हीये घटीजे, पालिये व्यवहार।

चतुर्विध संघ आज व्यवहार के कारण से चल रहा है। **केवली भगवन्त निश्चय दृष्टि वाले होते हैं, फिर भी वे व्यवहार को निभाते हैं। छद्मस्थ के लिए व्यवहार पहले है, निश्चय बाद में है।**

आप सामायिक करते हैं। व्यवहार के साथ निश्चय का ध्यान है तो आपकी सामायिक समता भाव के साथ वीतरागता की ओर ले जाने वाली बनेगी। सारी नदियाँ समुद्र में आकर मिलती हैं, इसी तरह आत्मलक्ष्यी भाव है तो सारी क्रियाएँ मुक्ति तक ले जाने में समर्थ हैं। बस, होना चाहिये क्रिया का सही संगम। संसार में जितने भी क्रियाकाण्ड हैं, यहाँ तक कि **सामायिक लेना भी व्यवहार है और यह व्यवहार निश्चय की प्राप्ति के लिए है।** सामायिक हो, पौषध हो, संवर हो, जप-तप-स्वाध्याय ये सारे साधन हैं। ट्रेन, बस, स्कूटर, वायुयान सभी साधन हैं। साधन साध्य तक पहुँचाते हैं। **आप साधन को साधन और साध्य को साध्य समझें। साधन साध्य तक पहुँचने के लिए जरूरी हैं।** भूल तब हो जाती है जब साधन को साध्य समझ लिया जाता है। रेल को कोई कलकत्ता, जयपुर समझ ले तो मामला गड़बड़ हो जायेगा। आप साधन को साधन समझकर साधना के मार्ग में आगे बढ़ते हुए चलेंगे तो साध्य प्राप्त कर सकेंगे।

आप भले ही एक सामायिक करें, पर आत्मलक्ष्यी बनकर सामायिक करें। **सामायिक को रीति-रिवाज के नाम पर नहीं करें।** अभी रिवाज के नाम पर सामायिक हो रही है और यही सामायिक लक्ष्य को लेकर की जाय तो समत्वभाव प्राप्त होगा ही। कोई अच्छी खुराक लेता है और पाचनक्रिया बराबर है तो थोड़े समय बाद उसके चेहरे पर चमक आये बिना नहीं रहती। कभी-कभी आप लोग गाँव के किसी लड़के को लेकर आते हैं। खुद खाये वैसा उसे खिलाते हैं तो चार-पाँच महीनों में गाँव से आए लड़के के चेहरे की रंगत खुद-ब-खुद दिखने लगती है।

आपको वर्षों हो गये, आप रोज सामायिक करते हैं, लेकिन यदि समत्वभाव नहीं जगा तो कहना होगा आप रिवाज के रूप में सामायिक कर रहे हैं। आप रोज सामायिक करते हैं और वर्षों से सामायिक कर रहे हैं, पर जहाँ थे वहीं के वहीं हैं, साधना में आगे नहीं बढ़ रहे हैं, इसलिये कहना पड़ता है कि आप रिवाज के रूप में सामायिक तो कर रहे हैं, परन्तु साध्य की प्राप्ति का ध्यान नहीं है।

यह भूमि (जोधपुर) महापुरुषों की जन्म-स्थली और दीक्षा स्थली रही है। महापुरुषों की जन्मस्थली और दीक्षा स्थली भी गाने योग्य हो जाती है। शुभ वेला में कोई शुभ काम किया जाता है तो वह इतिहास के पृष्ठों पर अंकित होता ही है। गुरुदेव पूज्य श्री लक्ष्मीचन्द जी महाराज की यह दीक्षा स्थली रही है। उन्होंने इस धरा पर जीवन भर के लिए सामायिक अङ्गीकार की। गुरुदेव तीन करण-तीन योग से अठारह पापों का त्याग करके जीवन भर के लिए समत्व की साधना में लगे। आपकी देश सामायिक है उसमें भी आगे बढ़ने के लिए आप तैयार नहीं। जगत् में देश सामायिक से सर्व सामायिक की ओर बढ़ते हुए जीवन में स्वरक्षा से सर्वरक्षा का उत्तरदायित्व लेकर चलने वाले महापुरुषों के गुण गाये जाते हैं।

स्वरक्षा से सर्वरक्षा की ओर बढ़ना इसी का नाम सामायिक है। अपनी रक्षा के लिए तो सभी सावचेत रहते हैं। एक मकड़ी भी जानती है कि मुझे कहाँ जाला बनाना है? रात्रि के समय किसारी अपनी सुरक्षा के लिए घट्टी के बीच में, पाट के बीच में, बक्से के नीचे, तस्वीर के पीछे स्थान ढूँढ़ लेती है। मक्खी लटकती हुई रस्सी पर, बिजली के तार पर रात को विश्राम करेगी। वह भी इतनी सावधान है कि रात में कोई शिकारी जानवर मेरे पर हमला न कर सके। **छोटे-छोटे जीव भी अपनी सुरक्षा के लिए सावधान हैं,** आदमी भी अपनी सुरक्षा का ख्याल रखे तो आदमी और छोटे-छोटे जीव जन्तुओं में क्या फर्क है? आप ज्ञान वाले हैं इसलिए स्वरक्षा के बजाय सर्वरक्षा का ध्यान रखकर आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 44
ISSN 2249-2011

प्रवचन

जैनत्व और जीवनशैली

आचार्यप्रवर श्री रामलालजी म.सा.

जैन घर में जन्म लेने मात्र से कोई जैनी नहीं हो जाता है। जैनत्व के संस्कारों से जब तक संस्कारित न हो जाय, तब तक वह जन्म से जैन कहला सकता है, कर्म से अथवा यथार्थ में उसे जैन नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण वर्ग में ऐसी मान्यता है कि जब तक जनेऊ संस्कार न हो जाय तब तक उसे ब्राह्मण-योग्य कर्म करने का अधिकार नहीं होता, उसे शूद्र ही माना जाता है। यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् ही वह ब्राह्मण कहलाता है। इसी प्रकार मनुष्य तन में आ जाने मात्र से मनुष्य को मानवीय योग्यता से सम्पन्न नहीं माना जा सकता। यद्यपि भाव से वह मनुष्य है, क्योंकि वह मनुष्यायु और मनुष्य गति नाम कर्म का वेदन कर रहा होता है। किन्तु सही मायने में मनुष्य जीवन योग्य कर्म करने पर ही उसे मनुष्य कहा जाना चाहिये।

जैन संस्कारों से संस्कारित नहीं होने से वर्तमान में जैन समुदाय की दशा विचित्र बनी हुई है। जैन जीवन शैली से यदि जीवन जीया जाता है, तो वह समुदाय अन्य से अलग ही दिखेगा। उसका जीवन स्वतः उसका परिचय होगा। केवल जैन कह देने मात्र से लोग उसे सम्मान से देखेंगे, किन्तु वह वास्तव में वह जैन नहीं है। जैन कहलाने के लिए तदनुकूल आचरण आवश्यक है। एक युग था जब जैनों को अत्यन्त महत्त्व मिला हुआ था, क्योंकि उनकी जीवन शैली प्रभावक थी। उनका जीवन ठोस था। कथनी-करनी में अन्तर नहीं था। ऐसा जीवन ही शासन की प्रभावना करने वाला होता है। उसे लड्डुओं की अथवा अन्य कोई प्रभावना वितरित नहीं करनी पड़ती। उनका जीवन प्रभावोत्पादक हुआ करता था। वर्तमान में भी कुछ ऐसे लोग हैं, पर बहुलता उन लोगों की है जो जैनत्व के संस्कारों से संस्कारित नहीं हैं। अथवा वर्तमान में वे उन संस्कारों को मूल्य नहीं देते हैं। जैसे सामान्य लोग जीते हैं, वैसे ही वे भी जी रहे होते हैं। झूठ-छल-प्रपञ्च यदि उनके जीवन का अङ्ग बन जाय, तो कैसे कहें कि जैनत्व के संस्कारों को उन्होंने सुरक्षित रखा है। पैसे को यदि परमात्मा (उपलक्षण से) मानें तो कैसे कहें कि उनका जैनत्व सुरक्षित है। जैनों! अपने जैनत्व को पहचानो एवं उसके अनुसार ही जीवन जीओ।

जीवन जीने का ज्ञान होना एवं जीवन जीना अलग बात है। कोरा ज्ञान, जीवन में सुख नहीं दे सकता। जीवन में जो ज्ञान रम जाए, वह जीवन को सुखी बना देता है। ड्राइवर यह जानता है कि चढ़ाई के समय कैसे गाड़ी को नियन्त्रित करना एवं दाएँ-बाएँ मोड़ते समय क्या सावधानी रखना। यदि वह इन तथ्यों का विज्ञान न रखे, तो गाड़ी का मञ्ज़िल तक पहुँचना संदिग्ध बना रहता है। वैसे ही जीवन व्यवहार का ज्ञान न हो तो व्यक्ति सुखी नहीं बन सकता। जैसे रोड़ पर चलते दाएँ-बाएँ मोड़ आते रहते हैं, वैसे ही सामुदायिक जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव और मोड़ आते रहते हैं। वे न आएँ, यह सम्भव नहीं है। वे तो आयेंगे। उनमें स्वयं को कैसे व्यवस्थित रखना, इसका विज्ञान होना ज़रूरी है।

समुदाय में रहने वाले सभी सदस्यों की समझ एक जैसी नहीं हो सकती। सारे एक ही साँचे में ढले हुए नहीं होते। एक साँचे में ढाली गई चीज़ों में भी अन्तर आ जाता है तो व्यक्तियों में अन्तर न आए, सम्भव नहीं है। कोई व्यक्ति किसी भी विषय को अत्यन्त शीघ्रता से समझ लेता है, तो अन्य कई ऐसे भी होते हैं जिन्हें अनेक बार समझाने पर विषय समझ में आता है। कोई ऐसे भी होते हैं, जिन्हें अनेक बार समझाने पर भी समझ में नहीं आता है। योग्यता एवं समझ का अन्तर हो सकता है, किन्तु मनुष्य की समझ के अनुसार आचरण सुधारने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। तभी उसकी जीवनशैली उत्तम होगी।

प्रेषक-श्री महेश नाहटा, धमतरी

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 45
ISSN 2249-2011

प्रवचन

जैन जीवनशैली में ध्यान

आचार्यप्रवर डॉ. श्री शिवमुनिजी म.सा.

जैन जीवनशैली में ध्यान विषय पर लिखने से पहले हम देखते हैं कि जितने भी जिन हुए, यानी जिनेश्वर हुए, तीर्थंकर हुए, केवलज्ञानी हुए, उन्होंने अपने जीवन में ध्यान और कायोत्सर्ग की साधना की और वे जितेन्द्रिय बन गये। मन को जीत लिया, पूर्ण संयमी बन गये। उनकी जीवन शैली ही जैन की जीवनशैली है। उन्होंने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर केवल ज्ञान प्राप्त किया और वे सर्वज्ञ बन गए। तत्पश्चात् उन्होंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, वह जैन आगमों में निर्ग्रन्थ धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। वही आगे जाकर जैनधर्म के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

जैनत्व–जैन कोई जन्म से नहीं होता, जैन कोई जाति नहीं है। जैन एक धर्म है जो जिनेश्वरों द्वारा प्रतिपादित है। सर्वप्रथम तीर्थंकरों ने तत्त्व का बोध करवाया। तत्त्व दो, सात और नौ के रूप में प्रसिद्ध हैं। संक्षेप में दो तत्त्व हैं–जीव और अजीव। जो इनका ज्ञाता होता है वह जैन साधक होता है वही आराधक होता है, सम्यग्दृष्टि होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है–**'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्-दर्शनम्'**–तत्त्व पर जो श्रद्धा करता है उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। वहाँ सात तत्त्व की चर्चा है जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इसमें पुण्य और पाप को जोड़ने पर नौ तत्त्व होते हैं।

प्रथम सूत्र में ही कहा है–**''सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः''**–मोक्षमार्ग के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की साधना है।

जैन कौन?–जो साधक शरीर के स्तर पर जीवन जीता है, शरीर में सुख ढूँढ़ता है, शरीर को ही हृष्ट, पुष्ट बनाकर सुखी होना चाहता है, शरीर के भौतिक सुखों के लिए ही जीवन जीता है, वह मिथ्यात्व में जीवन जी रहा है। जैन वह है जो मोह कर्म को तोड़ने के लिए शरीर को तपाता है।

जैन वही है जो सत्य पर श्रद्धा करता है, सत्य का ज्ञान प्राप्त करता है एवं सत्य को अनुभव से जान लेता है। सत्य है, मैं आत्मा हूँ, **'अप्पा सो परमप्पा'** आत्मा ही परमात्मा है। सत्य को पाने के लिए जो पुरुषार्थ करता है, वही जैन बनने का अधिकारी है, वही सच्चा जैन है।

श्री आचाराङ्गसूत्र में कहा है–**णो सण्णा भवइ**–करोड़ों साधक ऐसे हैं जो ये नहीं जानते कि मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए क्या साधना करूँ?

वहाँ बताया है कि साधक ध्यान करते हुए, जाति स्मरण आदि ज्ञान से, स्वमति से अथवा तीर्थंकर भगवान से या उनकी आज्ञा में चलने वाले ज्ञानी पुरुष से जान लेता है कि मैं कौन हूँ? अपने अस्तित्त्व का बोध प्राप्त कर लेता है। तब उसके जीवन में जैनत्व आता है। यहीं से जैन जीवनशैली प्रारम्भ होती है।

जैन साधु हो या श्रावक हो, उसके जीवन का एक ही लक्ष्य होता है–आत्मबोध को प्राप्त कर अपने अस्तित्व पर श्रद्धा करे, जो अस्तित्व, जो जीव तत्त्व मुझमें है वही सृष्टि के प्रत्येक जीव में है, अतः वह संयम के द्वारा अपना जीवन जीना प्रारम्भ करता है।

जैन को पाँच इन्द्रिय और छठे मन पर संयम रखना अति आवश्यक है। वह जीव तत्त्व में आनन्द, शान्ति, ज्ञान की प्राप्ति करते हुए, शरीर और इन्द्रियों का साधन के रूप में उपयोग करता है। शरीर को तपाता है, इन्द्रियों के विषयों को विष मानकर, उन पर संयम रखता है।

इस प्रकार के संयमित जीवन से ध्यान साधना का

बहुत बड़ा महत्त्व है। जो साधक आत्मध्यान के द्वारा जड़ और चेतन का भेद-विज्ञान कर लेता है। वह उठते, बैठते, हिलते, चलते, खाते, पीते हर कार्य को ध्यान से करता है, विवेक से करता है उससे उसे कोई कर्म नहीं लगता है।

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे, कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ।।

-दशवैकालिक 4/7

मूलार्थ-हे भगवन्! जीव किस प्रकार से चले? किस प्रकार से खड़ा हो? किस प्रकार से बैठे? किस प्रकार से सोए? किस प्रकार से भोजन करे? किस प्रकार से बोले? जिससे कि उसे पाप-कर्म का बन्ध न हो। भगवान फरमाते हैं-

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ।।

-दशवैकालिक 4/8

मूलार्थ-जीव यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक खड़ा हो, यतनापूर्वक बैठे, यतनापूर्वक सोए, यतनापूर्वक भोजन करे और यतनापूर्वक भाषण करे तो वह पाप-कर्म को नहीं बाँधता है।

यहाँ यतना विवेक है, विवेक अर्थात् भेद-विज्ञान है। भेद-विज्ञान की परिपक्वता के लिए आत्मध्यान से जीव को तत्त्व का बोध होता है और वह जगत् के सब जीवों को अपने समान समझता है। अभेद दृष्टि से वह सभी में आत्मा के दर्शन करता है।

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ।।

-दशवैकालिक 4/9

मूलार्थ-जो जगत् के जीवों को अपने समान समझता हो, जो जगत् के जीवों को समभाव से देखता हो, कर्मों के आने के मार्ग को जिसने रोक दिया हो और जो इन्द्रियों का दमन करने वाला हो, ऐसे साधु को पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता।

ऐसे साधक को कोई पाप कर्म नहीं लगता। आत्मध्यान के साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है तभी कहा है-

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही?, किं वा नाहीइ सेयपावगं?।।

-दशवैकालिक 4/10

मूलार्थ-पहले ज्ञान है, पीछे दया है। इसी प्रकार से सब संयत-वर्ग स्थित है अर्थात् मानता है। अज्ञानी क्या करेगा? तथा पुण्य और पाप के मार्ग को वह क्या जानेगा?

ऐसा साधक आत्मध्यान से आत्मज्ञान को प्राप्त करता है। क्या है आत्मज्ञान? आत्मज्ञान यही है कि शरीर तथा आत्मा दोनों तत्त्व भिन्न हैं। जो दोनों को एक मानता है, वह अज्ञानी है। जो अज्ञानी है वह जीव और अजीव का भेद नहीं करता है। उसे सदैव कर्म बन्धन होते हैं। वह प्रत्येक श्वास में कर्म बन्ध करता है। जो जीव और अजीव के भेद को नहीं जानता, वह क्या संयम को जानेगा।

जो जीवे वि न याणेइ अजीवे वि न याणेइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं?।।

-दशवैकालिक 4/12

मूलार्थ-जो जीव, न तो जीव पदार्थ को जानता है और न अजीव पदार्थ को और जीवाजीव को भी नहीं जानता, वह संयम को किस प्रकार जान सकेगा?

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणेइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं।।

-दशवैकालिक 4/13

मूलार्थ-जो जीव के, अजीव के और जीवाजीव के स्वरूप को जानता है, वही जीव वास्तव में संयम के स्वरूप को जान सकेगा?

जीव अपने स्वभाव को जानकर उस पर श्रद्धा करता है। मैं जीव हूँ, मुझमें जो अस्तित्व है, वैसा ही अस्तित्व सभी जीवों में है। जिसे अस्तित्व पर श्रद्धा है,

जो अस्तित्व में ठहरता है, वही ज्ञानी है। इसीलिए जैन साधु हो या श्रावक, भगवान ने ऐसी चर्या बताई है जिससे प्रत्येक साधक आत्मार्थी बनकर वर्तमान में सुखी बन सके।

सम्यक्त्व-व्यवहार में देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रन्थ, केवली प्ररूपित धर्म अर्थात् आत्मधर्म।

श्रावक के लिए पञ्च अणुव्रत, तीन गुण व्रत, चार शिक्षा व्रत आचरणीय हैं, जिनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की मर्यादा, दिशाव्रत, उपभोग-परिभोग की मर्यादा, अनर्थ-दण्ड का त्याग, सामायिक व्रत, देशावकाशिक व्रत, पौषध व्रत, अतिथि संविभाग व्रत सम्मिलित हैं।

भगवान ने साधु को दिवस में 3 घण्टे एवं रात्रि में 3 घण्टे के ध्यान और कायोत्सर्ग की आज्ञा दी है एवं शेष प्रत्येक क्रिया वह शारीरिक हो या धार्मिक, भेद-विज्ञान के साथ करे। जो साधक आत्मार्थ की साधना करता है वह सन्तोषी बन जाता है। जैनधर्म में चार ध्यान की चर्चा आती है।

- **आर्त्तध्यान**-जो साधक पुद्गलों का चिन्तन करता है वह आर्त्तध्यान करता है। आर्त्तध्यान से व्यक्ति चिन्तित होता है और अपनी चिन्ताओं को दूर करने के लिए परिग्रह एकत्रित करता है और समझता है परिग्रह से हम सुखी हो जायेंगे। किन्तु ज्यों-ज्यों परिग्रह बढ़ता है त्यों-त्यों उसके जीवन में लोभ बढ़ता है, लोभ से सभी पाप उसके जीवन में आ जाते हैं।
- **रौद्रध्यान**-रौद्रध्यान में सब पुद्गलों के साथ क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष का चिन्तन होता है और उसका संसार बढ़ता चला जाता है।
- **धर्म ध्यान**-आर्त्त-रौद्र से बाहर निकलने के लिए साधक को महामन्त्र नवकार की आराधना, स्वाध्याय, स्तुति, भक्ति आदि धार्मिक क्रियाओं की ओर अभिमुख किया जाता है। साधक इसमें सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध आदि धार्मिक क्रियाएँ करता है, वह धर्मध्यान है।
- **ध्यान का अभ्यास**-क्रिया से अक्रिय होकर जीव अपने स्वभाव की साधना करता है। इससे वह धर्ममय हो जाता है। धर्ममय जीवन जीना ही आत्मध्यान साधना में सिखाया जाता है। क्रियाएँ जो प्रारम्भ हुई हैं उनका अन्त अवश्य होता है। किन्तु धर्म का कभी अन्त नहीं होता है। धर्म जीव का स्वभाव है। अत: प्रत्येक साधक हर अवस्था में धर्ममय कैसे रह सकता है? यही प्रशिक्षण आत्म-ध्यान के अन्तर्गत सिखाया जाता है। प्रारम्भ में साधक आँखें बन्द करके ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं में अपनी आत्मा को भावित करता है अर्थात् एक आसन पर स्थित बैठकर, मौन होकर, आत्म ध्यान में बैठता है। प्रारम्भ में वह धारणा करता है मैं शरीर के मध्य में जीव आत्मा हूँ और जीव की साक्षी में अपने शरीर में आते-जाते श्वासों को द्रष्टा भाव से देखता है।

श्वासों को देखते-देखते मन अपने आप शान्त होने लगता है और तत्पश्चात् श्वासों के साथ 'सोऽहं' की ध्वनि का आलम्बन लेता है और कुछ ही क्षणों में 'सोहं' की यात्रा करते-करते वह मन, वचन, काया से पार अपने आत्मा में स्थित हो जाता है, निज स्वरूप में स्थित हो जाता है। स्वरूप बोध होने पर साधक का अनादिकाल का मिथ्यात्व टूटता है। वह नाम, पद, प्रतिष्ठा से पार जीवतत्त्व का अनुभव करता है। विभाव से स्वभाव की ओर बढ़ता है, धर्ममय बन जाता है।

फिर साधक की हर चर्या में ध्यान घटित होता है और हर क्रिया भेद-विज्ञान से होती है।

जैन जीवनशैली में ध्यान का सर्वाधिक महत्त्व है। इससे साधक 24 घण्टे बिना किसी कारण, हर अवस्था में आनन्द पूर्वक जीने की कला सीख लेता है। चाहे बालक हो, वृद्ध हो, गृहस्थ हो या साधु हो, सभी को ध्यान करना चाहिए। जो उत्तम समय ध्यान को देगा, उसका पूरा जीवन आनन्द से बीतेगा। नवीन कर्मों के बँध को रोकेगा और पुराने कर्मों को क्षय करेगा।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 48
ISSN 2249-2011

प्रवचन

जैन जीवनशैली और अन्तराय कर्म

प्रज्ञानिधि आचार्य श्री विजयराजजी म.सा.

सबसे पहला सवाल आता है-जैन कौन?

जो सम्पूर्ण राग-द्वेष विजेता जिन को माने वह जैन!

जैसे-शिव को मानने वाले शैव

विष्णु को मानने वाले वैष्णव

ईसा को मानने वाले ईसाई और

वेदों को मानने वाले वैदिक कहलाते हैं इसी तरह जो जिन को अपना आराध्य मानता है, वह जैन है।

जैनों की क्या प्रतिज्ञा/भावना होती है, वे ये प्रतिज्ञा करते हैं -

- मैं जैन हूँ, मुझे जैन होने का गौरव है।
- अरिहंत और सिद्ध भगवन्त मेरे देव हैं।
- निर्ग्रन्थ कञ्चन-कामिनी के त्यागी पञ्च महाव्रतधारी सुसाधु मेरे गुरु हैं।
- अहिंसा प्रधान, तीर्थंकर प्ररूपित जैनधर्म मेरा धर्म है।
- माता-पिता आदि उपकारी जनों के प्रति मैं विनय भाव रखूँगा।
- प्राणिमात्र के साथ मैत्री भाव रखूँगा।
- जो सांसारिक कार्य करूँगा, वह पराया समझूँगा।
- जो सामायिक-संवरादि धार्मिक कार्य करूँगा, उन्हें अपना समझूँगा।
- मैं धर्म और संघ के लिए अपना जीवन समर्पित करता हूँ।

यह जैनों की प्रतिज्ञा कह दो, भावना कह दो, इससे जैनों की आस्था सुदृढ़ बनती है।

दूसरा सवाल है-धर्म क्या है?

धर्म व्यक्ति का स्वभाव है। व्यक्ति का स्वभाव ही उसका चरित्र कहलाता है तो चरित्र धर्म अथवा धर्म चरित्र है। भगवान महावीर ने दो प्रकार का धर्म बतलाया-1. श्रुत धर्म, 2. चारित्र धर्म।

जो शास्त्र श्रवण से सम्बन्ध रखता है वह श्रुत धर्म और जो शुभ आचरण से सम्बन्ध रखता है वह चारित्र धर्म। धर्म के तीन चरण हैं-कर्त्तव्य-पालन, नैतिकता और उपासना-पद्धति। उपासना-पद्धतियाँ अलग-अलग हो सकती हैं, मगर कर्त्तव्य तथा नैतिकता के पालन में सारा संसार एकमत, एक मान्यता वाला बन जाता है। धर्म कर्त्तव्यों की रूपरेखा बताता है। कर्त्तव्य-पालन से नैतिकता का आविर्भाव होता है। जो दिन-प्रतिदिन व्यवहार में स्थान पाती हुई आचरण को शुभ और पवित्र बनाती है। इसी नैतिकता के आचरण से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र-निर्माण की बुनियाद नैतिकता है और नैतिकता कर्त्तव्य पालन से आविर्भूत होती है। चरित्र का निर्माण सदाचार की आधारभूमि बनता है। इस तरह कर्त्तव्य-पालन और नैतिकता धर्म के प्रायोगिक पक्ष हो जाते हैं। यही जैनों की जीवन शैली है। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, व्यवहार में अनासक्ति और वचनों में सापेक्षता जैनों के उत्कृष्ट रूप को व्याख्यायित करते हैं।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ के शब्दों में-''जैनधर्म आध्यात्मिक धर्म है। जो धर्म आत्मा, कर्म और मोक्ष के आधार पर धर्म की स्थापना करता है वह आध्यात्मिक धर्म होता है। केवल सम्प्रदाय के आधार पर धर्म की स्थापना करने वाला धर्म आध्यात्मिक धर्म नहीं होता। जैन धर्म का किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध आत्मा से है। प्रभु महावीर ने कभी नहीं कहा-मेरे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारा मोक्ष होगा। यह कहने वाले मनुष्य स्वयं भ्रान्त हैं और दूसरों को भ्रान्ति में डाल रहे हैं। मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा की विशुद्धि से है। आत्मा की विशुद्धि कषाय के विलय से होती है,

जिसका कषाय उपशान्त होता है वह किसी भी सम्प्रदाय से हो, मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।''

आगे आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी कहते हैं-''जैनधर्म में अज्ञान, भूख, बीमारी और आतंक को समाज व्यवस्था में विघ्न माना है। ये धार्मिक विकास में भी बाधक बनते हैं।'' उक्त चार चिन्ताओं से मुक्त समाज ही धार्मिक विकास कर सकता है। उक्त चारों चिन्ताओं को ध्यान में रखकर जैन चिन्तकों ने चार तरह की दान की व्याख्या की-

1. **अन्न-दान**-आजीविका की व्यवस्था।
2. **ज्ञान-दान**-शिक्षा की व्यवस्था।
3. **औषध-दान**-चिकित्सा की व्यवस्था।
4. **अभय-दान**-आतंक-मुक्ति की व्यवस्था।

इस दान-चतुष्टयी के द्वारा जैन समाज बहुत प्रभावी और व्यापक बना। यह व्यवस्था भारत में ईसाई धर्म के आगमन से पूर्वकालीन थी।

इसी तरह आचार्य श्री महाप्रज्ञ कहते हैं-''जैनधर्म में विश्व धर्म होने की अर्हता है। उसका सबसे बड़ा प्रमाण है-अनेकान्त। उसके अनुसार सत्य की प्राप्ति पर किसी का एकाधिकार नहीं होता। सत्य की उपलब्धि का महत्त्वपूर्ण साधन है-सापेक्ष दृष्टिकोण। निरपेक्ष दृष्टिकोण स्वयं द्वारा स्वीकृत सच्चाई को स्वीकार करता है। शेष सब जनों द्वारा स्वीकृत सच्चाई को नकार देता है।''

सत्य की उपलब्धि का दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन है-समन्वयशील सम्बन्धों की खोज। जैनधर्म में अनेकान्त के ये दोनों तत्त्व सापेक्षता और समन्वय सर्वात्मना मान्य हैं। इनके द्वारा जैनधर्म में विश्व धर्म बनने की अर्हता उपलब्ध होती है। आचार्य महाप्रज्ञ जी जैनदर्शन के मान्य मनीषी विद्वान् रहे हैं। उन्होंने अपनी साहित्यिक कृतियों में उक्त विचार अभिव्यक्त कर जैन जीवनशैली को महत्त्वपूर्ण रूप से निरूपित किया है।

एक प्रसङ्ग और कहना चाहूँगा-सर्वोदय की विचारधारा के अग्रणी श्री विनोबा भावे इन्दौर के पास महू में किसी कार्यक्रम में आये हुए थे। उन्हें ज्ञात हुआ आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. इन्दौर विराज रहे हैं। वे विनोबा भावे आचार्यश्री से मिलने के लिए इन्दौर पधारे। दोनों महापुरुषों का वार्तालाप चल रहा था-उसी वार्तालाप में श्री विनोबा भावे ने कहा-''आचार्यश्री! आप सोचते होंगे जैनों की संख्या कम है-नामधारी जैनों की संख्या भले कम होगी, मगर जैनों के जो सिद्धान्त हैं अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अनेकान्त ये ऐसे सिद्धान्त हैं जो सारे विश्व में दूध में मिश्री की तरह घुले मिले हैं। इन सिद्धान्तों में वह शक्ति है जो जैनधर्म को विश्व धर्म का दर्ज़ा दिलाती है। आज नामधारी जितने जैन हैं वे अगर इन सिद्धान्तों का आचरण करने लग जाएँ, तो वे गंगा-यमुना की तरह सारे संसार में पृथक् पहचान बना लें। विनोबा भावे की अभिव्यक्ति सत्य के बहुत करीब है। जैन सिद्धान्तों की शक्ति अमित है। प्रो. सुमेरचन्द जैन लिखते हैं-''धर्म मोक्ष का साधन है, धर्म मानवता का मेरुदण्ड है। धर्म विघटन नहीं, संघटन की चेतना है, शत्रुता नहीं प्रीति का उजास है, युद्ध नहीं शान्ति का साम्राज्य है, जीवन शैली की तेजस्विता का आदर्श है।''

एक प्राचीन दोहा है-

धर्म धर्म सब कोई कहे, मर्म न जाणे कोय।
जात न जाणे जीव की, धर्म किस विध होय।।

जड़ चेतन का स्वरूप जब तक समझ में न आये तब तक धर्म, धर्म कहने से कोई धर्मी नहीं होता, वहाँ धर्म केवल कथनी का विषय बनकर रह जाता है। ऐसे धर्म का कथन करने वाले हजारों नहीं, लाखों व्यक्ति मिलेंगे। धर्म चर्चा का नहीं, चर्या का विषय है। चर्या ही चरित्र बनती है और उसी से चरित्र का निर्माण होता है।

सौभाग्य से जैन कुल में जन्म मिला, सत्संग, धर्म-श्रवण, धर्म-श्रद्धा ये सारे एक के बाद एक पुण्य की बदौलत संयोग जुटते रहे। अब धर्म में पुरुषार्थ ही करना है वह कब हो सकता है-जब अन्तराय कर्म टूटे उनका क्षयोपशम हो। ये अन्तराय कर्म क्या है? इसे समझने की चेष्टा करेंगे-

जिस कर्म के उदय से जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, पराक्रम, पुरुषार्थ में अन्तराय-विघ्न, बाधा उपस्थित होती है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। अन्तराय कर्म को भण्डारी-खजाञ्ची की उपमा से उपमित किया गया है, जैसे-राजा किसी याचक को दान देना चाहता है और देने के लिए आज्ञा भी देता है, किन्तु भण्डारी उसमें बाधा उपस्थित करके राजा की आज्ञा एवं इच्छा को सफल नहीं होने देता, इसी प्रकार अन्तराय कर्म भी जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य में विघ्न रूप में होता है और जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य से वञ्चित कर देता है।

अन्तराय कर्म को घाती कर्म की संज्ञा से अभिहित किया गया है-आठ कर्मों में से चार कर्म घाती हैं और चार कर्म अघाती हैं।

1. घाती कर्म-अर्थात् आत्म-गुणों का सर्वथा घात करने वाले कर्म घाती कर्म कहलाते हैं। इनके सम्पूर्ण क्षय से ही जीव को केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त होता है। वे चार घाती कर्म हैं-1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. मोहनीय, 4. अन्तराय।

2. अघाती कर्म-अर्थात् जो आत्म गुणों का तो घात नहीं करते, किन्तु जिनके रहते हुए जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसे कर्मों को अघाती कर्म कहते हैं, इनके क्षय होने पर जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। वे अघाती कर्म हैं-1. वेदनीय, 2. आयु, 3. नाम, 4. गोत्र।

अन्तराय कर्म का कार्य

आत्मा का आठवाँ मूल गुण है-'अनन्त वीर्य।' इस अनन्तवीर्य गुण से आत्मा अतुलनीय, अनन्त शक्तिमान होती है, किन्तु अन्तराय कर्म के उदय से अनन्तवीर्य सम्पन्न होते हुए भी जीव को अपनी अतुलनीय शक्ति का अनुभव नहीं होता है। अन्तराय कर्म उस अनन्त शक्ति को दबा देता है। 'अन्तराय कर्म शक्तिवर्धक नहीं, किन्तु शक्ति का प्रतिरोधक होने से आत्मा को निर्बल, दुर्बल, सत्त्वहीन, शक्तिविहीन बना देता है।' आत्मा को लाभ आदि की प्राप्ति में, शुभ-सद्कार्यों को करने की क्षमता में, स्वाध्याय आदि साधना करने के सामर्थ्य में, अवरोध पैदा करता है। अन्तराय कर्म के उदय से दान-लाभ-भोग-उपभोग आदि कार्यों में सफलता या कार्यसिद्धि नहीं होने देता। बनते हुए कार्यों को बिगाड़ देता है। बलवती आशाओं को धराशायी कर देता है।

अन्तराय का अर्थ

अन्तराय शब्द के अनेक अर्थ हैं। अन्तराय अर्थात् विघ्न, बाधा, अड़चन, रुकावट, अशक्तता, शक्तिविकलता, सत्त्वहीनता इत्यादि।

अ - अशन-वसन आदि

न् - नहीं देने हेतु

त - तर्क-वितर्क करके

रा - राय देना, जिससे

य - यश कीर्ति का नाश होता है।

अन्तराय कर्म की कार्यक्षमता

अन्तराय कर्म के प्रभाव से अरुचि, अस्वस्थता, शोक, चिन्ता आदि के कारण उपस्थित होते हैं। (1) एक व्यक्ति दिन-रात खूब पसीना बहाता हुआ मेहनत करता है, परन्तु अभीष्ट अर्थ/वस्तु की प्राप्ति नहीं कर सकता, इसका मुख्य कारण अन्तराय कर्म है। (2) एक व्यक्ति के पास प्रचुर मात्रा में धन-धान्यादि पदार्थ विद्यमान हैं, देने की भावना भी है और सामने लेने वाला भी तैयार है, किन्तु वह दे नहीं सकता, यह उस दाता का दानान्तराय और लेने वाले का लाभान्तराय है। (3) एक व्यक्ति के पास खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने आदि की भोग-उपभोग युक्त सामग्री विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हुए भी वह उनका भोगोपभोग नहीं कर सकता, इसका कारण उसका अन्तराय कर्म है। (4) आत्मा में कार्य करने की अनन्त शक्ति, सामर्थ्य, क्षमता होते हुए भी विकलाङ्ग शरीर, अङ्गोपाङ्गों की विकलाङ्गता, अपङ्गता, व्याधि, आलस्य, पराधीनता, आसक्ति, अरुचि, ग्लानि, खेदपना, मानसिक विक्षिप्तता आदि कारणों से

आत्मा की अनन्तवीर्यता अवरुद्ध हो जाती है, प्रतिहत हो जाती है, वीरता की जगह मानसिक कुण्ठाएँ उद्वेलित करती हैं। अन्त में निष्कर्ष यही निकलता है कि यह अन्तराय कर्म आत्मा की सभी शक्तियों को कुण्ठित करता है और दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य आदि क्षमताओं पर ब्रेक लगा देता है। ''आत्मा की गति-प्रगति में स्पीड ब्रेकर (गति में रुकावट) का कार्य अन्तराय कर्म करता है।''

अन्तराय कर्म का प्रभाव

अन्तराय कर्म का प्रभाव दो प्रकार से दृष्टिगोचर होता है-1. प्राप्त को विलग करना, 2. आसन्न प्राप्ति में अवरोध पैदा करना। ये दो हैं-1. प्रत्युत्पन्न विनाशी अन्तराय कर्म के उदय से प्राप्त हुई वस्तुएँ भी विलुप्त/विनष्ट हो जाती हैं। 2. पिहित गामी पथ अन्तराय कर्म के उदय से भविष्य काल में प्राप्त होने वाली वस्तुओं, लाभ में विघ्न, बाधा, अवरोध आ जाता है, जिससे प्राप्त होने वाले सभी लाभों से जीव को वञ्चित रहना पड़ता है।

प्रत्युत्पन्न विनाशी को समझने हेतु दृष्टान्त

अपनी पुत्री की शादी में प्रीतिदान देने हेतु खरीदे गये सोना-चाँदी, हीरे-जवाहरात के सेट आदि बहुमूल्य वस्तुएँ बैग, पर्स में व्यवस्थित रखकर आप हीरा मार्केट से अपने घर की ओर आने हेतु रवाना हुए, किन्तु मध्य में ही आपका बैग/जेवर किसी चोर या लुटेरे ने चुरा लिया, यह आपका प्रत्युत्पन्न विनाशी अन्तराय कर्म का उदय है।

पिहितगामी पथ को समझने हेतु दृष्टान्त

जैसे आपने सौ रुपये में लॉटरी का टिकट खरीदा, किस्मत से या संयोगवशात् उसकी एक करोड़ रूपए की लॉटरी भी आपके नाम से खुल गई। न्यूज पेपरों में, टीवी में, एडवरटाइजमेंट हो गया, देश के नामी, बहुचर्चित अखबारों में फ्रण्ट पेज पर बड़े-बड़े अक्षरों में आपका नाम लॉटरी नम्बर सहित छप गया, आपको भी अपना नाम, नम्बर देखकर अतीव प्रसन्नता हुई, अपनी बाहों को उठाते हुए कहने लगे-''वाह! मेरे 100 रुपये का कमाल, मेरी किस्मत का क्या कहना, मेरा भाग्य कितना सिकन्दर है।'' बहुत खुश, बहुत खुश, यार, दोस्त, स्नेही, सम्बन्धी, स्वजन आदि भी मोबाइल पर आपको बधाइयाँ देने लगे। अभी तो हाथ में एक पैसा भी नहीं आया, किन्तु आने की उम्मीद और पाने की ललक ने आपकी खुशी हजार या लाख गुनी ही नहीं, अनन्त गुणी कर दी, छोटे से मकान में आप भव्यातिभव्य राजमहलों के स्वप्न में खो गए, किन्तु अगले ही सूर्योदय आपके हाथों में अखबार आया, उसमें लिखा था-''भूल के लिए खेद है सर! क्षमा कीजिए, प्रिण्टिंग मिस्टेक के कारण लॉटरी नम्बर 1002 की जगह 1003 के नाम से लॉटरी खुली है, ऐसा पढ़ा जाय।'' पढ़ने से पूर्व आप बाँसों उछल रहे थे, मन भी लम्बी-लम्बी छलाँगे लगा रहा था, लेकिन अखबार पढ़ते ही आप पर ढेरों पानी गिर गया हो, ऐसी मानसिक स्थिति हो गई। भविष्य में प्राप्त होने वाली वस्तु/अर्थ की प्राप्ति में अन्तराय कर्म अवरोधक बनकर विघ्न पैदा कर गया। यह हमारे ही पिहितगामी पथ अन्तराय कर्म का दुष्परिणाम रहा।

अन्तराय कर्म के अवान्तर भेद

1. अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का निरूपण करते हुए भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के 33वें अध्ययन की 15वीं गाथा में फरमाया-''**दाणे लाभे य, उवभोगे वीरिए तहा, पंचविहमंतरायं, समासेणं वियाहियं।।**'' अर्थात् अन्तराय कर्म रूपी वृक्ष की पाँच शाखाएँ हैं-1. दानान्तराय, 2. लाभान्तराय, 3. भोगान्तराय, 4. उपभोगान्तराय, 5. वीर्यान्तराय कर्म।

2. प्रज्ञापना सूत्र के 23वें पद के दूसरे उद्देशक में श्यामाचार्य जी ने फरमाया-''**अन्तराइए णं भंते! कम्मे कइविहे पण्णते? गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा-दाणंतराइए जाव वीरियंतराइए।।**'' अर्थात्-प्रश्न-हे भगवन् ! अन्तराय कर्म कितने प्रकार का कहा गया है?

उत्तर-हे गौतम ! अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है-दानान्तराय यावत्

वीर्यान्तराय (और भी अनेक आगमों, ग्रन्थों में, कर्मों का विषय जहाँ-जहाँ वर्णित है वहाँ-वहाँ अन्तराय कर्म का विषय भी वर्णित है।)

दानान्तराय कर्म

दान + अन्तराय = इन दो शब्दों की जोड़ से दानान्तराय शब्द बना है। दान शब्द की परिभाषा करते हुए आचार्य श्री उमास्वाति जी ने अपनी अनमोल कृति तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्ययन के 33वें सूत्र में लिखा- **'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'** 7/33 अर्थात् अनुग्रह के लिए स्व और पर के उपकार के लिए अपनी किसी भी वस्तु का अतिसर्ग-त्याग करना दान है।

दान देने से

'स्व' पर उपकार

1. लोभ वृत्ति का अल्पीकरण
2. सन्तोष गुण का वृद्धिकरण
3. पुण्यानुबन्धी पुण्य का समीकरण
4. रत्नत्रय में समाधिवरण
5. बाह्य वैभव में सन्तुष्टीकरण
6. इच्छाओं का समीकरण
7. मोक्ष-स्वर्गादिक सुखों का वरण

'पर' पर उपकार

1. परजीवन में सहयोगी
2. धर्म-साधना में उपयोगी
3. सम्यग्ज्ञानादि गुणों का संयोगी
4. आराधना में समभागी
5. पुण्य का संविभागी
6. जिनाज्ञा-पालन का सौभागी
7. बना सकता है वीतरागी

दान की विशेषता

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः। तत्त्वार्थसूत्र अध्ययन 7, सूत्र 34

विधि, द्रव्य, दाता एवं पात्र की विशेषता युक्त दान विशिष्ट होता है। लेने वाला पात्र मोक्ष मार्ग पथिक, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय गुणों से सम्पन्न सुपात्र हो। सुपात्र दान तीन प्रकार का है-1. उत्कृष्ट सुपात्रदान-तीर्थंकर भगवन्तों को दिया जाने वाला दान, 2. मध्यम सुपात्रदान-पञ्च महाव्रतधारी साधु-साध्वियों को दिया जाने वाला दान, 3. जघन्य सुपात्रदान-श्रावक-श्राविका, सम्यग्दृष्टि को दिया जाने वाला दान। सुखविपाक सूत्र के प्रथम अध्ययन में वर्णन आता है कि हस्तिनापुर नगर के निवासी सुमुख गाथापति ने मासखमण के तपस्वी सुदत्त अणगार को उपर्युक्त चतुर्विध विशेषताओं सहित दान देकर दो भाव प्राप्त किए-1. संसार को परीत करके अनन्त संसारी से परीत संसारी बने और 2. मनुष्यायु का बन्ध किया, जिसके कारण भविष्य में हस्तीशीर्ष नगरी में सुबाहु कुमार के रूप में राजकुल में जन्म लिया तथा पाँच प्रकार के द्रव्य का लाभ प्राप्त किया-1. साढ़े 12 करोड़ स्वर्णमुद्राओं की वृष्टि, 2. पञ्चरंगी पुष्पों की वृष्टि, 3. रत्नमण्डित वस्त्रवृष्टि, 4. 99 करोड़ गेबी वाद्य यन्त्रों से देवों ने दुन्दुभि नाद किया, 5. आकाश में स्थित होकर देवों ने अहोदानं-अहोदानं की ध्वनि से दान की महिमा प्रकट की।

स्थानाङ्गसूत्र के 10वें स्थान में 10 प्रकार के दान भगवान महावीर ने फरमाये हैं-**अनुकम्पादान**-जैसे अलवर के सेठ भामाशाह ने 900 कैदियों की रक्षा की, **संग्रहदान**-जैसे धन्ना सेठ ने शरीर बाधा निवारण हेतु विजय चोर को आहारादि दिया। **भयदान, कारुण्यदान, लज्जादान, गौरवदान, अधर्मदान, धर्मदान, करिष्यतिदान, कृतदान।**

कहा भी है जो नम्रतापूर्वक प्राप्त हुए वैभव का उदार भावों से वितरण करता है उसे नरक की वैतरणी (नदी) पार नहीं करनी पड़ती है। अतः दान कहता है-चार गति की दुःखमय वैतरणी को पार करना है तो वितरण करना सीखो। एक हाथ दोगे-हजार हाथों से मिलेगा।

दानान्तराय कर्म क्या करता है

दान देने की इच्छा है, दान देने की शुद्ध, एषणीय आदि सामग्री भी उपलब्ध है, विधि भी जानते हैं, दान के

फल का स्वरूप भी जानते हैं, लेने वाला सुयोग्य पात्र भी समक्ष उपस्थित है, किन्तु दान देने की अनुत्साही वृत्ति को, दान देने में बाधा उपस्थित हो जाने को दानान्तराय कर्म कहते हैं। दानान्तराय कर्मोदय से उदार जीव भी कृपण हो जाता है। मनुष्य में कृपणता का दोष दानान्तराय कर्म के उदय से पुष्ट होता है। इसीलिए आचार्य उमास्वाति जी ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा- 'विघ्नकरणमंतरायस्य' अध्ययन 6, सूत्र 26 अर्थात् विधि, द्रव्य, दाता और पात्र चारों विशेषताएँ होने पर भी दान आदि में जो विघ्न उपस्थित करके दान नहीं देने देता वह दानान्तराय कर्म है।

जैसे-1. आपके गृहांगण में निर्मल चारित्रिक श्रमण मुनिराज पधारे। आपके घर में साधुओं को देने योग्य अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि 14 प्रकार की देय वस्तुएँ भी निरवद्य रूप में समुपलब्ध हैं। आपके अन्तरंग में उल्लासयुक्त भावना भी है कि मेरे घर तारण-तिरण की जहाज आई है, मैं अपने हाथों से दान दूँ, किन्तु लेते-देते वक्त उस वस्तु का कुछ अंश घुटने के ऊपर से गिर गया, आपका घर असूझता हो गया, आप दान की भावना होते हुए भी नहीं दे सके। यह आपके दानान्तराय कर्म का उदय है।

2. साधु-साध्वी जी को आप देने हेतु तत्पर हुए, किन्तु उसी समय मोबाइल की घण्टी टनन-टनन बजी और समाचार आये कि आपके फ्रेण्ड का जबर्दस्त एक्सीडेण्ट हो गया, आप जल्दी पहुँचो। ऐसी स्थिति में आपको तुरन्त जाना पड़ा, दान नहीं दे सके, यह आपका दानान्तराय कर्म का उदय है। दानान्तराय बन्ध का एक अन्य कारण- दान देने के बाद पश्चात्ताप करने से भी दानान्तराय कर्म बँधता है। जैसे-मम्मण सेठ ने पूर्वभव में मुनि को लड्डू का दान दिया, पीछे लड्डू का बचा हुआ अंश खाने पर बहुत स्वादिष्ट लगा, वह सोचने लगा- अरे! मैं भी कैसा निरामूर्ख ठहरा। मुनि को नहीं देता या दो लड्डू दे देता और दो मैं रख लेता तो अच्छा रहता। दान देकर पश्चात्ताप करने से, दानान्तराय कर्म का बन्ध हुआ, उसकी बदौलत दान देने से दौलत तो मगध सम्राट् श्रेणिक से भी अधिक मिली, किन्तु दानान्तराय कर्म के उदय से न तो स्वयं खा सका, न खिला सका, न दान दे सका, न उसका उपभोग ही कर सका।

जैनधर्म कर्म-प्रधान धर्म है। इस दर्शन का मानना है कि जीव जैसे कर्म करेगा, वैसा ही उसे जीने को मिलेगा। कई लोग वर्तमान में अच्छे कार्य करते हुए भी दु:खी देखे जाते हैं, क्योंकि उनके पिछले भवों में विशेष सत्कर्म किए हुए नहीं होते हैं। पिछले भव के सत्कर्म वर्तमान का सौभाग्य तथा दुष्कर्म दुर्भाग्य बनता है। वर्तमान का पुरुषार्थ अगले भव का भाग्य बनता है। इस तरह भाग्य व पुरुषार्थ का गठबन्धन है। **पुरुषार्थ के बीज से भाग्य रूपी फल जन्म लेता है। वह फल पुन: बीज को जन्म देता है। इस तरह भाग्य से पुरुषार्थ और पुरुषार्थ से भाग्य के बनने का सिलसिला अनादि काल से चल रहा है।** इस सिलसिले में कई जीव ऐसे नज़र आते हैं जिनका जीवन खूब सुख-शान्ति-आनन्द में गुज़र रहा है और कई जीव ऐसे हैं जो दु:ख, द्वन्द्व, रोग-शोक, अभाव, गरीबी एवं विघ्न बाधाओं से जूझ रहे हैं। भरपूर मेहनत करते हैं, मगर श्रम के मस्तक पर सफलता का तिलक नहीं लग पाता है। ज़िन्दगी से दु:खों की मात्रा कम ही नहीं होती है। कष्ट-संकटों की नदी हमेशा पूर पर ही चढ़ी रहती है। दु:खों का पानी नीचे उतरता नज़र ही नहीं आता है। जीवनोपयोगी जरूरतों को पूर्ण करने में भी दिक्कतें झेलनी पड़ती हैं, जिससे भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, रोग-शोक आदि से तड़पते, बिलखते, सिसकते दम तोड़ देते हैं। ऐसे दौर में जितने भी इंसान हैं वे सब अपने कर्मों के मारे हैं।

कई लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि प्रभु महावीर के सिद्धान्तानुसार जीव जितने भी सुख-दु:ख भोग रहा है वे सब उसके अपने हैं। पूर्णत: निजी हैं। उसने खुद ने ही बाँधे हैं तो खुद ही भोगे। हम क्यों सहयोग करें? उसे भोगने तो पड़ेंगे ही। हम सहयोग करेंगे तब भी उसे ही भोगने हैं और सहयोग नहीं करेंगे तब भी उसे ही

भोगने हैं। यदि हम सहयोग कर देंगे तो उसके कर्म भोग कर समाप्त होने से बच जाएँगे, तो कुछ समय बाद वे फिर उदय में आकर उसे सताएँगे। इसलिए अच्छा है न, उसके उदय को हम डिस्टर्ब न करें। उन्हें सहयोग न दें, ताकि कर्म उदय में आकर समाप्त हो जाएँगे और उनके कर्म समाप्त होने पर फल भोग भी समाप्त हो जाएगा।

ऐसी सोच जिन-जिनकी भी है, वह समुचित नहीं है। यदि ऐसा करेंगे तो प्रभु महावीर ने जैन श्रावक के लिए जो 12 व्रत बनाए हैं उनमें से पहला अहिंसा अणुव्रत और बारहवाँ अतिथि संविभाग व्रत की हमेशा के लिए उपादेयता ही समाप्त हो जाएगी। नौ पुण्य, अहिंसा महाव्रत, मैत्री भावना, कारुण्य भावना, दान धर्म आदि का कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा। हमारे हृदय में दु:खियों के प्रति रही करुणा का निधन हो जाएगा। दान-धर्म निर्धन हो जाएगा। अहिंसा व्रत व महाव्रत की हिंसा हो जाएगी। मैत्री भावना से मैत्री रूठ जाएगी। कारुण्य भावना की करुणा हमेशा के लिए खत्म हो जाएगी। प्रभु महावीर ने जैन जीवनशैली के अन्तर्गत कुछ बिन्दु व्यक्तिगत साधना-आराधना के लिए दिए हैं, तो कुछ सामूहिक साधना-आराधना के लिए। साधु का पहला महाव्रत तथा श्रावक का पहला व्रत सम्पूर्ण रूप से समष्टिगत साधना से जुड़ा है तो पाँचवाँ व्रत तथा महाव्रत व्यक्तिगत साधना से। बारहवाँ व्रत पूर्णत: समष्टिगत जीवन-यापन से जुड़ा है। बीच के कुछ व्रत व्यक्तिगत साधना-आराधना से सम्बन्ध रखते हैं। सभी व्रत एवं महाव्रतादि को गहराई से देखा जाए तो मात्र व्यक्तिगत तो कुछ है ही नहीं।

प्रस्तुत आलेख का विषय है-'अन्तराय कर्म और जैन जीवनशैली।' अन्तराय कर्म का अर्थ है-'विघ्नकरणमन्तरायस्य।' हमारी शक्ति द्वारा अन्य जीवों की जीवन-यात्रा में विघ्न पैदा करने में लगने से होने वाला कर्मबन्ध।

हमारा प्रत्येक भव राग और द्वेष के वशीभूत होकर चल रहा है। जो हमारे राग की पूर्ति में बाधक बन जाता है उसके प्रति हमारे मन में द्वेष जग जाता है। वही द्वेष फिर उनके जीवन जीने में बाधाएँ उत्पन्न करता है। ईर्ष्या तथा प्रतिद्वन्द्विता का भाव भी मन में जग जाता है 'इसने मेरे साथ ऐसा किया तो मैं भी इसे शान्ति से नहीं जीने दूँगा..., इसके जीने की राहों में कदम-कदम पर काँटे बिखेर दूँगा..., देखता हूँ मैं भी कि यह कैसे आगे बढ़ता है..." आदि ऐसी भावधाराएँ व्यक्ति के लेन-देन तथा भोगोपभोग सभी में विघ्न पैदा करती है, जिससे घोर अन्तराय कर्म का बन्ध हो जाता है। फिर बाँधे हुए इन अशुभ कर्म के उदय काल में वह पग-पग पर विघ्न पाता है। न भरपेट भोजन पाता है, न जीने की सामग्री मिलती है। न ही कोई इच्छा पूर्ण होती है। हर चीज पाने के लिए तरसना पड़ता है। कदम-कदम पर आहें भरता है। कइयों को रोग-शोक, दु:ख-दरिद्रता से पेट भर खाने के भी लाले पड़ते हैं।

प्रभु महावीर ने सब भव्य जीवों को ऐसी परिस्थितियों से बचने के लिए कुछ आराधनाएँ दी हैं, जो बहुत ही शक्तिशाली हैं। पहले नम्बर पर नौ पुण्य की नौ आराधनाएँ दी हैं, जिनके आराधन से अपना अन्तराय कर्म टूटता है और दूसरों के अन्तराय कर्म के उदय में उन्हें राहत दी जाती है।

भोजन, पानी, स्थान, शयन सामग्री और वस्त्र, ये प्रत्येक इन्सान की जन्म से मृत्यु पर्यन्त की आवश्यकताएँ हैं। श्रावक के गृहांगन में साधु-भिक्षा के लिए पधारते हैं तथा याचक भी भिक्षा माँगने आते हैं। ये दो वर्ग परिस्थिति हो या न हो श्रावक के द्वार पर आते ही हैं, मगर इस कोरोना काल के अन्तर्गत एक तीसरा वर्ग भी है जो प्रतिदिन कमाता है तो पेट भरता है, मगर बार-बार के लॉकडाउन के चलते उनके भोजन-पानी, निवास, शयन, वस्त्रादि सबकी बहुत दिक्कतें हो गई हैं। पूर्व में जब-जब भी बारह वर्षीय दुष्काल पड़े थे तब जगडूशाह, खेमा देदराणी आदि अनेक शाहों ने, सेठ साहूकारों ने प्रजा के भूख शमन के लिए अपने खजाने खोल दिए। स्वयं राजा बीसलदेव भी जितना प्रजा के

लिए नहीं कर पाए उससे अधिक जगडूशाह ने प्रजा के लिए किया। अपना सर्वस्व देकर प्रजा के जीवन को बचाया, उसी तरह आज पुन: जरूरत है प्रत्येक जैन को जन-सेवा एवं सहयोग में अपने तन-मन-धन की आहुति देने की। लाखों दिहाड़ी मजदूर, रेहड़ी वाले तथा अन्य अनेक कर्मचारियों, व्यवसायियों की जीविका कोरोना के चलते छिन सी गई है। **अत: जैन श्रावक-श्राविकाएँ अपने अन्य सुख-सुविधाओं में लगने वाले खर्च को सीमित करके यदि भूखे, अभावग्रस्त, मजबूर लोगों का सहयोग करते हैं तो उनका भाग्य स्वत: शक्तिशाली बन जाता है। सहयोग से भाग्य में रही सभी तरह की अन्तराय-विघ्न बाधाएँ दूर हो जाती हैं।** दूसरों की राहों में रहे विघ्नों को दूर करना अप्रत्यक्ष रूप से उनके नहीं हमारी राहों के विघ्नों को दूर करना है, जिससे जीवन निराबाध चलता है। खाने-पीने, मौज-शौक आदि में अपना पैसा खर्च करना यानी खो देना है। वह पैसा हमें पुन: मिलने वाला नहीं है, मगर **जन-सेवा, दान-पुण्य आदि में खर्च हुआ पैसा हमारे भाग्य रूपी अदृश्य बैंक में जमा हो जाता है।**

धन और दान क्रॉस वेंटीलेशन के समान है। जो धन दान में नहीं लगता है वह धन ऐसे कमरे की तरह है जिसमें एक ही दिशा खुली है। उस कमरे में हवा के प्रवेश की बाकी सब दिशाएँ बन्द होने से कमरे की हवा शुद्ध नहीं होती है तथा कमरा उमस एवं अशुद्ध हवा से भरा रहता है। जिस कमरे में क्रॉस वेंटीलेशन है उसमें हवा एक दिशा से प्रवेश करती है, कमरे में बैठे लोगों को जीवन देती है, इसी प्रकार व्यापार की खिड़की से धन कमाया, परिवार ने जरूरत जितना काम में लिया। शेष धन जरूतमन्दों की जरूरतों में संयोजित कर दिया तो वह धन समय पर हमारे पास किसी न किसी रास्ते से वापस आ जाएगा। इसलिए नौ पुण्यों का विशेष आराधन करें। श्रावक के अतिथि संविभाग व्रत का भी यही उद्देश्य है।

शास्त्रों में वर्णन आता है कि तुंगिया नगर के श्रावकों के गृहों के द्वार कभी भी याचकों के लिए बन्द ही नहीं होते थे। आज के कोरोना काल में सब तरह के लोग माँगने नहीं आ सकते हैं तो श्रावक अन्य तरीकों से सेवा-सहयोग करके पुण्य का विशिष्ट आराधन कर सकता है।

जो जितना व्यापक स्तर पर सहयोग करता है उसका भाग्य भी छप्पर फाड़ कर उसे देता है, जिसके पास धन बहुत है, पर बड़ा दिल नहीं है, वह धन को यूँ ही दबाकर मर जाता है। वह धन किसी के हाथ लग गया तो ठीक है वरना कोयला भी बन जाता है। अन्यथा जब उसका नाम, गोत्र, वंश सब समाप्त हो जाता है तो उस धन को वर्षीदान में अभावग्रस्तों को बाँटने के लिए धन के देवता कुबेर के आदेश से उनके सेवक जृम्भक देव दबे हुए धन को वहाँ से निकाल कर तीर्थंकरों के महलों में पहुँचा देते हैं। तीर्थंकर उस धन से वर्षीदान देते हैं। जो धन श्रावक अपने हाथ से दान देते हैं वे श्रावक तो पुण्यशाली बन जाते हैं वरना वह धन तीर्थंकर के करकमलों से दान में लगता है और अभावग्रस्तों की जरूरतें पूर्ण करता है। इसलिए प्रभु ने श्रावक के दैनन्दिन व्रतों में बारहवाँ (अन्तिम) व्रत अतिथि संविभाग व्रत बनाया है। श्रावक के द्वार पर जितने भी अतिथि आए श्रावक उन्हें खाली न लौटाए। साधु-साध्वियों को गुरु बुद्धि से दान दें तथा याचकों को अनुकम्पा बुद्धि से। इसके अलावा जो वर्ग याचना नहीं कर सकता है उसकी सहायता जिस भी तरीके से सम्भव हो, उस तरीके से करें। ताकि वे लोग अभाव के कारण आत्महत्या करने से बच जाएँ। मजदूरों और किसानों का आत्महत्या करने का आँकड़ा प्रतिवर्ष बढ़ता ही जा रहा है। सहयोग से वह कम हो सकता है।

प्रत्येक जैन नौ पुण्यों के आराधन के लिए यह चिन्तन जीवन में अपना सकता है कि-

1. मैं मेरे पास जितने कपड़े हैं उतनी ही संख्या में कोरोना काल के दौरान कपड़े भेंट करूँगा। किसी के पास 100-150 ड्रेसें हैं तो किसी के पास 500-1000 साड़ियाँ। जिन्हें पहनने का शौक है तो वह

पहने, मगर उतनी ही संख्या में सामर्थ्य के अनुसार कपड़े, जूते आदि लाकर दान करने का संकल्प बना सकते हैं। परिग्रह परिमाण व्रत एवं उपभोग-परिभोग व्रत के अन्तर्गत अपनी जरूरतें सीमित करेंगे तो हम अभावग्रस्तों का सहयोग कर पाएँगे। घर में चार सब्जी, दो मिठाई रोज भोजन में रहती हैं, मगर ऐसे विकट मोड़ में श्रावक दो सब्जी और एक मिठाई काम में लेकर बाकी का अन्य को सहयोग करे। हम दूसरों का ख्याल तभी करते हैं जब हमारे दिल में बड़प्पन हो, सबके प्रति प्रेम हो। करुणा से दिल पिघलता हो।

2. जैन जीवनशैली में प्रभु ने सह अस्तित्व को पूर्ण स्थान दिया है। हमारी अहिंसा बोलती है कि हम भले ही दूसरों को बिल्कुल मार नहीं रहे हैं, मगर यदि कोई अभाव से पीड़ित होकर मर रहा है तो उसे मरने से बचाना भी हमारा दायित्व है। हमारे जैसी आत्मा, मन एवं इन्द्रियाँ उनकी भी हैं।
3. मैत्री भावना को आगमिक चिन्तन के धरातल पर सोचें, तो स्थानाङ्गसूत्र में 'एगे आया' यानी आत्मा एक है-कहा गया है। दूसरी दृष्टि से प्रभु ने अन्य आगमों में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय में तथा त्रसकाय में असंख्य आत्माएँ कही हैं। वनस्पतिकाय में अनन्त आत्माएँ कही हैं। हमारे मन में तब यह प्रश्न उठता है कि प्रभु ने ऐसा विपरीत कथन क्यों किया?

   समाधान की दृष्टि से यह कथन विपरीत नहीं है। स्वरूप की अपेक्षा संसार की सब आत्माएँ समान हैं। जैसी ऋषभदेवादि अनन्त सिद्धों की आत्मा है वैसी ही एक मक्खी, मच्छर, साँप, बिच्छु, गाय, बैल आदि की भी आत्मा का स्वरूप है। स्वरूप की अपेक्षा सब एक समान हैं। सुख-दुःख की संवेदनाएँ भी सब में समान हैं। जितनी वेदना हमें होती है उतनी ही वेदना पृथ्वीकाय, अप्काय आदि सब जीवों को होती है। अतः संसार के सब जीवों के सुख-दुःख का खयाल करना हमारा दायित्व है।
4. दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो संसार के प्रत्येक जीव के साथ हमारे अठारह ही रिश्ते-नाते रहे हुए हैं; इसलिए संसार में कोई भी दुःखी है, भूखा-प्यासा, अभावग्रस्त है तो समझना चाहिए कि ये हमारे किसी जन्म के भाई-बहन हैं तो किसी जन्म के माता-पिता हैं। किसी जन्म के बेटा-बेटी हैं तो किसी जन्म के नाना-नानी। क्या हम अपने परिवार को दुःखी देख सकते हैं? उत्तर होगा-नहीं। तब हमें जो-जो दीन-दुःखी, अभावग्रस्त हैं उनका दुःख दूर करना चाहिए। प्रभु ने मैत्री भावना के अन्तर्गत संसार की सब आत्माओं को हमारे मित्र/दोस्त रूप में बतलाया है। उन्होंने जैन श्रावक को कितने बड़े दिल वाला बनाया है। यदि हमारा दिल छोटा है, स्वार्थी दृष्टिकोण में रहते हैं तो हम भगवान की सोच के साँचे के लायक नहीं बने हैं। उन्होंने हमारा क़द बहुत लम्बा करना चाहा, मगर हमने अपने स्वार्थी दृष्टिकोण से अपने क़द को बड़ा बनाना ही नहीं चाहा।

स्वरूप के स्तर पर समानता से ही संसार की सब आत्माओं का समावेश 'एगे आया' सूत्र में किया, मगर विकास के स्तर पर सबमें इन्द्रियाँ एवं पुण्यवानी में कमीबेशी है। एक कहावत है-''दोस्त का दुःख अपना दुःख है और दोस्त का सुख अपना सुख है।'' इसके अनुसार यदि हम अपने दोस्त से विशेष सक्षम एवं सुख-चैन में हैं तो हमारा फर्ज होता है कि हम अपने अक्षम दोस्त की सहायता करें। उसे जिस भी तरह का सहयोग चाहिए वह देकर उसके दुःख को दूर करें।

इस दृष्टि से विचार करें तो इस कोरोना महामारी के दौरान जिस भी दृष्टि से जितने भी लोग दुःखी हैं वे हमारे अपने ही लोग हैं। हमारे सगे परिवार एवं सच्चे मित्र जैसे हैं। प्रभु की दृष्टि में वे हमारे मित्र हैं, पिछले जन्म के कोई न कोई रिश्तेदार हैं, इसलिए हमारा दायित्व बनता है कि व्यक्तिगत या सामूहिक किसी भी

तरह से हम उनका यथासम्भव सहयोग करें। यह सहयोग उनका नहीं है यथार्थ में हमारा अपना है। उनके माध्यम से हम अपना भविष्य उज्ज्वल, स्वस्थ, नीरोग, निरामय और सुख-शान्ति, चैन-अमन से भरापूरा बना रहे हैं। नौ पुण्यों में से प्रथम पाँच, अन्न पुण्य, पान पुण्य, लयन (स्थान) पुण्य, शयन पुण्य, और वस्त्र पुण्य वस्तु सापेक्ष है। तत्सम्बन्धी वस्तु जरूरी है तथा मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य और नमस्कार पुण्य; ये चार पुण्य धरातल सदृश हैं। मन पुण्य सभी पुण्यों में उच्चता और ऊर्जा भरता है। वचन और काय पुण्य सभी पुण्यों को साधने में सहयोगी साधन बनते हैं। नमस्कार पुण्य हमारे अहं को नियन्त्रित रखता है। सभी श्रेष्ठ कार्य करते हुए हम अपने आप को छोटा समझें। यह नमस्कार पुण्य का कार्य है। इसके रहते हुए ही आठ पुण्य हमें विशिष्ट पुण्यशाली बनाते हैं। यदि नमस्कार पुण्य (लघुता) का भाव नहीं सध पाया तो सारे पुण्यों में अहं की मलिनता भर जाती है, जिससे हमारी पवित्रता को बढ़ाने वाले पुण्य नि:सत्त्व हो जाते हैं। इसलिए नमस्कार पुण्य पूर्व के आठों पुण्यों को विशिष्ट बनाता है।

मन पुण्य के दौरान हम प्रतिदिन यह भावना भाएँ कि-हे प्रभो! इस भूमण्डल पर जितने भी प्राण, भूत, जीव, सत्त्व हैं, मैं उनके हित, सुख, मंगल एवं कल्याण में सहयोगी बनूँ।

हे प्रभो! मुझे ऐसी शक्ति देना कि मैं अपने दिल को दिन दूना, रात चौगुना विशाल-विराट् बनाकर सबकी सुख-शान्ति, आनन्द की अभिवृद्धि में सहयोगी बनूँ।

हे प्रभो! पिछले पुण्य से मैंने मनुष्य-भव पाया, सब तरह से सुख-साता पाई। आपकी कृपा से अब मुझे पुन: पुण्य वृद्धि के अनगिनत अवसर मिले और उन प्राप्त अवसरों को मैं सार्थक कर लूँ; ऐसी समझ और आचरण में लाने का हौंसला देना।

हे प्रभो! बीमार, असहाय, अभावग्रस्त लोगों की सेवा और सहयोग करना ही निर्जरा वृद्धि एवं पुण्य वृद्धि के अवसर हैं, इन्हें मैं कभी भी बोझ न समझ कर प्रसन्नता से स्वीकार करूँ।

हे प्रभो! मुझे ऐसी शक्ति देना कि मैं सबके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम, साधना, सुख-साता, क्षमा, धैर्य, प्रेम, सरलता, लघुता, सन्तोष, इन्द्रिय-निग्रह आदि की अभिवृद्धि में सहयोगी बनूँ।

इस सृष्टि में सभी जीव स्वस्थ, प्रसन्न, नीरोग, निरामय रहे। सबकी जरूरतें सदैव पूर्ण हों।

नमस्कार पुण्य के दौरान भावना भाएँ-''हे प्रभो! मुझे ऐसा देना कि मेरे हाथों को जनहित के बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न करने का सौभाग्य मिले, पर मेरे मन में सदैव लघुता बनी रहे। मैं जिसकी भी सेवा करूँ, जिसे भी दान दूँ तब मेरे ये भाव रहें कि अहो! आज मैं बहुत धन्य हूँ, इन्होंने मुझे सेवा, सहयोग, दान-पुण्य का अवसर दिया। ये अवसर देने वाले बड़े होते हैं और अवसर लेने वाले छोटे। मैं छोटा हूँ। ये मेरे लिए उपकारी हैं। मेरी आज की ज़िन्दगी में जिन-जिन ने मुझे निर्जरा एवं पुण्य के मौके दिए, उन सबका मैं बहुत आभारी हूँ, कृतज्ञ हूँ।'' इस तरह स्वयं को लघु बनाएँ। अतिथि संविभाग व्रत का भी खूब अहोभाव से आराधन करें। वह भी पुण्य-वृद्धि एवं अन्तराय कर्म को तोड़ने का सशक्त माध्यम है।

-प्रेषक : लाल सिंह सारंगदेवोत

धोवन पानी बनाने हेतु राख उपलब्ध

धोवन पानी बनाने हेतु कण्डे/छाने/उपला की राख नि:शुल्क निम्न पते/मोबाइल नं./व्हाट्सएप/डाक के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। सेवा लाभ प्रदान कर अनुगृहीत करवाने की कृपा करें।

-श्री जिनेश कुमार जैन, सी-17, बरकत नगर विस्तार, अर्जुन नगर रेलवे फाटक के पास, टोंक रोड़, जयपुर-302015 (राज.) मोबाइल 9413749658 व्हाट्सएप 9413749658

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 58
ISSN 2249-2011

प्रवचन

पश्चात्ताप से परिवर्तन

आचार्यप्रवर श्री ज्ञानचन्द्रजी म.सा.

ज़िन्दगी के सफ़र में चलते-चलते जाने-अनजाने में हमसे कई गलतियाँ हो जाती हैं। गलतियाँ होना बुरा नहीं है, किन्तु उससे अधिक बुरा है उस गलती का पश्चात्ताप न करना। गलती होना मामूली बात है, पर उसको स्वीकार करना बहुत बड़ी बात है, क्योंकि गलती को स्वीकार करने से, पश्चात्ताप करने से हृदय में रहे हुए पाप जल जाते हैं। मन में नये पापों का सृजन नहीं होता है। सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करें तो प्रत्येक पाप से मुक्ति सम्भव है।

अर्जुनमाली ने अपने जीवन काल में कितना पाप किया, शायद उस पाप का फल सिर्फ नरक होता, पर पश्चात्ताप कर उसने सारे पापों को धो दिया और मुक्ति पथ के राही बन गये।

गौतम स्वामी भगवान के प्रथम शिष्य थे। गलती उनसे भी हो गई, उन्होंने आनन्द श्रावक से कहा कि इतना विपुल अवधिज्ञान एक श्रावक को नहीं हो सकता। भगवान महावीर के समाधान करने पर तुरन्त अपनी गलती स्वीकार कर ली। पश्चात्ताप करते हुए, बेले का पारणा नहीं कर पहले अपनी भूल सुधार की। श्रावक से माफी माँगी। अपनी आत्मशुद्धि की। इस विनयवादिता ने गौतम स्वामी को 14 हजार साधुओं का प्रमुख बना दिया।

इसीलिए कहते हैं ऐसा कोई पाप नहीं है, गुनाह नहीं है जो पश्चात्ताप से धोया न जा सके। सच्चे हृदय से अपुनर्भाव पूर्वक पश्चात्ताप करें तो प्रत्येक पाप को दिल से धोया जा सकता है। चाहे तुमने कितने ही पाप क्यों न किये हों, उन्हें सत्कर्मों तथा आत्मशुद्धि हेतु की गई साधनाओं द्वारा धोया जा सकता है।

गलती हो जाए तो निराश होकर न बैठ जाएँ। यदि हम फिसलकर गिर जाते हैं, तो वहीं गिरे-पड़े थोड़े ही रहना चाहिए। हमें तुरन्त वहाँ से उठकर अपने गन्तव्य की ओर चल देना चाहिए।

यदि आप पेन्सिल से लिख रहे हैं और कोई गलती हो जाए, तो उसे रबर से मिटाकर ठीक कर सकते हैं। परन्तु यदि इस प्रक्रिया को बार-बार दोहराते रहेंगे तो आखिरकार कागज फट जायेगा, तो हम गलतियाँ करें, तब भी सच्चे मन से कोशिश करें कि फिर उन्हें न दोहराएँ। गलती मनुष्य से हो जाती है, किन्तु हमें सावधान रहना चाहिए तथा गलती को स्वीकार करने का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

जैनधर्म कहता है पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। हर पापी अपना पाप पश्चात्ताप से, आत्मशुद्धि तथा सत्कर्मों के द्वारा धो सकता है, क्योंकि पाप का फल दु:ख है और प्रायश्चित्त का फल अमृत।

प्रायश्चित्त तो करें, पर गजस्नान जैसा नहीं। हाथी पहले स्नान करता है फिर पानी से बाहर आते ही मिट्टी लेकर फिर से अपने शरीर पर उण्डेल लेता है। बहुत से लोग ऐसा ही करते हैं। ऐसे लोग आत्मबोध के लक्ष्य में प्रगति नहीं कर सकते। इसलिए भगवान महावीर कहते हैं कि कदम-कदम पर जागृति पूर्वक चलो, ताकि जीवन में पाप न आये। जाने अनजाने में आ जाये तो भूल सुधारने का प्रयास करें।

एक लुटेरा हमेशा राहगीरों को लूटता और उनको डराकर भगा देता था। धीरे-धीरे उस रास्ते से लोगों का आना-जाना बन्द हो गया। वह लुटेरा भूखा प्यासा रहने लगा।

एक दिन एक गरीब आदमी पोटली में कुछ सामान लेकर उसी रास्ते से गुज़र रहा था। लुटेरे का ध्यान उस आदमी पर था। जैसे ही वह उसके पास पहुँचा उसने चाकू निकाला और जोर से बोला, जितना माल है सब निकालो। बूढ़ा गरीब बोला-मेरे पास कुछ भी नहीं है, ये पोटली है सो देख लो। लुटेरे ने झट से पोटली खोली और खोलकर देखा, उसमें एक आम था।

लुटेरे को भूख लगी थी उसने आम खाना शुरू किया। बूढ़ा गरीब देखने लगा तब लुटेरे ने पूछा-तुम क्या देख रहे हो? मैं ये आम नहीं दूँगा। तब वृद्ध व्यक्ति बोला-''बेटा। मुझे आम नहीं चाहिए उसकी गुठली दे दो।'' लुटेरे ने पूछा-''इसका क्या करोगे'' तो बूढ़ा बोला-''मैं इसको उगाऊँगा। जब यह बड़ा होकर फलेगा तो लोग आते-जाते खाएँगे तो मुझे बड़ी खुशी होगी। जैसे आज तुम भूखे हो, कल कोई और होगा।''

इतना सुनते ही लुटेरे के मन में चिन्तन चला कि मैंने ज़िन्दगी भर पाप ही किया है। अब अपने पाप धोऊँगा। फिर बाबा से बोला-''बाबा! आप महान् हैं। अब आपका काम मैं करूँगा। अपने पापों का प्रायश्चित्त करूँगा। ऐसा कहकर तुरन्त उसने जमीन को खोदकर गुठली उसमें रोप दी और नियमित उसमें पानी देने लगा। समय आने पर वह बढ़कर वृक्ष हो गया और उसमें फल आने लगा। राह चलते लोग फल खाते थे। लुटेरे ने कई वृक्ष और भी लगाये। रात-दिन वृक्षों की सेवा में लगा रहता था। पानी डालता था। अब वह किसी को सताता भी नहीं था। उसका जीवन ही बदल गया। अब उस बूढ़े आदमी के कहने से सब राहगीरों को पानी पिलाया करता था। उनकी मदद भी करता था। इस तरह लुटेरा अपनी गलती स्वीकार कर ज़िन्दगी भर प्रायश्चित्त करता रहा।

अत: हर व्यक्ति अपनी भूल को सुधार सकता है और सत्कर्मों द्वारा अपने पाप को धो सकता है।

जैनधर्म : जीवन जीने की कला

श्रीमती मन्जू जैन

जैनधर्म सिर्फ धर्म नहीं
जीवन जीने की कला है
परिपूर्ण, चारित्रिक गुणों से सुशोभित है
इसके नियम और कानून
अहिंसा इसका मूल मन्त्र
सत्य इसका ध्येय
अस्तेय इसका गहना है
शील है परिवेश
परिग्रह के त्यागी बने
इसके धारणहार
साम्यभाव, दया, नैतिकता और परोपकार
सब हैं इसके परिवार
त्याग, तपस्या का भी इसमें समावेश
कर्मों की निर्जरा करें,
त्यागे राग और द्वेष
कुछ संकल्पों का भी देता है सन्देश
जानबूझ कर न बोलें कभी झूठी बात
प्राणिमात्र से प्रेम करें,न करें उनकी घात
मदिरा, अभक्ष्य तो बहुत दूर की बात
यहाँ तो होता है जमींकन्द का त्याग
रात्रिभोजन त्याग से रहे स्वास्थ्य अनुकूल
पानी भी छान कर पीने से बीमारी रहे दूर
समता और शान्ति में सहे दु:ख की मार
ये सभी बातें हैं जीवन की आधार।।

-313/15 ए, नोएडा (उ.प्र.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 60
ISSN 2249-2011

प्रवचन

जैन जीवनशैली के नौ सूत्र

आचार्य महाप्रज्ञ

व्यक्ति का सारा प्रभाव उसकी जीवनशैली पर निर्भर है। प्रश्न है–वह जीता कैसे है? जीना एक बात है और कैसे जीना, बिल्कुल दूसरी बात है। यदि वह कलात्मक ढंग से जीता है, तो जीवन बहुत सार्थक और सफल बन जाता है। यदि वह जीवन को जीना नहीं जानता, जीने की कला को नहीं जानता तो जीवन नीरस, बोझिल और निरर्थक जैसा प्रतीत होने लग जाता है। इसलिए आवश्यक है जीवनशैली का ज्ञान। वर्तमान की जीवनशैली अच्छी नहीं मानी जा रही है। इसके कई कारण हैं। भाग–दौड़, स्पर्द्धा, उतावली, हड़बड़ी आदि–आदि ऐसे तत्त्व जीवन में समा गए हैं, जो जीवन को सार्थक नहीं बना रहे हैं।

शरीर स्वस्थ रहे, यह जीवन का लक्ष्य है। दूसरा लक्ष्य है– मन स्वस्थ रहे, प्रसन्न रहे। तीसरा लक्ष्य है– भावनाएँ स्वस्थ रहें। निषेधात्मक विचार न आएँ, विधायकभाव निरन्तर बने रहें, मैत्री और करुणा का विकास होता रहे। ये सब जीवन के उद्यान को हरा–भरा बनाने के लिए जरूरी हैं। आज चारों ओर से एक स्वर सुनाई दे रहा है– वर्तमान की जीवनशैली अच्छी नहीं है, उसमें परिवर्तन होना चाहिए, वह बदलनी चाहिए।

जैनधर्म की जो जीवनशैली है, वह वीतरागता की शैली है। इस रागात्मक दुनिया में, पदार्थ और धन के प्रति अत्यधिक आकर्षण वाली इस दुनिया में यदि कोई समाधान हो सकता है तो वह वीतरागता का समाधान है। वीतरागता की ओर जाने वाली जीवनशैली सचमुच एक समाधान है। इस सच्चाई को ध्यान में रखकर गुरुदेव तुलसी ने जीवनशैली के नौ सूत्रों का निर्धारण किया। वह नौ–सूत्रात्मक जीवनशैली वर्तमान की अनेक समस्याओं का समाधान देती है।

जीवनशैली का पहला सूत्र है–सम्यग्दर्शन। मिथ्या दृष्टिकोण के कारण आज हिंसा बहुत बढ़ रही है, आतंक बढ़ा है, एक–दूसरे के प्रति सन्देह बढ़ा है, विश्वास घटा है। ऐसा लगता है जीवन कहीं सुरक्षित ही नहीं है। ऐसा कोई स्थल, कोई आश्वासन आदमी खोज नहीं पा रहा है, जहाँ उसे सुरक्षा मिलती हो। उसका हेतु है– मिथ्या दृष्टिकोण। इस मिथ्या दृष्टिकोण ने आदमी को इतना उलझा दिया है कि वह कोई निर्णय नहीं कर पा रहा है।

देव, गुरु और धर्म–यह एक त्रिपुटी है। एक वीतरागता का प्रतिपादन करने वाला, दूसरा वीतरागता का पथदर्शक और तीसरा वीतरागता का आचरण। यह सम्यग्दर्शन हमारी जीवनशैली का अंग बने तो सचमुच रागात्मक प्रवृत्ति पर अंकुश लगेगा। रागात्मक के प्रति जो अति आकर्षण बढ़ा है, चाहे वह जाति, धर्म, भाषा, प्रान्त आदि किसी भी सन्दर्भ में हो, उस पर एक अंकुश लगे तो निश्चय ही हमारी जीवनशैली एक शान्ति देने वाली, न्याय देने वाली, गरीब और अमीर के बीच की दीवार को मिटाने वाली शैली बनेगी।

जीवनशैली का दूसरा सूत्र है–अनेकान्त। अनेकान्त बहुत बड़ा दर्शन है। हम इन दर्शन को अपने जीवन की शैली बनाएँ। रुचिभेद, विचारभेद, चिन्तनभेद स्वाभाविक है। सब लोग एक रुचि वाले, एक विचार वाले और एक दृष्टि से सोचने वाले हों, यह सम्भव नहीं। जहाँ इस तरह के भेद हों, वहाँ टकराव और संघर्ष भी होंगे। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रश्न है–क्या आदमी सदैव संघर्ष का ही जीवन जीएगा? सदा लड़ता–झगड़ता और मरता–मारता ही रहेगा? नहीं, ऐसे जीवन को बदला जा सकता है अनेकान्त की जीवनशैली के द्वारा। हम निश्चित मानें– जहाँ अनेक हैं, वहाँ सह–अस्तित्व भी है। साथ में रहना

है, साथ में जीना है। विरोध है, किन्तु विरोध नहीं भी है, सह-अस्तित्व के बीज भी उस भूमि में बोये हुए हैं। हम उन सह-अस्तित्व के बीजों को अंकुरित करने का प्रयत्न करें। सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक है- एक-दूसरे की भावना को समझें, एक-दूसरे के विचारों का मूल्याङ्कन करें। मैं अपने विचारों को सत्य मानता हूँ, दूसरा अपने विचारों को सत्य मानता है। झगड़ा तब शुरु होता है, जब दूसरे के विचारों को असत्य बताया जाने लगता है।

अनेकान्त ने पथप्रदर्शन किया- ''तुम अपने विचारों को सत्य मानो, किन्तु दूसरे के विचारों में भी सच्चाई खोजने का प्रयत्न करो।'' यदि यह मार्ग उपलब्ध होता है तो सह-अस्तित्व की आधार-भूमि निर्मित हो जाती है। हर व्यक्ति अपने विचारों को जैसे सत्य मानता है, दूसरों के विचारों को भी वैसे ही सत्य मानने लगे तो झगड़ा शान्त होगा, संघर्ष टल जाएगा। अनेकान्त ने एक सूत्र दिया-समन्वय करो। भिन्न-भिन्न विचारों और मान्यताओं में कितना समन्वय हो सकता है और समन्वय के किन-किन सूत्रों को कहा जा सकता है, यह चिन्तन की बात है।

अनेकान्त का एक सूत्र है-सापेक्षता। तुम्हारा जीवन सापेक्ष है। तुम निरपेक्ष नहीं हो। कितने-कितने लोगों का श्रम जुड़ता है, तब कहीं रोटी आदमी के मुँह तक आती है। हमारा पूरा जीवन सापेक्ष है। बड़ा हो या छोटा, सापेक्षता से कोई अलग नहीं हो सकता। यदि आदमी निरपेक्ष होकर बैठ जाए तो उसके लिए जीना मुश्किल हो जाएगा। व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं पर विचार करें तो हजारों का श्रम जुड़ता है, तब कहीं जाकर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इतना सापेक्ष है जीवन। अनेकान्त की जीवनशैली एक विनम्र जीवनशैली है। उसमें सापेक्षता है, समन्वय है, सह-अस्तित्व है। ये सारे सूत्र जहाँ काम करते हैं, वहाँ एक सार्थक जीवन होता है। यह सूत्र हमारे सामने जीवन की सार्थकता प्रस्तुत करता है, जीवन को आनन्दमय बना देता है।

जीवनशैली का तीसरा सूत्र है-अहिंसा। न मारना अहिंसा है, किन्तु वह अहिंसा की समग्र परिभाषा नहीं है। अहिंसा की पृष्ठभूमि में दया, करुणा, मैत्री तथा समत्व की अनुभूति है, आत्मा की अनुभूति है। जो व्यक्ति आत्मिक धरातल पर नहीं जीता, आत्मा की अनुभूति नहीं करता वह अहिंसा का आचरण नहीं कर सकता। मैं अहिंसा के शिखर को छूने की बात नहीं कर रहा हूँ, किन्तु एक बहुत व्यावहारिक बात कर रहा हूँ। सामाजिक जीवन में न्यूनतम इतनी अहिंसा तो होनी ही चाहिए और वह है अनावश्यक हिंसा का परित्याग।

अनावश्यक हिंसा से बचने का सबसे पहला परिणाम होता है-पर्यावरण के प्रदूषण की समाप्ति। आज पर्यावरण का जो प्रदूषण बढ़ा है, उसमें अनावश्यक हिंसा का बहुत बड़ा हाथ है। कितना पानी का अपव्यय, कितनी जंगलों की कटाई, कितने पशु-पक्षियों का निर्ममता से शिकार, कितनी वनस्पतियों का विनाश, कितनी अनावश्यक भूमि का खनन और दोहन-यह सब अपने स्वार्थ के लिए इतनी मात्रा में हो रहा है कि वातावरण तेजी से प्रदूषित होता जा रहा है। यदि अनावश्यक हिंसा टल जाए तो पृथ्वी पर शान्ति कायम हो जाए, आदमी खुशहाल हो जाए।

अहिंसा के लिए आवश्यक है-**संवेदनशीलता**- दूसरों को कष्ट देते समय यह अनुभूति हो कि यह कष्ट मैं दूसरों को नहीं स्वयं को दे रहा हूँ। यही संवेदनशीलता है। **जिस समाज में संवेदनशीलता नहीं होती, वह समाज अपराधियों, हत्यारों या क्रूरता के खेल खेलने वालों का समाज बन जाता है।** उसे सभ्य और शिष्ट समाज नहीं कहा जा सकता। इसलिए आवश्यक है कि समाज में संवेदनशीलता का विकास हो।

जीवनशैली का चौथा सूत्र है-समण (श्रमण) संस्कृति। समण प्रतीक है समानता का। समण प्रतीक है-उपशम और शान्ति का, समण प्रतीक है-तपस्या, श्रम और पुरुषार्थ का। समण संस्कृति ने एक

त्रिपथगा प्रवाहित की थी। वह भारत की एक पवित्र गंगा है, जिसने तीन पथों में विकास किया था, जिसके तीन आयाम बने थे। समानता न केवल मनुष्य के प्रति, किन्तु प्राणिमात्र के प्रति भी हो जब तक प्राणिमात्र को समानता की दृष्टि से नहीं देखेगा मनुष्य स्वयं को दूसरे के समान नहीं देख पाएगा। प्राणिमात्र के प्रति समत्व का भाव जागेगा, तभी हिंसा कम होगी।

समण संस्कृति में हिंसा के अल्पीकरण और अहिंसा के विकास की दिशा में जो प्रस्थान किया था, उसका पहला सूत्र बनता है-समानता। श्रमण संस्कृति ने दूसरा सूत्र दिया-उपशम या शान्ति का। कषाय शान्त हों, निषेधात्मक भाव न जागे, क्रोध, मान, माया और लोभ का अल्पीकरण हो, तभी शान्ति सम्भव है। यह शान्ति का सूत्र समण संस्कृति ने विकसित किया था। श्रमण संस्कृति ने **तीसरा सूत्र दिया**-श्रमशीलता। तपस्या करना, स्वावलम्बन, अपने श्रम पर भरोसा करना, यह श्रम की जीवनशैली है। आज आदमी श्रम से जी चुरा रहा है, इसीलिए समस्याएँ भी पैदा हो रही हैं। वह स्वयं को बड़ा आदमी मानकर श्रम से कतराता है। काम करने के लिए नौकर हैं, फिर हमें काम करने की क्या जरूरत है? इतना श्रम पराङ्मुख जीवन बन गया है आज के आदमी का।

अनेकान्त, अहिंसा और समण संस्कृति–इन तीनों को मिलाकर जो जीवनशैली का सूत्र बनता है, नवनीत के रूप में, निचोड़ के रूप में हमारे सामने आता है, वह है इच्छा परिमाण। **यह जीवनशैली का पाँचवाँ सूत्र है।** विषमता पैदा करती है इच्छा की अति, श्रम पराङ्मुखता पैदा करती है इच्छा की अति और उत्तेजना पैदा करती है इच्छा की अति। वह हिंसा को जन्म देती है और अनेकान्त की जीवनशैली को विकसित नहीं होने देती है। इस अतिइच्छा ने जीवन को बहुत असन्तुलित कर दिया है। इच्छा-परिमाण जीवनशैली का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। हम इच्छा का परिमाण करें। आखिर कहीं तो आदमी को रुकना होगा। कितना चलेगा वह? सम्राट् ने प्रसन्न होकर कहा-'जितनी दूर चल सको, उतनी भूमि तुम्हें मिल जाएगी।' वह दिनभर बेतहाशा भागता रहा। जब शाम को रुका तो फिर खड़ा नहीं रह सका, गिर पड़ा और मर गया। इच्छा की अति मृत्यु की जीवनशैली है। इच्छा पर अंकुश लगाना, उसका परिमाण करना, वैयक्तिक स्वास्थ्य का लक्षण है, सामाजिक स्वास्थ्य का लक्षण है। इच्छा के परिमाण का तात्पर्य यह नहीं है कि गृहस्थ भिखारी बन जाए, रोटी माँगकर खाए।

जीवनशैली का छठा सूत्र है–सम्यक् आजीविका। जीविका एक सामाजिक प्राणी के लिए आवश्यक है। जीवन-निर्वाह के लिए आदमी कोई न कोई धन्धा, व्यवसाय, व्यापार करेगा, किन्तु जरूरी है कि आजीविका असम्यक् न हो। इस पर ध्यान देना उतना ही आवश्यक है, जितना आजीविका पर। मांस का व्यापार, अण्डों का व्यापार, मदिरा का व्यापार ऐसे व्यापार हैं, जो आजीविका को सम्यक् नहीं रहने देते। स्वस्थ जीवनशैली को समझने वाला व्यक्ति इन व्यवसायों से हमेशा अपने आपको बचाना चाहेगा।

सम्यक् आजीविका का सबसे बड़ा शत्रु है–तस्करी। शस्त्रों का व्यापार आज शायद हिंसा और आतंक को बढ़ाने में सबसे बड़ा हेतु बन रहा है। यदि शस्त्रों की खुली छूट न हो, इनकी बिक्री पर प्रतिबन्ध हो तो अपने आप ही आतंक कम होता है।

जीवनशैली का सातवाँ सूत्र है–संस्कार। आदमी संस्कारों के आधार पर जीवन जीता है। जैसा संस्कार, वैसा व्यवहार। प्रारम्भ से ही अच्छे संस्कार मिलते हैं तो जीवन अच्छा बनता है। एक तोते को अच्छा संस्कार मिला था, इसलिए उसने राजा का स्वागत किया। दूसरे तोते को बुरे संस्कार मिले थे, इसलिए राजा को देखते ही बोल पड़ा- 'आओ, मारो, काटो, लूटो।' राजा ने पहले तोते से पूछा-'दोनों के स्वभाव में इतनी भिन्नता का कारण क्या है?' उसने बताया-'हम दोनों सगे भाई हैं। मैं एक ऋषि के आश्रम

में पला-बढ़ा, वहाँ के संस्कार सीखे। मेरा भाई चोरों के पास रहा, उसने उन्हीं के संस्कार और भाषा सीखी।' जीवन की नींव ही संस्कारों पर आधारित होती है। घर की साज-सज्जा और वातावरण हमें निरन्तर इस बात की प्रेरणा देने वाला होना चाहिए कि हमें वीतरागता की दिशा में प्रस्थित होना है।

जीवनशैली का आठवाँ सूत्र है-आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति। आहार अध्यात्म का पुराना विषय भी है और नया विषय भी। पुराना इसलिए कि धर्मशास्त्रों में आहारशुद्धि पर बहुत बल दिया गया है। नया इस अर्थ में कि आज विज्ञान आहार के सम्बन्ध में बहुत सारी नई बातें हमारे सामने प्रस्तुत कर रहा है।

हमारे आहार से आचार, विचार और व्यवहार का बहुत निकट का सम्बन्ध है, इसलिए आहार पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। ऐसा आहार न हो, जो उत्तेजना बढ़ाए, संस्कारों में विकृति लाए। **मांस वर्जनीय इसीलिए है कि पशु के संस्कार मांस के साथ आदमी में आते हैं। जिसका मांस खाया जाता है, उसके संस्कार उसमें सञ्चित रहते हैं।** फिर, पशु का मांस खाने वाला पाशविक संस्कारों से कैसे बच सकता है? उसमें पशुता जागृत हो जाने की बहुत सम्भावना है।

व्यसनमुक्ति और आहार का भी गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि आहार भी आदमी को व्यसन की ओर ले जाने वाला होता है। आहार शुद्ध होता है तो व्यसनों से मुक्त होना सरल बन जाता है। जुआँ खेलना, शराब पीना, चोरी करना-ये सारे व्यसन हैं और इन्हें प्रेरणा मिलती है आहार की अशुद्धि से। आहार विकृति के कितने बुरे परिणाम होते हैं इसका पता हमें तब चलेगा, जब अपने शरीर और मन पर सूक्ष्मता से ध्यान देंगे।

जीवनशैली का नौवाँ सूत्र है-साधर्मिक वात्सल्य। अपने समान धर्म वाले व्यक्ति के प्रति वात्सल्य हो, बन्धुत्व की भावना हो। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि दूसरा कोई हमारा बन्धु नहीं है। दूसरे के प्रति अवज्ञा और उपेक्षा की बात नहीं है, किन्तु समानधर्मिता के प्रति वत्सलता का भाव, उसके साथ आत्मीयता की एक अनुभूति, आदि-आदि बातें साधर्मिक वात्सल्य के अन्तर्गत आती हैं। हम इस सूत्र पर विचार करें कि कैसे एक-दूसरे के सहयोगी और सहारे बन सकते हैं?

जैन जीवनशैली के ये नौ सूत्र हैं। मैं मानता हूँ-जैन शब्द को इसमें से निकाल दें तो ये एक सर्वमान्य जीवनशैली के सूत्र बन जाते हैं। इसके साथ जैन शब्द इसलिए रखा गया कि जैन धर्म ने जीवनशैली के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र हमें सुझाए हैं, इसीलिए उनका वाचक बनता है, अन्यथा ये नौ सूत्र ऐसी जीवनशैली के सूत्र हैं जो सभी के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। हमें इन सूत्रों पर चिन्तन, मनन और अनुशीलन करना है, उन्हें व्यवहार में उतारना है। जो व्यक्ति इनके आधार पर अपनी जीवनशैली निर्मित करेगा, वह स्वयं सुखी और स्वस्थ जीवन जीएगा, परिवार तथा समाज के लिए भी सुख का मार्ग प्रशस्त करेगा।

-पुस्तक 'तत्त्व-बोध' भाग-2 से संकलित

- बालक रत्न भी बन सकते हैं और टोल भी। माता-पिताओं को चाहिए कि अपना दायित्व समझकर बालकों के सुन्दर जीवन-निर्माण की ओर लक्ष्य दें अन्यथा हाथ से तीर छूट जाने पर लाइलाज है।
- सद्गृहस्थ धर्मप्रधान दृष्टि रखते हुए अर्थ-साधना करता है। सद्गृहस्थ को चाहिए कि वह प्रतिदिन इसका निरीक्षण करे कि मेरा 'अर्थ-साधन' धर्म के विपरीत तो नहीं जाता। उसका दृष्टिकोण उस किसान की तरह होता है जो बीज को खाता हुआ भी उसे बोना नहीं भूलता। बीज के लिए अच्छे दाने सुरक्षित रखता है।
- यदि परीक्षा में बच्चों के नैतिक व्यवहार के भी अंक दिए जाएँ तो बच्चे देश के लिए वरदान हो सकते हैं।

-आचार्य श्री हस्ती

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 64
ISSN 2249-2011

प्रवचन

'निसीहि' शब्द के प्रयोग की महत्ता

उपाध्याय श्री अमरमुनिजी म.सा.

मन्दिरों एवं उपाश्रयों में आते समय 'निसीहि-निसीहि' कहना चाहिए, यह एक विधान है, जैनधर्म के आचार-ग्रन्थों का। यह विधान मौखिक रूप में आज भी प्राय: किया जाता है रूढ़िचुस्त धार्मिक सज्जनों द्वारा। परन्तु इस मौखिक उच्चारण का आन्तरिक मर्म क्या है, हेतु क्या है, इस सम्बन्ध में ठीक जानकारी प्राय: कम ही देखी जाती है। कहना है, बस, इसलिए कहा जाता है। पर, क्यों कहा जाता है, इसका कुछ अता-पता नहीं है।

देव मन्दिरों, उपाश्रयों एवं गुरुचरणों में उपस्थित होते समय **'निसीहि' कहने का भाव यह है कि मैं इधर-उधर के बाह्य विकल्पों का, द्वन्द्वों का निषेध एवं निराकरण कर, उनसे मुक्त होकर यहाँ धर्म-साधना के लिए उपस्थित हुआ हूँ। मेरा मन एवं मस्तिष्क साफ है। कोई कूड़ाकचरा उसमें नहीं है। वह पूरी तरह खाली है, भगवान एवं गुरु की उपासना के लिए, उनके महनीय प्रकाश को ग्रहण करने के लिए।**

नये भव्य निर्माण के लिए पहले के असुन्दर एवं दूषित को साफ करना चाहिए। झूठे, गन्दे पात्र में यों ही दूध डाल देना, क्या अर्थ रखता है। स्लेट पर पहले कुछ यों ही अण्ट-सण्ट लिखा हुआ है। अब उस पर कुछ और अच्छा लिखना है, तो क्या पहले लिखे को साफ नहीं करना चाहिए? लिखे हुए पर ही लिख देना चाहिए? यदि किसी तरह लिखने की झोंक में लिखे हुए पर लिख ही दिया, तो यह गड्डम-गड्डम लेख क्या काम आएगा? कैसे पढ़ा जाएगा? यदि नहीं पढ़ा गया, तो वह लिखना व्यर्थ ही हुआ है न? ''श्रम एवं केवलम्।''

हाथ गन्दे हैं। धूल-कीचड़ में सने हैं, या शौच-क्रिया में लगे हुए रहे हैं। क्या उन्हीं हाथों से अपने पूज्य के चरण छू लें? भोजन कर लें? अथवा दूसरों को मिष्टान्न का प्रसाद वितरण कर दें? गलत है यह सब ढंग। यह असभ्य लोगों का काम है। कोई भी सभ्य ऐसी गन्दी हरकत नहीं कर सकता। आवश्यक है, पहले गन्दे हाथ धोए जाएँ और फिर उनसे अपेक्षित पवित्र कर्म किये जाएँ।

कर्म-क्षेत्र में साधक जब संघर्षरत रहता है, तो उसका मन-मस्तिष्क गन्दा हो जाता है। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि की किसी-न-किसी गन्दगी से दूषित हो जाता है, अभद्र एवं गलत संस्कारों का कूड़ा-कचरा मन में भर जाता है। अण्ट-सण्ट संस्कारों एवं विचारों की बेमेल भीड़ में, बेसुरे कोलाहल में शान्त चित्त से कैसे प्रभु-स्मरण हो सकता है। ऐसा स्मरण केवल साम्प्रदायिक नियमों के पालन की एक बेगार काटना तो हो सकता है, मन के कण-कण को आनन्द की अमृत-धारा से आप्लावित करने वाला पुण्य-स्मरण नहीं हो सकता।

आप विशेष निमन्त्रण पर किसी प्रेमी, मित्र या सम्बन्धी के घर मेहमान बनकर जा रहे हैं, तो ध्यान में रखिये, अपने घर की सुख-सुविधाओं के गुदगुदे संकल्पों को घर पर ही छोड़कर जाइए। उन्हें अपने मित्र या सम्बन्धी के घर पर भूल कर भी न ले जाइए। हो सकता है, जैसे सुख-साधन आपको अपने घर पर प्राप्त हैं, वैसे वहाँ न प्राप्त हों। और यदि आप अपने प्राप्त सुख-साधनों के विकल्पों का भार उठाये हुए ही वहाँ पहुँचे हैं, तो आपको वहाँ मधुर मिलन का कुछ भी आनन्द न आएगा। आप अन्दर ही अन्दर कुढ़-कुढ़ाएँगे, बड़-बड़ाएँगे और अपने स्नेही मित्रों को गालियों से अलंकृत करेंगे। इतना ही नहीं, लौटने पर उन्हें यत्र-तत्र बदनाम भी करेंगे। मधुरता के लिए गए थे और ले आए हैं कटुता। सिर्फ ले ही नहीं आए, कटुता दे

भी आए हैं। दिमाग को खाली न करने का यह कितना भीषण दुष्परिणाम होता है, कुछ आता है, आपकी समझ में?

और हाँ, मित्र के यहाँ से वापस लौटते हुए भी अपने दिमाग को खाली करके लौटिए। यदि उचित सम्मान-सत्कार न हुआ हो, भूल से या अन्य किसी तरह कुछ अपमान हुआ हो, मनोनुकूल सुख-साधन उपलब्ध न हुए हों तो कोई बात नहीं, ऐसा हो जाता है प्राय:। पर, आप इस गन्दगी को अपने दिमाग में भरकर न रखिए। बड़ी खराब बात है दिमाग को गन्दगी से भरे रखना। क्योंकि कभी न कभी और कहीं न कहीं मुँह से बाहर आती है। और चिरागत स्नेह के मधुर वातावरण को विषाक्त बना देती है। इस तरह एक बार के टूटे हुए मन जीवन भर तो क्या, अनागत पीढ़ियों तक परस्पर नहीं मिल पाते हैं।

इसके विपरीत यह भी हो सकता है, कि घर की अपेक्षा वहाँ सुख-साधन अच्छे मिले हों, आसन-शयन भोजन आदि बहुत ही रुचिकर प्राप्त हुए हों, कल्पना से कहीं अधिक स्वागत सत्कार हुआ हो। इन सबके लिए सत्कार कर्त्ता के प्रति प्रेम एवं समादर का सद्भाव तो अपने मन में सुरक्षित रखिए, किन्तु प्राप्त सुख-साधनों का मोह भूलकर भी अपने मन एवं मस्तिष्क पर मत जमने दीजिए, यदि आप उक्त मोह के विकल्पों से मन को बिना खाली किए घर लौटे हैं, तो बहुत बुरा होगा। आप को अपना घर अब अच्छा नहीं लगेगा। माँ से झगड़ेंगे, बहन से झगड़ेंगे, कि तुम्हें कुछ नहीं आता बनाना। बिल्कुल बुद्धू हो तुम। और पत्नी के पीछे तो भूत-प्रेत की तरह लग जाओगे। कभी उसे गँवार, तो कभी फूहड़ बताओगे। उसके बनाये भोजन में हर दिन सौ गलतियाँ निकालोगे। इस तरह अपने घर के मधुर वातावरण को तल्ख़ (कटु) बना डालोगे। यदि अपने घर की स्थिति अभावग्रस्त है, तो उन जैसे सुख-साधन न जुटा पाने के कारण तुम स्वयं हीन-भावना से ग्रस्त होकर एक प्रकार के विक्षिप्त मानसिक रोगी बन जाओगे।

एक लम्बी चर्चा मैंने उदाहरण के रूप में इसलिए की है, कि स्वस्थ एवं सुखद मस्ती भरा जीवन जीने के लिए लोकजीवन में भी इधर-उधर के मान-अपमान आदि के विकल्पों से मन को खाली करना कितना आवश्यक हैं। मन को न सत्कार से भरना अच्छा है, न तिरस्कार से। जीवन-यात्रा में दोनों का विसर्जन करके ही इधर से उधर जाओ या उधर से इधर आओ। किसी भी कर्मक्षेत्र में प्रवेश करो, तो पहले के चालू कर्म के विकल्प से मुक्त होकर प्रवेश करो। **विगत भूत-कर्म का भूत यदि पीछे लगा रहा, तो प्राप्त कर्म का आनन्द तुम्हें नहीं मिल पाएगा। विभक्त मन से वह कर्म अच्छी तरह किया भी न जा सकेगा। जो व्यक्ति घर को दिमाग पर लादकर व्यवसाय-केन्द्र पर ले जाएगा और व्यवसाय केन्द्र को घर पर, तो वह न घर का रहेगा, न व्यवसाय का।** धोबी का कुत्ता न घर का, न घाट का। जो दिमाग को विचारों का कूड़ाघर बनाये रखता है, वह वस्तुत: कूड़ाघर ही बन जाता है। और ऐसे कूड़ाघर से कर्म की निर्धारित फल-निष्पत्ति कभी भी यथोचित नहीं हो सकती। अस्तु, लोक-जीवन में भी 'निसीहि' की उपासना अपेक्षित है। यह विकल्पों के विसर्जन की सर्वोत्तम प्रक्रिया है।

जैन-साधना में प्रतिक्रमण का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह दुर्विचारों एवं कुसंस्कारों के परिमार्जन की एक आध्यात्मिक साधना है। प्रात:काल से प्रारम्भ होने वाली जीवन-यात्रा में दिनभर में जो कुछ भी इधर-उधर के दुर्विकल्प अन्तर्मन में सञ्चित हो जाते हैं, सायंकालीन प्रतिक्रमण में आत्मालोचन के द्वारा उन्हें साफ कर दिया जाता है और रात्रि के दुर्विकल्पों को प्रात:कालीन प्रतिक्रमण में। यह सुबह-शाम 'अकरणिज्जं' का 'मिच्छा मि दुक्कडं' मन को खाली करता है, उसे हल्का और शुद्ध बनाता है। **पाप कर्मों की बार-बार स्मृति ग्लानि को जन्म देती है और ग्लानि जन्म देती है हीन-भावना को। और हीन-भावना मानव जीवन का सबसे**

भयंकर अभिशाप है, जो उसे सब तरह से बर्बाद कर देता है। प्रतिक्रमण साधक को इस तरह व्यर्थ ही बर्बाद होने से बचाता है। उसमें पवित्रता की भावना जगाता है और नये उत्साह की तरङ्ग के साथ भविष्य में सजगतापूर्वक सत्कर्म करने की प्रेरणा देता है। अशुभ का विसर्जन होना चाहिए। इतना ही नहीं, अशुभ की स्मृति का भी विसर्जन होना आवश्यक है। कृत अशुभ की बार-बार स्मृति भी चेतना को धूमिल बना देती है। जिस हाथ से मल धोया है, उसे धो दिया और वह साफ हो गया। बस, शुद्धि का कार्य पूरा हो गया। धोने के बाद भी यदि हाथ में लगे मल को याद करता रहेगा, तो बस, विनष्ट हो जाएगा मानव। तन का स्नान, मल और मल की स्मृति दोनों को ही साफ करने के लिए है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण हो या इसी से सम्बन्धित अन्य कोई धार्मिक साधना हो, वह भी मानव मन को पाप और पाप की स्मृति दोनों से मुक्त करती है। भविष्य में कोई पाप कर्म न होने पाए, यह सजगता एक अलग बात है। और हर दिन अतीत के कृत पापों का रोना रोते रहना, अलग बात है। प्रतिक्रमण, जप, प्रभु-स्मरण आदि करके भी यदि किसी को यह विश्वास है कि मैं शुद्ध नहीं हुआ हूँ, वहीं पुराना पापी का पापी हूँ और मलिन का मलिन हूँ, तो इसका अर्थ है कि उसे धर्म-साधना की पवित्र शक्ति में विश्वास नहीं है। गंगा में डुबकी लगाकर भी यदि गन्दगी लगे रहने का रोना है, तो उस पागल की कोई चिकित्सा नहीं है।

योग की एक प्रक्रिया है, विरेचन की। प्राणायाम में अन्दर की अशुद्ध वायु को विरेचन के द्वारा बाहर में विसर्जित किया जाता है। विरेचन का अर्थ है, खाली करना। यह एक श्वास का व्यायाम है, किन्तु योग इतना ही नहीं है, **जीवन में से अशुभ संकल्पों, विचारों एवं विकारों का भी विरेचन होना चाहिए।** यही वास्तविक अध्यात्म-योग है। शुभ का पूरक और अशुभ का विरेचन ही जीवन में समरसता ला सकता है। शुभ का पूरक होने के साथ एक सावधानी और अपेक्षित है। वह यह कि कहीं शुभ के साथ शुभ का अहंभाव भी मन में न प्रवेश कर जाए। **यदि कभी भूल से अहं प्रवेश कर जाए, तो तत्काल उसका भी विरेचन कर मन को खाली कर लो।** यह शुभ की सुगन्ध के साथ अशुभ की दुर्गन्ध बड़ी ही भयंकर है। यह शुभ को चौपट कर देती है। इस स्थिति में, शुभ की सुगन्ध, सुगन्ध रहकर दुर्गन्ध ही हो जाती है। शुभ का आनन्द तो अमृत-रस है। अत: उसे तो मन में बनाये रखो और अहं को बाहर निकाल फेंको। कैसा भी अशुभ हो, उससे मन-मस्तिष्क को खाली करते रहना ही श्रेयस्कर है।

जहाँ तक मेरा अध्ययन है, चिन्तन है, मेरी समझ है, 'निसीहि' का यह सैद्धान्तिक मर्म है। अत: साधक को 'निसीहि' केवल बोलना ही नहीं है, उसके फलित रहस्य को समझना भी है। शब्द से आगे का सत्य शब्द का भाव है। उस भाव की अनुभूति ही साधना का अमृत-तत्त्व है।

-'सागर नौका और नाविक' पुस्तक के साभार से

- धर्म पहले इहलोक सुधारता है, फिर परलोक। धर्म से, पहले इस जीवन में शान्ति मिलती है, फिर आगे।
- आत्मसुधार का एक निश्चित क्रम है-1. जीवन सुधार, 2. मरण सुधार 3. आत्म सुधार।
- अनर्थदण्ड के प्रमुख कारण हैं-1. मोह 2. प्रमाद और 3. अज्ञान।
- किसी की उन्नति देखकर ईर्ष्या करना या उसकी हानि की सोचना अनर्थदण्ड है।
- अपध्यान में बाहरी हिंसा नहीं दिखती, परन्तु वहाँ अन्तरंग हिंसा है।
- पारिवारिक प्रार्थना, साप्ताहिक स्वाध्याय सुसंस्कार के साधन हैं। इनके साथ निर्व्यसनी, प्रामाणिक और शुद्ध व्यवहार वाला होना आवश्यक है।

-आचार्यश्री हस्ती

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 67
ISSN 2249-2011

प्रवचन

ज्ञानी का जीवन : एक चिन्तन

उपाध्याय श्री रमेशमुनिजी शास्त्री

जीवन वस्तुत: अनादि निधन है। जन्म का जो उपक्रम है, वह जीवन का प्राथमिक पद न्यास नहीं है और मरण का वरण भी जीवन का कथमपि अन्त नहीं है। जन्म एवं मृत्यु से सन्दर्भित घटनाएँ देह-यष्टि पर आधारित हैं, जीवन पर कदापि नहीं। यह शरीर मूलत: नश्वर है, नीर-तरङ्गवत् क्षणभंगुर है। सिमटना नहीं, अपितु मिटना उसकी स्पष्टत: नियति है। ज्ञानीजन इस ध्रुव सत्य को अङ्गीकृत करते हैं। एतदर्थ उनके लिए जन्म एवं मृत्यु क्रमश: प्रकर्ष, हर्ष और असीम-विषाद का कारण नहीं बन पाते हैं। मरण का क्षण उनके लिये वसन-परिवर्तन से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। जीवन जन्म से पूर्व भी विद्यमान था, मरण के अनन्तर भी अवशेष रहेगा। ज्ञानी व्यक्ति का समग्रत: दृष्टिकोण जीवन के अङ्ग-सङ्ग अङ्गत्वेन अनुस्यूत रहा है। वह जीवन चादर को अर्थात् आत्मा को प्रतिक्षण प्रक्षालित करता है। एक ऐसा स्वर्णिम क्षण उपस्थित होता है। जब उसका प्रक्षालन-सत्कर्म सम्पूर्ण हो जाता है। निष्कर्षत: जीवन की चदरिया अपने मौलिक-रूप को स्वरूपत: रूपायित कर देती है। वह अपूर्व-पल ज्ञानी पुरुष के लिये अनन्त-संसार के निबन्धन से परिमुक्ति का अन्तिम क्षण बन जाता है। आत्मा परमात्मा बन कर अनन्त आनन्द में अनन्त-अनन्त के लिए विलीन हो जाती है।

यह ज्ञातव्य है कि जन्म, जरा और मृत्यु के अविराम प्रवाह में अटकते-भटकते भव्य जीव को कभी-कभार सुचिर-सञ्चित पुण्य-पुञ्ज के प्रकटन में सत्संयोग सम्प्राप्त हो जाता है। उसकी अज्ञान-जनित निद्रा टूटती है। ज्ञान के नेत्र उद्घाटित होते हैं, खुलते हैं। जिससे वह स्वयं को पहचान लेता है। शारीरिक सुख-दु:ख, हानि-लाभ, जन्म-मृत्यु उसके लिये वस्तुत: अचिन्त्य हो जाते हैं, चिन्त्य-शेष जीवन बचता है और वह जीवन को साधने, सजाने एवं सँवारने के लिए उद्यमशील बन जाता है। इसी प्रयासशीलता की अभिधा 'साधना' है। साधना सर्वदा समौन होती है। वह मौन होकर भी स्वत: प्रखर-रूपेण मुखरित होती है। फूल मौन भाव से एकान्त में प्रफुल्लित हो उठता है। इतना ही नहीं वह अपनी सुवास रूप में मुखरित हो जाता है। वह अनायास और अप्रयास अपने परिपार्श्व के वातावरण को सुगन्ध से सुपूरित कर देता है, सर्वतोभावेन भर देता है। श्रमण एवं श्रमणी की अध्यात्म-प्रधान साधना समाज और संसार के वातावरण को सम्यक्-जीवन की सप्राण-प्रेरणा से सुवासित कर जाती है। सुदिव्य-सन्देशों से सहस्र-सहस्र जन-जीवन को सन्मार्ग के पथ का पथिक बना देती है। इस दृष्टि से अध्यात्म साधक लोक-वन्द्य बन जाता है।

ऐसे ज्ञानी पुरुष स्वयं प्रकाशपूर्ण जीवन जीकर अपनी आत्मा को आलोकित करते हैं। समाज, देश और विश्व के लिए प्रकाश-मार्ग प्रशस्त करते हैं। उस प्रखर प्रकाश में लोचन-युगल उन्मेष कर विश्वजन अपना जीवन संलक्ष्य निर्धारित करते हैं। एतदर्थ प्रकाश-पुरुषों का प्रकाशपूर्ण जीवन वस्तुत: विराट् विश्व के लिए आदर्श रूप होता है। यह अतिस्पष्ट है कि जैसे सुमेरु के शिखर को लाँघना, अनन्त अन्तरिक्ष की सीमातीत-विशालता को मापना और अपार महासागर को प्राणिपत्रों से तैरना सहज नहीं है वैसे ही महामानव के जीवन्त-जीवन के महासत्य को जड़ात्मक शब्दराशि से संग्रथित कर पाना सुगम नहीं है। तथापि किसी भी व्यक्तित्व की गहराई एवं विराट्ता को समझने के लिए उसके चिन्तन और चरित्र को समझना अतिआवश्यक है। यह तथ्य सत्यपूर्ण है कि चिन्तन दिशा देता है, पथ

प्रशस्त करता है, और चरित्र उस पर अपने पद-चिह्न अंकित करता है। एतदर्थ चिन्तन और चरित्र ये दोनों ही तत्त्व व्यक्तित्व के मूल्याङ्कन में अपरिमित महत्त्व रखते हैं।

इसी सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि गङ्गा के अजस्र-प्रवाह के सदृश समय की गति नित्यश: अपनी धुरी पर गतिमान है, समय-प्रवाह में अथाह वेग है, असीम गति भी है। वह अपने पूर्ण वेग के साथ अनादि काल से प्रवाहमान है। समय के वेग को रोक पाना, प्रवाह की धारा को परिवर्तित करना सामान्य स्तरीय व्यक्ति के लिए कदापि और कथमपि सम्भव नहीं है। समय के प्रवाह में, युग की धारा में समग्र-संसार प्रतिपल प्रवाहमान है। किन्तु कतिपय सहनशाली आत्मबली सत्पुरुष होते हैं, जो असीम आत्मिक बल से समय के प्रवाह को, युग की अविरल धारा को परिवर्तित कर देते हैं। युग को भी अपने अतिशय अनुकूल बना लेते हैं और युग-पटल पर अपने ओजस्वी कृतित्व की, अपनी महाप्राण चेतना की अमिट छाप छोड़ देते हैं। ऐसे पराक्रमी सहनशील सन्त-पुरुषों को युग-पुरुष के रूप में रूपान्तरित किया जाता है और वे अपनी शक्ति और भक्ति, अपने शौर्य और धैर्य के चरम एवं परम कीर्ति-स्थल के रूप में इतिहास-सत्पुरुष होते हैं। और वे समय को अपने साथ बहाकर ले जाते हैं। इतना ही नहीं वे जब भी गतिमान् होते हैं, चलते हैं, तब काल में गति का स्पष्टत: आभास होता है और वे सुस्थिर एवं सुस्थित होते हैं अर्थात् ठहरते हैं। तभी काल भी स्वत: स्थिर हो जाता है, ठहर जाता है। उनके जीवन में सद्विचार एवं सदाचार इन दोनों की सुमधुर समन्विति प्रत्यक्षत: दृष्टिगत होती है।

कोई भी महामानव यह परिकल्पना कदापि किं वा कथमपि नहीं कर सका कि वह समग्र-संसार को सुधार देगा, सम्पूर्णत: परिष्कृत कर देगा। जब कोई ऐसी संकल्पना कर लेता है, तब यह अहं के अतिरिक्त अन्य और क्या है? वास्तव में महापुरुष किसी मत अथवा सम्प्रदाय की सर्जना के लिये समुत्पन्न नहीं होते हैं। पर यह जगत् की अनिवार्य नियति है कि वे जिस मृत्तिका अर्थात् माटी का स्पर्श करते हैं, वह चन्दन बन जाती है और वे जिस पथ पर दृढ़ता से गतिमान होते हैं, अग्रसर हो जाते हैं, वह पथ राजपथ बन जाता है। उनका सत्कार्य भी इतना सा है कि वह मानव को अन्धगर्त से बाहर निकाल कर राजपथ पर ले आते हैं। जहाँ से मानव अपने निर्धारित संलक्ष्य को सुस्थिर बनाकर एवं एकनिष्ठ होकर अपने साध्य बिन्दु तक पहुँच जाता है। यह सत्य है कि मृत्यु अथवा निर्वाण होने पर महापुरुष का पार्थिव शरीर अग्नि को समर्पित हो जाता है, किन्तु वे जो अपार्थिव-चिन्तन देते हैं, उससे लोक-जीवन में नवीन दिशाओं का उद्घाटन होता रहता है। वास्तव में उनकी विचारधारा मन्दिर की ध्वजा की भाँति नहीं होती है, जो पवन के झोंकों से इधर-उधर फहरने लगती है। उनकी विचारधारा वस्तुत: स्थिर-स्तम्भ के सदृश सुदृढ़ होती है, अडिग रूप होती है जो विरोधियों के भयंकर से भयंकर उपद्रव एवं उपसर्ग में भी अविचल रहती है। जैसे एक ही दीप से सहस्र-सहस्र दीप प्रज्वलित होते हैं, तो वह दीप वास्तव में महाद्वीप कहलाता है। महापुरुष अर्थात् महामानव भी ऐसे ही महादीप रूप होते हैं।

इसी सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि उनके जीवन-दर्शन में विरोधी युगलों का समन्वय निश्चितरूपेण होना है। जैसे कि वे एक ओर सुमन जैसे कोमल मन से युक्त होते हैं, दूसरी ओर मर्यादा-पालन में वज्र के समान कठोर भी हैं। उनकी प्रत्यक्षत: उपस्थिति हो अथवा न भी हो, परन्तु वे कदापि इतिहास की आँखों से एक पल के लिए भी ओझल नहीं होते हैं। परम्परागत भक्ति और श्रद्धा की सप्राण-प्रेरणा से महापुरुषों की सुमधुर-स्मृति का उतना मूल्य एवं उतना महत्त्व भी नहीं है, जितना कि उनके रचनात्मक दृष्टिकोण का अक्षरश: अनुसरण करने का होता है। इसमें कोई अणुमात्र भी सन्देह को अवकाश नहीं है, कि जो भौतिकवादी युगधारा को अध्यात्म की दिशा की ओर मोड़ देता है, नये दर्शन के साथ नये युग में

प्रवेश करता है और अपने सांस्कृतिक मूल्यों को लोक-जीवन में प्रतिष्ठित कर देता है। महामानव का मापदण्ड सम्यक् आचरण और सत्य का अनुष्ठान है। उनके पथ में अहं और आग्रह को कहीं भी स्थान नहीं है। वे सत्य का उपदेश देते हैं, किन्तु अपनाने के लिए किसी को विवश नहीं करते हैं। उनकी महत्तम उपलब्धियाँ जन-जन के हित के लिये समर्पित होती हैं। वे न केवल जटिल से जटिल समस्या से जूझते ही हैं, अपितु समुचित समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। वे शताधिक वर्षों की आगामी समस्या का समाधान अपने युग में देकर चल जाते हैं। उनके जीवन का आरम्भ और अवसान दोनों 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' रूप होता है। उनका निर्माण नहीं किया जाता है। वे अपनी उत्कृष्ट साधना और अपने कर्त्तव्य से स्वत: ही महापुरुष बनते हैं। उनका एक शब्द भी निरर्थक नहीं होता है, अपितु प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक कार्य वास्तव में अतिशय सार्थपूर्ण होता है।

इसी परिपार्श्व में यह ज्ञातव्य तथ्य है कि महापुरुष यथार्थ अर्थ में वह होता है, जो विनम्र बनकर विग्रह का विष धो डालता है, भोग-विलास के दल-दल में नहीं फँसता है, अपनी प्राप्ति को अतिश्रेष्ठ बना लेता है, मित्रजनों के प्रति ही नहीं, अपितु शत्रुजनों के प्रति भी मैत्री भाव रखता है, कठिन से कठिन को परम सुगम बना देता है तथा दु:ख-क्लेश को सुख शान्ति में परिणत कर देता है, सर्वप्राणियों का सुख, स्वास्थ्य और कल्याण चाहता है। अनुकूलता एवं अनुस्रोत में सभी बहते हैं, किन्तु महापुरुष प्रतिस्रोत में, प्रतिकूलता में तथा दु:ख-क्लेश में अपनी समता-प्रधान साधना को खण्डित नहीं होने देते हैं। किं बहुना जिसको असीम-अनन्त अन्तरिक्ष को छूना है, उसको अगाध-अपार महासागर के अन्तस्तल को भी छूना होगा। सर्वतोमुखी व्यक्तित्व एवं सर्वांगीण कृतित्व का समग्र-विकास ऊँचाई और गहराई-इन दोनों आयामों में होता है, तभी व्यक्ति महान् बनता है, मानव से महामानव बन जाता है। इतना ही नहीं, वह धर्म एवं अध्यात्म के क्षेत्र में उत्क्रान्ति की उत्ताल-तरङ्ग ले आता है तथा श्रमनिष्ठा और समभाव के सुधा बीज बो देता है। वास्तव में महापुरुष का श्रद्धास्निग्ध अन्तर्मन से अर्चना और प्रशंसा करके अवकाश पा लेना जितना अधिक सुगम है, सुतरां सहज है, उतना उनके सर्वोच्च आदर्शों का अक्षरश: अनुसरण कर पाना वस्तुत: सुकर नहीं है। निष्कर्ष यही है कि वह महामानव अपनी दिव्यता और भव्यता से जन-जन के मन को अपूर्व आलोक से आलोकित कर देता है। जो समाज की विकृति को विनष्ट कर संस्कृति की ओर अग्रसर करता है, उसकी सप्राण-प्रेरणा से दुर्गम पथ सुगम बन जाता है, पथ के शूल भी फूल बन जाते हैं। विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है। उलझन उनके लिये सुलझन बन जाती है। विकट से विकट समस्याएँ भी अनुपम वरदान बन जाती हैं।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा जा सकता है कि वह महामनस्वी युगपुरुष अपने युग का प्रतिनिधि होता है, वह समाज का मुख भी है और मस्तिष्क भी है। वह समाज के विकास और सर्वकल्याण के लिए स्वयं अपने युग के अन्धविश्वासों, अन्धपरम्पराओं एवं मूढ़तापूर्ण रूढ़िवाद से संघर्ष करता है, जूझता है। जब तक उसके तन में प्राण-शक्ति है, मन में और वचन में ओज है, तब तक वह विघ्न-बाधाओं एवं विकट-संकटों में गुलाब के फूल के समान मुस्कुराता है। उसका सोचना, उसका बोलना और उसका कार्य करना सभी में जनकल्याण की भावना तरङ्गित होती रहती है। ऐसे महापुरुष स्वयं विषपान कर समाज को अमृत प्रदान करते हैं। वास्तविकता यह है कि युगप्रधान महामानव अपने प्राणों की बाती जलाकर जन-जन में नवीन प्रकाश का सञ्चार करते हैं। उनका स्वभाव निस्तरंग महासागर की भाँति होता है जो हलचल और कोलाहल से दूर रहकर भी विकास की तरङ्गों से सर्वदा तरंगायित रहता है। वे सृजनात्मक शक्ति में विश्वास करते हैं और विरोध को विनोद मानकर कार्य सम्पादन में तन्मय रहते हैं। आसुरी-जीवन से विपरीत महामानव का जीवन दैवी-

जीवन है। आत्मा का प्रदीप उसके मार्ग को प्रकाशमय बनाता है। शीतल-पवन का आँचल उसके श्रमजन्य स्वेदकण को पोंछता है, आँधियाँ भी आती हैं, उसके मार्ग के काँटों को उड़ा ले जाती हैं। उसका जीवन अध्यात्म-स्तरीय है, जिसमें सम्यग्ज्ञान की लौ प्रचण्ड-प्रकाश को विकीर्ण कर स्वानुकूल-आचरण हेतु न केवल प्रेरणा देती है, अपितु मार्गगत सर्व-व्यवधानों के तिमिरों को निर्मूल करती है। यही जीवन वस्तुतः शत प्रतिशत वन्दनीय, वर्णनीय और अर्चनीय है।

प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी श्रावक के करणीय कार्य

श्री नवरतन डागा

जिनेश्वर भगवन्त के प्रियधर्मी दृढ़धर्मी श्रावक में निम्नलिखित चारित्रिक विशेषताएँ होनी चाहिये।

1. श्रावकजी कूट कपट, ठगाई, अन्याय, अनीति एवं अनाचार से दूर रहकर अपना जीवन एवं आजीविका, न्याय-नीति, सदाचार और धर्म-साधना से निर्मल एवं स्वच्छ रखें।
2. श्रावकजी अल्प इच्छा वाले हों। लोभ को वश में रखें।
3. श्रावकजी अल्प आरम्भ वाले हों।
4. श्रावकजी साधर्मी भाई-बहिनों की सहायता करें।
5. श्रावकजी दान के लिए अपने घर के द्वार खुले रखें।
6. श्रावकजी के सदाचार की प्रतिष्ठा इतनी व्याप्त हो कि यदि वे धन से भरे हुए भण्डारों और महिलाओं के निवास-अन्तःपुर (राजाओं के रनिवास) में चले जाएँ तो उन पर किसी प्रकार की शंका नहीं हो, उनका विश्वास हो ।
7. श्रावकजी अपने व्रत-नियमों का निर्दोष रीति से पालन करें।
8. श्रावकजी प्रतिदिन तीन मनोरथ का चिन्तन करें।
9. श्रावकजी नित्य सामायिक करें, धर्मोपदेश सुनें।
10. श्रावकजी उभयकाल प्रतिक्रमण करें।
11. श्रावकजी गुणवान साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका की प्रशंसा करें।
12. श्रमण-निर्ग्रन्थों को भक्तिपूर्वक निर्दोष आहारादि का दान करें।
13. श्रावकजी नवतत्त्व और पच्चीस क्रिया के जानकार हों।
14. श्रावकजी धर्म-आराधना में किसी की सहायता की इच्छा नहीं करें।
15. श्रावकजी धर्म पर दृढ़ रहें, यदि कोई धर्म से डिगाना चाहे, तो डिगे नहीं।
16. श्रावकजी जिन धर्म में शंका नहीं करें, पर दर्शन की इच्छा नहीं करें और करनी के फल में सन्देह नहीं करें।
17. श्रावकजी सूत्र, अर्थ और दोनों को प्राप्त करने वाले, ग्रहण करने वाले, पूछकर निश्चित करने वाले और रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने वाले हों।
18. श्रावकजी की धर्मरुचि इतनी गहरी हो कि जिसका प्रभाव रक्त और मांस पर ही नहीं, हड्डियों और हड्डियों की मज्जा तक में व्याप्त हो जाए।
19. निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही सार है, अर्थ है और परमार्थ है। शेष सभी बातें, सभी वस्तुएँ और सभी संयोग अनर्थ हैं। श्रावकजी ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखें और धर्म-बन्धुओं में चर्चा करें।
20. श्रावकजी प्रतिमास दोनों पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को इस प्रकार छह पौषध करें।
21. श्रावकजी धर्म का प्रचार करें। आचरण, वक्तव्य, लेखन, भाषण आदि से धर्म की वृद्धि करें।

-उपाध्यक्ष, अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, जोधपुर (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 71
ISSN 2249-2011

प्रवचन

तीन निधानों का करें सदुपयोग

महान् अध्यवसायी श्रद्धेय श्री महेन्द्रमुनिजी म.सा.

सरस व्याख्यानी, महान् अध्यवसायी श्रद्धेय श्री महेन्द्रमुनिजी म.सा. द्वारा जैन स्थानक-भोपालगढ़ में 20 जुलाई, 2017 को फरमाए इस प्रवचन का आशुलेखन जिनवाणी के सह-सम्पादक श्री नौरतनमलजी मेहता द्वारा किया गया।

-सम्पादक

बन्धुओं!

अनन्त-अनन्त पुण्यवानी से हर मानव को तीन निधान प्राप्त हुए हैं, तीन खजाने मिले हैं, तीन शक्तियाँ हासिल हुई हैं। आप-सब यह भली-भाँति जानते हैं कि मानव जन्म मिलना दुर्लभ है। कहा जा रहा है-अनन्त-अनन्त पुण्यवानी का सञ्चय होता है तब कहीं जाकर मानव जन्म मिलता है। ज्ञानी कह रहे हैं-नौ घाटियाँ पार होने पर मानव का तन मिलने वाला है। यह इसलिए कहा जा रहा है कि अनन्त-अनन्त पुण्यवानी से मानव-जन्म मिलता है।

नौ घाटियाँ कौनसी? जोधपुर में कई घाटियाँ हैं। फूलेराव की घाटी, नवचौकियाँ की घाटी, इस तरह की और-और नाम की कई घाटियाँ हैं, मगर मैं उन घाटियों की बात नहीं कर रहा। यहाँ जो घाटियों का प्रसङ्ग है उनमें पाँच स्थावर और चार त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय) इस तरह ये नौ घाटियाँ पार होने पर मानव जन्म मिलता है। हर मानव को तीन निधान मिले हैं। ये तीन निधान कौनसे हैं?

ठाणांगसूत्र में कहा है-जितने भी मानव हैं, उन्हें मन-वचन और काया का योग प्राप्त है। हर मानव को धन मिले या नहीं, परिवार अच्छा मिले या नहीं, संघ-समाज में इज्जत-मान-प्रतिष्ठा मिले या नहीं, मगर तीन निधान सबको प्राप्त हैं। एक है-मन। दूसरा है-वचन। तीसरी-काया। ये तीन निधान हैं। आगमकार स्वयं फरमाते हैं कि जो भी इन तीनों निधानों का सदुपयोग करता है, वह मोक्ष के द्वार को उद्घाटित करता है और जो इनका दुरुपयोग करता है वह नरक-निगोद में चला जाता है।

पूर्व पुण्यवानी से जिन्हें भी साधन-सामग्री प्राप्त है, उसका उपयोग कैसे किया जाय? उपयोग करना वर्तमान पर निर्भर है। मनुष्यजन्म, आर्य-क्षेत्र, उत्तमकुल, पाँचों इन्द्रियों की प्राप्ति एवं फिर आचार्य भगवन्त का सान्निध्य बिना पुण्यवानी के नहीं मिलता। अब इसका उपयोग कैसे किया जाय? जो सदुपयोग करेगा उसके जन्म-मरण के बन्धन कट जाएँगे और जो दुरुपयोग करेगा तो कर्म-बन्ध होंगे, जरूर होंगे।

साधन-सामग्री का मिलना पुण्यवानी है, लेकिन उपयोग कैसे किया जाय, यह आप पर निर्भर है। राम और रावण जन्म तो दोनों ने लिया। दोनों के पाँचों इन्द्रियाँ थीं। गति-जाति में भी अन्तर नहीं था। दोनों को राज्य मिला। राम-रावण की तरह सीता और शूर्पणखा को भी मानव-देह प्राप्त हुई। गाँधी और गोडसे दोनों मानव थे। पर एक ने सदुपयोग किया, दूसरे ने दुरुपयोग। उनकी क्या गति बनी, आप जानते हैं।

मानव-जन्म के साथ सद्गुरु मिल जायें तो बेड़ा पार है। गुरु मिलने पर भी गुरु-सन्निधि का उपयोग कैसा हो रहा है वह ज्यादा ज़रूरी है।

राम और रावण दोनों की राशि एक है। धन की कमी दोनों के पास नहीं। धन-सम्पत्ति ही नहीं,

राज्य दोनों के पास थे। कहते हैं-रावण के पास अनेक विद्याएँ थीं। रावण के सिंहासन पर सूर्य-चन्द्र बँधे रहते थे ऐसा भी कहने वाले कहते थे। रावण की लंका सोने की थी। अभी मुनिराज (श्री योगेशमुनिजी म.सा.) कह रहे हैं-दोनों की राहें अलग थीं। कारण क्या? एक ने सदुपयोग किया, दूसरे ने दुरुपयोग। वर्षों बीत जाने के बाद भी राम का श्रद्धा से नाम लिया जाता है, राम को वन्दन-नमन किया जाता है, राम की पूजा होती है, लेकिन रावण ने दुरुपयोग किया। आप जानते हैं-कोई भी अपने बच्चे का नाम रावण नहीं रखता। नाम लेना नहीं सो तो नहीं, लेकिन काम क्या किया? रावण ने सीता का हरण किया। आज हरण-अपहरण के कितने उदाहरण रोज पढ़ने को, सुनने को, देखने को मिलते हैं? अपहरण भी बालिग का नहीं, नाबालिग का हो रहा है-क्या है यह? जो अपहरण करते हैं, बलात्कार करते हैं, बच्चियों की हत्याएँ करते हैं उन्हें क्या कहना?

मानव-देह सीता को मिली तो शूर्पणखा को भी मिली। दोनों सुन्दर थीं, किन्तु शूर्पणखा को नाक-कान कटवाने पड़े। फिर कह रहा हूँ-मिलना पूर्व की पुण्यवानी पर निर्भर है और उपयोग आपकी भावना पर निर्भर है। अच्छे-सच्चे गुरु का सान्निध्य पाकर भी आप साधना-आराधना नहीं करेंगे तो आपका कल्याण होने वाला नहीं है। गुरु हस्ती-गुरु हीरा जैसे गुरु पाकर भी आप नाम भले ही गौरव से लें, किन्तु साधना-आराधना नहीं करें तो? केवल जय-जयकार करने से कुछ नहीं होता, होता है तो गुरु आज्ञा-आराधन से। भगवतीसूत्र में वर्णन आता है-गोशालक के गुरु भगवान महावीर थे तो गौतमस्वामी के गुरु भी भगवान महावीर थे। गोशालक ने पहले गुरु बनाया। भगवान महावीर छद्मस्थ अवस्था में थे तभी गोशालक ने गुरु बना लिया। गोशालक ने पहले गुरु बनाया, गौतम स्वामी ने बाद में। गौतमस्वामी ने गुरु की आज्ञा की आराधना की तो भवसागर पार कर लिया जबकि गोशालक ने सदुपयोग नहीं किया तो उसका भव-भ्रमण नहीं मिटा।

गुरु पाकर आप आज्ञा-आराधन करेंगे, सान्निध्य का साधना-आराधना में सदुपयोग करेंगे तो अजर-अमर हो जाएँगे। मर कर भी अमर हो जाएँगे और सद्गुरु पाकर सदुपयोग नहीं किया तो जीते हुए भी मरे समान होंगे।

सदुपयोग कैसे करना? सदुपयोग करने वाले विरले मिलते हैं। अनुभवियों ने ठीक ही कहा है-

तप करन्ता बल गया, द्रव्य गया दे दान।
धर्म करन्ता प्राण गया, तीनों गया मत जान।।

तप करते हुए अगर बल कम हो रहा है तो कोई बात नहीं। **तन का सदुपयोग है तप करना, जप करना, साधना करना।** आप तप करें जितनी शक्ति है-सामर्थ्य है उतना तप जरूर करें। तप करते हुए शरीर की शक्ति क्षीण हो रही है तो उसे क्षीण नहीं समझें।

द्रव्य मिला, दे दान। **धन-वैभव मिला है, वह पुण्यवानी से मिला है। पाया है तो दे।** दिया गया व्यर्थ नहीं जाता। आपने दोहा सुना होगा-

चिड़ी चोंच भर ले गई, नदी न घटियो नीर।
दान दिए धन ना घटे, कह गए दास कबीर।।

जैसे नदी में से चिड़ी चोंच भर कर पानी ले भी ले तो पानी की कमी होने वाली नहीं, ऐसे ही दान करने से धन-सम्पत्ति कम नहीं होती। अनुभवियों का तो कथन है-प्राप्त का सदुपयोग करना दान है। यह कहने में जितना सरल है, दान देने में उतना सरल नहीं है।

तीसरा कहा जा रहा है-धर्म-रक्षा में यदि प्राण जाय तो उसे गया नहीं मानना। धर्म करते हुए,

साधना-आराधना करते हुए, व्रत-नियम पालते हुए कभी प्राण न्योछावर करना पड़े तो सहर्ष तैयार हो जाना। क्यों? तो धर्म-रक्षा के लिए प्राण चले जाय तो गया नहीं मानना। आप बोलते हैं न कि 'सिर जाए तो जाए मेरा जैनधर्म न जाए।'

आपने अनुभवी महापुरुषों के वचन सुने होंगे-

धन दे तन को राखिये, तन दे राखिये लाज।
तन दे, धन दे, लाज दे, एक धर्म के काज।।

धन चला गया, तन चला गया, लाज भी चली गई कोई बात नहीं। धर्म की रक्षा के लिए तन-धन और लाज गई तो गई नहीं जानना। मैंने जो गुरुदेव से सुना है, समझा है, पाया है, जाना है, वही आपके सामने रख रहा हूँ। मैं डाकिये का काम कर रहा हूँ। आजकल तो डाकिये का जमाना नहीं रहा। पहले और-और साधन नहीं थे तब डाकिया जो पत्र लाता उससे ही समाचार मिलते।

हाँ, तो मैं कह रहा था- मैंने जो कुछ गुरुदेव से पाया है वही आप तक पहुँचा रहा हूँ। धन देकर तन रह जाय तो अच्छी बात है। घर में खाने के अनेक पदार्थ हैं, पर जिसे बी.पी. है, शूगर है तो घर के खाने-पीने के पदार्थ काम आने वाले नहीं हैं। उसे तो लूखी रोटी और पालक की सब्जी ही खानी पड़ेगी। **धन देकर तन स्वस्थ रह जाय तो धन गया अखरता नहीं। तन चला जाय, इज्जत रह जाय तो वह ठीक है। तन-धन-लाज भी चली जाय आत्म-धर्म रह जाय तो कुछ नहीं गया ऐसा समझना चाहिए।**

आपसे यह निवेदन किया जा रहा है कि आपको जो ये तीनों निधान मिले हैं तो उनका सदुपयोग कीजिए। आपको यह सुनहरा अवसर मिला है। अनन्त पुण्यवानी से प्राप्त इस सुयोग का सदुपयोग करें। आप तन-धन का सदुपयोग ही नहीं, प्राण-बल से आत्म-बल बढ़ाने के लिए पुरुषार्थ करें। आप स्वयं करें, किसी और का किया कुछ भी काम में आने वाला नहीं है।

नारी संग जीवन गयो, धन व्यसन में गयो।
प्राण गयो जो पाप में, तीन गए नादान।।

नारी के संग जीवन गया। आज तो कई हैं जिन्हें धर्म-साधना में भी घर वाली याद आती है। कभी किसी भाई को संवर करने की बात कही जाती है तो उत्तर मिलता है- ''बाबजी! घर में दूसरो कोई नहीं है। घर सूना रखना भी ठीक नहीं।'' धर्म-साधना के लिए यह बहाना ठीक नहीं है, क्यों तो आप व्यापार के लिए एक-दो दिन नहीं, दस-दस दिन बाहर जाते हैं तब घर सूना रहने की बात नहीं करते। आप धर्म-साधना में इस तरह के बहाने बनाने के बजाय पुरुषार्थ जगाएँ। आपका कितना साथ रहेगा, है कोई गारण्टी? कौन जाने पहले किसको जाना पड़ेगा? देह से किसी के भी प्राण निकल सकते हैं। कभी प्राण नहीं रहे तो घर वाली कहती है- जल्दी करो, निकालो इस मृत शरीर को। जो अपना है वह अपना कब तक? जब तक शरीर में चैतन्य है। जब चेतनराम नहीं रहा तो?

कहा है-नारी संग जीवन गयो। इसी तरह यदि व्यसन में धन लग जाएगा तो? प्राण चले गए तो? वीतराग वाणी के अनुसार-वे नादान हैं जो प्राप्त सुयोग का सदुपयोग नहीं करते। यह गुरुदेव की परिषद् है, समवसरण है। यहाँ जो भी वीतराग वाणी श्रवण करता है वह नादान नहीं हो सकता। आप अब बच्चे नहीं रहे। इसलिए तीन निधान जो पाए हैं उनका उपयोग कीजिए। मोक्ष का प्रथम चरण विनय है। विनय किनका करना? यह यथा समय कहने की भावना है। आपके सामने अगले तीन दिन विशिष्ट पर्व आ रहे हैं। आप पचरंगी में अपना पुरुषार्थ प्रदर्शित कर धर्म साधना-आराधना में आगे बढ़ें, यही मंगल मनीषा है। ■

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 74
ISSN 2249-2011

चर्चा–उद्‌बोधन

समझें सुदेव का स्वरूप, जिएँ जीवन उसी अनुरूप

मधुर व्याख्यानी श्री गौतममुनिजी म.सा.

आचार्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा. के आज्ञानुवर्ती मधुर व्याख्यानी श्रद्धेय श्री गौतममुनिजी म.सा. ने सवाईमाधोपुर वर्षावास में पर्युषण में अन्तगड़दशासूत्र में वर्णित सुदर्शन सेठ की दृढ़धर्मिता के आधार पर जो उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण चर्चा की, उसका संकलन पूर्व प्रधानाचार्य त्रिलोक चन्द जी जैन, सवाईमाधोपुर ने किया। –सम्पादक

हम भाग्यशाली हैं, सौभाग्यशाली हैं, पुण्यशाली हैं। इसलिए नहीं कि धन सम्पत्ति से समृद्ध हैं, इसलिए भी नहीं कि समाज में हमारी पहचान है और ऊँचा पद है। हम भाग्यशाली इसलिए हैं कि हमें जैन कुल में, जैन जीवनशैली में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जहाँ चित्र और इत्र को नहीं चरित्र को महत्त्व दिया जाता है। जहाँ संग्रह और विग्रह को नहीं, अपरिग्रह को महत्त्व दिया जाता है। जहाँ विकार और विलास को नहीं वैराग्य को महत्त्व दिया जाता है। जहाँ मैं और मेरापन को नहीं, हमारेपन को महत्त्व दिया जाता है। जहाँ की सीख होती है–व्यवहार में अपनत्व एवं निश्चय में एकत्व। जहाँ का प्रथम पाठ होता है **'एक युद्ध, अपने विरुद्ध'**, जहाँ की शिक्षा होती है **'करो नहीं ऐसा व्यवहार जो स्वयं को न हो स्वीकार'**, जहाँ की प्रेरणा होती है **'अपना सुधार ही, संसार की सबसे बड़ी सेवा है।'** जहाँ पर प्रसन्नता का मन्त्र बताते हुए कहा जाता है **'परिस्थिति को नहीं मन:स्थिति को बदलो।'** जीवन–निर्माण के ऐसे दो–चार सूत्र ही नहीं, बल्कि सैकड़ों सूत्र जहाँ पढ़ने–सुनने को मिलते हैं।

जैन जीवनशैली किसी के परिचय और प्रचार की मोहताज नहीं है। **आचरण एवं जैनत्व के सुसंस्कार से ही जैन की पहचान मिल जाती है।** जाति एवं जन्म से कोई जैन नहीं होता, स्वयं प्रभु महावीर ने कहा–**''कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ''** कर्म से ही ब्राह्मण होता है, क्षत्रिय होता है और जैन होता है। जैन शब्द का अर्थ होता है जो जिनेन्द्र भगवान का अनुयायी अथवा उपासक होता है। अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा दिखाये गये मार्ग का जो अनुसरण करता है वह जैन कहलाता है। जैन मात्र भगवान महावीर के बाद ही हुए हैं, यह गलत धारणा है। जैनत्व की परम्परा अनादि काल से है। प्राचीन समय से ही हमारे पुरखों ने भारतीय समाज के अन्दर सदाचार, सेवा आदि प्रेरक गुणों से एक मजबूत जैनत्व की पहचान बनाई। इतिहास को सुनते हैं, पढ़ते हैं, तो सहज गर्व होता है कि राजा–महाराजाओं के अन्त:पुर में कोई जैन चला जाता तो शंका की दृष्टि से उसके चरित्र पर कोई अंगुली नहीं उठाता और उसकी ईमानदारी पर उन्हें ही राज खजानों का अधिकारी बनाया जाता। इतनी प्रतिष्ठा हुआ करती कि उनकी मौजूदगी में राजा–महाराजा और ठाकुर लोग गलत खानपान नहीं करते। इतिहास तो यहाँ तक बोलता है जैन की बस्ती है तो शहर की शोभा है। **यही कारण है कि जैनों को नगर में ससम्मान बसाया जाता था।** जैन श्रावक का आचार–विचार इतना श्रेष्ठ रहा है कि उपासकदशाङ्गसूत्र में उनके लिए अनेक विशेषण दिये। **'.....आलंबणं, चक्खू मेढ़ीभूए जाव....'** अर्थात् राज्य में जो चक्षु अर्थात् पथ प्रदर्शक मेढ़ी अर्थात् केन्द्र स्तम्भ थे।

जैन श्रावक के कभी अपयश नाम कर्म का उदय नहीं होता और हमेशा आदेय नाम कर्म का उदय रहता है अर्थात् उनकी बात और उनकी प्रेरणा कभी खाली नहीं जाती। यह हमारा इतिहास रहा है। 'हमें सिर्फ भूतकालीन इतिहास पर गर्व ही नहीं करना है, बल्कि कहते हैं कोई इतिहास पढ़ता है, कोई इतिहास लिखता है और कोई इतिहास बनाता है।' हमें इतिहास बनाना है और साथ ही अपने आपको एक आदर्श जैनी के रूप में प्रतिष्ठित

करना है। आज भी शुद्ध जैनत्व की परिपालना में चाहे राजनीति की बात करें या सामाजिक धरातल की बात करें, चाहे व्यापारिक अथवा शहर या गाँव की बात करें, कई सारे जैनों की आज भी प्रतिष्ठा है, प्रशंसा है और आदर्श जीवन की कहानी है। हो सकता है कुछ नामधारी जैनों के गलत आचरण से विकृति की चर्चा उभरी हो, लेकिन सारे ही जैन विकृत नहीं हैं। कई बार काल के प्रभाव से और आस-पास के विकृत वातावरण के प्रभाव से दोष उत्पन्न हो जाते हैं। कमज़ोरियाँ घर कर जाती हैं, जैनत्व के विरुद्ध आचरण देखने को मिल जाता है। लेकिन **फिर भी आज अधिकांश जैनी अपने अच्छे और ऊँचे चरित्र से समाज में प्रशंसनीय और आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हैं। हमें अपने आदर्श को और ऊँचाइयों पर ले जाने की जरूरत है।** जिससे गलत आचरण वाले कुछ नामधारी जैन अपने आपको लज्जित एवं शर्मिन्दगी महसूस कर सकें, और साथ ही हम पूर्वजों के इतिहास पर गर्व करते हैं यह अच्छी बात है, पर पूर्वज हमारे ऊँचे और अच्छे आचरण पर गर्व कर सकें, यह और भी श्रेष्ठ और गर्व की बात होगी।

यद्यपि पूरे विश्व में जैनियों की अपनी एक अलग पहचान है, मगर मुझे कई बार एक कमी को देख करके खेद होता है, वह कमी है सुदेव-सुगुरु एवं सुधर्म के प्रति एकनिष्ठ श्रद्धा की। अर्थात् शुद्ध सम्यक्त्व की जानकारी का अभाव यानी उत्तराध्ययनसूत्र के 28वें अध्ययन में वर्णित सम्यक्त्व पुष्टि के 8 अङ्गों के आचरण की बात तो दूर रही, जानकारी का ही अभाव है। यही कारण है कि एक निष्ठ श्रद्धा का अभाव देखने को मिलता है। हालात यह है कि गंगा गये गंगादास और जमुना गये जमुनादास। कभी प्रेरणा की बात चलती है तो उत्तर मिलता है महाराज साहब! संसार में बैठे हैं सब व्यवहार निभाना पड़ता है, ऐसा कहने वाले नहीं जानते कि व्यवहार में धर्म उपयोगी और हितावह होता है। मगर जिस दिन धर्म में व्यवहार करने लग जायेंगे तो धर्म की दशा ही विकृत हो जायेगी। अर्थात् वह धर्म, धर्म नहीं कहलाता, केवल एक रीति-रिवाज़ और दस्तूर बनकर रह जायेगा। फिर न निर्जरा, न आत्म-समाधि और न धर्म का सुखद परिणाम सामने आयेगा।

एक देवभक्ति की ही यदि बात करें तो देवभक्ति के नाम पर कैसी-कैसी विकृतियाँ देखने को मिलती है। इसलिए सबसे पहले देव भक्ति के बारे में चर्चा कर लेते हैं, पर उसमें भी यह समझना जरूरी है कि कौन से देव की आराधना उपादेय है। एक बुज़ुर्ग दादी के साथ पोता आया, मैंने उससे पूछा अपने भगवान (देव) कौन हैं, तो उस बालक ने कहा 'नाकोड़ा भैंरूजी' दादी ने माथा पीट लिया, तो मैंने कहा बहिन जी! इसका क्या दोष, आपने कभी सुदेव, सुगुरु एवं धर्म के बारे में बताया भी नहीं। ऐसे ही कई लोगों को अपने आराध्य देव कौन हैं इसकी भी जानकारी नहीं है। संसार में बहुत सारे लोगों को सांसारिक सरागी देवी-देवताओं को अपना देव मानते और उन्हीं की ही भक्ति करते हुए देखा जा सकता है। जो देव स्वयं राग-द्वेष, निन्दा-प्रशंसा से जुड़े हुए हैं, शस्त्र हाथ में है, देवी पास में है, जो स्वयं काम भोग से जुड़े हुए हैं और कभी नाराज हो तो कुछ भी कर सकते हैं। जो स्वयं भयभीत हैं, तो फिर संसारी व्यक्ति में और उन देवताओं में फर्क ही क्या? भला वे हमें तिरने का मार्ग कैसे बता पायेंगे? गुरुदेव फरमाते थे-**वे हमारे मित्र देव हो सकते हैं, मगर वन्दनीय, पूजनीय एवं आराध्य देव नहीं हो सकते। हमें तो ऐसे देव की आराधना करना है, जो स्वयं तिरते हैं और जो दूसरों को तारते हैं। निन्दा प्रशंसा, राग-द्वेष से जो मुक्त हैं, जो 18 दोषरहित और 12 गुण सहित हैं और जो एकान्त वीतरागी हैं।**

पर आज देखा जाता है कि चमत्कार के नाम पर अच्छे-अच्छे जैनी कहलाने वाले लोग भी सरागी देवताओं की आराधना करते हुए नज़र आते हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब हमारे अपने जैनी कोई सोमवार को महादेव के नाम पर व्रत रखते हैं, कोई मंगलवार को हनुमान जी को मनाते हैं, तो कोई और किसी वार त्योहार के नाम पर विविध प्रकार के अनुष्ठान करते हैं,

कोई सवामणी, कोई रातिजगा करते हैं। बड़े खेद के साथ बोलना पड़ रहा है कि अधिकांश जैनियों के जन्म-मरण और परण के कार्यक्रम में वैदिक संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। कोई कहीं तीर्थयात्रा पर जा रहा है तो कोई और किसी तीर्थ यात्रा पर। यह तो अच्छा है कि सभी देवी-देवता भारत में ही हुए, अगर विदेशों में होते तो घर की औरतें कहती-लन्दन वाले भैंरूजी की मान्यता पूरी करने जाना है, जापान वाली माताजी के दर्शन करने जाना है, आस्ट्रेलिया वाले ठाकुर जी के दर्शन करने जाना है। पति बेचारा क्या करता? ये केवल एक व्यंग्य है जो हमारी दुर्बल मानसिकता को दर्शा रहा है। **आज आस्था का पाया कमज़ोर नज़र आता है। श्रावक कहलाने वाले जैनियों की धर्मश्रद्धा की ऐसी हालत बनी हुई है कि जैसे ढीले आटे को जिधर भी खींचो, उधर ही खिंच जाता है।** इसी तरह कोई चमत्कार बताने वाला चाहिए, उधर ही दौड़ते नज़र आयेंगे। ऊपर से यह कहेंगे कि हम तो भाई सरल हैं, सभी जगह अपना सर झुकाते हैं। हम कोई कट्टरता या अकड़ नहीं रखते। अरे भाई! यह सरलता नहीं अज्ञानता है या मायावीपन है। सच तो यह है कि उनकी श्रद्धा में ही पोल है। **मैं यह नहीं कहता कि हमारे में दृढ़धर्मी, प्रियधर्मी जैनी सुश्रावक नहीं हैं। आज भी ऐसे सुश्रावक हैं जो लक्ष्मी की पूजा नहीं करते और दीपावली पर भगवान महावीर का निर्वाण दिवस मनाते हुए बेले और तेले के पौषध के साथ धर्म स्थानक में आराधना में समर्पित रहते हैं।** ऐसे भी दृढ़धर्मी जैनियों की जीवन कहानी है, जिन्होंने कर्म उदय से एक के बाद एक प्रतिकूलताओं का सामना किया, मगर किसी भी सरागी देव की न मनौती की, न बोलावा बोला, बस एकमात्र नवकारमन्त्र की आराधना और स्मरण तथा **आयम्बिल तपानुष्ठान से हर कष्ट को समभाव से सहन कर निर्जरा के द्वार खोले और अपूर्व समत्व भाव का परिचय दिया।** इतिहास प्रसिद्ध एवं आगम वर्णित अनेक उदाहरण यथा सुलसा श्राविका, अरणक श्रावक, सुदर्शन सेठ, मैना सुन्दरी आदि दृढ़धर्मी प्रियधर्मी साधकों की आदर्श कहानी आज भी प्रेरणा देती है, जिन्होंने संकट की घड़ी में भी नवकारमन्त्र का स्मरण और धर्म की शरण से हर बाधा-विपदा को हँसते हुए सहन ही नहीं किया, बल्कि उस प्रतिकूलता में स्वयं को जिम्मेदार मानते हुए किसी को भी दोषी नहीं ठहराया। चार मंगल, चार उत्तम, चार शरण में ही समर्पित रहे। हम सीखें उनसे और समझें उनके जीवन से, कि सुदर्शन सेठ ने वीतराग देव की आराधना की तो उसका परिणाम कितना सुखद और कितना सर्वजन हिताय रहा और दूसरी तरफ अर्जुन माली ने जिस सरागी देव की उपासना की, जिसकी फलश्रुति कितनी भयावह और त्रासदीपूर्ण रही यह आगम में स्पष्ट है। जरा देखिये तो सही **सुदर्शन सेठ की धर्मश्रद्धा जब सुदर्शन सेठ के सामने यक्षाविष्ट अर्जुन साक्षात् मौत बनकर सामने खड़ा था उस समय पूर्ण निर्भयता, धैर्य एवं समत्व की साधना के साथ श्रावकोचित करणीय कार्य में संलग्न रहा।** पर उस विषम परिस्थिति में वहाँ उसे माता-पिता के मना करने के बावजूद भी वह क्यों आया, उसे ऐसा कोई पश्चात्ताप का भाव नहीं था और न ही उसने प्रभु महावीर से प्रार्थना करते हुए यह दीनता दर्शायी थी कि हे भगवन्! आपकी सेवा में तो करोड़ों देवता आते हैं, एक देव को इधर भी सहायता के लिए भेजें और न उसने किसी सरागी देव से बोलावा बोली, न मनौती की, बल्कि अविचल भाव से आत्म-समाधि में स्थिर रहा। जिसका सुखद परिणाम आगम में स्पष्ट है। याद रखें ये सारे देवी-देवता स्वयं देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान के चरणों में झुकते हैं। हमारा सीधा सम्पर्क देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान से है, तो फिर इन सरागी देवों से सम्पर्क का क्या अर्थ? यह तो स्पष्ट है कि जब किसी का सीधा सम्पर्क प्रधानमन्त्री से हो तो फिर बीच के अफसरों से सम्पर्क का कोई मूल्य नहीं, कोई अर्थ नहीं। यह तो आपका और हमारा सौभाग्य रहा है कि हमें देवाधिदेव तीर्थंकर की शरण मिली है। उनका मार्गदर्शन मिला है और उन्हीं के शासन में जीने का मौका मिला है। क्या अब भी हम

सरागी देवताओं की मनौती कर संसार को बढ़ाते रहेंगे, जन्म-मरण करते रहेंगे। सरागी देवताओं की भक्ति करने से केवल संसार बढ़ता है, कारण कि कल्पना करें इधर आपका पुण्य उदय और उधर देव के निमित से आपका धन-धान्य की वृद्धि आदि कार्य हो गया। आप अनुभव करें धनासक्ति से जीव की क्या गति होती है? आप अच्छे से समझ सकते हैं, तो फिर ऐसे देव की आराधना करने से हमको क्या मिला? केवल संसार बढ़ा और जीव दुर्गति का अधिकारी बना। ध्यान रखें देवता मात्र निमित्त हैं, शेष तो जीव का स्वयं का उपादान ही है। सारा खेल स्वकृत पाप और पुण्य का है। कब तक धनादि में लुब्ध बनकर आसक्त बनकर और और पाने की इच्छा पालकर इन सरागी देवताओं की आराधना करते रहेंगे? जहाँ तक समाधान का प्रश्न है भगवान के इस अमर वाक्य को याद रखें 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' किये गये कर्मों को जब तक भोग नहीं लेते तब तक मुक्ति नहीं, अर्थात् कर्म अपना प्रभाव दिखाकर रहेंगे। क्या ही अच्छा हो कि हम एकमात्र वीतराग देव की उपासना करें, जिससे वह मार्ग मिलता है वह समझ मिलती है, वह समाधान मिलता है कि भविष्य में फिर कभी समस्या का सामना करना ही न पड़े। तो साथ ही प्रतिकूलता में समत्व की साधना से व्यक्ति कर्मों की स्थिति और अनुभाग को घटा भी सकता है और सदा के लिए भविष्य में समाधान भी पा सकता है।

कई बार लोग ऐसा भी कहते हैं कि महाराज साहब कुछ तो देवी-देवताओं में है तभी तो लाखों लोग मनाते हैं, जाते हैं, तो समाधान यह है कि जो कुछ मिलता है वह हमारी पुण्यवानी के अनुसार मिलता है। दूसरी ओर उनका निमित्त मानने पर हमारा मिथ्यात्व पुष्ट होता है। परिणामस्वरूप वह आत्मा भविष्य में दुर्लभ बोधि बनकर भव भ्रमण बढ़ाकर और ज्यादा दु:खों को आमन्त्रित कर लेगी। अब देखो हम गये तो थे समाधान लेने मगर अन्ततः परिणाम कितना घातक बन जाता है कि यह भी सुनने को मिलता है कि यदि कुल देवता अथवा कुल देवी को नहीं मानोगे, पूजा अर्चना नहीं करोगे तो वे अनिष्ट भी कर सकते हैं। ऐसा कहने वाले नहीं जानते कि कुल देव या देवी हैं तो क्या वे अपनी सन्तान का कभी अनिष्ट करेंगे? कदापि नहीं। माता का पुत्र या सन्तान के प्रति वात्सल्य तो जग जाहिर है तो फिर क्यों डरना, क्यों भय रखना। यदि व्यक्ति पूर्ण निर्भयता, अहिंसक भाव और जीवमात्र के प्रति मंगल, मैत्री रखता है तो कहावत प्रसिद्ध है 'आप भला तो जग भला' अर्थात् इस लोक परलोक में परम शान्ति, प्रसन्नता का जीवन व्यतीत कर लेता है। जरा दो मिनट के लिए सोचें ये मुस्लिम समाज के लोग एक अल्लाह के अलावा कहीं सिर नहीं झुकाते, न किसी अन्य देवी-देवताओं की बन्दगी करते हैं। क्या हम उनसे भी गये गुजरे हैं, क्या हम उनसे भी नासमझ हैं और भी देखें रामस्नेही परम्परा में उनका अनुयायी राम नाम की डोरी गले में धारण करने के बाद सिर्फ और सिर्फ वहीं एकनिष्ठ होकर समर्पित रहता है और भी सोचें विदेशों में विदेशी लोग कौन से देवी-देवताओं को मनाते हैं, कौन-सी वहाँ लक्ष्मी की पूजा करते हैं।

ये धारणा ही गलत है कि लक्ष्मी की पूजा से धन मिलता है, यदि ऐसा है तो विदेशों में सारे लोग भीखमंगे ही होने चाहिए। जबकि ऐसा नहीं है सारा खेल स्वकृत पुण्य और पाप का है। कहते हैं एक हाथी एक मालिक के आश्रित रहता है तो भरपेट भोजन पाता है, मगर गली में घूमने वाला श्वान अनेक घरों से आस रखता है, फिर भी भूखा ही रह जाता है। बात को स्पष्ट करने की जरूरत ही नहीं। आप मेरा इशारा समझ ही गये होंगे, तो साथ ही यह भी ध्यान रखें हमारा मस्तक उत्तम अङ्ग है। यह उत्तम अङ्ग उन्हीं के चरणों में झुकता है जहाँ वीतरागता है, शुद्ध संयम है, हमारा मस्तक कोई नारियल नहीं कि जहाँ गये वहीं गुड़का दिया। तो आइये हम संकल्प करें, हम प्रियधर्मी के साथ दृढ़धर्मी बनकर रहेंगे और शुद्ध जैनत्व का परिचय देंगे।

सम्यक्त्व की स्थिरता को लेकर भगवान का स्पष्ट निर्देश है कि यदि परपाखण्डी की प्रशंसा की हो अथवा परपाखण्डी का परिचय किया हो तो वह भी सम्यक्त्व का एक अतिचार है। इसके अतिरिक्त आचाराङ्गसूत्र में प्रभु ने फरमाया **'अलं बालस्स संगेणं'** (आचाराङ्गसूत्र 2/2) अर्थात् अज्ञानी जनों से साधक दूर ही रहे। जो अन्य मतावलम्बी हैं, अन्य तीर्थिक हैं वहाँ साधक भूलकर भी संसर्ग और सम्पर्क-परिचय नहीं करें। यह कोई एकान्तवाद या कट्टरवाद को बढ़ाने वाली बात नहीं है। यह तो सिद्धान्त प्रियता है साथ ही सम्यकत्व की सुरक्षा का कवच है। कई बार पढ़े-लिखे अच्छे-अच्छे समझदार कहलाने वाले लोग भी अन्य मतावलम्बियों के धर्म-दर्शन को सुनकर, पढ़कर प्रभावित हो जाते हैं और श्रेष्ठ जिनधर्म से दूर तक हो जाते हैं और उन्हीं के अनुयायी बन जाते हैं। ऐसे किस्से आज भी सुनने को मिलते हैं कि अमुक लोगों ने अमुक जगह ईसाई धर्म से प्रभावित होकर उन्हीं के धर्म को स्वीकार कर लिया। इतिहास प्रसिद्ध घटना है कि उपमितिभवप्रपञ्च के रचनाकार सिद्धर्षि भी बौद्धधर्म का अध्ययन करते कई बार फिसल गये। यह अलग बात है कि गुरु ने उन्हें पुन: सम्भालकर जिन मत में स्थिर कर दिया। जरा सोचें जैनधर्म का प्रकाण्ड विद्वान् जो जिनधर्म का रचा-पचा सिद्धर्षि जैसा साधक भी चलायमान हो सकता है, तो सामान्य लोगों की क्या बात करें। इसीलिए प्रभु ने जगह-जगह सम्यक्त्व की स्थिरता को लेकर पाठ पढ़ाया। साथ ही प्रभु ने **'तमेव सच्चं निस्संक जं जिणेहिं पवेइयं'** एकमात्र जिनवाणी ही सत्य है, तथ्य है जिनवाणी के अतिरिक्त **'सेसे अणट्ठे।'** कई लोग तर्क देते हुए कहते हैं कि हमें तो कहीं से कोई विशेषता अथवा गुण मिले तो ले लेना, इसमें क्या बुराई है। ऐसी तर्कणा रखने वाले अपेक्षाकृत बात ठीक कहते हैं, लेकिन अभी हम इतने दृढ़धर्मी नहीं कि अपने धर्म में एकान्त स्थिर रह सके। पूर्वों का ज्ञान रखने वाले साधक भी एकान्त जिनधर्म में स्थिर नहीं रह सकें और निह्नव तक बन गये और विधर्मी बन गये। जब पूर्वों का ज्ञान रखने वाले साधको का यह हश्र हो सकता है तो हम उनके सामने क्या मूल्य रखते हैं? हमें तो सिर्फ और सिर्फ एकान्त शुद्ध, सत्य स्थानकवासी परम्परा में ही निष्ठा, श्रद्धा, विश्वास, उपासना करनी है और उसी के मार्गदर्शन में जीना है, मरना है। क्योंकि इसी परम्परा में साधना से सिद्धि तक का रहस्य रहा हुआ है। फिर क्यों बाहर में ताक-झाँक करना, क्यों गुणदृष्टि का बहाना बनाकर चञ्चल बनना, क्यों अन्य परम्परा की तारीफ कर अपने धर्म का मूल्यांकन कम करना और क्यों ऐसा कर और अन्य लोगों को भी चञ्चल बनाना। एकमात्र जिनमत में परम विश्वास रखने वाला साधक आराधक तक बन सकता है। अब बोलो आराधकता से बढ़कर और क्या बड़ी उपलब्धि हो सकती है। यह सारी चर्चा करने के पीछे हमारी कोई अन्य परम्पराओं की बुराई दिखाने की भावना नहीं है। मगर जहाँ हम जीते हैं साधना में रमते हैं, वहीं पर हमें सब कुछ मिल रहा है तो हमारी एकनिष्ठ एकान्त श्रद्धा भी झलकनी चाहिए। उववाईसूत्र में वर्णित अंबड संन्यासी के 700 शिष्य जिन्होंने जिनमत के अनुसार दृढ़ता से आराधना की। संकट की घड़ी में भी संथारा लेना स्वीकार किया, मगर अपने व्रत में अड़िग रहे, परिणामस्वरूप सभी पाँचवें देवलोक के अधिकारी बनें और परभव के आराधक बने। मैं चर्चा कर रहा था आपसे कि हमारे देव का और शुद्ध धर्म का स्वरूप क्या हो? तो सार संक्षिप्त रूप में **यही बात उभर कर आती है कि वीतराग देव ही हमारे सच्चे देव हैं और उनका बताया मार्ग ही शुद्ध सत्य धर्म तत्त्व है।**

सुदेव और धर्म तत्त्व को समझ लेने के बाद उनकी आराधना कैसी हो, भक्ति का स्वरूप कैसा हो? इस सन्दर्भ में भी चर्चा कर लेते हैं। तो यहाँ गुरु हस्ती का एक अमर वाक्य याद आता है। **'आचरण ही भक्ति का सक्रिय रूप है।'** भक्ति, उपासना, आराधना केवल यही नहीं कि माला फेर लेना, प्रार्थना कर लेना, बल्कि इन सबके साथ हमारा आचरण भी अच्छा, ऊँचा और

आदर्श होना चाहिए। यही सार्थक भक्ति का स्वरूप है। एक बात अच्छे से समझ लेना कि व्यक्ति सांसारिक देवों की उपासना किसलिए करता है? मात्र कामना पूर्ति के लिए ही तो, मगर याद रखें वहाँ कामना पूर्ति पर प्रश्न चिह्न है, मगर मैं यहाँ जोर देकर आराम से कह सकता हूँ कि **जो व्यक्ति जिन देव की प्रार्थना के साथ अच्छे आचरण का परिचय देता है तो द्रव्य और भाव दोनों तरफ से लाभान्वित होता है। अर्थात् समाधान में भी जीता है और भविष्य को भी सुखद बना लेता है।**

आगम के अन्दर धर्मदृढ़ता के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उन्हीं में उपासकदशाङ्गसूत्र में पौषधरत कामदेव श्रावक के सामने पौषधशाला में देव ने लोमहर्षक परीषह उपसर्ग दिये। मगर वे अविचल भाव में रहे। परिणामस्वरूप **स्वयं प्रभु महावीर ने साधु-साध्वियों के सामने उनकी धर्मदृढ़ता की प्रशंसा करते हुए प्रेरणा दी, कि जब गृही जीवन में रहने वाला श्रावक भी देव परीक्षा में इतनी दृढ़ता का परिचय देता है जो साधु-साध्वियों के लिए तो विशेष दृढ़ता अनिवार्य है** अर्थात् कामदेव श्रावक साधु-साध्वियों के लिए भी उदाहरण बन कर प्रसिद्ध हो गये।

यही सच्ची भक्ति और यही सच्ची उपासना है कि हम एक सुदेव, सुगुरु, सुधर्म में अचल आस्था रखते हुए समर्पित रहें और उनकी आज्ञा आराधना तथा उनके बताये मार्गदर्शन में बढ़ते रहें, जीते रहें। अर्थात् **संवेदनशीलता, निर्भयता, कारुण्यभाव, सेवा, प्रेम, संयम के संस्कारों से स्वयं को समृद्ध करें। इसी का नाम सुदेव भक्ति है, और यही भक्ति, यही शुद्धाचरण का पक्ष स्व-परहिताय, स्व-परसुखाय साधन बनता है।**

स्वयं प्रभु महावीर ने सम्यक्त्व पुष्टि के आठ अङ्गों में एक अङ्ग बताया-स्वधर्मी वात्सल्य भाव और साथ ही यह भी समझना है कि प्रेम, करुणा, संवेदनशीलता, स्वधर्मि-वात्सल्य और जीवमात्र से मंगलमय मैत्री। ये भी किसी मन्त्र, मनौती, बोलावा से कम नहीं हैं। मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि आप सांसारिक हैं, आवश्यकताओं से जुड़े हुए हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि हम जिन आज्ञा के विपरीत आचरण करें और चमत्कार के नाम पर सांसारिक देवी-देवताओं के चक्कर में पड़ें। विश्वास रखें जो प्रेम, करुणा और नि:स्वार्थ सेवा, स्वधर्मी वात्सल्य से जुड़ा हुआ है तो कहते हैं, जैसे गेहूँ के बोने से गेहूँ होते हैं तो साथ में सहज ही उपयोगी घास भी उत्पन्न हो जाती है, ठीक इसी तरह उपर्युक्त गुणों से पुण्य की वृद्धि और शुभ कर्मों के प्रभाव से बुद्धि की निर्मलता बढ़ती है। जिससे जीव आत्महित को समझकर धर्म में प्रवृत्त होता है और एक दिन परीत संसारी एवं आराधक तक भी बन सकता है तो तद् भव में सहज घास की उपलब्धि की तरह सांसारिक उपलब्धि भी सम्भव है अर्थात् वह कारुण्यभाव और मंगल मैत्री दोहरे लाभ से जोड़ता है। ध्यान रहे सुख बाँटने से बढ़ता है, किसी ने कितना सुन्दर कहा है- 'जीव से प्रेम करो, जड़ का सदुपयोग करो।' हमें चमत्कार की दृष्टि से नहीं करना, मगर निष्ठा से किया गया सत्कर्म अवश्य समाधान देता है; तो फिर क्यों मन्त्र, मनौती, बोलावा आदि में उलझकर मिथ्या मान्यता को बढ़ाना। मेरा आपसे निवेदन है एक बार आप उत्तराध्ययनसूत्र के 28वें अध्ययन में वर्णित सम्यक्त्व संवर्धन के आठ अङ्ग देखें, उन्हें पढ़े, समझें और आचरित करें। मैं समझता हूँ **आप सभी शुद्ध जिन देव के प्रति आस्था रखते हुए उनकी आज्ञाओं का पालन करेंगे, तो अवश्य इहभविक परभविक स्थायी समाधान प्राप्त करेंगे।** भजन की भक्ति के साथ बात को विराम देता हूँ।

'दुनिया में देव अनेकों हैं,
अरिहंत देव का क्या कहना।
उनके आश्रय का क्या कहना,
उनके अतिशय का क्या कहना ।।
दुनिया में.....'

❋

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 80
ISSN 2249-2011

चर्चा

व्यक्ति एवं समाज-सुधार का उपाय : जैन जीवनशैली

तत्त्वचिन्तक श्रद्धेय श्री प्रमोदमुनिजी म.सा.

तत्त्वचिन्तक श्रद्धेय श्री प्रमोदमुनिजी म.सा. से महावीर नगर जयपुर के सामायिक-स्वाध्याय भवन में 21 एवं 23 सितम्बर, 2020 को जैन जीवनशैली पर की गई चर्चा का संवादात्मक स्वरूप। -सम्पादक

सम्पादक–भन्ते! जीवन क्या है?

मुनिश्री–पढ़ने को मिला था 'जन्म और मृत्यु रूपी दो तटों के बीच में बहने वाली सरिता, मुक्तिरूपी महासागर से मिलने को लालायित।'

सम्पादक–वाह! क्या सुन्दर परिभाषा दी, जन्म से प्रारम्भ होने वाला जीवन, पर क्या जन्म पर हमारा अधिकार है?

मुनिश्री–वह हमारे पूर्वकृत पर और उसमें भी पूर्व जन्म के जीवन पर ही तो अवलम्बित है।

सम्पादक–यदि पूर्वकृत पर ही यह जीवन अवलम्बित रहा तो, इसमें पुरुषार्थ गौण हो जाएगा?

मुनिश्री–नहीं, पूर्वकृत पुरुषार्थ ही वर्तमान का भाग्य है। स्वार्थ रहित सद्पुरुषार्थ सौभाग्य है, पुण्य है और स्वार्थयुक्त या असद् पुरुषार्थ दुर्भाग्य है, पाप है। जन्म से यह जीवन प्रारम्भ होता है, पर जन्म, पूर्व जीवन का फल है, इस प्रकार जन्म से यह जीवन और जीवन से जन्म यह शृङ्खला अनादिकाल से धाराप्रवाह के रूप में चली आ रही है।

सम्पादक–अनादिकाल से यह शृङ्खला चली आ रही है और चलती ही रहेगी?

मुनिश्री–हाँ, जब तक जीवन जीने का तरीका नहीं आएगा, मरने का तरीका नहीं आएगा, तब तक जन्म होता ही रहेगा। जन्म होगा तो मरण भी होता ही रहेगा। जन्म-मरण की शृङ्खला को बीच का जीवन ही तोड़ सकता है।

सम्पादक– क्या बात कही? जीवन जन्म-मरण की शृङ्खला को जोड़ता है, यह तो आपने अभी-अभी बताया ही था और अभी आप फरमा रहे हैं कि वही जीवन जन्म-मरण की शृङ्खला को तोड़ सकता है।

मुनिश्री–हाँ भैया! जो जीवन केवल जीने के लिए होता है, जीतने के लिए नहीं होता वह शृङ्खला जोड़ता है और जो जीवन जीतने के लिए जीया जाता है वह शृङ्खला तोड़कर जीत उपलब्ध कराने वाला बन जाता है।

सम्पादक–जीतने का जीवन किसका होता है?

मुनिश्री–जयति इति जिनः, जीतने वाला जिन होता है। विद्यमान राग की निवृत्ति करता हुआ जो नवीन राग उत्पन्न नहीं करता, वही राग-द्वेष पर विजय मिला सकता है और '**रागद्वेषजेतृत्वाद् जिनः**', राग-द्वेष को जीतने वाला होने से ही वह जिन कहलाता है। शरीर में रहते हुए जो शरीर को अपने में नहीं रहने देता, वही इस विजय को उपलब्ध कर सकता है। शरीर निर्दोषता की व्यापकता में आवरण है। शरीर का बलिदान निर्दोषता की अन्तिम पूजा है। शरीर से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रखना ही त्याग है।

सम्पादक–महाराज श्री! आपने फरमाया कि- शरीर से लेशमात्र सम्बन्ध नहीं रखना त्याग है, क्या शरीर में रहते ऐसा सम्भव है?

मुनिश्री–उत्तराध्ययनसूत्र के उदाहरणों से इसे समझ सकते हैं। मृगापुत्रजी का ही उदाहरण लें एवं उत्तराध्ययनसूत्र के 19वें अध्याय की गाथा 13 से 16 तक देखें-क्या शरीर का खाका खींचा है-1. यह शरीर अनित्य है। 2. यह शरीर अशुचिमय है। 3. यह शरीर अशुचि से पैदा हुआ है, अशुचि को उत्पन्न करता है। 4.

इसमें अशाश्वत निवास है। 5. यह दु:ख और क्लेश का भाजन है। इससे आगे इसे व्याधि और रोग का आलय बताया और मृगापुत्र कह रहा–एक क्षण भी इसमें आनन्द नहीं मिल रहा।

मृगापुत्र ही नहीं, आगम के सुनहरे पृष्ठों पर चमकने वाले प्रत्येक महापुरुष के जीवन में काया की ममता भेदज्ञान की पैनी धार से टूटी हुई मिलेगी।

सम्पादक–वाह! वाह!!

ममता से सन्ताप उठाया, आज हुआ विश्वास।
भेदज्ञान की पैनी धार से, काट दिया भव पाश।।

मुनिश्री–हाँ, इसी को शास्त्रकार निम्ममो, निरहंकारो, निस्संगो से सूचित कर रहे हैं। इन्हीं जीतने वालों को 'जिन' कहते हैं। इनका आचरण सर्वश्रेष्ठ होता है, सर्वोपरि होता है, आदर्श होता है। 'जिन' का जीवन ही उस जीवन की परिभाषा को चरितार्थ करता है–जन्म और मृत्यु रूपी तट के बीच प्रवाहित होने वाली सरिता, मुक्ति रूपी महासागर में समाविष्ट होने को उत्सुक–

सागर में जलधार समावे,
त्यूँ शिवपद में ज्योति मिलावे।
होवे गज उद्धार, अचल है निज अधिकारो।।
समझो चेतन जी अपना रूप यो अवसर मत हारो..।

सम्पादक–महाराज श्री! 'जिन' बनना तो सबके बस की बात थोड़े ही है?

मुनिश्री–प्रत्येक जीव 'जिन' बन सकता है। जिसको इस सत्य पर, इस तथ्य पर भरोसा होता है, उसी का जीवन, उसी का वास्तविक जीवन प्रारम्भ हुआ है। 'जिन' को अपना देवता मानें, 'जिन' को अपना आराध्य मानें, 'जिन' को अपना साध्य मानें और 'जिन' को अपना लक्ष्य मानें, वही तो जैन कहलाता है। जैन का जीवन कैसा होगा? जैसा 'जिन' का जीवन है, जैसा जिनेन्द्र द्वारा दिग्दर्शित जीवन है।

सम्पादक–तो क्या जैन जीवनशैली के लिए 'जिन' पर आस्था होना अनिवार्य है?

मुनिश्री–अरे भइया! शैली तो आगे की बात है, जैन बनने के लिए जिन पर आस्था होना अनिवार्य है।

'आस्था से वास्ता होने पर,
रास्ता स्वयं अनुशास्ता बन जाता है।'

श्रद्धा, आस्था, विश्वास से ही जीवन का प्रारम्भ होता है। अपने द्वारा अपने लक्ष्य का निर्णय वास्तविक सर्वप्रथम पुरुषार्थ है। 'पूर्व चलने के बटोही, बाट की पहचान कर ले।'

सम्पादक–पर इस लक्ष्य का निर्णय होगा कैसे?

मुनिश्री–लक्ष्य सीखा नहीं जा सकता, सिखाया नहीं जा सकता। वह तो प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। निज विवेक के प्रकाश में अपने द्वारा ही अपने लक्ष्य का निर्णय होता है। एक प्रश्न पूछना होता है अपने आप से– 'आप क्या नहीं चाहते? आप ही नहीं, कोई भी मानव कभी भी कहीं पर भी नहीं चाहता।'

सम्पादक–भन्ते! इसमें कौनसी बड़ी बात है, कोई दु:ख नहीं चाहता, अशान्ति नहीं चाहता, भय नहीं चाहता, चिन्ता नहीं चाहता, पराधीनता नहीं चाहता– पता नहीं कितनी ही बातें हो सकती हैं। ये तो सब जानते हैं, इससे लक्ष्य का निर्णय कैसे होगा?

मुनिश्री–इसी में सत्य छिपा है। दु:ख नहीं चाहता तो हमारा लक्ष्य हुआ न दु:खमुक्ति। दु:खों से पूरी तरह छुटकारा सम्भव है क्या? तब खोज शुरु होती है ग्रन्थों से, सन्तों से, पन्थों से और मिलता है सत्य। हाँ, हाँ, दु:खमुक्ति सम्भव है। शरीर से जो मुक्त है वह दु:खों से मुक्त है और लक्ष्य पर, साध्य पर विश्वास होता है। दु:खमुक्ति सम्भव है और 'जिन' ही दु:खों से मुक्त हो सकते हैं।

अभी थोड़ा और गहराई से देखना होगा। दु:ख कोई भी नहीं चाहता, पर फिर भी दु:खमुक्ति का लक्ष्य क्यों नहीं बन पाता? दु:ख अर्थात् असाता, असाता नहीं चाहना एक बात हुई, फिर चाहता क्या है? साता, तो साता की कामना, सुख–लोलुपता, साता की आसक्ति इन सब के द्वारा दु:खों से छुटकारा हो जायेगा–ये सर्व

साधारण की धारणा रहती है, विरले ही इससे छुटकारा पा पाते हैं। सुख-लोलुपता पराधीनता का मूर्तिमंत चित्र है। इतना ही नहीं, यही सुख-लोलुपता अनेक दु:खों का आह्वान है। तुलसीदास जी ने कहा-'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।'

सम्पादक-गुरुवर! पराधीनता में सुख नहीं है, सभी तो स्वाधीनता चाहते हैं।

मुनिश्री-पराश्रय, परिश्रम, पर की अधीनता-यही दु:ख का कारण बन जाती है।

सम्पादक-क्या परिश्रम भी दु:ख का कारण बन जाता है?

मुनिश्री-हाँ, भैया! पर से सुख की आशा में जो भी श्रम, परिश्रम होगा वह पर की गुलामी बढ़ाने वाला ही होगा। उसे भगवान ने सूत्रकृताङ्ग के आठवें अध्ययन में 'कर्म वीर्य' कहा है, प्रमाद कहा है।

पर से पराभूत होना, पराजित होना, अनादिकाल से चली आ रही दु:ख-परम्परा का कारण है। इस शृङ्खला को जड़ मूल से उखाड़ने वाले ही 'जिन' बनते हैं और उन जिनों पर दृष्टि स्थिर करने वाले, अमूढ़ दृष्टि ही जैन, सच्चे जैन, भाव जैन कहलाते हैं।

सम्पादक-तो आपके अनुसार दृष्टि की अमूढ़ता से जैन का जीवन प्रारम्भ होता है।

मुनिश्री-आगमकार उसे ही जैन कहते हैं-**'जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेन्ति भावेणं।'** जिनवचनों पर जो अनुरक्त है और जिनवचनों को जो भावपूर्वक आचरित करता है वह जैन है, उसके जीवन की पद्धति-शैली ही जैन जीवन शैली है।

सम्पादक-भन्ते! आपकी दृष्टि में सामान्य जीवन शैली से इस जैन जीवनशैली में क्या विशेषता प्राप्त होती है?

मुनिश्री-प्रत्येक प्राणी कुछ न कुछ जानता है, कुछ न कुछ मानता भी है और करता भी है। जानना, मानना और करना, इन तीनों में सामञ्जस्य होने पर जीवन उन्नति की दिशा में अग्रसर होता है, उसी का नाम है जीतने की जीवनशैली, जीतने वालों की जीवनशैली, जैन जीवनशैली।

इन तीनों में जब सामञ्जस्य नहीं रहता तब-तब जीव का पतन होता है और वह रीति, वह पद्धति, वह आचरण सामान्य शैली है, जन जीवनशैली है।

सम्पादक-इन तीनों का पूर्ण सामञ्जस्य यथाख्यात चारित्र के पहले कैसे सम्भव है?

मुनिश्री-बिल्कुल ठीक कहा आपने। राग-द्वेष के कारण ही जानकारी के अनुरूप आचरण नहीं हो पाता, तब तक विशुद्ध जीवन शैली नहीं हो पाती। ग्यारहवें गुणस्थान वाला 'उपशान्त जिन' कहलाता है और बारहवें-तेरहवें गुणस्थान वाला 'क्षीण जिन' होता है। सयोगी अवस्था तक कुछ न कुछ प्रवृत्ति होती ही है वही 'जिन' की जीवन शैली है। चौदहवें गुणस्थान वाला तो शैलेश, इस शैली का, शील का ईश बन जाता है। आदर्श जीवन जिन का ही है, उसी पर दृष्टि एकाग्र कर जीने का प्रयास प्रत्येक साधक करता है।

सम्पादक-भन्ते! उसका प्रारम्भ कैसे हो?

मुनिश्री-जाने हुए का आदर, सुने हुए में आस्था और मिले हुए का सदुपयोग यह प्राथमिक चरण है। यद्यपि आन्तरिक रूप से इन तीनों में परस्पर सम्बद्धता है, तथापि स्थूल दृष्टि से, बाहरी दृष्टि से प्रारम्भ में किसी की प्रधानता रह सकती है। एक ज्ञान आराधना है, दूसरी दर्शन आराधना, तीसरी चारित्र आराधना, पर प्रारम्भ में दस रुचियों के द्वारा शुरुआत की बात कह दी गई, जिसे पूर्वाचार्यों ने मार्गानुसारी के 35 बोल के नाम से प्रस्तुत कर दिया। जैन जीवनशैली का प्रारम्भ होता है-मार्गानुसारी के 35 बोलों से। जिसे हम सामान्य रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं सप्तकुव्यसन के त्याग से और नवकार के जाप से।

सम्पादक-भन्ते! गुरुदेव की याद दिला दी आपने। हमने जब सम्यक्त्व का पाठ पढ़ा था, गुरु आमना ली थी, तब उन्होंने यही तो फरमाया था 'यूँ तो आप जन्म से जैन हैं, जैन कुल में जन्मने से जैन हैं, पर मैं

आज आपको संस्कार के द्वारा जैन बना रहा हूँ।'

मुनिश्री–संस्कार से जैन बनना ही तो जैन जीवनशैली का सूत्रपात है। सप्तकुव्यसन के त्याग में आहार शुद्धि होती है, विहार शुद्धि होती है, परिणामस्वरूप आचार शुद्धि होती है और विचार शुद्धि होती है तो जैन जीवन जीने के लिए 4 शुद्धि की आवश्यकता है–

1. आहार शुद्धि, 2. आचार शुद्धि, 3. विहार शुद्धि और 4. विचार शुद्धि।

इन सबका प्रारम्भ होता है, उस सम्यक्त्व सूत्र से। विशेष रूप से दुर्गति में पहुँचाए, दु:ख में डाले सो व्यसन। व्यसन–मुक्ति जैन जीवनशैली के लिए अनिवार्य है। व्यसन का सेवन पराधीनता का मार्ग है, हारने का मार्ग है, दु:खों को न्यौता देना है। गुरुदेव इस पर बहुत जोर देते थे। पाण्डव चरित्र में उन्होंने ही पढ़ाया था–

''द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या,
पापर्द्धि चौर्यं परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके,
घोरातिघोरं नरकं नयन्ति।।''

1. जुआ 2. मांस 3. सुरा 4. वेश्या 5. शिकार 6. चोरी 7. परदार सेवन। ये लोक में सात व्यसन हैं जो घोरातिघोर नरक में ले जाते हैं।

सम्पादक–भन्ते! क्या आगमों में इनका कथन नहीं हुआ?

मुनिश्री–अवश्य हुआ है। विविध स्थलों पर विविध–विविध तरीकों से ये देखने को मिलते ही हैं।

(क) ज्ञाताधर्मकथा अध्ययन 2 विजय नामक तस्कर–**जूयप्पसंगी, मज्जप्पसंगी, भोज्जप्पसंगी, मंसप्पसंगी, दारुणे, हिययदारए, साहसिए संधिच्छेयए।** अर्थात् विजय नामक चोर द्यूत में आसक्त था, लोगों के हृदय को विदारण कर देने वाला, साहसी अर्थात् परिणाम का विचार न करके कार्य करने वाला, सेन्ध लगाने वाला।

ख) ज्ञाताधर्मकथा अध्ययन 18 चिलात दासचेट–**मज्जप्पसंगी, चोज्जप्पसंगी, मंसप्पसंगी, जूयप्पसंगी, वेसप्पसंगी, परदासप्पसंगी जाए यावि होत्था।** अर्थात् चिलात दासचेट मदिरापान में आसक्त, चोरी करने में आसक्त, मांसभक्षण में आसक्त, जुआ में आसक्त, वेश्यासक्त तथा पर स्त्रियों में भी लम्पट हो गया और भी इनके विशेषण देखे जाएँ तो रौद्र रस दृष्टिगोचर हो जाता है, अधर्म हैं ये सब।

सम्पादक–पर गुरुदेव! आज तो मद्य के विषय में बहुत ही अन्यथा सुनने को मिल रहा है। रुचिशील इसमें छूट चाहते हैं।

मुनिश्री–नहीं भैया! नशा नाश का द्वार है। द्वारिका के विनाश का प्राथमिक कारण अरिहन्त अरिष्टनेमि ने वासुदेव श्री कृष्ण जी को **'सुरा'** (अन्तगड 5/1) ही तो बताया था। श्रद्धेय जयमुनि जी के शब्दों में कहें तो–

"Wine is in, wit is out. The bar room is a bank. You deposit your money & lose it. Deposit your time & lose it. Deposit your manly independence and lose it. Deposit your character and lose it. Deposit your home comfort & lose it. Deposit your self control and lose it. Deposit your children's happiness and lose it. Deposit your soul and lose it."

आचार्य हरिभद्र जी ने मद्यपान करने वालों के 16 दोष बताए हैं–

वैरूप्यं व्याधिपिण्ड: स्वजनपरिभव: कार्यकालातिपातो।
विद्वेषो ज्ञाननाश: स्मृतिमतिहरणं विप्रयोगश्च सद्भि:।।
पारुष्यं नीचसेवा कुल-बल-विलयो धर्मकामार्थहानि:।
कष्टं वै षोडशैते निरुपचयकरा मद्यपानस्य दोषा:।।

1. शरीर विद्रूप होना 2. शरीर विविध रोगों का आश्रय स्थल होना। 3. परिवार से तिरस्कृत होना 4. समय पर कार्य करने की क्षमता न रहना 5. अन्तर्मानस में द्वेष पैदा होना 6. ज्ञानतन्तुओं का खोखला हो जाना 7. स्मृति का लोप हो जाना 8. बुद्धि भ्रष्ट होना 9. सज्जनों से सम्पर्क समाप्त हो जाना 10. वाणी में कठोरता आना

11. नीच कुलोत्पन्न व्यक्तियों से सम्पर्क 12. कुलहीनता 13. शक्तिह्रास 14. धर्म 15. अर्थ 16. काम–तीनों का नाश होना।

जिससे इतना नुकसान होता है, फिर उसकी छूट दी ही कैसे जा सकती है।

सम्पादक–मदिरा तो आज कुछ लोगों में फैशन की पर्याय बन चुकी है। उनकी दृष्टि में जो इसे नहीं पीते वे पिछड़े समझे जाते हैं।

मुनिश्री–

जो गिलासों में डूबे न उबरे ज़िन्दग़ानी में।
लाखों घर डूब गए बन्द बोतलों के पानी में।।

सुनते हैं पूर्व में जब खाँसी के सीरप, पीने की दवाएँ प्रचलन में नहीं थीं, राजपूतों के रावलों में ठाकुर लोगों के पास ब्राण्डी मिलती थी। माँ ने बच्चे को ठिकाने भेजा–कटोरी लेकर बच्चा गया। ठाकुर सा ने चम्मच भर ब्राण्डी डाल दी। बच्चा बोला–इतनी सी ब्राण्डी से क्या होगा? खाँसी कैसे खलकेगी? (समाप्त होगी)?

ठाकुर सा बोले–इसमें तो हमारे राज खलक गए, खाँसी क्यों नहीं खलकेगी। राजाओं के राज चले गए, ठाकुरों की ठकुराई चली गई। व्यसनों में उलझ गए तो सेठों की सेठाई कौनसी रहेगी?

आचार्य विनोबा भावे से कभी किसी ने पूछा–जैन समाज इतना समृद्ध क्यों है? विनोबा जी ने कहा–इस धर्म के अनुयायियों में व्यसन नहीं हैं, इसलिए समृद्धि है। उदयसिंहजी ने उदयपुर बसाया था। उनके अग्रज भाइयों को बनवीर ने मौत के घाट कैसे उतारा? पढ़े कोई इतिहास को। शराब के व्यसन में डूबे उन राजपूतों को बनवीर ने छक कर शराब पिलाई और कत्लेआम मचा दिया। इस व्यसन ने सदा से ही कोहराम मचाया है।

सम्पादक–गुरुदेव! इससे बचने का रास्ता क्या हो सकता है?

मुनिश्री–भगवान पर आस्था, भगवान द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर दृढ़ता से चलने का निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। यू–टर्न शिविर वाले अपने शिविरों में इस तरह के व्यसनों के दुष्परिणाम सजीव रूप से दर्शाते हैं। विश्व प्रसिद्ध संस्था जिसके सदस्य शराब छोड़ने वाले होते हैं, उनके अनुभवों से लाभान्वित करवाते हैं। धार्मिक पाठशालाओं में प्रारम्भ से ही प्रशिक्षण के साथ, वर्तमान युग में कोरोना के सन्त्रास से भयाक्रान्त समाज को ऐसी त्रासदी के कारणों–पूर्वकृत पाप, व्यसनों के सेवन आदि को प्रभावशाली तरीकों से प्रस्तुत कर प्रेरित करना हितकारी है।

सम्पादक–भन्ते! आधुनिक युग में मदिरा से बढ़कर कितनी ही नशीली दवाइयाँ भी आ चुकी हैं।

मुनिश्री–हाँ, सुना है ड्रग्स के बारे में भी। भाँग, गाँजा, सुल्फा, चरस, अफीम के नशे को पीछे छोड़ती हुई हेरोइन, ब्राउन शुगर और न जाने क्या–क्या? हुक्का बार भी इस नशे से जुड़ी दुकान है। पतन के रास्ते तो जीव अनादिकाल से गिरता ही आया है। पूर्व के सत्कृत के सुफल से मानव का भव मिलता है, पर मानवता अर्थात् जैन जीवनशैली के अभाव में पुन: उसी गर्त में जा पड़ता है।

सम्पादक–लोगों का कहना है, मांस खाने में हिंसा है, इस नशे में कौनसी हिंसा है?

मुनिश्री–आत्मगुणों की हत्या सबसे बडी हिंसा है। आपको पता है न कर्म कितने हैं?

सम्पादक–आठ हैं।

मुनिश्री–अच्छा! यह भी पता है और बताइए इनमें राजा किसे कहा जाता है?

सम्पादक–हाँ, मोहनीय कर्म को कर्मों का राजा कहा जाता है।

मुनिश्री–यह भी बताओ, कर्म प्रकृति में इस मोह को किसकी उपमा दी गयी?

सम्पादक–मदिरा पीया हुआ व्यक्ति स्व–पर का भान भूल जाता है उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से जीव हित–अहित/अपने–पराए का भान भूल जाता है वह मोहनीय कर्म है, ऐसा कर्मग्रन्थ आदि का वर्णन स्मरण में है।

मुनिश्री–तब भइया! ज्ञानियों ने जिसे फरमाया उससे बड़ा क्या प्रमाण है? इसलिए हमने चर्चा के प्रारम्भ में देख लिया, भगवान पर भरोसा, जिन पर आस्था रखने वाला ही दु:ख विनाशक जीवन जी सकता है। आनन्द की जीवन शैली, परमानन्द प्रकट करने की जीवन शैली है– जैन जीवनशैली।

किन्तु मोह अन्दर के सुख का, आत्मानन्द का भान भुलाता है, इसलिए वह भयंकर है। मदिरा तो बेभान करने में अग्रणी है, फिर ये ड्रग्स आत्मा के साथ शरीर को भी खोखला कर देती है, अपराध भावना पैदा कर देती है, मानवता की हत्या कर देती है। अच्छे से अच्छा खाना खाने पर जितना खर्चा नहीं आता, उससे 10 गुना–20 गुना खर्चा एक बार के नशे में हो जाता है।

सम्पादक–गुरुवर! अन्य व्यसनों पर भी कुछ प्रकाश डालियेगा।

मुनिश्री–द्यूत–जुआ। युधिष्ठिर महाराज का राज्य और द्रौपदी का दावँ महाभारत में सुना ही होगा।

सम्पादक–सुना ही नहीं, बी.आर. चौपड़ा के महाभारत के सीरियल को तो लोगों ने प्रत्यक्ष देखा भी है।

मुनिश्री–अच्छा! तब तो अच्छी तरह समझ में आ ही सकता है। आए दिन समाचार पत्रों के आत्महत्या के समाचार में यह जुआ भी प्रधान कारण बनता है।

क्रिकेट के मैच पर सट्टा, चुनावी हार–जीत पर सट्टा, वर्षा के होने पर सट्टा, आगे सुना एन.सी.डी.एक्स., कसीनो हाउस और भी अनेकानेक तौर तरीके जिसमें शारीरिक श्रम, कला, बौद्धिक श्रम बिना, पैसों की हार जीत केवल किसी आकस्मिक घटना परिस्थिति पर निर्भर करती हो, जुआ है। विविध लॉटरियों को भी इसी में समझना चाहिए।

सम्पादक–लॉटरी, हाऊजी आदि भी क्या जुआ के अन्तर्गत आते हैं?

मुनिश्री–हाँ, केवल भाग्य भरोसे जिसकी प्राप्ति होती हो, वह जुआ में आ जाता है। डिब्बा, नम्बर, लॉटरी और भी अनेकानेक रूप में टिकट के 1–2 रुपये या 100–1000 रुपये लगाओ और लाखों को जीतने तक की सम्भावना में आ जाओ। दान नहीं, प्रोत्साहन नहीं, वृष्टि नहीं, कुछ निवेश कर अनिश्चित लाभ पाने की आशा जुआ है।

सम्पादक–भन्ते! अनीति से कमाया पैसा भी इसी में आ जाता है?

मुनिश्री–हाँ, हमारे महर्षियों ने इस पर बहुत जोर दिया है। मार्गानुसारी के सबसे पहले बोल में ही बताया 'न्याय सम्पन्न विभव।' अन्याय से उपार्जित वित्त कभी भी समाधि दे ही नहीं सकता। नीति में भी कहा गया है–

अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते तु एकादशे वर्षे समूलं हि विनश्यति।।

सम्पादक–किन्तु नीति के वचन कहाँ लुप्त हो गये?

मुनिश्री–हाँ भइया! लाभ से लोभ प्रवर्धित होता है। टॉलस्टाय की विश्व प्रसिद्ध कहानी तो पढ़ी ही होगी 'कितनी जमीन।' सूर्यास्त पूर्व तक जमीन नाप कर मुफ्त में प्राप्ति की लालसा से लोभ लालच से उस सूर्यास्त के साथ अपने जीवन रूपी सूर्य को अस्त कर बैठा, आखिर कब्र के लिए 3.5 हाथ जमीन ही काम आई। अन्याय, अनीति से कमाना मानवता के लिए कलंक है। डॉक्टर, वकील की फीस में ही पैसा पूरा हो जाता है।

सम्पादक–क्या कोरोना जैसी त्रासदी, जिसमें कमाई (उपार्जन) के साधन घट रहे हैं, उस समय आवश्यकता पूर्ति के लिए भी इसका पालन सम्भव है?

मुनिश्री–यहाँ दो उदाहरण निवेदन करना आवश्यक है–

1) आचार्य भगवन्त के सान्निध्य में नागौर जिले में विहार चल रहा था। 17 मार्च, 1996 की घटना है। गाँव के ठाकुर साहब कह रहे थे– महाराज साहब! यहाँ मारवाड़ में कुएँ बहुत गहरे होते हैं, पानी भी कम ही होता है। पर आपको एक बात बताऊँ–जहाँ पानी अधिक होता है, वहाँ 2–3 लोटा पानी पीने पर भी प्यास नहीं

बुझेगी, यहाँ एक लोटे में वह काम हो जायेगा, प्यास बुझ जाएगी। जो जितना गहरा होता है वह उतना अधिक गुण वाला होता है।

2) मदनगंज के आर. के. कम्युनिटी सेन्टर में ध्यान-शिविर सम्पन्न हुए। वहाँ का कोई भी कर्मचारी किसी से भी पुरस्कार नहीं लेता। कार्यकर्त्ताओं ने अनुनय विनयपूर्वक देने का प्रयास किया तो बोले-हमें सेठ (श्री अशोक जी पाटनी) के हाथ से जो मिलता है, उसमें बरकत रहती है, हम ईनाम नहीं ले सकते।

ये दोनों तो जीवन में घटी हुई घटनाएँ हैं। न्यूयॉर्क के स्टेट बैंक का दृष्टान्त भी पढ़ने को मिला। लोम्यू जोन नामक कैशियर के काउण्टर पर लम्बी लाइन है ग्राहकों की और दूसरे काउण्टर खाली पड़े हैं। दूसरे काउण्टर पर जल्दी पैसा मिल सकता है, पर लोग लम्बा इन्तज़ार करके भी पैसा उसी से लेना चाहते हैं। मैनेजर साहब रोज देखते हैं इस आश्चर्य को और कई दिनों से प्रश्न चल रहा था। आज कुछ खोज़ने का विशेष मन हुआ, बुलाया एक ग्राहक को, पूछा- क्यों भाई दूसरे काउण्टर से पैसा जल्दी मिल सकता है, फिर भी आप लाइन में खड़े हो? सर, पिछली बार कुछ गलत काम करने का मन हुआ, पैसा लेने आया, पर हाथ में पैसा आते ही मन बदल गया, मैं बच गया, पैसा भी बच गया, इसलिए पैसा तो इन्हीं से लूँगा। दूसरे को बुलाकर भी पूछ लिया-साहब। इनके हाथ से पैसा लेने से घर में बरकत रहती है, आराम से गुजारा हो जाता है। तीसरा भी यही बात कह रहा है, चौथी भी अपनी बात बता रहा है। रीता हैबर्ट करके महिला बताने लगी-मैं पैसा लेकर अपने प्रेमी के साथ भागने वाली थी। पति के साथ लम्बे समय से विवाद चल रहा था। पैसा हाथ आया, पता नहीं क्या हुआ, प्रेमी धोखा देगा तो? पैसा वापस जमा कराया, विचार बदले, पति के प्रति अविश्वास टूटा, समाधान हुआ, शान्ति हो गई। मैनेजर के समझ में नहीं आ रहा था। यह काला जादू (ब्लैक जादू) करता है या कुछ और, बुलाया लोम्यू जोन को। लोम्यू कहने लगा-साहब! भगवान पर भरोसा रखता हूँ, जीवन नेक नीयत से जीता हूँ और कोई जादू टोना नहीं जानता हूँ। केवल रुपये हाथ पर रखते हुए पूरी भावना से भावना देता हूँ-"God bless you" और सच में भगवान की मदद मिल जाती है।

ये उदाहरण प्रेरणा देते हैं कि न्याय-नीति से अर्जित सामग्री अल्प होने पर भी अधिक सन्तुष्टि प्रदान करती है। राजनीति में, सरकारी नौकरी में, समाज में कहीं भी देख लो, ऐसे ईमानदारों, न्याय-नीति से चलने वालों के प्रति कितना अहोभाव रहता है, उनके लिए दिल में कितना सम्मान रहता है।

सम्पादक-भन्ते! शेयर, म्युचुअल फण्ड (Mutual Fund) के विषय में आपके क्या विचार हैं?

मुनिश्री-युग के अनुसार व्यवसाय, व्यापार में परिवर्तन होता रहता है। शिक्षा प्राप्त कर व्यक्ति नये-नये उपक्रम भी प्रारम्भ करता है। जैन का जीवन केवल शरीर की पूर्ति की सोच तक सीमित नहीं रहता। स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर की स्वस्थता भी अनिवार्य है। चिन्ता, तनाव, खिंचाव से शुगर, बी.पी. डायबिटीज, थायरॉइड के साथ कितने रोग पैदा होते हैं। इन सबसे छुटकारे की जीवन-पद्धति पर विचार चल रहा है। मांस, शराब आदि हिंसात्मक व्यापारों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी प्रकार का योगदान नहीं होना चाहिए। अनैतिक कार्यों के लिए भागीदारी नहीं करनी है। इस छोटे से जीवन में भी शान्ति नहीं मिलेगी। भव-भव में दु:ख उठाना होगा, भटकना पड़ेगा। कितने ही नवीन क्षेत्र खुल जाएँ, साधक को चकाचौंध से बचकर अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखते हुए साधना से समाधि प्राप्त करनी होगी।

सम्पादक-वेश्यागमन एवं परस्त्रीगमन को भी व्यसन माना गया है, इनमें परस्पर क्या अन्तर है?

मुनिश्री-एक सशुल्क है, दूसरा नि:शुल्क। एक किसी की नहीं है, दूसरी किसी की है। एक के भीतर में पैसे का आकर्षण है, दूसरे में समाकर्षण है। एक सार्वजनिक है, दूसरी निजी है। एक सरकारी पञ्जीकृत है

अथवा गैर-कानूनी व्यवसायरत है, दूसरी अनधिकृत पापरत है। एक के पास अनाथता है, वो अपहृता या समाज त्यक्ता है, दूसरी सनाथता सहित भी अनाथता जैसी ही है। एक का ना जाने कितनों से सम्बन्ध जुड़ा है, फिर भी उसका कोई नहीं है, दूसरे में ऐसा नहीं है।

सम्पादक–क्या इन दोनों में पाप में भी अन्तर है?

मुनिश्री–एकान्त नहीं कहा जा सकता। वैसे दोनों पाप का पिटारा हैं, दु:ख और दौर्भाग्य का नज़ारा है, महापुरुषों ने इन दोनों को नकारा है। भारतीय संस्कृति ने इन दोनों को तिरस्कारा है। जैन जीवन जीने वाले को दोनों से सतत बचना ही है।

सम्पादक–आज के युग में नई पीढ़ी आनन्द (Enjoy) करने की मनोवृत्ति वाली है। वह आनन्द के लिए कुछ भी पाप करने को तैयार है।

मुनिश्री–लव कैमिस्ट्री नामक पुस्तक में एक दृष्टान्त दो वर्ष पूर्व बिजयनगर चौमासे में पढ़ा-शर्म से अत्यन्त पीड़ा हुई। वह दृष्टान्त-माता-पिता की पसन्द ही श्रेष्ठ है, स्वीकारो...प्यारी बहिनों! शीर्षक से है।

उस दृष्टान्त को सम्पादक द्वारा उद्धृत किया जा रहा है। मैंने एम.बी.ए. किया। जॉब मिल गया। जॉब करते हुए कम्पनी में एक स्मार्ट बॉयफ्रेण्ड बन गया। मैंने मम्मी-पापा को बिना बताए विवाह कर लिया। कोर्ट मैरिज के कागज एवं अग्नि के फेरे लेते हुए फोटो मम्मी-पापा को भेज दिए। पापा ने फोन पर मेरे से सदा-सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। अब मैं अपने दु:ख-दर्द किसको शेयर करूँ? 4 वर्ष हो गए अन्दर ही अन्दर घुट रही हूँ। दूसरी बात कि मेरे पति अपने 10 मित्रों के साथ सण्डे एन्जॉय करते हैं और सभी मित्र अपनी-अपनी गाड़ी में अपनी पत्नी को लेकर आते हैं फिर सभी अपनी-अपनी गाड़ी की चाबी को एक साथ उछालते हैं जिसके हाथ में चाबी आ जाती है वह उस गाड़ी को लेकर उसमें बैठी स्त्री के साथ एन्जॉय करता है, और जो चाहता वह करता है। मेरे ऐसे संस्कार नहीं हैं, किन्तु अब मैं क्या करूँ? इसलिए माता-पिता की पसन्द ही हमारे जीवन की श्रेष्ठ सौगात है, जिसे हमें स्वीकार करना चाहिए। एक बुरी बहन, मुम्बई

यह घोर अन्धकार की बात है। कितनी शर्मसार है यह बात।

कच्चे सूत के धागे से चालनी बाँधकर, कुएँ से पानी खींचा गया और उस पानी को छिड़ककर चम्पा द्वार खोला गया। उस सती सुभद्रा के इस देश में, जहाँ अग्नि की ज्वाला को शीतल जल में रूपान्तरित कर दिया गया। उस सती सीता के इस देश में, जहाँ जौहर की ज्वाला में प्राणों की आहुति दे दी गयी और आज भी जहाँ अखण्ड ब्रह्मचारिणी साध्वियाँ, शीलवन्ती पतिव्रता नारियाँ अपने धर्म पर दृढ़ हैं वहाँ पश्चिमी सभ्यता के आलिङ्गन के स्वप्न में, नारी स्वातन्त्र्य के झूठे नारे लगाने वाले वासना की आड़ में संस्कृति को चीर-चीर करने पर एन्जॉय के नाम पर जो कर रहे हैं, इससे उनमें अशान्ति के साथ भीषण तनाव पैदा हो ही रहा है, आगे के लिए भी घोर दु:खों को निमन्त्रित किया जा रहा है।

सम्पादक–समाज इन दोषों से किस प्रकार बचें?

मुनिश्री–बाबूसा श्रीचन्द जी गोलच्छा से कभी पूछा था-'बाबूसा इस पतन पर रुकावट कब आयेगी?' समाज कब सुधरेगा?

बाबूसा ने फरमाया था-'कृपा सिन्धो! समाज के गाल पर जब तक एक ज़ोरदार तमाचा नहीं पड़ेगा तब तक समाज सुधरने वाला नहीं है।'

शायद यह कोरोना एक तमाचा है, शायद समाज को सुधरने का समय आया है। जैन जीवन शैली अपनाने से सुधार अवश्यम्भावी है। अभी तो मात्र प्राथमिक चर्चा ही हो पाई है, व्यसन पर भी पूरी चर्चा नहीं हो पायी है। आज का अवसर इतना ही है।

सम्पादक–भन्ते! बहुत-बहुत आभार! फिर जैसा भी अवसर होगा।

आगे प्रारम्भिक शैली से लेकर उत्कृष्ट शैली वीतरागता तक समझ कर पाठकों तक पहुँचाने का भाव रहेगा। ❖

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 88
ISSN 2249-2011

जिज्ञासा-समाधान

'दया पालो' एवं दया-पौषध की संस्कृति में निहित मर्म

तत्त्वचिन्तक श्रद्धेय श्री प्रमोदमुनिजी म.सा.

महावीर नगर, जयपुर के सामायिक-स्वाध्याय भवन में विराजित श्रद्धेय श्री प्रमोदमुनिजी म.सा. से 13 एवं 15 सितम्बर, 2020 को 'दया पालो' एवं 'दयाव्रत' की जैन संस्कृति पर गहन चर्चा हुई, जो यहाँ पर जिज्ञासा-समाधान के रूप में प्रस्तुत है।

-सम्पादक

जिज्ञासा–भंते! हमारी संस्कृति 'दया पालो' की संस्कृति है। साधु-साध्वियों के दर्शन करने जाते हैं तो स्थानकवासी परम्परा में सन्त-सती कहते हैं- 'दया पालो।' आगम में एवं इतिहास में दया के सम्बन्ध में क्या कहा गया है?

समाधान–उत्तराध्ययनसूत्र के 21वें अध्ययन की 13वीं गाथा में कहा है-'**सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकम्पा**' सारे जीवों पर दया और अनुकम्पा करने वाला ही खंती (क्षमा) आदि धर्म का पालन कर सकता है। वही 17 प्रकार का संयम पाल सकता है और ब्रह्मचर्य व्रती बन सकता है। दशवैकालिकसूत्र के 9.1.13 में कहा है-'**लज्जा-दया-संजम-बंभचेरं, कल्लाणभागिस्स विसोहि-ठाणं।**' इस गाथा में लज्जा, दया, संयम एवं ब्रह्मचर्य को विशुद्धि स्थान कहा है। अन्यत्र भी कहा है-

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
दया सुखां री बेलड़ी, दया सुखां री खान।
अनन्त जीव मुगते गया, दया तणों फल जाण।।

कीड़ियों की दया के लिए धर्मरुचि अणगार ने कड़वे तुम्बे को मुख में रख लिया, कुक्कुट की दया के लिए मेतार्यमुनि ने मौन व्रत धारण कर लिया, रानी पर दया के लिए सुदर्शन श्रमणोपासक शूली पर चढ़ गया, कीड़ी आदि पर दया के लिए चण्डकौशिक ने अपना मुख बिल के अन्दर डाल लिया आदि अनेक उदाहरण दया की पुष्टि में इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर सुशोभित हो रहे हैं।

अनुकम्पा सम्यग्दर्शन का लक्षण है, वही अनुकम्पा व्यवहार में दया के रूप में देखी जाती है, आन्तरिक लक्षण बाहर के व्यवहार से प्रकट होता है-

औरों के दुःख को दुःख समझूँ, सुख का करूँ उपाय।
अपने सब दुःखों को सहलूँ, पर दुःख सहा न जाय।।
दयामय ऐसी मति हो जाए।

जिज्ञासा–स्थानकवासी परम्परा में 'दया' का विशेष महत्त्व क्यों है? 'दया पालो' का क्या मर्म है?

समाधान–स्थानकवासी परम्परा इसी दया के दिव्य धरातल पर खड़ी हुई परम्परा है। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा के ताण्डव से लोंकाशाहजी ने क्रान्ति का बिगुल बजाया था, जब चौमासे में भी संघ निकलते थे। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा को भी धर्म माना जाता था। उस समय शास्त्र के भण्डार को लगने वाली दीमक के कारण पुनः लिखवाने की प्रक्रिया में जब दशवैकालिक की प्रथम गाथा आँखों के समक्ष आयी-

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।।

तब वे अन्दर से हिल उठे। भगवान की वाणी तो कह रही है, जहाँ आरम्भ है वहाँ दया नहीं है और आज के ये यति क्या कह रहे हैं, कि धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा, हिंसा नहीं है। इसी दया को हमारे पुरुषों ने 8 भागों में विभक्त किया है-1. द्रव्य दया 2. भाव दया 3. निश्चय दया 4. व्यवहार दया 5. स्वदया 6. परदया 7. स्वरूप दया 8.अनुबन्ध दया।

इनका विवेचन तीन जागरणा के थोकड़े में

निरूपित है। आत्मधर्म, व्यवहारधर्म सब कुछ समा जाता है इन आठ प्रकार की दया में। खुद को पाप से छुड़ाना, अपने आप पर अनुकम्पा करके बन्धन से मुक्ति की दिशा में आगे बढ़ाना-निश्चय दया, स्वदया, भाव दया आदि के क्षेत्र को स्पर्श करते हैं तो बाहर में प्राणिरक्षा, करुणा, मैत्री आदि व्यवहार दया, परदया, द्रव्यदया आदि में सम्मिलित होते हैं। इस तरह व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्थानकवासी सन्त-सती वन्दना करने वाले को संक्षेप में धर्म का सन्देश प्रदान करते हैं-दया पालो। स्थानकवासी परम्परा बहुलता से इसी शब्द को पंजाबी, गुजराती भाषा में प्रयोग करती हुई श्रावकों को सम्बोधित करती है। पर की दया स्व की याद दिलाती है। पर से जैसे स्व विपरीत है, इसी प्रकार दया का विपरीत याद है।

ज्ञाताधर्मकथाङ्ग के प्रथम अध्याय में मेघकुमार के जीव के भव में पैर के नीचे खरगोश आया। पर की दया की, स्व की याद आ गई और वह सम्यग्दृष्टि हो गया। इसलिए स्थानकवासी के सम्बोधन 'दया पालो' में धर्म का मर्म छिपा हुआ है।

जिज्ञासा-प्याऊ खुलवाने, गाय को घास डालने आदि जो पुण्य के कार्य हैं, उनका निषेध करना कहाँ तक उचित है?

समाधान-सूत्रकृताङ्ग के 'मोक्षमार्ग' नामक 11वें अध्ययन में पूर्ण दया पालने वाले साधु को सुन्दर मार्गदर्शन प्रदान किया गया है। किसी श्रद्धालु ने आकर पूछा-'महाराज! पानी की प्याऊ खुलवाऊँ क्या?' महाराज चुप रहे। किसी ने पूछा गाय को घास डालूँ क्या? महाराज चुप रहे। उसके पश्चात् किसी ने आकर कहा-महाराज! पानी से स्नान करूँ क्या?' महाराज ने प्रेरणा फरमायी-जीवों का वध करना अच्छा नहीं है। स्नान का त्याग कर सको तो बेहतर है।

किसी ने कहा-'महाराज! आज बाजार से विपुल मात्रा में हरी सब्जी लाकर उसका छेदन-भेदन करूँगा, उसको सुधारूँगा।' महाराज ने उसे भी प्रेरणा प्रदान की, हिंसा के पाप से रोका एवं दर्शक (श्रोता) इन चारों व्यक्तियों के प्रसंग को देख रहा था, सुन रहा था। उसने पूछा, कि प्याऊ खुलवाने में भी पानी के जीवों की हिंसा होगी, घास डालने में भी हिंसा होगी, उसमें आपने निषेध क्यों नहीं किया। महाराज ने फरमाया-हमको भगवान ने ऐसी चीजों का निषेध करने का निषेध कर रखा है।

अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक अपने विवेक से स्वयं की हिंसा घटाते हुए भी जीव-रक्षण के कर्म में तत्पर रहते हैं। एक-एक श्रावक के दस-दस हजार से अस्सी-अस्सी हजार तक की गायों का वर्णन उपासकदशांग में मिलता है। आठवें श्रावक महाशतक जी के तो स्वयं की 80 हजार, रेवती की शेष 12 पत्नियों की 10-10 हजार गायें थीं। कुल 2 लाख 80 हजार गायों का वर्णन आता है।

यदि श्रावक को गाय को घास खिलाने का निषेध होता तो भगवान अवश्य ही इन श्रावकों को विवेक प्रदान करते। भगवान तो स्वयं दीक्षा लेने के पूर्व एक करोड़ आठ लाख सोनैया प्रतिदिन एक वर्ष तक दान करते ही हैं। इसमें किसी भी तीर्थंकर में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

राजप्रश्नीय सूत्र में केशी कुमार श्रावक ने प्रदेशी राजा को कहा था-राजन्! रमणीक होकर पीछे अरमणीक मत बन जाना। वहाँ स्पष्ट उदाहरण दिया गया-कोई वन रमणीक है तो वह बहुत से पशु-पक्षियों का आश्रय है। यदि वही वन अरमणीक बन जाएगा तो उन जीवों का आश्रय समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार राजन्! इस जिनमार्ग को अपनाकर अहिंसा धर्म का पालन करते हुए कहीं तू उन जीवों के लिए अनाश्रय न बन जाए, इसका ध्यान रखना। प्रदेशी ने कहा-ऐसा कभी नहीं होगा, अब मैं अपने राज्य की आय का एक भाग यानी 25 प्रतिशत हिस्सा दानशाला के लिए नियत कर दूँगा। परोपकार की वृत्ति, व्यावहारिक दया, लौकिक दया श्रावक के धरातल पर किसी भी महापुरुष ने हेय नहीं बतलायी है। इसलिए हम प्याऊ का अथवा घास डालने का निषेध नहीं कर सकते।

सन्त अपनी मर्यादा के अन्तर्गत अपनी मर्यादा की सीमा रेखा में भाव दया के साथ द्रव्य दया भी पालते ही हैं। ध्यानसाधक सिद्धान्तशाला के प्राचार्य गुरुजी लोढ़ा साहब सुन्दर फरमाते थे-दु:ख से बचाना सामान्य अनुकम्पा है, दु:ख के मूल दोष से बचाना अनन्त अनुकम्पा है। जैन सन्तों में अनन्त अनुकम्पा होती है।

जिज्ञासा-व्यवहार दया में कहीं हिंसा होती है, इसलिए क्या दया त्याज्य है?

समाधान-द्रव्य दया, व्यवहार दया एवं परदया भी स्वदया, निश्चय दया, भावदया में पहुँचाने वाली बन सकती है। स्वदया वाला तो परदया पालता ही है, भावदया वाले से द्रव्यदया होती ही है और निश्चय दया के साथ व्यवहार दया की नियमा है। जिन भगवान के उपदेशों से हम इन तथ्यों को पाते हैं, उन भगवान का जीवन हमारे सामने आदर्श उपस्थित करता ही है। उन्हीं भगवान ने हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं होने तक अर्थात् घर में रहने वाले अल्पारम्भी, अल्प परिग्रही को व्यावहारिक स्तर की दया का कहीं भी निषेध नहीं किया है। गीतार्थ गुरु भगवन्त फरमाते हैं- सन्त के पास आकर किसी श्रावक ने नियम माँगे-महाराज! उठने-बैठने में हिंसा होती है, इसलिए मुझे सन्तों के समक्ष उठ-बैठकर वन्दना करने का त्याग करा दीजिए। महाराज उसे सम्पूर्ण उठने-बैठने का त्याग करा सकते हैं, पर पाप के कार्य में उठना-बैठना खुला रहे एवं धर्म क्षेत्र में बन्द कर दें, ऐसा त्याग नहीं करा सकते।

दूसरे भक्त ने आकर महाराज से निवेदन किया-वाहन में बैठकर सन्तों के जाने का त्याग करा दीजिए। महाराज ने फरमाया-सम्पूर्ण वाहन का त्याग करा सकता हूँ, अमुक क्षेत्र के बाहर वाहन से नहीं जाए, यह त्याग करा सकता हूँ, पर पाप के क्षेत्र में वाहन खुला और धर्म के क्षेत्र में वाहन बन्द, ऐसा त्याग नहीं कराया जा सकता। तीसरे भक्त ने आकर निवेदन किया-अनुकम्पा करने योग्य प्राणियों को सचित्त दान, हरी घास और कच्चा पानी पिलाने का त्याग करा दीजिए। महाराज ने समझाया-ऐसा प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं है, खाने-पीने एवं हरी को छूने का त्याग कराया जा सकता है। किन्तु स्वयं के उपयोग के लिए खुला या अन्य पाप के लिए खुला और अनुकम्पा योग्य कबूतर, गाय आदि के लिए बन्द करना सुप्रत्याख्यान नहीं हो सकता। इससे भली-भाँति स्पष्ट है कि सचित्त का त्याग और आरम्भ का त्याग करने वाला भावदया के सुदृढ़ आधार पर मुक्ति रूपी महल का निर्माण कर सकता है, किन्तु जो अभी पूरी तरह भावदया नहीं पाल सकता, उसके लिए द्रव्यदया का विशेष महत्त्व है।

जिज्ञासा-भंते! 'दया पालो' से दयाव्रत का सम्बन्ध भी है क्या?

समाधान-हाँ, हाँ, 'दया पालो' में सारे व्रत-नियम भी समाविष्ट हो ही सकते हैं। भगवती सूत्र शतक 17 उद्देशक 2 में भगवान ने फरमाया-एक भी प्राणी के वध का त्याग करने वाला बाल नहीं, बाल पण्डित है। देशविरत गुणस्थान, सम्यग्दर्शन सहित हिंसा का अंशत: भी त्याग किया हुआ साधक अप्रत्याख्यानावरण के उदय से छुटकारा पा लेता है, अविरति की क्रिया से बच जाता है।

यह दया पालना मार्गानुसारिता में आता है। मोक्षमार्ग का अनुसरण इसी से प्रारम्भ होता है, जीव देशविरति में आता है, सर्वविरति में बीस बीसवाँ दया पलती है, पर इसकी पराकाष्ठा तो अयोगी केवली गुणस्थान में ही है, पूर्ण भाव दया, पूर्ण निश्चय दया, पूर्ण स्व दया- बस 5 लघु अक्षर की पूर्णता भव मुक्त करा देती है।

हाँ, दयाव्रत वर्तमान का व्यावहारिक पौषध व्रत। भगवतीसूत्र, शतक 12, उद्देशक 1 जिसका दिग्दर्शन कर रहा है-'**आसाएमाणा, विसाएमाणा, परिभाएमाणा, परिभुंजमाणा**' अर्थात् हम सभी उस अशन, पान, खादिम और स्वादिम का आस्वादन करते हुए, विशेष आस्वादन करते हुए, परस्पर देते हुए और खाते हुए, पाक्षिक पौषध का अनुपालन करते हुए रहेंगे। ऐसी पहले

चर्चा हुई, फिर तैयारी हुई। शंख जी ने कहा, पुष्पकली जी आदि ने तैयारी करवा कर प्रतीक्षा की, किन्तु शंख जी ने अधिक लाभ अर्जित करने की, अधिक हित साधने की आत्मिक प्रेरणा से आहार, शरीर, ब्रह्मचर्य और सावद्य व्यापार त्याग रूपी पौषध 5 प्रहर से अधिक समय का स्वीकार किया। दोनों पौषध में अन्तर आगम स्पष्ट कर ही रहा है। भ्रान्त धारणा नहीं पनपे, इसलिये व्याख्या साहित्य, धार्मिक क्रियाओं का दिग्दर्शन कराने वाला साहित्य हमें स्पष्ट कर रहा है–पूर्वाचार्यों ने, गीतार्थ गुरु भगवन्तों ने इस ग्यारहवें व्रत को श्रावक के तीसरे शिक्षाव्रत को पूर्ण और देश में विभक्त किया।

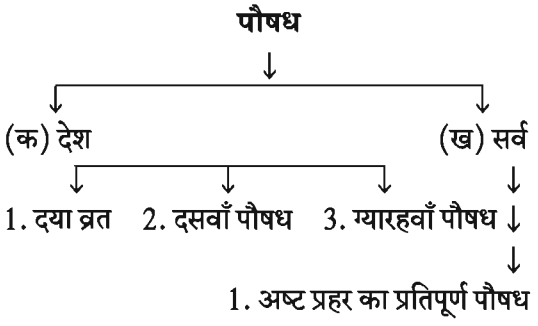

(क) देश पौषध में प्रतिपूर्णता नहीं होती है। काल की अपेक्षा 8 प्रहर से न्यूनता अथवा 8 प्रहर की दया होने पर चतुर्विध आहार का त्याग नहीं होने रूपी न्यूनता रहती है।

(1) दया व्रत–7 प्रहर या 8 प्रहर के लिए सावद्य योग का 2 करण 3 योग से अथवा 1 करण 3 योग से त्याग किया जाता है। इसे और भी सीमित करें तो न्यूनतम 1 करण 1 योग (काया से करने का) से त्याग करवाया जाता है। इसमें हिंसा का त्याग करता हुआ साधक खुले मुँह बोलता नहीं, परठने की भूमि पर परठने का विवेक रखता है। भोजन को, अचित्त द्रव्यों को यतना सहित ग्रहण करता है, सूर्यास्त पूर्व प्रतिलेखन करता है, रात्रि में पहले प्रहर में सोता नहीं। उभयकाल प्रतिक्रमण के साथ कम से कम 11 सामायिक करके धर्मकथा, स्वाध्याय और ध्यान में समय सार्थक करता है।

अस्तु, यह दया व्रत 'दया पालो' के अन्तर्गत समाविष्ट हो ही जाता है। साधुपने की मिठास से वह सीमित समय के लिए आप्लावित होता है।

इस दया व्रत में 11 सामायिक का लाभ तभी माना जा सकता है जब 2 करण 3 योग से पच्चक्खाण कर उपयोग रखा जाए। 11 सामायिक और कर लेने पर 22 सामायिक का लाभ हो जाता है।

(2) 4 प्रहर से अधिक का दसवाँ पौषध–चूँकि इस पौषध में पानी पीना, दिन में अचित्त जल का सेवन करना खुला रहता है, अत: इसे भी देश पौषध में सम्मिलित किया जाता है। सूर्यास्त से लगभग 1 घड़ी (अर्थात् 24 मिनिट) पूर्व तक प्रत्याख्यान करना और उभयकाल प्रतिक्रमण के साथ धर्म जागरणा करते हुए आत्मा का पोषण करना तथा दिन में तिविहारी उपवास के साथ यह पौषध होता है। प्रत्याख्यान में सावद्य योग का 4 प्रहर उपरान्त 2 करण 3 योग से त्याग किया जाता है। पौषध में प्रतिलेखना, पूँजना आदि कार्य प्रतिपूर्ण पौषधवत् ही करने होते हैं। अस्तु, इसको ग्यारहवें व्रत के पाठ से ही पारना होता है। अतिचारों का मिथ्यादुष्कृत दिया जाता है।

कतिपय परम्पराएँ इसे दसवें व्रत में मानती हैं, पर दसवें व्रत में पाप का त्याग अमुक क्षेत्र तथा अमुक द्रव्य के उपरान्त होता है, सर्वक्षेत्र, सर्वद्रव्य के सम्बन्ध में पाप का त्याग नहीं होता। दसवें व्रत के अतिचारों का पौषध व्रत में कोई सम्बन्ध ही नहीं जुड़ता। अस्तु, इसे ग्यारहवाँ व्रत मानना युक्ति–युक्त है। कतिपय परम्पराएँ इसमें 16 सामायिक मानती हैं। दिन का उपवास और रात्रि के 4 प्रहर का पौषध 25 सामायिक के तुल्य मानना अधिक युक्ति संगत है।

नोखामण्डी में सम्वत् 2012 ईस्वी सन् 1956 फरवरी मास में गीतार्थ गुरु भगवन्तों/महापुरुषों ने प्रायश्चित्त विधान आगम के सूत्रों को आगे रख युग की विवशता के सामञ्जस्य के साथ निर्धारित किया। श्रावकों के लिए पक्खी का प्रायश्चित्त 5 सामायिक, चौमासी का 1 चार प्रहर का पौषध (दसवाँ पौषध) और

संवत्सरी का 1 अष्ट प्रहरी या चार प्रहर का पौषध निर्धारित हुए, जो प्राय: अभी तक उसी रूप में मान्य किए जा रहे हैं। जो चार प्रहर के पौषध में 16 सामायिक मानते हैं वे उतना प्रायश्चित्त और जो 25 सामायिक मानते हैं वे उतनी फुटकर सामायिक या पौषध से प्रायश्चित्त उतारते हैं।

(3) ग्यारहवाँ पौषध–चौविहार उपवास के साथ कम से कम 5 प्रहर के लिए उपासना आराधना सहित आत्मा का पोषण करना ग्यारहवाँ पौषध है। इसमें अहोरात्रि (8 प्रहर) से कम का समय आत्म-पोषण में लग पाता है, इसलिए इसे भी देश पौषध ही कहते हैं। चौविहार है, पाँच प्रहर का पौषध है, लगभग 35 सामायिक का लाभ हो सकता है। पानी पीने की अपेक्षा पानी के त्याग में पुरुषार्थ विशेष लगता है। चार प्रहर में 25, आठ प्रहर में दुगुनी 51 तो चौविहार त्याग सहित 5 प्रहर में 35 सामायिक का लाभ अनुमानित किया जाना प्राय: प्राय: उचित ही है[1]

(ख) सर्व पौषध-प्रतिपूर्ण पौषध-अष्ट प्रहरी पौषध–जब भी अगले दिन सूर्यास्त पश्चात् आठ प्रहर का कालमान पूरा होवे तब तक का पौषध सर्वपौषध के अन्तर्गत आता है। चौविहारी उपवास के साथ ब्रह्मचर्य का नववाड़ सहित पालन, आत्मचिन्तन, स्वाध्याय, ध्यान द्वारा पोषण रूप धार्मिक कृत्य को अष्टप्रहरी पौषध कहते हैं। तपस्या के प्रसङ्ग में साधुओं की अनेक प्रकार की प्रतिमाओं का अधिकार आगमों में वर्णित हुआ है। उसी प्रकार श्रावकों की प्रतिमाओं में चौथी प्रतिमा पौषध प्रतिमा का विधान दशाश्रुतस्कन्ध में वर्णित हुआ। उत्तराध्ययन 5/23 **'पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए'** में दोनों पक्षों में पौषध करने का उल्लेख हुआ। पौषध प्रतिपूर्ण का ही विधान है। सांवत्सरिक प्रायश्चित्त 1 प्रतिपूर्ण पौषध का ही आता है। श्रावकों के द्वारा स्वीकृत व्रतों में इससे अनाभोगवश लगे दोषों की शुद्धि हो जाती है।

जिज्ञासा–भंते! 12 प्रहर का पौषध युक्तिसंगत है क्या?

समाधान–खाने-पीने के पश्चात् पौषध का विधान नहीं है। रात्रिकालीन संवर किया जाता है। अष्ट प्रहर पौषध को पौषध के अगले दिन सामायिक के काल तक, 1 मुहूर्त, 3 या 4 सामायिक के काल तक लगभग 1 प्रहर बढ़ाने की परम्परा चलती है। यद्यपि उस दिन तो पौषध नहीं है। शंखजी ने भगवान के दर्शन-वन्दन कर समवसरण से लौटने के पश्चात् पौषध पारने का विचार किया, जो प्राय: पौषध बढ़ाना ही है। वस्त्र पहनने के अतिरिक्त शेष विधानों का पालन करते हुए वे समवसरण में पधारे। खाने-पीने वाले दिन तो पौषध हुआ नहीं, पूर्व का पौषध किञ्चित् काल के लिए आगे बढ़ाया गया। इसी भाँति पौषध की पूर्व रात्रि में संवर के स्थान पर, प्रात:काल से प्रारम्भ होने वाले चौविहार उपवास को पूर्व सन्ध्या से लागू किया जा सकता है। प्राय: प्राय: सन्त-सतियाँ पूर्व दिवस के प्रतिक्रमण के समय उपवास आदि पच्चक्ख लेते हैं, उसी अनुरूप श्रावक भी उस दिन भोजन करने से उस दिन पौषध करने का अधिकारी नहीं होते हुए भी, अग्रिम दिवस के पौषध को पूर्व रात्रि से लागू कर लेता है। 51 सामायिक प्रतिपूर्ण पौषध के साथ इसमें पूर्व रात्रि 4 प्रहर के पौषध की कम से कम 5 सामायिक और उत्कृष्ट 7 सामायिक मानी जा सकती है। दया में 7 प्रहर की साधना में 11 सामायिक मानी जा रही है, रात्रिकालीन पौषध उस दया से सीमित ही प्रतीत होता है।

संख्यात्मक साधना में उलझने से अच्छा है, प्रत्येक साधना के हार्द को हृदयंगम कर उसकी शुद्ध आराधना की जाए। शिक्षाव्रत का अभिप्राय यही है- जिस का पुन: पुन: अभ्यास किया जाए, जो आत्मा के मूल गुणों को पोषित करे। दया धर्म आत्मपोषण का उपाय है, पौषध से आत्मा पोषित होती ही है।

जिज्ञासा–दयाव्रत में क्या समस्याएँ आती हैं एवं उनका क्या समाधान है?

समाधान–उपासकदशाङ्ग में वर्णित 10 श्रावकों का

जीवन इस ओर इंगित करता है, सभी श्रावक अपनी-अपनी पौषधशाला में पौषध, सामायिक, श्रावक की प्रतिमाएँ और संथारा इन सब धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं। कामदेव श्रमणोपासक के पौषध में देव परीक्षार्थ विविध रूप बनाकर उपस्थित हुआ, किन्तु आत्मपोषण रूपी पौषध में संलग्न श्रावक किञ्चित् भी विचलित नहीं हुआ। धर्मप्रज्ञप्ति का चिन्तन करते हुए कुण्डकोलिकजी के समक्ष देव उपस्थित हो गया। उसने विचलित करने के लिए चर्चा प्रारम्भ की, मंखलिपुत्र गोशालक के नियतिवाद को श्रेयस्कर बताया, भगवान महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति पुरुषार्थवाद को मिथ्या कहा, पर दृढ़ आस्था वाले विचक्षण विवेकी श्रावक कुण्डकोलिक जी ने उस देव को निरुत्तर कर दिया। उन्होंने सप्रमाण यह साबित कर दिया कि भगवान महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति जो उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार वाली है, वह श्रेयस्कर है। इन दोनों श्रावकों की स्वयं तीर्थंकर प्रभु महावीर ने प्रशंसा की। यह हमें संकेत कर रहा है कि दया और पौषध रूपी इन धार्मिक प्रवृत्तियों में पारस्परिक चर्चा, तत्त्वंजिज्ञासा, चिन्तन-मनन और ध्यान की गहराई से वे साधक निरन्तर आत्मा का पोषण करते रहते थे, आठवें श्रमणोपासक महाशतक जी के समक्ष पौषधशाला में स्वयं पत्नी का ही भीषण उपसर्ग उपस्थित हो गया। उनके घर में भी भीषण त्रासदी हुई थी। 13 में से 12 पत्नियाँ प्रमुख पत्नी रेवती द्वारा शस्त्र, विष प्रयोग आदि के द्वारा समाप्त करवायी जा चुकी थीं, एक ओर राजगृही में अमारी की घोषणा, दूसरी ओर रेवती का पीहर की गोशाला से दो बछड़ों को कटवाकर मँगवाना, पाँचों प्रकार की मदिरा को पीना और पौषध में विराजित श्रावक के समक्ष विविध काम चेष्टाओं को करना, कितना गहरा अभ्यास होगा उन श्रावक जी का? समता, निर्भयता, निश्चिन्तता और इनका परिणाम पूर्व, दक्षिण और पश्चिम तीन दिशाओं में आनन्द आदि श्रावकों को 500 योजन क्षेत्र पर्यन्त अवधिज्ञान हुआ, महाशतक जी को 1,000 योजन अवधिज्ञान हुआ।

आधुनिक युग की चर्चा करें। इस जिनवाणी को लोकप्रिय बनाने में, जन-जन तक पहुँचाने में जिन्होंने विशेष पुरुषार्थ किया, ऐसे देवराजजी भण्डारी जो बूँदी में सरकारी सेवा में कार्यरत थे, दया करके उपाश्रय में विराजित थे, बच्चे को साँप ने काट लिया, किन्तु श्रावक जी प्रियधर्मिता और दृढ़धर्मिता का परिचय देते हुए समतापूर्वक दयाव्रत की आराधना पूर्ण होने पर ही घर गए।

जयपुर संघ के अध्यक्ष आदर्श श्रमणोपासक तपस्वी श्री गुमानमलजी चोरडिया ने पौषध पच्चक्खा ही था, कि लाल भवन में सेवारत किसी कर्मचारी ने किसी कार्य से रुष्ट होकर उन पर झाड़ू फेंक दी, जिससे उनके शरीर पर आघात भी हुआ, किन्तु उन्होंने पूरी समता रखी, किसी प्रकार का कोई प्रतिकार नहीं किया, परिणामस्वरूप भूल का अहसास होने पर कर्मचारी ने कालान्तर में उनसे क्षमायाचना की। कषाय भी नहीं बढ़ा, कर्मचारी की नौकरी भी नहीं गई और समाधान भी निकल आया।

जिज्ञासा-भंते! आज दयाव्रत में विकृतियों ने प्रवेश ले लिया है। क्या यह सही है?

समाधान-भगवतीसूत्र शतक 12 उद्देशक 1 में शंख एवं पुष्कलि जी का अध्याय सुन्दर दिशाबोध कर रहा है। एक ओर पुष्कलीजी एवं अन्य श्रमणोपासक आहार को ग्रहण करते हुए भी रसना इन्द्रिय पर नियन्त्रण रखते हुए स्वाद में आसक्त हुए बिना समता से भोजन को ग्रहण कर पारस्परिक आलाप-संलाप, चर्चा-चिन्तन से तत्त्वज्ञान की अभिवृद्धि कर रहे हैं, धर्मध्यान में समय को व्यतीत कर रहे हैं, तो दूसरी और श्रमणोपासक शंख जी अकेले एकत्व भावना के साथ 'सुदक्खु' (सुदर्शना) जागरणा द्वारा समय को सार्थक कर रहे हैं। कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं। आज भी इन आदर्शों को जीवित रखने वाले श्रमणोपासक क्वचित् मिल ही सकते हैं। पर मोहनीय कर्म के उदय से किसी न किसी रूप में विकृतियों का प्रवेश हो ही जाता है। प्रवचन सुनकर

खाना खाने के बाद नींद आदि प्रमाद में लग जाते हैं, दोपहर की चाय, शाम का भोजन और व्यवस्था में थोड़ी सी भी कमी रह जाय तो अन्यथा भाव भी देखने को मिलता है। तेरी-मेरी चर्चा सामाजिक-राजनैतिक कथा वाले, इसमें ही बहुत सा समय व्यर्थ चला जाता है। इसलिए दया की आराधना-साधना प्रशंसा के स्थान पर निन्दात्मक बन जाती है। इन विकृतियों से बचना परमावश्यक है। सात्त्विक सुपाच्य आहार, ऊनोदरी रसपरित्याग सहित ग्रहण कर श्रमणोपासक सीखे हुए ज्ञान को चितारने में, तत्त्वचर्चा, चिन्तन और ध्यान करने में, भजन, धार्मिक अन्त्याक्षरी जैसी गतिविधियों में समय को सार्थक करता हुआ आत्मा का पोषण करे, जिज्ञासा का आराधन करे, तो यह दयाव्रत, यह पौषधव्रत अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकते हैं। आत्मा के लिए हितकारी हो सकते हैं।

जिज्ञासा–दयाव्रत, पौषध आदि में परठने की समस्या भी आती है। इसका क्या समाधान है?

समाधान–परठने की समस्या भी वर्तमान युग में मुँह बायें खड़ी है। इसमें तो श्रावकों का विवेक ही समाधान कर सकता है। डॉ. जीवराज जैन के सुझावों के अनुसार अनेक उपाश्रयों में अभी कोयले का चूरा बजरी के साथ में इस रूप में व्यवस्थित किया जाता है जो बहुत जल्दी शोषण की प्रक्रिया से लघुशंका की तरलता को सही प्रकार से सुखा देता है। पर्युषण में होने वाले सामूहिक दयाव्रत में तो परठने में दोष लगने की विशेष सम्भावना रहती है। उस समय को छोड़कर शेष अवसरों पर तो यदि श्रावक समाज उपाश्रय में विवेक रखे तो परठने में सुविधा रह सकती है। सड़कों पर परठने अथवा शासन की अवहेलना होने के प्रसंग में दयाव्रत की विधिवत् आराधना नहीं होने से बचने में ही सार है। चौविहार उपवास, अष्टप्रहर के पौषध में पानी का प्रयोग नहीं होने के कारण लघुशंका एवं परठने की समस्या से छुटकारा मिल सकता है और ज्ञान-ध्यान में अच्छा समय लग सकता है। सामायिक की साधना में समय को सार्थक करता हुआ साधक सामायिक पारने के पश्चात् क्षेत्रीय विवशता के कारण लघुशंका विसर्जन में मूत्राशय/बाथरूम आदि का प्रयोग कर पुनः सामायिक को पच्चक्ख सकता है और परठने की विवशता से धर्मक्रिया को छोड़ने की स्थिति भी नहीं आती है। खाने-पीने का संयम ही दीर्घशंका की समस्या से मुक्ति का अच्छा उपाय है। विवशता में विकल्प का पहले से विवेक कर लेना चाहिए। गरिष्ठ भोजन, तामसिक आहार, साधना के लिए हितकर होता ही नहीं है। अतः दयाव्रत में तो उनसे बचना अत्यन्त आवश्यक है।

विचार-बिन्दु

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.

- तीव्र कषायी, यहाँ और वहाँ, सर्वत्र दुःखी होते हैं।
- जब तक क्रोधादि कषायों की तीव्रता है, तब तक सन्मार्ग पर चरण नहीं बढ़ेंगे।
- बहुश्रुत एवं ज्ञानी बनने में पाँच महादोष हैं-अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य।
- किसी की हँसी मत कीजिये, किसी के दुर्गुण मत देखिये। किसी में चाहे सौ बुराइयाँ हों, फिर भी कोई न कोई गुण होगा ही।
- महापुरुषों के जीवन की यह खूबी है कि वे अवगुण को गुण में बदल कर बताते हैं।
- श्रद्धा के साथ विवेक होना आवश्यक है।
- सामायिक का सन्देश है अपने समान दूसरों को समझो।
- व्यक्ति सुधर जायेगा, समाज सुधर जायेगा, तो राष्ट्र सुधर जायेगा।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 95
ISSN 2249-2011

प्रवचन

जैन की जीवनशैली

श्रद्धेय श्री योगेशमुनिजी म.सा.

श्रद्धेय श्री योगेशमुनिजी म.सा. द्वारा दिनाङ्क 19 जून, 2013 को आदर्शनगर, सवाईमाधोपुर में फरमाये गये प्रवचन का संकलन श्री धर्मचन्द जी जैन, कुस्तला ने किया है। **-सम्पादक**

धर्मानुरागी बन्धुओं!

भारतीय संस्कृति में जैन संस्कृति का रूप सदा व्यापक और विस्तीर्ण रहा है। जैन संस्कृति की विशेषता है कि उसके द्वार सबके लिए खुले हैं। जैन संकीर्णता में नहीं विस्तीर्णता में विश्वास रखता है। जैन सम्प्रदाय को नहीं जैनत्व को महत्त्व देता है। जैन व्यक्ति विशेष पर नहीं, गुण विशेष पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। उसका विश्वास मात्र एक भगवान में ही नहीं, हर आत्मा को भगवान मानने में है। हर भक्त भगवान बन सकता है, हर जीव शिव बन सकता है। यह उसकी व्यापक और उदार विचारधारा है। जैन व्यक्ति सम्प्रदायों से नहीं पहचाना जाए, अपितु जैनत्व से पहचाना जाए।

जैनत्व क्या?

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र इन तीन तत्त्वों को महत्त्व देना और वैसा आचरण करना ही जैनत्व है। जैन कौम से नहीं, कर्तव्य और कर्म से पहचाना जाता है। जैन जाति से नहीं जीवन से मूल्यवान बनता है। जैन की जीवन शैली ऐसी होती है कि वह अल्प में अपना जीवन यापन करता है। वह अल्प आरम्भ, अल्प हिंसा एवं अल्प परिग्रह से युक्त होता है। इसलिए ''राह ऐसी हो कि किसी को दाह न हो।'' जैन भौतिकता की आँधी में भी अपने धर्म के, अध्यात्म के, संस्कृति के दीप को बुझने नहीं देता है। जैन अपने वैन (वाणी) और नैन (आँख) पर नियन्त्रण रखता है, और जो नियंत्रण रखता है उसे भगवान का निमन्त्रण प्राप्त होता है और जो अनियन्त्रित होता है उसे मौत का, बदनामी का आमन्त्रण मिलता है। अपनी वाणी और आँख पर नियन्त्रण रखने के कारण कुछ दशकों एवं सदियों पूर्व जैन श्रावक राजा-महाराजाओं के अन्तःपुर में बेरोकटोक जा सकते थे, कारण कि वे संयमित थे। **संयमित जीवन वाला पाप को अत्यल्प करने की विचारधारा रखता है।** जहाँ एक जग पानी से काम चलता है वहाँ वह आधा जग प्रयोग में लेता है। परन्तु आज हम चिन्तन करें कि अपनी जीवन शैली में जहाँ थोड़े से काम चलता है, वहाँ हम घड़े का प्रयोग क्यों करें? जैन घर में जन्म लेने मात्र से कोई जैनी नहीं होता। जैसे डॉक्टर के यहाँ जन्मा बच्चा डॉक्टर नहीं होता, कलक्टर के यहाँ जन्मा बालक कलक्टर नहीं होता, मिनिस्टर के यहाँ जन्मा पुत्र मिनिस्टर नहीं होता, वकील के यहाँ जन्मा वकील ही नहीं होता, उसे उसके लिए पुरुषार्थ और प्रयास करना होता है। इसी प्रकार जैनी भी जन्म से जैन नहीं होता, इसलिए प्रभु ने कहा-

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।।

-उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 25.33

तो कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और जैन बना जाता है, इसलिए कवि ने कहा है-

कभी प्यासे को पानी पिलाया नहीं,
बाद अमृत पिलाने से क्या फायदा।
कभी गिरते हुए को उठाया नहीं,
बाद आँसू बहाने से क्या फायदा।।
कभी प्यासे.....।

मैं स्थानक गया, गुरुवाणी सुनी,
गुरुवाणी को सुनकर खयाल आ गया।

जैनी कुल में हुआ, जैनी बन ना सका,
सिर्फ जैनी कहलाने से क्या फायदा।।
कभी प्यासे .....।

जैन होने के लिए जैन कुल में जन्म लेने के पश्चात् जैन के गुण आना अनिवार्य है, **जनसामान्य से जैन को अलग करने वाली उसकी दो विशेषताएँ हैं- आचार और विचार।** इन दो मात्राओं से जन जैनी बनता है, **इसलिए ''जिसके आचार में अहिंसा का आधार हो और जिसके विचार में विवेक का विस्तार हो''** वह जैनी है। प्रगति का आधार विशद विचार है। जैनधर्म उसी विशद विचारधारा को लेकर चलता है। **दुनिया में दो तरह के लोग आगे नहीं बढ़ सकते-1. जिनके पैर में मोच हो और 2. छोटी सोच हो।** भगवान की सोच विस्तीर्णता विशालता लिए हुए थी, इसलिए उन्होंने श्रावक के अगार धर्म के बारह व्रत बतलाकर जैन जीवन शैली का स्वरूप हमारे सामने रखा। बड़ी सोच बड़ा जादू करती है। इसलिए भगवान ने हर जीव में भगवत् दशा को प्राप्त करने का सामर्थ्य बताया। जैन आज बाहर के क्रिया काण्डों में उलझकर अपनी मूल राह से बिछुड़ गया है। जैन भाजी और भोजन तो हमने जैन के नाम से उपलब्ध कर लिये, परन्तु जैन आचार और विचार को हम प्राप्त करने में पिछड़ रहे हैं। जैन को व्यापार से भी जैन होना चाहिये। कर्मादान का व्यापार उसे नहीं करना चाहिये। जैन जीवनशैली में तीन बातों पर गौर करना होगा।

जैन जीवन शैली

जैन जीवन शैली का **प्रथम सूत्र है-व्यवहार और व्यापार में प्रामाणिकता-** हमारे व्यवहार में शुद्धता होनी चाहिये और व्यापार में शुद्धता व प्रामाणिकता होनी चाहिये। अगर अपने व्यापार में हम अपने सिद्धान्तों का प्रामाणिकता से पालन करते हैं तो व्यापार भी बढ़ता चला जाता है। हमने देखा है कि धुलिया के चौधरी परिवार की दुकान पर सवेरे-सवेरे दूध के लिए लम्बी कतार लगती है। एक ग्राहक से पूछा गया, क्या दूध केवल यहीं मिलता है? अन्य जगह नहीं। वे बोले कि यहाँ बिना मिलावट का शुद्ध दूध मिलता है। देर भले ही हो, परन्तु वस्तु अच्छी मिलती है। ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं तो कहीं पैसे के लोभी ऐसे भी हैं जो घी में चर्बी, मिर्ची में ईंट का बुरादा मिलाकर बेचते हैं। ऐसे लोगों को यह याद रखना चाहिए कि देर है, पर अन्धेर नहीं। हमारे व्यवसायों को बढ़ाने वाले सेवक (नौकर) पर भी हमें करुणा के भाव रखने चाहिये। जैन की दया इतनी प्रसिद्ध है कि वह चींटियों की यतना करता है, एकेन्द्रिय को भी अकारण नहीं मारता, तो फिर उसे **अपने नौकर या मजदूर का पसीना सूखे, उससे पूर्व उसकी मजदूरी दे देनी चाहिये।** पर आज-कल जैन भाई भी उसकी पगार टालते जाते हैं और कई बार कम पैसे देकर भी उस मजदूर को लौटा देते हैं।

जैन जीवनशैली का **दूसरा चरण है- व्यसन और व्यर्थ से दूरी।** आज हमारे घर के युवक व्यसन और युवती फैशन में निमज्जित हैं। इस कारण परिवार टेंशन में हैं। किसी भी वस्तु या पदार्थ के प्रति अत्यधिक लगाव व्यसन है, जिसके सेवन के बिना व्यक्ति को बेचैनी सी महसूस होती है। आज जैनी ''जो है उसे छिपाता है और जो नहीं है उसे दिखाता है।'' **जैन आडम्बरों में फिजूल खर्च कर अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग कर रहा है। कमाई अठन्नी की और खर्चा रुपये का व्यर्थ व्यय कर परिवार को चिन्ता में डालता है।** इसलिए सीमित और सन्तुलित जीवन जीयें। भगवान महावीर ने हमें अपरिग्रह का पाठ पढ़ाया, परन्तु आज हमने अपने घर-दुकान में परिग्रह का ठाट लगाया है। हमें फिर से अपनी संस्कृति को याद रखना होगा। इसलिये कवि कहता है-

जैनी यूं काई सूता भर नींद जमानो सारो बदल गयो।.....
जैन धर्म री जड़ा खोखली, हाथा करने कीधी,
दूर व्यवसाय रे चाले लाग्या,
धर्म की ज्योति नहीं दीधी.....
घणी बांता है काईं काईं कैवां, अनरथ हुआ अनेक,
धर्म गुरु कहे जागो जैनी, कुछ तो निभाओ थांरी टेक.....।

हमें अन्य धर्मों से विशेष 'जैन धर्म' मिला है। जैन

धर्म ही विशेष क्यों? क्योंकि यहाँ तीर्थ के साथ हमें तीर्थंकर भी प्राप्त हैं, अन्य धर्मों में तीर्थ है, पर तीर्थंकर नहीं। आज हम दिखावे के लिए लाखों रुपये व्यर्थ कर देते हैं, परन्तु किसी गरीब को, स्वधर्मी को दान देते, भोजन कराते जोर आता है।

जैन जीवन शैली का **तीसरा सूत्र है सदाचार और संस्कारों से सज्जित जीवन।** हमारा चाल-चलन जितना सही होगा उतना हमारा जीवन शुद्ध बनेगा। इसलिये कहा है कि नैतिकता की नींव पर ही आध्यात्मिकता (धार्मिकता) का महल खड़ा होता है। हमारे आहार, परिधान, व्यवसाय, सामाजिक योगदान जितने शुद्ध और सही होंगे, उतना हमारा जीवन श्रेष्ठ बनेगा। हमें इस जीवन शैली को पूर्णतः अपनाना है। आधे अधूरे मन से, आधी अधूरी जीवन शैली को अपनाने पर सफलता नहीं मिल सकती। आज जैन समाज कुछ लोगों के अकरणीय कार्यों के कारण से कलंकित हो रहा है। **कीर्ति पाने में सालों लगते हैं, पर कलंकित होने में क्षण लगता है।** सदाचारी संस्कारी की प्रतिष्ठा इतनी होती है कि व्यक्ति उस पर आँख मूँद कर विश्वास करता है। हम जैनी कलंकित होने के बजाय गौरवान्वित बनें। हमारी जीवन-यात्रा के नियम, मर्यादाएँ अगर सही होंगी तो हमें लाभ ही लाभ है। इसलिये कहा कि **कायदे में फायदे हैं।** यह जीवन शैली किसी जाति विशेष की नहीं है। इसे तो हर कोई जी सकता है। **इसलिये हम अपने जीवन को मशीन बनाने के बजाय मिशन बनायें।** उस मिशन को बनाने के लिये हमें इन सूत्रों पर ध्यान केन्द्रित करना होगा, ताकि **जैनाचार हमारे व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करे।** जैन जीवनशैली भार मुक्त, बोझ मुक्त है। जैसे घाटियों पर चढ़ने वाला हल्का वाहन शीघ्र, कम पुरुषार्थ में मञ्ज़िल को पा लेता है, उसी प्रकार हम भी हल्के बन जीवन-यात्रा को व्यवस्थित बनाएँ। जीवन में ऊर्जा पाने के लिये शास्त्र हैं और शास्त्रों का निर्माण शान्ति के लिए है। शास्त्र जानने वाला वही है जिसका मन शान्त होता है। हम शान्त और सुव्यवस्थित जीवन को जीयें।

जीवन में सदाचार एवं संस्कारों की महक हो, निर्व्यसनता एवं परोपकार की चमक हो, आध्यात्मिकता की दमक हो, यही जैनी के चलने की सड़क हो।

जीवनोपयोगी वचन

श्रद्धेय श्री यशवन्तमुनिजी म.सा.

23 मई, 2019 को सुराणा कटला, महामन्दिर-जोधपुर में प्रवचन करते जो अनमोल बोल कहे हैं उनका संकलन श्री नौरतनमलजी मेहता, जोधपुर ने किया। -सम्पादक

- जिस घर में बड़ों की बात मानी जाती है, उस घर की पुण्यवानी बढ़ती है। ◆ प्रतिकूलता में समाधि बनाए रखना कठिन है। ◆ समाधि के बिना साधना नहीं होती और न ही शरीर की स्वस्थता, मन की प्रसन्नता और आत्मा का आनन्द रहता है। ◆ शिष्य जो बनता सही, गुरु आप ही बन जाता।
- जहाँ पर बुद्धि के प्रदेश सिमट कर रह गए। अनुभवी उसे ही समर्पण कह गए।।
- धर्म-संघ में गुरु के वचनों को प्राण-प्रण से सहर्ष शिरोधार्य करने वाला गुरु-सेवा कर सकता है।
- जीवन में विनय है तो धर्म है। विनय शान्ति, प्रसन्नता और आनन्द देने वाला है।
- हम समझते कम, समझाते अधिक, इसीलिए सुलझते कम, उलझते अधिक हैं।
- अहंकार को कर नीचा, जीवन बनेगा ऊँचा। ◆ जितना अहं कम होता जाएगा, उतना अर्हम् बढ़ता जाएगा।
- मान ही जीवन का निर्माण नहीं होने देता। ◆ तूने अपना कुछ रखा है मान, बस यही है मान।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 98
ISSN 2249-2011

प्रवचन

जीवनशैली में जैन कौन?

श्रद्धेय श्री मनीषमुनिजी म.सा.श्री

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के सुशिष्य श्रद्धेय श्री मनीषमुनिजी म.सा.ने 'जैन कौन?' इस विषय पर युवा-कक्षा में जिज्ञासा का समाधान करते हुए निम्न जो भाव फरमाए, उसका सार-संक्षेप में, जिसका संकलन श्री सुनील कुमारजी नाहर द्वारा किया गया है।
-सम्पादक

- जिसके जीवन में आचार का आधार हो और विचारों का विस्तार हो वह **जैन** है।
- जिसकी कथनी और करणी में एकता हो वह **जैन** है।
- जिसकी कलम और क़दम में दृढ़ता हो वह **जैन** है।
- जिसमें आचार और विचार की साम्यता हो वह **जैन** है।
- जिसके उच्चारण और आचरण में समीपता एवं सामञ्जस्य हो वह **जैन** है।
- जो व्यसन और व्यर्थ के व्यय से दूर हो वह **जैन** है।
- जो आत्मा का पोषण और कार्मण शरीर का शोषण करे वह **जैन** है।
- भाग्य के भरोसे नहीं जो भाग्य पर भरोसा रखे वह **जैन** है।
- जीवमैत्री, जिनभक्ति, जीवन-शुद्धि जिसके जीवन का लक्ष्य हो वह **जैन** है।
- जो यतना में सजग है और यति-धर्म से युक्त है वही **जैन** शब्द से संयुक्त है।
- जो अरिहंत पर आस्था, आगम से वास्ता और अणगारों के रास्ते पर चले वह **जैन** है।
- जो तन को जन सेवा में, मन को जिन-सेवा में और चेतन को निज-सेवा में लगाए वह **जैन** है।
- जो मन में मधुरता, वचन में वात्सल्य, काया में कर्त्तव्यपरायणता का भाव रखे वह **जैन** है।
- जो सप्त कुव्यसन का त्यागी, जिनधर्म का अनुरागी, 18 पापों से वैरागी बनने का भाव रखे वह **जैन** है।
- जिसको रिश्वत पर नहीं, किस्मत पर भरोसा हो वह **जैन** है।
- जो सदाचारी और संस्कारी हो वह **जैन** है।
- जो नामधारी (जैन का लेबल) नहीं नियमधारी हो वह **जैन** है।
- जिसका व्यवहार और व्यवसाय शुद्ध हो वह **जैन** है।
- जिसकी नज़र अच्छी और नीयत ऊँची हो वह **जैन** है।
- जिनका खानपान और खानदान शुद्ध हो वह **जैन** है।
- जो महारम्भ, महापरिग्रह और महातृष्णा से मुक्त हो वह **जैन** है।
- जो सम्प्रदायोपासक नहीं, श्रमणोपासक हो वह **जैन** है।
- जो नवतत्त्व का ज्ञाता और आत्म-तत्त्व का विज्ञाता हो वह **जैन** है।
- जो हाथ, बात और काछ का सच्चा हो वह **जैन** है। जैनी क्यों होते हैं अच्छे? क्योंकि ज़ुबान, हाथ, चरित्र के होते हैं सच्चे।
- जिसकी आँखों में नमी, दोषों में कमी और भावों में उपशमिता हो वह **जैन** है।

- जो पाप के मार्ग को जानता हो, पुण्य के मार्ग पर जाता हो और धर्म के मार्ग को जीता हो वह **जैन** है।
- जो मीडिया में नहीं, मर्यादा में जीता है वह **जैन** है।
- जो गुणों को अपनाता है और दोषों को दफनाता है वह **जैन** है।
- जिसकी अपनी कोई चाह नहीं होती और सबको जिसकी चाह होती है वह **जैन** है।
- जिसके जीवन में फैशन की दौड़ नहीं और आडम्बर की होड़ नहीं वह **जैन** है।
- जो सुविधाकांक्षी नहीं, साधनाकांक्षी हो, जो साताप्रेमी नहीं समाधिप्रेमी हो, जो सम्मानगामी नहीं, सन्मार्गगामी हो वह **जैन** है।
- जो बड़ों का आदर करता है और छोटों का आधार बनता है वह **जैन** है।
- जो राग के रोग से नीरोग और द्वेष के दोष से निर्दोष बन जाना चाहता है वह **जैन** है।
- सुख भरा संसार भी जिसे छोड़ने जैसा लगे वह **जैन** है।
- जिसका पाप कार्य करते हुए हाथ रुके और यदि पाप हो जाए तो जिसका दिल दु:खे वह **जैन** है।
- जिसके पास-1. दृष्टि मुक्त (मिथ्यात्व-रहित अवस्था) 2. दोष-मुक्त (राग-द्वेषरहित अवस्था) 3. देहमुक्त (मुक्त होने के बाद की अवस्था) होने की कला हो वह **जैन** है।
- जो अनुकूलता में साधना और प्रतिकूलता में समाधि भाव रखता है वह **जैन** है।
- जो संसार से जुड़ा भी रहता है और जुदा भी रहता है वह **जैन** है।
- जो आत्मा पर सत्य का रंग चढ़ाए वह **जैन** है।
- बन्धन-मुक्त होने का भाव जिसके भीतर में है वह **जैन** है।
- मुमुक्षु भावों की जागृति जिसके अन्त:करण में हुई है वह **जैन** है।
- पर से मुक्त बनने का जो अभिलाषी साधक है वह **जैन** है।

सम्यग्दर्शन की महिमा

सौ. कमला सिंघवी

सम्यग्दर्शन अध्यात्म साधना का मूल आधार एवं मुख्य केन्द्र माना जाता है। सम्यग्दर्शन की पावन भूमि में पुण्यानुबन्धी पुण्यरूप आत्मरमणता सुख का बीज पुष्पित एवं फलित होता है। सम्यग्दर्शन सर्वकल्याण का बीज है। आत्मश्रद्धा, आत्मास्था और आत्मप्रीतीति ही निश्चय सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन सब रत्नों से महान् रत्न है। समस्त लोक का भूषण है। आत्मा को मुक्ति प्राप्त होने तक कल्याण-मंगल प्रदान करने वाला है। सम्यग्दर्शन वह आलोक है जो आत्मा में व्याप्त मिथ्यात्व अन्धकार को नष्ट कर देता है और आत्मा को मोक्ष की सही दिशा एवं सही राह दिखलाता है। सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय या उपशम कर देता है। सम्यग्दर्शन की महिमा अपरम्पार है। सम्यग्दर्शन घाती कर्मों के समस्त कर्म कचरे को भस्म करके केवलज्ञान रूपी सूर्य उदय में लाता है। यह सम्यग्दर्शन सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है। सभी प्रकार की सिद्धि करने वाला है।

-पूर्व जैन अध्यापिका, दत्तमंदिर गली, भडगाँव (महाराष्ट्र)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 100
ISSN 2249-2011

प्रवचन

जैन जीवनशैली में कर्मसिद्धान्त का महत्त्व

बहुश्रुत श्री जयमुनिजी म.सा.

जैन जीवनशैली विश्व की अन्य शैलियों से कई अर्थों में विलक्षण है। यह त्याग और सन्तोष प्रधान शैली है।

"जितने कम से गुजर हो सके, उतने पर अधिकार हमारा"

Minimalist life style है जैन जीवनशैली। इसके भी दो स्तर हैं- 1. सर्वत्यागी मुनियों का 2. अल्पत्यागी गृहस्थों का। जिन्होंने अपने जीवन यापन के लिए 'कल की चिन्ता' छोड़ दी, केवल एक दिन में ही सर्व जीवन का समावेश करने की कला जिन्होंने सीख ली, वे मुनिजीवन व्यतीत करते हैं। परम आनन्द, आत्मनिर्भरता के शिखरों पर आरूढ़ मुनियों के लिए दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन में कहा है-

बिडमुब्भेइमं लोणं तिल्लं सप्पिं च फाणियं।
न ते सन्निहिमिच्छंति णायपुत्तवओरया।।
लोहस्सेस अणुफासो मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहिं कामे गिही पव्वइए ण से।।

जो व्यक्ति नमक का एक कण, तेल की एक बूँद, शक्कर का एक दाना भी आने वाले दिन के लिए अपने पास रखता है, रखना चाहता है, वह प्रव्रजित सन्त नहीं हो सकता, वह तो गृहस्थ है। उससे गृहस्थ जीवन ही उचित है।

अपरिग्रह की इस बुनियाद पर उसकी अहिंसा, सत्य, अस्तेय का भव्य भवन भी अनूठा ही होता है।

गृहस्थ के पास घर होता है तथा घरवाली होती है। अणगार के पास न घर है, न घरवाली। ऐसी निर्द्वन्द्व अवस्था में जीने वाले साधकों के लिए दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन में ही उल्लेख है-

"नण्णत्थ एरिसं वुत्तं जं लोए परमदुच्चरं।
विउलट्ठाणभाइस्स न भूयं न भविस्सइ।।"

विश्व के किसी भी धर्मसम्प्रदाय में इतने आचार-विचार के सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं मिलते और न उन सिद्धान्तों पर खरे उतरने वाले साधक मिलते, जितने कि जैन धर्म में। ऐसे साधकों की आन्तरिक उपलब्धियों का चित्रण भगवती सूत्र में अत्यन्त अहोभाव से किया गया है। वहाँ का वर्णन है कि आत्मरमण की साधना में लगे रहने वाले साधु-साध्वियों की भावशुद्धि, लेश्याशुद्धि, मानसिक शान्ति, आध्यात्मिक पुण्य क्रमशः इतना गहरा हो जाता है, कि एक वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले साधु-साध्वी में सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों से अधिक शान्ति प्रकट हो जाती है।

जैन मुनि की जीवनचर्या बाहर से काफी कठिन होती है, पर अन्दर से अत्यन्त सरस और आनन्दमयी होती है। मुनियों की जीवनशैली की तरह जैन गृहस्थों की जीवनशैली भी निवृत्ति प्रधान रही है। वैभव और वैराग्य का सुन्दर समन्वय जैन गृहस्थों के जीवन में उतरा है। प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक जैन श्रावकों की जीवनशैली में बहुत अधिक अन्तर नहीं आया है। कुछ प्राचीन क्रियाएँ, चर्याएँ छूटी हैं तो कुछ नई जुड़ी भी हैं। उपासकदशाङ्गसूत्र में वर्णित श्रावकचर्या से वर्तमान काल के श्रावकों की तुलना की जाए, तो बहुत कुछ समानता मिल जाएगी जबकि असमानता बहुत कम।

आनन्द आदि श्रावकों के पास व्रत ग्रहण से पूर्व जितनी सम्पत्ति थी, उन्होंने व्रत ग्रहण के समय उसे ही अपनी उच्च सीमा बना लिया तथा 13-14 साल की व्रताराधना के बाद निवृत्ति लेकर पौषधशाला में ग्यारह प्रतिमाओं की पालना में जुट गए। वर्तमान काल में परिग्रह की मर्यादा का क्षेत्रफल कुछ अधिक चलता है तथा प्रतिमाओं का स्वरूप स्पष्ट न होने से उनकी अनुपालना भी नहीं हो रही। पर उपासकदशाङ्ग में

अवर्णित कुछ नए अनुष्ठान जैन गृहस्थों की जीवनशैली में जुड़ गए हैं।

दान, सेवा, भक्ति की कुछ झलकियाँ जैन परिवारों में अब दिखाई दे जाती हैं, जो कि आगम के पात्रों में वह झलक नहीं मिलती। जैन समाज की ओर से प्राय: अन्य धर्मावलम्बियों के सेवा कार्यों में भी पर्याप्त सहयोग दिया जाता है तथा जैन समाज के निजी सेवा प्रकल्प भी पर्याप्त मात्रा में चलते हैं। **जैनों में आर्थिक सहयोग रूप सेवा के उदाहरण तो मिलते हैं, पर स्वयं अपने हाथों से रुग्णों, असहायों, अनाथों, वृद्धों, शिशुओं की सेवा करने की परिपाटी बहुत कम है। जैनों की सेवा में करुणा, दया का चाक्षुष दर्शन बहुत कम होता है।** किसी घायल इन्सान, तड़पते पशु की स्वयं शारीरिक चिकित्सा का प्रचलन शायद इसलिए नहीं हो पाया, क्योंकि इनका त्यागीवर्ग इन्हें प्रेरित नहीं करता, न अपना आदर्श प्रस्तुत करता है। मुनि शायद प्रेरणा इसलिए नहीं दे पाते, क्योंकि प्राचीन आगमों में ऐसी कोई जीवन्त घटनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। जैनों की इस दुर्बलता के पीछे इतिहास को ही कारण माना जाएगा। इसके साथ ही **जैन मुनियों और श्रावकों में तपस्या, संयम, सादगी के उच्च स्तरीय दृष्टान्त उपलब्ध हैं,** पर इनमें भाव विह्वल भक्ति का दर्शन बहुत कम होता है। ये कभी प्रभु को याद करते हुए आँसू बहाते हुए नज़र नहीं आते। भगवान् की स्तुति गाते हुए भी बहुत रूखे-रूखे कण्ठस्वर निकलते हैं। आर्द्रता सरसता बहुत कम मात्रा में होती है। बौद्धिकता है भावुकता नहीं। ज्ञानमार्ग है, भक्तिमार्ग नहीं। **जैनों की क्षमाशीलता बड़ी अद्भुत है। इस गुण के कारण इनकी शत्रुता का घेरा कभी बड़ा नहीं होता। ये अपना नुकसान झेलने में धर्म मानते हैं। अपमान, चोट, धनहानि बर्दाश्त करने की इनकी क्षमता अतुलनीय है।** अलग-अलग समाजों के यदि Circle Rate का Data तैयार किया जाए तो जैनों का ग्राफ सबसे नीचे पाया जाएगा।

क्षमा, त्याग, सन्तोष, अहिंसा आदि महान् जीवन मूल्यों का पोषण जैनों में जिस कारण से हुआ उन कारणों में एक मुख्य सिद्धान्त कर्मवाद का सिद्धान्त है। जैन चिन्तनधारा को कर्मवाद ने काफी प्रभावित किया है।

यद्यपि आचाराङ्गसूत्र के प्रारम्भ में स्वस्थ चिन्तनधारा के लिए चार प्रस्थान बिन्दु आवश्यक बताए हैं। पर सदियों, सहस्राब्दियों से तीन बिन्दुओं की बजाय जैनों ने केन्द्रीय स्थान कर्मवाद को दे दिया। चार मुख्य बिन्दु हैं-1. आत्मवाद 2. लोकवाद 3. कर्मवाद 4. क्रियावाद।

आत्मा अनन्त शक्ति का पुञ्ज है, यह अपने सुख-दु:ख का उपादान कारण है तथा यह चेतना रूप है। जीव से भिन्न जो निर्जीव सृष्टि है, उसका भी स्वतन्त्र अस्तित्व है, उपयोग है, योगदान है। यह लोकवाद की प्ररूपणा है। **आत्मा को लोक से सम्बद्ध करने वाला तत्त्व 'कर्म' है। यह कर्म आत्मा के सुख-दु:ख, जीवन-मरण, गति, जाति, ज्ञान-अज्ञान, सामर्थ्य-असामर्थ्य आदि में काफी अहम् भूमिका का निर्वाह करता है। आत्मा की मौलिक स्थिति को फिर बहाल करने में सहायक तत्त्व क्रिया है।** सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र ये सब क्रिया के अवान्तर नाम हैं। इस प्रतिपादना को क्रियावाद का नाम दिया गया है। जैनधर्म के इतिहास पर, ग्रन्थों की विवेचना टीकाओं पर, सन्त-महात्माओं के उपदेशों पर दृष्टिपात करते हैं, तो एक बात स्पष्ट होती है कि आत्मवाद, लोकवाद और क्रियावाद इन तीनों बिन्दुओं पर यदि कुल 25 प्रतिशत पर जोर (Emphasis) दिया है तो 75 प्रतिशत अकेले कर्मवाद पर। आत्मवादी पुरुषार्थवादी धर्म धीरे-धीरे कर्मवादी धर्म के रूप में पहचाना जाने लगा। कर्मवाद के प्रति अधिक रुचि ने इस विषय में बड़ी-बड़ी गहन शोधों को जन्म दिया, तो छिछली-छिछली मान्यताओं का कारण भी बनी। भारतीय एवं पाश्चात्त्य साहित्य में कोई ग्रन्थ जैनों के कर्म साहित्य के सामने खड़ा हो सके, ऐसा एक भी ग्रन्थ नहीं है। 6 कर्मग्रन्थ, कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह जैसे श्वेताम्बर ग्रन्थ, गोम्मटसार, षट्खण्डागम, कषायपाहुड़ जैसे

दिगम्बर ग्रन्थ विश्वस्तरीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैनों की मौलिक धारणा रही थी कि आत्मा का स्थान पहला है, कर्म का स्थान दूसरा। आत्मा स्वतन्त्र है–कर्म आत्मा के अधीन है। आत्मा ड्राइवर है कर्म सवारी गाड़ी है। कर्म के सम्बन्ध में जैनों का प्रारम्भिक चिन्तन बिल्कुल सरल और साधारण था। **''सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णाफला भवन्ति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णाफला भवन्ति''** अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। As you sow, so shall you reap. विपाकसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्ध इसी सिद्धान्त को कथानकों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। अपने उपलब्ध संसाधनों को सेवा में लगाने से अगले जन्म में जीव को संसाधनों की प्रचुरता प्राप्त होती है तथा अपनी शक्ति, बुद्धि, उपलब्धियों का उपयोग, शोषण, दुराचार, मायाचार में किया जाता है, तो अगले जन्म में भीषण दु:खों का सामना करना पड़ता है।

जैनों के कर्मवाद पर शेष भारतीय धारणाओं का प्रभाव भी पड़ता रहा है, जिसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश जैन कथानकों में पुरुषार्थवाद पिछड़ गया और भाग्यवाद हावी हो गया। इस भाग्यवादी मोड़ का एक सकारात्मक परिणाम तो अवश्य निकला। जैन समाज अत्यन्त सहिष्णु व्यक्तियों का समुदाय बन गया। किसी ने आपका धन हड़प लिया तो आपने बड़े आराम से सन्तोष कर लिया, कि हो सकता है इस आदमी का कर्जा मेरे सिर पर हो। सन्तान नालायक निकल गई तो मान लिया कि पिछले जन्म का भुगतान हो रहा है। सास बहू के टकरावों में अपने कर्मों को दोष देकर गम खा लिया। वैधव्य, नि:सन्तानता, भीषण रोगों की पीड़ा, गरीबी, व्यापारिक असफलता और हजारों प्रतिकूलताओं को कर्म (भाग्य) फल मानकर समता रख ली। लेकिन कर्म की इस भाग्यवादी व्याख्या ने पुरुषार्थ के पंख भी कुतरे हैं। जिन समस्याओं के समाधान ढूँढ़े जा सकते थे, वे समाधान कुहासों में ही छिपे रहे और समस्याओं का दौर उसी तरह बरकरार रहा। जिन समस्याओं का मूल कारण साफ–साफ दिखाई दे रहा होता है, उन्हें देखना भी हम लोगों ने बन्द कर दिया। बदपरहेज़ी करते–करते शरीर में रोग लग गए और हमने कह दिया कर्म खराब थे। चलते–चलते असावधानी बरती, गिर गए , चोट लगी–पिछले जन्म का कर्म उदय में आ गया। Race Driving करते–करते Accident करवा बैठे और घोषणा कर दी–हमारे कर्मों में ऐसा ही लिखा था। ज़हर खाया, मरने लगे–फतबा दिया–मेरी उम्र इतनी ही तय थी। जानबूझकर किसी की निन्दा–चुगली प्रारम्भ कर दी, धीरे–धीरे विश्वसनीयता खण्डित हो गई और अब आपकी बात कोई सुनता–मानता नहीं, उसका समाधान ढूँढ़ लिया कि अनादेय नाम कर्म की वज़ह से मेरी बुरी स्थिति है। संयम–साधना का साहस जुटाते नहीं और आरोप कर दिया कर्मों पर। मेरे कर्मों में संयम है ही नहीं। ये दृष्टिकोण कर्म की सही समझ नहीं होने से बना।

जैनों के कर्म–सिद्धान्त व्याख्या का एक नया रूप और पनपा, वह है– हर घटना के लिए बिल्कुल वैसी ही हूबहु प्रतिक्रियात्मक (Reciprocal) घटना।

भगवान महावीर के कान में ग्वाले ने कीले ठोके तो पिछले जन्मों का सहारा लेकर हमने ग्वाले को निर्दोष सिद्ध कर दिया, क्योंकि महावीर स्वामी ने त्रिपृष्ठ के रूप में अपने अंगरक्षक के कान में गर्म–गर्म सीसा डाला था।

गजसुकुमाल मुनि के सिर पर अंगारे रखने वाला सोमिल तो बेचारा निरपराध है, क्योंकि वह लाख भव पहले सौतेली माँ से सौतेले पुत्र के रूप में सिर पर गर्म–गर्म पूड़े रखवा चुका है। खन्दक ऋषि की खाल इसीलिए उतारी गई, क्योंकि उन्होंने पूर्व जन्म में कचरी का छिलका खुशी–खुशी उतारा था। ऋषभदेव को सालभर तक आहार नहीं मिला, क्योंकि उन्होंने बैलों के मुँह पर 12 घड़ी तक छींका बँधवाया था और बैल भोजन से वञ्चित रहे थे। त्रिशला को देवानन्दा का पुत्र इसलिए मिला, क्योंकि उसके रत्न सपत्नी ने चुरा लिए थे। सीता को अपयश इसलिए मिला, क्योंकि उसने किसी मुनि

को लाञ्छित किया था। ऐसा Prototypic Interpratation लोक लुभावना तो लगता है, पर बिल्कुल सतही और निराधार है।#

ऐसी अनागमिक और कर्म सिद्धान्त के अननुरूप कहानियों का आविष्कार करने वाले मनीषी मुनियों ने रोचक कथा साहित्य की सर्जना भी की और लोगों को तात्कालिक आश्वासन भी दिया, परन्तु कर्म सिद्धान्त का सही स्वरूप छिन्न-भिन्न भी बहुत हुआ है।

इन व्याख्याओं ने एक आत्मा के कर्मबन्ध के साथ शत-सहस्र आत्माओं को साथ-साथ रहने के लिए विवश कर दिया। जिन हजार लोगों से उस जन्म में लेन-देन हुआ, अच्छे-बुरे व्यवहार हुए, उन्हें अगले-अगले जन्मों में भी साथ जाना पड़ेगा, नहीं तो सम्बद्ध आत्मा को कर्म फल कैसे मिलेगा। और एक मानव का केवल मानवों से ही तो वास्ता नहीं पड़ता, उसके जीवन में पशु-पक्षी कीड़े पतंगे पानी मिट्टी वनस्पति के असंख्य अनन्त जीव भी जुड़ते हैं, उनकी हिंसा भी होती है। फिर वे सब भी अपना बदला लेने के लिए अगले जन्मों में उससे जुड़ने के लिए बाध्य रहेंगे। जिस गति, योनि, दण्डक में वह जाएगा, उसके साथ शेष जीवों की भी यात्रा प्रारम्भ होगी। उलझन तब होगी जब एक मानव के सम्बन्ध से वह उसके पीछे जाने के लिए मज़बूर होगा, तो हजारों अन्य मनुष्य, पशुओं, लघुजीवों, एकेन्द्रियों के कारण उन जीवों को अन्य दिशाओं में भी जाने की विवशता बनेगी।

इतरेतर सम्बद्धता की इस धारणा से इतरेतर परतन्त्रता की धारणा बनती जाएगी और आत्म स्वातन्त्र्य एक सपना रह जाएगा।

कर्म सिद्धान्त की सही समझ से ही जीवन में सही आचरण सम्भव होता है। अन्यथा आचरण की सम्यक्त्व भी सन्दिग्ध हो सकती है। इस समझ की सम्यक्त्व की पहली शर्त है कि कर्म को आनुपातिक मूल्य प्रदान करें, न कि ऐकान्तिक। अनेक जैन विचारकों ने 'पञ्चसमवाय' का व्यापक मञ्च देकर कहा कि जिस प्रकार कार्यसिद्धि-असिद्धि में कर्म कारण हैं उसी प्रकार स्वभाव, काल, नियति और पुरुषार्थ की भी कारणता माननी चाहिए। इस पञ्चसमवाय की मूल भूमिका तो आचाराङ्गसूत्र के प्रारम्भ में ही स्थापित कर दी गई है। जहाँ प्रत्येक सम्यक्त्वी आत्मा के लिए चार सिद्धान्तों की स्पष्टता अवश्यम्भावी बताई है। मैं हूँ-मेरा अस्तित्व है- ऐसा प्रत्येक प्राणी को अहसास हो। अपने अस्तित्व को, स्वतन्त्रता को भूलना सबसे बड़ी भूल होगी। 'मैं हूँ' ये विचार आत्मवाद है। मेरे अलावा संसार के अनन्तानन्त प्राणी हैं उनका भी अस्तित्व है। उनके कार्यकलाप हैं जो समग्र सृष्टि में कुछ न कुछ हलचल करते हैं और उनका मेरे जीवन में भी सापेक्ष हस्तक्षेप है। उन प्राणियों के अलावा समग्र निर्जीव प्रकृति का भी अस्तित्व है, स्वतन्त्र व्यवहार है, स्वतन्त्र नियम है। वे भी मेरे जीवन को प्रभावित करते हैं। **सूर्य उगता है, अस्त होता है, हवाएँ चलती हैं, तूफान आते हैं, मानसूनी बरसातें आती हैं, भूकम्प आते हैं ये सारी प्राकृतिक व्यवस्थाएँ मुझ सहित समग्र प्राणी जगत् को सञ्चालित कर सकते हैं। इस विचारधारा को हमारे आगमकारों ने 'लोकवाद' कहा है।**

मुझे और संसार के सभी जीवों को सूक्ष्म रूप से प्रभावित करने वाली एक शक्ति और है- वह है कर्म। यह कर्म ऊर्जा केवल जीव को प्रभावित करती है, प्राकृतिक पदार्थों को नहीं। प्राकृतिक पदार्थ अपने-अपने नियमों (Universal Laws) के अनुसार सक्रिय होते हैं, कर्मशक्ति उन्हें बाधित प्रभावित नहीं करती।

श्रद्धेय श्री जयमुनिजी का यह चिन्तन पूर्णत: समीचीन नहीं है। यह उनकी अपनी व्याख्या है। आचार्यों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर इन घटनाओं का उल्लेख किया है। ऐसी घटनाओं का होना असम्भव नहीं है। वैर-विरोध का क्रम चलता रहता है तथा उसका परिणाम भी जीवन में भोगना पड़ता है। **-सम्पादक**

यह कर्मशक्ति आत्मतत्त्व को प्रभावित ही करती है, नियन्त्रित नहीं करती, सञ्चालित नहीं करती। **जीव किसी गति में, योनि में जब उत्पन्न होता है, उस समय उसे जो शरीर, शरीर की सामर्थ्य सीमा, मन तथा मानसिक क्षमताएँ प्राप्त होती हैं, वे अधिकांशत: कर्म प्रदत्त होती हैं।** शरीर और मन तथा उनके सामर्थ्य का उपयोग, सदुपयोग, दुरुपयोग कर्म के कारण नहीं होता, जीव की अपनी Free Will से होता है या लोक सहयोग से। कर्म का कार्यक्षेत्र केवल आत्मा है। आत्मप्रदेशों से बाहर कर्म एक पत्ता भी नहीं हिला सकते। **कर्म आत्मा को दुर्बल कर सकते हैं, पर प्राकृतिक, सामाजिक, लौकिक व्यवस्थाओं पर उनका जोर नहीं चलता। कर्मों का बन्ध-उदय सत्ता आत्मप्रदेशों तक सीमित होता है, अन्यत्र नहीं। कर्म प्राकृतिक तत्त्वों के साथ छेड़छाड़ नहीं करते, ऐसे ही प्राकृतिक तत्त्व भी कर्मों की प्रक्रिया में दखल नहीं देते। इस बात को समझना कर्मवाद है।** और समझने वाला कर्मवादी है।

शरीर तन्त्र में प्रवेश करने के बाद जैसे बैक्टीरिया शरीर प्रक्रिया को प्रभावित करता है-उससे पूर्व नहीं। ऐसे ही कर्म भी आत्मा से जुड़कर ही अपना सुप्रभाव दुष्प्रभाव दिखाते हैं तथा जैसे उस बैक्टीरिया को अप्रभावी, निष्क्रिय या समाप्त करने वाली औषध भी होती है-उसी प्रकार **कर्मों को निर्जरित, निष्क्रिय करने वाला तत्त्व 'क्रिया' है। आत्मा आत्मसामर्थ्य के कुछ पहलुओं को प्रकट करके कर्मसत्ता को क्षीण कर देता है, बदल देता है, प्रभावहीन कर देता है। कर्मों पर पड़ने वाले प्रभावों को जैन चिन्तकों ने अलग-अलग नाम दिए हैं। कभी वह प्रभाव उदीरणा होता है, कभी उद्वर्तना, अपवर्तना, कभी स्थितिघात, रसघात तो कभी गुणसंक्रमण।** उपशमना, क्षपणा आदि भी उन्हीं प्रभावों के नाम हैं। आचाराङ्गसूत्र में इस सिद्धान्त को क्रियावाद तथा इस सिद्धान्त को समझने वाले, अपनाने वाले मानव को क्रियावादी कहा गया है। **क्रियावाद ही सामान्य भाषा में पुरुषार्थवाद कहलाता है।** Genetic Mutation की तरह Karmic Mutation पुरुषार्थ (क्रिया) से सम्भव है।

जीव का पुरुषार्थ (क्रिया) कर्म को बदलता है तो लोक (प्रकृति) को भी बदलता है। आध्यात्मिक रुचि सम्पन्न व्यक्ति अपने पुरुषार्थ का निशाना लोक को, प्रकृति को बनाते हैं। इन चार वादों को समझने के बाद कर्म की सापेक्ष शक्ति का आभास हो जाता है। नहीं तो **कर्म की निरपेक्ष-निरंकुश (Absolute, Autocratic, Arbitarary power) सत्ता की धारणा बनी रहेगी और ऐसी धारणा वाला व्यक्ति और समाज धीरे-धीरे दुर्बल असहाय और जड़ीभूत हो जाता है।** उसका सिंहत्व सुप्त होते-होते मूर्च्छित और मृत हो जाता है।

जैन समाज बहुत मायनों में पुरुषार्थी समाज रहा है। परन्तु **जैसे-जैसे कर्म सिद्धान्त की नियतिपरक, भाग्यवादी व्याख्याएँ की जा रही हैं, उससे इसका पुरुषार्थ मन्द होने का खतरा बढ़ रहा है। इसके पुरुषार्थ को सतेज बनाने के लिए आवश्यकता है, कि कर्म सिद्धान्त को आत्मा लोक और क्रिया से सम्बद्ध करके समझें।** इनसे पृथक् करके कर्म की समझ अधूरी, कच्ची और कुछ अंशों में मिथ्या हो जाएगी। और उसके दुष्परिणाम भी भीषण ही होंगे।

जैनों की जीवनशैली संसार में सबसे उम्दा मानी जाती है। इसकी सर्वश्रेष्ठता को बरकरार रखना है तो सर्वाङ्गीण, अनेकान्तवादी, व्यापक और सम्पूर्णतामय दृष्टिकोण बनाना होगा।

कर्मसिद्धान्त बहुमूल्य सिद्धान्त है जो जैनों के अलावा किसी ने गहराई तक नहीं खोजा। यह जैनों की विलक्षण विशेषता है, पर ध्यान रहे कि यह विशेषता ही इसकी दुर्बलता न बन जाए, क्योंकि धर्म के क्षेत्र में प्राय: ऐसा हो जाता है कि अपनी विशिष्ट उपलब्धि का अत्यधिक प्रचार करके शेष ढाँचे के प्रति उपेक्षा हो जाती है। जैन इस उपेक्षा से उबरें, यही भावना है।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 105
ISSN 2249-2011

प्रवचन

लक्ष्य दया का अपना हो : हर एक क़दम पर यतना हो

महासती श्री विनीतप्रभाजी म.सा.

आचार्यप्रवर पूज्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा. की आज्ञानुवर्तिनी व्याख्यात्री महासती श्री चन्द्रकलाजी म.सा. की सन्निधि में जोधपुर चातुर्मासरत महासती श्री विनीतप्रभाजी म.सा. द्वारा शक्तिनगर के सामायिक-स्वाध्याय भवन में 'नवपद ओली' के अवसर पर व्यक्त विचार श्री धर्मचन्दजी जैन, रजिस्ट्रार द्वारा संकलित एवं प्रेषित। -सम्पादक

यतना अर्थात् जीव-रक्षा के ध्येय से सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना। साधु जीवन तो सम्पूर्ण त्याग प्रधान जीवन है, परन्तु श्रावक जीवन में क़दम-क़दम पर पाप होते रहते हैं। श्रावक पूर्ण त्याग तो नहीं कर सकता है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि गृहस्थ जीवन को सम्पूर्ण पाप करने की छूट मिल गई है।

गृहस्थ के जीवन में पाप बिना चलता नहीं, पर पाप का भय तो सतत रहना चाहिए। जहाँ तक हो सके उसे पाप प्रवृत्ति में कमी करनी चाहिये। पाप प्रवृत्ति करते समय भी हृदय में पाप का डर रखते हुए सावधानी रखना, उसी का नाम यतना है। साधु की माता जैसे अष्टप्रवचन माता है वैसे ही श्रावक की माता यतना है।

श्रावक-श्राविका को हर कार्य विवेकपूर्वक और यतना पूर्वक करना चाहिये। जैसे खाना बनाने के लिए चूल्हा जलाना पड़ता है, पर गैस चालू करने से पूर्व उसे अच्छी तरह से पूँजना और प्रमार्जना करनी चाहिए। जहाँ यतना होगी वहाँ मन के परिणाम कर्कश तथा कठोर नहीं होंगे।

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ।।

दशवैकालिकसूत्र, अध्ययन 4, गाथा 7

हे प्रभो! कैसे चलें, किस प्रकार खड़े रहें, किस प्रकार बैठें, सोएँ, भोजन करें एवं किस प्रकार बोलें, जिससे पापकर्म का बन्ध न हो।

जयं चरे जयं चिट्ठे... यतना के बिना आत्मा में धर्म उत्पन्न नहीं होता। यतना करने से ही आत्मा में धर्म उत्पन्न होता है। यतना एकान्त सुख देने वाली है।

यतना से बहुत सारी पाप-प्रवृत्तियों से हम बच सकते हैं। श्रावक को गृहस्थ जीवन निभाने के लिए सावद्य पाप-प्रवृत्तियाँ करनी पड़ती हैं। पर ध्यान रखें उसके हृदय में दया का परिणाम होना चाहिये। कम से कम जीवों की विराधना हो, यह ध्यान रखना जरूरी है।

जैसे धन का लोभी व्यक्ति किसी मज़दूर से काम कराता है। जब 5 रुपये देने से काम चलता है तो 10 रुपये नहीं देता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव बिना कारण हिंसा नहीं करता। स्नान के लिए एक बाल्टी से काम चल सकता है तो दो बाल्टी वह व्यर्थ में उपयोग नहीं करेगा। कदाचित् गर्मी के कारण कूलर, पंखा, ए.सी. का उपयोग करना हो तो भी सावधानी रखेगा। अपने हाथ से उन्हें बन्द-चालू नहीं करेगा। हर पल उसकी आत्मा पाप करते हुए तड़फेगी। पानी के हाथ लगाते हुए भी सोचेगा कि मैं कितने जीवों को मारने जा रहा हूँ। स्नान करते हुए या पानी पीते वक्त भी वह यतनापूर्वक कार्य करेगा। वह बिना कारण नल खुला नहीं छोड़ेगा। छानकर पानी का उपयोग करेगा, पानी के बर्तन भी खुले नहीं रखेगा, क्योंकि त्रस जीवों के गिरने से हिंसा का पाप लगता है। ठण्डे और गर्म पानी का मिश्रण नहीं करेगा, गुब्बारों में पानी भरकर फेंकेगा नहीं, स्नान में साबुन का उपयोग नहीं करेगा, क्योंकि साबुन का उपयोग करने से पानी का घमासान ज्यादा होता है। स्वीमिंग पूल आदि में स्नान नहीं करेगा। ज्ञानी आत्मा हर कार्य को सावधानीपूर्वक करेगा, क्योंकि यतना साधु और श्रावक का प्राण है।

भगवतीसूत्र में वर्णन आता है। गौतम स्वामी ने

भगवान से पृच्छा की–क्या भोजन बनाती हुई बहन संवर कर सकती है? भगवान ने कहा–हाँ गौतम! कार्य करती हुई बहन भी संवर कर सकती है। वह हर कार्य को अगर यतनापूर्वक कर रही है तो। अगर यतना से क्रिया नहीं कर रही है तो वह संवर करती हुई भी आस्रव कर सकती है।

प्रभु फरमाते हैं **यतना रखोगे तो यातना नहीं भोगनी पड़ेगी।** किसी को दु:खी करके हम सुख प्राप्त नहीं कर सकते। अगर सुखी बनना है तो काया की विराधना से बचो, **जो विराधना से बचेगा वही आराधना करके आराधक बन सकता है।** हमारे जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिये कि मैं अरिहन्त नहीं बन सकूँ तो आराधक तो अवश्य बनूँ।

हम वनस्पति की रक्षा का भी ध्यान रखें, क्योंकि आज मानव हरी का छेदन–भेदन करते भी नहीं डरता है। विवेकशाली मानव हरी वनस्पति का शाक बनाते समय, सुधारते समय जीव हिंसा का पूर्ण ध्यान रखेगा।

वह निगोद से भी बचेगा। जहाँ सतत पानी पड़ा रहता है, ऐसी जगह हरे रंग की लीलन–काई जम जाती है। उस निगोद पर पाँव रखने से अनन्तकाय जीवों की हिंसा होती है। कन्दमूल आदि भी अनन्त जीव कहलाते हैं। इनके सुई के अग्रभाग में अनन्त जीव रहते हैं। उन जीवों की रक्षा के लिए कन्दमूल का त्याग करें, आज तो व्यक्ति उन अनन्त जीवों को मजे से खाता है। भीतर से यतना चली जाती है। खुद मजा करने के लिए दूसरों को सजा देता है। पर वह सजा एक दिन स्वयं को भुगतनी पड़ेगी, इसीलिए सावधानी रखें, क्योंकि 'सावधानी हटी दुर्घटना घटी।'

हर क़दम पर हमारी बहिनों को विशेष ध्यान रसोईघर में रखना है। वहाँ पर आरम्भ, समारम्भ का कार्य ज्यादा होता है। साग–सब्जियों को कैसे सुधारना है। टी.वी. देखते–देखते या मोबाइल पर बात करते–करते कार्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि जब आप टी.वी. देखते हैं तो आपका ध्यान उसी में रहता है और जीव विराधना हो जाती है। घर की नारी का कर्त्तव्य होता है कि हर कार्य यतनापूर्वक करे। जिस घर में यतना होती है उसी घर में साधु–सन्तों का भी आहार पानी का लाभ मिलता है। साधु–सन्त भी देखते हैं कि यह बहन कितना यतनापूर्वक कार्य करती है। कितनी दयावान है। **जहाँ पर अहिंसा का पालन होता है। उस घर में अहिंसा देवी** विराजती है। वहीं पर अहिंसा के पुजारियों का पदार्पण होता है। इसीलिए यतना से कार्य करें, क्योंकि **यतना और विवेक से किया गया कार्य विकास की ओर ले जाता** है। अविवेक से कार्य करने वालों का जीवन तबाह हो जाता है। विवेक की छाँव बड़ी सुखदायी होती है। चारों तरफ सुख ही सुख प्राप्त होता है। विवेकपूर्वक कार्य करने वाला पाप से बच जाता है। विवेकी संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है। वह संसार में पूजा जाता है। जिसके जीवन में विवेक और यतना होती है, उस व्यक्ति की हर जीव से मित्रता होती है। भीतर में शान्ति और समाधि बढ़ती है। **विवेक का 'दीपक' अन्धकार को प्रकाश से भर देता है। यतना विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म है।** बिना यतना के जीव मुर्दा है। आगम में कहा है– **'सव्वभूएसु संजमो।'** अर्थात् सभी जीवों पर संयम रखो। मन, वचन और काया से यतना रखो। संसार का हर जीव जीना चाहता है। इसीलिए **एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक सभी के प्राणों की रक्षा करना है।** सबको अपने प्राण प्यारे हैं। जैसे सभी नदियाँ सागर में मिलती हैं वैसे ही यतना में संसार के सभी धर्म समा जाते हैं। जैसे सुमेरु पर्वत सबसे ऊँचा है आकाश से विशाल दूसरा कोई नहीं है, वैसे ही **यतना से बढकर कोई नहीं है। यतना भगवती है।** सांसारिक कार्य करते हुए सावधानी जरूर रखनी है। हमें पूरे उपयोग से प्रवृत्ति करनी है। यदि साधु के द्वारा उपयोगपूर्वक चलने पर भी पैरों के तले दबकर कोई चींटी मर जाये तो साधु, हिंसा का भागीदार नहीं होता, क्योंकि वह अप्रमत्त और उपयोग से काम लेने वाला है। उपयोग के बिना चलने वाला कोई भी साधु जाने या अनजाने में प्राणों की हिंसा नहीं भी करे तब भी जीवों का विराधक बन जाता है। अर्थात् **प्रमाद भाव से प्राणी के प्राणों को अलग करना अयतना है।** प्रभु महावीर ने आचाराङ्गसूत्र में कहा है–

जे अईया जे य पडुपन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहन्ता भगवन्तो ते सव्वे एवमाइक्खन्ति एवं भासंति एवं पण्णवेन्ति एवं परूवेंति, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेत्तव्वा न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए।

जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान में जितने तीर्थंकर हैं, भविष्य में जितने भी होंगे वे सब यही कहते थे, कह रहे हैं और कहेंगे कि सभी प्राण, भूत, सत्त्व एवं जीव की रक्षा करो, यतना करो। धर्मरुचि अनगार जीव की यतना के लिए कड़वे तुम्बे को भी खा गये, लेकिन जमीन पर नहीं डाला। जमीन पर डालूँगा तो इतनी सारी चींटियाँ आयेंगी और इसे खाकर मर जायेंगी। इससे तो अच्छा है कि मैं एक ही जीव मरूँगा और वे तुम्बे की कड़वी साग को स्वयं खा लेते हैं। यह होती है जीव की रक्षा और यतना।

हम सबके सुखी एवं स्वस्थ जीवन की चाबी यतना है, क्योंकि संसार का अटल नियम है। जैसा बीज बोओगे वैसा ही पाओगे। यदि आम के बीज बोओगे तो आम मिलेंगे, बबूल के बीज बोओगे तो बबूल ही पाओगे। हम हर जीव को साता पहुँचाएँ।

यतना एवं विवेक रखें, जीवोत्पत्ति न हो, इसका ध्यान रखें। यतनापूर्वक कार्य करने से नये कर्मों का बन्ध नहीं होता और पूर्वसञ्चित कर्मों की निर्जरा होती है। कोई भी खाद्य पदार्थ को खुले नहीं रखें, क्योंकि खुला रखने पर जीव विराधना होती है।

बोलते समय भी उपयोग रखें। मर जाओ, मारूँगा या मारो ऐसे शब्द नहीं बोलें। हरी वनस्पति को काटो शब्द न बोलकर सुधारो या साफ करो ऐसे बोलना चाहिये। किसी भी चीज से जलाओ न बोलकर चालू करो ऐसे शब्द का प्रयोग करना चाहिये। भाषा बोलते समय पूर्ण विवेक रखना चाहिये। हमारा धर्म ही यतना है, हर कार्य में यतना रखें।

जीवनशैली में तपस्या का महत्त्व

शान्तरा नाहर

जैन जीवनशैली अपनाओ शाश्वत सुख को पाओ
छोटे-छोटे व्रत पच्चक्खान करो और करवाओ
सभी भाई-बहन इस ओर क़दम बढ़ाओ
तप-त्याग तपस्या से कर्मों की निर्जरा कराओ

जैनधर्म में तप को बहुत महत्त्व दिया गया है। जैनधर्म में तपस्या आत्मशुद्धि एवं कर्म-निर्जरा के लिए की जाती है। तप के स्वरूप में कहा गया है- **इच्छानिरोधस्तप:** इच्छाओं का निरोध तप है। इस लक्ष्य के साथ जो बाह्य और आभ्यन्तर तप करता है, वह कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है। तपस्या करने वाले साधक को अपनी शक्ति को देखकर ही तपस्या करनी चाहिए। दशवैकालिकसूत्र में कहा है- बल, क्षमता, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र और काल को देखकर ही स्वयं को किसी साधना में लगाना चाहिए।

आज हमारे यहाँ मासखमण, 15, 11, अठाई, पचोले, तेले आदि तप किए जाते हैं। बड़ी तपस्याओं में वर्धमान आयम्बिल तप, सिंह निष्क्रीड़ित तप आदि तपस्याएँ की जाती हैं।

तपस्या छोटी हो या बड़ी, सभी का अपना-अपना महत्त्व है। स्वाध्याय करना भी एक बहुत बड़ा तप है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि स्वाध्याय से समस्त दु:खों से मुक्ति मिलती है, जन्म-जन्मान्तरों के सञ्चित कर्म इससे क्षीण हो जाते हैं, लेकिन तपस्या तभी सफल होती है जब मर्यादाओं को तोड़ा नहीं जाता है। तप से आत्मा निर्मल बनकर सिद्धि को प्राप्त कर लेती है। आगमों में तप को निर्जरा का साधन माना गया है, कहा जाता है- **भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई।**

करोड़ों जन्मों के उपार्जित कर्म तप के द्वारा क्षीण हो जाते हैं! *-भोपाल (मध्यप्रदेश)*

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 108
ISSN 2249-2011

प्रवचन

जीवन में करने योग्य एवं नहीं करने योग्य

महासती श्री भाग्यप्रभाजी म.सा.

आचार्यप्रवर पूज्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा. के आज्ञानुवर्तिनी व्याख्यात्री महासती श्री ज्ञानलताजी म.सा. की सन्निधि में जयपुर चातुर्मासरत महासती श्री भाग्यप्रभाजी म.सा. ने गतवर्ष युवक-युवतियों की 'एक कदम धर्म की ओर' कक्षा ली थी, उसके कुछ संक्षिप्त बिन्दु श्री मनोज कुमार जैन द्वारा यहाँ सकलित हैं। -सम्पादक

जीवन में करने योग्य कार्य

1. **प्रार्थना**–1. प्रार्थना करने से हमारा सम्बन्ध भगवान के साथ जुड़ जाता है। 2. हमारे शब्द हमारे कानों तक पहुँचने से पहले उनके भाव भगवान तक पहुँच जाते हैं। 3. प्रार्थना एक सशक्त (Strong) दवा के समान है जो दु:खी मन को पुन: स्वस्थ (Heal) कर देती है।
2. **प्रणाम**–1. बड़ों को प्रणाम करने से हमें उनकी शुभकामनाएँ (Blessings) प्राप्त होती हैं। वे शुभकामनाएँ हमारे भविष्य का निर्माण करती हैं। प्रणाम करना एक विनय पद्धति है जो विनय गुण को पुष्ट करती है। 2. जब बड़ों को प्रणाम किया जाता है तो हमें हमारी एवं उनकी स्थिति (Position) ध्यान में आती है, जिससे उनके प्रति अविनय के भाव नहीं आते और हमें अहंकार भी नहीं आता।
3. **सामायिक**–1. सामायिक करना समता का पूर्वाभ्यास (Rehersal) है। 48 मिनिट समता का अभ्यास करके धीरे-धीरे सम्पूर्ण दिवस समता में जीना आ जाता है। 2. जीवन भर पाप का त्याग किया जाए, यह ही उत्तम है। इतना सामर्थ्य नहीं है तो कम से कम प्रत्येक घण्टे के 2-2 मिनिट बचाकर 48 मिनिट के लिए तो पाप का त्याग करना ही चाहिए। 3. सामायिक करना संसार से सम्बन्ध रहित (Disconnect) होना है। स्वयं को स्वयं में स्थिर करना है। वह स्थिरता बचे हुए 23 घण्टे में सही गति देती है। अर्थात् शुभ में ही प्रवृत्त कराती है। समता अनुपम सुख को प्राप्त करवाती है। 4. सावद्य कषायों का त्याग करके, निरवद्य व्यापारों में प्रवृत्ति करना एवं राग-द्वेष रहित कर्म-निर्जरा से होने वाली अपूर्व शुद्धि सामायिक है।
4. **जय-जिनेन्द्र**–1. जय-जिनेन्द्र बोलने से अनन्त अरिहन्त-सिद्ध भगवान को नमस्कार होता है। 2. जय-जिनेन्द्र बोलना जैनत्व की पहचान है। इससे जैनधर्म से सम्बद्धता होती है। 3. जय-जिनेन्द्र बोलने से नमस्कार पुण्य होता है।
5. **गुरु-सेवा**– 1. गुरु की सेवा में समस्त 'नमो लोए सव्वसाहूणं' पद की भक्ति हो जाती है, क्योंकि किसी भी गुरु की भक्ति उनके गुणों से प्रभावित होकर ही की जाती है। 2. गुरु-सेवा हमारी जिम्मेदारी होती है। जो सम्पूर्ण समाज का कल्याण कर रहे हैं, उनका ध्यान रखना मौलिक जिम्मेदारी है। 3. गुरु-सेवा से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है जो कि शुभ प्रवृत्तियों में सबसे श्रेष्ठ है।
6. **गुरु-दर्शन**–1. गुरु-दर्शन से हमारी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ती है। जिससे हमारी कमज़ोरियाँ दूर होती हैं। 2. गुरु-दर्शन से हमारे भीतर यह विश्वास जगता है कि बिना भोगों के साधनों के भी विशेष आनन्द के साथ जीवन जिया जा सकता है। 3. गुरु-दर्शन से भक्ति बढ़ती है, वह भक्ति-साधना की रुचि प्रकट करवाती है। वह रुचि मुक्ति-बीज बनकर मुख्य लक्ष्य तक पहुँचा देती है।
7. **मनोरथ-चिन्तन**–1. तीन मनोरथ का चिन्तन करने से महानिर्जरा और महापर्यवसान होता है। 2. तीन मनोरथ के चिन्तन से जीवन के प्रारम्भिक

लक्ष्य (Primary goals) संशोधित (Revise) होते रहते हैं एवं हम अपने लक्ष्यों से जुड़े रहते हैं। 3. तीन मनोरथ का बार-बार चिन्तन करने से भोगासक्ति कम होती है, जिससे संयोग-वियोग में सुख-दुःख स्वतः समाप्त होने लगते हैं।

8. **प्रवचन-श्रवण**-1. प्रवचन-श्रवण करने से वीतराग भगवान तथा उनकी वाणी की भक्ति होती है। वह भक्ति उस वाणी को जीने की क्षमता भी देती है। 2. प्रवचन-श्रवण से महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की महत्ता पता चलती है एवं अपनी गलती का अहसास होता है। उन गलतियों को सुधारने की राह प्रशस्त होती है। 3. प्रवचन-श्रवण से हमारी अनादिकालीन गलत मानसिकता पर करारा प्रहार होता है। हमारी मान्यताएँ सही बनने लगती हैं जो जीवन-परिवर्तन के लिए बहुत उपयोगी हैं।

9. **क्षमा**-1. क्षमा माँगने और देने वाले दोनों का मन हल्का हो जाता है। भारी मन से कर्मबन्ध ज्यादा होते हैं। 2. क्षमा न देने तथा न माँगने से वैरानुबन्ध होता है। अगर कषाय-भाव मन में रह जाता है तो कालान्तर में वह वैरानुबन्ध में बदल जाता है। क्षमा उस वैरानुबन्ध से बचाती है। 3. भगवान ने दस धर्म बतलाये हैं, उसमें प्रथम है-क्षमा। क्षमा से धर्म का प्रारम्भ होता है। उसका अभ्यास करता हुआ जीव आगे के धर्मों में भी विकास करता है।

10. **ज्ञानदान**-1. ज्ञान होने पर और पात्र मिलने पर भी यदि ईर्ष्यावश अथवा गलत अभिप्राय से ज्ञान नहीं दिया जाता, तो ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है। 2. विद्या बाँटने से बढ़ती है। अच्छा जिज्ञासु मिलने पर हमारे भीतर के ज्ञानद्वार खुलने लगते हैं। श्रुत से ही शासन जयवन्त रहता है। भगवान की वाणी को सभी में बाँटने से हम शासन की जयवन्तता में निमित्त बनते हैं।

11. **सादा जीवन**-1. सादा जीवन जीने वाले व्यक्ति प्रतिस्पर्धा एवं तुलनात्मकता से बाहर निकल जाते हैं, जिससे उनकी मानसिक शान्ति बढ़ती है। 2. अच्छा जीने, पहनने एवं भोगने वाले सभी की आँखों में बसते हैं, जबकि सादा जीवन जीने वाले सभी के दिलों में बसते हैं। 3. सादा जीवन में विश्वास रखने वाले संसार के किसी भी संसाधन को बर्बाद नहीं करते, जिससे विश्वमैत्री को जी पाते हैं।

12. **बुजुर्ग-सेवा**-1. जिन बुजुर्गों की सेवा होती है, उनकी जीने की आस बनी रहती है, अन्यथा वृद्धावस्था उनके लिए बोझ बन जाती है, जो पल-पल मृत्यु की इच्छा में ही पूर्ण हो जाती है। 2. जिन वृद्ध लोगों की सेवा नहीं होती, वे तनावग्रस्त (Depressed) हो जाते हैं, जिससे उन्हें कई बीमारियाँ घेर लेती हैं। जो अपने बड़ों को साता नहीं उपजाते, वे असाता के निमित्त बन जाते हैं। 3. घर के बुजुर्गों की सेवा उनके प्रति कृतज्ञता भी है। उन्होंने घर की इज्जत, धन-दौलत, अनुभव, प्यार, परवाह आदि बहुत कुछ हमें बिना माँगे उपहारस्वरूप दिया है। उनकी सेवा करना उनके द्वारा किए गए उपकारों के प्रति हमारी कृतज्ञता को दर्शाता है।

13. **संस्कारदान**-1. जिसमें संस्कार नहीं होते, उसका पूरा जीवन दुःख से भर जाता है। 2. जिसे संस्कार दिए जाते हैं, वे गलत रास्ते पर नहीं जाते। इससे परम्परा, नीति, व्यवहार, रीति-रिवाज सभी सुरक्षित रहते हैं। कारण कि हर क्षेत्र के संस्कार उनके पूर्वजों में बहुत अनुभव के आधार पर आते हैं, जो जीवन को सुरक्षित और आनन्दित करते हैं। 3. संस्कार-दान एक जिम्मेदारी है, इसे पूरा नहीं करने वाला अपराधी है। उसे यदि सजा भी प्राप्त हो तो वह गलती से मुक्त तो हो जाएगा, पर उसने जो गलती की है, उसका परिशोधन (Rectification) नहीं हो सकता।

14. **विगय-त्याग**-1. ज्यादा मात्रा में विगय का सेवन

करने से व्यक्ति कई बीमारियों से ग्रसित हो जाता है। 2. विगय-सेवन की अधिकता से विकार भाव अधिक आते हैं, क्योंकि कहा गया है-'जैसा खाये अन्न, वैसा होने मन।' विगय का अधिक सेवन करने वाले में क्रोध, मान, मोह, मैथुन विषयक भाव अधिक आते हैं। 3. स्थानाङ्गसूत्र में आयु टूटने के 7 कारणों में एक है-अधिक आहार। अधिक विगय-सेवन से आयुष्य भी कम हो सकता है। एक साल तक कोई 1 विगय का त्याग करे तो उसे 625 उपवास जितना फल प्राप्त हो सकता है। इससे विगय-त्याग के महत्त्व को आसानी से समझा जा सकता है।

15. **धर्मप्रचार**-1. जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है। कहा जाता है कि हमारी आत्मा अगले भवों में यदि श्रद्धा से च्युत हो जाए तो वे जीव हमें पुन: धर्म में स्थिर करते हैं, जिन्हें पूर्व भवों में हमने धर्म में स्थिर किया है। 2. धर्म के प्रचार से संसार में शान्ति, प्रेम, सत्य, ईमानदारी, उदारता, सेवा आदि गुणों का विकास होगा, जिससे संसार सुन्दर बनेगा। 3. अधर्म का प्रचार एवं प्रोत्साहन करना नहीं पड़ता, वह स्वत: होता है, परन्तु अच्छी चीजों का यदि प्रचार एवं प्रोत्साहन न किया जाए तो वे शीघ्र ही लुप्त हो सकती हैं।

16. **अभयदान**-1.प्रत्येक जीव जीना चाहता है। जब हम उसे अभयदान देते हैं तो उसकी मूल चाह को पूरा करते हैं। 2. अभयदान देकर जीवों को अशुभ एवं दर्दनाक अन्त से बचाया जा सकता है। 3. जैसी हमारी आत्मा है वैसी ही सभी जीवों की आत्मा है, अभयदान इस सत्य की स्वीकृति है। 4. अभयदान देने वाले संसार से पार उतर जाते हैं। अभयदान में सकारात्मक अहिंसा है।

17. **मांगलिक-श्रवण**-1. मांगलिक-श्रवण द्वारा हम चार शरण से जुड़ जाते हैं, जिससे आध्यात्मिक शक्ति हमें मिलती रहती है। 2. इससे हम आशावादी हो जाते हैं कि अब सब अच्छा होगा। हमारे विचार विशुद्ध होने से कार्य भी अच्छा ही होता है। 3. मांगलिक श्रवण या इसके उच्चारण से हम अनन्त भगवान से जुड़ जाते हैं। एक पवित्र आत्मा की शरण भी तारक है, तो अनन्त भगवान की शरण में जाने का परिणाम तो श्रेष्ठ होता ही है। 4. चार शरणों की शरण को बिना शर्त स्वीकार करना शरणागत भावना है। वह परम भक्ति योग है। परम पवित्र एवं शुद्ध दशा है, जो मंगलकारी एवं कल्याणकारी है।

18. **साधर्मी-सेवा**-1. साधर्मी की सेवा व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण है तथा इससे सम्यक्त्व दृढ़ भी होता है। 2. धर्म करने से मात्र धर्म के प्रति समर्पण होता है तथा धर्मी की सेवा करने में धर्म एवं धर्मी दोनों के प्रति समर्पण होता है। 3. साधर्मी की सेवा से धर्म का विकास होता है। इससे अनेक जीवों का हित होता है। इससे हर धर्मी का कर्त्तव्य भी पूर्ण होता है।

19. **यतना**-1. यतना अर्थात् जीवों की रक्षा। इससे मैत्री भाव का विकास होता है। 2. विश्व में हर जीव की अपनी महत्ता होती है। यतना द्वारा हम उन सभी जीवों को सम्मान एवं महत्त्व देते हैं। 3. यतना धर्म की माता है। यह हिंसा से बचाती है। अत: यतनापूर्वक हर कार्य करने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है।

20. **प्रतिलेखना**-1. प्रतिलेखना अर्थात् जो खायें, जहाँ बैठें, जो करें, उस पर दृष्टि एकाग्र करना। इससे चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। 2. यतना का गुण बढ़ता जाता है। जो जीव हमारी लापरवाही में मरने वाले होते हैं, उन्हें अभयदान प्राप्त होता है। जीवन में सतर्कता एवं बौद्धिकता का विकास होता है तथा हम स्वयं को भी हानि से बचा पाते हैं।

21. **अनुमोदना**-1. जिस व्यक्ति की जिस विषय के लिए अनुमोदना की जाती है, वह उस कार्य के लिए

प्रेरित होता है। 2. हम जो अच्छा कार्य नहीं कर पाते, अनुमोदना करने से हमें उसका लाभ भी मिल जाता है। 3. हम जो नहीं कर पा रहे, उस विषय की अनुमोदना से, करने का सामर्थ्य प्रकट होता है।

जीवन में नहीं करने योग्य कार्य

1. **जमींकन्द-सेवन**-1. जब कम शक्ति एवं अल्प, धन से काम हो जाए तो ज्यादा शक्ति एवं धन का अपव्यय नहीं किया जाता। उसी प्रकार जब कम पाप से जीवन चल जाए तो ज्यादा पाप नहीं करने चाहिए। जमींकन्द में अनन्त जीव होते हैं, अन्य वनस्पति में 1, 2, 3, संख्यात एवं असंख्यात जीव होते हैं। 2. जमींकन्द तामसिक आहार है, इसे खाने से तामसिक भाव आते हैं। यह अन्धेरे में विकसित होता है, अतः उपभोग करने वाले में नकारात्मक भाव की सम्भावना अधिक रहती है। 3. सामान्य आहार में तो आप पेड़ के ऊपरी भाग के फल,पत्र आदि का सेवन करते हो, जबकि जमींकन्द में जड़ से ही उखाड़ा जाता है।
2. **जूठा छोड़ना**-1. हमें जो आहार प्राप्त होता है, उसमें अनेकों की मेहनत छिपी होती है, यथा- किसान, अनाज के प्रदायक व्यापारी, परिवार में धन कमाने वाले, खाना बनाने वाले इत्यादि की। इन सभी की मेहनत का अपमान है जूठा छोड़ना तथा जूठा न छोड़ना सभी के प्रति सम्मान है। 2. जो भी भोजन (खाना) है वह वनस्पतिकाय के जीवों का देह होता है। उन्होंने अपना जीवन दिया, तब हमें खाना मिला। उनका जीवन-बलिदान हमारे जीवन की सुरक्षा के लिए था। जूठन छोड़ने से वह खाना हमारे जीवन के लिए उपयोगी भी नहीं हुआ तथा वे जीव अकारण मारे गए। 3. जूठा छोड़ना द्वीन्द्रिय आदि जीवों के लिए अग्निकुण्ड तैयार करने के समान है। उसमें अनेक लटें आदि पड़ जाती हैं और समय के साथ, कचरे के साथ प्रायः उस आहार को भी जला दिया जाता है। उस आहार के साथ वे सभी लटें, कीड़े जिन्दा जल जाते हैं। 4. इससे पर्यावरण भी प्रदूषण से भर जाता है। इसका अर्थ कि हम अशिक्षित हैं। जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण एवं भूमि-प्रदूषणों के कारण कई तरह की बीमारियाँ फैलती हैं जो स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद हैं।
3. **शाकाहारी-मांसाहारी भोजनालय में भोजन**- 1. हमारे पास में कोई मांसाहार करे, यह देखते हुए हम आसानी से आहार करें-यह दया-भाव घटाता है। 2. मानव से भूल होना स्वाभाविक है। भले ही रसोइया अलग-अलग हो, खाना बनाने के स्थान अलग-अलग हों, तब भी मानव से भूल होने की सम्भावना पूरी-पूरी रहती है। फ्रिज एक हो सकता है, जिन बर्तनों में परोसा जा रहा है वे एक हो सकते हैं। जो पैसा हम वहाँ खर्च कर रहे हैं, उससे होटल में जो भी खरीददारी होगी वह भी दोनों तरह के भोजन को बढ़ावा देगी। वहाँ जाकर शाकाहार किया जाए तो भी वैसी होटल को चलवाने का पाप लगता है। 3. दो पीढ़ी पहले अण्डे का नाम भी पाप माना जाता था, एक पीढ़ी पहले नाम लिया गया, पर जहाँ अण्डा बिकता वहाँ से कुछ नहीं खरीदा गया। यह पीढ़ी जहाँ पशुओं को मारकर पकाया जाता है, वहाँ जाती है, तो इस धारा पर सोचें, कि अगली पीढ़ी कितना और नीचे गिर सकती है।
4. **बुरी संगति**-1. गलत संगति में रहने से उसका प्रभाव पड़ता है। उसका रंग चढ़ने पर हम भी वैसे ही बन सकते हैं। काजल की कोठरी में कालिख लग ही जाती है। 2. गलत संगति में रहने पर हम भी गलत ही समझे जाते हैं, चाहे गलती करें या न करें। समाज में हमारी पहचान वैसी ही बन जाती है। 3. बुरी संगति से इस भव के संस्कार एवं भाव खराब होते हैं, जिससे परम्परा से भव-भव खराब होते हैं। 4. हमें महसूस ही नहीं होता कि हम कब बुरे संस्कार ले लेते हैं।

5. **गर्भपात**–1. गर्भपात करवाना और उसमें सहयोग करना पञ्चेन्द्रिय जीव, जो कि श्रेष्ठ गति में आया है, उसके जीवन के अधिकार को उससे छीनना है। 2. जिस जीव को मरवाया गया, सम्भव है वह सन्त-सती बनता, श्रावक-श्राविका बनता। उसे मरवाकर शासन की हानि की है। यह सम्भव है वह हजारों का सहारा बनता, लाखों तिर्यञ्चों की रक्षा करता, महामानव बनता तो उसे मरवाकर पूरी दुनिया को हानि पहुँचाई है। 3. पशु भी अपने बच्चों को सम्भालकर रखते हैं, यह पशुता से भी हीन कार्य है।

6. **कच्चा पानी (सचित्त जल) पीना**–1. पानी की प्रत्येक बूँद में असंख्यात जीव होते हैं। कच्चा पानी पीना अर्थात् असंख्यात जीवों को गले के नीचे उतार लेना। 2. अचित्त पानी की प्रक्रिया में एक बार जीव मरते हैं, परन्तु कच्चे पानी को जब-जब छूते हैं, उसमें गिलास डालते हैं, उसे हिलाते हैं उतनी-उतनी बार असंख्यात जीवों की विराधना होती रहती है। 3. पानी स्वयं जीव है, सचित्त है। कच्चा पानी पीने की जगह अचित्त पानी (धोवन पानी) जो बर्तनों को राख से माँजकर बनाया जाता है, पीना उचित है। इस तरह पानी की बचत भी होगी और पर्यावरण दूषित भी नहीं होगा।

7. **जुआ**–1. सट्टा शीघ्र एवं आसानी से धन कमाने के लिए खेला जाता है। जबकि आज तक दुनिया में जो भी अमीर बना है वह सट्टे से नहीं, अपनी मेहनत से बना है। 2. सट्टे में पैसा खोने की सम्भावना अधिक रहती है। पैसा प्राप्ति की सम्भावना कम रहती है। पैसा जाने से व्यक्ति का मानसिक सन्तुलन ख़राब हो जाता है, तनाव बढ़ जाता है। उससे आत्महत्या की सम्भावना बढ़ जाती है। 3. व्यक्ति जो पैसा कमाता है उस पर पूरे परिवार का अधिकार रहता है। सट्टे में जो पैसा हारा जाता है, उससे पूरे परिवार का जीवन प्रभावित होता है। फलत: सट्टे वाले की संगति से सभी बचना चाहते हैं या अपने सगे-सम्बन्धियों को भी उससे दूर रहने की प्रेरणा देते हैं।

8. **झूठ**–1. प्रश्नव्याकरणसूत्र में समझाया है-एक झूठ से भी जीव भव-भव में गूँगा, तोतला, अप्रिय वाणी वाला, असम्माननीय वाणी वाला बनता है। 2. झूठ बोलना समाज में, परिवार में, अविश्वसनीय बनना है। विश्वास एक बार जाने पर पुन: पूर्व जैसा कभी नहीं बनता। 3. एक झूठ को छिपाने के लिए हजारों झूठ बोलने पड़ते हैं। ज्ञानियों ने फरमाया है-जैसे रुई लपेटी आग समय के साथ पूरी रुई को जला देती है एवं सामने भी आ जाती है, वैसे ही हजारों झूठ के साथ मूल बात प्रकट हो जाती है। 4. झूठ बोलने से मात्र अस्थायी हानि ही नहीं होती, ऐसा मानें कि इससे आत्मा में स्थायी रूप से बहुत बड़ी हानि होती है।

9. **हिंसा**–1. जैसे हमें अपनी जान प्यारी है, वैसे ही सभी को अपनी जान प्यारी होती है। अत: सभी के जीवन की रक्षा करनी चाहिए। 2. भगवान की वाणी है-'सव्वे जीवा वि जीविउं इच्छंति।' 3. हिंसा से दया, करुणा, अनुकम्पा, सहृदयता जैसे अनेक गुण समाप्त होते हैं, तभी हिंसा सम्भव होती है। अत: हिंसा से बचना चाहिए।

10. **आत्मप्रशंसा**–1. स्व की प्रशंसा बड़ा अहंकार है। जब जीव स्वयं के गुण देखने लगता है तो उस अहंकार की भूमिका में अन्यों के गुण नहीं दिखते। 2. स्वयं के दोष देखने से दोष कम होते हैं एवं स्वयं के गुण देखने से गुण कम होते हैं। 3. स्वयं के गुण देखना दोष है, गुण नहीं, उदाहरणार्थ-कोई कहे-मैं हरदम सच बोलता हूँ तो उसका यह सच भी दोष रूप ही है।

11. **चोरी**–1. चोरी अर्थात् स्वामी की आज्ञा बिना उस वस्तु को ग्रहण करना। यह नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक हर स्थिति में अपराध है। 2. जिस

चीज़ की चोरी की जाती है, मात्र उस चीज़ की ही चोरी नहीं होती। साथ ही वस्तु के स्वामी की निश्चिन्तता, सुख, समाधि का भी हरण होता है। 3. यह भी सम्भव है जिस चीज़ की चोरी की जा रही है, उस वस्तु की उसके मालिक को ज्यादा आवश्यकता हो। 4. चोरी आदत भी बन सकती है। यह आदत क्लेप्टोमानीया रूपी बीमारी में बदल जाती है। जरूरत न पड़ने पर भी इन्सान स्वयं को रोक नहीं पाता। 5. चोरी का परिणाम जितना सामान्य माना जाता है, उससे बहुत बड़ा होता है। किसी की 500 रुपये की चोरी का परिणाम 50,000 रुपये तक हो सकता है। 6. अन्त में चोरी के माल से प्रत्यक्ष रूप में नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप में हानि ही होती है। जैसे डॉक्टर की फीस, दुर्घटना या अन्य किसी रूप में वह हानि ही देता है।

12. **कीड़े-मकोड़े मारना**-1. कीड़े-मकोड़ों का भी हमारे जैसा ही जीवन है। वे भी स्वयं को बचाने की कोशिश करते हैं, उन्हें भी सुख-दुःख का अहसास होता है। उन्हें भी अपने समूह से प्रेम होता है, वे भी अपना घर बनाते हैं, डरते हैं, परेशानी में रास्ता निकालते हैं। उनमें भी बहुत कुछ मानवों जैसा ही होता है। 2. कीड़े-मकोड़े भी आहार करते हैं, उनमें भी क्रोध-मान-माया-लोभ होते हैं, उनमें भी लेश्या, अध्यवसाय, आर्त्त आदि ध्यान होते हैं। अतः उन्हें भी हमारे समान ही पीड़ा होती है। 3. कीड़े-मकोड़े मारना हिंसा है तथा यह महापाप है।

13. **अष्टमी आदि तिथियों में धर्म-विशेष**-1. अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथियों में स्नान-त्याग, हरी वनस्पति-त्याग, ब्रह्मचर्य-पालन, प्रतिक्रमण आदि की प्रेरणा विशेष की जाती है। उसका कारण है कि उन दिनों में आयुबन्ध की सम्भावना अधिक होती है। पाप करने से अशुभ आयु बँधती है। 2. पूर्णिमा, अमावस को लवणसमुद्र में पानी की मात्रा बढ़ती है। जम्बूद्वीप में धर्म करने वालों के प्रभाव से वह पानी अन्दर नहीं आता है। 3. हर तिथि पर चन्द्रमा से जल स्तर में उफान आता है। हमारे शरीर में 70% जल होता है। इन तिथियों पर उसमें भी जलस्तर अच्छा रहता है। इसलिए इन दिनों हरी वनस्पतियों का त्याग रखना उचित है।

14. **माता-पिता से छिपाना**-1. अपने माता-पिता आदि से कोई बात छुपानी नहीं चाहिए। छुपाने से अपने ही भीतर की समाधि नष्ट हो जाती है तथा डर-डर कर रहना होता है। 2. छुपी हुई बात पता पड़ने पर, उसके बदले में हम कितने ही कारण प्रकट करें, पर उसको दुरूस्त (ठीक) नहीं कर सकते। 3. उनको झूठ बताना माया है, तो सही बात छुपाना भी माया हो सकती है।

15. **झूठा आरोप**-1. 18 पापों में से अभ्याख्यान ही ऐसा पाप है जो जैसा बाँधा जाता है, वैसा भोगना होता है। झूठा आरोप लगाना अभ्याख्यान ही है। 2. जिस पर झूठा आरोप लगाया जाता है, वह व्यक्ति दुःख में डूब जाता है। किसी को सुखी न कर सकें तो दुःखी भी नहीं करना चाहिए। 3. किसी एक व्यक्ति पर झूठा आरोप लगाकर किसी अन्य को बताने के बाद यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता, कि वह व्यक्ति उस बात को कितनों को कहेगा? अगर कुछ समय बाद हम पश्चात्ताप करें एवं जिसे झूठा आरोप लगाकर बताया था, उसे सही भी कर दें तो भी सही को तो सही नहीं किया जा सकता।

16. **बोतल बन्द पानी**-1. पानी छानने के लिए बहुत पानी बर्बाद होता है। 2. पानी एक दिन पूर्व का छना हुआ भी अगले दिन अनछना हो जाता है। बोतलबन्द पानी का आशय है, अनछना पानी। 3. पानी जिस भी प्लास्टिक में बन्द होकर आता है, उसे फेंकने से तथा उसे प्लास्टिक के बनने में जो क्रिया लगती है, उससे आत्मा तो मलिन होती ही है, पर्यावरण को भी भारी हानि होती है। साथ ही

स्वास्थ्य को भी हानि होती है। 4. प्लास्टिक के पात्र में रहा हुआ पानी रासायनिक अभिक्रिया तो करता ही है।

17. **शीतल पेय**–1. शीतल पेय शरीर को बहुत हानि पहुँचाता है। मशहूर फिल्म अभिनेता अमिताभ बच्चन 'पेप्सी' का विज्ञापन करता था, उसकी आँतें खराब होने से उसने इसे पीना और इसका विज्ञापन करना दोनों बन्द कर दिया। 2. पेप्सी कम्पनी की चेयरमेन इन्दिरा नुई ने अपने साक्षात्कार में बताया कि उनके परिवार में कोई भी पेप्सी नहीं पीता। वे इनसे होने वाले दुष्परिणामों को अच्छे से जानते हैं। 3. शीतल पेय को टॉयलेट क्लीनर भी कहते हैं, क्योंकि इसमें तेजाब (Acid) अधिक होता है। इसमें कैफिन (Cafin) ज्यादा होता है जिससे नशा (Addiction) भी आता है।

18. **घास पर चलना**–1. घास पर चाहे स्वास्थ्य लाभ के लिए चलें या पार्टी आदि कारणों से, घास के वनस्पतिकाय जीवों की विराधना होती है। जबकि एक घास के तिनके में असंख्यात जीव होते हैं। 2. भगवान की वाणी के अनुसार जहाँ वनस्पति होती है, वहाँ द्वीन्द्रिय आदि जीव नियम से होते हैं, तो उस पर चलना त्रसकाय की हिंसा है। उसमें लीलन भी होती है। लीलन की विराधना अनन्त जीवों की विराधना है। 3. घास पर चलकर के आँखें ज़्यादा अच्छी हो जाए, पर उससे हुई हिंसा से निश्चय ही कर्म बहुत बढ़ जायेंगे।

19. **सजावट**–1. पैकिंग का कारण वस्तु को सुरक्षित रखना होता है, पर सजावट से मात्र आडम्बर बढ़ता है। 2. पैकिंग में समय, शक्ति, पैसा, चीजें सभी बर्बाद होते हैं। समझदार व्यक्ति इन सभी की भली प्रकार कीमत जानते हैं। 3. प्रशंसा सुनने के लिए अनाकर्षक या कम आकर्षक चीजों को आकर्षक दिखाने के लिए एवं प्रतियोगी भाव से पैकिंग रागपूर्वक की जाती है। ये कोई भी भाव सही नहीं हैं।

20. **देर रात (रात्रिकालीन) कार्यक्रम**–1. रात में कार्यक्रम रखने से उसमें बचा हुआ खाना रात में किसी एन.जी.ओ. में या जरूरतमन्द व्यक्तियों के पास नहीं पहुँच पाता, जिससे खराब हो जाता है। 2. रात में कार्यक्रम रखने से जो बाहर से आए हैं, वे उस दिन लौट नहीं पाते तो उनका समय खराब होता है। 3. रात में शादी होने से उसमें बहुत रोशनी की आवश्यकता होती है, जिसके लिए विभिन्न प्रकार की कई लाइटें लगाई जाती हैं, जिससे उत्पन्न बहुत से कीड़े आदि भी मरते हैं। कीड़ों के खाने में गिरने से बदहज़मी होने की सम्भावना भी रहती है। 4. रात में खाना ही पाप है तो हजारों को रात में खिलाने का पाप क्यों स्वयं के सिर पर लेना? 5. ज़िन्दगी भर जितना आपने खाना बर्बाद नहीं किया होगा, उससे अधिक एक कार्यक्रम में बर्बाद हो जाता है। यह खाना नाली में जाकर कितनी विराधना और पाप का भागी बना देता है?

21. **देर से उठना**–1. सुबह-सुबह ब्रह्म मुहूर्त्त में उठने से विशेष सकारात्मक, सर्जनात्मक विकास वाले अध्यवसाय आते हैं, मन-चित्त अधिक विशुद्ध होते हैं। देरी से उठने से हम अपने सुन्दर स्वरूप के दर्शन का मौका खो देते हैं। 2. हर दिन दो घण्टे देरी से उठा गया तो सप्ताह के चौदह एवं महीने के साठ घण्टे नीन्द तथा प्रमाद में खो दिए। एक दिन कार्यसमय यदि 12 घण्टे हैं तो दो घण्टे देरी से उठने से स्वयं के 1 महीने के पचास घण्टे खो दिए।

22. **मोबाइल में खेल**–1. मोबाइल में खेल खेलने से हम उसके आदी हो जाते हैं। किसी भी चीज की लत होने पर वह हम पर राज करती है, हम उस पर राज नहीं करते। 2. मोबाइल खेलों में कई बार पशु-पक्षियों, योद्धाओं आदि को मारा जाता है। भीतर में द्वेष के परिणामस्वरूप उससे पञ्चेन्द्रिय वध का भी पाप लगता है। मोबाइल पर हिंसा करने से डर खुल जाता है तो वास्तविक जीवन में भी

हिंसा करने से डर नहीं लगता। 3. मोबाइल चालू रहते हर समय असंख्यात तेजस्काय जीवों की शवयात्रा निकलती रहती है। 4. मोबाइल से निकलने वाली हानिकारक विकिरणों से कैंसर, आँखों की समस्या जैसी कई स्वास्थ्य सम्बन्धी बीमारियों से व्यक्ति ग्रसित हो जाता है।

23. **रात्रिभोजन**–1. रात्रि में बिना सूर्य के प्रकाश के जीवों की उत्पत्ति होती है। 2. रात्रि में भोजन करना जैनत्व के संस्कारों के विरुद्ध है। भगवान ने इसे पाप बतलाया है। 3. रात्रि भोजन का त्याग करने से 6 मास तपस्या का लाभ प्राप्त होता है। 4. रात्रि भोजन करने से उससे जुड़ी बहुत सी क्रियाएँ रात में होती है। जैसे–गैस चलना, वनस्पति की विराधना, नल चलना, पानी नाली में जाना आदि। बचा हुआ खाना भी रात में कहीं दिया नहीं जा सकता। रात्रि में नाली में भी जीव अपना स्थान ढूँढ सुरक्षित हो जाते हैं। अचानक पानी जाने से वे जीव त्रास को प्राप्त होते हैं। 5. स्वास्थ्य की दृष्टि से भी रात्रि–भोजन करना उचित नहीं है।

24. **पानी बर्बाद करना**–1. पानी अनेक जीवों का जीवन है। बिना आहार के कुछ दिनों–महीनों फिर भी जीया जा सकता है, पर बिना पानी के जीना अत्यन्त कठिन है। पानी को बर्बाद करना जीवों के जीवन के साधन को बर्बाद करना है। कहा जाता है–'जल है तो कल है।' 2. जो भी आहार होता है वह खेती से होता है, खेती पानी से होती है। बिना पानी के खाद्य पदार्थ भी प्राप्त नहीं हो सकते। 3. पानी का उपयोग करना पाप है तो उसे बर्बाद करना महापाप है।

25. **कागज बर्बाद करना**–1. कागज बर्बाद करने से कर्म का बन्ध होता है। 2. कागज पेड़ से बनता है। कागज बर्बाद करना वनस्पति को हानि पहुँचाना है। जो पेड़ फल, पुष्प, छाया, ऑक्सीजन, दवाइयाँ आदि बहुत चीजें देते हैं, उन्हें काटकर कागज बनाया जाता है। कागज का कम उपयोग करके वनस्पति की हिंसा को बचाया जा सकता है। 3. कागज का पुन: उपयोग बहुत महँगा होता है और भारी मशीनों से किया जाता है। 4. कागज को बचाने से आशय पेड़ों और पर्यावरण को बचाना है।

26. **धूम्रपान**–1. धूम्रपान करने से शरीर को हानि होती है। सिगरेट में निकोटिन नामक ड्रग होता है, जिससे नशे की लत लग जाती है। एक बार इसकी आदत हो जाने पर इसकी बार–बार जरूरत महसूस होती है। न मिलने पर दिमाग क्षीण होने लगता है। 2. इससे कई तरह के कैंसर एवं शरीर के अङ्गों के खराब होने की सम्भावना रहती है। 3. हर साल लगभग डेढ़ लाख लोग सिगरेट पीने के कारण मरते हैं। 4. धूम्रपान करने वाला दूसरों को भी संक्रमित करता है और धुएँ से तकलीफ उत्पन्न करता है।

27. **आत्महत्या**–1. आत्महत्या करना समस्याओं से भागना है, उनका समाधान नहीं है। यह कायरता का कार्य है। 2. आत्महत्या करने वाले की मौत शान्तिपूर्वक नहीं होती, उससे उसका दु:ख दूर नहीं होता, जिन दु:खों से भागकर आत्महत्या की थी, वे दु:ख तो आगे भी बने ही रहेंगे। 3. आत्महत्या करने वाला अपने पीछे वालों की जिन्दगी को तूफानों में झोंक देता है। वे जितना संघर्ष करते हैं, उनकी तुलना में आत्महत्या करने वाले का संघर्ष तो बहुत कम होता है। 4. आत्महत्या करना तैरना जाने बिना समुद्र में कूदने जैसा है। 5. आत्महत्या भावों में बहकर किया जाने वाला निर्णय होता है, अगर आत्महत्या करने वाला कुछ समय रुक जाए, तो वह आत्महत्या न करे। आत्महत्या करने वाला महापापी होता है।

28. **वस्तुओं का दुरुपयोग**–1. हर चीज उपयोग करने के लिए होती है, दुरुपयोग करने या बर्बाद करने के लिए नहीं। किसी भी चीज का दुरुपयोग करना उसके रचनाकार की मेहनत को बर्बाद करना है। 2.

हर चीज को बनने में प्राकृतिक संसाधन भी उपयोग में आते हैं। हम जिस भी वस्तु को बर्बाद करते हैं तो प्रकृति के दुश्मन बनते हैं। 3. हर वस्तु को बनने में बहुत से पाप होते हैं। उस वस्तु को बर्बाद करने से जीवन में कुछ कार्य नहीं होता तथा बनाने में लगे सारे पाप भी लग जाते हैं। ऐसा पाप कार्य करना भी बर्बादी ही तो है।

29. **रिश्वत**–1. रिश्वत लेना अनैतिक है। रिश्वत लेना एवं देना दोनों अनुचित है। 2. रिश्वत से स्वयं की तथा सामने वाले की प्राथमिकताएँ बदल जाती हैं। सही के स्थान पर शॉर्टकट (संक्षिप्त) तरीकों को प्राथमिकता देते हैं। 3. रिश्वत देकर गलत व्यक्ति स्थान पा लेता है तो योग्य व्यक्ति का अवसर छिन जाता है, जो कि नाइंसाफी है।

30. **शराब**–1. शराब के उपयोग से नशा आने पर कई ऐसी गलतियाँ हो जाती हैं, जिनको चाहकर भी हम सुधार नहीं सकते। 2. शराब बनने की प्रक्रिया में भी बहुत से जीवों की हिंसा होती है। 3. शराब सड़े गले एक गन्दे पदार्थ से बनती है। उसे अच्छी बॉटल में भरने पर वह अच्छे इन्सान को सड़ा-गला खराब बनाती है।

31. **अभिशाप**–1. हमें कोई अधिकार नहीं हैं, किसी को अभिशाप देने का अथवा किसी के बारे में कुछ भी बुरा सोचने का। 2. हम अपना बुरा किए बिना किसी का बुरा नहीं कर सकते।

दीक्षा शताब्दी

तुमको लाखों प्रणाम

श्री गौतम ओस्तवाल

(तर्ज :: महावीर भगवान तुमको लाखों प्रणाम...)

रत्नसंघ अभिनन्दन, तुमको लाखों प्रणाम।
रूपा सती के नन्दन, तुमको लाखों प्रणाम।।टेर।।

महावीर शासन के प्यारे, बोहरा कुल के हैं उजियारे।
केवलचन्द के नन्दन, तुमको लाखों प्रणाम।।1।।

माँ रूपा के नयन सितारे, गुरु शोभा के चित्त चितारे।
श्री संघ सिरताज, तुमको लाखों प्रणाम...।।2।।

बालकवय में दीक्षा धारी, अजय शहर के संघ मझारी।
पीपाड़ शहर के चन्दन, तुमको लाखों प्रणाम...।।3।।

लघुवय में आचार्य बने थे, पढ़-लिखकर विद्वान् बने थे।
जिनशासन की शान, तुमको लाखों प्रणाम...।।4।।

जोधाणे में पद तीजा पाया, रत्नसंघ का भाग्य सवाया।
हुआ सकल संघ महान्, तुमको लाखों प्रणाम...।।5।।

हस्तीमल है नाम आपका, गौरवशाली काम आपका।
आगम की अविरल शान, तुमको लाखों प्रणाम...।।6।।

हरख सुजान की सेवा कीनी, भोजराज की योग्यता पैनी।
अप्रमत्त ज्ञान निधान, तुमको लाखों प्रणाम...।।7।।

सामायिक स्वाध्याय बताया, सकल संघ में नाद गुंजाया।
छत्तीस गुणों की ढाल, तुमको लाखों प्रणाम...।।8।।

धीर वीर गम्भीर क्रियावन्त, करने कठिन कर्म का अन्त।
पाया सौभाग्य गुरु का ज्ञान, तुमको लाखों प्रणाम..।।9।।

अन्तिम समय निमाज पधारे, योग मिले सभी दिल धारे।
हुआ संथारा तीर्थ समान, तुमको लाखों प्रणाम..।।10।।

हीरा-मान संघ सितारे, आचार्य उपाध्याय पद धारे।
जाने सकल जहान, तुमको लाखों प्रणाम...।।11।।

शताब्दी दीक्षा की आई, शहर बेंगलोर मांय मनाई।
'गौतम' के भगवान, तुमको लाखों प्रणाम...।।12।।

-मोक्ष-द्वार, पोस्ट बॉक्स नं. 2103, एल.एन. पुरम्, श्रीरामपुरम्, बेंगलुरू-560021 (कर्नाटक)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 117
ISSN 2249-2011

जैनधर्म में सप्त दुर्व्यसन-त्याग की सामाजिक प्रासङ्गिकता

समणी डॉ. शशिप्रज्ञा

सप्त दुर्व्यसन का त्याग गृहस्थ धर्म की साधना का प्रथम चरण है। इनके त्याग को गृहस्थ आचार के प्राथमिक नियम के रूप में स्वीकार किया गया है। सप्त दुर्व्यसन हैं- 1. जूआ खेलना, 2. मांसाहार, 3. मद्यपान, 4. वेश्यागमन, 5. परस्त्रीगमन, 6. शिकार खेलना और 7. चोरी कर्म (चोरी करना)। ऐसे तो व्यसन शब्द से हम बुरी आदत समझते हैं, पर वास्तव में व्यसन किसे कहते हैं?

व्यसन शब्द की परिभाषा- 'व्यसन' शब्द संस्कृत भाषा का है। जिन प्रवृत्तियों का परिणाम कष्टकर हो, उन प्रवृत्तियों को व्यसन कहा गया है। व्यसन एक ऐसी आदत है, जिसके बिना आदमी रह नहीं सकता। व्यसनों की प्रवृत्ति अचानक नहीं होती। पहले व्यक्ति किसी आकर्षण से इन्हें अपनाता है, फिर एक ही कार्य को अनेक बार दोहराने पर व्यसन बन जाता है। व्यसन बिना बोये हुए ऐसे विष वृक्ष हैं, जो मानवीय गुणों के गौरव को गारे में मिला देते हैं। ये विषवृक्ष जिस जीवन भूमि पर पैदा होते हैं, उसमें सदाचार के सुमन खिल ही नहीं सकते, जैसे अमरबेल अपने आश्रयदाता वृक्ष के सत्त्व को चूसकर उसे सुखा देती है, वैसे ही व्यसन अपने आश्रयदाता (व्यसनी) को नष्ट कर देते हैं। व्यसनी व्यक्तियों का सामाजिक जीवन नीरस हो जाता है, पारिवारिक जीवन संघर्षमय हो जाता है और सामाजिक जीवन में उसकी प्रतिष्ठा धूमिल हो जाती है।

आजकल इन व्यसनों के अतिरिक्त अनेक व्यसन, स्वास्थ्य, संस्कृति एवं सभ्यता पर कुठाराघात कर रहे हैं। बीड़ी, सिगरेट, कोका कोला, पानपराग, जर्दा, गुटखा एवं अनेक मादक द्रव्य (Drugs) इत्यादि सेवन से मानव की विवेक चेतना सुप्त हो जाती है फिर वह अकरणीय कार्य करने से नहीं संकुचाता है।

सप्त दुर्व्यसन-त्याग और उसकी प्रासंगिकता

जैन धर्म में सप्त दुर्व्यसनों का त्याग गृहस्थ-धर्म की साधना का प्रथम चरण है। उनके त्याग को गृहस्थ-आचार के मूल गुणों के रूप में स्वीकार किया गया है। 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' ग्रन्थ में सप्त दुर्व्यसनों के त्याग का विधान मिलता है। सप्त दुर्व्यसनों के सेवन से व्यक्ति का कितना चारित्रिक पतन होता है, इसे हर कोई जानता है।

1. **द्यूत-क्रीड़ा-** वर्तमान युग में से सट्टा, लॉटरी, शेयर आदि द्यूत-क्रीड़ा के विविध रूप प्रचलित हो गये हैं। जुआ खेलने के कारण अनेक परिवारों का जीवन संकट में पड़ जाता है। अत: इस दुर्व्यसन के त्याग को कौन अप्रासङ्गिक कह सकता है। द्यूत-क्रीड़ा के त्याग की प्रासंगिकता के सम्बन्ध में कोई भी विवेकशील मनुष्य दो मत नहीं हो सकता। वस्तुत: वर्तमान युग में द्यूत-क्रीड़ा के जो विविध रूप हमारे सामने उभर कर आये हैं, उनका आधार केवल मनोरंजन नहीं है, अपितु उसके पीछे बिना किसी श्रम के अर्थोपार्जन की दुष्प्रवृत्ति है। सट्टे के व्यवसाय का प्रवेश जैन परिवारों में सर्वाधिक हुआ है। व्यक्ति जब इस प्रकार के धन्धे में अपने को नियोजित कर लेता है, तो श्रमपूर्वक अर्थोपार्जन के प्रति उसकी निष्ठा समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में चोरी, ठगी आदि दूसरी बुराइयाँ पनपती हैं। आज इसके प्रकट-अप्रकट विविध रूप हमारे समक्ष आ रहे हैं। उनसे सतर्क रहना आवश्यक है, अन्यथा हमारी भावी पीढ़ी में श्रमपूर्वक अर्थोपार्जन की निष्ठा समाप्त हो जायेगी। यद्यपि इस दुर्गुण का प्रारम्भ एक मनोरञ्जन के साधन के रूप में होता है, किन्तु आगे चलकर यह भयंकर परिणाम

उपस्थित करता है। आज का युवावर्ग जो इन प्रवृत्तियों में अधिक रस लेता है, वह इसके दुष्परिणामों को जानते हुए भी अपनी भावी पीढ़ी को इससे रोक पाने में असफल रहेगा। जुआ-निषेध एक प्रकार से स्वस्थ, श्रमशील, शान्त परिवार एवं समाज की आधार शिला है।

2. **मांसाहार**-विश्व में यदि शाकाहार का पूर्ण समर्थक कोई धर्म है, तो वह मात्र जैन-धर्म है। जैनधर्म में गृहस्थोपासक के लिए मांसाहार सर्वथा त्याज्य माना गया है। किन्तु आज समाज में मांसाहार के प्रति एक ललक बढ़ती जा रही है और अनेक जैन परिवारों में उसका प्रवेश हो गया है। इस प्रसंग पर भारतीय पार्लियामेंट के किसी सदस्य के पारिवारिक विवाह के दौरान किसी होटल के बैरा ने एक जैन बन्धु से पूछा-आप वेज लेगें या नोन वेज। यह सुनते ही एक महिला बोल उठी कि क्या आप जैन नहीं है? उस व्यक्ति की आँखें शर्म से झुक गई।

मांसाहार के निषेध के पीछे मात्र हिंसा और अहिंसा का प्रश्न ही नहीं, अपितु अन्य दूसरे भी कारण हैं। यह सत्य है कि मांस का उत्पादन बिना हिंसा के सम्भव नहीं है और हिंसा क्रूरता के बिना सम्भव नहीं है। यह सही है कि मानवीय आहार के अन्य साधन में भी किसी सीमा तक हिंसा जुड़ी हुई है, किन्तु मांसाहार के निमित्त जो हिंसा या वध किया जाता है, उसके लिए वध-कर्त्ता का अधिक क्रूर होना अनिवार्य है। क्रूरता के कारण दया, करुणा, आत्मीयता जैसे कोमल गुणों का ह्रास होता है और समाज में भय, आतंक एवं हिंसा का ताण्डव प्रारम्भ हो जाता है। यह अनुभूत सत्य है कि वे सभी देश एवं कौमें, जो मांसाहारी हैं और हिंसा जिनके धर्म का एक अंग मान लिया गया है, वहां होने वाले हिंसक-ताण्डव को देखकर आज भी दिल दहल उठता है। यदि दया, करुणा, वात्सल्य का विकास करना है, तो मांसाहार का त्याग अपेक्षित है। दूसरे, मांसाहार की निरर्थकता को मानव-शरीर की संरचना के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है। मानव-शरीर की संरचना उसे निरामिष प्राणी ही सिद्ध करती है। मांसाहार मानव-स्वास्थ्य के लिए कितना हानिकारक है, यह बात अनेक वैज्ञानिक अनुसन्धानों से प्रमाणित हो चुकी है।

मांसाहार के समर्थन में सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि बढ़ती हुई मानव-जाति की आबादी को देखते हुए भविष्य में मांसाहार के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रहेगा, जिससे मानव जाति की क्षुधा को शान्त किया जा सके। किन्तु उसके विपरीत कृषि के क्षेत्र में भी ऐसे अनेक वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं, जो स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य को अभी शताब्दियों तक निरामिष भोजी बनाकर जिलाया जा सकता है। अनेक आर्थिक सर्वेक्षणों में यह भी प्रमाणित हो चुका है कि शाकाहार मांसाहार की अपेक्षा अधिक सुलभ और सस्ता है। अतः मनुष्य की स्वाद-लोलुपता के अतिरिक्त और कोई तर्क ऐसा नहीं है, जो मांसाहार का समर्थक हो सके। शक्तिदायक आहार के रूप में मांसाहार के समर्थन का एक खोखला दावा है। यह सिद्ध हो चुका है कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी अधिक शक्ति-सम्पन्न होते हैं और उनमें अधिक काम करने की क्षमता होती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हमें मांसाहार और शाकाहार के गुण-दोषों की समीक्षा करते हुए तुलनात्मक विवरण से युक्त ऐसा साहित्य प्रकाशित करना होगा, जो आज के युवक को तर्क-संगत रूप से यह अहसास करवा सके कि मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार एक उपयुक्त भोजन है।

3. **मद्यपान**- तीसरा दुर्व्यसन मद्यपान माना गया है और गृहस्थोपासक को इसके त्याग का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। बुद्ध ने तो इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए अपने पंचशीलों में मद्यपान-निषेध को स्थान दिया

था। यह एक ऐसी बुराई है, जो मानव समाज के गरीब और अमीर दोनों ही वर्गों में हावी है। जैन परम्परा में मद्यपान का निषेध न केवल इसलिए किया गया कि वह हिंसा से उत्पादित है, अपितु इसलिए कि इससे मानवीय विवेक कुण्ठित होता है और जब मानवीय विवेक ही कुण्ठित हो जाएगा तो दूसरी सारी बुराइयाँ व्यक्ति के जीवन में स्वाभाविक रूप से प्रविष्ट हो जायेंगी। आर्थिक और चारित्रिक सभी प्रकार के दुराचरणों के मूल में नशीले पदार्थों का सेवन है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि मादक द्रव्यों के सेवन से मनुष्य अपनी मानसिक चिन्ताओं को भूल कर अपने तनावों को कम करता है, किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। तनाव के कारण जीवित रखकर, केवल क्षण भर के लिए अपने विवेक को खो कर विस्मृति के क्षणों में जाना, तनावों के निराकरण एवं परिमार्जन का सार्थक उपाय नहीं है। मद्यपान को सभी दुर्गुणों का द्वार कहा गया है। कुछ महीनों पूर्व रूस से ध्यान शिविर में भाग लेने के लिए 7 महिलाएं तुलसी अध्यात्म नीडम् लाडनूँ में पहुँची। ध्यान की कक्षा के बाद जब उनसे चर्चा हुई तो ज्ञात हुआ कि पाँच महिलाएं अपने पति को तलाक दे चुकी हैं एवं वे अकेली अपने बच्चों की देखभाल कर रही हैं। जब उनके तनाव एवं तलाक का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि पति शराब पीता है। कमाई का सारा पैसा उसी में लग जाता है। उसे हमारी एवं बच्चों की कोई चिन्ता नहीं है। ऐसी स्थिति में उससे परेशान होकर हमने तलाक दे दिया, यहाँ ध्यान शिविर में आने पर हमें अपने जीवन में शान्ति प्राप्त हुई। सारी बुराइयाँ विवेक के कुण्ठित होने पर पनपती हैं और मद्यमान विवेक को कुण्ठित करता है। अतः मनुष्य के मानवीय गुणों को जीवित रखने के लिए इसका त्याग आवश्यक है।

मनुष्य और पशु के बीच यदि कोई विभाजक रेखा है तो वह विवेक ही है और जब विवेक ही समाप्त हो जायेगा तो मनुष्य और पशु में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। मादक द्रव्यों का सेवन मनुष्य को मानवीय स्तर से गिराकर उसे पाशविक स्तर पर पहुँचा देता है। यह भी एक सुविदित तथ्य है कि जब यह दुर्व्यसन गले लग जाता है तो अपनी अति पर पहुँचाए बिना समाप्त नहीं होता। वह न केवल विवेक को ही समाप्त करता है अपितु आर्थिक और शारीरिक दृष्टि से व्यक्ति को जर्जर बना देता है। आज हमें इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना होगा कि समाज को इससे किस प्रकार बचाया जाए। जैन समाज ने जो चारित्रिक गरिमा, आर्थिक सम्पन्नता तथा समाज में प्रतिष्ठा अर्जित की थी उसका मूलभूत आधार इन दुर्व्यसनों से मुक्त रहना ही था। इन दुर्व्यसनों के प्रवेश के साथ हमारी चारित्रिक उच्चता और सामाजिक प्रतिष्ठा धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है और तब एक दिन ऐसा भी आएगा जब हम अपनी आर्थिक सम्पन्नता से हाथ धो बैठेंगे।

4. **वेश्यागमन-** श्रावक के सप्त दुर्व्यसन-त्याग के अन्तर्गत वेश्यागमन के त्याग का भी विधान किया गया है। यह सुनिश्चित सत्य है कि वेश्यागमन न केवल सामाजिक दृष्टि से अवाञ्छनीय है, अपितु आर्थिक एवं शारीरिक-स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अवांछनीय माना गया है। सामाजिक सदाचार और पारिवारिक सुख-शान्ति के लिए वेश्यागमन का त्याग उचित ही है। वेश्यागमन से एड्स जैसी जानलेवा बीमारी हो जाती है। न केवल खुली वासना को प्रोत्साहन मिलता है, अपितु वीर्य का क्षरण भी होता हैं। वीर्यहीन युवक राष्ट्र के चहुँमुखी विकास में योगदान नहीं दे सकता। यह एक शुभ संकेत ही है कि न केवल जैन समाज में अपितु समग्र भारतीय समाज में वेश्यागमन की प्रवृत्ति और वेश्यावृत्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है। यद्यपि इस प्रवृत्ति के जो दूसरे रूप सामने आ रहे हैं वे उसकी अपेक्षा अधिक चिन्तनीय हैं। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि

चाहे खुले रूप में वेश्यावृत्ति पर कुछ अंकुश लगा हो, किन्तु छद्मरूप में यह प्रवृत्ति बढ़ी ही है। अत: जैन धर्म में इसका शक्ति-संरक्षण हेतु निषेध किया गया।

5. **परस्त्रीगमन-** परस्त्रीगमन परिवार एवं समाज व्यवस्था का घातक है, इसके परिणामस्वरूप न केवल एक ही परिवार का पारिवारिक जीवन दूषित एवं अशान्त बनता है, अपितु अनेक परिवारों के जीवन अशान्त बन जाते हैं। वेश्यावृत्ति की अपेक्षा यह अधिक दोषपूर्ण है। क्योंकि इसमें छल-छद्म और जीवन का दोहरापन भी जुड़ जाता है। अत: सामाजिक दृष्टि से यह बहुत बड़ा अपराध है। आज कामवासना की तृप्ति का यह छद्म रूप अधिक फैलता जा रहा है। पाश्चात्त्य देशों की वासनात्मक उच्छृंखलता का प्रभाव हमारे देश में भी हुआ है। क्लबों और होटलों के माध्यम से यह विकृति अधिक तेजी से व्याप्त होती जा रही है। जैन समाज का भी कुछ सम्पन्न एवं धनी वर्ग इसकी गिरफ्त में आने लगा है। यद्यपि अभी समाज का बहुत बड़ा भाग इस दुर्गुण से मुक्त है, किन्तु धीरे-धीरे फैल रही विकृति के प्रति सजग होना आवश्यक है।

6. **शिकार-** मनोरंजन के निमित्त अथवा मांसाहार के लिए प्राणियों का वध करना शिकार कहा जाता है। यह व्यक्ति को क्रूर बनाता है। यदि मनुष्य को मानवीय कोमल गुणों से युक्त बनाये रखना है तो इस वृत्ति का त्याग अपेक्षित है। आज शासन द्वारा भी वन्य प्राणियों के संरक्षण के लिए शिकार की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जा रहा है। अत: इस प्रवृत्ति के त्याग का औचित्य निर्विवाद है। आज हम इस बात को गौरव से कह सकते हैं कि जैन समाज इस दुर्गुण से मुक्त है, किन्तु आज सौन्दर्य-प्रसाधनों, जिनका उपभोग समाज में धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है, इस निमित्त अव्यक्त रूप से हो रही हिंसा के प्रति सजग रहना आवश्यक है। क्योंकि उनका उत्पादन उपभोक्ताओं के निमित्त ही होता है और यदि हम उनका उपभोग करते हैं तो उस हिंसा एवं क्रूरता से अपने को बचा नहीं सकते हैं। सौन्दर्य-प्रसाधनों के निर्माण एवं परीक्षण के निमित्त हिंसा के जो क्रूरतम तरीके अपनाए जाते हैं वे जैन पत्र-पत्रिकाओं में बहुचर्चित रहे हैं। अत: उन सब पर यहाँ विचार करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। किन्तु इस सन्दर्भ में शिकार खेलने का त्याग कर हमें सजग अवश्य रहना चाहिए कि हम क्रूरता के भागी न बनें।

7. **चौर्य-कर्म-** दूसरों की सम्पत्ति या दूसरों के अधिकार की वस्तुओं को उनकी बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह और संचय को भी चोरी कहा जा सकता है। जैनाचार्यों ने व्यावसायिक अप्रामाणिकता, कर-वंचन तथा राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध कार्य करना आदि को भी चोरी के अन्तर्गत माना है। यद्यपि सामान्यतया जैन परिवार इस दुर्व्यसन से मुक्त कहे जा सकते हैं, किन्तु जैनाचार्यों ने इसकी जो सूक्ष्म व्याख्या की है, उस आधार पर आज का गृहस्थ वर्ग इस दुर्व्यसन से कितना मुक्त है, यह कहना कठिन है। व्यावसायिक अप्रामाणिकता और कर-वंचन आज सामान्य हो गये हैं। व्यावसायिक अप्रामाणिकता के इस युग में इसकी प्रासंगिकता को नकारा तो नहीं जा सकता, किन्तु वर्तमान युग में कौन इससे कितना बच सकेगा, इस पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है।

इस प्रकार जैन धर्म-दर्शन में निर्धारित सप्त कुव्यसन वर्जन का विधान वास्तव में मानव-गरिमा हेतु एवं किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए अत्यन्त अनिवार्य है। पाश्चात्त्य देशों में जुआ खेलने से व्यक्ति आर्थिक अभाव में मानसिक अवसाद के शिकार हो रहे हैं। मांसाहार सेवन से पाश्विक वृत्ति बढ़ रही है, हिंसा एवं मार-काट बढ़ रही है। मद्यपान से कर्त्तव्य निष्ठा एवं परिवार के प्रति दायित्व-बोध की चेतना कम हो रही है। वेश्यागमन एवं परस्त्रीगमन से पारिवारिक सम्बन्धों में

दरार, रिश्तों की मधुरता घटती जा रही है। बच्चों का अभिभावक के प्रति असम्मानपूर्ण दृष्टिकोण, पारिवारिक सदस्यों में आपसी अविश्वास एवं असंतोष के कारण तथा अवैध सम्बन्धों के कारण परिवारों में तलाक की घटनाएँ बढ़ रही हैं, एकल परिवारों (मां एवं पुत्र/पुत्री) की संख्या बढ़ रही है। ऐसे परिवार के बच्चों के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना कैसे की जा सकती है, जो भावी युग के कर्णधार हैं। चौर्य व्रत के अभाव में आर्थिक पारदर्शिता के अभाव में, परिवार, समाज, संगठन बिखर रहे हैं। राजनैतिक क्षेत्र में आर्थिक घोटालों की लम्बी कतार नागरिकों के मन में शासक के प्रति अविश्वास की चेतना को विकसित कर रही है एवं उन्हें आक्रामक बना रही है। कौटिल्य के अर्थशास्त्रानुसार शासक शोषणमुक्त एवं न्याययुक्त शासन चलाता है तो इससे व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र सभी का विकास हो सकता है।

-जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ-341306 (राज.)

जैन जीवनशैली को आप, श्रद्धा से अपनाइये

श्री मोहन कोठारी 'विनर'

ज़िन्दगी में शान्ति को, पाना जो चाहते हो अगर,
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये।
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये।।टेर।।

महावीर ने हमको दिखाया, जीने का सुन्दर रास्ता,
सीधी-सादी ज़िन्दगी से, हो हमारा वास्ता।
आडम्बरों से दूर रहकर, सादगी अपनाइये,
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये...।1।

जैनदर्शन का जगत् में, बहुत ऊँचा नाम है,
महावीर के सिद्धान्तों को, मिलता बड़ा सम्मान है।
'जीयो और जीने दो सबको' भावना यह भाइये,
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये...।2।

रात्रि-भोजन, जमींकन्द का, त्याग अपनी शान है,
सात्त्विक भोजन की हमारे, जगत् में पहचान है।
'जैन फूड' को ग्रहण करके, आरोग्यमय बन जाइये,
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये...।3।

थोड़े में सन्तोष हो और मर्यादामय हो ज़िन्दगी,
वक्त हम ऐसे गुज़ारें, हो प्रभु की बन्दगी।
मैत्री जीवों से सदा हो, दया घट में लाइये,
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये...।4।

दीन-दुःखियों के लिए, खुले तुम्हारे द्वार हों,
संवेदनाएँ हों ज़िगर में, सहयोग का विस्तार हो।
शासन की गौरव-गरिमा में, चार चाँद लगाइये,
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये...।5।

साधनों की ज़िन्दगी में, सुख-चैन मिलता कहाँ?
साधनों की ज़िन्दगी तो, बोझिल भरी है दास्तां।
अपनी चादर के मुताबिक, पैर आप फैलाइये,
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये...।6।

एकता और संगठन हों, संघ और परिवार में,
अपने मन की भावना हो, प्रेम के व्यवहार में।
नफ़रतों को दूर करके, द्वन्द्व को मिटाइये,
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये...।7।

संकटों का दौर आये, तो कभी डरना नहीं,
धर्म को साथी बनाना, आह कभी भरना नहीं।
श्रद्धा अपनी अटल रखना, वीर भक्त कहलाइये,
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये...।8।

'कोरोना' की महामारी में, बात सामने आई है,
जैनधर्म की सारे जगत् ने, महिमा मन से गायी है।
सच्चे जैनी बनकर बन्धु, जीवन को महकाइये,
'जैन जीवनशैली' को आप, श्रद्धा से अपनाइये...।9।

-जनता साड़ी सेन्टर, फरिश्ता कॉम्पलेक्स, स्टेशन रोड़, दुर्ग (छत्तीसगढ़)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 122
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली : एक समग्र विश्लेषण*

श्री रणजीतसिंह कूमट

जीवनशैली हमारे संस्कारों, संस्कृति और सामाजिक तथा पारिवारिक वातावरण से निर्धारित होती है। संस्कार और संस्कृति का आधार परम्परा, धार्मिक उपदेश, धार्मिक ग्रन्थ और माता-पिता एवं गुरुजनों के आचार, विचार और उपदेश होते हैं। सामाजिक वातावरण में सामाजिक संस्थाओं और उनके संस्थापकों के आचार, विचार, मित्रमण्डली, अखबार, दूरदर्शन, चलचित्र, शिक्षा प्रणाली, राजनैतिक वातावरण आदि सम्मिलित होते हैं। आज के युग में इण्टरनेट जिस पर कई सामाजिक नेटवर्क यथा फेसबुक, ट्विटर आदि प्रमुख हैं, भी जीवनशैली पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

संस्कारों की प्राथमिक भूमिका परिवार से ही मिलती है और जैसा महात्मा गाँधी ने कहा-''माता बच्चे की प्रथम शिक्षक होती है।'' बालक के संस्कारों के लिए माता-पिता मूल रूप से जिम्मेदार हैं। **बालक के गर्भ में आते ही बालक में संस्कारों का बीजारोपण प्रारम्भ हो जाता है** और इसीलिए माताओं से अपेक्षा की जाती है कि वे इस समय खाने, पीने, पढ़ने, सुनने और विचार करने के मामले में काफी सचेत रहें, क्योंकि **जो भी हम पढ़ते, लिखते, देखते और सोचते हैं, उन सबका बालक पर प्रभाव पड़ता है। अच्छे और सकारात्मक-विचार बालक में अच्छे संस्कारों का बीजारोपण करते हैं।** जन्म के बाद भी बालक देखता ज्यादा है और सुनता कम है। जैसा वह देखता है वैसा ही अपने आचरण तथा संस्कारों में आत्मसात् करता है। बालक को हम कहें कि सच बोलो और वह देखता है कि सच का प्रयोग घर में नहीं हो रहा है, तो वह देखे हुए का अनुसरण करेगा न कि सुने हुए का। अत: बालक के संस्कार तथा आचरण के लिए मुख्य रूप से परिवार के लोग ही ज़िम्मेदार होते हैं। बाद में स्कूल, दोस्त, शिक्षक, पड़ोसी आदि का प्रभाव पड़ता है **और कोशिश यह करनी चाहिए कि बालक के शिक्षक संस्कारी हों। दोस्त अच्छे हों और अड़ोस-पड़ोस का वातावरण भी अच्छा हो।** फिर भी यदा-कदा विपरीत वातावरण भी मिल जाये तो घर के संस्कार मज़बूत होने पर बाहरी विपरीत वातावरण का असर भी नगण्य होगा। यदि आज कोई बच्चों के संस्कार न होने, चरित्र में गिरावट आने और अपसंस्कृति के प्रभाव की शिकायत करते हैं तो सबसे पहले मैं माता-पिता और परिवार के सदस्यों को ज़िम्मेदार मानूँगा। हमने अपने बच्चों के साथ संवाद छोड़ दिया, उनके प्रति लगाव कम कर दिया और उनके संस्कारों की ओर ध्यान देना बन्द कर दिया। अपने ही कार्य में मशगूल होकर बच्चों पर ध्यान नहीं दिया तो बाहरी वातावरण हावी होगा ही और इसमें बच्चों का दोष न होकर हमारा दोष है, इसे स्वीकार करना चाहिए।

जैन संस्कारों का मूल आधार

जैन संस्कारों का यदि घर में वातावरण हो तो बच्चे संस्कारी, विनम्र और अच्छे चाल-चलन वाले होंगे, क्योंकि जैन जीवनशैली का आधार श्रावकों के लिए निर्धारित व्रत या नियम हैं जिनका मूल आधार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह हैं। जैनधर्म का विशेष आधार अहिंसा अथवा करुणा है। अहिंसा की व्यापक दृष्टि में सत्य, अस्तेय आदि सब समाविष्ट हो जाते हैं। सभी प्राणियों की रक्षा और उनके प्रति दया का भाव तो मूल रूप से अहिंसा है ही, परन्तु वैचारिक रूप से अहिंसा के लिए सत्य बोलना,

* आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर, 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवनशैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

सामाजिक अहिंसा के रूप में अस्तेय या अचौर्य, पारिवारिक अहिंसा एवं भोग की सीमा के रूप में ब्रह्मचर्य या शील का पालन तथा आर्थिक अहिंसा या शोषण पर रोक के लिए अपरिग्रह (धन संग्रह पर सीमा) ये सब अहिंसा के दायरे में आ जाते हैं। श्रमण इन व्रतों का बिना किसी अपवाद के पालन करते हैं, अत: उनके व्रत 'महाव्रत' कहलाते हैं। श्रावक या गृहस्थ के लिए अपवाद भी हैं और वे अपनी क्षमता के अनुसार व्रतों को धारण कर सकते हैं। अत: **श्रावक के व्रत 'अणुव्रत' या छोटे व्रत कहलाते हैं। इन व्रतों के अतिरिक्त विचारों में उदारता और अनाग्रह के लिए अनेकान्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है ताकि हम अपने ही विचारों को सत्य न मानें, दूसरों के विचारों को भी आदर दें।** गृहस्थों के लिए पाँच अणुव्रत के अतिरिक्त तीन अणुव्रत तथा चार शिक्षाव्रत भी हैं, जिनका उल्लेख आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' तथा श्रावकों के लिए निर्धारित प्रतिक्रमण के पाठ जो 'आवश्यकसूत्र' में दिये हैं, में आता है। सुदूर क्षेत्रों में जाने पर सीमा (दिशाव्रत), भोजन आदि में सीमा (भोगोपभोग परिमाण व्रत) और अनर्थ दण्ड (बिना कारण जीवों को दण्ड देना) पर रोक आदि तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, देशावकाशिक व्रत, पौषध आदि करना तथा अतिथि से संविभाग करना अर्थात् उन्हें भोजन, वस्त्र, शयन, पात्र आदि का दान करना (अतिथि संविभाग व्रत) आदि चार शिक्षा व्रत हैं। इसके अतिरिक्त विनय या विनम्रता को भी उच्च स्थान दिया है और इसे धर्म का मूल (उत्तराध्ययनसूत्र) कहा है। **विनय से ही बड़ों के प्रति आदर, उनकी आज्ञा को मान और अपने अहम् को संयमित करने के संस्कार मिलते हैं। हम अपने से बड़ों से कैसे बोलते हैं। उनको किस प्रकार आदर से बुलाते हैं, यह बालक घर में प्रयोग में आने वाली भाषा से सीखते हैं। अनेक व्यक्ति घरों में सेवा देने वाले भाई-बहिनों (काम करने वाली बाई, ड्राईवर आदि) को भी आदर की भाषा से सम्बोधित करते, बोलते हैं और ये संस्कार भी जैन घरों में मिलते हैं।**

श्रमणों द्वारा शास्त्रों की व्याख्या के आधार पर उपदेश के अनुसार गृहस्थ व्रतों को धारण करते हैं और अपना आचार, विचार, रहन-सहन निर्धारित करते हैं। अहिंसा मूल व्रत के कारण समस्त जैन बन्धु शाकाहार (Vegetarian food) करते हैं और मांस, अण्डा, मछली आदि का प्रयोग नहीं करते। कुछ बन्धु जमींकन्द (भूमि के नीचे उगने वाली वस्तु यथा आलू, प्याज, गाजर आदि) का प्रयोग नहीं करते और अब बहुत से स्थानों पर 'जैन शाकाहार' की माँग करेंगे तो उसमें आलू, प्याज गाजर आदि जमींकन्द का प्रयोग नहीं मिलेगा। इन्हीं व्रतों के साथ सात कुव्यसनों पर भी रोक लगाने पर साधु-सन्तों ने बहुत ज़ोर दिया और इसका उल्लेख रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी आता है। उसी के प्रभाव से अधिकांश जैन घरों में शराब, धूम्रपान, नशीली वस्तुओं, जुआ, वेश्यागमन आदि का प्रयोग निषिद्ध है। **जैन गृहस्थ की पहचान ही शाकाहार का प्रयोग तथा शराब, नशीली वस्तु, धूम्रपान आदि का निषेध है। इसका मूल आधार अहिंसा के अतिरिक्त शील पालन और कुव्यसनों पर प्रतिबन्ध का उपदेश है। जितने कुव्यसन कम होंगे जीवन उतना ही सरल और तनाव रहित होगा तथा स्वास्थ्यप्रद भी होगा। अधिकांश बीमारियाँ कुव्यसन तथा अभोज्य पदार्थों के सेवन से होती हैं। शराब, धूम्रपान, मांसाहार, जुआँ आदि शरीर और धन का नाश कर परिवार का भी नाश करते हैं।** शराबी और जुआरी से परिवार के लोग दिन-रात परेशान रहते हैं। पारिवारिक हिंसा (Domestic violence) का ताण्डव-नृत्य होता है। बच्चों को पूरा भोजन और कपड़े नहीं मिलते, न उनकी उचित शिक्षा का प्रबन्ध होता है। अत: पाँच व्रतों के साथ कुव्यसनों पर रोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमारा सौभाग्य है कि हम जैन कुल में जन्मे और हमें ये उच्च संस्कार मिले, जिसके कारण कुव्यसनों से बच पाए। वे परिवार वास्तव में हतभागी हैं, जिनमें इन कुव्यसनों का प्रचलन है या हो गया है। **यदि जैन घरों में इनका प्रचलन पाया जाता है, जैसा कि कुछ लोगों से सुनने में आता है, तो अधिक दुर्भाग्य की बात क्या होगी कि जैन कुल पाकर**

भी कुव्यसनों से मुक्ति न पा सके। जो कुव्यसनों से मुक्ति न पा सके वे जीवन में कैसे मुक्ति या आनन्द पा सकते हैं?

चरित्र का आध्यात्मिक आधार

चरित्र या जीवनशैली हमारा बाहरी आवरण है। यह प्रतीयमान है और इसे देखकर हमारे आचार-व्यवहार का अनुमान लगा सकते हैं, परन्तु इस आचार-व्यवहार का वैचारिक एवं आध्यात्मिक आधार है, जो हमें आचार या चरित्र में अडिग बनाता है, हमारे विचारों को सुदृढ़ बनाता है और विषम परिस्थिति में भी अपने आचार-विचार से विचलित नहीं होने देता। इससे हम अपने विश्वास में अड़िग रह सकते हैं कि जिसे अंग्रेजी भाषा में 'Courage of conviction' कह सकते हैं। **जैन जीवनशैली का आध्यात्मिक आधार है-सम्यक्त्व, समभाव और समता।** ये तीनों शब्द समानार्थ दिखते हैं, परन्तु तीनों के अर्थ की गहराई अलग-अलग है। इनका विश्लेषण विस्तार से करना उपयुक्त होगा।

सम्यक्त्व

इसका अर्थ है जैसा है उसे वैसा ही जानें, सत्य को सत्य मानना और असत्य को असत्य मानना। उदाहरण के लिए जो वस्तु अनित्य है, नश्वर है उसे नाशवान् ही मानना सम्यक्त्व है, परन्तु नाशवान् को अक्षय मानकर उसके प्रति आग्रह करना या मोह करना सम्यक्त्व के विपरीत मिथ्यात्व है। अधिकांशत: में हम नाशवान् को स्थायी मानकर उसी के मोहजाल में फँसे रहते हैं। धन-दौलत यद्यपि नाशवान् है, परन्तु उसको स्थायी मानकर उसके संग्रहण में लगे रहते हैं। यह सम्यक्त्व के विपरीत व्यवहार है। इसी प्रकार सगे-सम्बन्धी, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि को भी अपना मानकर उनके मोह में भ्रमित रहते हैं। विषयों के प्रति लगाव ही भ्रम है जो हमारे दु:खों का मूल कारण है। इसीलिए जैनधर्म विरक्ति या विरति का धर्म है, जो विषयों एवं कामना से मुक्त होने के लिए प्रेरित करता है।

सम्यक्त्व अर्थात् सही रूप से देखना और समझना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। पर-द्रव्यों (सांसारिक या भौतिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों) में आत्मबुद्धि छोड़कर अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप स्वभाव में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन), अनुभव या अनुभूति (सम्यग्ज्ञान) और ज्ञायक-स्वभाव में प्रवर्तन रूप आचरण ही चारित्र (सम्यक् चारित्र) है। **ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का समन्वय ही आदर्श जीवन का आधार है।** चारित्र के पीछे यदि ज्ञान और दर्शन की भूमिका न हो तो चरित्र बिना नींव का महल है, जो कभी भी धराशायी हो सकता है। **ज्ञान हो, परन्तु उसके अनुकूल आचरण न हो तो ज्ञान बोझ मात्र है।** (ज्ञानं भार: क्रियां विना) ज्ञान और चरित्र के बीच दर्शन एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। जिसका दर्शन सम्यक् है उसका ज्ञान भी सम्यक् है और जिसका ज्ञान और दर्शन सम्यक् है उसका चरित्र भी सम्यक् होगा, यह निश्चित है। **हमारी दृष्टि सही है तो राह भी सही होगी। दृष्टि ही गलत है तो राह गलत होगी और तदनुसार चरित्र भी गलत ही होगा।** इसीलिए आचार्य उमास्वाति ने कहा 'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्ग:' (तत्त्वार्थसूत्र) अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र (तीनों मिलकर) मोक्ष का मार्ग हैं।

समभाव

इसका अर्थ है सबके प्रति प्रेम और समानता का भाव। **किसी को ऊँचा या नीचा नहीं मानना, किसी से द्वेष न रखना, और सबके कल्याण के काम में संलग्न होना।** सब प्राणी एक समान है। सब मनुष्य एक समान हैं। सबके प्रति समभाव रखना इस बात का द्योतक है कि हम किसी से जाति, लिङ्ग, देश, रंग आदि के आधार पर भेद-भाव नहीं करते। सबमें मेरी जैसी आत्मा है। सबकी अनुभूति एक है और जैसा मैं अनुभव करता हूँ वैसा हीअन्य प्राणी अनुभव करते हैं। यही समभाव अहिंसा की नींव है। **सब प्राणियों को अपने जैसा माने और भिन्न न माने तो सब प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा का भाव स्वत: प्रकट होगा, जो अहिंसा का आधार है।** आचाराङ्गसूत्र में स्पष्ट किया है कि जिन प्राणियों को तू

पीड़ित, दमित या शासित करना चाहता है वह तू ही है, अन्य नहीं। यदि सब प्राणी वही हैं, जो मैं हूँ तो मैं उनको कैसे दमित, पीड़ित या शासित कर सकता हूँ। जब मैं दूसरे प्राणी को 'दूसरा' मानता हूँ तब ही उस पर अत्याचार या अनाचार कर सकता हूँ। यदि मैं उनको अपने जैसा मानूँ तो कभी अत्याचार नहीं कर सकता। जहाँ तक ऊँच-नीच का सवाल है, उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है-व्यक्ति कर्म से ब्राह्मण (उच्च कुल) होता है न कि जन्म से। भगवान महावीर ने जाति-पाँति की सब दीवारें गिरा दी थी।

समता

इसका अर्थ समभाव तो है ही, इसका अर्थ सन्तोष भी है। **जो प्राप्त है उसमें सन्तोष करना अपरिग्रह व्रत का आधार है। इसके अतिरिक्त विकट परिस्थिति में भी अविचलित तथा अनुद्वेलित रहना भी समता है।** जो विषम परिस्थिति में अपना सन्तुलन न खोये और सुयोग या अच्छी परिस्थिति में अहम् से परिपूर्ण न हो जाये वह समतावान या समत्व वाला कहलाता है। प्रशंसा और निन्दा दोनों में समान भाव रखे वह समतावान कहलाता है। जिसका अहम् विसर्जित हो गया वह ही इस गहरी समता में स्थित हो सकता है। समता या समत्व को उच्चतम योग भी कहा है। (समत्वं योग उच्चते-श्रीमद्भगवद्गीता)

स्वभाव ही धर्म

धर्म की परिभाषा करते हुए 'वत्थुसहावो धम्मो' कहा है। जो वस्तु का स्वभाव है वह ही उसका धर्म है। आग का स्वभाव जलना है तो वही आग का धर्म है। पानी का स्वभाव शीतल करना है वही पानी का स्वभाव है। इसी प्रकार जो हमारा स्वभाव है वही हमारा धर्म है। हमारा स्वभाव क्या है? मानव का स्वभाव है मानवीय गुणों को धारण करना और उनका विकास करना। क्या हमारा स्वभाव क्रोध करना, झूठ बोलना, हिंसा करना, चोरी करना है? यदि ये हमारे स्वभाव नहीं हैं तो हम क्यों हिंसा करते हैं, चोरी करते हैं, झूठ बोलते हैं? जो भी इस प्रकार के कार्य करते हैं, वह विभाव है, स्वभाव नहीं है। जब भी हम स्वभाव से विचलित होते हैं, तो धर्म से विचलित होते हैं, धर्म के पालन का सीधा और सरल उपाय है अपने स्वभाव को पहचान कर उसमें स्थापित होना अथवा विभाव को छोड़ स्वभाव में रमण करना। इसलिए सबसे पहले हम पहचानें कि हमारा स्वभाव क्या है और विभाव क्या है। जैसे ही स्वभाव का भान हो जाए, तो हम स्वभाव में रमण करें और वही हमारी धर्म में स्थापना है। स्वभाव की जानकारी हमें स्वभाव से विचलित नहीं होने देगी। **जब तक हम अपने स्वभाव से अपरिचित हैं तब तक ही हम विभाव में रहते हैं। यदि स्वभाव को केवल बुद्धि के स्तर पर जानते हैं तो यह स्वभाव को जानना नहीं हुआ। स्वभाव को तो सही रूप से जानने का अर्थ है अपनी अनुभूति से जानना।** केवल बुद्धि से जानते हैं वह आचरण में नहीं आता, क्योंकि हमारे कषाय यथा-अहम् (मान), क्रोध, लोभ हमें शीघ्र ही विचलित कर देते हैं। अनुभूति से स्वभाव जानने पर हम आचरण में अडिग बनते हैं और इसके लिए ध्यान की विधा आवश्यक है। यही हमें अध्यात्म की ओर ले जाएगी। अध्यात्म के बिना बाहरी आचरण दिखावा भी हो सकता है और कमज़ोर भी।

आध्यात्मिकता का अर्थ

अध्यात्म का अर्थ कई प्रकार से किया जाता है। आत्मा में लीन होना, आत्मा से जुड़ना, अन्तर्मुखी (Introvert) होना, स्व में स्थित होना, अन्तर में झाँकना आदि अध्यात्म के पर्याय माने जाते हैं। इसके विपरीत भौतिक साधनों या भौतिक जगत की चकाचौंध में लिप्त होना, बहिर्मुखी (Extrovert) होना भौतिकता का पर्याय माना जाता है। जिन महापुरुषों ने वास्तविकता की पहचान कर ली है वे प्रतीति कर चुके हैं कि असीम आनन्द की सत्ता आत्मा में ही है, न कि भौतिक साधनों में। उनका लक्ष्य होता है साधना द्वारा आत्म-बोध प्राप्त करना। यही सम्बोधि, स्वबोध, समाधि एवं मुक्ति है। **आत्मबोध ही अध्यात्म है और इसकी गहराई में जाने से**

आभास होता है कि मुक्त जीवन आनन्दमय, तनावरहित और सरस होता है। जिसको आत्मबोध हो गया उसका विवेक जग गया, अप्रमत्त हो गया और वह अपने मार्ग का निर्णायक, नियामक और सृजक हो गया। अब उसे किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं है। (उद्देसो पासगस्स नत्थि -आचाराङ्गसूत्र)

प्रत्येक प्राणी कभी न समाप्त होने वाली शान्ति, स्वतन्त्रता और आनन्द चाहता है, परन्तु अधिकांश लोग अपने आपको दु:ख में पाते हैं और इसका कारण है अकुशल या दूषित चिन्तन एवं चित्त की अनियन्त्रित चञ्चलता। अनियन्त्रित चित्त बाह्य भौतिक जगत् में उपलब्ध उपभोग-परिभोग की चीजों के संग्रह और उपभोग में व्यस्त रहता है, चाहना करता है, भविष्य के सुनहरे सपने सञ्जोता है और कभी भूतकाल में, तो कभी भविष्य में रमण करता है। इन्द्रियों के विषय के अनुरूप प्रेरित हो इन्द्रियों को तृप्त करने में लगा रहता है। इसी में सुख की तलाश करता है। इसे ही सुख मानकर इसका दास बन जाता है। इसी उधेड़-बुन में सारा जीवन बीत जाता है और सञ्जोये सपने पूरे नहीं होने पर या वस्तु बिछोह होने पर सुख के स्थान पर दु:खी होता है। शाश्वत सुख और आनन्द के लिए चित्तवृत्ति को भौतिक जगत् की चकाचौंध से मोड़कर स्व में स्थित होने एवं स्वबोध प्राप्त करने के लिए अध्यात्म की ओर मुड़ना होगा।

भौतिक वस्तुओं से विरक्ति अध्यात्म की प्रथम आवश्यकता है। बिना विमुख हुए अध्यात्म की सीढ़ी असम्भव है। गृहस्थ को छोड़ श्रमण-जीवन में प्रवेश द्रव्य रूप से भौतिक वस्तुओं के त्याग का प्रथम क़दम है। वस्तुओं और भौतिकता का त्याग अन्तरंग से हो, इसके लिए श्रमण जीवन में भी कठिन परिश्रम साधना की आवश्यकता है, मात्र गृहस्थ जीवन छोड़ने से मुक्ति-मार्ग तय नहीं हो जाता। इसीलिए श्रमण की आचार संहिता बहुत शोध और अनुभव के आधार पर बनाई गई है। गृहस्थ को भी सुखी जीवन के लिए भौतिक वस्तुओं के पूर्ण त्याग के स्थान पर उनके संग्रहण पर नियन्त्रण एवं उनमें अनासक्ति भाव लाना आवश्यक है। सम्यक्त्व भाव आने पर स्वत: ही अनासक्त भाव का प्रादुर्भाव होता है। सम्यक्त्व भाव के लिए अन्तर्मुखी होना अत्यन्त आवश्यक है। आचाराङ्गसूत्र में उल्लेख आया है-'जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ। जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ' जो अपने अन्दर को जानता है वह बाहर की बात को भी अच्छी तरह जानता है और जो बाहर को जानता है वह अन्दर को भी जानता है। अपने अन्दर क्या है उसे जानने पर ही हम सम्यक्त्व के दर्शन कर पाएँगे। बाहर की वस्तुएँ भ्रमित कर सकती हैं। परन्तु अन्दर की जानकारी भ्रमित नहीं करेगी। इसीलिए आध्यात्मिकता ही हमारे दर्शन और ज्ञान का सही आधार है। उस पर आधारित चरित्र तथा सम्यक् और सही होगा। अन्दर की बात कैसे जानें? स्वबोध कैसे प्राप्त हो? स्वबोध प्राप्त हो तो ही सम्बोधि प्राप्त हो सकती है। सम्बोधि से ही समाधि अथवा शान्ति प्राप्त हो सकती है। स्वबोध और समाधि के लिए ध्यान का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। इसका विस्तृत उल्लेख आचाराङ्गसूत्र में आता है और ध्यान के आधार पर स्वात्मोपलब्धि प्राप्त करने के तरीके बताये हैं। दु:ख की बात यह है कि हमने ध्यान की यह विरासत भुला दी और बाह्य तप और आचरण पर ज़ोर देकर चरित्र की नींव कमजोर कर दी। जब श्रावकों का विवेक ही जाग्रत नहीं हुआ, अपनी अन्तरात्मा से साक्षात्कार नहीं हुआ, तो मात्र उपदेशों से ग्रहण किये गए धर्म के द्वारा आचरण की नींव मज़बूत कैसे हो सकती है? हमने अपने आप को पहचाना नहीं, इस पर एक छोटी-सी कविता प्रस्तुत करता हूँ-

मैं अपने आपसे कितना दूर हो गया हूँ,
कि अपनी पहचान भूल गया हूँ,
बाहर की सब बातें जानता हूँ,
इतिहास और भूगोल जानता हूँ,
विज्ञान और अन्तरिक्ष जानता हूँ,
शास्त्र और वेद जानता हूँ,
गीता और रामायण जानता हूँ,
पर खुद के बारे में कुछ नहीं जानता हूँ,

मैं अपने आपसे कितना दूर हो गया हूँ,
कि अपनी पहचान भूल गया हूँ।

वर्तमान प्रसङ्ग

आज जीवनशैली तथा पारिवारिक प्रसङ्गों पर निगाह डालने पर कुछ अच्छी बातें नज़र में आती हैं तो कुछ दु:खप्रद। विगत पचास वर्षों में शिक्षा का प्रसार हुआ है और युवा ही नहीं युवतियों ने सभी क्षेत्रों में अच्छी सफलता हासिल की है। डॉक्टर, इञ्जीनियर, सी.ए., आई.ए.एस. आदि सब क्षेत्रों में अपनी धाक जमाई है। खुशी की बात यह भी है कि अभिभावकों ने लड़कियों की शिक्षा के प्रति पुरानी धारणा को छोड़कर उन्हें पढ़ने और आगे बढ़ने की छूट दी है। अब लड़कियों में आत्मनिर्भर होने से स्वाभिमान जगा है जो अच्छी बात है। यद्यपि मेरे कई साथी मुझसे सहमत नहीं होंगे और वे नहीं चाहते कि लड़कियाँ स्वाभिमानी बनें। वे चाहते हैं कि लड़कियाँ पुराने जमाने की तरह पति पर निर्भर रहें और उनमें प्रतिकार करने की जरा भी हिम्मत न हो। **स्वाभिमान सबमें होना चाहिए, परन्तु स्वाभिमान का अर्थ अभिमान या अहम् नहीं है। अभिमान या घमण्ड एक बुराई है जो पुरुष-स्त्री दोनों में नहीं होनी चाहिए। लेकिन स्वाभिमान सबमें होना चाहिए। माताओं के शिक्षित होने से पूरा घर शिक्षित और संस्कारित हो जाता है।** परन्तु स्कूली शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा का विकास नहीं हुआ और हमारे नवयुवक-युवतियाँ धार्मिक शिक्षा से महरूम रह गए। उन्हें न जीवन की मञ्ज़िल का पता है, न अच्छे संस्कारों का। उनकी बस एक मञ्ज़िल है कि पैसा कमाओ चाहे कोई भी तरीका काम में लेना पड़े इसकी परवाह नहीं है। तकनीकी जानकारी के साथ मानविक गुणों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, न विकसित करने का मौका मिला। इसका मूल कारण धार्मिक संस्कारों का अभाव है। धार्मिक संस्कार न तो स्कूल और कॉलेज की शिक्षा में मिलते हैं और न ही घरों या धार्मिक स्थानों पर मिलते हैं।

धार्मिक संस्कार न मिलने के लिए माता-पिता का दोष तो है ही, साथ ही यह भी एक कारण है कि हमारी धार्मिक शिक्षा प्रणाली पुरानी ही रही और उसमें समुचित विकास और संशोधन नहीं हुआ, पुरानी पाटियाँ और थोकड़े रटने के अलावा कोई शिक्षण का नया तरीका इजाद नहीं हुआ। चिन्तन, मनन तथा ध्यान के अभाव में किताबी ज्ञान पर ही जोर रहा जो अनाकर्षक तथा उबाने वाला है। पढ़ने की सुविधाओं का भी विकास नहीं हुआ। इन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। **स्थानक, मन्दिर बहुत बने, पर धार्मिक पाठशाला या धार्मिक विश्वविद्यालय नहीं बना। बिखरे-बिखरे प्रयास किये गए, परन्तु संघटित और वैज्ञानिक तरीकों से विकसित पाठ्यक्रम का चलन नहीं हुआ और इसीलिए युवाओं का इसके प्रति आकर्षण नहीं हुआ।** हमारे सम्प्रदायों के बिखराव तथा झगड़ों से भी वे बिदक गए और धर्म से दूर रहना ही अच्छा समझा। धर्म के कर्म-काण्डों एवं परिपाटियों ने भी उन्हें आकर्षित करने की बजाय विमुख कर दिया। नुकसान यह हुआ कि नई पीढ़ी धर्म के अच्छे हिस्से से भी पहचान नहीं कर पाई। श्रावक धर्म क्या है, अणुव्रत क्या हैं, गुणव्रत क्या हैं आदि का कोई ज्ञान नहीं है। नवकार मन्त्र भी उन्हें याद हो तो बड़ी बात है। धर्म के संस्कार न मिलने से घरों में विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। शाकाहार के स्थान पर मांस, मदिरा, धूम्रपान, गुटखा आदि का चलन होने लगा है, **नशीले पदार्थों जैसे ब्राउन शुगर, अफीम आदि कई पदार्थों का उपयोग होने लगा है, जिनसे युवाओं के जीवन नष्ट हो गए हैं। जब धुरी से गाड़ी हट जाती है तो कहाँ जायेंगे इसका पता नहीं लगता।** शादी-ब्याह में, मैं अन्तरजातीय विवाह का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु अन्य जाति में शादी करने से पूर्व यह तो देखना चाहिए कि उनके संस्कार हमसे मिलते हैं या नहीं। संस्कारों की अनदेखी करने पर शादी खुद खतरे में पड़ जाती है।

आज के व्यस्त जीवन ने एक नई खतरे की घण्टी बजाई है। माता-पिता और बच्चों के बीच संवाद ही खत्म हो गया। माता-पिता अपने कार्यों या व्यवसाय में इतने व्यस्त हैं कि उन्हें अपने बच्चों से बात करने की

फुरसत नहीं है। बच्चों के पास स्कूल या कॉलेज की व्यस्तता के अतिरिक्त टी.वी., कम्प्यूटर, फोन, आई.टच, वीडियो गेम्स, फेसबुक आदि इतने उपकरण हैं कि उन्हें भी अपने माता-पिता से बात करने की फुरसत नहीं है। **बच्चों से संवाद के अभाव में माता-पिता को यह पता नहीं कि बच्चा क्या संस्कार प्राप्त कर रहा है। किस प्रकार की संगत में है और क्या आदतें या व्यसन पनपा रहा है।** जब बचपन में माँ-बाप ने अपने बच्चों की परवाह नहीं की तो बुढ़ापे में बच्चों से क्या अपेक्षा करते हैं? यदि बच्चे अपने माँ-बाप का खयाल नहीं रखते या वे उनसे बात नहीं करते तो त्रुटि किसकी है? आपने अपने माता-पिता की सेवा की क्या? यदि आपने की तो बच्चे आपका अनुकरण करेंगे। यदि आपने नहीं की, तो उन्होंने आपसे जो सीखा वही वापस देंगे।

जैन की पहचान

जैन की पहचान क्या है? क्या हम निश्चित रूप से जैन की पहचान को प्ररूपित कर सकते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि जो जैन है उसकी दुकान या दफ़्तर में असत्य का प्रयोग नहीं होगा। सही तोल मिलेगा और कोई मिलावट नहीं होगी? क्या हम कह सकते हैं कि जैन की फैक्ट्री या दफ्तर में किसी प्रकार का शोषण नहीं होगा। कर की चोरी नहीं होगी, तस्करी नहीं होगी? क्या जैन के घर में कभी दहेज की माँग नहीं होगी? क्या जैन के घर में दहेज के लिए बहू को प्रताड़ित, पीड़ित या उसका दाह नहीं किया जायेगा? क्या हम कह सकते हैं कि जैन किसी भी चुराई वस्तु को नहीं खरीदेगा? क्या जैन के यहाँ रखी अमानत (Deposit or entrusted poperty) की खयानत (Breach of trust or embezzlement) नहीं होगी? क्या हम कह सकते हैं कि जैन है तो रिश्वत नहीं लेगा?

आज आवश्कयता है जैन श्रावक के प्रामाणिक होने की। जैन को केवल भाजी खाने, जमींकन्द न खाने, या धोवन पानी पीने से ही नहीं पहचाना जाय। जैन केवल उपवास और मासखमण करने वाला न कहलाये। चींटी की रक्षा करे और अपने बूढ़े माँ-बाप की अवहेलना करे तो क्या जैन कहलाने लायक है? पति और पत्नी में झगड़ा हो और पत्नी के साथ मारपीट हो तो क्या अहिंसा की दुहाई दे सकते हैं? जैन घरों में मांस और शराब के चलन की छुपी-छुपी खबरें सुनने को मिलती हैं तो शर्म से सिर नीचे हो जाता है। आप कितनी ही सामायिक कर लो, परन्तु भाई-भाई और सास-बहू में झगड़ा और तनाव है। **भाई-भाई में सम्पत्ति को लेकर कोर्ट में मुकदमा चल रहा है तो सामायिक का कोई महत्त्व नहीं है। सामायिक का सही फल तब ही माना जायेगा जब घर-परिवार में शान्ति हो। घर में शान्ति होगी तो जीवन सरस होगा, आनन्दमय होगा।** यह आनन्द धर्म से प्राप्त होता है। यदि जीवन में शान्ति और आनन्द नहीं है तो आप कुछ भी करते हो, परन्तु धर्म के मार्ग पर नहीं हो। धर्म की वास्तविक कसौटी ही जीवन में आनन्द और शान्ति है।

बहुत चोट लगती है जब खबर छपती है कि जैन व्यक्ति ने घी में गाय की चर्बी की मिलावट की, हवालाकाण्ड में जैन की डायरी का उल्लेख आया, शेयर बाजार के सबसे बड़े घोटाले में जैन का उल्लेख था। 'JITO' के सम्मेलन में जब गया और बड़े-बड़े उद्योगपतियों और व्यापारियों के नाम सुनने में आये तो गर्व से सिर ऊँचा हुआ, परन्तु गर्व से सिर और अधिक ऊँचा होता जब सुनने में आता कि हमारे सभी बड़े उद्योगपति और व्यापारी उच्च आदर्श के धनी हैं और उनके आदर्श अनुकरणीय हैं। व्यवसाय जगत् में अपनी ईमानदारी और नीति के लिए श्री नारायणमूर्ति की कम्पनी इन्फोसिस ने विश्वभर में नाम कमाया और सिद्ध किया कि नीति तथा न्याय से चलने पर व्यवसाय में कमी नहीं आती, बल्कि व्यवसाय और बढता है। **प्रबन्धन (Management) के विशेषज्ञों ने भी इस बात पर ज़ोर दिया है कि सच्चाई और ईमानदारी अन्त में स्थायी फल देती है और अपना लक्ष्य निर्धारण इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए और ये सिद्धान्त हमारा मार्गदर्शन**

इसी प्रकार करें जैसे समुद्री यात्रा में कुतुबनुमा (Compass) करता है।

हमारे अहिंसा, सत्य आदि व्रत दिखावे के न हों। श्रीमद् राजचन्द्र की तरह प्रामाणिक ही नहीं, करुणावान व्यवसायी हों जो अपने कर्ज़दार पर रहम खाकर कर्ज़ की चिट्ठी को फाड़ दें। हमारा आचार व्यावहारिक धरातल पर घर-परिवार तथा समाज से जुड़ा हो। जो भी आदर्श और व्यवहार में खाई आज दिखाई देती है उसका मूल कारण है व्रतों आदि की बाहरी व्याख्यान से जानकारी, न कि स्व के अनुभव और अध्यात्म से जानकारी। जब हम अपने अध्यात्म में रमण कर अपनी अनुभूति से करुणा से भर उठेंगे तब आदर्श एवं आचरण में कोई खाई नज़र नहीं आयेगी। तब हम अनुभूति के स्तर पर सब प्राणियों से एकत्व अनुभव करेंगे और किसी के साथ अनुचित व्यवहार नहीं करेंगे। ऐसा होने पर ही हमारे व्यवहार पर जैन की छाप स्पष्ट नज़र आयेगी। सब जैन जिस दिन ऐसा व्यवहार करेंगे तब यदि कोई कहे कि जैन ने कोई अनुचित व्यवहार किया तो हम निडर होकर कह सकेंगे कि ऐसा जैन व्यक्ति कर ही नहीं सकता। यह जैनोचित व्यवहार नहीं है। परन्तु आज हम नहीं कह सकते।

प्राणियों से एकत्व भाव न होने और अपने आपके स्वार्थ में लगे रहने से मुझे अपने पड़ोसी का पता नहीं है। पड़ोसी तो दूर, अपने घर में क्या हो रहा है इसका भी पता नहीं है। हम अपने स्वार्थ में कितने उलझ गए हैं, यह निम्न चार पंक्तियाँ सुनाकर अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ-

तू और मैं, मै और तू, कहाँ था इन दोनों में भेद,
पर अब मति बदल गई है, मैं मैं हूँ और तू तू है,
नहीं है दोनों में मेल।

- सी-1701, लेक प्रिम रोज, लेक होम्स फेज-4 पवई, मुम्बई-400076 (महा.)

प्राणिरक्षण से प्रसन्नता

अशोक कुमार जैन (हरसाना वाले)

लञ्च का समय था। मैं और मेरे साथी वन-विभाग के अरण्य भवन में अन्दर ही टहल रहे थे। कुछ छोटे-छोटे बिल्ली के बच्चे शायद उनकी आँखें भी नहीं खुली होंगी। वे छोटे-छोटे तीन बच्चे करुण आवाज़ में म्याऊँ-म्याऊँ कर रहे थे। हमने उन बच्चों को लगभग आधा घण्टे तक इस तरह की करुण आवाज़ करते हुए सुना।

उस करुण आवाज़ को सुनकर मेरे से रहा नहीं गया। मैंने अरण्य भवन के गार्ड (चौकीदार) से पूछा- कि ये बिल्ली के बच्चे क्यों इस तरह की आवाज़ कर रहे हैं, चुप क्यों नहीं हो रहे हैं।

चौकीदार ने बताया कि इन बच्चों की माँ बिल्ली अरण्य भवन के सामने रोड़ पार कर रही थी कि किसी वाहन ने टक्कर मार दी और वह मर गई। इन बिल्ली के बच्चों की आँखें भी नहीं खुली हैं, हम इनको दूध पिला रहे हैं, लेकिन ये दूध नहीं पी रहे हैं। आप ही कोई इनका उपाय खोजिए। नहीं तो ये बच्चे मर जायेंगे।

मेरे मन में करुणा के भाव उमड़ आये। मुझे पता था कि एक संस्था महारानी फार्म, दुर्गापुरा में जो बिल्ली, कुत्ते, कबूतर तथा अन्य जानवरों को चाहे वे घायल हों, चाहे वे अनाथ हों उनको बचाने का कार्य करती हैं।

मैंने चौकीदार से कहा-आपको मेरे साथ चलना होगा। मैं गाड़ी लेकर उन बिल्ली के बच्चों को एक कागज के मुलायम डिब्बे में रखकर चौकीदार को साथ लेकर उस सेवाभावी संस्था (हैल्प इन सफरिंग) महारानी फार्म पहुँचे। वहाँ के कर्मचारियों ने उन तीनों बच्चों को लेकर उनकी सुरक्षा की और उन बच्चों को बचा लिया। इस तरह से मेरे द्वारा उन मूक प्राणियों को बचाने का सेवा कार्य हुआ। इस तरह से मेरे मन को बहुत प्रसन्नता हुई।

-निजी सचिव, अतिरिक्त प्रधान मुख्य वन संरक्षक एवं मुख्य वन प्रतिपालक, जयपुर

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 130
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली : स्वरूप एवं सन्धारण

प्रो. चाँदमल कर्णावट

सर्वप्रथम यह बताना आवश्यक है कि हम जैनों ने जैन धर्म की प्रतिष्ठा को जितनी हानि पहुँचाई है, उतनी अन्य किसी ने नहीं। हिंसा, अप्रमाणिकता, असत्य, परिग्रह, मिलावट, रिश्वतखोरी, झूठा तोल-माप आदि का जैन जीवन में गहरा समावेश है। आज ही भास्कर में समाचार है कि नकली शराब बनाने की फैक्टरियों में चित्तौड़ निवासी एक जैन बन्धु मास्टर माइण्ड है। हैदराबाद के कत्लखाने में एक जैन बन्धु की भागीदारी है। ऐसे एकाधिक उदाहरण जैन धर्म के पावन पवित्र आँचल पर गहरे दाग हैं, जिन्हें धो पाना अत्यन्त कठिन है। ऐसे समय में जैन जीवनशैली की पुनः प्रतिष्ठा युग की प्रबल माँग है। विद्वत् वर्ग का इसमें मार्गदर्शन अतीव आवश्यक है। आज धन प्रधान और धर्म गौण बन गया है।

जैन जीवनशैली की अवधारणा

जैन किसे कहें? जो रागद्वेष विजेता जिनेश्वर देव के अनुयायी हैं तथा जो रागद्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों को जीतने का अभ्यास करे, वे जैन हैं। कषाय चतुष्टय इस लोक और परलोक को बिगाड़ने वाले तथा जीवन को पतन के गर्त में गिराने वाले हैं। आचार्यों ने इसीलिए कहा- **'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव'** अर्थात् क्रोधादि चार कषायों से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है।

जैन जीवनशैली : स्वरूप

हम केवल नाम से जैन न रहकर सच्चे जैन बनना चाहें तो आवश्यक है कि भगवतीसूत्र 12/2 में तुंगियापुरी के श्रावकों के अनुसार हम भी जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि नौ ही तत्त्वों की सर्वज्ञ प्रणीत यथार्थ जानकारी करें और उन पर श्रद्धा करें तथा पालन करें। इसके साथ ही कायिकी आदि पच्चीस क्रियाओं की जानकारी करें, क्योंकि ये क्रियाएँ ही हमारे परिणामानुसार कर्मबन्ध का हेतु बनती हैं। हम प्रतिदिन तीन मनोरथ का चिंतन करें, चौदह नियम धारण करें और पाप से निवृत्त होवें। इसके पूर्व हम सुदेव, सुगुरु और सुधर्म तीन तत्त्वों को समझें, पालन करें। रागी द्वेषी देवों की भक्ति न कर अरिहंत सिद्ध को देव मानें, पञ्च महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति का सही पालन करने वाले गुरुओं को गुरु तथा अहिंसा, दया आदि केवली प्ररूपित धर्म को धर्म मानें, क्योंकि जहाँ दया है वहीं धर्म है। कर्मसिद्धान्त का ज्ञान करें, क्योंकि जैनधर्म का भवन कर्मसिद्धान्त की बुनियाद पर खड़ा है। हम विश्वास करें कि-**सुच्चिण्णा कम्मा, सुचिण्णफला दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला** अर्थात् शुभ कर्मों का फल शुभ और अशुभ या बुरे कर्मों का बुरा फल होता है। मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों में जो हमें धर्म/मोक्ष के अभिमुख ले जाने वाले हैं उनमें प्रथम गुण न्याय-सम्पन्न-वैभव के अनुसार हमारी अर्जित सम्पदा न्यायनीति के अनुसार हो। इसके साथ ही जानें कि धनार्जन का लक्ष्य शान्ति प्राप्त करना है, धनाढ्य बनना नहीं। अर्थ का अति लोभ अनर्थ का मूल कारण है। हमारी संस्कृति में कहा गया-**'स एव दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।'** दरिद्र वह नहीं जो निर्धन है, परन्तु दरिद्र वह है जिसकी तृष्णा बहुत बढ़ी हुई है। शास्त्र कहता है कि इच्छाएँ तो आकाश के समान अनन्त हैं उनकी पूर्ति सम्भव नहीं। इसके बाद हम अपनी सामर्थ्यानुसार एक व्रत या श्रावक-श्राविका के बारह व्रत ग्रहण करें, उन्हें समझें और स्वीकार करें। रात्रि-भोजन त्याग तो जैनों की पहचान है।

जैन जीवनशैली : सन्धारण

उपर्युक्त जैन जीवनशैली के स्वरूप के अनुसार शैली को जीवन में धारण करने हेतु आवश्यक है कि हम-

1. **जीव-अजीव पुण्य-पाप** आदि नौ तत्त्वों की तथा पच्चीस क्रियाओं तथा बारह व्रतों, सात कुव्यसन की यथार्थ जानकारी करें, उन्हें अच्छी तरह से समझें।
2. **संकल्प और संधारण**-विषय वस्तु को समझने से विचार बनते हैं और विचार से विश्वास तथा विश्वास आचरण में रूपायित होता है। हम रागी-द्वेषी देवों की मान्यता छोड़ें तथा वीतराग देवों-अरिहंत-सिद्ध की उपासना करें। अपनी सामर्थ्यानुसार श्रावक के बारह व्रत धारण करें। चौदह नियमों को प्रतिदिन धारण कर पालन करें, क्योंकि इनके पालन से मेरु जितना पाप राई जितना रह जाता है। इनसे जीवन की सभी आवश्यक प्रवृत्तियों की मर्यादा और अधिकांश पाप प्रवृत्तियों का त्याग होने से पाप का भाग बहुत कम रह जाता है।
3. **अभ्यास**-जैन जीवनशैली को समझकर उसे धारण कर उसका अभ्यास करें। सम्यक् पालन का अभ्यास हमारे जीवन को ऊँचाइयों तक पहुँचा सकेगा। प्रतिदिन सायंकाल प्रतिक्रमण करें। जो शैली धारण की है, उसमें स्खलना हुई तो उसका चिन्तन करें और पुनः शुद्ध पालन का दृढ़ निश्चय करें।

मानव जीवन और जैन जीवन की सफलता

सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म धारण करने से व्यवहार समकित धारण कर सकेंगे और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करने से क्षायिक औपशमिक अथवा क्षायोपशमिक समकित प्राप्त होगा। सम्यग्दर्शन में आयुष्य बन्ध हुआ तो हम निश्चित मोक्षगामी बनेंगे। क्रोधादि कषायों पर धीरे-धीरे विजय का अभ्यास करने से हम निश्चित ही मोक्षगामी बन सब दुःखों से मुक्त बनेंगे। क्योंकि कषायों से मुक्त होना ही सच्ची मुक्ति है। इस प्रकार हमारा मानव भव और जैन जीवनशैली का सन्धारण हमें जीवन की परम सफलता को उपलब्ध करवा सकेंगे। हमारा दुर्लभ मानव भव धारण करना सफल और सार्थक बन सकेगा। *(अब स्वर्गस्थ)*

-प्लॉट नं.35, अहिंसा पुरी, उदयपुर-313001 (राज.)

- बालक रत्न भी बन सकते हैं और टोल भी। माता-पिताओं को चाहिए कि अपना दायित्व समझकर बालकों के सुन्दर जीवन-निर्माण की ओर लक्ष्य दें अन्यथा हाथ से तीर छूट जाने पर लाइलाज है।
- सद्गृहस्थ धर्मप्रधान दृष्टि रखते हुए अर्थ-साधना करता है। सद्गृहस्थ को चाहिए कि वह प्रतिदिन इसका निरीक्षण करे कि मेरा 'अर्थ-साधन' धर्म के विपरीत तो नहीं जाता। उसका दृष्टिकोण उस किसान की तरह होता है जो बीज को खाता हुआ भी उसे बोना नहीं भूलता। बीज के लिए अच्छे दाने सुरक्षित रखता है।
- यदि परीक्षा में बच्चों के नैतिक व्यवहार के भी अंक दिए जाएँ तो बच्चे देश के लिए वरदान हो सकते हैं।
- धर्म पहले इहलोक सुधारता है, फिर परलोक। धर्म से, पहले इस जीवन में शान्ति मिलती है, फिर आगे।
- आत्मसुधार का एक निश्चित क्रम है-1. जीवन सुधार, 2. मरण सुधार 3. आत्म सुधार।
- अनर्थदण्ड के प्रमुख कारण हैं-1. मोह 2. प्रमाद और 3. अज्ञान।
- किसी की उन्नति देखकर ईर्ष्या करना या उसकी हानि की सोचना अनर्थदण्ड है।
- अपध्यान में बाहरी हिंसा नहीं दिखती, परन्तु वहाँ अन्तरंग हिंसा है।

-आचार्यश्री हस्ती

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 132
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली : एक चिन्तन*

डॉ. दयानन्द भार्गव

जैन कौन ?

जो जैन हैं उनके सम्मुख यह प्रश्न प्राय: नहीं आता है कि जैन कौन है? वे मान लेते हैं कि हम जैन हैं, क्योंकि हम जैन घर में पैदा हुए हैं। किन्तु भगवान महावीर ने जन्म से किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र नहीं माना, तो क्या किसी को जन्म से जैन माना जा सकता है? मेरी दृष्टि में जैनत्व सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होता है। मिथ्यादृष्टि तो सब एक से ही हैं-क्या जैन, क्या अजैन। जैन-अजैन का भेद सम्यग्दर्शन अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

अब इस सम्यग्दर्शन को भी कोई क्रियाकाण्ड (Rituals) नहीं समझ लेना चाहिए। तिर्यञ्च को भी सम्यग्दर्शन होने की सम्भावना मानी गई है। सोचने जैसा है कि तिर्यञ्च को किस गुरु, देव या शास्त्र में श्रद्धा हो सकती है कि जिसके कारण उसमें सम्यग्दर्शन की सम्भावना हो सके? सम्यग्दर्शन एक सूक्ष्म भेदविज्ञान है। यह समझ कि मैं चेतन आत्मा हूँ, जड़ शरीर नहीं, तिर्यञ्च में भी आ सकती है। यही सम्यग्दर्शन है। इस समझ वाला व्यक्ति ही वास्तव में जैन है।

जीवन क्या है ?

जीवन जड़ शरीर और चेतन आत्मा की संयुति है। शरीर की अपनी आवश्यकता है-रोटी, कपड़ा और मकान। आत्मा की अपनी माँग है-स्वतन्त्रता अर्थात् मुक्ति। जीवन इन दोनों अपेक्षाओं के बीच सन्तुलन बनाने का नाम है। अथवा कहना चाहिए कि सामान्य व्यक्ति के लिए जीवनशैली वह उत्तम उपाय है जो इन दोनों-शरीर की आवश्यकता और आत्मा की माँग के बीच सन्तुलन बना सके।

सिद्धों की केवल आत्मा है अत: उनके लिए इस सन्तुलन की समस्या ही नहीं है। घट-पटादि के केवल शरीर है, उनमें आत्मा नहीं है, अत: उनके लिये भी कोई समस्या नहीं है। पशु के पास शरीर और आत्मा दोनों हैं, अत: वह भी अधिकतर सहज बुद्धि (Instinctively) से जीवन जीने के बावजूद स्वामिभक्ति जैसे नैतिक गुण अथवा अहिंसा जैसे आध्यात्मिक गुण से युक्त देखने में आता है। विशेषकर जैन कथाओं में पशुओं में अहिंसात्मक वृत्ति मिलने का उल्लेख है। इसीलिए तिर्यञ्च में भी सम्यग्दर्शन की सम्भावना मानी गई है।

जैन जीवनशैली क्या है ? : साधन-साध्य विवेक

आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मान लेने पर प्रश्न आता है कि इन दोनों की आवश्कताओं के बीच सन्तुलन की कसौटी क्या हो? **जैन दृष्टि है कि शरीर साधन है, साध्य तो आत्मा ही है।** शरीर की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति इसलिए की जाती है कि शरीर द्वारा साधना करके आत्मा परमात्मा पद को प्राप्त कर सके। यदि शरीर इस साधना के योग्य न रह जाये तो संथारा/संलेखना द्वारा शरीर की आवश्यकता की पूर्ति करना भी छोड़ दिया जाता है। वह साधन व्यर्थ है जो साध्य की प्राप्ति में सहायक न बनकर बाधक बन रहा हो। संथारा/संलेखना जैन जीवनशैली का चरम बिन्दु है।

गृहस्थ की जीवनशैली

जीवनशैली का पटल बहुत व्यापक है। गृहस्थ के लिये जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग आजीविकोपार्जन है। आजीविका द्वारा ही गृहस्थ अपने शरीर-मन की

* आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर, 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवनशैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

आवश्यकताएँ पूरी करता है। अब यदि शरीर को साधन मान लिया और साध्य आत्मा का परमात्म-पद प्राप्त करना है तो स्पष्ट हो जाता है कि **हमें आजीविका उसी प्रकार अर्जित करनी चाहिए जो परमात्म-पद की प्राप्ति में बाधक न हो। यही श्रावक के व्रतों का आधार है।** वह आजीविकोपार्जन में हिंसा, अनृत, चौर्य, अब्रह्म तथा मूर्च्छाभाव का क्रमशः न्यूनीकरण करता चला जायेगा, क्योंकि ये सब सावद्यभाव आत्मा को मलिन बनाकर परमात्म-पद जो कि जीवन का लक्ष्य है, की प्राप्ति में बाधक बनते हैं। इन सावद्य भावों के क्रमिक न्यूनीकरण को श्रावक की प्रतिमाओं द्वारा प्रकट किया गया है।

आधुनिक युग की माँग

प्रतिमाओं द्वारा सावद्य कर्मों के त्याग का मार्ग ही श्रावक की वास्तविक जैन जीवनशैली है। श्रावक की प्रतिमाओं का चरमोत्कर्ष भी साधु जीवन के महाव्रतों के रूप में होता है, जहाँ सभी सावद्य कर्म सर्वथा त्याग दिये जाते हैं। यह जीवनशैली का पारम्परिक रूप है।

जरा आधुनिक युग पर भी दृष्टिपात करें। मान लें कि हममें से अधिकतर न प्रतिमाधारी बनना चाहते हैं, न साधु बनना चाहते हैं, तो क्या उनके लिये भी कोई जैन जीवनशैली प्रतिपादित की जा सकती है? यह प्रश्न जैन-अजैन सभी धार्मिक आध्यात्मिक परम्पराओं के लिए है कि साधना के चरम बिन्दु, संन्यास अथवा गृहत्याग को छोड़कर भी क्या आधुनिक युगानुरूप कोई जीवनशैली प्रतिपादित की जा सकती है।

उत्तर यह है कि **सभी परम्पराएँ पुण्य को लौकिक अभ्युदय का कारण मानती हैं।** पुण्य क्या है-इस विषय में भी सभी परम्पराएँ (कुछ दार्शनिक बारीकियों को छोड़कर) सहमत हैं। आम आदमी की आज बहुत चर्चा है। अतः **दार्शनिक सूक्ष्मताओं में न जाकर आम आदमी के लिए जीवनशैली की बात करें तो चार बिन्दु उभर कर आयेंगे- ईमानदारी, परिश्रमशीलता, कार्यकुशलता और संवदेनशीलता।** जैन परम्परा में ईमानदारी सत्य और अचौर्यव्रत के रूप में विस्तार से परिभाषित है। श्रम को महत्त्व देने के कारण तो जैन का पुराना नाम ही श्रमण पड़ गया था। कुशलता प्रमाद के अभाव का ही नाम है। सारे पाप प्रमादयोग के कारण होते हैं। यह बात तत्त्वार्थसूत्र के **'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** सूत्र से स्पष्ट है। संवेदनशीलता अहिंसा का ही दूसरा नाम है।

सांसारिक सफलता का स्वरूप

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांसारिक रूप से भी सफलता के सारे सूत्र जैन धर्म में उपलब्ध हैं। **जो अध्यात्मप्रधान जीवन जीना चाहें उन्हें परम्परा का त्याग-प्रधान मॉडल उपलब्ध है, किन्तु जो मुख्यतः लौकिक जीवन ही जीना चाहते हैं उनके लिये भी जैन परम्परा में संवेदनशीलता के साथ ईमानदारी पूर्वक श्रम और कुशलता से जीवन निर्वाह करने का मार्ग पूर्णतः प्रशस्त है।**

आज एक भ्रम फैल गया है कि बिना बेईमानी, छल-कपट और तिकड़म के संसार में सफलता नहीं मिलती। यह सच है कि अधर्म के मार्ग से भी पैसा मिलता हुआ देखने में आता है, किन्तु जिन्होंने अधर्म से पैसा कमाया, उन्हें अपमान के रूप में उसकी भारी कीमत भी चुकानी पड़ी। अखबारों में प्रतिदिन भ्रष्टाचारियों के नाम मुखपृष्ठ पर आ रहे हैं। क्या हम इन लोगों को सांसारिक दृष्टि से सफल मानेंगे? गीता में कहा कि अपयश मृत्यु से भी अधिक भयंकर है- **अकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।** दिलीप राजा ने नन्दिनी गौ से प्रार्थना की थी कि वह उसका प्राण ले ले, किन्तु यशःशरीर को कृपा करके बचा ले-**यशः शरीरे भव मे दयालुः।**

मान लें कि हमने भ्रष्टाचार को छिपाने में सफलता प्राप्त कर ली तो भी हम भ्रष्टाचार को किस-किस से छिपा पाते हैं? क्या हमारी पत्नी, सन्तान, निकट सम्बन्धी भी हमारे भ्रष्ट आचरण को नहीं जानते? उनकी दृष्टि में हमारा कितना सम्मान रह जाता है? **सबसे बड़ी हानि तो यह है कि गलत काम करके हम अपनी दृष्टि में ही गिर जाते हैं।** जो अपनी दृष्टि में ही गिर गया

उसे संसार भर का सम्मान मिल भी जाये तो उसकी क्या कीमत है?

नवयुवकों के लिए धर्म

जो धर्म के मार्ग से भौतिकता में आगे बढ़ रहे हैं उनका अभ्युदय तो सिद्ध हुआ ही, उन्हें सम्मान भी मिला। ऐसे लोगों की संख्या भी कम नहीं है। उनके नाम केवल अखबार में ही नहीं, इतिहास में भी स्वर्णाक्षरों में अंकित होते हैं। आवश्यकता है कि ऐसे लोगों की एक केस-स्टडी करके यह बताया जाये कि उचित साधनों से भी लौकिक उन्नति की जा सकती है।

जैन परम्परा के आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा में कहूँ तो शुभोपयोग से भले ही मोक्ष न मिले, सुख तो मिलता ही है। यह सन्देश आज के नवयुवक तक पहुँचना चाहिये। वह अभी जीवन के प्रवेशद्वार पर खड़ा है। उसे जीवन के अन्त की चिन्ता अभी नहीं है कि त्याग-तपस्या की अधिक चिन्ता करे, उसे जीवन के प्रारम्भ की चिन्ता है। उसके सामने रोजी-रोटी का प्रश्न है। उसे बताया जाये कि **ईमानदारी, कठोरश्रम, कार्यकुशलता और व्यवहार में नम्रता आदि आध्यात्मिक गुण ही नहीं है, अपितु सांसारिक सफलता के भी सूत्र हैं।**

मेरा अनुभव

इस परिप्रेक्ष्य में जैन शब्दावली की मूलभावना को सुरक्षित रखते हुए भी उसकी युगानुरूप व्यावहारिक व्याख्या करना सम्भव है। मैं व्यवसाय से एक अध्यापक हूँ। अध्यापक के रूप में जैन व्रतों की मैंने अपने अध्यापन के व्यवसाय में तदनुरूप व्याख्या करके उसे यथाशक्ति जीवन में उतारा तो मुझे सफलता मिली। इसी प्रकार प्रत्येक व्यवसाय के सन्दर्भ में जैन जीवनशैली अर्थात् व्रतचर्या की व्याख्या किया जाना सर्वथा सम्भव है और ऐसा होना भी चाहिये। मैंने अपने अनुभव से सीखा कि अध्यापन कार्य में भी अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का व्यवहार सम्भव है। **अहिंसा** का अर्थ है कि किसी प्रकार का कष्ट न देना। इस व्रत का विस्तार करें तो अध्यापक के लिए यह अर्थ होगा कि उसे कक्षा में अपना पाठ्य विषय पूरी तरह तैयार करके ही जाना चाहिये। यदि वह बिना तैयारी के कक्षा में जाता है तो उसकी कक्षा के विद्यार्थी को यह कष्ट होता है कि उसे अध्यापक से अपेक्षित ज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा है और उसके समय तथा शक्ति का अपव्यय हो रहा है। विद्यार्थी के इस कष्ट का दायित्व अध्यापक पर है और वह इस कारण अहिंसाव्रत का उल्लंघन कर रहा है। इसी प्रकार अध्यापक का समय पर कक्षा में न जाना भी छात्रों को कष्ट देता है।

श्रावकाचार का दूसरा व्रत है-**सत्य।** समस्त शिक्षा मूलत: सत्य की खोज है। विद्यार्थी विद्या अर्थात् सत्य का अर्थी अर्थात् इच्छुक है। अध्यापक का दायित्व है कि सत्य की खोज में वह विद्यार्थी की सहायता करे। इसके लिये उसे स्वयं निरन्तर सत्य की खोज करनी होती है। इसलिये अध्यापक को अनिवार्यत: निरन्तर शोध करना होता है। इसके लिये नवीनतम खोजों का परिचय होना आवश्यक है। न्यूटन के बाद आइन्सटीन ने न्यूटन के सिद्धान्तों में परिवर्तन कर दिया। यदि कोई अध्यापक केवल न्यूटन को ही पढ़ाता रहे और आइन्सटीन को न पढ़ाये तो वह सत्यव्रत का पालन नहीं कर रहा है।

अचौर्य-किसी दूसरे के ज्ञान को अपना बताकर उसका श्रेय स्वयं लेना चोरी है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि न वह स्वयं ऐसा करे, न अपने छात्र को ऐसा करने दे। यदि प्रचार की दृष्टि से पुराने का ही पिष्टपेषण करना है तो उसे शोध की महनीय संज्ञा न दी जाये। पुराने को दोहराया जा सकता है, किन्तु वह शोध नहीं है।

ब्रह्मचर्य-ब्रह्म का एक अर्थ ज्ञान भी है। ब्रह्मचर्य का अर्थ एक ज्ञानी की चर्या है। विद्यार्थी का पुराना नाम ब्रह्मचारी है। अध्यापक का पुराना नाम आचार्य है। अध्यापक जिस आचरण की अपेक्षा विद्यार्थी से करता है, उस आचरण का पालन उसे स्वयं कठोरता से करना होता है। विद्यार्थी उपदेश से कम सीखता है, अध्यापक के आचरण से अधिक सीखता है। यदि अध्यापक स्वयं

शिथिलाचारी है तो उसके विद्यार्थी सदाचारी होंगे, यह बहुत कम सम्भव है।

पाँचवाँ व्रत **अपरिग्रह**–परिग्रह दो प्रकार का है–बाह्य और आन्तरिक। अध्यापक यदि बाह्य परिग्रह को जुटाने में अपनी शक्ति लगा देगा तो ज्ञानार्जन के लिए उसके पास समय और शक्ति बचेगी ही नहीं या बहुत कम बचेगी। अत: बाह्य परिग्रह की सीमा बाँधना आवश्यक है।

आन्तरिक परिग्रह से बचना और भी आवश्यक है। 'मेरा मत ही सत्य है और सब गलत हैं' ऐसा आग्रह अध्यापक की प्रगति में सबसे बड़ा बाधक है। नये ज्ञान के द्वार बन्द न हों, इसके लिये आवश्यक है कि अध्यापक सत्याग्रही बने, दुराग्रही नहीं।

उपर्युक्त विवेचन का विस्तार किया जा सकता है, किन्तु इस संक्षिप्त विवेचन से भी इतनी बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन परम्परा समस्त श्रावकाचार के नियमों की सही समझ से एक आदर्श अध्यापक की आचार संहिता भी प्रस्तुत करने में पूर्णत: सक्षम है।

एक अध्यापक-श्रावक श्रावकाचार की आत्मा का पालन करके न केवल अपने लिये मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर लेता है, अपितु अध्यापक बनकर समाज के प्रति अपना दायित्व भी बखूबी निभा सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा करके वह अध्यापक–श्रावक यश एवं लोकप्रियता आदि सहज ही प्राप्त कर लेता है। किन्तु यह सब फल तो आनुषङ्गिक हैं। मूल फल तो वह आनन्द है जो किसी भी व्यक्ति को अपना दायित्व कुशलतापूर्वक निभाने से ही मिल पाता है, अन्यथा नहीं।

निष्कर्ष

परम्परागत श्रावकाचार के अणुव्रतों का पालन करते समय यदि अध्यापक निम्न व्रतों का भी समावेश करले तो वह अपने अध्यापकीय दायित्व का भी समीचीनतया निर्वाह कर सकेगा और इस प्रकार वह व्यक्तिगत नि:श्रेयस की ओर अग्रसर होने के साथ–साथ सामाजिक अभ्युदय में भी अपना योगदान अध्यापन के माध्यम से दे सकेगा–

1. मैं कक्षा में अध्यापन करने जाने से पहले पाठ्य विषय की यथाशक्ति पूरी तैयारी करके जाऊँगा, ताकि कम से कम समय में विद्यार्थी को अधिक से अधिक ज्ञान दे सकूँ।
2. मैं अपने विषय की नवीनतम प्रगति की जानकारी के लिये अधुनातन ग्रन्थ तथा शोधपत्रिकाओं का अध्ययन करूँगा, ताकि मेरा ज्ञान पुराना न पड़ जाये।
3. मैं किसी दूसरे की विषय–वस्तु को अपनी कहकर प्रकाशित नहीं करूँगा, न अपने छात्रों को ऐसा करने की अनुमति दूँगा।
4. मैं कक्षा में पूरे समय विषय की चर्चा करूँगा, इधर–उधर की बातों में समय नहीं गँवाऊँगा।
5. मैं स्वयं संयम तथा अनुशासन का ऐसा जीवन जीऊँगा, जैसा जीवन मैं अपने विद्यार्थियों का बनाना चाहता हूँ।
6. मैं ऐसी विलासिता से बचूँगा जो ज्ञान की आराधना में बाधक हो।
7. मैं निरन्तर सत्य की खोज में अपना समय तथा शक्ति लगाऊँगा।
8. मैं किसी प्रकार के दुराग्रह से मुक्त रहकर सत्य को ग्रहण करने में तत्पर रहूँगा, चाहे वह सत्य कहीं से भी मिले।

वस्तुत: उपर्युक्त व्रत परम्परागत श्रावकाचार के अन्तर्गत आने वाले अहिंसादि व्रतों की आत्मा का ही विस्तार है। यह इस तथ्य का निदर्शन है कि अध्यात्म लौकिक जीवन के लिये भी एक सुरक्षित मार्गदर्शक का काम कर सकता है।

–जे. 1/7, एल. आई. सी. फ्लैट्स, विद्याधर नगर, जयपुर (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 136
ISSN 2249-2011

पर्यावरण-सुरक्षा में जैन जीवन-शैली की उपयोगिता*

प्रो.(डॉ.) प्रेम सुमन जैन

प्राणि-संरक्षण की प्राचीन परम्परा

इस देश में अहिंसा की, प्राणि-संरक्षण की प्राचीन परम्परा रही है। जीवन में कई आवश्यकताएँ हो सकती हैं, किन्तु उनकी प्राथमिकता तय करने में जीव-मूल्य को कसौटी माना जाता रहा है। इतनी ही वस्तुओं एवं साधनों से अपने जीवन को चलाना चाहिए, जिनकी प्राप्ति में कम से कम जीवों का घात हो। आवश्यकता की अपेक्षा जीवों के प्राणों का मूल्य अधिक आँका जाता रहा है। करुणा और जीव-रक्षण के कई प्रेरक प्रसंग भारतीय इतिहास में भरे पड़े हैं।

श्रमण-परम्परा अहिंसक प्रयोगों के उदाहरणों से समृद्ध है। तीर्थंकरों ने पर्यावरण के संरक्षण से ही अपनी साधना प्रारम्भ की है। ऋषभदेव ने कृषि एवं वन-सम्पदा को सुरक्षित रखने के लिये लोगों को सही ढंग से जीने की कला सिखायी। नेमिनाथ ने पशु-पक्षियों के प्राणों के समक्ष मनुष्य की विलासिता को निरर्थक प्रमाणित किया। स्वयं के त्याग द्वारा उन्होंने प्राणि-जगत् की स्वतन्त्रता की रक्षा की। पार्श्वनाथ ने धर्म और साधना के क्षेत्र में हिंसक अनुष्ठानों को अनुमति नहीं दी। अग्नि को व्यर्थ में जलाना और पानी को निरर्थक बहा देना भी हिंसा के सूक्ष्मद्वार हैं। महावीर ने जीवन को उन सूक्ष्म स्तरों तक अपनी साधना के द्वारा पहुँचाया है, जहाँ हिंसा और तृष्णा असम्भव हो जाय। षट्काय के जीवों की रक्षा में धर्म की घोषणा करके महावीर ने पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति, कीड़े-मकोड़े, पशुपक्षी एवं मानव इन सबको सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। तभी वे कह सके-

मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणइ

मेरी सब प्राणियों से मित्रता है, मेरा किसी से वैर नहीं है। इस सूत्र को जीवन में उतारे बिना संयम नहीं हो सकता, धर्म की साधना नहीं हो सकती। पर्यावरण की सुरक्षा नहीं हो सकती।

जैन जीवन शैली में पर्यावरण-सुरक्षा

जैन जीवन-शैली में पर्यावरण-सुरक्षा आरम्भ से ही ऐसी घुली-मिली रही है, अतः उसकी ओर अलग से विचार किए जाने की आवश्कता ही नहीं पड़ी । आज जब गिरते जीवन मूल्यों के कारण वह जीवन शैली ही प्रदूषित हो गई है और साथ ही पर्यावरण-प्रदूषण भी अपने चरम की ओर बढ़ रहा है तब यह आवश्यक हो गया है कि हर पहलू को पर्यावरण के सन्दर्भ में देखा-परखा जाए। जैन ग्रन्थों को पर्यावरण के दृष्टिकोण से देखने लगें तो जान पड़ेगा कि उस विषय की सामग्री स्थान-स्थान पर बिखरी पड़ी है। यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पर्यावरण के सभी पहलुओं का महत्त्व समझ कर उसे जीवनोपयोगी बनाए रखने का सबसे प्राचीन, समन्वित, समग्र और वैज्ञानिक प्रयत्न सम्भवत: जैनों ने ही अपने ग्रन्थों के माध्यम से किया था।

आचाराङ्ग में पर्यावरण के प्रमुख घटकों को विभिन्न प्रसङ्गों में व्याख्यायित किया गया है। सर्वप्रथम पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति होने वाली हिंसा का वर्णन किया है। पृथ्वीकायिक जीव पारम्परिक परिभाषा में वे सूक्ष्म जीव हैं जिनसे पृथ्वी तत्त्व का निर्माण होता है तथा जो जीवन के लिए पृथ्वी तत्त्व पर आश्रित हैं। ठीक इसी प्रकार जलकाय, वायुकाय और अग्निकाय के जीवों की बात इस ग्रन्थ में की गयी है। इन जीवों की परिभाषा तथा जीवन प्रणाली आदि विषयों की चर्चा एक सर्वथा अलग

* आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर, 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवनशैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

और अपने आप में विस्तृत विषय है। **हमारे दृष्टिकोण के लिए इतना ही यथेष्ट है कि दृश्य जगत् से परे जीवों का एक सूक्ष्म जगत् भी है जिसमें होने वाली क्रियाएँ हमें प्रभावित करती हैं तथा हमसे वे प्रभावित होती हैं। ऐसी स्थिति में हमारी वह प्रत्येक क्रिया जो उस सूक्ष्म जगत् को हानि पहुँचाती है हिंसा है और त्याज्य है।** पर्यावरण-संरक्षण का यह पहला सोपान है । भगवान महावीर ने आचाराङ्गसूत्र में हिंसा की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए उसे व्यक्तित्व को विकृत करने वाली कहा है। हिंसा की क्रियाएँ पर्यावरण असन्तुलन में प्रमुख कारण हैं। आचाराङ्ग में वस्तु जगत् और प्राणिजगत् के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। उसमें बताया गया है कि मन-वचन-काय की क्रियाएँ आस-पास के वातावरण पर प्रभाव डालती हैं। अत: मन, वाणी और शरीर की हलचल के प्रति सचेत होना आवश्यक है। अनुचित कार्यों की पहिचान करना जरूरी है।

भगवान महावीर ने अनुचित कार्यों का मुख्य कारण अज्ञान और असावधानी (प्रमाद) को माना है। प्रमादी व्यक्ति और मूर्च्छित (अज्ञानी) व्यक्ति को सब ओर से भय रहता है । वह तनाव से घिरा हुआ होता है। इसलिए वह आस-पास के वातावरण पर शासन करने के लिए दूषित कार्य करता है। जैन ग्रन्थों में इन प्रदूषणों से बचने के लिए अज्ञान और प्रमाद को दूर करने की बात कही गई है। इसके लिए व्यक्ति को जागरूक रहने के लिए कहा गया है। संसार की वास्तविकता को समझना ही जागरूकता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति अपनी क्रियाओं से वातावरण को दूषित नहीं करता। वह स्वयं के अस्तित्व और अन्य प्राणियों के अस्तित्व का सम्मान करने वाला होता है। यही जैन आगमों की पर्यावरण चेतना है। इसके लिए अनासक्ति, समता, वैचारिक उदारता, करुणा आदि सूत्रों की व्याख्या जैन ग्रन्थों में प्राप्त है, जिसका विश्लेषण करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

सांस्कृतिक मूल्यों की पहिचान

पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या जितनी प्राकृतिक है, उतनी ही सांस्कृतिक और मानसिक असन्तुलन से जुड़ी हुई है। संवेदनशीलता और संतोष वृत्ति के अभाव ने पर्यावरण को असंतुलित एवं विनाशकारी बनाया है। अत: प्राकृतिक समाधान के साथ-साथ **पर्यावरण-सन्तुलन के लिए उन आध्यात्मिक सूत्रों की खोज भी मानव को करनी होगी, जो सांस्कृतिक और मानसिक दृष्टि से मनुष्य को पूर्ण करें। प्राचीन आगम ग्रन्थों में अहिंसा, करुणा, आजीविका-शुद्धि, अपरिग्रह वृत्ति एवं सद्भावना आदि के मूल्य प्रतिपादित हैं, जो पर्यावरण-सन्तुलन के वास्तविक आधार हैं।** जैन आगमों में इस प्रकार के सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतिपादन है, जो मानव की संवेदना को बढ़ाते हैं तथा प्रकृति के संरक्षण में अहम् भूमिका निभाते हैं।

जैन आगमों में पृथ्वीकायिक, वनस्पतिकायिक आदि जीवों की हिंसा करने में दोष लगने की बात कही गयी है। मृग आदि का शिकार करने और लकड़ियों में आग लगाने आदि की क्रियाओं को पापमूलक कहा गया है। वृक्ष के फल, शाखा, कन्द-मूल आदि को नष्ट करने की क्रिया को हिंसक वृत्ति माना गया है। भगवतीसूत्र में उल्लेख है कि तापस शिव राजर्षि भी अपनी पूजा के लिए हरी वनस्पति, कन्द-मूल, पुष्प आदि के उपयोग के लिए लोकपालों की अनुमति लेते हैं। ग्रन्थ में एक नर्तकी का उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है कि संसार में रहते हुए भी जीव एक दूसरे की स्वतन्त्रता के हनन एवं हिंसा आदि से बच सकते हैं। जैन आगमों में श्रावकों के लिए जिन पन्द्रह कर्मादानों (आजीविका के कार्यों) का निषेध किया गया है, वे सब पर्यावरण-संरक्षण के ही उपाय हैं। अत: **जैन आगमों में जीवन और जीविका दोनों को शुद्ध रखने की बात कही गयी है, जो प्रमुख आधार है पर्यावरण-सन्तुलन का।** धार्मिक ग्रन्थों के विभिन्न सिद्धान्तों का पर्यावरण-संरक्षण के साथ तुलनात्मक अध्ययन अब विद्वान् करने लगे हैं।

प्रकृति और मनुष्य दोनों पर भावनाओं-क्रोध,

मान, माया, लोभ आदि कषायों का प्रभाव पड़ता है। भगवतीसूत्र में भी वनस्पतिकाय के जीवों के विश्लेषण के प्रसङ्ग में उनकी आहार संज्ञा आदि का विवेचन है। शालि इत्यादि वनस्पतियों में अन्य जीवों की तरह गति, परिमाण, अवगाहना , कर्म, लेश्या, उत्पत्ति आदि का अस्तित्व बताया गया है। अन्य आगमों में भी वनस्पति और मनुष्य के स्वभाव के साथ तुलना के सन्दर्भ उपलब्ध हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक उदाहरण वनस्पति जगत् से दिये हैं। यह सब केवल इसलिए कि मनुष्य यह समझ जाय कि वनस्पति और मनुष्य में कई धरातलों पर समानता है। इसलिए **मनुष्य वनस्पति को नष्ट न करें, उसका संरक्षण करें।** आचाराङ्ग में दुःख प्रकट करते हुए कहा गया है कि मनुष्य क्षुद्र कारणों के वश वनस्पति आदि की प्राकृतिक सम्पदा को नष्ट करता है। आचाराङ्ग में कहा गया है कि यह दुःख की बात है कि वह कोई मनुष्य इस वर्तमान जीवन की रक्षा के लिए, प्रशंसा, आदर तथा पूजा पाने के लिए, भावी जन्म की उधेड़ बुन के कारण, वर्तमान में मरण भय के कारण तथा मोक्ष या परम शान्ति के लिए और दुःखों को दूर हटाने के लिए स्वयं ही वनस्पतिकायिक जीव-समूह की हिंसा करता है या दूसरों के द्वारा वनस्पतिकायिक जीव-समूह की हिंसा करवाता है या वनस्पतिकायिक जीव-समूह की हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है। वह हिंसा कार्य उस मनुष्य के अहित के लिए होता है। वह हिंसा कार्य उसके लिए अध्यात्महीन बने रहने का कारण होता है।

समारंभति, अण्णेहिं वा वणस्सतिसत्थं समारंभावेति,
अण्णे वा वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति।
तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।।

इसके अतिरिक्त श्रावक एवं साधु की सामान्य चर्या भी अनेक प्रकार से पर्यावरण-संरक्षण का ही प्रयत्न है। **प्रतिक्रमण, सामायिक एवं ध्यान ध्वनि-प्रदूषण के लिए कवच हैं। अपरिग्रहवृत्ति प्रकृति-संरक्षण की आधारशिला है। जीवों के प्रति संवेदना वायु, जल एवं पृथ्वी को सुरक्षित रखने का उपाय है। वन-संरक्षण हरितनवन की रक्षा के नियम में निहित है। यत्नाचार जैन जीवन-पद्धति का केन्द्र बिन्दु है। यही जतन पर्यावरण-संरक्षण के लिए अनिवार्य है।** जीवन-शुद्धि के साथ जीविका-शुद्धि भी आवश्यक है।

जीवन की जो मूलभूत आवश्यकताएँ हैं- प्राणवायु , जल, भोजन, वस्त्र और आवास, इनकी पूर्ति प्रकृति के साधनों से करते हुए शेष जीवन जीवोद्धार के कार्यों में लगाना ही सच्ची प्रगति है, विकास है । यही विकास आगे की पीढ़ियों को मार्गदर्शन दे सकेगा। यह विकास का मार्ग अपरिग्रह , सन्तोष एवं संविभाग के सिद्धान्त में ही छिपा है। महावीर ने लोभविजय, बुद्ध ने तृष्णाक्षय, कबीर ने सन्तोष-धन आदि पर विशेष जोर देकर मनुष्य को उपभोग से उपयोग की ओर लौटने की बात कही है। यही प्रदूषण की महाव्याधि से मानवता को स्वस्थ कर सकती है। कबीर की यह वाणी सुख, शान्ति और समृद्धि एक साथ प्रदान करने वाली है-

गोधन गजधन वाजिधन, और रतनधन खान।
जब आवै सन्तोषधन, सब धन धूरि समान।।

संतोष की कुञ्जी-षड् लेश्या

इस सन्तोष-धन की बात हजारों वर्ष पूर्व भारतीय मनीषियों ने प्रतिपादित की थी। जैनदर्शन में एक षट्लेश्या का सिद्धान्त है। मनुष्य का चिन्तन जैसा होता है, वैसा ही वह कार्य करता है। एक ही प्रकार के कार्य को भिन्न-भिन्न वृत्ति वाले लोग अलग-अलग ढंग से सम्पन्न करना चाहते हैं। दृष्टान्त दिया गया है कि छह लकड़हारे लकड़ी काटने जंगल में गये। दोपहर में जब उन्हें भूख लगी तो वे किसी फल के पेड़ को खोजने निकले। उन्हें एक जामुन का पेड़ दिखा जो पके फलों से लदा हुआ था। प्रथम लकड़हारे ने अपनी कुल्हाड़ी से पूरे पेड़ को काटना चाहा ताकि बाद में आराम से बैठकर जामुन खाये जा सकें। दूसरे ने एक मोटी शाखा को काटना ही पर्याप्त समझा। तीसरे लकड़हारे ने सोचा शाखा काटने से क्या फायदा? छोटी टहनियाँ काट लेना

ही पर्याप्त है। चौथे ने टहनियों को नुकसान पहुँचाना ठीक नहीं समझा। उसने केवल जामुन के गुच्छों को काटना ही उचित माना। तब पाँचवें ने कहा कि कच्चे जामुन लेकर हम क्या करेंगे? केवल पके जामुनों को ही पेड़ से तोड़ लेते हैं। छठे लकड़हारे ने सुझाव दिया कि तुम सब पेड़ के ऊपर ही क्यों देख रहे हो। जमीन पर इस पेड़ की पके हुए इतने जामुन पड़े हैं कि हम सभी की भूख मिट जायेगी। हम इन्हीं को बीन लेते हैं । सौभाग्य से उसकी बात मान ली गयी।

इन छहों व्यक्तियों के विचारों को छह रंग दिये गये हैं। प्रथम लकड़हारे के विचार सर्वनाश के द्योतक हैं, अत: वह कृष्णलेश्या वाला है। दूसरे से छठे तक के विचारों में क्रमश: सुधार हुआ है।, सर्वकल्याण की भावना विकसित हुई है। अत: दूसरे को नीललेश्या, तीसरे को कापोतलेश्या, चौथे को पद्मलेश्या, पाँचवें को पीतलेश्या एवं छठे लकड़हारे को शुक्ललेश्या वाला व्यक्ति माना गया है। काला, नीला, मटमैला, लाल, पीला और सफेद रंग क्रमश: विचारों की पवित्रता के द्योतक हैं। यदि आज का मानव जीवनमूल्यों के माध्यम से पद्मलेश्या तक भी पहुँच जाय तो भी विश्व की प्राकृतिक सम्पदा सुरक्षित हो जायेगी। लोगों की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी हो जायेंगी। महात्मा गाँधी ने ऐसे ही विचारों के लोगों को ध्यान में रखकर जीवन के अन्तिम दिनों में कहा था–धरती माता के पास हर एक की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भरपूर सम्पदा है, लेकिन चन्द लोगों की लोभ–लिप्सा को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ नहीं है।

जैन संघचर्या : प्रकृति का सम्मान

जैनदर्शन की जीवनपद्धति में अहिंसा, अपरिग्रह, शाकाहार, अभय आदि के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी इतनी महत्त्वपूर्ण हैं, जो पर्यावरण की शुद्धता में सहायक हो सकती हैं। **जैन साधु जीवनभर पैदल चलते हैं। उनकी यह पद-यात्रा प्रकृति के साथ सीधा तादात्म्य स्थापित करती है।** चातुर्मास में जैनसाधु एक स्थान पर रुककर प्रकृति के उल्लास का स्वागत करते हैं। उनका दृष्टिकोण होता है कि वर्षा ऋतु में हरियाली, पानी, वनस्पति सब अपने विकास पर हैं। असंख्य कीड़े–मकोड़े भी अपनी विश्वयात्रा पर इस समय निकलते हैं । उन सबके संचरण में, विकास में मनुष्य को चाहिए कि वह अपना गमन करके बाधा न पहुँचाए। इस अवधि में वह कम से कम खाये और सादगी से रहे। वास्तव में चातुर्मास सादगी की शिक्षा का त्यौहार है।

जैन–साधना पद्धति में गृहस्थ एवं साधु सभी प्रतिक्रमण और सामायिक की साधना करते हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ है–अनधिकृत क्षेत्र से वापिस लौट आना। मनुष्य के मन, विचार, क्रिया को वहाँ से खींच लिया जाय, जहाँ वे किसी को बाधा पहुँचा रहे हों, किसी के स्वभाव को विभाव में बदल रहे हों । इतना अभ्यास मानव यदि प्रतिदिन करे तो वह कभी प्रदूषण का भागी नहीं हो सकता, कभी किसी के हक को वह नहीं छीन सकता। दूसरी क्रिया सामायिक की साधना है। व्यक्ति बाहर से अपने मन–वचन–काय को लौटाकर अपनी आत्मा को स्वभाव में स्थिर करे। सामायिक का अर्थ है विषमताओं पर विजय प्राप्त करना। आज की सबसे बड़ी समस्या द्वन्द्व और विषमता की है। इसी से मनुष्य के भीतर अशान्ति है। इस अशान्ति को मनुष्य बाहरी शोरगुल से भूलना चाहता है। **विश्व का ध्वनि-प्रदूषण मनुष्य के भीतर की अशान्ति का परिणाम है। यदि सामायिक द्वारा हृदय की अशान्ति, विषमता को कम किया जाय तो भाग-दौड़ कम होने से ध्वनि-प्रदूषण काफी हद तक कम हो सकता है।** साधु–जीवन में पाँच समितियों और तीन गुप्तियों द्वारा भी मन, वचन, काय की क्रियाओं पर संयम किया जाता है। **संयम की यात्रा कोई भी हो, उससे पर्यावरण में शुद्धता आती ही है।**

जैनधर्म में पर्यावरण पर विशेष ध्यान दिया गया है। श्रमण–श्रावक दोनों की चर्या में अहिंसा की आधारभूमि है। यहाँ जल को छानकर पीने की पृष्ठभूमि के पीछे शुद्ध जल का प्रयोग करने की भावना है, साथ में

अहिंसा की भावना भी विद्यमान है। यह समझा जाता है कि छानकर पानी न पीने से जीव हत्या होती है या होने की सम्भावना है, जल द्वारा सूक्ष्म कीटाणु पेट में जा सकते हैं। छानकर पानी पीना नीरोगता, अच्छे स्वास्थ्य की ओर प्रेरित होना है। हमारे **औद्योगिक संयन्त्रों ने जल को इतना अधिक प्रदूषित कर दिया है कि नदी, नालों, झीलों, तालाबों में जलचर जीव मर जाते हैं। वह जल पीने में हानिकारक है। जलप्रदूषण हिंसाजनक है।** साथ में असंख्य नाभिकीय परीक्षण भी जल को, वायुमण्डल को प्रदूषित करते हैं और पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। इस भंयकर स्थिति को देखते हुए यह कहने में कोई संकोच नहीं कि जल को छानकर उपयोग में लाने से, प्रासुक जल के प्रयोग से बहुत हद तक जल-प्रदूषण से मुक्ति पायी जा सकती है।

पर्यावरण की चर्चा के साथ अहिंसा और जीवदया की भावना भी सामने आती है। महावीर आत्मतुलावाद के प्ररूपक थे। उन्होंने संयम, आचरण, करुणा एवं जीवदया पर विशेष बल दिया। सृष्टि-सन्तुलन का जो सूत्र महावीर ने दिया, वह आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा-जो पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अपने अस्तित्व के समान उनका अस्तित्व है। हम इस तुला से तौलें तो न केवल अहिंसा का सिद्धान्त ही फलित होता है, अपितु पर्यावरण-विज्ञान की समस्या का भी महत्त्वपूर्ण समाधान प्राप्त होता है।

नियम युक्त जीवन शैली

संयम के द्वारा व्यक्ति अपने स्वभाव की पहिचान बनाये रख सकता है और अमर्यादित न होने के कारण वह दूसरों के जीवन में काँटे भी नहीं बो सकता । इसके लिए जैनागमों में बड़ी सार्थक उक्ति कही गयी है-

जहा सूई ससुत्ता न नस्सई, कयवरम्मि पडिआ वि।
जीवो वि तह ससुत्तो, न नस्सई गओ वि संसारे।।

जैसे धागे में पिरोई हुई सुई कचरे में गिर जाने पर भी गुम नहीं हो पाती है, उसी प्रकार नियम से युक्त संयमी व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करने पर भी अपनी पहिचान नहीं खोता है। यहाँ सुई का उदाहरण बड़ा सार्थक है। धागा एवं सुई का समुचित योग आवश्यक है। उसके बिना वह जोड़ने का काम नहीं कर सकती है। बिना धागे के यदि सुई लावारिस पड़ी हो तो वह लोगों के पैरों में चुभ सकती है। उससे घातक घाव हो सकता है। आज की सुई सारी वैज्ञानिक प्रगति है। तरह-तरह की मशीनें हैं। दोनों ही लोहा हैं। **यदि यन्त्रों के साथ वैज्ञानिक उपकरणों के साथ मनुष्य का मर्यादित, संयमित मस्तिष्क न हो तो वे प्राणी जगत् का विनाश कर डालेंगे, प्रकृति को उजाड़ देंगे, पर्यावरण को दूषित कर देंगे और यदि मानव संयम का धागा अपनी विकास रूपी सुई के साथ पिरो दें तो यह सब विनाश की लीला बच सकती है।**

शुद्ध आहार एवं शुद्ध आजीविका

जैन आगमों में आहार के विषय में विस्तार से वर्णन है। बहुत से धान्यों, बीजों, फलों और साग-पत्तों को भोजन में न लेने के निर्देश यहाँ दिये गये हैं। शुद्ध आहार लेने का विधान किया गया है। यह सब व्रत-नियम आदि के लिए तो हैं ही, साथ ही इस प्रकार के उल्लेख/सन्दर्भ शाकाहार के द्वारा शुद्ध वातावरण बनाने के लिए भी हैं। मांसाहार से कितने दुष्परिणाम और अशुद्ध पर्यावरण का सामना करना पड़ता है, इससे हम सभी परिचित हैं। वनस्पति जगत् के साथ-साथ पशुजगत्, प्राणि-जगत् की रक्षा की भावना भी शुद्ध आहार के प्रयोग में छिपी हुई है। अत: जैन आगमों में केवल कायिक हिंसा से विरत रहने की बात नहीं कहीं, अपितु हिंसा आदि कार्यों के संकल्प करने को (संरम्भ), प्राणियों को परिताप-संताप देने को (समारम्भ) तथा जीवों की हिंसा करने को (आरम्भ) भी रोका गया है। ये सब निर्देश पर्यावरण-सन्तुलन की दिशा में आगे बढ़ने के कदम हैं। आचाराङ्गसूत्र के इन चरणों की अन्य आगमों में विस्तार से व्याख्या है ।

जैन आगमों में जीवन-चर्या को मर्यादित करने का प्रयत्न रहा है। जीवन की पद्धति शुद्ध होगी तो

पर्यावरण स्वयमेव शुद्ध और सन्तुलित रहेगा। संवेदनशील और शाकाहारी जीवन पद्धति का निरूपण कर जैन आगमों में जीवन के साथ आजीविका को भी शुद्ध और संयमित करने के उपदेश दिये गये हैं। श्रावकों के व्रतों में उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अन्तर्गत इक्कीस वस्तुओं के परिमाण का निरूपण है, वे सब व्यक्तिगत रूप से उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुएँ हैं। किन्तु उनका उद्योग-धन्धों से भी संबंध है। जब वस्तुओं के अनावश्यक उपभोग में कमी होगी तब उनका उत्पादन भी संयमित हो सकेगा। यह मूल कारण को पकड़ने की प्रक्रिया है। श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र के उपभोग-परिभोग परिमाण-व्रत में छब्बीस बोलों में उक्त/पदार्थो के अतिरिक्त जिन पांच विधियों को सम्मिलित किया गया है, वे भी उद्योग-धन्धों के अनावश्यक विस्तार को रोकने वाली हैं। वाहनविधि और सचित्त विधि इनमें प्रमुख है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत के अतिचारों के अतिरिक्त उपासगदशांगसूत्र में 15 कर्मादानों के केवल नामों का उल्लेख है। किन्तु परवर्ती साहित्य में इन कर्मादानों के स्वरूप आदि पर प्रकाश डाला गया है। उन ग्रन्थों में श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, योगशास्त्र, सागारधर्मामृत आदि प्रमुख हैं। जैन आगमों में कतिपय उद्योग-धन्धों को जब हिंसा, लोभ आदि वृत्तियों को ध्यान में रखकर निषेध करने की परम्परा चली तो उसका प्रभाव परवर्ती जैन साहित्य पर भी पड़ा । धन कमाने, आजीविका चलाने के निन्दित और अनिन्दित साधनों की एक सूची साहित्यकार अपने ग्रन्थों में देने लगे। आठवीं शताब्दी के जैन आचार्य उद्द्योतनसूरि ने अपनी पुस्तक कुवलयमाला कथा में धन कमाने के विभिन्न उपायों की विस्तृत व्याख्या की है। इन सबके मूल में यही है कि व्यक्ति हिंसा, लोभ, लालच, छल-कपट आदि दुष्प्रवृत्तियों को आजीविका के साधनों में न अपनाए और अनावश्यक रूप से उद्योग-धन्धों से प्रकृति के संतुलन को न बिगाड़े, प्रदूषण न फैलाए।

कतिपय प्रभावी कदम :

पर्यावरण की शुद्धता को बनाये रखने के लिए धर्म मनुष्य को उसके स्वभाव से परिचित करा सकता है, किन्तु अपने स्वभाव के अनुसार जीवन-यापन करना तो मनुष्य के हाथ में ही है। इसके लिए उसे कोई लम्बे-चौड़े कार्यक्रम नहीं करना है, केवल अपने चारों ओर के जीवन को सम्मान देना सीखना है। अपनी आदतों को थोड़ा बदलना है। धर्म के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण की शुद्धता के लिए कुछ प्रमुख सूत्र इस प्रकार हो सकते हैं-

1. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति में भी प्राण हैं। अत: उनको अपने उपयोग के लिए कम से कम प्रयोग में लाना, अल्पारम्भी होना है।
2. भ्रमरवृत्ति को अपनाते हुए प्रकृति को बिना नुकसान पहुंचाये उसका उपयोग करना।
3. वस्तुओं के अनावश्यक संग्रह में लिप्त नहीं होना, स्वयं अभय होना एवं सभी प्राणियों को अभय करना।
4. शरीर शाश्वत रहने वाला नहीं है, अत: उसकी अमरता का भ्रम नहीं पालना। इसलिए शरीर की पुष्टता, सुन्दरता आदि के लिए ऐसे भोजन एवं प्रसाधनों का उपयोग नहीं करना जो शोषण और हिंसा से जुड़ा हुआ हो ।
5. आजीविका के लिए उन्हीं साधनों का सीमित प्रयोग करना, जिनमें प्रकृति का स्वाभाविक सन्तुलन नहीं बिगड़ता हो और हिंसा का कम से कम समावेश हो ।
6. आत्मा की निर्मलता, स्वच्छता का जितना प्रयत्न हम करें उतना ही प्रयत्न अपने चारों ओर के पर्यावरण को स्वच्छ रखने में भी होना चाहिए। हमारी गन्दगी दूसरे को साफ न करना पड़े , इसका ध्यान रखना।
7. आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए जैसे रत्नत्रय (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) की आवश्यकता है, वैसे ही

सांसारिक जीवन को सुख, शान्ति और समृद्धि से युक्त करने के लिए सादगी, शाकाहार और सदाचार इस रत्नत्रय के पालन की आवश्यकता है।

8. अहिंसा, अभय, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद इस चतुष्पदी को जीवन में अपनाने से धर्म और पर्यावरण दोनों की शुद्धता को साधा जा सकता है।

पर्यावरण की शुद्धता के प्रति एक बार लोकमत में जागृति आ जाय तो वह प्रदूषण एंव हिंसा के दानव का मुकाबला ही नहीं कर सकेगा, अपितु हमेशा के लिए उस पर विजय भी प्राप्त कर लेगा। यही जैन संस्कृति की और जैन जीवन शैली की सार्थकता होगी।

महावीर ने एक सूत्र दिया-संयम का। जहाँ संयम और सन्तुलन नहीं, वहीं पर्यावरण की समस्या है, प्रदूषण है, हिंसा है, मोहातिरेक मूर्च्छा है, परिग्रह है, द्वेष और घृणा है। वनस्पति, पेड़-पौधे , वनराजि, नदी, पशु-पक्षी सभी के जीवन में संयम-सुरक्षा की भावना हो। सह-अस्तित्व पर विश्वास हो तो न हिंसा होगी, न घृणा, न प्रदूषण। लोभ-मोह हमारे पर्यावरण को दूषित करने के मूल कारण हैं और यहीं हिंसा की वृत्ति भी है। आज अपरिग्रह और अहिंसा का व्रत लेकर आगे बढ़ें तो इस धरती को अवश्य प्रदूषण-मुक्त किया जा सकता है। हमारा समाज सुखी और समृद्ध हो सकता है।

उपयोगी पुस्तकें

1. प्रेम सुमन जैन , पर्यावरण और धर्म , अ. भा. जैन विद्वत परिषद , जयपुर , 1988
2. पं. कन्हैया लाल लोढा , जैन आगमों में वनस्पति विज्ञान , जयपुर , 1989
3. प्रेम सुमन जैन , पर्यावरण-सन्तुलन एवं शाकाहार , संघी प्रकाशन , जयपुर
4. P.S. Jain & R.M. Lodha (ed.) Medieval Jainism: Culture & Environment, Ashish Publishing House, New Delhi, 1990
5. जैन, हीरालाल : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल, 1964
6. सोगाणी, कमलचन्द्रः एथिकल डॉक्ट्राइन्स इन जैनिज्म, सोलापुर, 1967
7. जैनी, पद्मनाभ : जैन पाथ ऑफ प्यूरीफिकेशन, दिल्ली 1971
8. तत्वार्थसूत्र : सम्पादक- संघवी, पं. सुखलाल, वाराणसी, 1952 (द्वि.सं.)
9. भार्गव, दयानन्द : जैन एथिक्स, दिल्ली, 1968
10. वर्ल्ड रिलीजनस् एण्ड द इनवायरनमेन्ट , गीतांजली प्रकाशन , दिल्ली , 1991
11. जैन, नेमीचन्द, शाकाहार : मानव सभ्यता की सुबह , दिल्ली , 1992
12. आचाराङ्गसूत्र , आगम प्रकाशन, ब्यावर 1980
13. आचाराङ्ग चयनिका- सम्पा. डॉ. कमलचन्द सोगानी, प्राकृत भारती, जयपुर 1987
14. डॉ. मुनि श्री भुवनेश , जैन आगमों के आचारदर्शन और पर्यावरण-संरक्षण का मूल्यांकन, चैन्नई, 1998
15. प्रेम सुमन जैन, जैन संस्कृति और पर्यावरण संरक्षण , अरविन्द प्रकाशन, उदयपुर 2001
16. जैन, भागचन्द्र भास्कर, जैनधर्म और पर्यावरण संरक्षण, दिल्ली 2001
17. आचार्य महाप्रज्ञ, आचारांगसूत्र एवं आचारांग भाष्य- जैन विश्व भारती लाड़नूँ।
18. आचार्य महाप्रज्ञ , अहिंसा के अछूते पहलू, लाड़नूँ 1992
19. हरिशचन्द्र व्यास, मानव और पर्यावरण , दिल्ली 1991
20. G.A.Thecolorson, Studies in Human Ecology, New York, 1961

-29, विद्या विहार कालोनी, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर-313001 (राज.)

❁ जिस भोजन को ग्रहण करने से मन में विकार उत्पन्न न हों, चित्त में समाधि रहे तथा संयमयात्रा का निर्वाह भली प्रकार से हो, वह सात्त्विक भोजन है। **-आचार्यश्री हीरा**

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 143
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली द्वारा पर्यावरण और स्वास्थ्य-संरक्षण

डॉ. जीवराज जैन

संस्कारवान् जीवन

हम कैसे जीवन को संस्कारवान् जीवन कहते हैं? प्रबुद्ध जन फरमाते हैं कि एक संस्कारित जीवन शैली वह है, जिसमें सहज रूप से संसाधनों का दुरुपयोग नहीं होता हो, किसी भी पहलू में फ़िजूलखर्ची परिलक्षित नहीं होती हो, तथा विवेक पूर्ण आदतें नज़र आती हों, जिसमें भविष्य की पीढ़ी को समृद्ध बनाने का दर्शन नज़र आता हो तथा समस्त जीवों के सहयोग की भावना दिख रही हो।

ऐसा कहा जाता है कि पाश्चात्त्य संस्कृति से प्रभावित होकर हम उपभोक्तावाद की तरफ दौड़ रहे हैं। हम अपने संसाधनों का बहुत दुरुपयोग कर रहे हैं, फिर भी प्रगति के नाम पर खुश हो रहे हैं, लेकिन इसके विपरीत ऐसा भी देखने में आता है कि पाश्चात्त्य जगत् में लोग अपने पड़ोसी/सहयात्री की बीमारी में और भूख में कितनी सहज संवेदनशीलता दिखाते हैं। वास्तव में उनकी संवेदनशीलता के संस्कारों को, हमारे यहाँ आदर्श-रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है। यानी पाश्चात्त्य सभ्यता में बहुत अच्छे संस्कार भी विद्यमान हैं। हम उनकी अच्छी आदतों को, संस्कारों को तो अपनाते नहीं हैं, लेकिन हमारी हर खराब आदत के लिए, उनको दोषी ठहराने में अपनी सन्तुष्टि महसूस कर रहे हैं।

जैन जीवनशैली में पर्यावरण संरक्षण के अमूल्य गुणक

आखिरकार संस्कार बनते कैसे हैं? इनका पौधा तो जीवन शैली में ही पल्लवित और पुष्पित होता है। समाज में जीवन शैली के कुछ आयाम बचपन से ही अंकुरित कर दिए जाते हैं। फिर ये आदत के रूप में ढल कर, मजबूत सामाजिक ढाँचे में आसानी से फलते और फूलते हैं।

उदाहरण स्वरूप हम फिजूल खर्ची के संस्कारों की बात करें, तो पाएँगे कि जैन समाज में श्रावक के आठवें और दसवें व्रतों के कारण परिवार में अनावश्यक खर्च और हिंसा-अल्पीकरण के लिए कुछ साधारण और सरल नियमों का बराबर पालन होता है। जब बच्चे ये सब देखते हैं तो उनके मानस पटल पर भी इनके संस्कार अंकित हो जाते हैं। उनको यह विवेक समझ में आ जाता है कि दिनचर्या में अनावश्यक खर्च या अपव्यय क्या होता है या हिंसा का अल्पीकरण कैसे किया जा सकता है।

एक बार जर्मनी के एक शहर में कुछ नए लोगों के साथ सुबह जंगल में घूम कर आ रहा था, तो एक महाशय मेरे से कहने लगे कि आप लोग तो पेड़ की किसी पत्ती या डाली को व्यर्थ में तोड़ते नहीं है। ऐसी जानकारी उनको कहीं से भी मिली हो, लेकिन उस अनजाने देश में यह तथ्य सुनकर चित्त प्रफुल्लित हो गया। अनर्थदण्ड के बारे में हमारी ऐसी पहचान सुनकर, जैन जीवन-शैली को धन्यवाद दिए बगैर नहीं रह सका। यह हमारे संस्कारों में किस प्रकार चुपचाप आ जाता है, यह नीचे दिए गए एक उदाहरण से मालूम पड़ता है।

पर्यावरण-संरक्षण में योगदान

22 मार्च को विश्व जल दिवस मनाया जाता है। उस समय जागरूकता बढ़ाने के लिए 'जल-बचाओ' अभियान पूरे विश्व में चलाये जाते हैं। अरबों रुपये खर्च करने के बाद देखते हैं कि इनसे जानकारी तो जरूर बढ़ी है, लेकिन जल का

दुरुपयोग नहीं रुका है। यहाँ तक कि आचरण में उल्टा प्रभाव देखा गया है। जमशेदपुर में सन 2010 में 150 लीटर प्रति व्यक्ति जल की आपूर्ति होती थी। 10 वर्षों के अभियान के बाद आँकड़े बताते हैं कि यहाँ जल की खपत बढ़ कर 220 लीटर प्रति व्यक्ति हो गयी है। यानी फिजूलखर्ची घटने के बजाय 50% बढ़ गयी है।

फिर IE (I) (Institution of Engineers) की एक 2012 की मीटिंग में यह बताया गया था कि भारत के एक समुदाय में जल का दुरूपयोग सबसे कम होता है और वह है **'जैन समाज'**, क्योंकि उनको बचपन से ही यह बताया जाता है कि जल भी जीव होता है तथा उसकी एक बूँद को भी व्यर्थ में खर्च करना अनुचित है, हिंसा है। दिनचर्या के व्रत-नियमों में यह मानसिकता, बच्चों को जब अपने परिवार में स्पष्ट दिखाई देती है, तो उनकी जीवनशैली में संसाधनों के उपयोग में **अल्पीकरण का सिद्धान्त**, आदत रूप में समावेश हो जाता है।

उपर्युक्त से यह सिद्धान्त भी समझ में आया कि यदि **वैज्ञानिक** ढंग से यह **सिद्ध** कर दिया जाए कि जल वास्तव में ही जीव होता है, तो इस तथ्य को, स्कूलों में, नन्हें बच्चों को ठीक सकारात्मक ढंग से समझाया जा सकता है। **इससे जल के व्यर्थ खर्च, यानी दुरुपयोग और अपव्यय से बचने के संस्कार हर बच्चे के दिमाग में आसानी से अंकित किये जा सकते हैं।** इन बच्चों में जल के प्रति **करुणा और सम्मान** का दृष्टिकोण आसानी से बनाया जा सकता है।

10 वर्षों के सघन प्रयासों से तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों और प्रयोगों से, यह सिद्ध करने में बहुत बड़ी सफलता मिल गयी कि जल भी वास्तव में एक प्रकार का जीव होता है, जिसमें बिना DNA की सहायता के भी जीवत्व शक्ति पाई जाती है। यह शोध एक अन्तरराष्ट्रीय मैगज़ीन, **इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ़ इञ्जीनियरिंग साइन्स इन्नोवेशन**, जनवरी 2014 में तथा कई राष्ट्रीय पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हो चुकी है।

आधुनिकता का अभिशाप

जब से सरकार ने नलों द्वारा घरों में जलापूर्ति (supply) की जिम्मेदारी अपने हाथों में ले ली है, तब से व्यक्ति की दृष्टि में जल एक बिना मेहनत के, आसानी से प्राप्त होने वाली एक सस्ती वस्तु बन कर रह गयी है। उसके प्रति जो सम्मान का दृष्टिकोण था, वह विलुप्त हो गया है। जल एक उपेक्षित संसाधन बन कर रह गया है। फलस्वरूप पानी का दुरुपयोग और फिज़ूलखर्ची बढ़ती गयी है। यह आधुनिक जमाने की एक खतरनाक और स्व-विनाशक सुविधा के रूप में उभर कर सामने आयी है।

I. इसके विपरीत पुराने जमाने में पानी को तालाबों, कुओं या नदियों से घर पर लाने में, हर परिवार को मेहनत और खर्च करना पड़ता था। पारिवारिक जिम्मेदारी होने के कारण, परिवार के सदस्यों का ऐसा दृष्टिकोण रहता था कि अमुक संख्या के पानी के घड़ों से (निश्चित मात्रा से) ही एक दिन में काम चलाना है। स्व-अनुशासन द्वारा उसके उपयोग में मितव्ययता बरती जाती थी। उपयोग की पृष्ठ भूमि में हमेशा जल के अल्पीकरण का विचार रहता था। किस प्रकार विवेक पूर्वक कम पानी से अच्छी तरह नहाया जाये, यह प्रशिक्षण परिवारों में बचपन में ही दे दिया जाता है।

II. आज के बच्चों ने उस मशक्कत/मेहनत को न तो जाना है, और न शायद सुना ही है। उन्होंने तो बचपन से यही देखा है कि नल खोलते ही पानी आ जाता है। फिर उसके खर्च पर कितना और कैसे अंकुश रखा जाए, इसका प्रशिक्षण तो दूर, उसकी आवश्यकता या जानकारी भी

बच्चों ने नहीं समझी या देखी होगी। घर की क्रियाओं में किस प्रकार से जल का कुशलता से उपयोग करें, इसकी कोई प्राथमिकता नहीं रहती है।

जैन जीवनशैली में स्वास्थ्य-संरक्षण के अमूल्य गुणक

जैन जीवनशैली में पर्यावरण संरक्षण का 3-R का फार्मूला, यानी अल्पीकरण, पुनरुपयोग और पुनर्चक्रण, (Reduce, Re-use and Recycle) पिछले 2500 वर्षों से सहज रूप से चलता आ रहा है। कई जैन लोग परिण्डे के बर्तनों का धोया हुआ जल (धोवन) बाहर नहीं फेंकते हैं। इस धोवन पानी को निथार और छानकर, उसका सहजता से पीने या अन्य काम में पुनरुपयोग कर लेते हैं। इस शैली में अल्पीकरण और पुनरुपयोग के दो महत्त्वपूर्ण घटक तो स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।

इसके अलावा, हाल ही में एक अति विशिष्ट तथ्य प्रकट हुआ है। 2015 में, 'I.I.T. Dhanbad' ने, शहरों के पेय जल की एक टेस्ट रिपोर्ट में बताया है कि शहरों के सप्लाई जल में क्लोरोफॉर्म की मात्रा 0.5mg प्रति लीटर होती है। यह अमेरिकी पर्यावरण मानकों की उच्चतम सुरक्षित सीमा 0. 08mg से बहुत ही (6 गुणा) ज्यादा है। यह तेज़ाब-गुण वाला जल, एक प्रकार के कैंसर को पैदा करता है।

इस प्रकार के पेय जल द्वारा पूरा देश, कैंसर जैसी भयंकर बीमारी की तरफ चुपचाप धकेला जा रहा है। सरकारें असहाय स्थिति में पाकर मूक दर्शक बन कर रह गयी हैं। पता लगा कि विदेशों में गुणवत्ता का कण्ट्रोल, बेहतर होने के कारण समस्या इतनी भयंकर नहीं है। अधिकांशतः क्लोरोफॉर्म की मात्रा लिमिट में रखी जाती है। नहीं तो फिर लोग घरों में जल को अल्कलाइन (क्षारीय) बनाने की, फ़िल्टर की तरह छोटी मशीनें लगा लेते हैं। लेकिन भारत में ऐसी मशीनों की कीमत 2 से 5 लाख रुपये है।

इस परिप्रेक्ष्य में, जैन लोग जो धोवन पानी उपयोग में लेते हैं, उसकी टेस्टिंग की गयी। आश्चर्य रूप से यह पाया गया कि वह सप्लाई जल, भस्म से बर्तन माँज कर धोने के बाद क्षारीय गुण वाला बन गया है। उसमें से क्लोरोफॉर्म गायब हो गया है। और जैन समाज सप्लाई जल को, इस प्रकार जो उपचारित करके, धोवन पानी के नाम से अचित्त जल को पीने के काम लेता है, वह कैंसर की बीमारी से रक्षा करने में मदद तो करता ही है, साथ साथ में कुछ प्रयोगों से यह भी साबित हुआ है कि उनमें और भी कई स्वास्थ्यवर्द्धक गुण आ जाते हैं।

अमृत के तुल्य भस्मी-जल

इन प्रयोगों से उत्साहित होकर, हमने भारतीय जनता के लिए वैज्ञानिक ढंग से , एक नया उत्पाद, भस्मी-जल बनाया, जो अमृत के तुल्य स्वास्थ्यवर्द्धक है।

इसको बनाने में गोबर का भस्म-पाउडर उपयोग में लिया जाता है। 4 ग्राम भस्म प्रति लीटर के हिसाब से, नल के पानी में अच्छी तरह से घोलकर, उसे आधे घण्टे तक स्थिर रखा जाता है। फिर उसको निथार और छान कर, इस अमृत तुल्य जल को, दिन भर पीने के काम में लिया जा सकता है।

इस जल की pH गुणांक 8.2 से 8.4 होती है, जो कि क्षार गुणवाला और निर्जीव होता है। क्योंकि इस उपचारित जल के पीने से कैंसर का खतरा तो टलेगा ही, साथ साथ में हड्डियों का क्षरण भी रुक जाएगा।

जैन जीवनशैली का वैज्ञानिक और सामाजिक महत्त्व

यदि किसी सरल तरीके से जल को उपचारित कर देने से, उपर्युक्त वर्णित विशिष्ट फायदे मिल सकते हैं, तो व्यक्ति जरूर घर पर पानी को उपचारित करने लगेगा। ऐसा सम्भव लगता है। उपर्युक्त शोध में पाया गया है कि भस्मी-जल को, उबाले हुए जल के बनिस्पत, ज्यादा साफ़ सुथरी (green technology) तकनीक से प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि पानी को गैस पर उबालने से पर्यावरण दूषित होता है-लेकिन उपचारित करने में हर

परिवार को जो 30-40 मिनट की अतिरिक्त मेहनत करनी पड़ती है, उस पानी में उसकी मेहनत का सम्मान (dignity of Labor) जुड़ा रहता है। परिवार को पानी की खपत का अपना, दैनिक बजट बनाना पड़ेगा। क्योंकि जब सुबह में भस्मी जल बनायेगा, तो दिन भर की आवश्यकतानुसार अलग से उतना पानी ही एक बर्तन में उपचारित करेगा। फिर उसे आधा घण्टे तक स्थिर रखकर, कपड़े से छानकर, पीने के लिए अलग रखेगा।

i. इस मेहनत और सोच के कारण, उसकी फिज़ूल खर्ची की मानसिकता ही बदल जायेगी।
ii. कुशलता पूर्वक उपयोग करने का प्रशिक्षण और अनुशासन प्रचारित होगा।
iii. पानी की बचत में 3-R का सूत्र उसकी समझ में एवं आचरण में आयेगा, खासकर अल्पीकरण और पुनरुपयोग का (Re-use, Reduce)। इससे पानी का दुरुपयोग स्वतः रुक जाएगा।
iv. ऐसी स्व-अनुशासन की व्यवस्था से पर्यावरण संरक्षण में जितना लाभ होगा, वह किसी भी क़ानून से होना, कम से कम भारत में तो असम्भव है।
v. इससे लोगों का जल के प्रति आदर और करुणा का दृष्टिकोण बनेगा। जब दृष्टिकोण बदलेगा, तो जल-संरक्षण का वैसा अपूर्व काम हो जाएगा, जो वर्षों के 'जल-बचाओ' अभियान या क़ानून से नहीं हो सकता है।

अहिंसक जीवनशैली में शोध का योगदान और वैश्वीकरण की सम्भावनाएँ

जीवित जल को, निर्जीव जल से पहचानने का एक नया तरीका ईजाद किया गया है। नल के पानी को अमृत के समान पेय-पदार्थ में बदलने के एक अति सरल और वैज्ञानिक तरीके को विकसित किया गया है।

पाठ्य-क्रम का प्रारूप : इसकी पढ़ाई के लिए, एक निरपेक्ष और उपर्युक्त पाठ्य-क्रम तैयार किया जाये, जो इन महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक निष्कर्षों को पर्यावरण और स्वास्थ्य का विषय बना सकें। इसमें शिक्षकों, मनोवैज्ञानिकों की सहायता लेकर, उसे रोचक और अधिक व्यावहारिक बनायें। जिससे बच्चों में प्रगाढ़ संस्कार स्थापित हो सके, उनकी जिज्ञासाओं का समाधान हो सके। स्कूलों में इसको पढ़ाना शुरू किया जाएगा तो जैन अहिंसक जीवन शैली के वैश्वीकरण में वाञ्छित मदद मिलेगी।

-40, कामिनी हाउस, जमशेदपुर (झारखण्ड)

तपस्या का महत्त्व

तपस्या को जैन जीवन-पद्धति में विशेष स्थान दिया गया है। इससे सहिष्णुता का विकास होता है, अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने का अभ्यास होता है, प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप के आचरण से आत्म-विशुद्धि का अनुभव होता है। अनशन, अवमौदर्य, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, कायक्लेश एवं प्रतिसंलीनता नामक बाह्य तप के द्वारा शरीर, इन्द्रिय एवं मन को नियन्त्रित किया जाता है तथा कषायों पर भी विजय प्राप्त की जाती है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग नामक आभ्यन्तर तप के द्वारा आत्मदोषों का प्रक्षालन कर आत्मविशुद्धि प्राप्त की जाती है। ये दोनों ही प्रकार के तप कर्म-निर्जरा के महान् साधन हैं। विपरीत परिस्थितियों में समभाव की साधना से अपने आवेगों पर नियन्त्रण करने की क्षमता का विकास होता है, रागद्वेषात्मक प्रतिक्रियाओं का उत्पात नहीं होता। किन्तु आज तप का बाहरी रूप अधिक दिखाई देता है। तपस्या का प्रदर्शन और गणना जैन जीवन-पद्धति की असली तस्वीर नहीं है। असली तस्वीर तो आत्म-शोधन में उसकी उपयोगिता से सिद्ध होती है।

-डॉ. धर्मचन्द जैन

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 147
ISSN 2249-2011

गृहस्थ की व्रतनिष्ठ जीवनशैली

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'

पृष्ठभूमि

जैनधर्म की आस्तिकता-भारतीय धर्मों में जैनधर्म एक प्राचीन धर्म है। ऐतिहासिक प्राचीन उल्लेखों के अनुसार जैनधर्म के, निर्ग्रन्थधर्म और श्रमणधर्म ये नाम भी प्रचलित थे। मूल प्राचीन भारतीय धर्म-दर्शनों में इसका अपना विशेष स्थान और महत्त्व है। किन्तु धर्म-दर्शनों का आस्तिक-नास्तिक विभाजन करते समय कुछ दार्शनिकों ने प्रामाण्य आदि कुछ कारकों के कारण बौद्ध और चार्वाक जैसे धर्म-दर्शनों की तरह सर्वाधिक आस्तिक जैनधर्म को भी 'नास्तिक' दर्शन के अन्तर्गत मान लिया। जबकि जैनधर्म-दर्शन के हार्द से सुपरिचित विद्वान् इसे किसी भी दृष्टि से नास्तिक नहीं, अपितु परम आस्तिक दर्शन ही मानते हैं। क्योंकि आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, बन्ध-मोक्ष आदि की अवधारणाओं का सबसे ज्यादा हिमायती यह जैनधर्म-दर्शन, नास्तिक कैसे हो सकता है? यह तो सर्वाधिक उत्कृष्ट आस्तिक धर्म-दर्शन है।

यहाँ प्रत्येक आत्मा को अपने पुरुषार्थ के बल पर स्वयं परमात्मा बनने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, उसे परमात्मा बनने के लिए ईश्वरादि किसी अन्य (पर) के सहयोग या किसी की कृपा की किञ्चित् भी जरूरत नहीं। यहाँ भक्त द्वारा पूजन-दर्शन, भक्ति-स्तुति आदि की जाती हैं तो सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए नहीं। अपितु भक्त से स्वयं भगवान (परमात्मा) बनने की लिए ये पूजनादि क्रियाएँ की जाती हैं। इस तरह श्रम, तप, त्याग, संयम और अध्यात्म प्रधान जैनधर्म (श्रमण संस्कृति) में आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की गहरी प्रतिष्ठा है।

व्रत की अवधारणा

धार्मिकता से ओतप्रोत भारतीय संस्कृति में व्रतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्रत, किसी न किसी रूप में प्रत्येक धर्म एवं संस्कृति में मान्य हैं। इस तरह व्रतों की अवधारणा सम्पूर्ण भारत के जनमानस में प्राचीनकाल से ही पूर्ण श्रद्धा, भक्ति, गौरव और सम्मान के साथ व्याप्त है। धार्मिक विश्वास, नियम, संयम, उपवास आदि के रूप में इन व्रतों को हम किसी सम्प्रदाय, जाति, पन्थ, भाषा, प्रान्त आदि की सीमाओं में बाँध नहीं सकते, क्योंकि व्रतों की अवधारणा ने एक सार्वभौमिक-रूप अपनाकर, भावनात्मकरूप में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक एकता, सामाजिक एवं धार्मिक सद्भाव तथा साम्प्रदायिक सौहार्द स्थापित करने में अहम् भूमिका का निर्वाह किया है। यद्यपि ये व्रत, विभिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न रूप और उद्देश्यों के साथ स्वीकार्य हैं, फिर भी इनके प्रति सर्वत्र दृढ़ विश्वास और श्रद्धा देखते ही बनती है।

सामान्यतया व्रतों के सम्बन्ध में जनमानस में यह विश्वास है कि इन व्रतों का पालन करने से पापों का प्रायश्चित्त होकर, विघ्न-बाधाएँ दूर होती हैं, मन शुद्ध हो जाता है, संकल्प की सिद्धि हो जाती है; इससे उनके आराध्य देवी-देवता प्रसन्न होकर उन्हें इच्छित फल प्रदान करते हैं। किन्तु इन सबसे परे व्रतों का वास्तविक उद्देश्य तो वर्तमान एवं भावी जीवन को सार्थकता प्रदान करने के लिए आदर्श जीवन जीने के साथ ही इन्द्रिय-विजयपूर्वक संयम और आध्यात्मिक उन्नति करते हुए, मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त करना है।

व्रतों के पालन से सांसारिक एवं मानसिक सन्तापों से मुक्ति प्राप्त होती है। जैसे, वृक्ष या छतरी धूप से बचाकर छाया, शीतलता और आराम प्रदान करती है; उसी प्रकार व्रत, अनैतिक और असंयमित प्रकृतियों से बचने, अपनी आन्तरिक शक्तियों को जगाने, उन्हें पहचानने और आध्यात्मिक तथा सांसारिक जीवन

आनन्दमय और संयममय जीने की प्रवृत्ति का विकास करने में सहयोगी बनते हैं। किन्तु यदि व्रतनिष्ठ जीने अर्थात् इन व्रतों के ग्रहण और इनके पालन करने के बाद भी आन्तरिक कषायों, बुराइयों का निवारण और आध्यात्मिक गुणों का विकास हमारे जीवन में नहीं हुआ तो समझना चाहिए कि इन व्रतों के धारण करने के उद्देश्य में हमारे द्वारा कहीं न कहीं, कोई बड़ी भूल या कमी अवश्य हो रही है।

भारतीय जनमानस में व्रतों के प्रति अपूर्व श्रद्धा और उत्साह देखा जाता है। व्रत से तात्पर्य है-पाप, अपराध, अधर्म और अनैतिक प्रवृत्तियों का त्याग करके या उनका प्रायश्चित्त करके अच्छे कार्यों, नैतिक मूल्यों एवं नियमों के परिपालन की प्रतिज्ञा करना। व्रत, आजीवन भी ग्रहण किये जाते हैं और निश्चित दिन, घड़ी, घण्टा आदि की समय-सीमा के साथ भी ग्रहण किये जाते हैं।

जैनधर्म में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-इन पाँच प्रधान व्रतों तथा गुणव्रत और शिक्षाव्रतादि के साथ ही, प्रत्येक व्रती की अपनी भूमिका के अनुसार जहाँ इन व्रतों के धारण का महत्त्व है, वहीं अन्य धर्मों में उपवास, अनशन, कुछ वस्तुओं या खाद्य पदार्थों का दान या त्याग, तीर्थयात्रा, धार्मिक क्रियाकाण्ड, स्नान, पूजा-पाठ करना, कथाएँ सुनना आदि अनेक विधियाँ प्रचलित हैं।

व्रत : स्वरूप और भेद-प्रभेद

वस्तुतः जीवन में इन व्रतों का बहुत व्यापक अर्थ, उद्देश्य और महत्त्व है। वास्तव में मन-वचन-काय की अन्यथा (असद्) प्रवृत्तियों के नियमन को व्रत कहते हैं, फिर भी सामान्य जन-जीवन में उपवास या अनशन के रूप में आहार-ग्रहण न करने को ही व्रत या धर्म कहा जाने लगा, जबकि जैनधर्म में शास्त्रोक्त विधिपूर्वक अनशन-उपवास आदि को तो तप की श्रेणी में माना है। सामान्यतया अन्य धर्मों में अनिष्टों से बचने की प्रवृत्ति के अन्तर्गत भोजनादि के त्याग से तन-मन की शुद्धि की भावना काम करती है, तो व्रत भङ्ग होने में देवी-देवताओं के अप्रसन्न होने के भय के साथ ही महापाप या अनिष्ट होने की आशंका भी जैनेतर समाज में अधिक देखी जाती है।

व्रतों के धारण अर्थात् व्रतनिष्ठ जीवन शैली के माध्यम से अपेक्षा की जाती है कि आध्यात्मिक विकास के साथ ही स्वस्थ समाज-व्यवस्था सुसञ्चालित हो। क्योंकि व्रतों से जहाँ तन-मन की शुद्धि होती है, वहीं सुख-शान्तिमय समाज-व्यवस्था के सुसञ्चालन में भी सहयोग मिलता है। व्रत, आत्मा के धर्म तथा हृदय की पवित्रता और स्वतन्त्रता के प्रतीक हैं। इनके आचरण से भोग-विलास और अपराध की प्रवृत्ति पर अंकुश लगता है, हिंसक आदि असद् प्रवृत्तियाँ दूर होती हैं; इसीलिए व्रतों को स्वस्थ एवं जागरूक समाज का प्रेरक माना गया है।

व्रतनिष्ठ व्यक्ति के जीवन-व्यवहार में नैतिकता स्वयं फलित होती है और यही भाव इस नैतिकता को आध्यात्मिक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। क्योंकि जिस नैतिकता के साथ अध्यात्म का अनुबन्ध नहीं है, वह नैतिकता सुरक्षित नहीं रह पाती। यही कारण है कि व्रतनिष्ठ व्रती व्यक्ति, आत्मिक उन्नति के साथ ही सांसारिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति करता हुआ, दूसरों का आदर्श बन जाता है।

आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष को निरन्तर गतिशील बनाये रखने के लिए व्रत, नियम, संयम और सदाचार का पालन तथा तदनुकूल अपने आचार-विचार की साज-सँवार आवश्यक है। व्रत-ग्रहण के पूर्व व्यक्ति को तदनुकूल अपनी भूमिका और योग्यता धारण कर, उसके अखण्ड पालन की सामर्थ प्राप्त करना भी जरूरी है। आध्यात्मिक विकास में ये व्रत-उपवास, यम-नियम बीज की तरह होते हैं, क्योंकि व्रत रूपी बीजों को उगाने, उन्हें अच्छी तरह पुष्पित-पल्लवित करने के लिए अपने हृदयरूपी भूमि को उर्वर बनाना आवश्यक है, अन्यथा वे व्रत आदि फलीभूत नहीं होंगे।

जैनधर्म के अनुसार व्रत का स्वरूप

जैनधर्म के अनुसार व्रत शब्द विरति से बना है।

जिसका अर्थ है- 'निवृत्ति'। यहाँ 'निवृत्ति' से तात्पर्य है- हिंसा आदि बुराइयों (पापकर्मों) का त्याग। इसीलिए पहली शती के वाचक उमास्वाति/आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (7/1) में व्रत शब्द की परिभाषा करते हुए कहा है-**हिंसानृत-स्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्** अर्थात् हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी) अब्रह्म (मैथुन या कुशील) तथा परिग्रह-इन पाँच बुराइयों (पापों) से विरति अर्थात् निवृत्ति होना व्रत है। आचार्य पूज्यपाद (सातवीं-आठवीं शती) ने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में कहा है-'**व्रतमभि-सन्धिकृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति**' अर्थात् यह कर्म करने के योग्य है और यह नहीं करने के योग्य है-इस प्रकार नियम करना व्रत है। इस तरह **हिंसादि बुराइयों या दोषों को जानकर आत्मिक विकास के उद्देश्य से उनसे विरति अर्थात् उनके त्याग की प्रतिज्ञा (नियम) करने, पुनः उनके कभी सेवन न करने की दृढ़ता ही व्रत है।**

इस प्रकार किसी भी कार्य को करने या न करने का मानसिक निर्णय व्रत कहलाता है। व्यवहार की भाषा में इसे संकल्प भी कहा जाता है, किन्तु व्रत और संकल्प में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि संकल्परूपी मानसिक निर्णय अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी, पर व्रत हमेशा शुभ अर्थात् अच्छे और आत्मिक शक्ति के विकास तथा शान्ति के साधन ही होते हैं।

इस प्रकार व्रत के सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

1. हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य (कुशील) और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है।
2. यह करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं है-ऐसा नियम करना भी व्रत है।
3. 'स्वात्मना कृत्वा स्वात्मनिवर्तनमिति निश्चयं व्रतम्' अर्थात् अपनी आत्मा के पुरुषार्थ के बल से अपनी आत्मा को परपदार्थों से हटाने का निश्चय ही व्रत है।
4. हिंसादि पाँच पापों की सर्वनिवृत्ति के परिणाम (भाव) अर्थात् मन-वचन और काय तथा कृत-कारित और अनुमोदना से हिंसादि के पूर्णतः त्याग को महाव्रत कहते हैं तथा एकदेश निवृत्ति के परिणाम देशव्रत या अणुव्रत कहलाते हैं।
5. निश्चयनय की अपेक्षा विशुद्ध-ज्ञान, दर्शनरूप स्वभाव के धारक निज आत्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न, सुखरूपी अमृत के आस्वाद के बल से, सर्व शुभ और अशुभ राग आदि के विकल्पों से रहित होना निश्चयव्रत है।
6. संसार के छोटे-बड़े समस्त प्राणियों पर दया, करुणा आदि भाव करना बहिरंग व्रत है तथा कषायों का त्याग अन्तरंग व्रत है-यह स्वदया है।

श्रावकाचार एवं श्रमणाचार

जैनधर्म में आचार की दृष्टि से दो प्रकार का धर्ममार्ग बतलाया गया है। प्रथम गृहस्थ धर्म, जिसे श्रावकधर्म, सागारधर्म अथवा श्रावकाचार कहा जाता है। दूसरा मुनि दीक्षा ग्रहण करने वाले संयमी साधु का आचार श्रमणधर्म है, जिसे श्रमणाचार कहा जाता है। अहिंसादि व्रतों का लघु या अणु रूप में पालन करने वाला अणुव्रती श्रावक (गृहस्थ) कहलाता है तथा इन्हीं अहिंसादि व्रतों का पालन करने वाला महाव्रती मुनि साधु या श्रमण कहा जाता है।

अणुव्रत और महाव्रत

पूर्वोक्त हिंसादि पापकार्यों के त्याग से अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-इन पाँच व्रतों का पालन किया जाता है। इन व्रतों के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि जिन बुराइयों (पापों) के त्यागपूर्वक जो व्रत ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें कोई भी योग्य व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण करके, उन्हें अपनी शक्ति-सामर्थ्यानुसार क्रमशः बढ़ाता जाता है और उसी अनुपात में उसकी नैतिक, आध्यात्मिक और जीवन में संयम सम्बन्धी पवित्रता भी बढ़ती है। अतः जो व्यक्ति हिंसादि असत्प्रवृत्तियों का अणु (आंशिक या एकदेश) त्याग करता है, उसके ये व्रत अणुव्रत कहलाते

हैं तथा मन, वचन, काय और कृत (न स्वयं करे), कारित (दूसरे से न कराये और न किसी को वैसा अशुभ कार्य करने की प्रेरणा दें) एवं अनुमोदना (वैसा पापकर्म जो कर रहा हो उसकी सराहना या अनुमोदना न करें) से इनका पूर्ण त्याग करने को महाव्रत कहते हैं।

वस्तुतः पाँच पापों के त्यागपूर्वक ग्रहण किये गये अहिंसा आदि व्रत अपने आप में अणु (लघु) या महत् (बड़े) नहीं होते, अपितु इनका विभाजन व्रत के पालन करने वाले की क्षमता या सामर्थ्य पर आश्रित है। अणुव्रतों में हिंसा आदि का आंशिक त्याग किया जाता है। जब साधक अपने आत्मबल से सम्पूर्ण (सर्वदेश) रूप में इन व्रतों को धारण कर इनका निर्दोष रूप में पालन करने में पूर्ण समर्थ हो जाता है, तब उसके यही व्रत 'महाव्रत' कहलाते हैं और उनका धारक व्यक्ति, महाव्रती, श्रमण, साधु, यति, अनगार, संन्यासी या मुनि कहलाता है।

श्रमणाचार में अहिंसादि पाँच महाव्रतों के साथ ही दिगम्बर परम्परा में ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण एवं उच्चार-प्रस्रवण-ये पाँच समिति, पञ्चेन्द्रियजय, सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग-ये छह आवश्यक तथा लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थित-भोजन अर्थात् खड़े होकर दोनों हाथ की अञ्जुली से शुद्ध दाता (श्रावक) से आहार ग्रहण करना और एकभक्त (दिन के पूर्वाह्न या मध्याह्न में मात्रा एक बार प्रासुक आहार ग्रहण करना, उसके बाद चौबीस घण्टे के लिए आहार-पेय आदि का पूर्णतः त्याग कर देना)-इन सभी अट्ठाईस मूल गुणों का पूर्णतः धारण और पालन अनिवार्य होता है। संयमी मुनि इन 28 मूलगुणों से युक्त होता है।*

पूर्वोक्त पाँच व्रतों आदि का छोटे या अणुरूप में पालन करना अणुव्रत कहलाता है तथा इनका पालन करने वाले गृहस्थ को अणुव्रती श्रावक कहते हैं। गृहस्थ द्वारा धारण किये गये इन पाँच अणुव्रतों के निरतिचार (शुद्धतापूर्वक) पालन के लिए इन व्रतों के अतिचारों के त्याग करने तथा अन्य सहयोगी व्रतों अर्थात् दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत-इन तीन गुणव्रतों और सामायिक, पोषधोपवास, उपभोग-परिभोग-परिमाण और अतिथि संविभाग-इन चार शिक्षाव्रतों के पालन करने से ही 'बारहव्रतधारी उत्कृष्ट श्रावक' कहलाता है। श्रावकधर्म की सम्पूर्णता हेतु बारह व्रतों का पालन करना आवश्यक है। गृहस्थ या श्रावक के इन व्रतों का विशेष विवेचन श्रावकाचार विषयक विभिन्न शताधिक ग्रन्थों में किया गया है। इस प्रकार जैन आचार धर्म का प्रारम्भ श्रावकाचार से होता है।

व्रतनिष्ठ जैन जीवनशैली द्वारा जीवों की हिंसा से बचाव के सरल उपाय श्रावकों के लिए सामान्य व्रतनिष्ठ जीवन शैली का अर्थ है-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-इन पाँच पापों से बचाव तथा क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चार कषायों की मन्दता और अहिंसादि अणुव्रतों के साथ ही अन्य व्रतों का निर्दोष पालन।

यदि हम दृढ़ संकल्पी हैं और व्रतों के निरतिचार पालन का सावधानी के साथ ध्यान रखें तो हम हिंसादि अनेक पापों से बच सकते हैं। इस सबके लिए यदि हमें यथासम्भव अहिंसादि तथा अन्यान्य व्रतों का निर्दोष पालन करना है और यदि हम अपने जीवन को विवेकशील बना लें तथा जीवन की प्रत्येक क्रिया में सजगता के साथ जीव रक्षा का भाव रखें तो हम अनेक प्रकार के अनर्थों से बचकर व्रतनिष्ठ बने रह सकते हैं।

प्रत्येक मानव को यह बोध होना आवश्यक है कि सृष्टि के सभी जीवों को अपना जीवन प्यारा है।

---

* श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण में उपर्युक्त गुणों में अनेक समान हैं तथा भिन्न प्रकार से 27 गुण भी कहे गए हैं, यथा-5 महाव्रत, 5 इन्द्रिय विजय, 4 कषाय-निवारण, 5 भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमावान्, वैराग्यवान्, मनसमाधारणता, वचनसमाधारणता, कायसमाधारणता ज्ञानसम्पन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, वेदनीय समाअहियासन्निया, मारणंतिसमा अहिया सन्निया। इसमें श्रमण माधुकरी वृत्ति से गृहस्थ के घर से आहार लाता है तथा लज्जावश एवं संयमरक्षण हेतु वस्त्र धारण करता है। -सम्पादक

अहिंसक आचरण के द्वारा किसी भी जीव को महादुःख से बचाने का यथाशक्ति/यथासम्भव प्रयत्न हमारा प्रमुख कर्त्तव्य है। अपने सुख के लिए अन्य जीवों को मौत का महादुःख देना, उन्हें सताना-यह तो नासमझी, कुसंस्कार एवं घोर हिंसा पाप है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार यदि हम दूसरों को सुख देंगे तो हमें भी सुख मिलेगा। यदि हम ध्यान रखें तो कई जीवों को सुख पहुँचाने में सहायक बन उन्हें अभयदान दे सकते हैं। जीवों को दिए गए अभयदान रूप सुख की भावना हमारे सुख-शान्ति का भी कारण बनेगी।

वस्तुतः जीवदया का पालन करके बहुहिंसा से बचा जा सकता है। इससे हम भी सुखी रहेंगे और अहिंसा धर्म का पालन करने से इहलोक और परलोक सुधरने से दुर्गति की परम्पराओं से बचे रहेंगे।

बैठते-उठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते, बोलते-सोचते, वस्तुएँ उठाते-रखते, दरवाज़ा खोलते-बन्द करते या साफ-सफाई आदि कोई भी रोजमर्रा की प्रवृत्ति करते समय हमारी लापरवाही से, दुर्ध्यान से या इस व्यस्त जीवन की दौड़ में प्रमादवश-ऐसे अनेकानेक जीवों की हिंसा हमारे द्वारा होती रहती है।

किन्तु हमारी अपनी थोड़ी सावधानी, थोड़ा ध्यान, धीरज, शान्ति एवं विवेक से ऐसे अनेक जीवों के प्राण हम बचा सकते हैं और हम हिंसा से बच सकते हैं। इस तरह पाप एवं दुःख से हमारी ही रक्षा करने वाली **यतना अर्थात् अहिंसा हमारे लिए कल्याणकारी माता ही तो है!** अतः यदि हम यतनाचार एवं विवेक पूर्वक प्रत्येक कार्य करें और जीवनोपयोगी प्रत्येक वस्तुओं का उपयोग करें तो हम विविध रूपों में होने वाली **प्रमादजन्य असंख्य जीवों की हिंसा से सहज ही बच सकते हैं और उन्हें प्राणदान रूप अभयदान हम प्रदान कर सकते हैं।**

जैनधर्म उपकरण भण्डार, दिल्ली से प्रकाशित 'जीव-रक्षा के उपाय' नामक पुस्तक में षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस-इन सभी जीवों का संरक्षण कैसे किया जाये? इन सबका अच्छा विवेचन किया गया है। यद्यपि हिंसा से बचाव के उपाय सामान्य श्रावक के लिए आवश्यक तो हैं ही, यदि व्रतनिष्ठ श्रावक भी इनका पालन करते हैं तो ग्रहण किये व्रतों के निरतिचार पालन में बहुत सहयोग मिलता है। यहाँ हम सामान्य दैनिक कार्यों में जीवों की हिंसा से बचने के कुछ सरल उपाय प्रस्तुत कर रहे हैं-

1. कच्चे पानी की एक बूँद में असंख्य अप्काय एकेन्द्रिय जीव बताए हैं। आज का विज्ञान भी 36450 चलते-फिरते जीव एक बून्द पानी में बता रहा है। इन जीवों का आयुष्य बहुत छोटा-अन्तर्मुहूर्त्त (48 मिनट से अन्दर) का होता है। तो वे जीव उतने समय में मर जाते हैं और दूसरे उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे ही इनकी पुनः उत्पत्ति-विनाश की परम्परा चलती रहती है। गरम पानी प्रासुक जल में वह परम्परा अधिक समय के लिये रुक जाती है। पानी भी प्रासुक और शुद्ध हो जाता है। अतः ऐसे प्रासुक् पानी के प्रयोग से असंख्य जीवों को अभयदान का लाभ मिलता है।

   अतः **हमारे लिए जितना पानी अति आवश्यक है, उतने पानी का ही उपयोग करना चाहिए।** हमें जरूरत से ज्यादा और निरर्थक पानी का उपयोग तो करना ही नहीं चाहिए। पानी का उपयोग कम-से-कम करें, उसका घी के समान सम्भल-सम्भल कर उपयोग करना चाहिए। अनछने पानी के उपयोग से या लापरवाही से अनेक त्रस जीवों की हिंसा होती है। यदि जरूरत न हो तो घड़ा, बाल्टी आदि पानी के खाली बर्तनों को साफ कर एवं सुखा कर उल्टा रखने से खाली बर्तनों में जीव गिरने की सम्भावना नहीं रहती है। साबुन, डिटर्जेण्ट पाऊडर आदि का उपयोग बड़े सम्भलकर सीमित मात्रा में अति आवश्यकतानुसार ही करना चाहिए। क्योंकि इनसे अनन्त जीवों की हिंसा होती है। इसी तरह गर्म पानी में ठण्डा पानी नहीं मिलाना चाहिए। गीजर में अनछना पानी गरम होने से हजारों-लाखों त्रस जीव

जलकर मर जाते हैं। वाटर कूलर वगैरह में भी त्रस जीवों की ज्यादा विराधना होती है। पानी के बर्तन खुले छोड़ने से भी, त्रस जीव उनमें गिरकर मर जाते हैं। पानी अधिक समय तक एक ही जगह पड़ा रहने से उसमें पञ्चेन्द्रिय जीव तक के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतः इस ओर सावधानी अपेक्षित है।

2. आधुनिक जीवनशैली में बिजली के साधनों का अनावश्यक उपयोग होता है, जो अनुचित है। बिजली-पंखे आदि का कम-से-कम उपयोग करें। **जरूरी न हो तब लाइट-पंखे तुरन्त बन्द कर दें।** ताकि मच्छर या अन्य जन्तु घर में प्रवेश न करें।

   घर में धूल एवं कचरा आदि निकालने के लिए वैक्यूम क्लीनर (विद्युत झाड़ू) का उपयोग बिल्कुल न करें। उसमें त्रस जीवों की बहुत हिंसा होती है। कभी-कभी तो उसमें कॉक्रोच, छिपकली, चूहे जैसे बड़े जीव भी खींचे जाते हैं एवं मर जाते हैं।

   दीपावली आदि त्यौहार या अन्य प्रसङ्गों पर पटाखे न फोड़ें। उसमें अग्निकाय के अलावा अनेक त्रस जीवों की भी बड़ी विराधना होती है।

   बिना जरूरत के गैस का चूल्हा जलता न रहे, इसका ध्यान रखें। बिजली के बल्ब या अन्य रोशनी के साधन से आकर्षित होकर बहुत जीव-जन्तु आते हैं, अतः जितना शक्य को उतना बिजली का उपयोग टालें। शाम को बिजली जलाने के पहले खिड़की-दरवाजे बन्द कर दें।

3. वनस्पतियों में भी एकेन्द्रिय जीव होते हैं। रास्ते पर चलते-फिरते या बाग-बगीचों में वृक्षों के पत्ते, फूल, फल न तोड़ें। फूलों की सजावट न करें। माला या सजावट हेतु कागज के फूलों का प्रयोग अनेक दृष्टियों से लाभकारी है।

4. मनुष्य के मल, मूत्र, थूक, पसीना, खून, मांस, पीप, बलगम वगैरह सभी अशुचि पदार्थ शरीर से छूट जाने से दो घड़ी (48 मिनट) पश्चात् उसमें अदृश्य काया वाले पञ्चेन्द्रिय सम्मूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं। ये असंख्य जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं। इन जीवों की आयु दो घड़ी भी नहीं होती। एक बार उत्पत्ति चालू होने के बाद लम्बे समय तक उत्पत्ति-विनाश का क्रम चलता रहता है। अतः इस ओर सावधानी अपेक्षित है।

5. रात्रि-भोजन महापाप है, नरक का प्रथम द्वार है। इतना ही नहीं, आरोग्य की दृष्टि से अनेक रोगों का मूल है। अतः रात्रिभोजन का प्रत्येक को आरम्भ से ही त्याग कर देना चाहिए।

6. एक बार अब्रह्मचर्य का सेवन करने पर असंख्य सम्मूर्च्छिम और लाखों जीवों की हिंसा होती है। अतः अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

7. **जूठे बर्तन खाना खाने के बाद दो घड़ी (48 मिनट) के पहले-पहले जल्दी से जल्दी साफ कर लें।** उन्हें बिना धोये ज्यादा देर न रखें। तुरन्त धो डालें। खाद्य पदार्थ नीचे गिरें, तो तुरन्त उठा लेंवे। दूध-घी आदि गिरें तो तुरन्त साफ कर लेवें। तुरन्त पोंछा कर लें। ताकि चीटीं आदि जीव वहाँ इकट्ठे न हों। अन्यथा उनकी हिंसा होने की सम्भावना बनी रहती है। जिस पदार्थ से आकर्षित होकर चीटियाँ इकट्ठा होती हैं, उस पदार्थ को सम्भाल कर उठा लेने से चीटियाँ भाग जाती है।

8. मच्छरों से मलेरिया, डेंगू जैसी अनेक घातक बीमारियाँ होती हैं। किन्तु वे हमारे लिए उपद्रव न करें तथा हमारे द्वारा उनकी हिंसा न हो, इन दोनों आशयों से मच्छर की उत्पत्ति का निवारण ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। **मच्छरों से बचाव हेतु सबसे सरल, अहिंसक उपाय है-मच्छरदानी का प्रयोग।** इसके लिए मच्छरदानी बाँधकर सोने से, मच्छरों के उपद्रव से तथा विराधना से बचा जा सकता है। **खिड़की-दरवाज़ों आदि में बारीक जाली लगा देने से मच्छर को घर में प्रवेश करने से रोक सकते हैं।**

मच्छरों को दूर करने के लिए जन्तुनाशक दवाओं का छिड़काव न करें। वह घोर हिंसा है। वैसे ही मॉस्कीटो मैट/लिक्विड़ (जैसे कि गुड नाइट, आल-आउट, कछुआ छाप आदि) न प्रयोग करें। उनमें पेलिथ्रिन आदि नाम की जन्तुनाशक दवाइयाँ रहती हैं। उनके धुएँ से मच्छर तो मरते ही हैं, मनुष्यों के लिए भी इनका जहरीला धुआँ अतिशय घातक है। मच्छर अगरबत्तियाँ भी जहरीले रसायनों की वजह से मनुष्य के लिए भी उतनी ही नुकसानदायक हैं।

अतः गूग्गल, लोबान, कड़वे नीम के पत्ते या सन्तरे के सूखे छिलकों का धुआँ करने से भी मच्छर भाग जाते हैं।

9. घर में पक्षियों द्वारा घोंसला बनाने से अण्डे उनके बच्चों की अनजाने में विराधना हो सकती है। कभी चालू पंखे से पक्षी की दुर्घटना होने की सम्भावना है। अतः पक्षी घोंसला बना सकें ऐसा अवकाश ही घर में न रखें।
10. 'नींबू के फूल' (Citric Acid) या 'टाटरी' का निर्माण महाहिंसक तरीके से होता है। उसका उपयोग टालें। गन्ने के रस से शक्कर बनने के बाद बचे हुए मैल को सड़ाकर उसमें असंख्य त्रस जीवों की हिंसा के बाद नींबूसत (नींबू फूल-साइट्रीक एसिड) बनाया जाता है। इसमें नींबू का मात्र नाम है, उसका एक अंश भी इसमें नहीं होता है।
11. इसी तरह साबूदाने की उत्पादन प्रक्रिया अत्यन्त हिंसक है अतः **साबुदाने के किसी की खाद्य का उपयोग न करें।** एक कन्द के रस को सड़ाकर असंख्य जीव पैर के नीचे कुचले जाने पर साबूदाना बनता है। अनन्तकाय और असंख्य त्रस जीवों का नाश होता है। अभक्ष्य होने से इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

आज अनेक प्रकार की अभक्ष्य और रोगोत्पादक आहार जिह्वा के स्वाद के लालच में व्यक्ति उपयोग में लेता है, फलस्वरूप पाप कर्म का बन्ध होने के साथ कई प्रकार की बीमारियों का शिकार भी होता है। स्वाद में व्यक्ति आपा भूलकर खाता है और वह भूल जाता है कि पेट में जाने के बाद स्वास्थ्य का क्या होगा? आज घर-घर में अभक्ष्य खान-पान का उपयोग होने लगा है। प्राणघातक रोगों के हमले बढ़ते जा रहे हैं। इनके अतिरिक्त दैनिक जीवनचर्या में हिंसा आदि के बचाव हेतु और भी अनेक उपाय हैं।

चिकित्सा में हिंसा का प्रोत्साहन अनुचित

जीवन-उपयोग की कई चीजों में प्राणिज पदार्थों का उपयोग होता है। इन चीजों के लिए बड़े पैमाने पर प्राणियों की हिंसा होती है। बड़े खेद की बात है कि आधुनिक दवाइयों, होमियोपैथिक दवाइयों, यूनानी औषधियों तथा कुछ आयुर्वेदिक और सिद्ध औषधियों के निर्माण में भी पशु-पक्षियों का प्रयोग होता है अथवा क्रूरतापूर्वक उन पर कई संशोधन किये जाते हैं। ऐसी चीज (वस्तुओं) का सदा के लिए त्याग करें। प्रत्येक चीज़ के अहिंसक विकल्प बाजार में उपलब्ध होते रहते हैं, अतः उनका ही उपयोग करें। हर व्यक्ति को स्वयं द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक वस्तु के घटकों की जानकारी होनी चाहिए तथा अहिंसक विकल्प ढूँढ़कर अपनाने चाहिए।

डॉ. चंचलमल चोरडिया ने अपनी पुस्तक 'आपका आरोग्य: आपके पास' (पृष्ठ 44) में लिखा है-आत्मा को अशुभकर्मों से भारी करने में सबसे ज्यादा हिंसा, क्रूरता, निर्दयता का आचरण होता है। दुनिया में कोई भी जीव मरना नहीं चाहता। भले ही उसे न चाहते हुए भी मरना क्यों न पड़े। जीओ और जीने दो पर आधारित जीवनचर्या ही मानवता का प्रतीक होती है। अपने स्वार्थ के लिए अन्य जीवों को कष्ट पहुँचाना पाशविकता का लक्षण है। हमें तो पिन अथवा सूई की चुभन भी सहन न हो, परन्तु अज्ञानवश पौष्टिकता एवं स्वाद, शिक्षा, दवाओं के निर्माण एवं परीक्षण अथवा उपचार आदि के लिए अन्य जीवों के साथ क्रूरता अथवा उनका वध करना या उन्हें परेशान और पीड़ित करना,

स्वयं के लिए दुःखों, कष्टों एवं रोगों को आमन्त्रण देना है। उन मूक बेजुबान, असहाय जीवों की बद्दुआएँ, हृदय से निकली चीत्कारें उनको पीड़ित करने में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वालों को कभी शान्त, सुखी एवं स्वस्थ नहीं रहने देगी। भले ही पूर्व पुण्य के प्रभाव से स्वार्थी मानव को उसका तत्काल दुष्फल न भी मिले।

जब पूज्य सन्तों का आशीर्वाद हमें शान्ति पहुँचा सकता है तो दुःखी प्राणियों की आहें अपना प्रभाव क्यों नहीं दिखाएँगी, चिन्तन का प्रश्न है? क्या हिंसा द्वारा निर्मित और क्रूरता द्वारा परीक्षण की गई दवाओं द्वारा उपचार करवाने वालों को अशुभ कर्मों का बन्ध नहीं होता है? प्रकृति का दण्ड देने का विधान पूर्ण न्याय पर आधारित होता है। वहाँ देर भले ही हो सकती है, अन्धेर नहीं हो सकती।

अतः जहाँ कोई विकल्प न हो और रोग सहनशक्ति के बाहर हो, उसी अवस्था में लाचारीवश ही ऐसा उपचार लेकर प्रायश्चित्त लेना चाहिए। अतः हिंसा को प्रोत्साहन देकर आत्मा को विकारी बनाने वाली चिकित्सा पद्धतियाँ पूर्ण रूप से प्रभावशाली कदापि नहीं हो सकती।

इस प्रकार हम अपने विवेक और यतनाचार से विविध प्रकार की हिंसा से बचते हुए असंख्य जीवों की रक्षा का कार्य सहज ही कर सकते हैं। इसी तरह झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-इन पापों से बचाव करके व्रतनिष्ठ 'जीवनशैली' के द्वारा एक आदर्श श्रावक बन सकते हैं। इससे हम अपनी उच्च संयम-साधना का मार्ग भी प्रशस्त कर सकते हैं।

इस तरह श्रावक (गृहस्थ) एवं श्रमण (मुनि)-इन दो रूपों में सुव्यवस्थित जैन आचार-संहिता की सुदृढ़ आधारशिला और इसकी अपनी विशेषताओं के कारण ही जैनधर्म की मजबूत जड़ों को आज तक कोई हिला नहीं सका। इसीलिए पद्मभूषण आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय ने मेरी (प्रस्तुत लेख के लेखक प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी की) सुप्रसिद्ध शोधकृति 'मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन' की शुभाशंसा में ठीक ही लिखा है कि-'आचार' श्रमण संस्कृति के उद्बोधक जैनधर्म का मेरुदण्ड है। जिस प्रकार मेरुदण्ड, देहयष्टि को पुष्ट एवं सुव्यवस्थित बनाने में सर्वथा कृतकार्य है; उसी प्रकार जैनधर्म को पुष्ट करने में सर्वथा समर्थ है।

वस्तुतः जैनधर्म का आचारपक्ष आत्मानुलक्ष्यी है। **'अप्पा सो परमप्पा'** अर्थात् इस प्रकार आत्मा ही परमात्मा है-इस अवधारणा के आधार पर यहाँ परमात्मपद की प्राप्ति हेतु प्रत्येक मनुष्य को स्वयं अपना पुरुषार्थ करना होता है, किसी दूसरे के या ईश्वर अथवा अन्यान्य देवी-देवताओं के भरोसे नहीं रहना होता है। इसकी प्राप्ति स्वयं रत्नत्रयात्मक मार्ग पर चल कर ही सम्भव है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट अहिंसादि महाव्रतादिक स्वरूप आचार-संहिता से होती है। इसीलिए जैनधर्म के अनुसार मानवजीवन के अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति सम्भव है।

-प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, एवं पूर्व निदेशक, बी.एल. इंस्टीट्यूट ऑफ़ इंडोलॉजी, दिल्ली

आवासीय पता : 'अनेकान्त विद्या भवन', बी. 23/45, पी.6, शारदानगर कॉलोनी, खोजवां, वाराणसी-221010 (उत्तरप्रदेश)

- व्यक्ति सुधर जायेगा, समाज सुधर जायेगा, तो राष्ट्र सुधर जायेगा।
- सम्यग्दर्शनी देव निर्जरा का उपाय जानते हुए भी साधना में चारित्र के चरण नहीं बढ़ा सकते हैं।
- कोई खाने के लिए जीते हैं, कोई जीने के लिए खाते हैं, लेकिन साधक संयम-यात्रा का निर्वाह करने के लिए आहार लेते हैं।

-आचार्यश्री हीरा

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 155
ISSN 2249-2011

Harmony and Peace : A Jain Perspective*

Prof. Sagarmal Jain

Harmony and Peace : Need of our Age

Among the most burning problems, the world is facing today; mental tension religious fundamentalism and intolerance are the most crucial. The miraculous advancement in science and technology provided us light legged means of transportation and communication. As a result physical distances have no bars to meet the people of different nations, cultures and religions. Our world is shrinking, but unluckily and disdainfully the distances of our hearts are widening day by day. Instead of developing mutual harmony and faith, as well as peace we are spreading hatred and hostility and thus ignoring the values of harmonious living and co-existence. The blind and mad race of nuclear weapons is a clear indication that the human race is proceeding towards its formidable funeral procession. Rabindranath Tagore rightly observed "For man to come near to one another and yet to ignore the claims of humanity is the sure process of suicide." In the present circumstances, the only way out left for the survival of mankind is to develop a firm belief in mutual co-operation and co-existence. Religious harmony and fellowship of faiths is the first and foremost need of our age.

Humanity as a Binding Force

Undoubtedly, we belong to different faiths, religions and cultures. Our modes of worship as well as way of living also differ to some extent. There is also no denying the fact that our philosophical approaches and religious viewpoints are divergent, but among these diversities there-is a common thread of unity which binds all of us, and it is nothing except humanity. We all belong to the same human race. Unfortunately, at present, humanity as such is largely shoved into the background and differences of caste, colour and creed have become more important for us. We have forgotten our essential unity and are conflicting on the basis of these apparent diversities. But we must bear in our mind that it is only humanity, which can conjoin the people of different faiths, cultures and nationalities. Jaina ācāryas declared the human race as one (ega manussajai). Swami Vivekananda also propounds oneness of human race on the basis of the upnisadic vedant. The difference of caste, culture and creed are not only superficial but mostly they are the creation of man.

The second and foremost problem of human race is, the advancement in all the walks of life and knowledge could not sublimate our animal and selfish nature. We have already forgotten the devine aspect of humanity. The animal instinct lying within us is still forceful and is dominating our individual and social behavior and due to this our life is full of excitements, emotional disorders and mental tensions. The more advanced a nation, stronger the grip of these evils of our age over it. The single most specific feature by which our age may be characterized is that of tension. Now a day not only the individuals, but the total human race is living in tension.

Though outwardly we are pleading for peace and harmony, yet by heart we still have a

* A lecture given in world meet for Peace and Harmony at Ramkrishna Asharama, New Delhi on 11th Sept. 2012

strong faith in the law of the jungle, i.e. the dictum "might is right". We are living for the satisfaction of our animal nature only, though we talk of higher social and spiritual values. This duality or the gulf between our thought and action is the sole factor disturbing our inner as well as outer peace. Once the faith in higher spiritual values or even in our fellow beings is shaken and we start seeing each and every person or a community or a nation with the eyes of doubt, definitely, it is the sign of disturbed mentality or in other words living in tension.

Because of materialistic and mechanical outlook, our faith in spiritual values has been destroyed and when the mutual faith and faith in higher values of co-operation and co-existence in other words harmony or peace is destroyed, doubts take place. The doubt causes fear, fear gives birth to tension or to violence and violence triggers violence. The present violence is the result of our materialistic attitude and doubting nature. The most valuable thing, for human race to achieve is harmony and peace, which has lost in the present situation. Lord Mahavira and Swami Vivekananda both have fully tried to establish the higher values of peace and harmony in human race.

Meaning of Peace in Jainism

The term 'peace' has various connotations. It can be defined in different ways from different angles. Intrinsically peace means a state of tranquility of mind. It is the state in which self rests in its own nature, undisturbed by external factors. Peace means soul devoid of passions and desires. *Acārāṅga* mentions that an aspirant, who has attained peace has no desire. Peace means cessation of all desires and expectations. *Sūtrakṛtāṅga* equates it with "Niravana' i.e. the emancipation from all desires, in other word; it is the state of self-contentment or total subjectivity i.e. the state of pure seership. *Acārāṅga* maintains that one who is aware of peace will not fall in the grip of passions. While defining peace, Saint Thomas as Aquinas has rightly maintained the same view. He says, "peace implies two things first our self should not be disturbed by external factors and secondly." Our desires should find rest in one i.e. the self. This inner peace can also be explained from negative and positive view-points. Negatively, it is the state of the cessation of all the passions and desires. It is the total freedom from the vectors of attachment and aversion. Positively, it is the state of bliss and self contentment. But we must remember that these positive and negative aspects of inner peace are interdependent on each other, they are like the two sides of the same coin and they can not exist without each other. We can only distinguish them but not divide them. The inner peace is not mere an abstract idea, but it is something, which is whole and concrete. It represents our infinite self or ¡taman. Thus, here we have discussed regarding the inner peace. We must know that without this inner peace or spiritual peace, external peace or the peace in society is not possible. If we want to talk about world- peace, we must remember that without this spiritual peace world-peace is not possible. Without this inner spiritual peace to talk about the world peace will be mere seeing a dream.

Now we turn to the external peace or the peace of human society. While the inner peace is the peace of our self, external peace is the peace of human society. We can also define it as environmental peace. In Jainism, the Prakrta word 'Khanti' & *Saṁskṛta* equivalent *Kṣanti,* also means forgiveness. In *Sūtrakṛtāṅga,* among ten virtues the first and foremost is forgiveness, which is the basic need for social peace in other words harmonious living in society. It is the state of cessation of wars and hostilities, among individuals and among individuals and society, different social groups as well as nations on the earth. So far as this

outer peace or the peace of the society is concerned, it can also be defined in both ways negatively as well as positively. Defined, negatively it is the state of cessation of wars and hostilities and if defined positively, it is the state of harmonious living of individuals as well as societies and nations. It is the state of social co-operation and co-existence. But we must be aware of the fact that the real external peace is more than non-war. It is a vital peace. It is the state, free from mutual doubts and fears. Absence of actual war, does not mean the state of peace. It is not the state of peace, because where there is the nation of disgust and fear exist, the war exists. In modern world we term it as cold war. War is war, whether it is cold or actual, it disturbs the peace of individual and society. Real external peace is only possible, when our hearts are free from disgust and fear and each and every individual has firm faith not only in the dictum "Live and Let Live', but to "Live for others'.

According to Jaina Philosopher Umasvati-"By nature living beings are made for each other, (Parasparopagrho *jīvānāṁ*)'. So long as our heart are full of disgust and fear and we do not have full control on our selfish animal instincts as well as firm belief in the values of mutual co-operation and co-existence, real social peace on earth will no be possible.

Real peace dawns only if our hearts are full of universal love, which is something different from mere attachment or common good because for Jainas as well as for swami Vivekananda, attachment is always linked with aversion. But universal love is based on the concept of equality of all beings and firm faith in the doctrine that by nature living beings are made for each other. We must also be aware of the fact that this external or environmental peace depends on the mental peace of individuals, since, our external behaviors is only an expression of our inner will and attitude towards life. Thus, these various aspects of peace are not mutually exclusive but inclusive. When the peace of society or in other words the environmental peace disturbed, the inner peace of the individual is disturbed and vice-versa. In my humble opinion hostilities and wars are the expressions and outcomes of sick mentality. It is the aggressive and selfish outlook of an individual or a society or a nation that gives birth to confrontations among individual-minds, individual and society as well as different social or religious groups and nations. At the root of all types of confrontations and wars, which disturb our environmental peace, there lies the feeling of discontentment as well as will for power, possession and hoarding. Thus social disturbances, conflict and confrontations are only symptoms of our mental tensions or sick mentality.

In fact, the peace of society depends on the psychology or mental make-up of its members, but it is also true that our attitude towards life and our behavioral pattern is shaped by our social environment and social training. The behavioral pattern and mentality of the members of non-violent society will surely be different from that of a violent society. While on the one side social norms, ideals and conditions affect the mental make-up and behavioral pattern of the individual, on the other side there are also individuals, who shape the social norms, ideals and conditions.

Though it is correct that in many cases disturbed social conditions and environmental factors may be responsible for vitiating our mental peace, yet they can not disturb the persons of strong spirituality. According to jainism spiritually developed soul remains unaffected at his mental level by external factors. But on the other hand disturbed mental state necessarily affects our social and

environmental peace. Thus for Jainas the inner peace of the soul is the cause and social conditions are effect. Modern tension theory also supports this view. A book namely 'Tension that causes Wars" tells us that economic inequalities, insecurities and frustrations create groups and national conflict, but for Jainas economic inequalities and feeling of insecurities can not disturb those persons, who are spiritually self-contented and free from doubts and fears. So far as the frustrations are concerned they are generated by our ambitions and resentments and can be controlled only by extinction of desires and passions. There fore, we must try first to retain inner peace or the peace of self.

In Jaina texts, we find certain references about the importance and nature of peace. In *Sūtrakṛtāṅga,* it is said that "as the earth is the abode for all living beings so the peace is the abode for all the enlightened beings of past, present and future." These souls having attained the spiritual heights always rest in peace and preach for peace. For Jainas as well as Swami Vivekanand peace means the tranquility or calmness of mind and so they equated the term peace (*Śānti*) with the term equanimity or samata. For them peace rests on mental equanimity and social equality. When mental equanimity is disturbed, inner peace is disturbed and when social equality is disturbed external or social peace is disturbed. Jainism as a religion is nothing but a practice for mental equanimity and social equality. For the same, they use particular prakrta word '*sāmāiay'* (samata), the core principal concept of the Jainism. It is the pivot around which the whole jainism revolves. In English, the term *Sāmāyika* connotes various meaning such as equanimity, tranquility, equality, harmony and righteousness, indifferent contexts. Sometimes it means a balanced state of mind undisturbed by any kind of emotional excitement, pleasure or pain, achievement and disappointment, sometimes it also refers to the personality, completely free from the vectors of aversion and attachment, i.e. a dispassionate personality. These are the intrinsic definitions of 'Samata or *Śānti.*' But when this word is used extrinsically it means the feeling of equality with all the living beings and thus it conveys social equality and social harmony.

Harmony

Peace without harmonious living is impossible and this harmonious way of living depends on the three basic principles of jainism i.e. non-violence (*ahiṁsa*) non-absolutism (*Anekānta*) and non-possessiveness (Aprigraha). Non violence means that every living being has a full right to live on this earth' no body has any right to disturb his peace and existence. It is the regard for all the forms of life. Non absolutism means that we should pay equal regard to others ideologies, faiths and religions. Non possessiveness menas that one can have a limited right to use the gifts of the nature or worldly things but not ownership on them, the others also have an equal right to use them. Thus Jainism as well as Swami Vivekananda presents a way of harmonious and peaceful living on the earth.

Now a days we have not only denied accepting social and religious check-post, but we have also denied natural check-post. Now our life has only accelerator and no brake. Our ambitions and desires have no limits, they always remain unfulfilled and these unfulfilled desires (Kama and Krodha) create frustrations or resentments which are the cause of our mental tensions. Thus we are deprived of mental peace and happiness as well as harmonious living. Thus in this age of science and technology we need the peace and harmony as an only alternatives for the survival of mankind.

-Director, Prachya Vidya Peeth, Shajapur (M.P.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 159
ISSN 2249-2011

जैन श्रावक-व्रतों के सन्दर्भ में सामाजिक-संरचना

डॉ. जिनेन्द्र जैन

यह एक बुद्धिगम्य तथ्य है कि जब तक योजनाबद्ध और सुनियन्त्रित आदर्शमूलक विकास-पथ का सक्रिय अनुसरण मानव-समाज द्वारा न होगा, तब तक वास्तविक उत्कर्ष के उन्नत शिखर पर दृढ़तापूर्वक चरण स्थापित नहीं किये जा सकेंगे। अनेक भौतिक उपलब्धियों के बाद भी आज मानव वास्तविक सुख से वञ्चित है। मानव-जाति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ का महत्त्व अङ्गीकार किया गया है इसीलिए धर्म के साथ अर्थ रखने का फलितार्थ यह है कि अर्थ का उपयोग धर्म द्वारा नियन्त्रित हो और धर्म अर्थ द्वारा प्रवृत्त्यात्मक बने। इस दृष्टि से धर्म एवं अर्थ का सम्बन्ध सन्तुलित अर्थव्यवस्था और समाज-रचना का समाजवादी दृष्टिकोण स्थापित करने में सहायक बनता है। धर्म मानव-जीवन की आध्यात्मिक एवं धार्मिक शक्तियों के साथ-साथ सामाजिक विकास और उसके रक्षण के लिए भी आवश्यक व्यवस्था देता है। अतः समाज-व्यवस्था के सूत्रों के धरातल पर धर्म आर्थिक तत्त्वों से जुड़ता है।

जैनधर्म केवल निवृत्तिमूलक दर्शन नहीं है, बल्कि उसके प्रवृत्त्यात्मक रूप में अनेक ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं, जिनमें निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय होकर धर्म का लोकोपकारी रूप प्रकट हुआ है। इस दृष्टि से जैनधर्म जहाँ एक ओर अपरिग्रही, महाव्रतधारी अनगार धर्म के रूप में निवृत्तिप्रधान दिखाई देता है, तो दूसरी ओर मर्यादित प्रवृत्तियाँ करने वाले अणुव्रतधारी श्रावक धर्म की गतिविधियों में सम्यक् नियन्त्रण करने वाला दिखाई देता है। समाज-रचना के समाजवादी दृष्टिकोण में दोनों (अनगार एवं श्रावक) वर्ग सदा अग्रणी रहे हैं।

समाज-रचना में राजनीति और अर्थनीति के धरातल पर यदि जैनदर्शन के अहिंसात्मक स्वरूप का प्रयोग करें तो आधुनिक युग में समतावादी दृष्टिकोण को स्थापित किया जा सकता है। **महात्मा गाँधी ने भी आर्थिक क्षेत्र में ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त दिया तथा आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं का सञ्चय न करना, शरीर-श्रम, स्वादविजय, उपवास आदि के जो प्रयोग किये, उनमें जैनदर्शन के प्रभावों को सुगमता से रेखांकित किया जा सकता है।**

जैनदर्शन का मूल लक्ष्य वीतरागभाव अर्थात् राग-द्वेष से रहित समभाव की स्थिति प्राप्त करना है। समभाव रूप समता में स्थित रहने को ही धर्म कहा गया है।[1] समता धर्म का पालन श्रमण के लिए प्रति समय आवश्यक है।[2] इसीलिए जैन परम्परा में समता में स्थित जीव को ही श्रमण कहा गया है। जब तक हृदय में या समाज में विषम भाव बने रहते हैं, तब तक समभाव की स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती। समतावादी समाज-रचना के लिए यह आवश्यक है कि विषमता के जो कई स्तर, यथा-सामाजिक विषमता, वैचारिक विषमता, दृष्टिगत विषमता, सैद्धान्तिक विषमता आदि प्राप्त होते हैं, उनमें व्यावहारिक रूप से समानता होनी चाहिए। समतावादी समाज-रचना की प्रमुख विषमता आर्थिक क्षेत्र में दिखाई देती है। आर्थिक वैषम्य की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उससे अन्य विषमता के वृक्षों को पोषण मिलता रहता है। आर्थिक विषमता के

* आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा. के सान्निध्य में 5-6 नवम्बर 2011 को जोधपुर में आयोजित 'अध्यात्म, समाज और भ्रष्टाचार' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

कारण निजी स्वार्थों की पूर्ति से मन में कषायभाव जागृत होते हैं। फलतः समाज में पापोन्मुखी प्रवृत्तियाँ पनपने लगती हैं। लोभ और मोह पापों के मूल कहे गये हैं। मोह, राग-द्वेष के कारण ही व्यक्ति समाज में पापयुक्त प्रवृत्ति करने लगता है।[3] इसलिए इनके नष्ट हो जाने से आत्मा को समता में अधिष्ठित कहा गया है।[4]

समाज में व्याप्त इस आर्थिक वैषम्य का कारण जैनदर्शन में परिग्रह माना गया है। यह आसक्ति, अर्थ-मोह या परिग्रह कैसे टूटे, इसके लिए जैनधर्म में श्रावक के लिए बारह व्रतों की व्यवस्था की गई है। समतावादी समाज-रचना के लिए आवश्यक है कि न मन में विषम भाव रहें और न प्रवृत्ति में वैषम्य दिखाई दे। यह तभी सम्भव है जब धार्मिक और आर्थिक स्तर पर परस्पर समतावादी दृष्टिकोण को अपनाएँ। प्रत्येक मनुष्य को विकास के समान अवसर एवं साधन उपलब्ध हों-इसे समाजवाद का मूल सिद्धान्त माना गया है। मानव-मात्र की समानता समतावादी समाज की रचना का व्यावहारिक लक्ष्य है। जैनदर्शन में धार्मिक प्रेरणा से जो अर्थशास्त्र उभरा है, वह इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन कर सकता है।

जैन आगमों में ज्ञाताधर्मकथा द्वादशाङ्गी के अन्तर्गत परिगणित है। इसके पञ्चम अध्ययन में शैलक का कथानक दिया गया है, जिसमें एक प्रसङ्ग थावच्चा पुत्र एवं शुक के बीच हुआ संवाद यहाँ अपरिग्रह की प्रवृत्ति को दर्शाने के लिए द्रष्टव्य है-

शुक परिव्राजक ने प्रश्न किया-'भगवन्! आपके लिए 'सरिसवया' भक्ष्य हैं या अभक्ष्य हैं।'

थावच्चापुत्र ने उत्तर दिया-'हे शुक! 'सरिसवया' हमारे लिए भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं।'

शुक ने पुनः प्रश्न किया-'भगवन्! किस अभिप्राय से ऐसा कहते हैं कि 'सरिसवया भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं?'

थावच्चापुत्र उत्तर देते हैं-'हे शुक! 'सरिसवया' दो प्रकार के कहे गये हैं- मित्र-सरिसवया (सदृश वय वाले मित्र) और धान्य-सरिसवया (सरसों)। इनमें जो मित्र-सरिसवया हैं वे तीन प्रकार के हैं। वे इस प्रकार हैं-1. साथ जन्मे हुए, 2. साथ बढ़े हुए, 3. साथ-साथ धूल में खेले हुए। यह तीन प्रकार के मित्र-सरिसवया श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

जो धान्य-सरिसवया (सरसों) हैं, दो प्रकार के हैं-शस्त्रपरिणत और अशस्त्रपरिणत। उनमें जो अशस्त्रपरिणत हैं अर्थात् जिनको अचित्त करने के लिए अग्नि आदि शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया गया है, अतएव जो अचित्त नहीं हैं, वे श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

जो शस्त्रपरिणत हैं, वे दो प्रकार के हैं-प्रासुक और अप्रासुक। हे शुक! अप्रासुक भक्ष्य नहीं हैं। उनमें जो प्रासुक हैं, वे दो प्रकार के हैं-याचित (याचना किये हुए) और अयाचित (नहीं याचना किये हुए)। उनमें जो अयाचित हैं, वे अभक्ष्य हैं। उनमें जो याचित हैं, वे दो प्रकार के हैं। यथा-एषणीय और अनेषणीय। उनमें जो अनेषणीय हैं, वे अभक्ष्य हैं।

जो एषणीय हैं, वे दो प्रकार के हैं-लब्ध (प्राप्त) और अलब्ध (अप्राप्त)। उनमें जो अलब्ध हैं, वे अभक्ष्य हैं। जो लब्ध हैं वे निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य हैं।

'हे शुक! इस अभिप्राय से कहा है कि सरिसवया भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं।'

ज्ञाताधर्मकथा के उक्त दृष्टान्त में यद्यपि श्रमण के भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेचन किया गया है, किन्तु विषय के आलोक में यहाँ यह विशेष रूप से कहा जा सकता है कि अभक्ष्य का त्याग अनावश्यक संग्रह एवं हिंसा के त्याग की भावना को

व्यक्त करता है। यदि व्यक्ति संयमपूर्ण आहार को ग्रहण करता है तो एक ओर उसके स्वास्थ्य और धर्म-आराधना का पालन तो होता ही है, साथ ही साथ आर्थिक दृष्टि से भी वह अपने आपको समृद्ध करता है। अतः समतावादी समाज-रचना के लिए जैनदर्शन के सन्दर्भ में निम्नांकित आर्थिक बिन्दुओं को रेखांकित किया जा सकता है-

1. अहिंसा की व्यावहारिकता
2. श्रम की प्रतिष्ठा
3. दृष्टि की सूक्ष्मता
4. आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन
5. साधन-शुद्धि पर बल
6. अर्जन का विसर्जन

1. अहिंसा की व्यावहारिकता-

अहिंसा के सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।

अर्थात् जहाँ रागादि भावों का अभाव होगा, वहीं अहिंसा का प्रादुर्भाव हो सकता है-ऐसा जैन परम्परा में स्वीकार किया गया है। महावीर ने समता के साध्य को प्राप्त करने के लिए अहिंसा को साधन रूप बताया है। अहिंसा मात्र नकारात्मक शब्द नहीं है, बल्कि इसके विविध रूपों में इसका सर्वाधिक महत्त्व सामाजिक होता है। वैभवसम्पन्नता, दानशीलता, व्यावसायिक कुशलता, ईमानदारी, विश्वसनीयता और प्रामाणिकता जैसे विभिन्न अर्थप्रधान क्षेत्रों में अहिंसा की व्यावहारिकता को अपनाकर श्रेष्ठता का मापदण्ड सिद्ध किया जा सकता है। अहिंसा की मूल भावना यह होती है कि अपने स्वार्थों, अपनी आवश्यकताओं को उसी सीमा तक बढ़ाओ, जहाँ तक वे किसी अन्य प्राणी के हितों को चोट नहीं पहुँचाती हो। अहिंसा इस रूप में व्यक्ति-संयम भी है और सामाजिक-संयम भी।

2. श्रम की प्रतिष्ठा

साधना के क्षेत्र में श्रम की भावना सामाजिक स्तर पर समादृत हुई। इसीलिए महावीर ने कर्मणा श्रम की व्यवस्था को प्रतिष्ठापित करते हुए कहा कि व्यक्ति कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता है।[5] उन्होंने जन्मना जाति के स्थान पर कर्म को मान्यता देकर श्रम के सामाजिक स्तर को उजागर किया, जहाँ से श्रम अर्थ-व्यवस्था से जुड़ा और कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि की प्रतिष्ठा बढ़ी।

जैन मान्यतानुसार सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में जब कल्पवृक्षादि साधनों से आवश्यकताओं की पूर्ति होना सम्भव न रहा, तब भगवान् ने असि और कृषि रूप जीविकोपार्जन की कला विकसित की और समाज की स्थापना में प्रकृति-निर्भरता से श्रम-जन्य आत्म-निर्भरता के सूत्र दिए। यही श्रमजन्य आत्मनिर्भरता जैन परम्परा में आत्म-पुरुषार्थ और आत्म-पराक्रम के रूप में फलित हुई। अतः साधना के क्षेत्र में श्रम एवं पुरुषार्थ की विशेष प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि व्यक्ति श्रम से परमात्म दशा प्राप्त कर लेता है। उपासकदशाङ्गसूत्र में भगवान महावीर और कुम्भकार सद्दालपुत्र का जो प्रसङ्ग वर्णित है, उससे स्पष्ट होता है कि गोशालक का आजीवक मत नियतिवादी है तथा भगवान् महावीर का मत श्रमनिष्ठ आत्म-पुरुषार्थ और आत्मपराक्रम को ही अपनी उन्नति का केन्द्र बनाता है।

3. दृष्टि की सूक्ष्मता

धर्म के तीन लक्षण माने गये हैं-अहिंसा, संयम और तप। ये तीनों ही दुःख के स्थूल कारण पर न जाकर दुःख के सूक्ष्म कारण पर चोट करते हैं। मेरे दुःख का कारण कोई दूसरा नहीं, स्वयं मैं ही हूँ। अतः दूसरे को चोट पहुँचाने की बात न सोचूँ-यह अहिंसा है। **"मित्ती मे सव्वभूएसु"**[6] को सार्वजनिक बनाना होगा। अपने को अनुशासित करूँ-यह संयम है। अतः दुःखों से उद्वेलित होकर अविचारपूर्वक होने वाली प्रतिक्रिया न करूँ-इसे

परीषहजय भी कहते हैं तथा दुःख के प्रति स्वेच्छा से प्रतिकूल परिस्थिति को आमन्त्रित करना तप है। अतः अहिंसा, संयम और तप रूप इन तीनों उत्कृष्ट मंगल[7] के प्रति हमारी प्रवृत्ति समरूप रहे। अपने आपको प्रतिकूल परिस्थितियों की दासता से मुक्त बनाये रखें और सब प्रकार की परिस्थितियों में अपना समभाव बना रहे, क्योंकि **समया धम्ममुदाहरे मुणी**[8] अर्थात् अनुकूलता में प्रफुल्लित न होना और प्रतिकूलता में विचलित न होना समता है। ऐसी सूक्ष्म दृष्टि रखने पर सामाजिक प्रवृत्ति समतापूर्वक की जा सकती है।

4. आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन

आधुनिक समाज की रचना श्रम पर आधारित होते हुए भी संघर्ष और असन्तुलन पूर्ण हो गई है। जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा होने पर जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं का उत्पाद और विनिमय प्रारम्भ हुआ। अर्थ-लोभ ने पूँजी को बढ़ावा दिया। फलतः औद्योगीकरण, यन्त्रवाद, यातायात, दूरसञ्चार तथा अत्याधुनिक भौतिकवाद के हावी हो जाने से उत्पादन और वितरण में असन्तुलन पैदा हो गया। समाज की रचना में एक वर्ग ऐसा बन गया, जिसके पास आवश्यकता से अधिक पूंजी और भौतिक संसाधन जमा हो गये तथा दूसरा वर्ग ऐसा बना, जो जीवन-निर्वाह की आवश्यकता को भी पूरी करने में असमर्थ रहा। **फलस्वरूप श्रम के शोषण से बढ़े वर्ग-संघर्ष की मुख्य समस्या ने अन्तरराष्ट्रीय समस्या का रूप ले लिया।**

इस समस्या के समाधान में समाजवाद, साम्यवाद जैसी कई विचारधाराएँ आयीं, किन्तु सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। भगवान महावीर ने आज से लगभग 2,500 वर्ष पूर्व इस समस्या के समाधान के कुछ सूत्र दिए, जिनके सन्दर्भ में समतावादी समाज की रचना की जा सकती है। ये सूत्र अर्थ-प्रधान होते हुए भी जैनधर्म के साधना-सूत्र कहे जा सकते हैं। **महावीर ने श्रावकवर्ग की आवश्यकताओं एवं उपयोग का चिंतन कर हर क्षेत्र में मर्यादा एवं परिसीमन पूर्वक आचरण करने के लिए बारह व्रतों का विधान किया है।** जैन आगम उपासकदशाङ्ग के प्रथम अध्ययन आनन्द श्रावक में वर्णित बारह व्रतों का विधान इस प्रकार है-

''अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा- पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं। पंच अणुव्वयाइं तं जहा-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणे। तिण्णि गुणव्वयाइं तं जहा- अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उवभोग-परिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिक्खावयाइं तं जहा- सामाइयं, देसावगासियं, पोसहोववासे, अतिहि-संविभागे, अपच्छिमा-मारणंतिया-संलेहणा-झूसणाराहणा, अयमाउसो! अगार-सामाइए धम्मे पण्णत्ते एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ।''

भगवान ने अगारधर्म बारह प्रकार का बतलाया- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत। पाँच अणुव्रत इस प्रकार हैं-

1. स्थूल-मोटे तौर पर, अपवाद रखते हुए प्राणातिपात से निवृत्त होना।
2. स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना।
3. स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना।
4. स्वदारसन्तोष-अपनी परिणीता पत्नी तक मैथुन की सीमा करना।
5. इच्छा-परिग्रह की इच्छा का परिमाण या सीमाकरण करना।

तीन गुणव्रत इस प्रकार हैं-

1. **अनर्थदण्ड-विरमण**-आत्मा के लिए अहितकर या आत्मगुणघातक निरर्थक प्रवृत्ति का त्याग।
2. **दिग्व्रत**-विभिन्न दिशाओं में जाने के सम्बन्ध में मर्यादा या सीमाकरण।
3. **उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत**-उपभोग-जिन्हें एक बार भोगा जा सके, ऐसी वस्तुएँ-जैसे

भोजन आदि तथा परिभोग जिन्हें अनेक बार भोगा जा सके–जैसे वस्त्र आदि। इनका परिमाण–सीमाकरण।

चार शिक्षाव्रत इस प्रकार हैं–

1. **सामायिक**–समता या समत्वभाव की साधना के लिए एक नियत समय (न्यूनतम एक मुहूर्त्त–48 मिनिट) में किया जाने वाला अभ्यास।
2. **देशावकाशिक**–नित्य प्रति अपनी प्रवृत्तियों में निवृत्ति–भाव की बुद्धि का अभ्यास।
3. **पोषधोपवास**–अध्यात्म–साधना में अग्रसर होने के लिए यथाविधि आहार, अब्रह्मचर्य आदि का त्याग तथा
4. **अतिथि–संविभाग**–जिनके आने की कोई तिथि नहीं, ऐसे अनिमन्त्रित संयमी साधक या साधर्मिक बन्धुओं को संयमोपयोगी एवं जीवनोपयोगी अपनी अधिकृत सामग्री का एक भाग आदरपूर्वक देना, सदा मन में ऐसी भावना बनाए रखना कि ऐसा अवसर प्राप्त हो।

तितिक्षापूर्वक अन्तिम मरण रूप संलेखना–तपश्चरण, आमरण अनशन की आराधनापूर्वक देहत्याग श्रावक की इस जीवन की साधना का पर्यवसान है, जिसकी एक गृही साधक भावना लिए रहता है।

इनके पालने से दैनिक जीवन में आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन हो जाता है। परिसीमन के निम्नलिखित सूत्र हैं–

(क) इच्छा परिमाण

महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धान्त देकर आवश्यकताओं को मर्यादित कर दिया। सिद्धान्तानुसार समतावादी समाज–रचना में यह आवश्यक हो गया कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का सञ्चय न करें। मनुष्य की इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं[9] और लाभ के साथ ही लोभ के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है, क्योंकि चाँदी–सोने के कैलाश पर्वत भी व्यक्ति को प्राप्त हो जाएँ, तब भी उसकी इच्छा पूरी नहीं हो सकती।[10] अतः इच्छा का नियमन आवश्यक है। इस दृष्टि से श्रावकों के लिए परिग्रह–परिमाण या इच्छा परिमाण व्रत की व्यवस्था की गयी है। अतः मर्यादा से व्यक्ति अनावश्यक संग्रह और शोषण की प्रवृत्ति से बचता है। सांसारिक पदार्थों का परिसीमन जीवन–निर्वाह को ध्यान में रखते हुए किया गया है, वे हैं–1. क्षेत्र (खेत आदि भूमि), 2. हिरण्य (चाँदी), 3. वास्तु (निवास योग्य स्थान), 4. स्वर्ण (सोना), 5. धन (अन्य मूल्यवान पदार्थ) (ढले हुए या घी, गुड़ आदि), 6. धान्य (गेहूँ, चावल, तिल आदि), 7. द्विपद (दो पैर वाले), 8. चतुष्पद (चार पैर वाले), 9. कुप्य (वस्त्र, पात्र, औषधि आदि)।

(ख) दिक्परिमाण व्रत

भगवान महावीर का दूसरा सूत्र है–दिक् परिमाणव्रत। विभिन्न दिशाओं में आने–जाने के सम्बन्ध में मर्यादा या निश्चय करना कि अमुक दिशा में इतनी दूरी से अधिक नहीं जाऊँगा। इस प्रकार की मर्यादा से वृत्तियों के संकोच के साथ–साथ मन की चञ्चलता समाप्त होती है तथा अनावश्यक लाभ अथवा संग्रह के अवसरों पर स्वैच्छिक रोक लगती है। क्षेत्र सीमा का अतिक्रमण करना अन्तरराष्ट्रीय कानून की दृष्टि में अपराध माना जाता है। अतः इस व्रत का पालन करने से दूसरे के अधिकार क्षेत्र में उपनिवेश बसा कर लाभ कमाने की या शोषण करने की वृत्ति से बचाव होता है। इस प्रकार के व्रतों से हम अपनी आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन कर समतावादी समाज–रचना में सहयोग कर सकते हैं।

(ग) उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत

उपभोग–परिभोग परिमाण–व्रत श्रावकों का एक अन्य व्रत है। दिक् परिमाणव्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर तथा वहाँ की वस्तुओं से निवृत्ति हो जाती है, किन्तु मर्यादित क्षेत्र के अन्दर और वहाँ की वस्तुओं के उपभोग (एक बार उपभोग), परिभोग (बार–बार उपभोग) में भी अनावश्यक लाभ और संग्रह की वृत्ति न

हो, इसके लिए इस व्रत का विधान है। जैन आगम में वर्णित इस व्रत की मर्यादा का उद्देश्य यही है कि व्यक्ति का जीवन सादगीपूर्ण हो और वह स्वयं जीवित रहने के साथ-साथ दूसरों को भी जीवित रहने के अवसर और साधन प्रदान कर सके। व्यर्थ के संग्रह और लोभ से निवृत्ति के लिए इन व्रतों का विशेष महत्त्व है।

(घ) देशावकाशिक व्रत

दिक्परिमाण एवं उपभोग-परिभोग परिमाण के साथ-साथ देशावकाशिक व्रत का भी विधान श्रावक के लिए किया गया है, जिसके अन्तर्गत दिन-प्रतिदिन उपभोग-परिभोग एवं दिक्परिमाण व्रत का और भी अधिक परिसीमन करने का उल्लेख किया गया है अर्थात् एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को कभी घटा देना, आवागमन के क्षेत्र एवं भोगोपभोग्य पदार्थों की मर्यादा कम कर देना, इस व्रत की व्यवस्था में है। श्रावक के लिए देशावकाशिक व्रत में 14 विषयों का चिन्तन कर प्रतिदिन के नियमों में मर्यादा का परिसीमन किया गया है। वे चौदह विषय हैं-

सचित्त दव्व विगई, पन्नी, ताम्बूलवत्थकुसुमेसु।
वाहण सयण विलेवण, बम्भ दिसि नाहण भत्तेसु।।[11]

इन नियमों से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी जाती है, उसका संकोच होता है और आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर सीमित होती हैं।

उक्त सभी व्रतों में जिन मर्यादाओं की बात कही गयी है, वह व्यक्ति की अपनी इच्छा और शक्ति पर निर्भर है। भगवान महावीर ने यह नहीं कहा कि आवश्यकताएँ इतनी-इतनी सीमित हों। उनका मात्र संकेत इतना था कि व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अपनी शक्ति और सामर्थ्यवश आवश्यकताओं-इच्छाओं को परिसीमित व नियन्त्रित करे, जिससे समतावादी समाज का निर्माण किया जा सके।

5. साधन-शुद्धि पर बल

साधन-शुद्धि पर बल देकर भी समतावादी समाज की रचना करने के कुछ सूत्र महावीर ने दिए। अणुव्रतों के द्वारा व्यक्ति की प्रवृत्ति न केवल धर्म या दर्शन के क्षेत्र में विकसित होती है, बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी अणुव्रतों का पालन समतावादी समाज-रचना का हेतु अथवा साधन माना जाता है। साधन-शुद्धि में विवेक, सावधानी और जागरूकता का बड़ा महत्त्व है।

जैनदर्शन में साधन-शुद्धि पर विशेष बल इसलिए भी दिया गया है कि उससे व्यक्ति का चरित्र प्रभावित होता है। **बुरे साधनों से एकत्रित किया हुआ धन अन्ततः व्यक्ति को दुर्व्यसनों की ओर ले जाता है और उसके पतन का कारण बनता है।** तप के बारह प्रकारों में अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या और रस परित्याग भोजन से ही सम्बन्धित हैं। इसीलिए खाद्य शुद्धि-संयम प्रकारान्तर से साधन-शुद्धि के ही रूप बनते हैं।

अहिंसा की व्यावहारिकता की तरह ही सत्याणुव्रत एवं अस्तेयाणुव्रत का साधन-शुद्धि के सन्दर्भ में महत्त्व है। ये विभिन्न व्रत साधन की पवित्रता के ही प्रेरक और रक्षक हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थार्जन करने में व्यक्ति को स्थूल हितों से बचना चाहिए। सत्याणुव्रत में सत्य के रक्षण और असत्य से बचाव पर बल दिया गया। व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए, कन्नालीए (कन्या के विषय में), गवालीए (गौ के विषय में), भोमालीए (भूमि के विषय में), णासावहारे (अर्थात् धरोहर के विषय में झूठ न बोलें) तथा कूडसक्खिजे (झूठी साक्षी न दें) इनका उपयोग व उपभोग न करे। अर्थ की दृष्टि से सत्याणुव्रत का पालन कोर्ट-कचहरी में झूठे दस्तावेजों में तथा भ्रष्टाचार एवं रिश्वतखोरी में नहीं हो पाता, क्योंकि इन सभी क्षेत्रों में अर्थ की प्रधानता होने से असत्य का आश्रय लिया जाता है, जिससे समाज के मूल्य ध्वस्त हो जाते हैं। इसीलिए सत्याणुव्रत समाज-रचना का आधार बन सकता है।

अस्तेय व्रत की परिपालना का भी साधन-शुद्धता की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। मन, वचन और काय द्वारा दूसरों के हकों का स्वयं हरण करना और दूसरों से हरण करवाना चोरी है। आज चोरी के साधन स्थूल से सूक्ष्म

बनते जा रहे हैं। खाद्य वस्तुओं में मिलावट करना, झूठा जमा-खर्च बताना, जमाखोरी द्वारा वस्तुओं की कीमत घटा या बढ़ा देना, ये सभी कर्म चोरी के हैं। इन सभी सूक्ष्म तरीकों से चौर्यवृत्ति के कारण ही मुद्रा-स्फीति का इतना प्रसार है और विश्व की अर्थव्यवस्था उससे प्रभावित हो रही है। अतः **अर्थ-व्यवस्था सन्तुलन के लिए आजीविका के जितने भी साधन हैं और पूँजी के जितने भी स्रोत हैं, उनका और पवित्र होना आवश्यक है,** तभी हम समतावादी समाज का निर्माण कर सकते हैं।

इसी सन्दर्भ में भगवान महावीर ने आजीविकोपार्जन के उन कार्यों का निषेध किया है, जिनसे पापवृत्ति बढ़ती है। वे कार्य कर्मादान कहे गये हैं। अतः साधन-शुद्धि के अभाव में इन कर्मादानों को लोक में निन्द्य बताया गया है। इनको करने से सामाजिक प्रतिष्ठा भी समाप्त होती है। कुछ कर्मादान हैं, जैसे-

1. इंगालकर्म (कोयला बनाना आदि)।
2. रसवाणिज्जे (शराब आदि मादक पदार्थों का व्यापार करना)।
3. विसवाणिज्जे (अफीम आदि का व्यापार)।
4. केसवाणिज्जे (सुन्दर केशों का क्रय-विक्रय)।
5. दवग्गिदावणियाकम्मे (वन जलाना)।
6. असईजणपोसणयाकम्मे (असतीजन/असामाजिक तत्त्वों का पोषण करना आदि)।

6. अर्जन का विसर्जन

अर्जन का विसर्जन भी आवश्यक है। इसे जैनदर्शन में स्वीकार्य दान एवं त्याग तथा संविभाग के साथ जोड़ सकते हैं। महावीर ने अर्जन के साथ-साथ विसर्जन की बात कही। अर्जन का विसर्जन तभी हो सकता है, जब हम अपनी आवश्यकताओं को नियंत्रित एवं मर्यादित कर लेते हैं। स्वैच्छिक परिसीमन के साथ ही अर्जन का विसर्जन लगा हुआ है। उपासकदशांग सूत्र में दस आदर्श श्रावकों का वर्णन है, जिनमें आनन्द, नन्दिनीपिता और सालिहीपिता की सम्पत्ति का विस्तृत वर्णन आता है। इससे यह स्पष्ट है कि महावीर ने कभी गरीबी का समर्थन नहीं किया। उनका प्रहार या चिन्तन धन के प्रति रही हुई मूर्च्छावृत्ति पर है। वे व्यक्ति को निष्क्रिय या अकर्मण्य बनने को नहीं कहते, पर उनका बल अर्जित सम्पत्ति को दूसरों में बाँटने पर है। उनका स्पष्ट उद्घोष है-**असंविभागी ण हु तस्स मोक्खो** अर्थात् जो अपने प्राप्त को दूसरों में बाँटता नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होती। अर्जन के विसर्जन का यह भाव उदार और संवेदनशील व्यक्ति के हृदय में ही जागृत हो सकता है।

भगवतीसूत्र में तुंगियानगरी के श्रावकों का उल्लेख मिलता है, जिनके घरों के द्वार अतिथियों के लिए सदा खुले रहते थे। अतिथियों में साधुओं के अतिरिक्त जरूरतमन्द लोगों का भी समावेश है।

जैनदर्शन में दान और त्याग जैसी जनकल्याणकारी वृत्तियों का विशेष महत्त्व है। आवश्यकता से अधिक सञ्चय न करना और मर्यादा से अधिक का जरूरतमन्द लोगों में वितरित कर देने की भावना समाज के प्रति कर्त्तव्य और दायित्व बोध के साथ-साथ जनतान्त्रिक समाजवादी शासन-व्यवस्था को जन्म देना कहा जा सकता है। **दान का उद्देश्य समाज में ऊँच-नीच कायम करना नहीं, वरन् जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक वस्तुओं का सम-वितरण करना है।** दान केवल अर्थ दान तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान तथा अभयदान इन रूपों में भी दान को जैन दृष्टिकोण से समझाया गया है। अतः अर्थ का अर्जन के साथ-साथ विसर्जन करके समाज को नया रूप दिया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैनदर्शन में जिन आर्थिक तत्त्वों का गुम्फन किया गया है, उनकी आज के सन्दर्भ में बड़ी प्रासङ्गिकता है और धर्म तथा अर्थ की चेतना परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूरक है।

सन्दर्भ-सूची

1. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते- आचारांग सूत्र 5.3.45

2. मूलाचार 7.521 3. प्रवचनसार 1.84
4. मोहक्खोहविहीणो परिमाणो अप्पणो हु समो। – प्रवचनसार 1.7
5. कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।। – उत्तराध्ययनसूत्र 25.33
6. समणसुतं– 86 7. दशवैकालिक 1.1
8. आचाराङ्गसूत्र
9. इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया। उत्तराध्ययन सूत्र 9.48
10. सुवण्णरूपस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स ण तेहिं किंचि, इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया।। –उत्तराध्ययनसूत्र 9.48
11. 1. सचित्तवस्तु, 2. द्रव्य, 3. विगय, 4. जूते, 5. पान, 6. वस्त्र, 7. पुष्प, 8. वाहन, 9. शयन, 10. विलेपन, 11. ब्रह्मचर्य, 12. दिशा, 13. स्नान, 14. भोजन।

–प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग, मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर(राज.)

संयम का संकल्प भी दुःखहारक

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.

(दूदू में 11 फरवरी 2016 को सम्पन्न चार मुमूक्षु बहनों की भागवती दीक्षा के पूर्व 9 फरवरी, 2016 को पूज्य आचार्यप्रवर द्वारा प्रदत्त प्रवचन का अंश)

''पडिक्कमामि एगविहे असंजमे।'' मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, एक प्रकार के असंयम से। ''जे के वि गया मोक्खं'' जो–जो भी मोक्ष में गये हैं वे सब असंयम से प्रतिक्रमण करके सामायिक से ही मोक्ष गये हैं। असंयम से निवृत्ति एवं संयम में प्रवृत्ति का लक्ष्य रखना ही मोक्ष मार्ग की ओर चरण बढ़ाना है। संग्रहनय के अनुसार एकमात्र संयम ही मोक्ष का द्वार है। **संयम का स्मरण मात्र भी सुख देने वाला है। अन्तर्मुहूर्त्त में सारे कर्म बन्धन काटने वाला यह संयम ही है।** जयपुर के श्रेष्ठी सुजानमलजी के गोडे में तकलीफ थी। सारे उपाय विफल होने पर चिन्तन चला। यदि दर्द से मुक्त हो जाऊँ तो संयम पथ पर चरण बढ़ा लूँगा। संयम शब्द के स्मरण मात्र और चिन्तन के प्रभाव से उनका रोग शमन हुआ और संयम पथ पर आरूढ़ हो गये। अनाथी मुनि की बात कहूँ, रोग के निदान के लिए तिजोरी के दरवाजे खोल दिये, दुआएँ की गईं, पर रोग घटने का नाम नहीं ले रहा था। आखिर रात्रि में चिन्तन किया कि यदि पीड़ा शान्त हो जाए तो दीक्षा अङ्गीकार कर लूँगा। प्रातःकाल होते ही अनुभव किया कि रोग का नामोनिशान नहीं है और वे दीक्षित हो अनाथ से सनाथ बन गये।

साधु का जीवन उन्नत है तो श्रावकों का जीवन ऊँचा उठाने में सहायक बनेगा। पाँच बातें छोड़ने से ही संयम होता है–मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय एवं अशुभयोग। हम जितनी सरलता–सौम्यता से रहेंगे, उतनी ही सौरभ सुरक्षित रह सकती है। ज्यादा आरम्भ–समारम्भ, शादी जैसी साज–सज्जा कर दिखावा करना यह कौनसी भक्ति व धर्म का रूप है? राग नहीं हो, द्वेष नहीं हो, यह ही संयम की सच्ची दिशा है। हमारे कषाय शून्य हों, ऐसा संयम ही मोक्ष का साधन है। धर्म का मूल विनय है, विनय हर व्यवहार में झलकना चाहिये। जिन–जिन का उपकार रहा है, ऋण रहा है, मैं ऋण से मुक्त होऊँ, मेरे ऋण उऋण हों, अन्तर में उपकारियों के प्रति ऐसे भाव रहने ही चाहिये। संयम मोक्ष दाता है, संयम में ही मोक्ष है। हम हमारी अहंकार वृत्ति का त्यागकर वीतरागता लाएँ। यही संयम का लक्ष्य है।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 167
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली का महनीय अङ्ग 'प्रतिक्रमण'*

प्रो. सुदीप कुमार जैन

अतीत की विकृत इबारत को सुकृत से परिष्कृत कर जीवन एवं चिन्तन दोनों को संस्कारित करने की अनूठी प्रक्रिया का नाम प्रतिक्रमण है। लोकोक्ति है कि गलतियाँ इंसान से ही होती हैं, उन्हें करने भगवान नहीं आते, और उन्हें सुधारता भी इंसान ही है, सुधारने भी भगवान नहीं आते। हाँ, इतना अवश्य है कि जो इंसान अपनी गलतियों को सुधारकर पूर्णतः निर्दोष बनने की दुर्धर्ष-साधना कर लेता है, अपनी साधना की चरम स्थिति में वही भगवान बन जाता है। परमात्मपद पा लेता है-यह जैनदर्शन की अत्यन्त मौलिक-प्रतिपत्ति है, जो प्रायः अन्यत्र दुर्लभ है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि जब तक जीवन में गलतियों की गुञ्जाइश है, तथा उन्हें सुधारने की संकल्प शक्ति एवं प्रयत्नशीलता है, तभी तक 'इंसान' और 'इंसानियत' है, जिसे 'मानव' और 'मानवीयता' भी कहा जाता है। जब गलतियाँ हों और उन्हें सुधारने की चाह भी न हो और न ही ऐसा प्रयत्न किया जाये, बल्कि गलती पर गलती कर इस अपराधवृत्ति को अक्षुण्ण बनाने की प्रक्रिया जिसके जीवन में चलती रहे, तो भला शैतान संज्ञा का अधिकारी इसके अलावा और कौन हो सकता है? 'इंसान' की 'इंसानियत' में सुधार की प्रक्रिया सघन-सघनतर-सघनतम होती जाए और गलतियों की आवृत्ति विरल-विरलतर-विरलतम होती जाए तो फिर इंसान को भगवान बनने से, आत्मा को परमात्मा बनने से कौन रोक सकता है।

'शैतानियत' से बचकर इंसानियत को अपनाकर भगवान बनने की इस समग्र प्रक्रिया में जो सबसे अहम् बिन्दु उभरकर सामने आ रहा है, वह है **गलतियों को सुधारने की दृढ़ संकल्पशक्ति, नैष्ठिक प्रयत्न और इसकी अनवरतता।** अब प्रमुख प्रश्न यह है कि दोष-सुधार ही इस सात्त्विक किन्तु सर्वोत्कृष्ट प्रक्रिया को हम कैसे, कब और कहाँ से जानें, पहिचानें और जीवन में अपनाएँ? प्रायः सभी दर्शनों ने इस दिशा में किसी न किसी रूप में दिग्दर्शन किया है, किन्तु इस दिशा में सबसे स्फीत, सबसे विशद, सबसे विस्तृत एवं सर्वाधिक वैज्ञानिक विवेचन 'जैनदर्शन' में मिलता है। जैनदर्शन की इस प्रक्रिया का नाम है 'प्रतिक्रमण।'

क्या है प्रतिक्रमण?

यह दोष सुधार की आत्मप्रेरित-प्रक्रिया है। अपनी गलती को पहिचानना, उसे स्वीकार करना और उसके प्रति हृदय से खेद व्यक्त करते हुए पुनः उसे न होने देने की संकल्पशक्ति जुटाना आवश्यक है। अपने दोषों को दूर करने हेतु आत्मोन्नति की यह श्रेष्ठ प्रक्रिया है, जिसे व्यक्ति स्वयं अंतःप्रेरणा से करता है।

यह प्रक्रिया व्यक्ति को नैतिक एवं आध्यात्मिक स्तरों पर उन्नत बनाती है। यदि हम अपने दोषों को न पहिचानें, उन्हें स्वीकार न करें और उन्हें दूर करने का सच्चा प्रयत्न नहीं करें, तो वे दोष हमारे निर्मल-आत्म स्वरूप को उसी तरह ढक लेंगे, जैसे किसी निर्मल-दर्पण को धूल का आवरण धीरे-धीरे इस तरह ढक लेता है कि उस निर्मल स्वभावी दर्पण एवं सामान्य काठ-कबाड़ में कोई अन्तर दृष्टिगत नहीं होता है। **दर्पण की निर्मलता बनाए रखने के लिए जैसे उसे प्रतिदिन धो-**

* आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवन-शैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

पोंछकर साफ रखना जरूरी है, उसी प्रकार आत्मा को निर्मल बनाए रखने के लिये प्रतिक्रमण से प्रतिदिन के दोषों को दूर करते रहना भी परम आवश्यक है।

यह प्रतिक्रमण आत्मबल का सूचक है, क्योंकि कायर व्यक्ति न तो उसके दोषों को स्वीकार करने की हिम्मत जुटा पाता है और न ही वह उनको दूर करने का पुरुषार्थ कर पाता है। उदाहरणस्वरूप हम किसी नशे की लत में पूरी तरह रचे-पचे नशेड़ी को ले सकते हैं, जो लाख नशे की बुराइयाँ सुनने के बाद भी न तो बुराइयों को स्वीकार कर पाता है और न ही उन्हें दूर करने की चेष्टा कर पाता है।

कब से है?

जैन परम्परा में ऐसा उल्लेख मिलता है कि वर्तमान अवसर्पिणीकाल के चतुर्थ चरण के प्रारम्भ से कुछ पूर्व जब प्रथम-तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव ने संसार से वैराग्यपूर्वक दीक्षा ली, तो इस काल में जैन-साधना को अपनाने वाले प्रथम व्यक्ति होने से वे तो स्वयं-बुद्धत्व के कारण उस निर्ग्रंथ साधना को निर्दोष विधि से अपना सके, किन्तु उनकी देखा-देखी अन्य लगभग चार हजार व्यक्तियों ने भी प्रेरित होकर निर्ग्रन्थ-मुनिचर्या बाहरी तौर पर तो अपना ली, किन्तु उसकी वास्तविकता का ज्ञान न होने से वे भूख-प्यास आदि से व्याकुल होकर पत्ते-फल आदि का सेवन करने लगे, तो उनमें से कुछ लोग संसार में लौट गए।

अन्ततः जब तीर्थंकर ऋषभदेव को कैवल्य-प्राप्ति हुई और उनके प्रधान-शिष्य बने वृषभसेन गणधर ने जाना कि अभी जो इनकी शिष्य परम्परा है, वह 'ऋजु जड़' है। अर्थात् इनके मन में धर्माचरण के प्रति छलकपट की भावना तो नहीं है, परन्तु साथ ही इन्हें धर्माचरण की विधि का भी ज्ञान नहीं है। फलस्वरूप अनेक भूलें इनसे होती रहती हैं। यदि इन्हें धर्माचरण में संभावित इन भूलों/दोषों का परिज्ञान करा दिया जाए, तो इनमें जो निश्छल धर्मनिष्ठा है, वह इन्हें निर्दोष धर्माचरण पर स्वतः गतिशील कर देगी। इसी उदात्त अभिप्राय से उन्होंने वर्तमान अवसर्पिणीकाल में सर्वप्रथम' प्रतिक्रमण-विधि का प्रवर्तन किया। जिसे अपनी दिनचर्या का अंग बनाकर वे 'ऋजुजड़' शिष्य धीरे-धीरे ऋजु-प्राज्ञ बन गए।

इसका सुफल यह आया कि दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के होने पर उनकी शिष्य परम्परा में इस जड़ता की छाया भी नहीं थी, जिसके कारण प्रतिक्रमण विधि अपेक्षित होती। अतः द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैन-परम्परा में प्रतिक्रमण विधान की अनिवार्यता नहीं रही। किन्तु पार्श्वनाथ की परम्परा में कुछ जड़मतिता के प्रभावग्रस्त कुटिल बुद्धि कमठवृत्ति लोगों का प्रादुर्भाव हो चुका था। चूँकि ये 'वक्रजड़' शिष्यों की परम्परा अमरबेल की तरह फैलने लगी। ये धर्माचरण की निर्दोष विधि को स्वयं तो पूरी तरह जानते ही नहीं थे तथा प्रमाद की बहुलता के कारण न तो उनमें उसे जानने की सच्ची जिज्ञासा थी और न ही उन दोषों को स्वीकार करने की पुरुषार्थी संकल्पशक्ति। इस विडम्बना को दूर करने के लिये तीर्थंकर महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य 'इन्द्रभूति गौतम गणधर' ने उस प्रतिक्रमण परम्परा को धर्मचर्या का अनिवार्य अङ्ग पुनः स्थिर करते हुए प्रतिक्रमण सूत्र की रचना कर गृहस्थ-श्रावकों एवं निर्ग्रन्थ श्रमणों दोनों के लिए उनकी भूमिकाओं व धर्मचर्याओं के अनुरूप श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र एवं 'यति प्रतिक्रमण सूत्र' के पाठों का निर्धारण कर इन्हें श्रावकचर्या एवं श्रमणचर्या का अनिवार्य अङ्ग घोषित कर दिया। तबसे प्रतिक्रमण की परम्परा जैनचर्या में अनिवार्यता को प्राप्त हो गयी।

चूँकि महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद भी काल-दोष आदि कारणों से शिष्यों में 'वक्रता' एवं 'जड़ता' की प्रवृत्ति दूर तो हुई ही नहीं, बल्कि कुछ उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई। अतः प्रतिक्रमण अब जैन-परम्परा का अविभाज्य-अङ्ग है, जिसे नित्य एवं नैमित्तिक दोनों रूपों में अपनाया जाना अनिवार्य है।

प्रतिक्रमण ही क्यों?

यद्यपि व्यक्ति के दोषों व अपराधों के लिये अन्तरराष्ट्रीय, राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय न्यायाधिकरण

तथा ततः प्रदत्त दण्ड-व्यवस्था के अनुपालन आदि के लिये कारागारों एवं पुलिस-प्रशासन की व्यवस्था है। साथ ही सामाजिक स्तरों पर भी व्यक्ति को दोषों और अपराधों के लिए दण्डित करने की अलग व्यवस्थाएँ हैं। फिर धर्म ने 'प्रतिक्रमण' जैसी व्यवस्था का प्रावधान व्यक्ति के दोष-निवारणार्थ क्यों किया? उसकी क्या आवश्यकता व अपरिहार्यता है?

ये प्रश्न बड़े सार्थक एवं प्रासङ्गिक हैं। हम सूक्ष्मता से विचार करें तो पाते हैं कि संविधान की परिभाषा में परिगणित शारीरिक एवं वाचिक अपराधों को सरकारें नियन्त्रित करती हैं, तथा संविधानेतर किन्तु असामाजिकता वाले शारीरिक एवं वाचिक दोषों को सामाजिक संस्थाएँ नियन्त्रित कर रही हैं। किन्तु **जो दोष या तो मानसिक या आध्यात्मिक स्तर के हैं, अथवा** शारीरिक एवं वाचिक होते हुये भी जो कानून और सरकार के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था की परिधि से बाहर हैं, फिर भी **उनसे व्यक्ति का नैतिक पतन तो होता है, साथ ही आध्यात्मिक उन्नति में भी बाधक बनकर वे परम्परा से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के उत्थान में बाधक होते हैं, उन्हें स्वप्रेरित अन्तश्चेतना से ही सुधारा जा सकता है। इसीलिये ऐसे दोषों के सुधार के लिए 'प्रतिक्रमण' जैसी अन्य कोई प्रक्रिया हो ही नहीं सकती, जो पूर्णतः स्वाधीन भी हो, साथ ही अनिवार्यतः दोष निवारण का समर्थ-साधन भी हो।**

चूँकि व्यक्ति का उन्नत-चरित्र ही समाज, राष्ट्र और विश्व को उन्नत बना सकता है, अतः व्यक्तिगत-चरित्र के ऐसे दोषों का निवारण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इसीलिये 'प्रतिक्रमण-विधि' को अपनाना भी जीवन शैली का अनिवार्य अङ्ग है।

दोषों का कारण क्या?

जिन दोषों का निवारण प्रतिक्रमण-विधि के द्वारा किया जाता है, वे मुख्यतः 'अज्ञान' और 'प्रमाद' से उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः साधक इनसे पूर्णतः परिचित नहीं होता है कि ये दोष हैं। इस तरह अज्ञान के कारण दोष उत्पन्न होते हैं एवं बढ़ते हैं तथा जानते हुए भी चर्या में पूर्ण सावधानी नहीं रखी जाती तो दोषों को प्रमादजन्य कहा जाता है।

किस श्रेणी के दोष प्रतिक्रमण योग्य है?

यद्यपि उपर्युक्त विवेचन के बाद कोई विशेष-विवरण कहने योग्य नहीं रह जाता तथापि एक सरल दृष्टान्त इनके सीमांकन के लिये अपेक्षित समझता हूँ। वह यह कि जैसे हमारे लिखने के साधनों में दो वर्ग हैं- एक कच्ची पेंसिल की लिखाई, जिसे अच्छे इरेज़र (रबर) के माध्यम से गलत-लिखा जाने पर हम स्वयं मिटाकर सही इबारत लिख सकते हैं। दूसरे पेन की लिखाई, जिसे गलत लिखा जाने पर हम काट तो सकते हैं, उसके आगे या ऊपर-नीचे/दायें-बाँये सही लिख सकते हैं, फिर भी वह कटा हुआ गलत विवरण दृष्टिगत बना रहता है। इसी प्रकार **भावों की सरलता/निश्छलता इतनी हो कि अज्ञान व प्रमादजन्य जिन सूक्ष्म दोषों को हम आत्मस्वीकृति एवं आत्मसंकल्प-शक्ति के द्वारा परिमार्जित कर सकें, और वे दोष वस्तुतः मिट भी सकें उन्हें हम प्रतिक्रमण योग्य दोष या 'अतिचार' कहेंगे तथा जो जीवन शैली या साधना पर अपने निशान छोड़ जायें, सही करने के बाद भी जिनकी पहिचान या चिह्न जीवन पर दिखें, वे दोष प्रायश्चित-योग्य या 'अनाचार' की श्रेणी में परिगणित होंगे।**

प्रतिक्रमण प्रक्रिया-1. इच्छामि, 2. भंते!, 3. व्रतादि का उल्लेख/विवरण, 4. दोषों का विवरण, 5. तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

इनमें 'इच्छामि' शब्द स्वाधीनता एवं स्वेच्छापूर्वक प्रतिक्रमण का सूचक है। जैसे हम रास्ते में पैदल चलकर आने पर 'पैर' धोकर प्रवेश करते हैं। उसमें यह समीक्षा अपेक्षित नहीं होती कि पैरों में किस-किस प्रकार की गन्दगी या कहाँ-कहाँ की धूल लगी है। चलते हैं, तो धूल गन्दगी आदि लगने की सम्भावना है ही, अतः पाद-प्रक्षालन यह स्वतः प्रेरित सहज प्रक्रिया है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण करते समय तन्निमित्तक समस्त

सम्भाव्य दोषों का समीक्षण-परीक्षण न करके उनकी सम्भावना स्वीकारते हुए कृतदोष निवारणार्थ प्रतिक्रमण-विधि से स्वेच्छया आत्म-प्रक्षालन करना है।

इसी क्रम में 'भंते' शब्द का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। यह पूर्ण आस्तिकता का द्योतक तो है ही, साक्षात् अरिहंत परमात्मा की साक्षी का भी द्योतक यह शब्द न्यायिक-प्रक्रिया में शपथ उठाते समय बोले जाने वाले प्रयोग की तरह है, जिसमें अन्य कोई लौकिक गवाह/साक्ष्य न प्रस्तुत कर पाने पर व्यक्ति कहता है- ''मैं भगवान को हाजिर-नाज़िर मानकर यह शपथ लेता हूँ कि मैं जो कुछ भी कहूँगा, सच कहूँगा, सच के सिवा कुछ नहीं कहूँगा।'' अब अपनी उस शपथ के प्रति उसकी कितनी निष्ठा व ईमानदारी रहती है- यह उसी व्यक्ति पर निर्भर है। तीन लोक के नाथ को साक्षी मानने के बाद कही गयी बात के बारे में अन्य कोई सन्देह करने का अवकाश ही नहीं रह जाता है।

'व्रतादि का उल्लेख व विवरण' करना प्रतिक्रमण के साम्प्रतिक सन्दर्भ को सूचित करता है, क्योंकि कार्य विशेष में ही दोष या गुण-विशेष की सम्भावना होती है। 'दोषों का विवरण' प्रस्तुत करने के पीछे यह अभिप्राय है कि कई बार असावधानी में गलती हो ही जाती है, परन्तु तत्काल हम उसे पहिचान नहीं पाते और स्वीकार भी नहीं कर पाते हैं। अतः दोषों के विवरण से की हुई गलती की पहिचान भी सुगम हो जाती है तथा जो नहीं की हैं उनका ज्ञान ताजा (Refresh) हो जाने से आगे इन गलतियों के होने की सम्भावना भी कम हो जाती है।

'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' के द्वारा अपने दोषों केा अनुभव कर उन्हें दूर किया जाता है। दूसरों के दोषों की समीक्षा करने की पञ्चायत करने का कोई अवसर 'प्रतिक्रमण' में नहीं है तथा कल करने का प्रमाद भी यहाँ नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रतिक्रमण की यह प्रक्रिया वैज्ञानिक भी है और मनोवैज्ञानिक भी है।

प्रतिक्रमण का अर्थ

'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'क्रमु' (पाद विक्षेपे) धातु से 'ल्यु' प्रत्यय का विधान होकर 'प्रतिक्रमण' शब्द निष्पन्न होता है। बुराई से अच्छाई की ओर, पतन से उत्थान की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ना ही 'प्रतिक्रमण' है।

इसकी एक व्युत्पत्ति में कहा गया- **प्रतिगच्छति पूर्वसंयमं येन तत् प्रतिक्रमणम् प्रतिक्रम्यते प्रमादकृत-दैवसादि-दोषा निराक्रियन्तेऽनेनेति प्रतिक्रमणम्।**

इन सबके पीछे अभिप्राय एक है, और वह है हो चुके दोष को सुधारने का संकल्प। ''सुबह का भूला शाम को घर लौट आए तो उसे भूला नहीं कहते''- इसी के अनुरूप सुबह की भूल का यदि तत्काल या शाम तक प्रतिक्रमण कर लिया जाए, तो वह 'भूल' भूल नहीं रहती।

इस 'प्रतिक्रमण' शब्द के कई नामान्तर भी जैन वाङ्मय में बताए गये हैं-प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निर्वृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि आदि। यद्यपि यह भाषा शास्त्र का ध्रुवसत्य है कि कोई भी शब्द किसी का नामान्तर या पर्यायवाची वस्तुतः नहीं होता है। हाँ, प्रयोग करने वाले उन्हें नामान्तर या पर्यायवाची की तरह प्रयोग कर सकते हैं। यह प्रयोग अर्थसाम्य या रूढ़ि-दोनों पर आधारित हो सकता है। सम्भवतः इन्हीं दोनों बिन्दुओं के आधार पर 'प्रतिक्रमण' के इतने सारे नामान्तर या पर्यायवाची माने गये हैं।

दार्शनिक क्षेत्र में विशिष्ट पदों की व्युत्पत्ति, निर्युक्ति, नामान्तर आदि वास्तव में उस अर्थ विशेष को द्योतित नहीं कर पाते हैं, जिस अर्थ विशेष या प्रयोजन विशेष की दृष्टि से उसका वहाँ प्रयोग हुआ है। इसका स्पष्टीकरण तो परिभाषा के द्वारा ही किया जा सकता है। 'प्रतिक्रमण' के साथ भी ऐसी ही स्थिति है। जैन-परम्परा में प्रतिक्रमण की अनेक परिभाषाएँ दी गई है। उनमें से कुछ विशिष्ट निर्देशन निम्नानुसार हैं-

नोट-प्रस्तुत आलेख दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। अत: इसमें दिगम्बर परम्परा का पुट अधिक है।

द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च कृतप्रमादनिर्हरणम्।
वाक्कायमनःशुद्ध्या प्रणीयते नु प्रतिक्रमणम्।।

-हरिवंशपुराण, सर्ग 34, पद्य 145

अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव में किये हुये प्रमाद को दूर करने के लिये वचन-काय और मन की शुद्धिपूर्वक जो किया जाता है, वह 'प्रतिक्रमण' है।

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेय-वित्थर-विसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिकमणं।।

-समयपाहुड, गाथा 383

अर्थात् जो शुभ और अशुभ रूप अनेक विस्तार से युक्त पूर्वकृत कर्म है, उससे जो आत्मा को निवर्तित करता है, वह 'प्रतिक्रमण' है।

''स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिर्वृत्तिः प्रतिक्रमणम्।''

-भगवती आराधनावृत्ति, 6.32

अर्थात् अपने द्वारा किये हुये अशुभयोग से परावृत्त होना अर्थात् मेरे अपराध मिथ्या हों-ऐसा कहकर पश्चात्ताप करना 'प्रतिक्रमण' है।

''प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेतिप्रतिक्रमणम्।''

-गोम्मटसारजीवकांड, जीवतत्त्वदीपिका टीका, गाथा 370

प्रमाद के द्वारा किये गये दोषों का जिसके द्वारा निराकरण किया जाता है, उसे 'प्रतिक्रमण' कहते हैं।

प्रतिक्रमण के भेद-प्रभेद

'प्रतिक्रमण' के भेदों के लिए कई आधार-बिन्दु मिलते हैं, 1. पात्र की अपेक्षा, 2. काल की अपेक्षा, 3. प्रयोजन की अपेक्षा। इनमें से प्रथम आधार पर प्रतिक्रमण के पात्र दो प्रकार के होने से इसके दो भेद मिलते हैं- (क) यति प्रतिक्रमण (ख) श्रावक प्रतिक्रमण। द्वितीय आधार काल की अपेक्षा 'प्रतिक्रमण' के सात भेद मिलते हैं-1. दैवसिक प्रतिक्रमण, 2. रात्रिक प्रतिक्रमण, 3. आष्टमिक या आष्टाह्निक प्रतिक्रमण, 4. पाक्षिक प्रतिक्रमण, 5. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, 6. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण और 7. युगान्त प्रतिक्रमण (पञ्चवार्षिक प्रतिक्रमण)।

तृतीय आधार में कार्य-विशेष या प्रयोजन-विरोध के भेद के आधार पर प्रतिक्रमण के भेद किये गये हैं, यथा-1. ईर्यापथशुद्धि के लिये 'ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण' 2. गोचरी (आहार चर्या) की शुद्धि के लिये 'गोचार प्रतिक्रमण' 3. केशलोचविधि की शुद्धि के लिये 'लोच प्रतिक्रमण' तथा 4. संलेखना रूपी सर्वोत्तम-अर्थ की शुद्धि के लिये 'उत्तमार्थ-प्रतिक्रमण'।

प्रतिक्रमण से सम्बद्ध विषय

प्रतिक्रमण से सम्बन्ध रखने वाले विषय/व्यक्ति आदि अनेक हो सकते हैं, किन्तु उनमें से व्यक्ति की अपेक्षा दो मुख्य हैं-

1. प्रतिक्रामक-अर्थात् वह व्यक्ति, जो प्रतिक्रमण कर रहा है।

2. निर्यापक-विशेषतः 'उत्तमार्थ प्रतिक्रमण' के लिये जिन्हें निर्यापककर्त्ता बनाया जाता है।

3. देशकाल-वातावरण आदि।

इनमें प्रथम 'प्रतिक्रामक' के गुणों का वर्णन निम्नानुसार किया गया है-

'पंच-महाव्रतादि-श्रवण-धारण-दोष-निर्हरणतत्परः प्रतिक्रामकः दोष-द्वाराऽऽगतकर्म-विक्षपणशीलो जीवः।'' (मूलाचार, आचारवृत्ति 6/7)

इसके अनुसार 'प्रतिक्रामक' में पाँच प्रमुख गुण होने चाहिए- 1. दोष दूर करने के लिए उत्सुक और तत्पर हों, 2. सरलहृदय हों, 3. मंदकषाय हो, 4. ज्ञानी हो (अर्थात् आचार विधि के गुण-दोषों की पहिचान जिसे हो), 5. दृढ़ निश्चयी हो।

इसी प्रकार 'निर्यापक' के गुणों का विवरण भी आचार-शास्त्रों में आता है। मूलतः तो दीक्षागुरु ही 'निर्यापक' होते हैं, उनकी अनुपस्थिति में संघस्थ किसी श्रेष्ठमुनि को निर्यापक चुना जाता है। उसके प्रमुख गुण हैं-1. आचारवान् हो, 2. आधारवान् (प्रतिक्रामक से श्रेष्ठ आगमज्ञान का धनी), 3. व्यवहारवान् (प्रायश्चित्त शास्त्र का विशेषज्ञ), 4. प्रकुर्वक (थकान आदि की परवाह किये बिना सतत परिश्रमशील), 5. आय-

उपायदर्शी (प्रतिक्रमण न करने के दोषों को समझाने में समर्थ), 6. अवपीडक (दोषों के अनुभावन/प्रकटीकरण में ओजस्वी), 7. अपरिस्रावी (रहस्य को गुप्त रखने में समर्थ) और 8. निर्वापक (क्षमा-मार्दव आदि से प्रतिक्रामक के चञ्चल/उद्विग्न-चित्त को शान्त करने में समर्थ) आदि।

प्रतिक्रमण के योग्य 'देश' में प्रतिक्रमण के स्वरूप के आधार पर अलग-अलग विशेषताएँ बतायी गई हैं। 'भगवती आराधना' ग्रन्थ (गाथा 557-562) में इस विषय पर अच्छा विवेचन किया गया है।

प्रतिक्रमण के योग्यकाल का निर्धारण भी दो तरह से किया गया है, एक तो 'नियत' अर्थात् 'निश्चित' काल-जैसे दैवसिक, रात्रिक आदि प्रतिक्रमणों का काल निर्धारित है, और दूसरा 'अनियतकाल' अर्थात् जब जो दोष घटित हों तभी उनका प्रतिक्रमण किया जाए, किसी कालान्तर में नहीं। तभी प्रतिक्रमण की सार्थकता रहेगी।

प्रतिक्रमण के योग्य वातावरण में बाह्य वातावरण विक्षुब्ध (क्षोभयुक्त या प्राकृतिक आपदायुक्त) न होने की बात कही गई है, किन्तु वस्तुतः यह आन्तरिक वातावरण पर अधिक लागू होता है। अर्थात् प्रतिक्रामक का मन विक्षुब्ध नहीं होना चाहिए, चित्त दुविधाग्रस्त एवं चंचल नहीं होना चाहिए। उसमें आत्मबल भरपूर चाहिए, तभी प्रतिक्रमण सफल हो सकता है।

एक प्रश्न प्रायः उपस्थित रहता है कि क्या द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ स्वामी से लेकर तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ स्वामी के काल तक 'प्रतिक्रमण' का प्रावधान था या बिल्कुल नहीं था? इसका समाधान 'मूलाचार' ग्रन्थ में प्रभावी एवं स्पष्ट रीति से दिया गया है-

"अवराहे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं।"

(मूलाचार, गाथा 628 का उत्तरार्द्ध)

अर्थात् इन तीर्थंकरों के शासन में अपराध हो जाने पर ही प्रतिक्रमण करने का विधान था, नियतकालिक दैवसिक आदि प्रतिक्रमणों का विधान नहीं था।

प्रतिक्रमण से लाभ

'प्रतिक्रमण' को जीवन शैली का अङ्ग बनाने के दो प्रमुख तात्कालिक लाभ हैं- 1. दोषों का विनाश, 2. आत्मबल में वृद्धि। परम्परित रूप से जैनदर्शन में इनके 7 लाभ और गिनाए गए हैं, वे हैं-1. समाधि की प्राप्ति, 2. दुःख का विनाश, 3. कर्मों का विनाश, 4. बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति, 5. जिनगुण-सम्पत्ति (अर्थात् जिनेन्द्र भगवान जैसे वीतरागता आदि गुणों की प्राप्ति), 6. सुखावाप्ति (निराकुल-सुख की प्राप्ति) तथा 7. चित्त शुद्धि।

समसामयिक सन्दर्भों में आज विश्वशान्ति के लिये उन्मादी एवं आतंकवादी मनोवृत्तियाँ प्रमुखरूप से उत्तरदायी हैं और इनका मुख्य कारण है वह विचारधारा जो 'विकार' को 'विकास' का माध्यम समझ रही है। यहाँ तक कि मनोविकारों एवं उन्मादों को आध्यात्मिक एवं पारलौकिक उन्नति का माध्यम समझा जा रहा है। आज अधिक आवश्यकता इन विकृत-मनोवृत्तियों को 'अपराध' के रूप में पहिचानने की तथा उन्हें स्वयं सुधारने के दृढ़ संकल्प की है।

-पूर्व अधिष्ठाता, साहित्य संस्कृति संकाय, आचार्य प्राकृत भाषा विभाग, श्री लालबहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110016

-बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नन्दा हॉस्पीटल के पीछे, नई दिल्ली-110074

- पारिवारिक प्रार्थना, साप्ताहिक स्वाध्याय सुसंस्कार के साधन हैं। इनके साथ निर्व्यसनी, प्रामाणिक और शुद्ध व्यवहार वाला होना आवश्यक है।
- तप के साथ क्रोध आदि विकारों का त्याग करना उसका भूषण है। क्षमाभाव से उग्र तपस्या की शोभा है।
- गृहस्थ जीवन दान-शील प्रधान है और मुनि जीवन तप-संयम प्रधान है।
- बालक के संस्कार-निर्माण में पिता से अधिक मातृजीवन कारण होता है।

-आचार्यश्री हस्ती

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 173
ISSN 2249-2011

जीवन-शैली में स्याद्वाद का प्रयोग

डॉ. वीरसागर जैन

जैनदर्शन एक अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन है। उसके सिद्धान्त न केवल पारमार्थिक दृष्टि से, अपितु लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपादेय सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्द जैसे अध्ययनशील विद्वान मुनि ने भी जैनदर्शन के सभी प्रमुख सिद्धान्तों की सामाजिक/व्यावहारिक व्याख्या निम्न प्रकार से प्रसिद्ध की है-

1. आत्मानुशासन-स्वयं पर स्वयं का शासन।

2. अनेकान्तवाद-सबके साथ समन्वय की कला।

3. अहिंसावाद-किसी का मन व्यर्थ में मत दुःखाओ।

4. अपरिग्रहवाद-अति लोभ खतरे की घण्टी है।

5. स्याद्वाद-पहले तौलो, फिर बोलो।[1]

जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों की उक्त व्याख्या को उन्होंने 'विश्व कल्याण में उपयोगी श्रेष्ठ जीवन-निर्माण के पाँच सूत्र' शीर्षक देकर सर्वत्र प्रचारित किया है। इससे सिद्ध होता है कि जैनदर्शन एक अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन है और उसके सिद्धान्त आत्म-कल्याणार्थ ही नहीं, विश्व-कल्याणार्थ भी अत्यन्त उपयोगी है।

आचार्य विद्यानन्द मुनि की भाँति अन्य भी अनेक मनीषी चिन्तकों ने जैनदर्शन और उसके सिद्धान्तों की व्यावहारिकता एवं लोकहित में उपादेयता पर बड़ा ही सुन्दर प्रकाश डाला है, परन्तु विस्तार-भय से यहाँ पर हम उसकी विशेष चर्चा नहीं कर सकते हैं। मात्र सत्यदेव विद्यालंकार का एक कथन उद्धृत कर अपनी बात को आगे बढ़ाते हैं। उनका यह कथन इस प्रकार है-''जैन धर्म का साम्यभाव या समाजवाद केवल मानव समाज तक सीमित नहीं है। प्राणिमात्र उसकी परिधि में समा जाते हैं... वह विपक्षी के लिए भी अपने ही समान गुञ्जाइश रखता है। यदि दूसरे के लिए गुञ्जाइश रखकर जीवन-व्यवहार किया जाये तो संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती।... व्यावहारिक रूप में जैन धर्म की क्षमता असीम है।''[2]

आज हमारा विषय जैनदर्शन के एक अत्यन्त प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद की सामाजिक सौहार्द में उपयोगिता पर चिन्तन करना है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इसके लिए सर्वप्रथम हमें अनेकान्तवाद का समीचीन स्वरूप समझना होगा, तभी हम उसकी सामाजिक सौहार्द में भूमिका का निर्णय एवं विचार कर पाएँगे।

क्या है अनेकान्तवाद का स्वरूप-

जैनदर्शन के अनुसार इस विश्व की सभी वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं, अनेकान्तस्वरूप हैं अर्थात् उनका स्वरूप ही अनेकान्त है। अनेकान्त का अर्थ है कि उसमें अनेक 'अन्त' रहते हैं। 'अन्त' का अर्थ यहाँ धर्म, गुण, स्वभाव, विशेषता आदि समझना चाहिए तथा 'अनेक' का भी अर्थ वैसे तो अनेक (एकाधिक, बहुत, संख्यात, असंख्यात और अनन्त तक भी) समझे जा सकते हैं, किन्तु यहाँ रूढ़िवशाद् 'दो' ही और वह भी 'परस्पर' विरुद्ध प्रतीत होने वाले 'दो' ही ग्रहण किए जायें तो अधिक अच्छा रहेगा, उसी से अनेकान्तवाद का सौन्दर्य अथवा वैशिष्ट्य उभरकर सामने आ सकेगा-ऐसा जैनाचार्यों का स्पष्ट निर्देश है।

कहने का तात्पर्य यह हुआ कि विश्व की प्रत्येक वस्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो-दो धर्मों के अनन्त युगलों का निवास-स्थान है और इसीलिए वह अनेकान्तात्मक या अनेकान्त स्वरूप है तथा इस प्रकार

विश्व की प्रत्येक वस्तु को अनेकान्तस्वरूप मानना अनेकान्तवाद है और उसे कहने या समझने के लिए जिस समीचीन पद्धति का आश्रय लिया जाता है, वह स्याद्वाद है।

अनेकान्तवाद के साथ स्याद्वाद को भी समझना आवश्यक है। दोनों परस्पर अत्यन्त सम्बद्ध हैं। अनेकान्त प्रत्येक वस्तु को परस्पर विरुद्ध अनन्त धर्मयुगलों का निवास-स्थान घोषित करता है, किन्तु ऐसे जटिल स्वरूप वाली वस्तु को स्याद्वाद के बिना कहना या समझाना सम्भव नहीं है, अत: स्याद्वाद अनेकान्तात्मक वस्तु को समीचीनतया कहने या समझने की उत्तम विधि है, जो प्राय: इस प्रकार कथन करती है कि-प्रत्येक वस्तु स्यात् (कथंचित्/किसी एक अपेक्षा से/अमुक अपेक्षा से) नित्य है और वही वस्तु स्यात् (कथंचित्/ किसी एक अपेक्षा से/अमुक अपेक्षा से) अनित्य भी है। अथवा प्रत्येक वस्तु स्यात् अस्ति है, स्यात् नास्ति भी है। अथवा स्यात् एक है, स्यात् अनेक भी है, इत्यादि।[3]

अनेकान्त-स्याद्वाद का यह सिद्धान्त वस्तु-स्वरूप को समीचीनतया समझने-समझाने में अत्यन्त समर्थ होने से दर्शन के क्षेत्र में तो बड़ा उपयोगी/ महत्त्वपूर्ण माना ही जाता है, किन्तु व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और यहाँ तक कि सम्पूर्ण विश्व में सुख-शान्ति स्थापित करने की दृष्टि से भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और उपादेय समझा जाता है। इस सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने तो अपना दृष्टिकोण प्रबलतापूर्वक स्पष्ट किया ही है, किन्तु दुनिया भर के समाजशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने भी इस सम्बन्ध में अपने विचार मुक्त-कण्ठ से रखे हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता, असहिष्णुता, आतंकवाद आदि सभी समस्याओं को समाप्त कर सामाजिक सौहार्द और समरसता का वातावरण बनाने में अनेकान्तदृष्टि अत्यन्त समर्थ है। यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि एकमात्र अनेकान्तदृष्टि ही इसका समीचीन उपाय है, अमोघ उपाय है। प्रमाणस्वरूप हम यहाँ कतिपय जैनाचार्यों और विश्व-प्रसिद्ध दार्शनिक, सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तकों के कथन/विचार उद्धृत कर रहे हैं। आशा है, इनसे अनेकान्तदृष्टि की व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता भली-भाँति स्पष्ट हो सकेगी-

तीन लोक का अद्वितीय गुरु है अनेकान्तवाद, उसके बिना लोकव्यवहार भी नहीं चल सकता

तस्यानेकान्तवादस्य लिंगं स्याच्छब्द उच्यते।
तदुक्तार्थे विना भावे लोकयात्रा न प्रवर्तते।।[4]

अर्थ-उस अनेकान्तवाद का चिह्न 'स्यात्' शब्द है। उसे कहे बिना लोक-यात्रा भी नहीं चल सकती है।

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।[5]

अर्थ-जिसके बिना लोकव्यवहार भी बिल्कुल नहीं चल सकता, उस तीन लोक के अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

सर्व विवादों का विनाशक (समाधान) है अनेकान्तवाद

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।[6]

अर्थ-जो सम्पूर्ण परमागम का प्राण है और जिसमें सभी नय इस प्रकार विलास करते हैं कि जन्मान्ध व्यक्तियों के हस्ति-दर्शन सम्बन्धी विवाद की भाँति सर्व विवाद सहज ही समाप्त हो जाते हैं, उस अनेकान्तवाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

विभिन्न दृष्टिकोणों के समन्वय की अद्भुत कला सिखाकर शान्ति स्थापित करता है अनेकान्तवाद

''स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय हमारे सामने उपस्थित करता है। वह अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु के स्वरूप को मानकर परस्पर में विवाद करने वाले लोगों में समझौता कराने में समर्थ है। आज संसार में सर्वत्र त्राहि-त्राहि की पुकार सुनाई पड़ती है। अशान्ति से त्रस्त मानव शान्ति की अभिलाषा करते हैं, लेकिन उनको पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। शान्ति का

यथार्थ उपाय है-विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय या एकीकरण। किसी भी वस्तु को यदि पूर्ण रूप से समझना है तो इसके लिए विभिन्न दृष्टिकोणों से उसका निरीक्षण करना आवश्यक है क्योंकि ऐसा किए बिना, वस्तु का पूर्ण रूप समझ में नहीं आ सकता। किसी भी बात पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने का नाम ही स्याद्वाद है और एक दृष्टिकोण से किसी विषय पर विचार करना एकान्तवाद है। एकान्तवादी अपने दृष्टिकोण से स्थिर किए हुए सत्य को पूर्ण सत्य मानकर अन्य लोगों के दृष्टिकोण को मिथ्या बतलाते हैं। मतभेदों तथा संघर्षों का कारण यही एकान्त दृष्टि है। जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त भिन्न-भिन्न मतभेदों को दूर करने में सर्वथा समर्थ है।''[7] -प्रो. उदयचन्द्र जैन, वाराणसी

विरोधी से भी प्यार करने की अद्भुत कला सिखाता है अनेकान्तवाद

''जिस प्रकार मैं स्याद्वाद को जानता हूँ उसी प्रकार उसको मानता भी हूँ। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है।...पहले मैं जानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों से प्यार करता हूँ, क्योंकि अब मैं विरोधियों की दृष्टि से अपने को देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा इन्हीं युगल सिद्धान्तों का परिणाम है।''[8] -महात्मा गाँधी

साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता, असहिष्णुता आदि अनेक समस्याओं का समाधान है अनेकान्तवाद

''जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिनन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक के नाम पर अपने उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया। इसके फलस्वरूप उन्होंने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गुणों को दूर कर दिया, जिसके कारण मानव-इतिहास भयंकर द्वन्द्व और रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ। अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद विश्व के दर्शनों में अद्वितीय है। ...स्याद्वाद सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है, कारण कि वह यह मानता है कि दूसरे व्यक्ति को भी कुछ कहना है। सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धान्त औद्योगिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत की गई जटिल समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक कार्यकारी होंगे।''[9]

-डॉ. एस.वी. नियोगी, भूतपूर्व चीफ जस्टिस तथा कुलपति, नागपुर विश्वविद्यालय

लोकदृष्टि से भी बड़ा उपयोगी है अनेकान्तवाद

''जैनों के अनेकान्त को कुछ आस्तिक दर्शनों में छल की संज्ञा दी गई है, किन्तु यह ठीक नहीं है। ...अनेकान्तवाद संशय का हेतु भी नहीं है, क्योंकि सप्तभंगी नय में समझाया गया है कि प्रत्येक पदार्थ में स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप के विशेषों की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद में संशय की कोई गुंजाइश नहीं है। इसके अतिरिक्त वह तो लोकदृष्टि से जितना उपयोगी है विचार की दृष्टि से भी उतना ही उपयोगी है।''[10] - डॉ. वाचस्पति गैरोला

नैतिक उत्कर्ष और व्यावहारिक शुद्धि के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है अनेकान्तवाद

'पाणिनिसूत्र 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (पा. 4/4/30) के अनुसार जैनदर्शन आस्तिक दर्शन में ही परिगणित होता है। जैनदर्शन का अनेकान्त तो उसका आधार-स्तम्भ है ही, परन्तु परमार्थतः प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिए भी इसको आवश्यक मानना चाहिए क्योंकि स्वभावतः प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता होनी ही चाहिए। नैतिक उत्कर्ष के साथ व्यावहारिक शुद्धि के लिए भी अनेकान्त दर्शन जैन दर्शन की महान देन है।''[11]

-डॉ. मंगल देव शास्त्री

स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है

''जैनदर्शन के सिद्धान्त प्राचीन तत्त्वज्ञान तथा धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके स्याद्वाद नामक सिद्धान्त से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।''[12] -जर्मन विद्वान हर्मन जैकोबी

अनेकान्तवाद को जितना शीघ्र अपनाया जाएगा उतनी ही शीघ्र विश्व में शान्ति स्थापित होगी

''इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसन्धान भारत की अहिंसा-साधना का चरम उत्कर्ष

है और सारा संसार इसे जितना ही शीघ्र अपनाएगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।''[13]

-रामधारी सिंह दिनकर

अनेकान्त दृष्टि ही पूर्ण एवं यथार्थ दृष्टि है-

''सब धर्मों में एक परमतत्त्व का ही गुणगान है, और सब दर्शनों ने भिन्न-भिन्न शैली से उस परमतत्त्व का विवेचन किया है, परन्तु स्याद्वाद शैली सम्पूर्ण एवं यथार्थ है।''[14]

-श्रीमद् रायचन्द्र

इसी प्रकार के विचार महान् वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्सटीन ने भी प्रकट किए हैं-''हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं। वस्तु के समग्र सत्यांशों को विश्वद्रष्टा ही जान सकता है। कारण कि वस्तु में अनेक गुण रहते हैं और वे स्याद्वाद से ही अल्पज्ञानी द्वारा जाने जा सकते हैं।''[15]

भौतिक एकता और विश्वशान्ति के लिए अत्यधिक उपयोगी है अनेकान्तवाद

''अनेकान्त जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसको पश्चिमी वैज्ञानिकों तथा हिन्दू तर्कशास्त्रियों द्वारा सामान्यरूप से ही नहीं स्वीकृत किया गया है, किन्तु उसको भौतिक एकता या समझौते द्वारा विश्वशान्ति के लिए भी प्रमुख सिद्धान्त माना गया है।''[16]

-प्रो. आर्चीब्रह्म

विचार-सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की भावना जागृत करता है अनेकान्तवाद

''अनेकान्तदृष्टि से विचारसहिष्णुता और परसम्मान की वृत्ति जग जाने पर मन दूसरे के स्वार्थ को अपना स्वार्थ मानने की ओर प्रवृत्त होकर समझौते की ओर सदा झुकने लगता है। जब उसके स्वाधिकार के साथ ही साथ स्वकर्त्तव्य का भी भाव उदित होता है, तब वह दूसरे के आन्तरिक मामलों में जबरदस्ती टाँग नहीं अड़ाता। ...पं. जवाहरलाल नेहरू ने विश्वशान्ति के लिए जिन पंचशील सिद्धान्तों का उद्घोष किया है उनकी बुनियाद अनेकान्तदृष्टि-समझौते की वृत्ति, सह-अस्तित्व की भावना, समन्वय के प्रति निष्ठा और वर्ण-जाति-रंग आदि के भेदों से ऊपर उठकर मानव मात्र के समअभ्युदय की कामना पर ही तो रखी गई है।''[17]

-डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य

एकान्तवादी मानसिक रूप से विकलाङ्ग होता है

''विकलाङ्ग दो प्रकार के होते हैं-शारिरिक और मानसिक। जो एकान्तवादी होते हैं वे मानसिक विकलाङ्ग होते हैं। अनेकान्तवादी ही पूर्ण या सर्वाङ्ग हो सकता है और वही दूसरों की भी विकलाङ्गता मिटा सकता है।''[18]

-प्रो. वाचस्पति उपाध्याय

वचन-शुद्धि का एकमात्र उपाय है अनेकान्त एवं स्याद्वाद

''जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त वस्तुत: बोलने की कला का ही चरम विकास है। स्याद्वाद के अवलम्बन बिना कोई अच्छा बोल ही नहीं सकता, क्योंकि उसके बिना सच्चा बोला नहीं जा सकता। जो सच्चा न हो वह कैसा भी हो, अच्छा नहीं हो सकता, अत: अच्छा व सच्चा बोलने के लिए स्याद्वाद का अवलम्बन अनिवार्य है। वस्तुत: अनन्तधर्मात्मक जटिल वस्तु को स्याद्वाद के बिना बोलने की कोई भी कोशिश ठीक से हो ही नहीं सकती।''[19]

-प्राकृतविद्या

आतंकवाद कहता है-मरो और मारो, अनेकान्तवाद कहता है-जीओ और जीने दो। एकान्तदृष्टि आतंकवाद है। उसमें पर-सहिष्णुता नहीं होती। उसका सिद्धान्त ही होता है-'मरो और मारो।' किन्तु अनेकान्तदृष्टि का सिद्धान्त है-'जीओ और जीने दो।' वह सभी को अपने साथ-साथ पर का भी ध्यान रखना सिखाती है। मतभेद होते हुए भी मनभेद न रखने की अद्भुत कला का विकास अनेकान्तदृष्टि से ही होता है। अत: एकान्तदृष्टि आग्रहपूर्ण होने से विविध विवादों को जन्म देकर सर्वत्र अशान्ति का वातावरण उत्पन्न करती है और अनेकान्तदृष्टि सर्वविवादों को समुचितरूप से सुलझाकर सर्वत्र शान्ति की स्थापना करती है। अन्त में मैं अपनी बात श्रद्धेय पण्डित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के एक महत्त्वपूर्ण कथन के साथ

पूर्ण करता हूँ- ''दुनिया में बहुत से वाद हैं, स्याद्वाद भी उनमें से एक है, पर वह अपनी अद्भुत विशेषता लिए हुए है। दूसरे वाद विवादों को उत्पन्न कर संघर्ष की वृद्धि के कारण बन जाते हैं तब स्याद्वाद जगत के सारे विवादों को मिटाकर संघर्ष को विनष्ट करने में ही अपना गौरव प्रकट करता है। स्याद्वाद के अतिरिक्त सब वादों में आग्रह है, इसीलिए उनमें से विग्रह फूट पड़ते हैं, किन्तु स्याद्वाद तो निराग्रह वाद है, उसमें कहीं भी आग्रह का नाम नहीं है। यही कारण है कि इसमें किसी भी प्रकार के विग्रह का अवकाश नहीं है।''[20]

सन्दर्भ

1. कुन्दकुन्द भारती शोध संस्थान, नई दिल्ली के प्रवेशद्वार पर प्रचारित-प्रसारित।
2. बाबू छोटे लाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ (कलकत्ता) में प्रकाशित उनके लेख से।
3. ''यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यामित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्पर-विरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।''

-आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार-टीका, परिशिष्ट

4. आचार्य जटासिहनन्दि, वरांगचरित्र, 26/83
5. आचार्य सिद्धसेन, सन्मतिसूत्र 3/69
6. आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, श्लोक 2
7. अनेकान्त एवं स्याद्वाद (गणेश वर्णी संस्थान, वाराणसी), पृष्ठ 19
8. जैनधर्म, अहिंसा और महात्मा गाँधी (कुन्दकुन्द भारती, नईदिल्ली)
9. प्राकृतविद्या, अप्रैल-दिसम्बर, 2008, पृष्ठ 155
10. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 114
11. जैन दर्शन (महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य), प्राक्कथन, पृष्ठ 14
12. स्याद्वाद (पण्डित जवाहर लाल शास्त्री), पृष्ठ 249
13. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 137
14. श्रीमद् राजचन्द्र, भाग 1, पृष्ठ 245
15. स्याद्वाद (पण्डित जवाहर लाल शास्त्री), पृष्ठ 249
16. आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ 546
17. जैन दर्शन (गणेश वर्णी संस्थान, वाराणसी), पृष्ठ 474
18. जैन समाज, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली द्वारा आयोजित विकलाङ्ग सहायता शिविर में।
19. प्राकृतविद्या (अप्रैल-दिसम्बर 2008), कवर पृष्ठ 2
20. प्राकृतविद्या (अप्रैल-दिसम्बर 2008), कवर पृष्ठ 2

प्रोफेसर, जैनदर्शन विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110016

जीवनशैली के अहिंसक आयाम

तीर्थङ्कर महावीर हमारे सच्चे मार्गदर्शी बनें तथा उनके बताये निम्नाङ्कित बिन्दुओं को हम अपनी अहिंसक जीवनशैली में अपनाने का साहस करें, यही उनके प्रति हमारी सच्ची निष्ठा और श्रद्धा होगी-

1. क्रोध तथा आक्रोश का क्षमा की शक्ति से प्रतिकार करें।
2. सदाचरण से कथनी और करनी की दूरी दूर करें।
3. पर-पदार्थों के प्रति अवाञ्छनीय आसक्ति न रखें।
4. अपनी कमी और कमज़ोरी पर पर्दा न डालें।
5. अपनी जीवनशैली में संयमभावों को स्वीकार करें।
6. अपने साथ होने वाले अन्याय का अहिंसक तरीके से प्रतिकार करें।
7. हम निकटवर्ती समाज के विश्वासपात्र बनें।
8. अपनी दृष्टि को सकारात्मकता एवं सामाजिक सरोकार से जोड़ें।
9. निकटवर्ती समाज के लोगों में अहिंसक जीवनशैली के प्रति आस्था और लगाव पैदा करें।
10. राष्ट्रधर्म को सर्वोपरि रखें।
11. विचारवान् महापुरुषों के आदर्शों के प्रति पूर्ण निष्ठा रखें।
12. क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, निन्दा, भय, कलह, विवाद, संघर्ष से यथा सम्भव स्वयं को दूर रखें।
13. अपनी मानवीयता से अहिंसक आदर्शों को सजीवता प्रदान करें।
14. अपना अन्तरदर्शन कर अपनी अहिंसक जीवनशैली की त्रुटियों को खोजें तथा प्रायश्चित्त से उसमें सुधार लायें।
15. स्वपरिवार-स्वसमाज-स्वराष्ट्र के गौरवपूर्ण आदर्शों की रक्षा करें।

-डॉ. आई. एम. खींचा, ब्यावर (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 178
ISSN 2249-2011

डिप्रेशन से मुक्ति में जैन सिद्धान्त उपयोगी

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

आज विश्व की मुख्य समस्याओं में से एक सबसे बड़ी समस्या है–बढ़ता मानसिक तनाव और अवसाद। यह एक ऐसी समस्या है जिससे आधुनिकता और विकास के हमारे सारे तर्क बेमानी लगने लगे हैं। इतना पैसा, समृद्धि, विकास आखिर किस काम का, यदि हम सुख और शान्ति की नींद भी न ले सकें। मनुष्य का यह विकास नहीं ह्रास ही माना जायेगा कि सारे संसाधन होते हुए भी वह निरा असहाय और अशान्त है। आखिर ऐसी उन्नति किस काम की जो अशान्ति पैदा करती है, हमें सुख से जीने नहीं देती। विकास की इस छद्म दौड़ ने हमें इकट्ठा करना तो सिखाया, लेकिन त्याग के मूल्य को समाप्त कर दिया जो हमें सुख देता था। विकास ने हमें सोने के लिए मखमली गद्दे तो दे दिए, लेकिन वो नींद छीन ली जो चटाई पर भी सुकून से आती थी। निश्चित ही हम किसी परिपूर्ण दिशा में आगे नहीं बढ़ रहे हैं। विकास को नकारा नहीं जा सकता, लेकिन जीवन की सुख शान्ति से भी समझौता नहीं किया जा सकता। ऐसे द्वन्द्वात्मक माहौल में हमें कोई ऐसा समाधान निकालना होगा जिससे इन दोनों का सन्तुलन बना रहे।

अवसाद क्या है?

अवसाद या डिप्रेशन का तात्पर्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में मनोभाव–सम्बन्धी दुःख है। इसे रोग या सिंड्रोम की संज्ञा दी जाती है। आयुर्विज्ञान में कोई भी व्यक्ति अवसाद की अवस्था में स्वयं को लाचार और निराश महसूस करता है। उस व्यक्ति विशेष के लिए सुख, शान्ति, सफलता, खुशी यहाँ तक कि सम्बन्ध तक बेमानी हो जाते हैं। उसे सर्वत्र निराशा, तनाव, अशान्ति, अरुचि प्रतीत होती है। अवसाद के भौतिक कारण भी अनेक होते हैं। इनमें कुपोषण, आनुवंशिकता, हार्मोन, मौसम, तनाव, बीमारी, नशा, अप्रिय स्थितियों में लम्बे समय तक रहना, पीठ में तकलीफ आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त अवसाद के 90 प्रतिशत रोगियों में नींद की समस्या होती है। मनोविश्लेषणों के अनुसार अवसाद के कई कारण हो सकते हैं। यह मूलतः किसी व्यक्ति की सोच की बनावट या उसके मूल व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। अवसाद लाइलाज रोग नहीं है। इसके पीछे जैविक, आनुवंशिक और मनोसामाजिक कारण होते हैं। यही नहीं जैवरासायनिक असन्तुलन के कारण भी अवसाद घेर सकता है। इसकी अधिकता के कारण रोगी आत्महत्या तक कर सकते हैं।[1]

अवसाद जिसे हम डिप्रेशन के नाम से जानते हैं, एक ऐसी बीमारी है जिसने पूरे विश्व को हैरान कर रखा है। भारत में भी आर्थिक और भौतिक उन्नति के साथ–साथ यह बीमारी तेजी से अपने पाँव पसार रही है। भारत में आज चार महिलाओं में से एक महिला ओर दस में से एक पुरुष अवसाद का शिकार है, जिसमें 67 प्रतिशत पीड़ितों में आत्महत्या की प्रवृत्ति देखी गई और 17 प्रतिशत ने तो इसकी कोशिश भी की और 45 प्रतिशत किशोर अवसाद के लक्षणों के बाद शराब और मादक दवाओं की शरण लेते हैं।[2] 'डेली'[3] में आँका जाने वाला यह रोग 1990 में ही बड़े रोगों का चौथा बड़ा कारण था। विश्व स्वास्थ्य संगठन का कहना है कि 2020 तक यह सबसे बड़ा कारण बन जाएगा। अवसाद का सबसे बड़ा दुष्परिणाम 'आत्महत्या' है।

भारत में युवा पीढ़ी भी तेजी से इसकी गिरफ्त में आ रही है। इसका भौतिक जगत् जितना गतिमान और समृद्ध दिखाई दे रहा है, उसका भाव जगत् उतना ही

क्षत-विक्षत है। उम्र की उठान पर ही युवा घनघोर हताशा और निराशा के शिकार हो रहे हैं। इन सभी समस्याओं के समाधान के लिए मनोवैज्ञानिकों तथा चिकित्सकों द्वारा काफी उपाय किये जा रहे हैं। काफी हद तक उन्हें समाधान मिलते भी हैं, किन्तु ऐसी समस्या उत्पन्न ही न हो इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने उन शाश्वत सिद्धान्तों को अपनाने का प्रयास करें जिनसे प्राचीनकाल से ही जीवों ने शाश्वत सुख और शान्ति को प्राप्त किया है।

भगवान महावीर ने अपनी साधना के बल से कुछ ऐसे नवीन अनुसन्धान किये हैं, जिन्हें यदि स्वीकार कर लिया जाए तो मनुष्य अवसाद में जा ही नहीं सकता।

द्रव्य-मीमांसा और तनाव-प्रबन्धन

जैनदर्शन के अनुसार इस विश्व का निर्माण षड्द्रव्यों से हुआ है। जो सत् लक्षणवाला तथा उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्त है, उसे द्रव्य कहते हैं।[4] जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छह द्रव्य हैं जो कि विविध गुण और पर्यायों से संयुक्त हैं।[5] ये छहों द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक-दूसरे को अवकाश देते हैं, परस्पर (क्षीरनीरवत्) मिल जाते हैं, तथापि सदा अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।[6]

जैनदर्शन की इस द्रव्य मीमांसा को गहराई से समझने वाले को यह समझ में आ जाता है कि प्रत्येक द्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रुवता युक्त स्वभाव है, यह विचार व्यक्ति को विभिन्न पदार्थों में होने वाले नित्य प्रति परिवर्तनों के प्रति निश्चिन्त कर देता है, क्योंकि व्यक्ति जानता है कि पदार्थों में होने वाले परिवर्तन अपने समय में अपने स्वभाव और पर्यायगत विशेषताओं के अनुरूप ही होते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति प्रतिकूल परिणमन होने पर खेद-खिन्न नहीं होता, परन्तु वस्तु के परिणमन स्वभाव में विश्वास होने से वह यह भी जानता है कि समय आने पर वस्तु में इच्छित परिवर्तन भी होंगे ही। इस प्रकार वह अधीर न होते हुए आशावादी रहता है। व्यक्तियों के प्रतिकूल व्यवहार पर भी वह खेद खिन्न नहीं होता, परन्तु वह उनकी अच्छाइयों को उभार कर सही मार्ग पर लाने हेतु सतत प्रयत्नशील रहता है। उसका व्यक्ति के उत्कृष्ट स्वभाव में विश्वास होने से वह क्षणिक भावावेशों से विचलित नहीं होता तथा अपनी बुद्धि और चिन्तन को लक्ष्य प्रेरित रखकर प्रयत्नशील रहता है। वह प्रतिकूल व्यवहार की दशा में दूसरे व्यक्ति की अज्ञानताजनित राग-द्वेष प्रेरित व्यवहार की क्षणिकता का विचार कर स्वयं स्थिर चित्त ही रहता है।

जैनदर्शन में पर्याय की क्षणिकता तथा परिवर्तन-शीलता का सिद्धान्त तनाव कम करने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। इस सिद्धान्त को जानने वाला व्यक्ति कभी भी किसी के प्रति पूर्वाग्रहों से ग्रस्त नहीं होता। बुरे से बुरे व्यक्ति भी समय पाकर सुधरते देखे जाते हैं, व्यक्ति समय के साथ सीखता व अपने आपको बदलता है, **तीव्र कषाय सदा विद्यमान नहीं रहता, अतः व्यक्ति में सुधार की सम्भावना सदैव ही रहती है।** पुराण ऐसी कथाओं से भरे हैं। अतः **जैनदर्शन का यह सिद्धान्त पूर्व में घटित घटनाओं, पूर्व में विद्यमान विकारों, गलतियों, कषायों के भय से व्यक्ति को मुक्त कर बिल्कुल नई शुरुआत करने की प्रेरणा देता है।** पूर्वाग्रह से मुक्त होकर किये गये कार्य-व्यवहार तनावों को घटाकर सफलता और सद्विश्वास की सम्भावना में वृद्धि करते हैं तथा एक सकारात्मक वातावरण का सृजन करते हैं।

अनेकान्तवाद और अवसाद से मुक्ति

भगवान महावीर ने वस्तु का स्वरूप समझाते समय उसे अनेकान्तात्मक बतलाया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति टीका में लिखा है- 'जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।'[7] सत्-असत् की तरह तत्-अतत् भी विधिनिषेध रूप होते हैं, किन्तु निरपेक्षपने से नहीं, क्योंकि परस्पर सापेक्षपने से वे दोनों तत्-अतत् भी हैं।[8]

यह सिद्धान्त है कि विरोध वस्तु के स्वभाव में है। यह दार्शनिक सिद्धान्त व्यावहारिक व्याख्या सहित समझ लिया जाय तो मनुष्य विरोध को स्वीकार कर पायेगा और जीवन में मानसिक सन्तुलन नहीं खोएगा। निराशावादी और हठ धर्मिता के स्वभाव वाले लोग अक्सर प्रत्येक वस्तु, घटना या परिस्थिति को सिर्फ अपने नजरिये से देखते हैं। उनका यह एकांगी दृष्टिकोण उन्हें इसलिए अवसाद की ओर धकेल देता है, क्योंकि वे घटना या परिस्थिति के दूसरे पक्ष की तरफ देख ही नहीं पाते हैं। भगवान महावीर ने वस्तु का स्वरूप अनन्त धर्मात्मक बताया है। उसी अनन्त धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को समझकर मनुष्य निज स्वरूप का विचार करे तो वह कभी तनाव या अवसाद से ग्रसित नहीं हो सकता। दो विरोधी दिखने वाले धर्मों का एक ही द्रव्य में एक साथ सहावस्थान होना तो वस्तु का अनेकान्तात्मक स्वभाव है। **इसलिए मेरा दृष्टिकोण जो है ठीक उससे विपरीत दृष्टिकोण या विचार दूसरे के हो सकते हैं। यह स्वीकारोक्ति ही व्यक्ति को आधे से अधिक तनाव से मुक्त कर देती है और वह सुखी हो जाता है।** फलस्वरूप वह अवसाद से ग्रसित ही नहीं होता।

कर्म सिद्धान्त और अवसाद से मुक्ति

''जो जैसा करता है, वह वैसा भरता है।'' यह सामान्य कर्म सिद्धान्त है जो सम्पूर्ण भारतीय जनमानस में समाया हुआ है। जैन कर्म सिद्धान्त में इसकी गहरी मीमांसा की गयी है। जैनदर्शन के अनुसार यह सृष्टि अनादि अनन्त है। इसका कोई निर्माता या नियन्ता नहीं है। सभी संसारी जीव अपने कर्मों का फल समय आने पर अनुकूल या प्रतिकूल भोगते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों के लिये स्वयं उत्तरदायी होता है। वह जानता है कि वह अपने द्वारा किये गये शुभाशुभ भावों का फल खुद ही भोगने वाला है। पाप के फल में उसे कोई शरण देने वाला नहीं है, अतः अशुभ कर्मों से यथाशक्ति बचने का प्रयत्न करता है तथा प्रतिकूलताओं में स्वयं कृत कर्मों का ही प्रतिफल जानकर शान्तचित्त ही रहता है।

सुखी होना, दुःखी होना यह अपने स्वयं के कर्मों का फल है। उसी कर्म से उत्पन्न किया जाने वाला सुख-दुःख कर्मफल है।[9] **दूसरा मुझे सुखी या दुःखी करता है- यह विचार ही वह करता है जो तत्त्वज्ञान से शून्य है। पर पदार्थ तुम्हें सुखी या दुःखी नहीं कर सकते हैं; वे मात्र सुख या दुःख के निमित्त हैं।** इस प्रकार का श्रद्धान होने पर जीवन में दूसरों को दोष देने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगता है और स्वयं के कर्म सुधारने की समझ बढ़ती है। प्रत्येक मनुष्य अपना-अपना कर्म फल भोगता है, दूसरे का नहीं, अतः **मेरे जीवन में जो दुःख या प्रतिकूलता है उसका मूल कारण दूसरा नहीं है, वह तो मात्र निमित्त है।** ऐसा चिन्तन करने से मनुष्य व्यर्थ ही तनावग्रस्त नहीं होता और अवसाद से बचा रहता है।

रत्नत्रय का सिद्धान्त और अवसाद से मुक्ति

जैनदर्शन में रत्नत्रय कहलाते हैं- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र।[10] इन्हें मोक्ष का मार्ग कहा गया है। **रत्नत्रय को धारण करने वाला कभी तनाव से ग्रस्त नहीं होता और अवसाद मुक्त रहता है।** सम्यग्दर्शन का अर्थ है सच्चा विश्वास, अपनी शुद्धात्मा पर विश्वास; भगवान द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों पर विश्वास। वर्तमान में बौद्धिकता और तार्किकता के अतिरेक ने हमारे भीतर विश्वास करने की सहज प्रवृत्ति को बहुत खण्डित किया है। सच्चा विश्वास करने के लिए सरल-ऋजु स्वभाव चाहिए। मैं यह बात दावे के साथ कह सकता हूँ कि सम्यग्दर्शन के पथ पर तनाव रहित सरल-ऋजु चित्त वाला ही चल सकता है। सम्यग्दर्शन के जो साधन हैं वे भी तनाव आदि से दूर करने वाले हैं।

सम्यग्ज्ञान के माध्यम से किसी भी घटना, परिस्थिति या परिणाम की सही जानकारी होती है। जो वस्तु जैसी है उसका जो स्वरूप है, उसको वैसा ही जानना यह सम्यग्ज्ञान है। प्रायः सही ज्ञान के अभाव में मनुष्य तनावग्रस्त रहता है। सही ज्ञान हो तो व्यक्ति समस्या का समाधान कर सकता है।

सम्यक् चारित्र मनुष्य को सदाचरण सिखाता है।

हमारे तनाव-अवसाद का मुख्य कारण हमारा गलत आचरण भी है। क्रोध, मान, माया, लोभ-ये चार ऐसे भाव हैं, जो शान्तचित्त आत्मा को कष्ट देते हैं (दुःखी करते हैं) इसलिए इनका नाम जैनदर्शन में 'कषाय' रखा गया है। आत्मा के चारित्रिक गुणों का घात इन्हीं चार कषायों के कारण होता है, और इन्हीं कषायों की प्रबलता मानव को तनावग्रस्त भी करती है। शुद्ध चारित्र की प्राप्ति के लिए इन चार कषायों की समाप्ति बहुत आवश्यक है। ये कषायें जैसे-जैसे मन्द होती हैं वैसे-वैसे तनाव घटता जाता है। अन्य कई प्रकार की मानसिक बीमारियों का कारण भी इन कषायों की प्रबलता है। अतः सम्यक् चारित्र के अभ्यास से इन पर विजय प्राप्त करके मनुष्य अवसाद आदि का शिकार नहीं होता।

सर्वज्ञता का सिद्धान्त और अवसाद से मुक्ति

जैनदर्शन सर्वज्ञता के सिद्धान्त को मानता है। वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान में तीनों लोकों के प्रत्येक द्रव्य की तीनों कालों (भूत, भविष्य, वर्तमान) की प्रत्येक पर्याय को प्रत्यक्ष जानते हैं। कहा गया है- 'वे सर्वज्ञ सम्पूर्ण द्रव्यों एवं उनकी पर्यायों से भरे हुए सम्पूर्ण जगत् को तीनों कालों में जानते हैं। तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं,[11] आज से 2600 वर्ष पहले भगवान् महावीर सर्वज्ञ हो गये थे, उनके केवलज्ञान में भविष्य भी झलक गया था।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य किसी भी घटना, परिस्थिति को लेकर आश्चर्य चकित नहीं होता और न परेशान होता है। फलस्वरूप वह हर प्रतिकूल-अनुकूल परिस्थिति की तैयारी पूर्व से ही कर चुका होता है। मैं जीवद्रव्य हूँ, मेरा हर परिणमन केवलज्ञानी पूर्व में जान चुके हैं। अतः हर घटना निश्चित है, उसमें मेरा कुछ भी नहीं है। ऐसा विचार करके वह प्रत्येक पल निश्चिन्त रहता है, तनावग्रसित नहीं होता और न अवसाद में जाता है। वह तो यही विचार करता है-

जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी सो कबहूँ न होसी, काहे होत अधीरा रे।।

अहिंसा का सिद्धान्त और अवसाद से मुक्ति

जैनधर्म अहिंसावादी है। अहिंसा का सिद्धान्त प्रत्येक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में रहता ही है। प्रमाद के योग से प्राणों का हरण कर लेना हिंसा कहलाता है।[12] मन-वचन-काय से किसी जीव को दुःखी करना या उसके प्राणों का हरण कर लेना ही मुख्य रूप से हिंसा है। हिंसा करने से पहले व्यक्ति का मन, विचार, भाव आदि स्वयं हिंसक हो जाता है। लगातार हिंसा की विचारधारा होने से मनुष्य तनाव में रहता है। दूसरों को दुःखी करने वाले को सबसे पहले स्वयं परेशान होना पड़ता है। अहिंसा का भाव मन को शान्त रखता है, अतः तनाव मुक्त रहने के लिए अहिंसक विचारधारा बहुत आवश्यक है।

अपरिग्रह का सिद्धान्त और अवसाद से मुक्ति

भगवान महावीर ने माना कि दुःखों का मूल कारण परिग्रह भी है। मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति को परिग्रह कहा गया है।[13] आवश्यकता से ज्यादा अचेतन पदार्थों का संग्रह मनुष्य को तनाव में डाल देता है। **जो मनुष्य जितना कम परिग्रह रखता है उतना ही तनावमुक्त रहता है।** मनुष्य जिस भी पदार्थ में आसक्त रहता है, उस पदार्थ का वियोग होने पर वह अत्यन्त दुःखों को भोगता है जो तनाव का कारण बनता है। अतः जितना कम परिग्रह तथा आसक्ति उतनी ही तनाव मुक्ति।

धार्मिक क्रियाएँ और अवसाद से मुक्ति

जैनदर्शन में चित्त की निर्मलता व एकाग्रता को बढ़ाने के लिये अनेक उपायों की चर्चा की गई है, जो न केवल कषायों में कमी लाते हैं वरन् वे चित्त की एकाग्रता व तत्त्वज्ञान में वृद्धि करके तनाव मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इनमें सस्वर पूजन-पाठ-भक्ति-स्वाध्याय-मन्त्रजाप और सामायिक आदि कार्य प्रमुख हैं।

अनेक वैज्ञानिक अध्ययनों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि प्रातः नित्य कर्म से निवृत्त होकर किये जाने

वाले सस्वर देव पूजन-भक्ति, स्तुति पाठ शरीर में कोलेस्ट्रोल व हानिकारक द्रव्यों की मात्रा में कमी करते हैं। इन क्रियाओं के माध्यम से शरीर में कषायों को बढ़ाने वाले हानिकारक हारमोन का स्राव बन्द हो जाता है तथा फेफड़े, हृदय तथा पावन तन्त्र की क्रियाशीलता में वृद्धि होकर हानिकारक विजातीय तत्त्वों को शरीर से बाहर निकलने में मदद मिलती है। सस्वर वाचन से तन्त्रिका तन्त्र, रक्त एवं नाड़ियों का लचीलापन बढ़ता है, जो शरीर की तनाव सहन करने की क्षमता को बढ़ाता है।

इसके साथ ही ध्यान या सामायिक का तनाव घटाने में महत्त्वपूर्ण योगदान है। ध्यान के लाभों से समस्त विश्व आज सुपरिचित है। **जैनदर्शन में कहा गया कि सामायिक ध्यान का ही एक रूप है, जिसमें वस्तु स्वरूप का चिन्तन करते हुए बाह्य जगत् के विषयों से मन को हटाकर उसे आत्म स्वरूप में एकाग्र करने का अभ्यास किया जाता है।** इस क्रिया में चित्त की चञ्चलता और शरीर की अनेकानेक क्रियाओं में मन्दता आ जाती है, शरीर पूर्णतः शिथिल हो जाता है किन्तु ज्ञान पूर्णतः जाग्रत रहता है। **इस ध्यान या सामायिक का प्रभाव शरीर व मन के तनावों को घटाने की दृष्टि से अद्वितीय है, उत्कृष्ट ध्यान को मुक्ति का कारण कहा गया है।**

इसके साथ ही भक्ति-पूजा-पाठ-स्तुति एवं ध्यान-सामायिक उत्कृष्ट शुभ भाव रूप होने से इन क्रियाओं के माध्यम से तीव्र पुण्य का बन्ध होता है जिसके फल में व्यक्ति को सभी प्रकार की जागतिक अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं तथा प्रतिकूलताओं की तीव्रता में कमी आ जाती है। इस प्रकार तनाव जनक स्थितियाँ पैदा ही नहीं होती तथा पैदा होती भी हैं तो व्यक्ति उनका सहज ही समाधान करने में सक्षम हो जाता है। सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन, देवदर्शन, अभिषेक आदि अनेक क्रियाएँ ऐसी हैं जो एक तनाव युक्त व्यक्ति को तनाव मुक्ति का अहसास करवा देती हैं।

स्वाध्याय भी तनाव को घटाने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। तीव्र कषायी व्यक्ति भी यदि स्वाध्याय करता या सुनता है तो शनैःशनैः वस्तु स्वरूप के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होने से उसकी कषाय में कमी आने लगती है। वास्तविक वस्तु स्वरूप का ज्ञान होने से व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में तनाव-ग्रस्त नहीं होता तथा प्रतिकूलताओं में भी वह समाधान का मार्ग निकाल ही लेता है। कहा भी गया है कि 'स्वाध्यायः परमं तपः' तथा ज्ञान ही सर्व समाधान कारक है। इस प्रकार स्वाध्याय से अर्जित ज्ञान तनाव-मुक्ति के लिए उत्कृष्ट समाधान प्रस्तुत करता है तथा तनाव रहित जीवन की कला सिखाता है।

यहाँ हमने कुछ प्रमुख सिद्धान्तों को तनाव-प्रबन्धन तथा अवसाद-मुक्ति के परिप्रेक्ष्य में संक्षेप में देखने का प्रयास किया है। इसे बहुत व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। इसके अलावा जैन योग पद्धति में कायोत्सर्ग, प्राणायाम, आसन तथा ध्यान की क्रियाएँ गहरे अवसाद से बाहर निकालने की सामर्थ्य रखती हैं। हम यदि इस विषय की और अधिक शोध खोज करें तो काफी अच्छे परिणाम सामने आ सकते हैं।

सन्दर्भ

1. https://hi.wikipedia.org/अवसाद (retrieved on 13.10.2016, 5:56PM)
2. स्रोतः मेन्टल हेल्थः अ वर्ल्ड ऑफ डिप्रेशन, नेचर 2014, मेंटल हेल्थ रिसर्च इन इण्डिया, आईसीएमआर।
3. डिसेबिलिटी एडजेस्टेड लाइफ ईयर ऑर हेल्दी लाइफ लॉस्ट टू प्रिमिच्योर डेथ और डिसेबिलिटी।
4. दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
   -पंचास्तिकाय, आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा-10
5. जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
   तच्चत्था इति भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।।-नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा-9
6. अण्णोण्णं पविस्संता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
   मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति।।-पंचास्तिकाय, आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा-7
7. यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकपरस्पर विरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशन-मनेकान्तः।-समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट।

8. सदसद्वत्तदतदपि च विधिनिषेधरूपं स्यात्। न पुनर्निरपेक्षतया तद्द्वयमपि तत्त्वमुभयतया।-पंचाध्यायी, श्लोक संख्या 332
9. तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदुःखं तत्कर्मफलम्।-प्रवचनसार, तत्त्व प्रदीपिका टीका, 124
10. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।-तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामि, 1.1
11. पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे। तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो।।-भगवती आराधना, मू. 2141
12. प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा-तत्त्वार्थसूत्र 7.13
13. मूर्च्छा परिग्रहः -तत्त्वार्थसूत्र, 7.17

सहायक ग्रन्थ/लेख/वेबसाइट–

1. तत्त्वार्थ सूत्र, आचार्य उमास्वामी, सम्पादक-फूलचन्द शास्त्री, प्रकाशन श्री गणेश वर्णी शोध संस्थान, वाराणसी।
2. प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, सम्पादक-ए.एन. उपाध्ये, राजचन्द्राश्रम अगास प्रकाशन, पंचम संस्करण 1999
3. समयसार, आत्मख्याति टीका सहित, आचार्य कुन्दकुन्द, परमश्रुत प्रभावक मण्डल प्रकाशन, अगास, गुजरात।
4. पञ्चास्तिकाय, आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीमद्राजचन्द्रआश्रम, स्टेशन- अगास, पो. बोरिया (गुजरात)
5. नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन- अगास, पो. बोरिया (गुजरात)
6. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग 1-4, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
7. जैन धर्म और दर्शन-मुनि प्रमाणसागरजी, प्रकाशक-राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली।
8. जैन धर्म : एक झलक, डॉ. अनेकान्त कुमार जैन, प्रकाशन प्राच्य श्रमण भारती, मेरठ, 2015
9. तनाव रहित जीवन के सूत्र (लेख) http://jainteerth.com/tension/
10. https://hi.wikipedia.org

-अध्यक्ष, जैनदर्शन, दर्शन संकाय, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016

जैन जीवनशैली

डॉ. श्वेता जैन

- जैन जीवन–शैली जीने की सुन्दर कला है।
- यह जीवन को परम लक्ष्य तक पहुँचाने वाली शैली है।
- जैन जीवन–शैली जीवन को शुद्ध बनाने की शैली है।
- यह पुरुष को महापुरुष बनाने वाली शैली है।
- यह नारी को श्रेष्ठ नारी बनाने की शैली है।
- यह बालकों को सुसंस्कारी बनाने वाली शैली है।
- यह आधुनिकता में समायोजन सिखाने वाली शैली है।
- यह निभने ओर निभाने में निपुण बनाने वाली शैली है।
- यह जीवन को तनावमुक्त करने वाली शैली है।
- यह व्यक्तित्व को निखारने और सुन्दर बनाने की शैली है।
- यह मानव को महामानव बनाने वाली शैली है।
- यह सुख–दुःख में व्यक्ति को समतामय करने वाली शैली है।
- यह मलिन चित्त को शुद्ध बनाने वाली शैली है।
- यह परस्पर उपकार करते हुए जीने की शैली है।
- चकाचौंध के इस युग में सादगीपूर्ण जीवन जीने की शैली है।
- यह समाज को उन्नति के शिखर पर ले जाने वाली शैली है।
- यह आडम्बरों से मुक्त होकर पवित्र जीवन जीने की शैली है।

-'समता कुंज', प्लॉट नं. 12/7ए, जालमविलास स्कीम, पावटा बी रोड, जोधपुर-342006 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 184
ISSN 2249-2011

भोजन के सन्दर्भ में जैन जीवनशैली*

प्रो. कमलेश कुमार जैन

भारतीय संस्कृति अद्भुत है। यहाँ जीना भी शुभ है और मरना भी शुभ है। वीतरागी सन्तों को जन्म के समय हर्ष नहीं और मरण के समय विषाद नहीं, क्योंकि जन्म-मरण की प्रक्रिया स्वाभाविक है। प्राणी अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार जन्म लेता है और आयुष्य कर्म पूर्ण होते ही मरण को प्राप्त करता है। यहाँ जीना भी कला है और मरना भी कला है। भारतीय संस्कृति में जन्म लेने के पूर्व से ही संस्कारों की एक लम्बी परम्परा प्रारम्भ होती है और मरने के पश्चात् भी वह चलती रहती है। गर्भाधान संस्कार से लेकर अग्नि संस्कार तक की सारी प्रक्रिया संस्कारों के अन्तर्गत आती है और उसके बाद भी द्वादशाह या त्रयोदशाह जैसे संस्कार सम्पन्न होते रहते हैं। तत्पश्चात् श्राद्ध और पुण्यतिथियों आदि के मनाने की एक लम्बी शृङ्खला है।

जैन संस्कृति में भी अनेक परम्पराएँ हैं, जिन्हें संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया है। आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण में इन संस्कारों का विस्तार से वर्णन है। सूर्योदय से पूर्व जागना और सूर्यास्त के पश्चात् सोना, वस्तुत: यही जैन जीवन जीने की शैली है, क्योंकि प्रकृति के साथ जीना और प्रकृति के साथ मरना ही श्रेयस्कर है। प्रकृति के विरुद्ध आचरण करने पर भी प्राणी जीता है और मरता भी है, किन्तु वह जीवन उपादेय नहीं है, अपितु हेय है।

प्रकृति का सम्मान करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति सूर्योदय से पूर्व जाग जाये और अपनी दैनिक क्रियाओं को प्रारम्भ कर दे। दिन कैसे प्रारम्भ किया जाये? इस पर ऋषियों, मुनियों और विद्वानों ने पर्याप्त आलोडन-विलोडन किया है, जिससे धार्मिक जीवन जीने के साथ ही एक स्वस्थ जीवन जिया जा सके। ईसा की तेरहवीं शती के विद्वान् पण्डितप्रवर आशाधर ने अपने सागार धर्मामृत में लिखा है-

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय व्रतपञ्चनमस्कृति:।
कोऽहं को मम धर्म: किं व्रतं चेति परामृशेत्।।

अर्थात् प्रात:काल ब्रह्ममुहूर्त्त में उठकर व्यक्ति को सर्वप्रथम पञ्च नमस्कारमन्त्र का जाप करना चाहिए। तदनन्तर यह चिन्तन करना चाहिए कि मैं कौन हूँ? मेरा धर्म क्या है? और मेरा व्रत (कर्त्तव्य) क्या है? यदि इस चिन्तन के साथ दिन प्रारम्भ होगा, तो सारा दिन व्यवस्थित रहेगा और हम अपने कर्त्तव्यपथ पर आगे बढ़ सकेंगे। पण्डितप्रवर आशाधर ने जो ये पञ्च सूत्र दिये हैं, वे व्याख्या सापेक्ष हैं।

जैनधर्म में तीन योगों की चर्चा की गई है- मनोयोग, वचनयोग और काययोग। यह सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाना है, किन्तु स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना व्यावहारिक प्रक्रिया है। उमास्वाति/उमास्वामी के अपने तत्त्वार्थसूत्र में सर्वसाधारण को समझाने की दृष्टि से स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने का प्रयास किया है। इसीलिये उन्होंने योग की परिभाषा करते हुए लिखा है कि-**कायवाङ्मन:कर्म योग:।** अर्थात् शरीर, वाणी और मन की क्रिया-ये तीन योग हैं। यहाँ स्थूल शारीरिक क्रिया से सूक्ष्म वाणी और उससे सूक्ष्म मन का क्रमश: उल्लेख किया है। इसी सरणी का अनुगमन करते हुए पण्डितप्रवर आशाधर ने जो पञ्चसूत्र दिये हैं, उनमें प्रथम शारीरिक क्रिया है। अर्थात् सर्वप्रथम प्रात:काल

* यह आलेख लेखक ने दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार लिखा है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा का अधिकतर इस सन्दर्भ में साम्य है, किन्तु कुछ बिन्दुओं पर मतभेद भी है, वह ध्यातव्य है। -सम्पादक

ब्रह्ममुहूर्त्त में उठना चाहिये। तदनन्तर वाणी का प्रयोग करते हुये पञ्च नमस्कारमन्त्र का जाप करना चाहिये और अन्त में मानसिक चिन्तन करना चाहिये कि मैं कौन हूँ? मेरा धर्म क्या है? तथा मेरा कर्त्तव्य (व्रत) क्या है?

यदि मनुष्य पण्डित आशाधर द्वारा कथित उक्त पञ्चसूत्रों को अपने जीवन में प्रतिदिन क्रियान्वित करता है तो न केवल मनुष्य का वह दिन सफल है, अपितु सम्पूर्ण जीवन सफल है तथा पूर्वोक्त जैन जीवनशैली अपनाने के कारण व्यक्ति, परिवार, नगर और राष्ट्र आदि का भी कल्याण कर सकता है। इस जीवन शैली में स्व के साथ जीवमात्र का हित समाहित है।

शौचादि से निवृत्त होने के पश्चात् शारीरिक शुद्धि अपेक्षित है। तदनन्तर जैन श्रावक को षट्कर्म करना आवश्यक है। आचार्य पद्मनन्दी ने अपनी पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका में लिखा है कि-

देवपूजा गुरूपास्तिः, स्वाध्यायः संयम स्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने।।

अर्थात् जैन श्रावकों को प्रतिदिन देवपूजा, गुरुओं की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान-इन षट्कर्मों को करना चाहिये। तदनन्तर भोजन आदि करके न्यायपूर्वक अर्थोपार्जन में लगना चाहिये। जैन शास्त्रों में भोजन की शुद्धि की पर्याप्त चर्चा की गई है, जिसमें यह बतलाया गया है कि सेवन के योग्य कौन-कौन से पदार्थ हैं और कौन-कौन से पदार्थ सेवनीय नहीं हैं। जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म है, अतः अहिंसा धर्म की रक्षा हेतु शाकाहारी भोजन ही ग्रहण करना चाहिये। शाकाहार में भी तामसिक भोजन नहीं करना चाहिये, क्योंकि तामासिक भोजन प्रमाद को बढ़ाने वाला है तथा धार्मिक क्रियाओं में बाधक है।

जैन जीवनशैली में कन्द-मूल आदि के सेवन का भी निषेध है। कन्द-मूल आदि जमीन के अन्दर पैदा होने से जीवराशि बहुल तो हैं ही, प्रमाद को भी बढ़ाने वाले हैं। राजसिक भोजन कदाचित् सेवनीय है, किन्तु अति गरिष्ठ भोजन धार्मिक क्रियाओं में व्यवधान उत्पन्न करता है, अतः मनुष्य को सात्त्विक भोजन ही करना चाहिये। सात्त्विक भोजन वही है, जो धार्मिक क्रियाओं में बाधा तो उत्पन्न करे ही नहीं, अपितु धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करने में भी उत्साहित करे।

परवर्ती ग्रन्थों में मोटा-मोटी बाईस अभक्ष्य पदार्थों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि-

ओला घोलबड़ा निशिभोजन
बहुबीज बैंगन सन्धान
बड़ पीपर ऊमर कठूमर
पाकर फल जो होय अजान।
कन्द-मूल माटी विष आमिष,
मधु माखन अरु मदिरा-पान।
फल अति तुच्छ तुषार चलित रस,
ये बाईस अभक्ष्य बखान।।

अर्थात् ओला, घोलबड़ा (दहीबड़ा), रात्रिभोजन, बहुबीजा, बैंगन, सन्धान (ऐसा अचार जो चौबीस घण्टे के बाद का हो), बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकड़, अजान-फल (जिसे हम पहिचानते नहीं, ऐसे फल या पत्ते आदि), कन्द-मूल (मूली, गाजर, आलू, जमींकन्द, अंगीठा, प्याज, आदि जमीन के अन्दर पैदा होने वाले पदार्थ) मिट्टी, विष (संखिया, धतूरा आदि), आमिष (माँस, मछली, अण्डा, चिकन, जिलेटिन युक्त आइसक्रीम, जेली, दवाइयाँ, कैप्सूल आदि), मधु (शहद), मक्खन, मदिरा (शराब, बियर आदि), अति तुच्छ फल (जिनमें बीज नहीं पड़े हों, ऐसे बिल्कुल कच्चे छोटे-छोटे फल) तुषार (बर्फ) और चलित रस (जिनका स्वाद बिगड़ जाये, ऐसे फटे दूध आदि)-ये बाईस प्रकार के अभक्ष्य (सज्जनों द्वारा सेवन न करने योग्य पदार्थ) जैनधर्म में कहे गये हैं।

अभक्ष्य पदार्थ वे कहलाते हैं जो सज्जन व्यक्तियों द्वारा भोजन स्वरूप ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। ऊपर जिन बाईस अभक्ष्य पदार्थों का उल्लेख किया गया है, वे सामान्यतः पाँच भागों में विभक्त हैं-1. त्रसहिंसा कारक, 2. बहु स्थावर हिंसा कारक, 3. प्रमाद कारक,

4. अनिष्ट कारक और 5. अनुपसेव्य। अभक्ष्य पदार्थों की उपर्युक्त सूची में प्राय: वे ही पदार्थ परिगणित किये गये हैं, जो भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा जैन जीवनशैली के खान-पान में ग्रहण नहीं किये जाने योग्य बताए गए हैं। चिन्तन-मनन करने से ज्ञात होता है कि-

1. जिन पदार्थों का सेवन करने पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पञ्चेन्द्रिय त्रस जीवों का घात होता है, वे त्रसहिंसा कारक अभक्ष्य पदार्थ हैं। जैसे-बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर। ये पञ्च उदुम्बर फल भी कहे जाते हैं। इनमें प्रत्यक्ष रूप से त्रस जीव देखे जा सकते हैं। अत: इनके सेवन से त्रसहिंसा होती है। घुना (घुन लगा) अन्न खाने से जीव हिंसा तो होती ही है, साथ ही स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ता है। जिस वस्तु की मर्यादा पूर्ण हो गई हो वह भी सेवन करने योग्य नहीं है। जैसे शीतकाल में आटे की मर्यादा सात दिन, ग्रीष्म काल में पाँच दिन और वर्षाकाल में केवल तीन दिन की होती है, उसके पश्चात् उस आटे में जीवों की उत्पत्ति होने लगती है, अत: मर्यादा पूर्ण होने के पश्चात् उस आटे का सेवन नहीं करना चाहिये। यह वैसे ही है जैसे एलोपैथिक आदि दवाओं के उपयोग की तिथि समाप्त हो जाने पर उनका सेवन नहीं किया जाता है, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। जिन पदार्थों में वर्षाकाल में फफूँदी लग गई हो, उनका भी सेवन नहीं करना चाहिये। चौबीस घण्टे बाद का मुरब्बा, अचार, बड़ी, पापड़ और द्विदल (चना, मूँग, उड़द आदि दो समान भागों में विभाजित होने वाली दालों में दही मिलाकर बनाये गये सभी पदार्थ द्विदल हैं)# खाने से त्रस जीवों की हिंसा होती है। स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति के शरीर पर सफेद दाग का होना बहुमात्रा में खाये गये द्विदल का ही परिणाम है।
2. जिन पदार्थों का सेवन करने से पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावर जीवों की अधिक हिंसा होती है, वे बहुस्थावर हिंसा कारक पदार्थ हैं। इनमें आलू, प्याज, लहसुन, गाजर एवं मूली आदि की गणना की जाती है। ये कन्दमूल में भी आते हैं। कन्द-मूल वे कहलाते हैं, जिनके सेवन से अनन्त स्थावर जीवों की हिंसा होती है। इसी प्रकार तुच्छ फलों (जिनमें बीज न पड़े हों, ऐसे बहुत छोटे-छोटे फलों) को खाने से हिंसा होती है, अत: तुच्छ फलों का सेवन नहीं करना चाहिये।
3. प्रमाद कारक पदार्थ वे हैं, जिनके सेवन से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसमें वे सभी मादक अथवा नशीले पदार्थ परिभाषित हैं, जो मस्तिष्क को विकृत करते हैं। जैसे-शराब, भाँग, गाँजा, अफ़ीम, चरस, तम्बाखू एवं नशीली दवाइयाँ आदि।
4. अनिष्ट पदार्थ वे हैं, जो भक्ष्य होने पर भी शरीर में रोगादि उत्पन्न करते हैं। जैसे-बुखार से पीड़ित व्यक्ति को दधि आदि ठण्डे पदार्थ खिलाना अथवा बर्फ खिलाना आदि।
5. अनुपसेव्य पदार्थ वे हैं, जिन्हें सज्जन व्यक्ति स्पर्श करना भी पसन्द नहीं करते हैं। जैसे-लार अथवा मूत्रादि का सेवन।

उपर्युक्त पाँच प्रकार के पदार्थों के अतिरिक्त जिनका स्वाद बिगड़ गया है, ऐसे चलित रस वाले फटे दूध आदि का सेवन नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिये। यहाँ तक कि रात्रि में बनाये गये भोजन को करने का भी जैनधर्म में निषेध है। क्योंकि रात्रि में भोजन करने और बनाने-दोनों में त्रसहिंसा का बाहुल्य है।

वर्तमान युवा पीढ़ी प्राय: तर्क देती है कि पहले

'द्विदल' शब्द का अर्थ दाल है, किन्तु उपचार से दही युक्त दाल, बेसन आदि से बने पदार्थ को भी दिगम्बर परम्परा में द्विदल माना जाता है। यह द्विदल तो चौबीस घण्टे पूर्व भी त्याज्य है। -सम्पादक

रात्रि में प्रकाश के साधन बहुत कम थे, इसलिये रात्रि में भोजन करने और बनाने-दोनों का निषेध था, किन्तु वर्तमान में विज्ञान ने अपने नित्य नये-नये आविष्कारों के द्वारा रात्रि में भी दिन के समान प्रकाश की व्यवस्था कर दी है, तब रात्रि-भोजन का निषेध क्यों? किन्तु यह सब वे ही लोग कहते हैं, जिन्हें विज्ञान का पूर्ण ज्ञान नहीं है। रात्रि में बिजली के उजाले में बहुमात्रा में जीवों की उत्पत्ति होती है।

एक अन्य बात यह भी है कि रात्रि में भले ही हम लाखों, करोड़ों बल्ब जला दें, किन्तु उनसे सूर्य के प्रकाश की तुलना नहीं की जा सकती है। क्या तालाब के किनारे लाखों, करोड़ों बल्बों के जला देने से रात्रि में कमल के फूल को खिलाया जा सकता है? कभी नहीं। इसलिये प्रकृति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके ही हम स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त रह सकते हैं तथा दीर्घायुष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागरजी महाराज ने शंका-समाधान के अन्तर्गत दिन में भोजन करने के लाभों की चर्चा करते हुये बतलाया है कि 'दिन में भोजन करने से हमारी प्रकृति की अनुकूलता होती है। कमल सूर्य के रहने पर खिलता है और जैसे ही सूर्यास्त होता है कमल सिकुड़ जाता है। ऐसे ही हमारे शरीर की जठराग्नि है। जब तक सूर्य उदित रहता है, तब तक पूरी तरह सक्रिय होती है। सूर्यास्त होने के बाद जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। इसलिये सूर्यास्त के पूर्व यदि आपके पेट में कोई भोजन जायेगा, तो उसका पाचन अच्छा होगा और सूर्यास्त के बाद आप भोजन करेंगे तो भोजन ठीक से नहीं पचेगा। विवेकी गृहस्थों और तपस्वियों को तो रात्रि को जल भी नहीं पीना चाहिये। वे रात्रि में चारों प्रकार के आहार (अन्न, जल, स्वादिष्ट पकवान और लेह्य अर्थात चटनी आदि चाटने योग्य पदार्थ) को त्याग देते हैं। दिन के समय सूर्य की किरणों में उपस्थित अल्ट्रावायलेट किरणों के कारण सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। रात्रि होते ही उनका सञ्चार हो जाता है और आपके भोजन में समाविष्ट होने की सम्भावना बनी रहती है। जीव हिंसा से बचने के लिए, स्वास्थ्य लाभ के लिये व्यक्ति को चाहिये कि दिन में ही भोजन करे।

जैन जीवनशैली में मूल स्रोतों से प्राप्त एवं दुहरे साफ-सुथरे मोटे कपड़े से छने पानी को पीने की परम्परा है। इतना ही नहीं पानी को छानकर उबाला भी जाता है, जिससे वह निर्जन्तुक एवं प्रासुक हो जाता है। यह पानी तथाकथित बोतलों में बन्द शुद्ध पानी से हजार गुना श्रेष्ठ है और स्वास्थ्यकर भी है। अत: हमें इस अति प्राचीन उक्ति को नहीं भूलना चाहिये कि-**वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्** अर्थात् वस्त्र से छानकर पानी पीना चाहिये। जो लोग जैनधर्म में विश्वास करते हैं और तदनुकूल आचरण भी करते हैं, वे उपर्युक्त प्रकार के जल का ही सेवन करते हैं।

सामान्य पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी प्रकृति के साथ जीते हैं। सूर्य के आगमन की सूचना प्रात:कालीन किरणों के आगमन से होती है। ये लाल-लाल किरणें प्राणिजगत् में प्राणों का सञ्चार कर देती हैं। पशु-पक्षी कलरव करने लगते हैं। पेड़-पौधे झूमने लगते हैं और मन्द-कन्द हवा का झोंका रात्रिकालीन तन्द्रा को तोड़ने लगता है तथा एक सुहावने प्रात:काल का आगमन होता है।

प्रकृति से सभी जुड़े हैं, चाहे बुद्धिजीवी मनुष्य हों अथवा पशु-पक्षी हों। मनुष्य और पशु-पक्षियों में एक अन्तर अवश्य है और वह यह है कि पशु-पक्षी प्रकृति के साथ तो जीते हैं, किन्तु उनमें धर्म का अभाव होता है। वे केवल अपना पेट भरने के लिए जीते हैं, जबकि मनुष्य एक बुद्धिजीवी प्राणी होने के कारण न केवल अपने हित का चिन्तन करता है, अपितु स्व के साथ पर के उपकार की भी चिन्ता करता है। इसलिये वह धार्मिक, विवेकी आदि विविध शब्दों के माध्यम से सम्बोधित किया जाता है।

विष्णु शर्मा ने अपने पञ्चतन्त्र नामक ग्रन्थ में पशु-पक्षियों और मनुष्यों में भेद करते हुए लिखा है कि-

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च,

सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीना: पशुभि: समाना:।।

अर्थात् शास्त्रों में आहार, निद्रा, भय और मैथुन इन चार संज्ञाओं का उल्लेख किया गया है। ये संज्ञाएँ सम्पूर्ण जीव जगत् में समान रूप से पाई जाती हैं, किन्तु धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है, जो मनुष्य में पाया जाता है और इसी के कारण पशु-पक्षियों एवं मनुष्यों में भेद किया जा सकता है। अर्थात् जो धर्म से युक्त है वह मनुष्य है और जो धर्म से रहित है, वह पशु है। यहाँ तक कि धर्म से रहित मनुष्य को भी पशु की संज्ञा दी जाती है।

यदि हम प्रकृति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके अहिंसामयी जैन जीवन शैली को अपनायेंगे तो कोरोना वायरस जैसी अन्तरराष्ट्रीय महामारी को मात दे सकेंगें। ''शुभं भूयात्''

-पूर्व विभागाध्यक्ष, जैन-बौद्धदर्शन विभाग, काशी हिन्दू, विश्वविद्यालय, वाराणसी
-N 13/23, E 14-A, Near Umanath Akhara Sarai Surjan, Post-Bazardiha-221106, Varanasi (UP)

विवाह आदि समारोहों में सादगी

श्री पारसमल चण्डालिया

विवाह जैसे पवित्र बन्धन पर लाखों करोड़ों का अपव्यय क्यों? क्यों रचते हैं हम आडम्बर युक्त विवाह, यह तो सिर्फ बड़े लोगों की शान है, पर इससे निम्न वर्ग परेशान है, इतनी फिजूल खर्ची में तो कई जैन परिवारों को पाला जा सकता है। वर्तमान में सामाजिक संस्कृति दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही है। जैनियों के लिए यह चिन्तन का विषय है। उसमें सुधार लाने की आवश्यकता है। साधारण परिस्थिति के लोग बढ़ती हुई महंगाई में पिसते जा रहे हैं तो धनाढ्य कहलाने वाले और अनापशनाप खर्च करने वाले जैनियों की ओर भी कई लोग अँगुलियाँ उठा रहे हैं। हमारे पूर्वजों ने मनुष्य का सांसारिक जीवन सुखमय बना रहे, आपस में प्रेम संगठन बढ़े, इसके लिए वैवाहिक व्यवस्था बनाई। वैवाहिक कार्यक्रम सादगीपूर्वक सम्पन्न हो और वर्तमान में बढ़ रही दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश लगे, इसके लिए निम्न सुझावों पर चिन्तन कर अमल में लाना आवश्यक है-

1. विवाह दिन में और जैन विधि से कराये जाएँ।
2. भोजन का आयोजन दिन में रखें।
3. सामूहिक विवाह का आयोजन दिन में सम्भव हो सके तो खर्च की बचत हो।
4. खाना दिन में बन सके, ऐसा प्रयास हो।
5. मैदा, पानी बिना छाना काम में न लें।
6. जूठा न डालें, इसके लिए कपडे के बैनर आदि लगावें।
7. भोजन में जमींकन्द का उपयोग न करें।
8. भोजन में 12-15 आइटम से अधिक न रखें।
9. मण्डप सादा हो, तड़क-भड़क से बचें।
10. पाँच सितारा या ऐसी होटलों में जहाँ शाकाहार एवं मांसाहार साथ-साथ पकता हो बारात नहीं उतारें।
11. सड़क पर नहीं नाचें।
12. आतिशबाजी का प्रयोग नहीं करें।
13. लाइट (विद्युत्) का अपव्यय न हो। तेउकाय के जीवों को अभयदान मिलें, ऐसा प्रयास हो।
14. सचित्त फूलों का उपयोग नहीं करें, वनस्पतिकाय के जीवों को अभयदान दें।
15. डाण्डिया रास एवं गीत-संगीत की महफिलें आयोजित नहीं करें।
16. आडम्बर एवं प्रदर्शन में सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करते हुए, उसे साधर्मी सेवा एवं दान पुण्य में लगायें।
17. जल की एक बूँद में असंख्य जीव हैं ऐसा सोचकर व्यर्थ में पानी न गिरे, पानी का दुरुपयोग न हो-ऐसी व्यवस्था करें।

-7/14, उत्तरी नेहरु नगर, बिट्टल बस्ती, बंगाली मिठाई के सामने, ब्यावर-305901 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 189
ISSN 2249-2011

Anekānta Philosophy as a Way of Life

Dr. Narendra Bhandari (A renowned Scientist)

Life style at the level of an Individual, family, society, nation and in international relations can be peaceful if the philosophy of Anekānta is adopted in all arguments and activities to resolve disagreements and disputes. But before adopting such a life style, the meaning of Anekānta must be clearly understood and realised. Anekānta is a law of nature although colloquially it is used as a general term encompassing three doctrines i.e. Anekāntavāda, Nayavāda and Syādvāda. These three terms which can be translated as multiplicity of modes, perspectivism and Non-absolutism of Truth. These doctrines are fundamental descriptions of Nature. They correctly define the nature of objects, observers and the knowledge and can not be ignored just as one can not ignore laws of physics while dealing with material objects. We will discuss these concepts after we address a more important concept related to truth and false hood.

In practice, Anekānta is taken as respecting opinions of others even when their views do not agree with one's views. This is not a policy just to avoid conflicts but is based on the true understanding of the nature of things and the laws of nature. Since these doctrines are related to 'truth' and the way the world really is, they should be based on facts and falsity and untruth has no place in it. Let us begin with a simple example. If some one says that this wall is black whereas, in reality, it is white, one need not respect his opinion. That would be absurd. So the first point is that falsehood must be eliminated, based on facts, definitions and logic. Wrong can not be considered right and Anekānta can not be stretched to include falsehood. Here the logic of distinction (Bhedavijñan) must be exercised. Further, at gross levels, in the deterministic world, Anekānta can not be applied. It is applicable to subtle , atomic or sub-atomic level of matter (dravya), which is governed by quantum mechanics, as also on thought (bhāva), which is also made of subtle matter.

The second point, equally important, is that anekānta should not mean vagueness, doubt or confusion. I agree with others not because I am not sure about the matter in question or others are doubtful. Anekānta comes into play after falsehood and doubts are eliminated. Anekānta is the real truth and frees one from falsehood or confusion. Not that ' a particular thing' can possibly be like this, but it is in reality like this, many faceted, because of the very nature of the universe. It is not based on logic alone, but based on true nature of things.

Everything in the universe can be classified in three groups: The object to be known (jñeya or knowable), The subject who wants to know (Jñāyak, or observer) and the knowledge (jñan, Knowledge), the subject perceives about the object. Anekāntavada, Nayavāda, and Syādvada relate to these three aspects respectively, as we will describe below.

Anekāntavada

Multiplicity of modes. Everything in the universe changes all the time (t), in its mode, but not in its essence. Essence (E) is

everlasting, permanent and unchanging, mode (M) is ever changing, transient and in flux.

We can express a thing Y as made up of two components E and a time variable component, m(t)

Y = E + m(t), where t = time

E can be known but it does not define Y completely; its transient and complementary part, m is changing every instant, Y changes before one can know it at a particular instant, thus making it impossible to know a thing completely. So anything is unknowable in all its aspects, as a function of time, past, present and future. This is the Jain view for the lay people like us (but the enlightend omniscients know all the things completely).

Perspectivism

We know that an observer is subjective. Therefore, as far as the observer is concerned, there are two aspects, we need to consider: his View point, defined by the relation of the observer and the observed. We can also call it observers frame of mind, taking analogy of the Special Theory of Relativity (STR), where the observed motion of an object depends on the inertial frame of reference of the observer in relation to the object. In the present context we can say that it depends on the mental frame of reference of the observer.

The other point is the limitation of the observer. If observer is observing through his sense organs, then we know that every body's sense organs are not perfect. They have limitations of efficiency, sensitivity and also depend on the environmental conditions. And at the next stage, the mind, which integrates the information obtained from all the sense organs and provides a final product or experience, comes into play. Mind is never perfect. It updates and improves a little with every observation. Mind is updating all the time. Only in case of an omniscient, who gets information directly by consciousness (pratyakṣajñāna), without the help of sense organs and mediation of the mind (parokṣa or indirect jñāna), the information may be perfect. This is akin to the universal observer in case of STR, we discussed above.

The well known anecdote of an elephant and six blind men is very apt in understanding the principle of perspectivism. Each of the six blind men observe different parts of the elephant and the one who observes the leg, call it alike a pillar; the one who observes the body, calls it wall like; the one who observes the trunk, calls it like branch of a tree and so on. No one has a correct description but if one integrates all the information (or views), obtained by all the six observers, he approaches the truth. So every description is partially right, none is totally wrong, and all views taken together are closer to reality.

Syādvada is a very fundamental concept since it relates to the nature of Truth. It states that there is 'No One Absolute Truth'. Truth can have multiple manifestations. So every Truth is a Truth in its own right but is not unique. Ask, for example, how the universe is made? There can not be just one way; rather it can be made in multiple ways. Or ask another important question: what happens after death. It need not be a particular, singular consequence. This principle of Syādvada is, the only law which is infallible, as Acharya Amritchandra says.

'जो सदा नियम का निषेध करता है
और निपात रूप से सिद्ध है,
उसे स्यात् कहा गया है।
वह वस्तु को सापेक्ष सिद्ध करता है।'

"Syat always denies the validity of a single (universal, eternal) Law and is a proven 'infallible' law in itself. This law proves the Relativity of Reality."

One should therefore be careful in making an absolute statement, true for all

places and times since such an assertion leads to falsehood. It does not mean ambiguity, confusion or uncertainty but makes our understanding as certain and complete as it can be, because this is how the Nature is.

The legend has it that Mahavir swami, while instructing his disciples, said "That now you have taken a vow to always tell the truth, qualify every statement with Syat." Syat here means a view point. To be factually correct, one should leave some scope of a view point in defining a thing or a process. There may be other ways to get the same result.

One more point need to be made in connection with Reality. Reality can always be experienced, never correctly described in any language or formula". Truth can not be written (or told) and what can be written can not be the Truth", declared Lao Tzu, when asked by one of his students to write down what he knows. This brings us to the concept of indescribability, first enunciated in Jain philosophy and realized by quantum mechanics, the physics of the small objects like atomic or subatomic particles.

Physics tells us that gross bodies that we can see with the unaided eye are deterministic and follow the classical mechanics, whereas the behaviour of subtle or micro-bodies is probabilistic and follows quantum mechanics. A table will always appear as a table, being gross, but an electron may not always appear as electron; it may appear as a wave or it may not even exist till it is observed. Strange as it may seem, it is true and has been established by experiments as well as theory. Thus an electron (or any other particle) may be in a state which can not be described.

Indescribability is an important and practical concept and provides the only way some paradoxes can be explained. One of the famous paradox is the paradox in which a ship A is disassembled, one part at a time and, from those parts, a new ship B is reassembled. The question is: Is B the same ship as A or another ship B? This can be answered differently based on the view point of utility, constituents, contextuality and if one is looking for a single answer than indescribability has to be invoked.

Another relevant concept is unknowability. Scientific knowledge is based on the idea that something is unknown to start with. Its study slowly increases its knowledge and ultimately, all the information can be known. Thus unknown can be converted to known through its knowledge.

Unknown and known are the two end members of the knowledge system and unknown is gradually but surely converted into known. Jain concept is based on three component system : known, unknown and unknowable. There is always something unknowable by sensory organs. It can be only known by Omniscient by direct jñāna (pratyakṣa) without assistance of sensory organs or brain/mind (Fig.1).

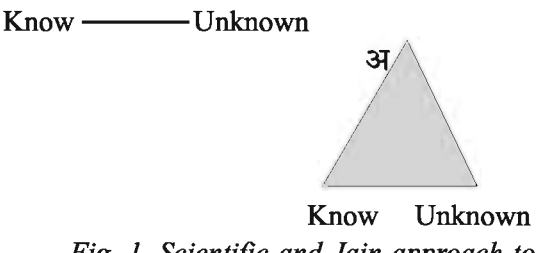

Fig. 1. Scientific and Jain approach to knowability. Scientific study (shown on the left) has a linear two end member approach, i.e. any unknown can be converted into known through study of the object. Jain knowledge system is based on three component model (right), Known, Unknown and Unknowable (represented by अ), which can only be experienced by omniscient.

Having defined the three aspects of reality, related to the object, subject and the

knowledge itself, and other relevant concepts of indescribability and unknowabilty, we now turn to their practical applications in life. A philosophy based on these basic concepts of nature of things must be the basis of a correct life style. Things always do not happen the way one wants. The life is not deterministic at all levels. We may try our best and all the things may apparently fall in place except the outcome. The life is probabilistic and not deterministic at subtle level. Thus any consequence should be taken in the light of Anekānta philosophy. At personal level and thinking this is the most useful application of Anekānta.

In daily life we come across many situations in which there may be lack of knowledge about something, or there may be disagreement between various members of the family, society or nations. Anekānta (Anekāntavāda, Nayavāda or Syādvāda) should not be taken as a first option, to arrive at an agreement; it is rather the last resort. First the problems should be resolved by collecting information and increasing knowledge, then based on facts and logic. Only at the subtle level, when all other efforts are exhausted and disagreement persists, then the differences can be settled by resorting to Anekāntavāda, that things (modes) change with time, their perception changes with people's view point and may be what every body says represents some partial, uncertain and relative truth.

These three principles exclude any rigidity because there is inherent view point in each one of them. Flexibility and acceptance of things as they unfold is the only basis of a correct, peaceful and truthful life style. Resorting to anger and quarrelling have no place in Anekānta life style.

In family, usually there are differences on behaviour and disputes for property. Anekānta does not imply that wrong behaviour is an acceptable solution under the pretext of anekānta but efforts should made to find the right solution, keeping in mind that there is no solution which is absolutely perfect. Just like one can live with the philosophy of non-violence with the realization that no body can really live or survive with absolutely zero violence, and adopts the life style of minimizing violence, so is true for anekānta philosophy. Anekānta philosophy does not mean no arguments, no disputes but advocates adoption of the path of minimum disputes, giving the benefit of doubt to others, because they may be equally right or their understanding or need may be more than yours. Only when one's survival is in danger, and no solution is found based on policies, law, tradition, or discussion, the parties involved can adopt the Anekānta philosophy and arrive at the solution of minimum disagreement. Many a times a little sacrifice can lead to much peaceful life. Similar situations exist in the societal, religious or political context, at national levels as also in international affairs. Thus Anekānta philosophy can have practical application in all contexts and implies four principles :-

- Absence of rigidity, dogmatism and fanaticism
- Coexistence, not only at physical level but also at intellectual and philosophical levels
- Freedom of speech and thought but not of action. The freedom is not absolute but limited to certain sphere, to certain extent till it does not interfere with the freedom of others.
- Tolerance and cooperation.
- Forgiveness : Every body does not know everything and there are some aspects of nature which are unknowable except by Omniscient. Keeping this limitation in mind, one should adopt the path of forgiveness.

Recent studies of the brain (e.g. Davidson, 2005; Campbell, 2010) have established that forgiveness produces neurotransmitters (e.g. dopamine, serotonin, norepinefrine and endorphin) which play a role in happiness. A few studies point to the role of cortisol and adrenaline (adrenal gland) and oxitocin (pituitary gland) in controlling happiness.'Happy' chemicals like GABA, lead to good health benefits whereas aggressiveness and anger produces bad and unhealthy chemicals. Actually arguing without getting angry or aggressive, i.e. without personal or emotional involvement, is the key to good, peaceful and healthy life.

Actually The law of coexistence and cooperation is the law which nature follows in all its activities (Bhandari, xxxx), so it is best to obey this law in all activities for one's own good. These principles lead to the principle of unity in diversity at all levels.

Anekāntavāda is also law of equality. No one is superior or inferior and this is a big principle in life. There is no place for ego in anekānta philosophy. Thus anekānta is not a single principle but composed of many fundamental principles enumerated above. It has a solid theoretical foundation based on nature of Nature as also practical application for a better life style in many spheres of human activity. It would not be an exaggeration to say that it is what makes our species civilized, and acts as a back bone of a civilized society. Without it, humans will be like animals preying on each other.

Any sacrifices or losses incurred by adopting a life style based on anekānta philosophy is more than compensated by the peace and goodwill earned. Thus anekānta philosophy leads to minimum disagreements and disputes at all levels of activities and should form the basis of a balanced and peaceful life style.

Acknowledgements :

I am grateful to Munishri Mahendra Kumarji swami for clarifying to me many points discussed here.

References :

- *Bhandari Narendra and Pokharna Surendra Singh (2016) Syādvāda* and *Anekāntavāda* in the Modern Scientific Context, in Scientific Perspectives of Jainism, (Samani Chaitanya Prajna, N.Bhandari and N.L.Kachhara, Editors (Payorite Press, Udaipur).
- Bhandari, Narendra (2019) Theory of multiple manifestations (*Anekāntavāda*) Jinwani, 77 (06), 1-10.
- *Bhandari, Narendra (2015)* Jainism : The Eternal And Universal Path To Enlightenment
- Prakrit Bharati Academy, Jaipur.
- Campbell A (2010). Oxytocin and human social behavior. Personal Soc Psychol Rev, 14 (3): 281–295.
- Davidson RJ (2005). Well-being and affective style: Neural substrates and bio behavioral correlates. In Huppert FA, Keverne B, Baylis N (Eds.), the science of well-being. Oxford: Oxford University Press; 107–139.
- Haldane, J.B.S., (19570 The Syadvad System of Predication ,Samkhya- The Indian Journal of Statistics.
- Jain M.K., (2007) Affirmative reasoning Naya ,The Jain Nyay (a) Hira publications, Potomac Falls, VA. USA.
- Kothari, D.S. (1985) The complementarity principle and Eastern philosophy, Neils Bohr Centenary Volume, A.P. French and P.J. Kennedy, (Editors) Harvard University Press, USA.
- Mookerji, S. (1994) The Jaina philosophy of Non-Absolutism, Motilal Banarasidass, New Delhi.

-Jain Academy of Scholars and Science and Spirituality Research Institute, Ahmedabad 380009.
nnbhandari@yahoo.com

* किसी में चाहे कितना भी ज्ञान क्यों न हो, अगर आचरण क्रोध वाला है तो उसकी सेवा-भक्ति और विनय करने वाला कोई नहीं होगा।

-आचार्यश्री हीरा

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 194
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली के कुछ आधार बिन्दु

डॉ. पारसमल अग्रवाल

अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह जैन जीवनशैली के प्रमुख आधार कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ बिन्दु ऐसे हैं जिनकी चर्चा भी यत्र-तत्र होती रहती है। ऐसे ही कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की चर्चा इस लेख में की जा रही है।

सफलता एवं स्थायी सुख की समझ

प्रथम आवश्यकता यह है कि भौतिक जीवनयापन के श्रम के साथ यह समझने का श्रम भी किया जाये कि सुख-शान्ति की पहचान क्या है और उसके लिये किस प्रकार के प्रयत्न किये जाएँ। शास्त्रों में सुख-शान्ति की पहचान हेतु कई सूत्र यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं। जो सुख अन्य पदार्थों या व्यक्तियों पर निर्भर हो, वह सच्चा सुख नहीं होता है। जो अस्थायी हो उसे भी सच्चा सुख नहीं कहा जा सकता है। मन की अशान्ति, लालसा, शिकायतभाव, कपटभाव, ईर्ष्या-क्रोध आदि की उपस्थिति भी सुख का अभाव बताती है।

आचार्य अमृतचन्द्र[1] लिखते हैं-

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः।।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि एक वह पद ही आस्वादन करने योग्य है जहाँ विपत्तियाँ न हों एवं जिसके सामने अन्य सभी पद अपद लगते हैं।

सफलता एवं स्थायी सुख में अन्तर है। दीपक चौपड़ा[2] के अनुसार सफलता मञ्ज़िल न होकर यात्रा है। भौतिक समृद्धि से कई परिस्थितियों में जीवन-यात्रा आराम युक्त बनते हुए देखी जाती है। किन्तु अच्छा स्वास्थ्य, जीवन में उत्साह एवं उमङ्ग, सन्तोषदायक मानवीय रिश्ते, सृजन कार्य करने की स्वतन्त्रता, भावनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक स्थिरता, कुशल होने का अहसास एवं मानसिक शान्ति भी सफलता में समाहित है।

दीपक चौपड़ा के शब्दों में-"There are many aspects to success; material wealth is only one component. Moreover, success is a journey, not a destination. Material abundance, in all its expressions, happens to be one of those things that makes the journey more enjoyable. But success also includes good health, energy and enthusiasm for life, fulfilling relationships, creative freedom, emotional and psychological stability, a sense of well-being and peace of mind."

जिन व्यक्तियों को हम जीवन में सफल मानते हैं उनको भी कई बार विरोध एवं कठिनाई का सामना करना होता है। विरोध एवं कठिनाई के अभाव को ही कोई व्यक्ति शान्ति माने, तो ऐसी शान्ति की प्राप्ति आज के जीवन में सम्भव नहीं।

अमरीकी मनोवैज्ञानिक वेन डायर के अनुसार शान्ति का अर्थ यह नहीं है कि विरोध एवं कठिनाई न हो, अपितु शान्ति तो इसका नाम है कि परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव होता रहे। (Peace is not in the absence of conflicts. But peace is in the realization of presence of God.)

परिभाषाओं एवं विद्वानों के उद्धरणों के आधार पर प्रयास करने से मार्ग तो मिलता है, किन्तु सच्चा सुख या शान्ति की पहचान हेतु व्यक्ति को स्वयं अपने अनुभव की आवश्यकता होती है।

कॉलेज में प्रवेश लेने से ही कोई विद्यार्थी ज्ञानी नहीं हो जाता है। अस्पताल में डॉक्टर से परामर्श लेने से ही कोई व्यक्ति चंगा नहीं हो जाता है। बाजार में शोरूम स्थापित करने से ही कोई सफल व्यापारी नहीं हो जाता है। उद्देश्य प्राप्ति हेतु श्रद्धा एवं समझ पूर्वक श्रम करने की आवश्यकता होती है। **कोई बबूल का पेड़ बोकर के**

भगवान के यहाँ प्रसाद इस संकल्प के साथ चढ़ाये कि बोया हुआ पेड़ आम का हो जाना चाहिये, तो इसे भगवान के प्रति श्रद्धा न कह करके अश्रद्धा कहा जायेगा। उद्देश्य की सफलता हेतु उचित दिशा में श्रम या पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

हम जीवन में कई अनहोनी घटनाएँ प्रतिदिन देखते हैं। आम का पेड़ बोने वालों एवं श्रम करने वालों के पेड़ कई बार नहीं पनपते हैं। पनप जायें तो भी प्राप्त आम कई को खाने को नहीं मिल पाते हैं। खाने को मिल भी जायें तो कई बार पेट में हजम नहीं होते हैं। सब कुछ ठीक हो जाये तो भी मन नहीं भरता है। मन में तृष्णा एवं अशान्ति बने रहते हैं।

मनुष्य की यह कहानी कई रूपों में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। हर बार यह लगता है कि कुछ कमी है, कुछ गलत है, कुछ अन्याय हो रहा है, एवं जो कुछ अच्छा है वह कहीं चला न जाये।

पेड़ लगाने का श्रम ही श्रम नहीं होता है, अपितु आम पाने के लिये क्या बोना है यह जानकारी एकत्रित करना भी श्रम है। सुख-शान्ति चाहिये तो यह समझ भी आवश्यक है कि सुख-शान्ति कैसे मिल सकते हैं। यह भी आवश्यक है कि सुख-शान्ति को हम ठीक तरह से पहचानें। जो अपने रोब-दाब को ही सुख माने, उसको शान्ति सम्भव भी नहीं है और उसके रोब-दाब वाला पहिया भी पञ्चर होता ही रहता है, चाहे वह कलेक्टर हो या मन्त्री।

सुख-शान्ति की प्राप्ति हेतु कई विधियों से स्वयं के अन्दर सद्गुणों का विकास करना होता है। दो प्रमुख सद्गुण जिनको अपनाने से बहुत कम मेहनत में बहुत अधिक लाभ हो सकता है, उनके नाम हैं-(1) सामायिक या कायोत्सर्ग या ध्यान एवं (2) क्षमा। इनके सम्बन्ध में निम्नांकित बिन्दु ध्यान देने योग्य हैं-

सामायिक या कायोत्सर्ग या ध्यान

सामायिक का अर्थ केवल एक स्थान पर बैठकर सामायिक पाठ पढ़ना एवं मन्त्र का जाप करना ही नहीं है। सामायिक का मुख्य प्रयोजन तो यह है कि थोड़े समय के लिए मन के ऊपर जो संसार का भार उठा रखा है उसको अपने सिर से उतारकर परमात्म तत्त्व की उपस्थिति अनुभव करना। यह एक ऐसी स्थिति है जिसे कायोत्सर्ग भी कहा जाता है।* इस कायोत्सर्ग वाली अवस्था में प्राणी अपने शरीर एवं शरीर से सम्बन्धित समस्त जिम्मेदारियों, प्राप्तियों एवं रिश्तों से 'मैं-पना' छोड़कर उनका पड़ौसी हो जाता है। मन शान्त होता है, विकल्प बहुत कम हो जाते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति हेतु निम्नांकित घटक मदद करते हैं-

(1) प्रतिक्रमण, (2) प्रत्याख्यान, (3) आलोचना, (4) समता भाव, (5) वन्दना, (6) स्तवन

इन घटकों के माध्यम से एक व्यक्ति अपने मन से अपने सांसारिक भार को उतारकर कायोत्सर्ग वाली अवस्था को प्राप्त कर सकता है। सामायिक पाठ के शब्द भी इसी तरह चुने गये हैं जिनसे यह उद्देश्य पूर्ण हो।

उदाहरण के रूप में हम प्रतिक्रमण को ही लें। प्रतिक्रमण के अन्तर्गत यह स्मरण किया जाता है कि भूतकाल के किये हुए मेरे समस्त अच्छे-बुरे कार्यों का अहंकार या अफ़सोस समाप्त हो। पण्डित बुधजन[3] द्वारा रचित सामायिक पाठ में हम देखते हैं-

जो प्रमादवशि होय विराधे जीव घनेरे।
तिनको जो अपराध भयो मेरे अघ ढेरे।।
सो सब झूँठो हो जगतपति के परसादे।
जा प्रसाद तैं मिलै सर्व सुख दुःख न लाधै।।

इसी तरह से वर्तमान के भार से निवर्तन हेतु आलोचना एवं भविष्य की आशंकाओं, आकांक्षाओं, डर आदि से भिन्नता की अनुभूति हेतु प्रत्याख्यान पाठ उपयोगी होता है। समयसार में वर्णित प्रतिक्रमण, आलोचना एवं प्रत्याख्यान भी यही भाव विशेषतापूर्वक दर्शाते हैं।[4]

समता भाव को पक्का करने हेतु समता पाठ किया जाता है। समता पाठ की निम्नांकित पंक्तियाँ बहुत ही प्रभावी हैं-

* यह कथन दिगम्बर परम्परा के अनुसार किया गया है। -सम्पादक

इस अवसर में मेरे सब सम कंचन अरु तृण।
महल मसान समान शत्रु अरु मित्र ही सम गण।।
जामन मरण समान जानी हम समता कीनी।
सामायिक का काल जिते यह भाव नवीनी।।

अहा! सामायिक के अवसर पर व्यक्ति ऐसी भावना करता है कि तिनका और सोना समान, महल और श्मशान समान, शत्रु-मित्र समान एवं जन्म-मृत्यु समान। ऐसी समता की भावना होने पर तनाव एकदम शिथिल होने लगते हैं।

इससे आगे बढ़कर फिर प्रभु की वन्दना एवं स्तवन करने पर ऐसा लगता है कि इस सृष्टि की दिव्यता अनुपम है, जहाँ बिना किसी की सिफारिश के एक आत्मा पुरुषार्थ द्वारा परमात्मा बन सकता है। सृष्टि दिव्य है। नियमानुसार ही सब कुछ होता है। यह विश्वास न केवल आगे किये जाने वाले कायोत्सर्ग में मन की चञ्चलता को रोकता है, अपितु बाद में भी जीवन के क्रिया कलापों में निर्भयता प्रदान करता है।

इतनी भूमिका के बाद मन को स्थिर करने एवं आत्मा में अपनापन पक्का करने हेतु कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग करने के पूर्व निम्नांकित तरह का चिन्तन भी उपयोगी हो सकता है[5]-

नाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारणं तेषां।
कर्त्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम्।।

इसका भावार्थ यह है कि मैं न शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ, न इनका कारण हूँ, न इनका कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न ही करने वाले की अनुमोदना करने वाला हूँ।

कायोत्सर्ग में इस सैद्धान्तिक (थ्योरी) का प्रायोगिक (प्रेक्टिकल) होता है। काया से किसी भी रूप में सम्बन्ध न रखने हेतु तथा आत्मा के ध्यान हेतु इस क्रिया में किसी मन्त्र का आश्रय भी लिया जा सकता है।

कायोत्सर्ग वाली यह अवस्था भौतिक दृष्टि से आधुनिक युग के ध्यान या मेडिटेशन की तरह है। अत: ध्यान के जो भी स्वास्थ्य सम्बन्धी भौतिक लाभ आधुनिक प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुए हैं, वे सभी लाभ कायोत्सर्ग से भी प्राप्त होते हैं।

मेडिटेशन के भौतिक लाभ के सन्दर्भ में कई प्रामाणिक आँकड़े उपलब्ध हैं। 40 वर्ष से अधिक उम्र के ध्यान करने वाले एवं ध्यान न करने वालों की तुलना करने पर यह ज्ञात हुआ[6] कि जो नियमित ध्यान करते हैं उन्हें अस्पताल जाने की औसत आवश्यकता ध्यान न करने वालों की तुलना में बहुत कम, मात्र आठवाँ भाग (12.7 प्रतिशत) होती है। इसी प्रकार कैंसर के कारण अस्पताल में भर्ती होने की आवश्यकता ध्यान न करने वालों की तुलना में लगभग आधी (44.6 प्रतिशत) होती है। दीपक चौपड़ा लिखते हैं कि **आज तक ध्यान के मुकाबले में ऐसी कोई रासायनिक औषधि नहीं बनी है जिससे हृदय रोग या कैंसर की इतनी रोकथाम हो जाये।**

आज अमरीका में कई डॉक्टर नुस्खे के रूप में ध्यान लिखते हैं और कई बीमा कम्पनियाँ ध्यान सीखने के खर्च की भरपाई करती हैं। अधिक क्या कहें, डॉक्टरों के संगठन 'अमरीकन मेडिकल एसोसिएशन' ने 832 पृष्ठों की एक पुस्तक 'फैमिली मेडिकल गाइड' में भी विस्तार से यह बताया है कि जीवन को स्वस्थ बनाये रखने के लिये नियमित ध्यान करना चाहिये।

सामायिक या कायोत्सर्ग के आध्यात्मिक लाभ को संक्षेप में आचार्य समन्तभद्र ने इस रूप में बताया कि सामायिक के समय एक गृहस्थ भी उपसर्ग प्राप्त, ध्यानस्थ मुनि की तरह होता है। वे लिखते हैं[8]-

सामायिके सारम्भा: परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावम्।।

इसका अर्थ यह है कि सामायिक के समय गृहस्थ के आरम्भ एवं परिग्रह नहीं रहते हैं अत: उस समय गृहस्थ भी ऐसे ध्यानस्थ मुनि की तरह हो जाता है, जिस पर किसी ने उपसर्ग किया हो और कपड़े डाल दिए हों।

भारत में तनाव एवं अन्य कारणों से स्वास्थ्य की स्थिति गम्भीर है। 75 प्रतिशत व्यक्ति आज भारत में ऐसे हैं जिनकी नाड़ी 72 प्रति मिनट से अधिक है, 74

प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जो एक मिनट तक सांस रोकने में असमर्थ हैं; 70 प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जो आगे झुक कर पैर का अँगूठा पकड़ने में असमर्थ हैं। इस सूची में ब्लड प्रेशर, कोलेस्ट्राल, वजन आदि को भी जोड़ा जा सकता है। साँस लेने की दर भी 18 प्रति मिनट से ज्यादा अधिकांश व्यक्तियों की है। ये सब आँकड़े असफलता के द्योतक हैं। एक व्यक्ति भली-भाँति कायोत्सर्ग करके कुछ ही महीनों में व्यक्तिगत प्रयोग द्वारा यह जानकर प्रसन्न हो सकता है कि उक्त आँकड़ों में शुभ परिवर्तन उसके जीवन में हो रहा है।

क्षमा

सफलता एवं स्वास्थ्य के लिए क्षमा अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी है। कुछ व्यक्ति यह सोचते हैं कि यदि कोई अपनी दुकान से 1,00,00 रुपये का सामान उधार लेकर न चुकाये तो उससे वापिस लेने का प्रयास न करना क्षमा है, लेने का प्रयास करना अक्षमा है। यह सोचकर एक व्यक्ति क्षमा को दूर से ही प्रणाम करना चाहता है। जबकि स्थिति यह है कि सामान्य क्षमा की भूमिका में निम्नांकित तीन बातें ध्यान देने योग्य है-

1. कोप न कीजे पीतमा (क्रोधित न होना)
2. मन खेद न आनो (मन में खेद न होना)
3. बैर जो न तहाँ धरे (वैर-बदले का विचार नहीं करना, वैर भाव संकल्पी हिंसा है, यह गृहस्थ को योग्य नहीं।)

दशलक्षण में उत्तम क्षमा से सम्बन्धित छन्द में उक्त तीन घटक स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं।

वर्तमान युग में अमरीका में स्टेनफर्ड युनिवर्सिटी में क्षमा पर बहुत अनुसन्धान कार्य हुआ है। डॉ. फ्रेडरिक लस्किन (Frederic Luskin) के इस अनुसन्धान कार्य को दुनिया 'स्टेनफर्ड फॉरगिवनेस प्रोजेक्ट (Stanford Forgiveness Projects)' के नाम से जानती है।[11] इस प्रोजेक्ट का निष्कर्ष यह है कि क्षमा से स्वास्थ्य में बहुत लाभ होता है। क्षमा थैरापी (Forgiveness therapy) के रूप में डॉ. लस्किन दुनिया को सशुल्क वर्कशाप, व्याख्यान आदि के माध्यम से लाभान्वित कर रहे हैं।

प्रसिद्ध पत्रिका न्यूजवीक ने 24 सितम्बर, 2004 के अंक में 'क्षमा एवं स्वास्थ्य' को मुख पृष्ठ पर रेखांकित किया। आधुनिक शब्दावली में decisional forgiveness एवं emotional forgiveness जैसे शब्दों को इस पत्रिका के इस अंक में उभारा गया है।

रिवर्सिंग हार्ट डिजीज के लेखक डॉ. डीन आरनिश का इस अंक में इस सन्दर्भ में प्रकाशित उद्धरण भी ध्यान देने योग्य है-

"When I talk about forgiveness, I mean letting go, not excusing the other person or reconciling with them or condoning the behaviour. Just letting go of your own suffering."

इस उद्धरण में भी जोर भावात्मक क्षमा (emotional forgiveness) पर ही है। क्रोध न करना, वैर भाव नहीं रखना एवं खेद न करना, जिनका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं, भावात्मक क्षमा (emotional forgiveness) के ही आवश्यक घटक हैं।

यह देखा जा सकता है कि क्षमा का यह रूप बहुत अंशों में गृहस्थ के लिए सम्भव है तथा इसके अपनाने से आध्यात्मिक लाभ के अतिरिक्त भौतिक सफलता भी मिलती है। भौतिक समृद्धि की प्राप्ति में भी इसकी उपयोगिता देखी जा सकती है।

इन बिन्दुओं के अतिरिक्त अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह का उचित समावेश भी जैन जीवनशैली को सुन्दर बनाने में सहायक होता है। आज के वैज्ञानिक युग में इनकी आवश्यकता और अधिक हो गई है। यह केवल जैन परिवार में जन्म लेने वालों के लिए ही नहीं है। वस्तु-स्वरूप को समझकर जीवन में सामायिक एवं क्षमा अपनाने से स्वास्थ्य, समृद्धि एवं शान्ति प्रचुर मात्रा में हर व्यक्ति प्राप्त कर सकता है।

सन्दर्भ

1. आचार्य अमृचन्द्र, समयसार कलश क्रं. 139
2. Deepak Chopra, 'Seven spiritual laws of success', (Amber-Allen Publishing, 1994), p. 2

3. बुध महाचन्द्र कृत सामायिक पाठ: 'काल अनंत भ्रम्यो....'
4. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा 383-385
5. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 160 की संस्कृत छाया
6. Deepak Chopra, 'Perfect Health', (Harmony Books, New York, 1991), p. 129. (Note: The data, 12.7%, mentioned in the text is for the heart related patients.)
7. The American Medical Association : Family Medical Guide (Random House, New York, 1987) P. 20.
8. आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 102
9. इण्डिया टुडे, 22 जुलाई 2009, पृ. 57
10. पण्डित द्यानतराय, दशलक्षण पूजा
11. www.learningtoforgive.com

जैन जीवनशैली : जीवन का उत्कर्ष

श्रीमती अंशु संजय सुराणा

जैन जीवनशैली के संस्कार हमें बच्चों में गर्भ से और बचपन से ही भरने होंगे, जिससे ये संस्कार उनके जीवन के अभिन्न अङ्ग बन जाएँ। अच्छी फसल के लिए अच्छी खाद की जितनी अनिवार्यता है, उतना ही अनिवार्य है जीवन-निर्माण में संस्कारों का सिञ्चन। यदि आत्मशान्ति बढ़ानी है, पुण्यों के पुष्प खिलाने हैं, तो भौतिकता को घटाना होगा और संस्कारों को बढ़ाना होगा। हमारी शुद्ध जीवनशैली पर पाश्चात्त्य संस्कृति जिस कदर हावी हो रही है वह चिन्ता का विषय है। इस पद्धति से सादगी, अनुशासन, सहिष्णुता सेवा-भावना विलुप्त होने के कगार पर है। हमारी जीवन शैली हमारी संस्कृति का आईना है, इसलिए कहना ही होगा अन्य की जीवन शैली से हमारी प्रतिस्पर्धा या विरोध नहीं, लेकिन जीवन के परम मूल्यों में ह्रास हमें स्वीकार नहीं।

जैन जीवन शैली जीवन का उत्कर्ष है
सफलता का प्रकर्ष है
तनावमुक्ति के लिए आदर्श है
सुख का विश्वास है
उपलब्धियों का आकाश है
आत्मा के लिए प्रकाश है
हर समस्या का समाधान है
सात्त्विकता की पहचान है

आज सिद्धान्तों का पूरी तरह अनुकरण नहीं हो पा रहा है। नतीजा आज शिथिलता ने अपने पैर पसार लिए, जिसे उचित नहीं कहा जा सकता। आइये कुछ विचार करें इन जैन सिद्धान्तों पर और उन्हें अपनी जीवन शैली में उतारने का, ढ़ालने का प्रयास करें।

हमारे आगम कहते हैं-चारित्र के दो भेद हैं- देशविरति और सर्वविरति। सर्वविरति चारित्र में सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा भी त्याज्य है और देश विरति में स्थूल त्याग किया जाता है, जिन्हें अणुव्रत कहते हैं। शक्ति की कमी के कारण सभी के लिए महाव्रतों की पालना, सर्वपाप से विरति सम्भव नहीं, लेकिन यदि सर्वविरति मुनि वन्दनीय है तो देशविरति श्रावक भी प्रशंसनीय है, क्योंकि साधु जीवन साक्षात् मुक्ति का रास्ता है तो श्रावक जीवन भी परम्परा से मुक्ति का ही मार्ग है। लक्ष्य दोनों का एक ही है-मुक्ति वधू का वरण। पाँच महाव्रत साधु के लिए हैं तो वे ही स्थूल रूप में श्रावक के लिए भी हैं। जैन श्रावक स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी (अदत्तादान), अब्रह्म, परिग्रह से दूर हटता है, रात्रिभोजन और सात कुव्यसनों का त्यागी होता है। छने हुए जल का प्रयोग करता है।

"हल करनी है यदि बढ़ते तनावों की पहेली,
तो अपनानी ही होगी, जैन जीवन शैली।
शांति सुकून भर देती है जीवन में, ऐसी है यह अलबेली,
तज दिया यदि इसको तो, आत्मा हो जाएगी मैली।।"

-एस-149, महावीर नगर, जयपुर (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 199
ISSN 2249-2011

जैन जीवन-पद्धति में सामाजिक विकृतियाँ

प्रो. भागचन्द्र जैन

व्यक्ति और समाज परस्पर अनुस्यूत हैं। उन्हें पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। जैनधर्म की दृष्टि से व्यक्ति से समाज की रचना होती है, समाज उससे प्रभावित होता है। समाज से व्यक्ति भी प्रभावित होता है। धर्म का अनुपालन व्यक्तिपरक होता है और समाज उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्राङ्गण देता है।

जैन जीवन-पद्धति जीवन को सही ढंग से जीने का एक अमोघ उपाय है। उसमें अहिंसा और परोपकार की भावना को अप्रतिम स्थान है। आत्मकल्याण के साथ प्राणिमात्र का कल्याण उसका मूल स्वरूप है। मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध प्राय: पारस्परिक उदारता, सद्भाव, सहयोग, संयम और सापेक्षता पर अवलम्बित हैं। इसलिए जैन जीवन-पद्धति मानवता पर आधारित है। उसका मूल उद्देश्य पूर्ण अहिंसा की साधना करते हुए आत्मा को कर्म-बन्धनों से मुक्त करना रहा है। यह साधना तपस्त्याग से आपूर रहती है और वह ईश्वर पर अवलम्बित नहीं रहती है। वीतराग और आप्त परमेष्ठी की निष्काम आराधना करता हुआ साधक कठोर जीवन-पद्धति को अपनाता है जिसमें न कोई भ्रष्टाचार होता है, न शिथिलाचार और न ही किसी तरह की सांसारिक आकांक्षा होती है। यदि वह वीतराग प्रभु से कुछ पाने की प्रार्थना करता भी है तो अनुराग और भक्तिवश करता है यह जानते हुए भी कि वीतराग परमात्मा किसी को कुछ भी देने की स्थिति में नहीं हैं।

मोही और भक्त साधक के कारण समाज में कुछ विकृतियाँ आ जाती हैं जो व्यक्ति, समाज और धर्म के लिए घातक सिद्ध होती हैं। यहाँ हम ऐसी ही सामाजिक विकृतियों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं-1. सामाजिक और 2. आध्यात्मिक या धार्मिक। वृत्ति, प्रवृत्ति, विकृति और संस्कृति के माध्यम से ये विकृतियाँ कालान्तर में संस्कृति का रूप ग्रहण कर लेती हैं। इन्हीं विकृतियों के आधार पर सम्प्रदाय बनते चले जाते हैं। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि परम वीतरागी जैनधर्म में ही नहीं, विश्व के सभी धर्मों में उनके सम्प्रदायों की पृष्ठभूमि में इन्हीं विकृतियों का हाथ अधिक रहा है। इन विकृतियों को पनपने में सुविधावादी मनोविज्ञान और सांसारिकता का हाथ अधिक रहा है।

ये विकृतियाँ साधारण तौर पर व्यक्ति से समाज की ओर अग्रसर होती हैं। व्यक्ति प्रथमतः स्वार्थ की सीढ़ियों पर चढ़ता है, अपनी आवश्यकता पर चिन्तन करता है और फिर अपनी प्रतिभा और शक्ति के बल पर उसका प्रयोग समाज पर करता है। सही आत्मचिन्तन करने वाला धार्मिक समुदाय बहुत कम होता है। अधिकांश लोग मुखौटा लगाये ज़िन्दगी व्यतीत करते हैं। धार्मिकता और सामाजिकता की आड़ में अपनी रोटी सेककर चलने वाला व्यक्ति स्वयं को तो नैतिकता से पदच्युत करता ही है, साथ ही समाज में भी आग लगा देता है।

यहाँ हम संक्षेप में सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त कतिपय ऐसी विकृतियों का उल्लेख कर रहे हैं जिन्होंने व्यक्ति और समाज को जर्जर कर दिया है, स्नेहिलता, आत्मीयता और मानवता को ध्वस्त कर दिया है और उण्डेल दिया है ऐसी अन्यमनस्कता को जिसने चारों ओर अन्धकार का भीषण कुहासा फैला दिया है।

सामाजिक विकृतियाँ

समाज व्यक्ति-व्यक्ति का सामुदायिक रूप है। उसमें व्यक्ति स्वतः समाविष्ट है। अतः यहाँ हम जिन सामाजिक विकृतियों का उल्लेख कर रहे हैं उनकी पृष्ठभूमि में व्यक्ति की संकीर्ण मानसिकता जुड़ी हुई है। व्यक्ति उत्साह में आकर व्रत या प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेता है और फिर उन पर चल नहीं पाता, स्खलित होने लगता है। ऐसी विकृतियों में कतिपय विकृतियों का उल्लेख हम यहाँ कर रहे हैं-

1. **पञ्चव्रतों का अतिचारमय स्खलन**-टेक्स चोरी, जीव-हिंसा, वध-बन्धन, आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी हिंसा, शृङ्गारात्मक कथा-वार्ता सुनना, स्त्री-पुरुष के मनोहर अङ्गों का निरीक्षण, टी.वी. के माध्यम से अपनी कामेच्छा की पूर्ति करना, असत्य बोलकर अपना काम निकालना, अपरिमित परिग्रह का संयोजन करना, हिंसा से परिपूर्ण औषधियों तथा प्रसाधनों का प्रयोग करना, गलत मापदण्डों का प्रयोग, अधिक ब्याजादि लेकर शोषण करना, मिलावट, सप्त व्यसनों का सेवन, अभक्ष्य भक्षण, रात्रिभोजन, विवाह कार्यों में भौंडापन, व्यावसायिक अशुचिता आदि।
2. **दहेज प्रथा**-इसने अहिंसक समाज में घरेलू हिंसा के माध्यम से बीभत्स रूप खड़ा कर दिया है। कन्या को कलंक और अभिशाप मानकर उसकी भ्रूण हत्या कर दी जाती है। जन्म लेने के पहले ही उसकी ज़िन्दगी समाप्त कर दी जाती है। कन्या का दान किया जाता है, जो अपने आप में नारी का घनघोर अपमान है। जैनधर्म में कहीं भी इस परम्परा का उल्लेख नहीं है। जिनसेन ने ''पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः (आदिपुराण, 38/54) कहकर पुत्री और पुत्र में कोई भेद नहीं रखा, पर हमारे समाज के अहंमन्य नेताओं ने पैसों के लालच में ज़िन्दगियों पर कठोराघात किया है, जो अक्षम्य है।
3. **अन्तरजातीय विवाह**-विवाह-परिणय समान कुल, शील, वय आदि में किया जाना चाहिए। अन्तरजातीय विवाह से सांस्कृतिक गतिरोध पैदा होता है। परिवारों में पारस्परिक समझ नहीं हो पाती। प्रायः पुत्री को मन मारकर झुकना पड़ता है। वीतरागी देव को छोड़कर सरागी देव के पूजने का मन वह बना नहीं पाती। फिर भी उसे करना पड़ता है। इससे मानसिक विद्रोह पनपता है। ऐसे विवाह प्रायः टूटते दिखाई देते हैं। प्रारम्भ में भावावेश में आकर गठबंधन हो जाता है, पर बाद में पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं आता।
4. **विधवा विवाह और बाल विवाह**-वर्तमान में बालविवाह प्रथा तो लगभग समाप्त हो चुकी है, पर विधवा विवाह का प्रचलन बढ़ रहा है। यद्यपि मानवता की दृष्टि से विधवा विवाह असंगत नहीं है, पर वह सार्थक तभी है जब दोनों व्यक्ति अपनी पूर्व स्मृतियाँ छोड़ दें। अन्यथा दोनों के बीच समरसता नहीं रह पाती। विकृतियाँ अधिक पैदा होती हैं। उनमें आध्यात्मिकता जाग्रत हो तो अधिक अच्छा है।
5. **चौकापद्धति की अशुद्धता**-पाश्चात्त्य संस्कृति ने हमारे चौके पर भी अतिक्रमण किया है। खान-पान अप्रतिबन्धित हो गए। भक्ष्य-अभक्ष्य पर कोई ध्यान नहीं रखा जाता। रात-दिन का भी भेद चला गया। ऐसी स्थिति में जैनत्व तिरोहित होता जा रहा है। परिस्थितियों की दुहाई देकर परिवार संस्कार विहीन होते जा रहे हैं। परम्परावादी, रूढ़िवादी जैसे शब्दों का प्रयोग कर शुद्ध चौका पद्धति को उपहास का विषय बना दिया जाता है। जल-गालन पद्धति तो लगभग समाप्त होती दिखाई दे रही है। होटल संस्कृति और डिब्बा संस्कृति ने ईंधन में घी का काम किया है।
6. **जीर्णोद्धार के नाम पर प्राचीन कला का विनाश**-प्राचीन पुरातत्त्व हमारी विरासत है।

जैनेतर समुदाय ने उसका बहुभाग नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। अवशिष्ट भाग में से कुछ मन्दिर जीर्णोद्धार के लिए प्रतीक्षारत हैं। हमारे समाज के कतिपय यशःकांक्षी लोग, विशेष रूप से साधु सम्प्रदाय उन प्राचीन मन्दिरों को जीर्णोद्धार के नाम पर धराशायी कर देते हैं। इतना ही नहीं, अज्ञानतावश शिलालेखों में परिवर्तन करने का प्रयत्न करते हैं और अपठित शिलालेखों तथा खण्डित मूर्तियों को नदी में फेंक देते हैं। यह बहुत बड़ा अपराध है, दुष्कृत्य है। उससे जेल के सींकचों के पीछे भी जाना पड़ सकता है।

7. **जातिवादी व्यवस्था एवं साम्प्रदायिकता**– प्राचीन परम्परावादी पण्डित और साधु सम्प्रदाय दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसी साम्प्रदायिकता को खड़ी कर धर्मशालाओं और संस्थाओं में अपने से बाह्य सम्प्रदायी को प्रवेश नहीं देते। यदि किसी संस्थान ने खुले मन से प्रवेश दे दिया या नियुक्त कर दिया तो उसे घनघोर संघर्षों को झेलना पड़ता है। इससे संस्थान प्रतिभा के उपयोग से वञ्चित हो जाता है।
8. **तीर्थों पर अतिक्रमण**–आज एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के तीर्थों पर अतिक्रमण करने लगा है। फलतः अहिंसक समाज कहीं हिंसक होता दिखाई देता है। कोर्ट की सीढ़ियाँ चढ़ने में भी उसे संकोच नहीं होता है। इससे सामाजिक समरसता पर कलंक लगने लगा है और साथ ही जैनेतर समाज के कटु आक्षेप भी झेलने पड़ते हैं।

धार्मिक विकृतियाँ

उपर्युक्त सामाजिक विकृतियों की पृष्ठभूमि में एक यह भी तथ्य है कि वर्तमान परिस्थितियों में माता-पिता और उनकी सन्तान के बीच संवाद की स्थिति बिगड़ती चली जा रही है। सन्तान को पारिवारिक सुसंस्कार अधिक नहीं मिल पाते और माता-पिता अलग-थलग पड़ जाते हैं। यह संवादहीनता धार्मिक विकृतियों को उपस्थापित करने में सहयोग देती है।

यहाँ हम ऐसी कतिपय धार्मिक विकृतियों का उल्लेख करेंगे, जिन्होंने धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में इतने गतिरोध पैदा कर दिये हैं कि यह क्षेत्र बदनाम और कलंकित सा हो गया है। व्यक्ति में अभी भी श्रद्धा शेष है, पर आगमिक ज्ञान की कमी है। इसलिए वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि साधु सम्प्रदाय अपने आचरण में कहाँ तक सही है। साधु जो भी करता है उसे वह सही मानने लगता है और तदनुसार पैसा लुटाता रहता है। इस विवेकहीनता ने साधु सम्प्रदाय को खुली छूट दे दी। यह तथ्य ध्यातव्य है कि समूचा साधु सम्प्रदाय एक सा नहीं है। उनकी आलोचना करना या उनमें कमियाँ दिखाना मेरा उद्देश्य भी नहीं है। मेरा उद्देश्य तो यह है कि जो प्रामाणिक आचार का परिपालन नहीं करते और आध्यात्मिक जीवन में विसंगतियाँ पैदा करते हैं, उनमें सुधार अपेक्षित है। यहाँ कतिपय विकृतियाँ प्रस्तुत हैं-

1. **शिथिलाचार**–आज शिथिलाचार सुरसा की भाँति बढ़ता चला जा रहा है। श्रमणाचार की सारी परिसीमाएँ ध्वस्त होती चली जा रही हैं, साधना सिसकती हुई एक ओर बैठ गई है, फिर भी जानकार समाज ऐसे साधुओं की ओर अंगुलि भी नहीं उठा पाता, विवश होकर वह हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाता है। उसका साथ देने वाला कोई भी आगे नहीं आता। इससे शिथिलाचारी को चिन्तन-मनन करने का अवसर नहीं मिलता और उसकी ज़िन्दगी वैसी ही पटरी से उतरी हुई बनी रहती है। इन बिन्दुओं को गिनाने की मुझे आवश्यकता नहीं। साधु सम्प्रदाय उसे स्वयं समझ सकते हैं।
2. **एकल विहारिता क्यों?**–साधारण तौर पर साधु एकल विहारी नहीं होता। होना भी नहीं चाहिए। पर आज यह स्वच्छन्द प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इससे साधनापथ में भी स्वच्छन्दता का समावेश हो रहा है। उसे देखने वाला कोई दूसरा नहीं रहता। इसलिए उसके पैर फिसलते रहते हैं।
3. **आचार्य बनने की होड़**–आगम में आचार्य के

जिन गुणों की चर्चा हुई है, उन पर ध्यान दिये बिना ही आचार्य बनने की होड़ में लग्न साधु साधना से विमुख होकर राजनीति की सीढ़ियाँ चढ़ने लगता है। इससे साधु सम्प्रदाय में वैमनस्य बढ़ जाता है।

4. **वर्षावास एक ही स्थान पर क्यों?**–कतिपय साधु साधु नहीं मठाधीश होते जा रहे हैं। वे अपना मठ बना लेते हैं और वहीं वर्षावास करते रहते हैं। इससे उनकी आसक्ति का क्षेत्र बढ़ता चला जाता है और साधना छूटने लगती है।

5. **साधु संस्था और चमत्कार**–साधु चमत्कार प्रदर्शन के लिए साधु नहीं बनता। चमत्कार प्रदर्शन करने वाला साधु साधु की परिसीमा से बाहर हो जाता है। पर आज कुछ साधु सन्तान, सम्पत्ति, निरामयता आदि देने का वायदा करते दिखाई देते हैं। इनमें से अधिकांश पूर्ति संयोग से होती रहती है, पर उस पर मुहर साधु की लग जाती है। उसके आचरण में यह दीमक का काम करती है, विशुद्धि रो पड़ती है। मन्त्र प्रयोग होता है, पर वह आत्मशुद्धि के लिए।

6. **वर्षावास व्यय साध्य है**–आज वर्षावास इतना व्यय साध्य है कि छोटा-मोटा समाज उसे नहीं ओढ़ सकता। करोड़ों का बजट रहता है जिसे श्रेष्ठिवर्ग ही पूरा कर पाता है। इससे साधारण समाज साधु से दूर होता जाता है और साधु श्रेष्ठिवर्ग के हाथ बिक जाता है।

7. **साधु भी गृहस्थ जैसा**–आज साधु के पास किस चीज की कमी? कुछ साधु तो मोबाइल, कम्प्यूटर, लेपटॉप, फ्लश लेटरिन आदि का उपयोग निःसंकोच करने लगे हैं। बड़े-बड़े बालों को कंघी से सुधारने में लगे हैं। साधु के आशातीत आहार-विहार में कोई संयम नहीं दिखाई देता है। मूलगुणों और महाव्रतों का पालन तो दूर, अणुव्रतों का भी पालन नहीं होता। मन्दिरों आदि का निर्माण भी धड़ल्ले से कराते हैं। फिर सभी की व्यवस्था भी उन्हीं को करनी पड़ती है। सामाजिकता बढ़ जाती है और आध्यात्मिकता पलायन करने लगती है।

8. **शासन-देवी-देवताओं की पूजन**–वर्तमान में वीतरागी तीर्थंकर के पूजन से भी अधिक उनकी शासन-देवी-देवताओं की पूजन प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। यह कहाँ तक उचित है?

9. **उपासना पद्धति**–जैन सम्प्रदाय में तेरापंथ, बीसपंथ, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी आदि जैसे सम्प्रदायों के बीच अपने-अपने ढंग से भगवान की उपासना की जाती है। इधर कुछ साधु सम्प्रदाय इन पद्धतियों पर अंगुलि उठा रहे हैं और हठात् देवी-देवताओं को मन्दिरों में से हटाकर बाहर रखा देते हैं और श्रावकों को उपासना पद्धति बदलने का दुराग्रह करते हैं। वस्तु स्थिति को निश्छलतापूर्वक स्पष्ट करना तो ठीक है, पर समाज को जबरदस्ती किसी ऐसे कार्य की ओर ढकेलना जिससे सामाजिक समरसता भंग हो जाये, यह कहाँ तक उचित है।

10. **पञ्चकल्याणकों का भव्य आयोजन**–आज साधु सम्प्रदाय में नवीन वृहदाकार भव्य मन्दिरों के निर्माण कराने की होड़ लगी हुई है। नामपट्ट लगाने/लगवाने के भाव से पैसा सहज रूप से एकत्रित हो जाता है। फिर पञ्चकल्याणकों का भव्य आयोजन किया जाता है। इन सब आयोजनों में इतना पैसा खर्च होता है कि उससे एक विश्वविद्यालय खड़ा हो जाये या बड़ा भारी उद्योग लग जाये या सैकड़ों निर्धन परिवारों को सुखी बना दिया जाये। मैं मन्दिर-निर्माण का विरोधी नहीं हूँ। पर उनकी सार्वत्रिक आवश्यकता पर प्रश्नचिह्न खड़ा कर रहा हूँ। ज्ञानाराधना को फैलाने वाले विद्यालयों की महती आवश्यकता है। इसी तरह समाज में अभी भी ऐसे परिवारों की कमी नहीं है जिनमें योग्य बच्चों को अच्छे विद्यालय में प्रवेश नहीं मिलता। सामाजिक उत्कर्ष के लिए वस्तुतः अनेक क्षेत्र हैं, जिन पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

धार्मिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में इन विसंगतियों के कारण सामाजिक सौहार्द बिगड़ रहा है। व्यावसायिक शुचिता समाप्त होती जा रही है, यथार्थ धार्मिकता से हटकर मुखौटी धार्मिकता का पलड़ा भारी हो रहा है, नई पीढ़ी अनेक प्रश्नों को खड़ाकर विलग होती जा रही है। इन सारी बातों पर सम्यक् ऊहापोह होना चाहिए। यहाँ किसी की आलोचना करने का मेरा उद्देश्य नहीं है। मेरा उद्देश्य तो यह है कि समाज सुधारक और साधु सम्प्रदाय इन सारी विसंगतियों पर रचनात्मक और सकारात्मक सोच के साथ आगे आये और तथ्यात्मकता पर प्रकाश डाले ताकि वीतरागी जैनधर्म का भविष्य उज्ज्वल बन सके और संसारी जीवों का कल्याण हो सके। यही सही जैन जीवन-पद्धति है।

-तुकाराम चाल, सदर, नागपुर-440001 (महा.)

मज़ा या सज़ा...?

संकलन : श्री नवरतन डागा

रोहन–मम्मी! आज तो मैंने पाँच पतंग काटे, सभी ने मुझे शाबासी दी।

मम्मी–बेटा, तूने पतंग के अलावा और भी बहुत कुछ काटा है।

रोहन–वह कैसे मम्मी?

मम्मी–आ तुझे दिखाती हूँ। (एक व्यक्ति का हाथ दिखाते हुए जिसकी पतंग के माँझे से उँगली कट गई थी।)

रोहन–अरे! इसकी उँगलियों से तो खून बह रहा है, कैसे कट गई?

मम्मी–बेटा इसने पतंग के माँझे को काँच का पानी पिलाया, और इसकी उँगलियाँ कट गई।

(रोहन सोच में पड़ जाता है।) बेटा, और यह देख...तेरी पतंग के साथ ये कबूतर के पंख भी कट गए, अब वह उड़ने लायक नहीं रहा। (रोहन रोने जैसा हो जाता है।)

मम्मी–(एक बच्चे को दिखाते हुए जिसकी गर्दन माँझे से कट गई) अब यह देख, जब तेरी पतंग कट कर नीचे गिरी तो उसकी डोर से स्कूटर पर अपनी मम्मी के साथ जाते हुए उस बच्चे की गर्दन भी कट गई। (अब राहुल की आँखे भर आईं...राहुल रोने लगा।) बेटा तुझे तो पतंग उड़ाने में मज़ा आया, किन्तु तेरा यह मज़ा कितने लोगों के लिए सज़ा बन गई।

रोहन–सॉरी मम्मी! मैं इन सबसे माफी चाहता हूँ। मम्मी, आज से संकल्प करता हूँ कि मैं कभी पतंग नहीं उड़ाऊँगा और यही बात अपने दोस्तों को भी समझाऊँगा।

सन्देश : बच्चों, देखो यदि एक बच्चे के पतंग उड़ाने के मज़े के कारण इतने जीवों को सज़ा मिलती है तो आप जैसे कितने बच्चे पतंग उड़ाते होंगे, उनके कारण कितने जीवों को नुकसान होता होगा?

हमारा मज़ा ऐसा होना चाहिए जिससे दूसरों को सज़ा नहीं सुकून मिले...दूसरे परेशान न हों, प्रसन्न हों। यदि हम किसी को सुख नहीं दे सकते हैं तो हमें किसी को दु:ख देने का भी कोई अधिकार नहीं है। जानते हो... प्रतिवर्ष पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री हीराचन्द्रजी म.सा. के पास कितने बच्चे आते हैं और पतंग न उड़ाने की प्रतिज्ञा करते हैं? और फिर कुछ ही दिनों के बाद अपने आन्तरिक आनन्द की अनुभूति व्यक्त करते हैं तब पूज्य गुरुदेव समझाते हैं, यह आनन्द तो जीवों की रक्षा करने से ही प्राप्त होता है, यह आनन्द, अभयदान देने का आनन्द है।

मज़ा ऐसे करना चाहिए, जिसमें दूसरों को सज़ा नहीं, आनन्द मिले।

मज़ा ऐसा होना चाहिए, जिससे खुद को खुशी और दूसरों को भी आनन्द मिले।।

-'लक्ष्य', 76, नेहरूयार्क, सरदारपुरा, जोधपुर-342003 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 204
ISSN 2249-2011

जैन जीवन-शैली में विकृतियों के विभिन्न रूप*

प्रो. श्रीयांस कुमार सिंघई

'**जि**तेन्द्रियो जिनः' अर्थात् '**जितानि इन्द्रियाणि येन स जिनः।**' यहाँ इन्द्रिय ज्ञान-वृत्तियों को जीतने वाले केवलज्ञानी परमात्मा को ही जिन कहा जा सकता है। '**जिनस्य भावः कर्म वा**' की दृष्टि से दिव्यध्वनि स्वरूप जिनों के उपदेश या जिनवाणी को जिनाज्ञा समझना चाहिए, जिसका अनुयायी जैन है। अतः जिनाज्ञाओं की मर्यादा में चलने वाले जीवन को जैन जीवन माना जाता है। अनेकविध सांस्कृतिक मूल्यों एवं सामाजिक परिधियों के अन्तर्गत जैन जीवन आज भी जिया जा सकता है। किन्तु जीवन के प्रत्येक आयाम में अहिंसक आचार-विचार, वस्तुपरिज्ञानमूलक सत्यनिष्ठा और अन्तरोन्मुखी धर्मसाधना के लक्ष्य को पा लेने की जिजीविषा होनी चाहिये।

इस प्रकार जैनत्व की मर्यादा में मानव जीवन का आकलन करते हुए उसमें व्याप्त जन्म से मरणपर्यन्त जीवन व्यवहारों को जीते चले जाने की प्रणालियों या रीति रिवाजों की पद्धति को 'जैनजीवन शैली' कहा जा सकता है। जैन जीवन शैली को अपनाकर जीवन जीने का अधिकार उन सभी के लिए उपादेय हो जाता है जो दया, अनुकम्पा, करुणा, परोपकारिता के लिए जीते हुए अपनी आत्मिक अभ्युन्नति को चाहते हैं।

किसी भी व्यक्ति में जब स्वार्थलिप्सा, स्वेच्छाचारिता, तृष्णा, लक्ष्यभ्रष्टता, असन्तोष, अज्ञानमूलक प्रवृत्तियों को अपनाने की उद्यमशीलता, धनार्जन की प्रमुखता, भोगविलासप्रियता, साम्प्रदायिक व्यामोह, जातिवाद, वर्गसंघर्ष का दुराग्रह आदि पनपने लगते हैं तो उसमें बहुविध विकृतियों का प्रादुर्भाव होता है। मनुष्य जीवन के परिप्रेक्ष्य में इनका आकलन संभव भले ही हो, परन्तु उन सभी विकृतियों को रेखाङ्कित करना हमें अभीष्ट नहीं है। तथापि सुखाभास से बचकर जैनत्व की मर्यादा में जीवन जीने की जिजीविषा रखने वाले व्यक्तियों के जीवन में विकृतियों का रोग बेकाबू न हो जाये, इसलिये विकृति के विषय में कुछ कहना भी जरूरी लग रहा है। विकृतियों का निदान समय पर कर पाने की प्रेरणा उन्हें हो जाये और उनका अमूल्य मनुष्य भव भोगों एवं रोगों की बलिवेदी पर नष्ट न हो जाये, इस भावना से मनुष्य जीवन के दो प्रमुख पहलुओं को विकृतियों के विषय में केन्द्रित करना हमें अभीष्ट है। वे दो पहलू हैं-

1. आजीविका के लिए पुरुषार्थ का पहलू
2. धार्मिक निष्ठा के लिए पुरुषार्थ का पहलू

प्रत्येक मनुष्य के लिये इन दोनों ही पुरुषार्थों का सम्पादन आवश्यक है। अतः विवेक की छत्रछाया में सावधानी के साथ हमें जैन जीवनशैली को अपनाना ही चाहिये। उसके बिना विकृतियों का साम्राज्य बढ़ता ही जायेगा। जिससे बचने के लिए विकृतियों को मूलरूप में समझना जरूरी है-

(क) आजीविका के लिये किये गये पुरुषार्थ में समाविष्ट विकृतियों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. धनोपार्जन की असीम अभिलाषा से समुत्पन्न विकृतियाँ।
2. नित्य आवश्यक कर्त्तव्यों के निर्वाह में अविवेक और अनुशासनहीनता से उत्पन्न विकृतियाँ।

---

* आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवन-शैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

3. पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों में विनयाचार के अभाव से समुत्पन्न विकृतियाँ।
4. राजकीय नियमों के उल्लंघन की निष्ठा से जन्य विकृतियाँ।
5. राष्ट्रप्रेम या राष्ट्रीय कर्त्तव्य के प्रति उदासीन रहने के कारण उत्पन्न विकृतियाँ।
6. भोग एवं उपभोग के संसाधनों से प्रतिष्ठा अर्जित करने के कारण उत्पन्न विकृतियाँ।
7. कर्त्तव्य निर्वहण में शारीरिक क्षमताओं के दुरुपयोग से प्रसूत विकृतियाँ।
8. अमर्यादित भोगों की चाह से आहार-विहार जैसी मूल प्रवृत्तियों को अपना लेने के कारण समुत्पन्न विकृतियाँ।
9. पारिवारिक जीवन में भौतिक लक्ष्य प्रमुख कर आभ्यन्तर सुखशान्ति से विमुख हो जाने सम्बन्धी विकृतियाँ।
10. निर्भय होकर हिंसा, झूठ ,चोरी, कुशील आदि पापवृत्तियों से जन्य विकृतियाँ।
11. पुण्य पर भरोसा नहीं होने के कारण कुत्सित उपायों से पुरुषार्थ को सफल बनाने की विकृतियाँ।

(ख) मनुष्य का जीवन भौतिक भोगोपभोग की परिधि में कतई सन्तुष्ट नहीं होता है। असीम प्रयास भी उसे सन्तुष्ट बनाने में असमर्थ साबित हुए हैं। आजीविका के बल पर समुपलब्ध हुई सामग्री दया, दान-त्याग आदि धार्मिक भावनाओं के बिना कतई हितकारी नहीं है। अत: धार्मिक जीवन जीने का पुरुषार्थ न रहे और अज्ञानमूलक दुराग्रह पनप जाये तो जो विकृतियाँ पनपने लगती हैं उन्हें धार्मिक कर्त्तव्य निर्वहन के क्षेत्र में इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. धार्मिक मूल भावना से शून्य होकर धर्मानुरागिता की विकृतियाँ।
2. देवगुरु धर्म के प्रति अनभिज्ञता से उत्पन्न विकृतियाँ।
3. धर्मायतनों के प्रति साम्प्रदायिक व्यामोह से समुत्पन्न विकृतियाँ।
4. साम्प्रदायिक अनुराग के अन्धानुकरण से समुत्पन्न विकृतियाँ।
5. श्रावक समाचारी के परिपालन में वैश्वीकरण से समुत्पन्न विकृतियाँ।
6. पूजा पाठ आदि कर्त्तव्यों का निर्वाह परिणामविशुद्धि के लिये न करके आरम्भ परिग्रह बढ़ाने की भावना से करने पर समुत्पन्न विकृतियाँ।
7. धर्म प्रभावना के कार्यों में भौतिक प्रदर्शन से उत्पन्न विकृतियाँ।
8. स्वाध्याय के प्रति उदासीनता और स्वेच्छाचारिता से जन्य विकृतियाँ।
9. धर्मग्रन्थों के लेखन, सम्पादन, प्रकाशन आदि में साम्प्रदायिक अन्धानुसरण से समुत्पन्न विकृतियाँ।
10. शास्त्र स्वाध्याय में वीतरागी लक्ष्य से भ्रष्ट होकर शिष्य वर्ग तैयार करने पर वर्गसंघर्ष की विकृतियाँ।
11. अपने भौतिक स्वार्थों, अभिप्रायों की पुष्टि के लिये देव-गुरु-धर्म की परम्परा के उपयोग से समुत्पन्न विकृतियाँ।
12. संयमपालन में शिथिलाचारजन्य विकृतियाँ।
13. व्रताचार विषयक कर्त्तव्यों में अनास्था एवं उनसे भोगाभिलाषा पूर्ति की कामना से उत्पन्न विकृतियाँ।
14. धार्मिक कार्यों का मूल्यांकन धनबल एवं जनबल से करने पर समुत्पन्न विकृतियाँ।
15. धार्मिक निष्ठा में विरक्ति को भूलकर पापाचार या पुण्याचार से भोगासक्ति को महत्त्व देने की विकृतियाँ।
16. व्यवहारधर्म के निर्वहण में अन्तर्दर्शन की चेतना प्रसुप्त रहने के कारण उत्पन्न होने वाली विकृतियाँ।
17. व्यवहार धर्म को भौतिक परिवेश में उलझाकर व्यापारीकरण के प्रयासों से जन्य विकृतियाँ।
18. श्रावक या मुनि की जीवन शैली में व्रतों की मर्यादा को लांघकर मात्र प्रदर्शन के लिए व्रतपालन से समुत्पन्न विकृतियाँ।

19. भौतिक चकाचौंध में मूल आध्यात्मिक लक्ष्य भूलकर मात्र पुण्याचरण के पक्षपात से उत्पन्न विकृतियाँ।

उपर्युक्त विकृतियों के साथ हमारा आजीविका विषयक पुरुषार्थ हो या व्यवहारधर्म की परिपालना का पुरुषार्थ, दोनों ही स्थितियों में हमारे जैन होने की कोई सार्थकता नहीं है। अतएव हमारा कर्त्तव्य बन जाता है कि हम अपनी चर्या अर्थात् जीवन जीने की शैली को निर्दोष एवं लक्ष्य केन्द्रित बनायें। सचमुच ही यदि हमारी जीवन शैली में अहिंसा और अपरिग्रह की प्रतिष्ठा आ जाये तो सत्यानुराग जन्य विवेक से अवश्य ही हमारे जीवन में आगे का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। परिणामत: हमारा जीवन आदर्श जैन जीवनशैली का निदर्शन बनकर उभयत्र अर्थात् लोक-परलोक विषयक दशाओं में या भव-भवान्तरों में हितकारी होगा। **निर्दोष जैन जीवनशैली के बिना भले ही हम असीम धन वैभव या भोग संसाधन जुटा लें, कितना भी व्यवहारधर्म अर्थात् पूजा पाठ समाचारी विषयक धार्मिक कर्त्तव्यों को कर लें, कहीं हमें चैन नहीं मिलेगा और सन्तुष्टि का अभाव हमें हर कदम पर व्याकुल बनाये रखेगा।** अत: जरूरी है कि विकृतियों से शून्य आदर्श जैन जीवनशैली को हम अपनी सामर्थ्य की परिधि में ही अपनायें। कम सामर्थ्य होने पर कठोर एवं उत्कृष्ट जीवन शैली को नहीं अपनायें, अन्यथा लाभ की जगह नुकसान की ही समस्या बन जायेगी। लोभ-लालच एवं मोहान्धता की वृत्ति यदि हमारे व्यवहारधर्म में ही पैर पसार लेगी तो फिर परमार्थ धर्म की सुध कहाँ से आयेगी। मेरा मानना है कि उपर्युक्त प्रकार से होने वाली विकृतियों को हम अपने पुरुषार्थ से बाहर रखें, उनसे बचें तो हमारी निर्दोष जीवनशैली परमार्थ धर्म के प्रादुर्भाव का प्रमुख कारण बनकर समूचे मनुष्य जीवन को सार्थक कर पायेगी जिससे व्यक्ति-व्यक्ति के सुधरने और सुसंस्कारित होने के फलस्वरूप समाज और राष्ट्र समुन्नत होकर धन्य हो जायेगा। सर्वत्र अमन चैन और खुशहाली पसर जायेगी।

-प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मा.वि.वि.), जयपुर परिसर, जयपुर-18

हस्ती पट्टधर आचार्यप्रवर हीरा गुरुवर का क्या कहना....

श्री श्रीपाल देशलहरा

हस्ती पट्टधर आचार्यप्रवर हीरा गुरुवर का क्या कहना
मोहिनी के लाल, मोती के बाल,
हीरा गुरुवर का क्या कहना।
प्रवचन की शैली क्या कहना,
मधुर वाणी सुनते जाना
हस्ती पट्टधर आचार्यप्रवर हीरा....
जो सूरज सम तेजस्वी हैं, श्रमणों में श्रेष्ठ यशस्वी हैं।
जो ज्ञान क्रिया वर्चस्वी हैं, ऐसे गुरुवर का क्या कहना।।
हस्ती पट्टधर आचार्यप्रवर हीरा....
हो व्यसन मुक्त ये देश मेरा,
ऐसी करुणा का दर्द भरा।
जहाँ कथनी-करनी एक सदा,
करुणा सागर का क्या कहना।।
हस्ती पट्टधर आचार्यप्रवर हीरा....
गज गुरु ने हीरा परख लिया,
घड़ रत्नसंघ को सौंप दिया।
सुधर्मा पाट को चमकाया,
ऐसे शासक का क्या कहना।।
हस्ती पट्टधर आचार्यप्रवर हीरा....
हे अनन्त पुण्य का प्रबल उदय,
अष्टम पट्टधर का योग मिला।
श्रद्धा और आत्मसमर्पण से,
मुक्ति मञ्ज़िल को पा जाना।।
हस्ती पट्टधर आचार्यप्रवर हीरा....

-हैदराबाद (तेलंगाना)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 207
ISSN 2249-2011

जैनों का आहार : कितना वैज्ञानिक

डॉ. नंदलाल बोरदिया (क्षयरोग विशेषज्ञ)*

हम सभी को भोजन की आवश्यकता है, क्योंकि हमें जन्म से ही शारीरिक वृद्धि, हलन-चलन की क्रिया, शारीरिक तापमान, दैनिक क्रियाओं तथा घटनाओं में हो रही शारीरिक क्षति की पूर्ति के लिये विभिन्न तत्त्वों की आवश्यकता होती है। शरीर की इन आवश्यकताओं के लिए मुख्य स्रोत भोजन ही है। भोजन, पानी एवं वायु के बिना हमारा शरीर चल नहीं सकता, टिका नहीं रह सकता और उसकी कोई क्रिया नहीं हो सकती है। हम भोजन इसलिये नहीं खाते हैं कि हमें भूख लगती है, किन्तु भूख तथा प्यास प्रकृति के भोजन तथा पानी लेने के साधन हैं। हमें वही भोजन लेना चाहिये जो हमारे शरीर के लिये आवश्यक हो, जो हमें स्वस्थ और दीर्घायु बनावे, साथ ही कोई शारीरिक और मानसिक विकारोत्पत्ति न करे।

भोजन के तत्त्व

जो-जो तत्त्व हमारे शरीर में हैं तथा जितनी आवश्यकता इनकी हमारे शरीर में होती है वे सभी तत्त्व हम भोजन तथा पानी द्वारा ही ग्रहण करते हैं। यदि हम उनके अतिरिक्त लें तो शरीर द्वारा उन्हें विसर्जित किया जायेगा जैसे मल, मूत्र या स्वेद द्वारा, यदि वे शरीर में रह गये तो वे शरीर में विकार उत्पन्न करेंगे। **मनुष्य शरीर को अलग-अलग परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के तत्त्वों की आवश्यकता होती है जैसे बच्चों में शरीर वृद्धि तथा अस्थि वृद्धि के लिये विटामिन, केल्शियम, मांसपेशियों के लिये प्रोटीन तथा अन्य तत्त्व उनके शरीर तोल के मान से अधिक आवश्यक हैं। युवावस्था में शारीरिक तथा मानसिक श्रम अधिक होता है, इसलिए शर्करा पदार्थ तथा वसा (फैट) की आवश्यकता अधिक रहती है। शारीरिक वृद्धि परिपूर्ण हो जाने पर केल्शियम की उतनी आवश्यकता नहीं रहती जितनी कि बच्चों में रहती है।** वृद्धावस्था में न तो शरीर वृद्धि होती है न अधिक शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएँ। शरीर की अग्नि भी शनैःशनैः मन्द जलती है यानी शरीर का चयापचय धीमा पड़ जाता है, इसलिये सभी प्रकार के भोजन की मुख्यतः वसा तथा शर्करा पदार्थ की आवश्यकता कम हो जाती है। शारीरिक श्रम करने वाले मजदूर को अधिक ऊर्जा की आवश्यकता है, इसलिये उन्हें अधिक भोजन लेना पड़ता है। स्त्रियों में चय-अपचय पुरुषों से धीमा है, इसलिये उनका कम आहार से भी काम चल जाता है। प्रसवास्था में लोहा, केल्शियम, प्रोटीन इत्यादि पदार्थों की स्त्रियों को अधिक आवश्यकता होती है, उस समय उन्हें अधिक खाना उचित है।

भोजन के तत्त्वों में प्रोटीन (पौष्टिक पदार्थ) शर्करा पदार्थ, वसा (घी, तेल, चरबी), क्षार पदार्थ जैसे लोहा, केल्शियम, फास्फोरस इत्यादि हैं। इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है-एक तत्त्व जो विटामिन के नाम से प्रचलित है और बहुधा कई हीनता जन्य रोगों से बचाव करता है तथा उनसे शरीर की विभिन्न क्रियाएँ सुचारु रूप से कार्य करती हैं। ये पदार्थ प्रकृति ने प्राकृतिक रूप से उत्पन्न खाद्य पदार्थों में बहुलता से उपजाये हैं।

मनुष्य जीवन के उद्देश्य

मनुष्य जीवन दुर्लभ है। देवता भी मानव का जीवन जीने की कामना करते हैं। मनुष्य ही एक ऐसा

---

* प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. नन्दलालजी बोरदिया, इन्दौर द्वारा लिखा गया यह आलेख 42 वर्ष पूर्व जिनवाणी, पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, जो आज भी उपयोगी है।

प्राणी है जिसमें बुद्धि का विकास सबसे अधिक हुआ है, उसकी जीवन प्रणाली इतनी उच्च तथा आध्यात्मिक रूप से विकसित है कि उसने अपने आपको सामान्य परम्परा से भिन्न कर, उच्च विकसित दर्शन को जीवन में स्थान दिया, इसमें खुद जीने तथा पृथ्वी के अन्य प्राणियों को भी उसी प्रकार जीने देने का महत्त्व है। जैन परम्परा में अहिंसा का महत्त्व है। भोजन प्रणाली का विकास इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित है। **जैनधर्म की इस आहार प्रणाली को विश्व के सभी वैज्ञानिकों और धर्म शास्त्रियों ने किसी-न-किसी प्रकार से श्रेष्ठ माना है।** यह इतनी सरल तथा व्यापक है कि यदि हमारा निर्वाह किसी चलते-फिरते प्राणी की हत्या के बिना सम्भव हो तो, हम अपने इस जीवन को सार्थक समझेंगे। यदि हमें जीवित रहना है तो एकेन्द्रिय पदार्थों का हनन तो अनिवार्य होगा, पर हमारा उद्देश्य नहीं होगा कि उनके प्रति हमारा कषाय भाव हो। हम अपने जीवित मात्र रहने के लिये अन्य प्राणियों की हत्या न करें यद्यपि हम जीवित रहने के लिये अन्न, हवा, पानी का प्रयोग तो करें, पर इसके साथ न दिखने वाले प्राणियों के प्रति भी सद्भाव रखें और उनकी अनजाने में भी हत्या न हो।

मनुष्य मूलतः शाकाहारी

संसार में प्रायः दो प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं- (1) शाकाहारी और (2) मांसाहारी। मनुष्य, बन्दर, घोड़ा, बैल, हिरण, बकरी आदि वर्ग शाकाहारी श्रेणी में हैं। इसके विपरीत सिंह, कुत्ता, बिल्ली, लोमड़ी आदि मांसाहारी जीव हैं। इन दोनों श्रेणियों के सभी प्राणियों में माता के उदर से उत्पत्ति के साथ स्तनपेशियों में दूध की उत्पत्ति की व्यवस्था है ताकि जब तक जन्म लेने वाला प्राणी स्वयं प्रयास कर उदर पूर्ति के काबिल नहीं हो जाता, उसे माता के स्तनपान पर ही निर्भर रहना पड़ता है। धीरे-धीरे वह आत्म-निर्भर हो जाता है। स्तनपायी जीव बलिष्ठ तथा स्वस्थ होते हैं। मनुष्य बन्दर, शिम्पाइनजी और गुरिल्ला के सबसे नज़दीक है, ये सभी पूर्ण शाकाहारी जीव हैं तथा ये बलवान तथा स्वस्थ जीवी हैं। **हमारे शरीर की रचना भी इस ढंग की है कि हम विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों से अपने लाभदायक तत्त्व ग्रहण कर लेते हैं और दूसरे तत्त्वों को फेंक देते हैं। मनुष्य यदि घी, तेल या अन्य प्रकार की वसा पदार्थ न भी ले तो शर्करा पदार्थ शरीर में जाकर घी या चर्बी में परिवर्तित हो जाता है। जानवर घास खाकर भी उसमें से चर्बी उत्पन्न कर लेते हैं और वे किसी प्रकार का अन्य भोजन प्राप्त किये बिना भी बलवान और पुष्ट रहते हैं।**

सभी भोजन जिस प्राकृतिक स्थिति में उपजते हैं, उन्हें उसी रूप में खाना स्वास्थ्यप्रद है। उपवास के दूसरे दिन उबला (साबुत) मूँग (बिना तला) लेने की जो प्रथा है तथा राजस्थान में केर लिये जाते हैं, वे भी पुष्टिकारक तथा स्वास्थ्यप्रद हैं। मनुष्य जिस प्रकार के भोजन का आदी हो जाता है वहीं उसे शरीर के रक्षार्थ आवश्यक तत्त्व मिल जाते हैं, बशर्ते कि उस भोजन में शरीर के ऊतकों के बनने के लिए आवश्यक मूलतत्त्व हों। भारत में ही उत्तर के लोगों का भोजन दक्षिण प्रान्त के निवासियों से भिन्न है, फिर भी दक्षिण के लोग स्वस्थ तथा दीर्घजीवी होते हैं। राजस्थान के रेगिस्तान में बहुत थोड़े खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं पर सेना के लिए जवानों की भर्ती वहाँ बहुत अधिक होती है। **हमारे शरीर में अपार सामंजस्य की शक्ति है और वह सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों से जीवन शक्तिदायक तत्त्वों को प्राप्त करने की शक्ति रखता है।** प्राकृतिक खाद्यों में रुचिकर स्वाद होता है और वे बहुत अधिक अग्राही स्वाद वाले नहीं होते। हमारे देश में जो भी खाद्य पदार्थ पैदा होते हैं, भोजन प्रणाली भी उन्हीं पर आधारित होती है और वे ही सारे पुष्टिकारक तत्त्वों को लिये होते हैं। जैसे चापड़ सहित गेहूँ का आटा, हाथ-कुटा चावल, मामूली जौ, जवार, मक्का आदि मोटे अनाज तथा छिलके वाली दाल जैसे

मूँग, उड़द, चना, मटर, हरी ताजी सब्जियाँ जैसे कोथमीर, पोदीना, हरी मिर्ची, नींबू व सलाद की पत्ती जो बिना उबाले ही लिये जाते हैं। ताजे प्रकृति के पके फल, थोड़ी मात्रा में दूध, ये सभी भोजन के आवश्यक अङ्ग हैं और भोजन को सन्तुलित बनाते हैं, पर हमने अपने मात्र स्वाद के लिये भोजन की पौष्टिक शक्ति तथा रोग अवरोधक क्षमता को समाप्त कर लिया है और उसे रुचिकर बनाने की धुन में उसे ज़हरीला बना लिया है।

उसका एक उदाहरण प्रस्तुत है। यदि स्वस्थ कबूतरों को देहरादून का बढ़िया मशीन का साफ किया बासमती चावल एक माह खिलाया जाय तो उन्हें एक माह में ही लकवा हो जायेगा। वे फिर चलते-चलते गिरने लगते हैं और उनका उड़ना बन्द हो जाता है। वे ही कबूतर उस चावल को तब अभक्ष्य पदार्थ मानकर चुगना बन्द कर देंगे। अब यदि उन्हें पूरे मूँग छिलके सहित देंगे तो वे पुनः चुगना शुरू कर देंगे और 5 या 7 दिन में पुनः स्वस्थ हो जायेंगे। भोजन में खिचड़ी का महत्त्व इससे स्पष्ट हो जाता है। सफेद चावल एवं डबल रोटी (मैदा) खाने में कुदरती मोटे आटे से अधिक स्वादिष्ट हैं, लेकिन वे बेरी-बेरी रोग पैदा करते हैं। पूर्ण रोग न भी हो तो भी उस स्वास्थ्यप्रद पदार्थ की शरीर में कमी पड़ने लगती है और पैरों में दर्द, हाथों की हथेलियों और तलवों में जलन सामान्य रोग स्थिति है। बैठकर फिर उठना भी कठिन हो जाता है और पैर दर्द करते हैं तथा शक्तिहीन हो जाते हैं। चापड़ सहित आटा, छिलके वाली दाल तथा नारियल की मात्रा अधिक रखने से भोजन पुष्टिकारक होता है। नारियल तथा खारक छुआरा की भेंट भी एक उत्तम परम्परा है और इसके पीछे इसी सिद्धान्त को अपनाया गया है। जैन भोजन में 'शोध का भोजन' ही लेने का आग्रह है यानी छिलके वाला हाथ से साफ किया भोजन लिया जाता है-हाथ का कुटा चावल, हाथ का पिसा आटा। उसमें त्रस जीवों की हिंसा न होने के अलावा आवश्यक स्वास्थ्यप्रद भोजन तत्त्व जल नहीं जाता या निकल नहीं जाता। मशीन का साफ किया चावल-भोजन ही नहीं रहता। शोध का भोजन अधिक स्वास्थ्यप्रद है। आत्म-विजय के लिये इन्द्रियदमन का जो महत्त्व है, उसमें स्त्री, पैसा और स्वाद के मोह को कम करने को ही राजमार्ग की ओर प्रवृत्त माना गया है। ये सीधे-साधे सिद्धान्त जैन आहार प्रणाली के आधार स्तम्भ हैं और इनकी सारी व्यावहारिकता के मूल में एक वैज्ञानिक दृष्टि है।

शरीर की क्रियाएँ

हमारे शरीर में कई अवयव हैं और उनकी क्रियाएँ अविरल चलती रहती हैं, पर उन्हें भी विश्राम की आवश्यकता होती है क्योंकि ये भी चलते-रहने से थकते रहते हैं। विश्राम मिलने से उनमें नई स्फूर्ति आती है। यदि हम विश्राम करते हैं या रात को 6-8 घण्टे सोते हैं तो सुबह हम अपने को तरोताजा महसूस करते हैं। हृदय तथा श्वास की गति कभी रुकती नहीं है, पर वह सोते समय धीमी हो जाती है। हृदय को कम भार पड़ता है और वह अगले दिन के लिए पुनः तैयार हो जाता है। इसी प्रकार पाचन-क्रिया भी हर समय चलती रहती है। भोजन करने के तुरन्त बाद सो जाने पर तो वह और भी तीव्र गति से काम करती है, किन्तु उसे भी विश्राम चाहिये। एक बार भोजन करना पाचन क्रिया को विश्राम देगा। कभी-कभी पूर्ण उपवास भी उसे विश्राम देगा और शरीर को कम से कम शाम को 6 बजे से सुबह 7 बजे तक न खाने से उसे विश्राम मिलेगा। इस प्रकार यह क्रिया पाचन के भविष्य को सुधारेगी। यदि शरीर की सभी क्रियाएँ सदैव पूर्ण रूप से कार्य करती रहें तो वे शीघ्र थक जायेंगी। तीव्रगति का जीवन (Fast Life) जीने वाले कभी लम्बी उम्र तक जीवित नहीं रहते। उसी प्रकार अधिक भोजन करने वाले लम्बी आयुष्य वाले नहीं होते। लम्बी उम्र तथा स्वस्थ रहने का सबसे बड़ा साधन है अल्प

भोजन, शान्त जीवन, काम के साथ विश्राम भी।

शरीर में यदि सभी क्रियाएँ तीव्र गति से चलती रहें तो वे शरीर को जल्दी ही भस्मीभूत कर देंगी। **दिन भर दौड़-धूप, मानसिक तनाव, दिन भर खाना और शारीरिक श्रम की कमी मनुष्य को निश्चय ही हृदयरोग की ओर ले जाने वाली है।** मनुष्य की बहुत सी क्रियाएं प्रतिवर्ती (Reflex) होती हैं। भोजन लेने की आदतें भी प्रतिवर्ती होती हैं और वे भी अधिक सोपाधि प्रतिवर्ती होने से मनुष्य वातावरण का आदी हो जाता है। जैसे सुबह उठते ही चाय पीने की आदत हो जाती है। उसके बिना उसे कमजोरी महसूस होती है। इसलिये जो दिन में बार-बार खाने तथा विशेष प्रकार के भोजन पेय पदार्थ लेने के आदी हो जाते हैं, वे अपनी इन्द्रियों के वशीभूत होकर स्वास्थ्य खो देते हैं। **इस प्रकार रोगोत्पत्ति का एक मूल कारण मनुष्य की अपनी आहार प्रणाली तथा उसकी दिनचर्या ही है। मानसिक तनाव, खून के दबाव का न्यून और अधिक ब्लडप्रेशर होना, लकवा, हृदयरोग तथा अन्य दुर्घटनाएँ उसकी अपनी आदतों के कारण होती हैं।** मनुष्य ने स्वाद के नाम पर अपनी आदतें इस कदर बिगाड़ ली हैं कि शनैःशनैः उनमें पौष्टिकता की कमी होती गई और रोगोत्पत्ति के कारणों का प्रभाव बढ़ता गया। सभ्यता की ऊँचाई अब इस कदर बढ़ गई है कि भोजन का जो स्वरूप पहले अमृत था, अब ज़हर बन चुका है और **भोजन बनाने की प्रणाली का विकास स्वाद के नाम पर इतना बिगड़ता जा रहा है कि उसकी सारी रोग प्रतिरोधक क्षमता समाप्त होती जा रही है।**

सदियों पूर्व जहाँ पहले तेज स्वाद वाले पदार्थ और मसालों का अभाव था, आज नमक, शक्कर, मिर्च, मसालापूर्ण विविध तले व्यञ्जन हमारे भोजन के मुख्य अङ्ग बनते जा रहे हैं। इनके जो भयंकर दुष्परिणाम सामने आते जा रहे हैं उन्होंने मनुष्य में कई नये रोगों को जन्म दिया। **मोटापा बढ़ना, पाचन क्रिया खराब होना, केवल जिह्वा को सन्तुष्ट करने में हमने विभिन्न प्रकार के गम्भीर रोगों को निमन्त्रण दिया है।** मनुष्य यदि प्राकृतिक भोजन या बिना तेज स्वाद बनाया भोजन ले तो अधिक खा नहीं सकता। अधिक खाता क्यों है, क्योंकि उसमें अति स्वाद होता है। इन्द्रिय दमन के लिये अधिक तेज स्वाद वाला भोजन नहीं लिया जा सकता है जैसे अधिक मीठा, स्वादिष्ट, विभिन्न व्यञ्जन, नमकीन, महकते भोजन, अधिक खट्टे भोजन, पापड़ ये सब इन्द्रियदमन में बाधक हैं। उसके लेने से मनुष्य अधिक खाता है-खाने से शरीर बेडोल होता है और अधिक खाने के सभी दुष्परिणाम शोध का भोजन नहीं लेने से होते हैं। **शोध का भोजन लेने से कब्जी नहीं रहती, पेट साफ रहता है लिवर में रक्त रुकावट नहीं होती व मस्से नहीं होते।**

अभी भी जैन आहार प्रणाली इतनी अधिक परिष्कृत और वैज्ञानिक है कि यदि हम उसके केवल मोटे-मोटे सिद्धान्त पर ही चलें तो भी हम अनेक दुष्ट बीमारियों के चंगुल में फँसने से बच सकते हैं। **हमारे यहाँ मद्यपान, मांस, मधु तो वर्जित हैं ही, पर अधिक बीज वाली वनस्पति और सब्जियों का भी निषेध है। बैंगन, टमाटर, गूलर, अंजीर, बड़, पीपल बहुबीजी फल हैं और इनकी पौष्टिक क्षमता न्यून है और कचरा अधिक है।** इनकी उपयोगिता बाहरी रूप से पेट भरने तक ही है और इनका प्रयोग मोटापा कम करने तथा मधुमेह के रोगियों में ही होता है। उसी प्रकार जमीन में पाये जाने वाले कन्द मूल जैसे आलू, प्याज, अरबी, शक्करकन्द और मूली का निषेध है। इनमें पौष्टिक पदार्थ और वसा का अभाव है तथा निम्न श्रेणी की शर्करा है। इनमें विटामिन भी नहीं हैं। गाजर में विटामिन 'ए' तत्त्व का बहुत अधिक गुणगान किया जाता है। पर इतना विटामिन तो हरी कोथमीर, पोदीना से सरलता से मिल जाता है। इसके विपरीत गाजर तथा सभी जमीन के अन्दर उगने वाले पदार्थ गैसोत्पादक हैं तथा पेट खराब करते हैं। उनके

जमीन से निकालने में अनेक प्राणियों की हत्या होती है। उम्र बढ़ने के साथ मनुष्य को जर्मीकन्द हानिकारक होते जाते हैं, खासकर मोटापे तथा गैसोत्पत्ति के कारण वे उपयोगिता के बदले रोगजनक हैं।

मूँगफली यद्यपि जमीन में उगती है पर वह बहुबीजी नहीं होने के कारण जर्मीकन्द की परिभाषा में नहीं ली जाती। इसके विपरीत एक बीज वाले खाद्य पदार्थ बहुत गुण वाले होते हैं। आम जो फलों का राजा माना जाता है उसमें सभी विटामिन, शर्करा पदार्थ आदि पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। उसी प्रकार खारक, खजूर भी शर्करा पदार्थ तथा लोहे से परिपूर्ण हैं। खजूर तो अरब देशों में भोजन का मूल आधार है। नारियल, बादाम, अखरोट, मूंगफली भी इसी श्रेणी में हैं तथा आम से भी अधिक पौष्टिक पदार्थ इनमें हैं। इनसे ही मिलते-जुलते तत्त्व वाले पदार्थों में दालें, हरा मूँग, उड़द, चना, मटर, मोठ, तुवर इत्यादि हैं। इनमें पौष्टिक पदार्थ 23 प्रतिशत है जो मांसाहार के बराबरी का है। फर्क केवल इतना है कि हम अपने तुच्छ से भोजन के लिये एक ओर सजीव प्राणियों की हत्या करते हैं, दूसरी ओर हमें ये ही भोजन शुद्ध वनस्पतियों से प्राप्त होते हैं। दालों का महत्त्व 'गरीबों के मांस' के रूप में पश्चिम के वैज्ञानिकों ने निरूपित किया है। छिलके सहित दाल लेने से विटामिन बी-काम्प्लेक्स तथा अन्य पौष्टिक पदार्थों की पूर्ति होती है।

आहार में तप का महत्त्व

जैन-धर्म में कम आहार लेने पर बड़ा बल दिया गया है। भूखे रहने के विभिन्न तप प्रचलित हैं। हर पखवाडे में एक उपवास और बढ़ती उम्र में एक माह में चार उपवास कई श्रावक-श्राविकाएँ सामान्यतः करते हैं। साधु-साध्वी तो कई प्रकार की लम्बी तपस्या करते हैं। जिनमें इतनी हिम्मत नहीं होती वे आयम्बिल करते हैं। कई लोग अष्टमी, चतुर्दशी को एक बार ही भोजन दोपहर में करते हैं। ये क्रियाएँ पेट को साफ रखती हैं। इन्द्रियदमन का अभ्यास होता है, जीवन शान्त बनता है। आँतों को विश्रान्ति मिलती है। हृदय गति सुधरती है, बशर्ते कि दूसरे दिन अधिक भोजन न लिया जाय। धर्म में तो कम खाने को इतना महत्त्व दिया गया है कि कम खाया जाय जिसे ऊनोदरी तप कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हम आवश्यकता के अनुसार बहुत खाते हैं जबकि गरीब मजदूर को खाने को ही नहीं मिलता। आपका बचाया हुआ भोजन उसे भेंट कर दिया जाय तो अहिंसा एक कदम आगे बढ़ जायेगी। कम खाने की तथा उपवास की आदत कम उम्र से ही अभ्यास करने से बढ़ाई जा सकती है। धीरे-धीरे शरीर की स्थिति के अनुसार तपस्या की जानी चाहिये। लम्बे समय के उपवास अभ्यास से ही बढ़ाये जाते हैं।

तपस्या या उपवास का उद्देश्य कायाक्लेश नहीं है। यह भूखे रहने की क्षमता का मानवीय प्रदर्शन भी नहीं है। यह तो शरीर में शान्त भाव उत्पन्न कर इन्द्रियों को वशीभूत करके चित्त को आत्मलीन करने का साधन है। यदि साधक तपस्वी उस लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न न करके केवल कायाक्लेश करता है तो वह तप त्याज्य है। उसी प्रकार तपस्या प्रदर्शन के लिये तथा नाम करने के लिए या मान पाने के लिए करना पापार्जन का कारण बनेगा। अपनी शारीरिक शक्ति से अधिक तीव्र तपस्या जिद्द से तथा प्रतियोगिता की होड़ में पड़कर करना पाप माना जायेगा और वह शरीर तथा आत्मा को हानिकारक होगा। अभ्यास से भूखा रहना आत्म-साधन के लिए महत्त्वपूर्ण साधन है। धीरे-धीरे अभ्यास करने से शरीर में कोई नुकसान नहीं होता तथा लम्बी उम्र पाने में सहायक है, क्योंकि उससे रक्त धमनियों में वसा इकट्ठा नहीं हो पाती, हृदय गति अच्छी बनी रहती है बशर्ते कि व्यक्ति पानी पी सके। तप करने वालों का रक्तचाप नहीं बढ़ता। मोटापा तो बढ़ ही नहीं सकता बशर्ते कि तप के बाद भोजन सन्तुलित रहे और अधिक घी, तेल, तले भोजन न

लिये जायें। तपस्वी को मधुमेह भी नहीं होना चाहिये। एक बार बम्बई के ही नहीं विश्व के प्रसिद्ध डॉ. रुस्तम लाल वकील ने दिल्ली के मौलाना आजाद मेडिकल कॉलेज में हृदय रोग से बचने के विषय की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी। भूखे मरिये और श्रम कीजिए-बचपन से ही, हृदयरोग नहीं होगा। किसी विद्वान ने भी कहा है कि लोग जितने भूख से नहीं मरते उतने अधिक लोग अधिक भोजन लेने से मरते हैं। अधिक भोजन से उपजे रोग ही आधुनिक युग के अभिशाप हैं और इनके दमन के लिए एक मात्र इलाज ही विभिन्न प्रकार के तप तथा उपवास हैं।

रात्रि भोजन निषेध

जैन-धर्म में रात्रि भोजन निषेध पर बहुत बल दिया है। यह आदत बड़ी लाभप्रद है। भोजन लेने से पेट भर जाने के तुरन्त बाद सोने से हृदय पर बोझ पड़ता है। भरा पेट हृदय का दुश्मन है। शाम को सूर्यास्त के पहले भोजन लेने से सोते समय पेट हल्का रहता है। पानी भी यदि सूर्यास्त बाद न लिया जाय तो बढ़ती उम्र में रात में बार-बार पेशाब करने की आवश्यकता नहीं होती। बढ़ती उम्र में प्रोस्टेट की बीमारियाँ सामान्यतः पायी जाती हैं। इस रोग से पेशाब रात में धीरे-धीरे उतरता है और पुरुष रोगी को बार-बार उठना पड़ता है। यदि रात में न भोजन लिया जावे न पानी पिया जाये तो व्यक्ति रात में निर्विघ्न सो सकता है और प्रोस्टेट रोग तकलीफ़ नहीं देता।

रात्रि भोजन से जीव हत्या

रात्रि में कई जीव-जन्तु बाहर निकलते हैं, वे सूर्य के प्रकाश में नहीं आते। इसलिये यदि बहुत अच्छी बिजली की रोशनी भी हो तो वे आसानी से नज़र नहीं आते हैं। वे रोशनी से आकर्षित होते हैं इसलिये यह सोचना कि अब अच्छी रोशनी है, इसलिये रात्रि भोजन में आपत्ति नहीं होनी चाहिये, यह गलत धारणा है। बहुधा ऑपरेशन से बचा जा सकता है। बारह घण्टे पेट में कुछ नहीं जाने से पाचन शक्ति अच्छी रहती है। अमेरिका में देश भर में शाम के 6 बजे भोजन लेने का रिवाज है।

विगय

जैन आहार प्रणाली में कुछ दिनों तक घी, तेल तथा वसायुक्त भोजन न लेने का नियम है। इन पदार्थों को विगय कहते हैं। ये वे पदार्थ हैं जिनसे रक्त में चर्बी बढ़ती है, जिसे कोलेस्ट्रोल कहा जाता है। चर्बी के रक्त में बढ़ने से वह रक्त-धमनियों की अन्दर की दीवार पर जमती जाती हैं। धमनियाँ संकड़ी होती जाती हैं, जिसे 'एथरोमा' कहते हैं। यह वह दशा है जिससे हृदयाघात, पक्षाघात आदि का भय रहता है। विगय खाद्य पदार्थों के न लेने से एथरोमा होने का भय कम हो जाता है, क्योंकि रक्त में कोलेस्ट्रोल वसा नहीं बढ़ पाता है।

मांसाहार तथा गरिष्ठ भोजन

जिस धर्म में अहिंसा को सबसे बड़ा महत्त्व दिया गया है, उसमें किसी भी प्राणी की हत्या कर उसके किसी भी अंग का भक्षण एक महापाप ही माना जायेगा। मनुष्य की प्रकृति मांसाहारी नहीं है, किन्तु उसने विभिन्न प्रकार के प्राणियों को मारकर खाने की आदत डाल ली है, यही नहीं संसार में आज इतने अणु बम तैयार हैं कि इस सृष्टि का 20,000 बार सम्पूर्ण विध्वन्स किया जा सकता है। सबसे भयानक परिणाम मांसाहार के हैं कि जितना मनुष्य धनी होता है वह उतने ही महँगे भोजन पसन्द करता है, चाहे वे शरीर के लिए कितने ही हानिकारक क्यों न हों। मांस में चर्बी तथा यूरिक एसिड की बहुतायत है जिससे गुर्दों में क्षार की जमावट से पथरी तथा गुर्दे के रोग और धमनियों का सँकड़ा हो जाना सामान्य रोग है। मांस की चर्बी से कोलेस्ट्रोल बढ़ जाता है जो हृदय रोग, लकवा इत्यादि उत्पन्न कर सकता है। मांस पर कोई मनुष्य कभी जीवित नहीं रहता। वह तो साथ में सामान्य भोजन लेता ही है। शाकाहार तो आवश्यक है। यदि मांसाहारी भी हो तब भी केवल मांसाहार पर वह जीवित नहीं रह सकता।

धनिक लोगों में मांसाहार प्रचलित है। उनमें श्रम का अभाव है। **तले और मसालेदार भोजन लेने से धीरे-धीरे रक्तचाप बढ़ता है और हृदयरोग होता है। यही कारण है कि हृदयाघात से अचानक देहान्त होने की घटनाएँ प्रतिदिन बढ़ती चली जा रही हैं।** विभिन्न प्रकार के लकवे का होना सामान्य बात हो गई है। मांसाहार से गुर्दे के रोग, लिवर की खराबियाँ एवं मोटापा होते हैं।

मांसाहारी और आदतन अण्डे खाने तथा मक्खन लेने वाले कई अमेरिकी सैनिक जब गत लड़ाई में मारे गये तो उनकी रक्त धमनियों में एथरोमा पाया गया। इससे यह स्पष्ट है कि अधिक वसायुक्त मांसाहार हृदयाघात का कारण है। **इसी कारण एवं अत्यधिक गरिष्ठ भोजन से हृदय रोग कम आयु में होने लग गया है।** आप कई बार 32-35 वर्ष में ही हार्ट एटेक से मौत के समाचार अब प्रायः सुनते हैं।

शरीर में यूरिक एसिड से गठिया रोग हो जाता है, जिसका आधार मांसाहार है। शाकाहारी पर यदि शल्य क्रिया की जाय तो मांसाहारी के अनुपात में रक्त स्राव कम होगा। मांसाहारी पर शल्यक्रिया करने से अधिक खून बहेगा।

आयुर्वेद में शहद की बड़ी महिमा गाई है। जैन-धर्म में शहद को अखाद्य पदार्थ माना गया है। शहद खाना वर्जित है, क्योंकि उसमें मधुमक्खी की हिंसा होती है। पाश्चात्त्य वैज्ञानिकों ने शहद की कोई विशेष उपयोगिता नहीं बताई है। अपने 50 वर्ष के आयुर्विज्ञान अध्ययन में मैंने एक भी अनुभव ऐसा नहीं सुना, जहाँ शहद की अनिवार्यता पाई गई हो। हम चिकित्सक लोग शहद को किसी काम में नहीं लेते।

आर्द्रा नक्षत्र लगने के बाद आम खाना बन्द करना भी वैज्ञानिक है। बारिश की हवा में आम में गुठली के ऊपर सड़ान आरम्भ हो जाती है। तब आम खाने से पेट खराब हो जाता है। उल्टी-दस्त (Diarhorea) जैसे सामान्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये उसका निषेध उचित है। *(जिनवाणी, अक्टूबर-1978 से)*

-20, यशवन्त कॉलोनी, इन्दौर-452003(मध्यप्रदेश)

निर्मल सोच के स्वामी बनें

श्रीमती सुमन डागा

अपने जीवन के कायाकल्प के लिए व्यक्ति अपनी सोच को हमेशा निर्मल बनाये रखे। निर्मल या अच्छी सोच का स्वामी प्रत्येक दिन सुबह तथा दोपहर में आनन्द में रहेगा साथ ही शाम को भी अपने मन में शान्ति महसूस करेगा।

प्रत्येक व्यक्ति हमेशा दूसरों से श्रेष्ठ और महान् बनना चाहता है, परन्तु महानता केवल धन, सौन्दर्य या पद से नहीं आती, बल्कि इन्सान की बेहतर सोच से आती है। सुन्दर चेहरा शरीर का सौन्दर्य हो सकता है, लेकिन सुन्दर सोच (निर्मल सोच) तो इन्सान के जीवन का सौन्दर्य होती है।

अपने मन की दशा को हमेशा निर्मल रखें। कभी किसी के लिए ग़लत न सोचें, उसके लिए कोई अशुभ कार्य न करें। अगर आप किसी के कारण दुःख से घिर भी जायें, तो भी उसके लिये हमेशा सुख की कामना करें, उसके बारे में अच्छा सोचें। जिस किसी ने भी आपके लिये अशुभ कार्य किया या आपको दुःख पहुँचाया हो तो उसके लिये भी आप शुभ चिन्तन करें, उसके लिए ग़लत भावना न भायें, यह विचार ही आपके दिमाग में शान्ति पैदा कर सकता है।

-'लक्ष्य', 76, नेहरुपार्क, जोधपुर, 342003 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 214
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली और स्वास्थ्य

डॉ. के. एल. पोखरना

जैन जीवनशैली अर्थात् जैनदर्शन और जैनधर्म के अनुसार जीवन जीने का तरीका। जैन जीवनशैली जैनधर्म एवं जैनदर्शन में निहित सिद्धान्तों एवं मान्यताओं पर आधारित है। जैन जीवनशैली त्याग-तप और संयम से अनुप्राणित है। एक जैन मुनि का जीवन पूर्णतया त्याग और संयममय होता है, और जैन गृहस्थ का जीवन भी संयममय जीवन जीने की कला से युक्त हो सकता है।

महावीर भगवान ने महाव्रत पालन का सूत्र दिया है। पाँच महाव्रत हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह यह पाँच व्रत स्वीकार करके धर्म का आचरण करो। व्रत का अर्थ है विरत होना, गलत कार्यों से पृथक् कर लेने का नाम व्रत है। मन किसी भी अवस्था में हो चाहे जागृत अवस्था में हो या अजागृत अवस्था में, दोनों अवस्थाओं में दुष्प्रवृत्तियों से विरत होना व्रत है।

पाँच महाव्रत के पालन हेतु कैसे जीना? यह प्रश्न किसी एक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिए नहीं है। इसका सम्बन्ध विश्व मानव की जीवनशैली से है। **जैनधर्म और दर्शन में आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने, आत्मों पर चढ़े कषायों को हटाने, आध्यात्मिक स्वास्थ्य को प्राप्त करने हेतु आत्मा साधना पर बल दिया गया है।** आत्मा से परमात्मा की ओर, वासना से उपासना की ओर, अहं से अर्हम् की ओर, आसक्ति से अनासक्ति की ओर, भोग से योग की ओर, हिंसा से अहिंसा की ओर, बाहर से भीतर की ओर जीने का प्रयास किया जाता है।

जैनदर्शन सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों को दुःख दर्द एवं पीड़ा से छुटकारा दिलाने में पूर्ण विश्वास रखता है। जैनधर्म में व्यक्ति को अपने जीवन में रोजाना आहार, विहार, आचार-विचार, कार्य, आराम, मनोरञ्जन, वस्त्र के उपयोग, व्यवहार, संयम, मर्यादा आदि के नियमों का पालन करते हुये कैसे जीवन यापन करना चाहिये, स्पष्ट तौर से बताया गया है। रोग-निरोधक एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्यक्रलापों से सम्बन्धित जैन जीवनशैली को जैनधर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वास्थ्य सम्बन्धी वैज्ञानिक जानकारी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष (परोक्ष) रूप से जैन कथाओं, प्रवचनों एवं आगमों के माध्यम से लोगों को दी गई है। रोगी के लिये उपचार का प्रबन्ध कराने के अलावा, बीमारियों के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं निवारक सम्बन्धी पहलूओं को ज्ञात करके रोग-निरोधक एवं स्वास्थ्यवर्धक कार्यों को लागू करना जैन धर्म का निचोड़ है। स्वास्यवर्धक उपायों, स्वस्थ जीने के सिद्धान्तों को लोगों में लागू करना जैनधर्म की महत्त्वपूर्ण गतिविधियाँ है, यह गतिविधियाँ लोगों के जीवन जीने के तरीकों से सम्बन्धित है।

स्वास्थ्य को शारीरिक, मानसिक एवं पर्यावरण से संबंधित प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन जीने के फलस्वरूप ही अच्छी स्थिति में रखा जा सकता है। यह नियम शुद्ध वायु, सूर्य के प्रकाश, आहार, व्यायाम, विश्राम, निद्रा, स्वच्छता, मस्तिष्क की सही मनोवृत्तियाँ, अच्छी आदतों तथा सबसे बढ़कर जीवन जीने के तरीकों से सम्बन्धित है। स्वास्थ्य, स्वस्थ मस्तिष्क को स्वस्थ शरीर में, स्वस्थ परिवार में स्वस्थ पर्यावरण में प्रकट करता है।

जैनधर्म न केवल धर्म ही है, अपितु यह एक विज्ञान है, स्वास्थ्य का विज्ञान है (Jainism is not only a religion, but it is science, science of health).

जैन जीवनशैली

जैन जीवनशैली वैज्ञानिक शैली है जो मानव के स्वास्थ्य के रखरखाव से जुड़ी हुई है। जैन धर्म स्वस्थ मस्तिष्क एवं स्वस्थ शरीर, उन्नत चरित्र, स्वस्थ परिवार, स्वस्थ पर्यावरण पर जोर देता है।

स्वास्थ्य की परिभाषा

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार-''स्वास्थ्य शारीरिक, मानसिक व सामाजिक अच्छेपन की स्थिति है, न केवल रोग, दुर्बलता से मुक्ति मात्र ही है'', अपितु शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य के तीनों पहलू जो एक-दूसरे से जुड़े हुये हैं, अच्छी स्थिति में हों अर्थात् स्वास्थ्य के ये तीनों कारक स्वस्थ हों। स्वास्थ्य की इस परिभाषा में चतुर्थ घटक ''आध्यात्मिक स्वास्थ्य को जोड़ा गया है, जो कुछ अमूर्त है (जिसे छूआ न जा सके, जिसे पकड़ा न जा सके) जो शारीरिक क्रिया विज्ञान एवं मनोविज्ञान से बढ़कर है। इसके अन्तर्गत ईमानदारी, सिद्धान्त एवं नैतिक नियम, जीवन के उद्देश्य, कुछ उच्च बनने के लिये कठिबद्धता आदि लिये गये है। जैन धर्म स्वास्थ्य के इस चतुर्थ घटक या कारक को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

जैन जीवनशैली और स्वास्थ्य

जैनदर्शन के अनुसार मानव चरित्र, नैतिक विकास, सौहार्द पूर्ण व्यवहार, झूठ-फरेब, हिंसा का त्याग, विनय, सेवा आदि को आध्यात्मिक स्वास्थ्य के अन्तर्गत जोड़कर सम्पूर्ण-सकारात्मक स्वास्थ्य को मानव के प्रयासों से प्राप्त किया जा सकता है। जैन मतानुसार शरीर केवल मात्र मांसपेशियों, हड्डियों का ढांचा ही नहीं है, इसके अन्तर्गत मानसिक, आत्मिक पहलुओं को भी रखा जाना चाहिये। जैन दर्शन में आत्मिक सुख को ही श्रेष्ठ सुख माना है। मानव को सुख प्राप्त करने हेतु आत्मिक क्रियाकलापों पर ध्यान देना होगा। जैन धर्म वास्तव में शारीरिक स्वास्थ्य से अधिक मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को प्राप्त करने पर जोर देता है।

जीवन जीने के तरीके से स्वास्थ्य का सम्बन्ध

जैनदर्शन में आदर्श जीवन जीने के तरीके के अन्तर्गत स्वास्थ्य के रखरखाव सम्बन्धी कारक, स्वास्थ्य उत्थान सम्बन्धी गतिविधियाँ जैसे पोषण (सादा सात्विक शाकाहारी मर्यादित भोजन), रात्रिभोजन का त्याग, अधिक गरिष्ठ तले हुये भोजन, चाय, कॉफी, अन्य मादक और व्यसनीय पदार्थों आदि का पूर्ण त्याग, स्वच्छ छने हुये पानी का उपयोग, ब्रह्मचर्य एवं संयमित जीवन का पालन, धूम्रपान, तम्बाकू, शराब तथा अन्य नशीले पदार्थों का पूर्ण रूपेण त्याग, स्वास्थ्य पर विपरित प्रभाव डालने वाले फास्ट फूड, जंक फूड, पिज्जा, बर्गर, हॉट डाग, चॉकलेट, आइसक्रीम, पाव भाजी, चाट तथा चाऊमीन का त्याग करना, वातावरण स्वच्छता, ध्यान, मौन, ज्ञान व चिन्तन व चिन्तारहित जीवन, उत्तेजना, क्रोध का त्याग आदि दृढ़ता से लागू करने से पूर्ण स्वस्थ जीवन प्राप्त किया जा सकता है तथा रोगों से छुटकारा पाया जा सकता है।

जीवन जीने से सम्बन्धित और अन्य स्वास्थ्य समस्याएँ तथा उनकी रोकथाम

विकसित एवं विकासशील देश जैसे भारत आदि में वर्तमान में व्याप्त स्वास्थ्य समस्याएँ जो मानव के जीवन जीने से सम्बन्धित हैं, अधिक संख्या में उभर कर आ रही हैं तथा जानलेवा सिद्ध हो रही हैं-जैसे हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, गठिया रोग, मोटापा, मधुमेह (Diabetes), गुर्दा सम्बन्धित रोग, कैन्सर, शराब तथा अन्य नशीले पदार्थों के उपयोग के ज़हरीले प्रभाव, आत्महत्या, मानव हत्या, कन्याभ्रूण हत्या, मानसिक तनाव, मानसिक रोग, यौन रोग, एच.आई.वी/एड्स, धूम्रपान-तम्बाकू सेवन के घातक प्रभाव यथा-खाँसी, श्वास रोग, क्षय (तपेदिक), अँगुलियों का टेढ़ापन, फेफड़ों आँतों के कैन्सर आदि की रोकथाम एवं नियन्त्रण, मानव के व्यवहार में परिवर्तन लाकर जैन दर्शन में बताये गये व्रतों, नियमों, आचारों के अनुसार जीवनशैली को ढालकर जैनधर्म में बताये गये आचार-

व्यवहार, विचारों पर चलकर, जीवन में नैतिकता, चरित्र आदि मूल्यों को स्थापित करके स्वस्थ जीवन जिया जा सकना पूर्णरूप से सम्भव है।

मानव कार्यकलापों का आधार स्वास्थ्य

धर्म का प्रथम साधन है शरीर का नीरोग रहना, महाकवि कालीदास ने कहा-**''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्''**

चरक संहिता के अनुसार-**''धर्मार्थकाम-मोक्षाणामारोग्यमूलमुत्तमम्।''**

भारत की अति प्राचीन मान्यता रही है कि मानव के पूर्ण विकास की आधारशिला स्वास्थ्य पर ही आधारित है। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष का मूल आधार आरोग्य को ही माना है। स्वास्थ्य के लिये अपेक्षित आचार, व्यवहार जैनधर्म और दर्शन के धार्मिक, सामाजिक कृत्यों, परम्पराओं, पर्वों, त्यौहारों, समारोहों से गुँथे हुये हैं।

जैनदर्शन में रोग उत्पत्ति के कारण

बत्तीस जैन आगमों में तीसरा अङ्ग सूत्र-श्री स्थानाङ्गसूत्र के द्वितीय भाग में रोग उत्पत्ति के नौ निम्न कारण बताये हैं-

1. अधिक भोजन करने से, अधिक खाने से (अति-अशन)
2. अजीर्णावस्था में भोजन करने से
3. अधिक बैठने से (अत्यासन)-बवासीर, कब्ज, अजीर्ण होता है
4. अधिक सोने से (अति निद्रा)
5. अति जागरण से, रात में सोना ही नहीं
6. मल-मूत्र को रोकने से-मानव शरीर से निकलने वाले अन्य दूषित पदार्थों को रोकने से।
7. बहुत अधिक घूमने या चलने से (मार्ग गमन)
8. प्रकृति विरुद्ध भोजन करने से (हितभुक् अर्थात् सात्त्विक खाना खाना, वही खाओ जो हितकारी है, मितभुक् (भूख से कम खाओ), ऋतभुक् (ऋतु के अनुकूल खाओ)।
9. काम, विकारों को सेवन करने से-विषयों को अधिक सेवन करने से तपेदिक रोग होता है। संसारी जीवन सशरीरी होते हैं, और भौतिक शरीर रोगों का घर माना गया है इसलिए प्रस्तुत सूत्र में यह विवेचन किया गया है कि उपर्युक्त कारणों से विभिन्न प्रकार के विकार अर्थात् रोग उत्पन्न होते हैं। ये सब कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आहार, व्यक्तिगत स्वच्छता, यौन संसर्ग-मैथुन आदि से जुड़े हुये हैं, रोगों, बीमारियों की रोकथाम हेतु इन नौ कारणों को हटाना चाहिये, इनको रोका जा सकता है।

जैन जीवनशैली से जुड़ी गतिविधियाँ/कार्यकलाप जो रोगों, बीमारियों की रोकथाम/नियन्त्रण एवं जीवन सुधार करने और सुखमय जीवन जीने के लिए मदद करती है

1. गतिविधियाँ/कार्यकलाप-जैन आगमों में पानी को अचित्त बनाकर काम में लेने की व्यवस्था बताई गई है। अतः पानी हमेशा छानकर पीना, धोवन पानी या पानी को उबाल कर छानकर पीना। साधारण पीने का पानी या तो उबालने से या राख जैसे विजातीय तत्त्व घोलने से अचित्त (निर्जीव) बन जाता है। 10 लीटर पानी में 50 ग्राम गोबर की राख घोलने से अच्छा धोवन बन जाता है। 24 मिनट बाद निथार और छानकर उस अचित्त पानी को पीने के काम में लिया जा सकता है। धोवन पानी बनाने या पानी उबालने के लगभग 12 से 15 घण्टे तक पानी अचित्त रहता है किन्तु गर्मी की ऋतु में 5 प्रहर उपरान्त, शीतकाल में 4 प्रहर एवं वर्षाकाल में 3 प्रहर तक अचित्त पानी भी सचित्त हो जाता है (दशवैकालिक सूत्र के अनुसार)। सुबह बनाया धोवन रात्रि के दूसरे प्रहर में (सूर्यास्त के 3 घण्टे बाद) काम में नहीं लिया जा सकता है, क्योंकि वह सचित्त हो जाता है।

रोकथाम/नियन्त्रण-छने हुए पानी का उपयोग

और पानी के विवेकपूर्ण उपयोग एवं धोवन पानी के उपयोग करने से रोगाणुओं को शरीर में पानी के द्वारा प्रवेश करने से रोका जा सकता है तथा पानी की मारामारी से भी बचा जा सकता है। पानी छानने के सिद्धान्त को विश्व स्वास्थ्य संगठन ने राजस्थान के आदिवासी क्षेत्र में अल्पकालीन उपाय के रूप में काम में लेकर नारू (Guineaworm) रोग को नियन्त्रित किया। पानी को सही ढंग से छानकर पीने से पेट सम्बन्धी रोगों यथा दस्त, पेचिश तथा मोतीझरा आदि पर नियन्त्रण किया जा सकता है। धोवन पानी (राख घुला पानी) बैक्टेरिया विहीन तथा क्षारीय होता है। इसलिए ऐसिडिटी (अम्लीयता) कम हो जाती है तथा यह प्रभावी एन्टीऑक्सीडेन्ट देता है। कुछ वैज्ञानिक प्रयोगों से पाया गया है कि क्षारीय (अल्कलाइन) पानी (धोवन पानी) पीने से हड्डी का घनत्व (Bone density) बढ़ता है। आज प्रायः 40 वर्ष की आयु के बाद हड्डी का घनत्व कम होना एक आम समस्या बनती जा रही है। अतः जैन दर्शन में अहिंसा के सिद्धान्त की पालना में छानकर पानी पीने पर जोर दिया गया है।

2. गतिविधियाँ/कार्यकलाप–अहिंसा पालन करने, जीव हिंसा न करने के नियमों का दृढ़ता से पालन करने से जैन गृहस्थ अपने घर, घर के आसपास के पर्यावरण को सूखा और स्वच्छ रखता है, घर के आसपास मोहल्ले में पानी इकट्ठा न होने देना एवं पानी का विवेकपूर्ण उपयोग करना।

रोकथाम/नियन्त्रण–अहिंसा की पालना में पानी के व्यर्थ में उपयोग पर अंकुश रखने से घर के आसपास पानी इकट्ठा न होने से मच्छर पैदा नहीं होंगे तो मलेरिया, फाइलेरिया रोगों पर भी नियन्त्रण हो सकेगा। पानी इकट्ठा होने को रोकना मच्छरों की वृद्धि को रोकना है, जिससे मलेरिया जैसे रोगों पर अंकुश लगाया जाना सम्भव है।

3. गतिविधियाँ/कार्यकलाप–जैनदर्शन में स्वच्छता और सफाई हेतु मानव मल-मूत्र के स्वच्छता पूर्व निपटान, कूडे-कचरे का जीव हिंसा रहित निपटान पर जोर दिया गया है।

रोकथाम/नियन्त्रण–जैनसिद्धान्त का पालन करने से गन्दगी नहीं होगी तो रोग नहीं होगा। साफ सफाई के नियम का पालन करने से चर्म रोग, नेत्र रोग, उदर रोग यथा दस्त, आन्त्रशोध, पीलिया, पेचिश, पेट के कृमि आदि की रोकथाम हो सकती है।

4. गतिविधियाँ/कार्यकलाप–जैन जीवनशैली के तहत जीव हिंसा रोकने हेतु जैनदर्शन में गृहस्थों के लिए भी छींकने, खाँसने, बोलने के समय रूमाल का सफेद कपड़े के उपयोग पर भी जोर दिया गया है एवं मुँहपत्ती रखने, खुले मुँह न बोलने आदि के पालन पर जोर दिया गया है।

रोकथाम/नियन्त्रण–खुले मुँह न बोलने या मुँहपत्ती रखने या मुँह पर साफ कपड़ा रखने का पालन करने से श्वसन सम्बन्धी रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु, विषाणु, कीटाणुओं को श्वास द्वारा शरीर में प्रवेश करने को रोका जा सकता है, जिसके फलस्वरूप तपेदिक, खाँसी, दमा, जुकाम आदि रोगों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है। स्वाइन फ्लू रोग से बचने के लिए चिकित्सकों ने मुँह पर 'मास्क' के उपयोग करने पर जोर दिया है तथा ऑपरेशन थियेटर में मुँह पर पूर्ण रूप से मास्क लगाकर प्रवेश करने के नियम को लागू किया है। यह जैन धर्म की मुँह पर कपड़ा रखने या मुँहपत्ती रखने के नियम की रोग बचाव के लिये वैज्ञानिक धारणा की पुष्टि करता है।

5. गतिविधियाँ/कार्यकलाप–जैनदर्शन में अहिंसा के सूक्ष्म रूप से पालना कराये जाने के फलस्वरूप रात में भोजन खाने, पकाने पर निषेध है। सायंकालीन भोजन सूर्यास्त से पूर्व करना अमृत-तुल्य है। रात्रि में किये गये आहार का भली-भाँति पाचन नहीं हो पाता है।

रोकथाम/नियन्त्रण–रात में ट्यूबलाइट और शक्तिशाली बल्बों के तेज प्रकाश में भी अतिसूक्ष्म रोग पैदा करने वाले कीटाणु रात्रि में भोजन करने से खाद्य

पदार्थों में प्रवेश कर मानव शरीर में प्रवेश कर रोग ग्रस्त कर सकते हैं। रात्रि भोजन करने से एलर्जी तथा पेट सम्बन्धी रोगों (अपच, कब्ज, आहारविषाक्तता, गैस का बनना आदि) के होने की सम्भावना बनी रहती है अतः रात्रिभोजन नहीं किया जाना चाहिए। रात्रि-भोजन न करने से रोगों से बचाव होता है, स्वास्थ्य अच्छा रहता है, मूत्राशय, लीवर व हृदय पर बोझ नहीं पड़ता है।

6. गतिविधियाँ/कार्यकलाप-शाकाहार- जैनधर्म का मूल सिद्धान्त अहिंसा है अतः जैन जीवनशैली के तहत मांसाहार किसी भी रूप में कतई उचित नहीं है। मांसाहार को पूर्णतया निषेध किया गया है। मांसाहार दया या करुणा के विपरीत है। अपनी उदर पूर्ति के लिए किसी भी प्राणी का संहार करना अधार्मिक ही नहीं अमानवीय भी है। अतः मानव को शिकार, पशु-पक्षी वध आदि कतई नहीं करना चाहिए, व्यक्ति को मांस, मछली, अण्डे व अन्य मांसाहारी भोजन का बिलकुल सेवन नहीं करना चाहिए।

रोकथाम/नियन्त्रण-वैज्ञानिक शोध से सिद्ध किया जा चुका है कि मांसाहारी भोजन आसानी से संक्रमित एवं रोगजनित हो जाता है, जिससे गम्भीर रोगों के होने की पूरी सम्भावना बनी रहती है। भोजन मानव की प्रकृति और व्यवहार को भी प्रभावित करता है। 'टॉलस्टॉय' के अनुसार शाकाहारी भोजन मानसिक शुद्धता के लिए श्रेष्ठ होता है, शाकाहारी भोजन मानव के स्वास्थ्य के लिए श्रेष्ठ होना प्रमाणित किया जा चुका है। मांसाहारी भोजन के सेवन से रक्त में कोलेस्ट्रोल का बढ़ना, मोटापा होना तथा हृदय रोग होना अधिक पाया गया है। पशु-पक्षियों के मारने से पर्यावरण पर भी गम्भीर असर होता है, इस कारण मांसाहारी देशों में भी शाकाहार की तरफ ज्यादा रुझान होने लग गया है। इंग्लैण्ड के जार्ज बनार्ड शॉ शाकाहारी थे, उनका अनुसरण करके लाखों व्यक्ति शाकाहारी बन गये। इंग्लैण्ड के डॉ. आ.जे.विलियम ने कहा है कि-''हो सकता है कि अण्डे खाने वाले लोग शुरु में अपने आपको अधिक स्वस्थ अनुभव करें, दूसरों को भी ऐसा लगे, परन्तु बाद में वे कई रोगों से पीड़ित हो जाते हैं, जिसमें रक्तचाप बढ़ना, ऐन्जाईना जैसे भयानक रोग हो जाते हैं। सन्तुलित शाकाहारी भोजन जिसमें पर्याप्त मात्रा में फल तथा तरकारियाँ हों और उचित मात्रा में दाल, गेहूँ, चावल आदि हों, ये स्वास्थ्य और प्रसन्नता के लिए सर्वोत्तम हैं और विभिन्न घातक रोग- हृदय रोग, कैन्सर आदि की रोकथाम करने में भी ज्यादा कारगर सिद्ध हुआ है। जैसा कि कुछ समय पूर्व जर्मनी के विख्यात प्रो. गैर हार्ड रैकमेकर जो पोष्टिक विज्ञान परिषद् के निदेशक हैं ने प्रमाणित किया है कि पशु-पक्षियों के मारने से पर्यावरण पर गंभीर असर होता है। बढ़ती बीमारियों के कारण अमेरिका में ''मीट लेस मील'' (मांसाहार रहित भोजन की ओर) लोग तेजी से बढ़ रहे हैं। लगभग 45 प्रतिशत चिकित्सक एवं आमजन शाकाहारी बन गये हैं। जैनधर्म में अहिंसा के सिद्धान्त की पालना में मांसाहारी भोजन का सेवन पूर्णरूप से निषेध है तथा जैन दर्शन में अहिंसा का पालन व शाकाहार का सेवन वैज्ञानिक अवधारणा पर आधारित है।

7. गतिविधियाँ/कार्यकलाप-निर्जरा का स्वास्थ्य बनाये रखने में योगदान-जैनदर्शन के अनुसार ''नौ'' तत्त्वों में से एक तत्त्व निर्जरा है, **निर्जरा न केवल आत्मशुद्धि के लिए, कर्मों के बन्धनों को हटाने हेतु महत्त्वपूर्ण है। जैन जीवनशैली में निर्जरा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।** निर्जरा के अन्तर्गत-1. बाह्य तप, 2. आभ्यन्तर तप जो शरीर और मस्तिष्क को नियन्त्रित करते हैं, किये जाते हैं। **(1) बाह्य तप-**जो बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रखता हो, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता हो, जो स्वयं को नियन्त्रित करते हैं, जिनका सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ता है। मुख्य रूप से बाह्य तप शरीर से होता है। **(2) आभ्यन्तर तप-**वह है जिसमें बाह्य द्रव्यों की अपक्षा न रहे, जिसमें मन का नियमन होता है, जो स्वयंवेद्य है, जो दूसरों को प्रत्यक्ष न दिखता हो, वह भाव प्रधान आभ्यन्तर तप है।

1. **अनशन**–जो अङ्गों की शुद्धि करते हैं संयम की विशेष सिद्धि के लिये, राग भाव का नाश करने के लिए, कर्मों की निर्जरा के लिए, ध्यान की साधना के लिये तथा आगम की प्राप्ति के लिये, अशन, पान, खाद्य, स्वाद इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप कहलाता है। अनशन से भूख पर विजय होती है। भूख को जीतना और मन का निग्रह करना अनशन तप है। अनशन को उपवास भी कहते है, उपवास का अर्थ है- उप यानी पास, वास का अर्थ है रहना, अपने करीब आने को, आत्मा के समीप आने को उपवास कहते हैं। अकेले भोजन छोड़ना उपवास नहीं कहलाता है। भोजन के साथ-साथ विषय विकारों का त्यागकर मन पर नियन्त्रण करना उपवास है। **आयम्बिल तप**- आयम्बिल तप में नमक रहित, रूखा सूखा खाना अचित्त, पानी के साथ दिन में एक बार एक आसन पर बैठकर लिया जाता है।

2. **ऊनोदरी तप (अवमौदर्य)**–भूख से कम आहार करना, उदर (पेट) कुछ खाली रखना अवमौदर्य है, इसे ही प्रचलित भाषा में ऊनोदरी कहा जाता है। भूख से कम खाने की आदत बनाना। ऊनोदरी तप दो प्रकार का है- 1. द्रव्य ऊनोदरी व 2. भाव ऊनोदरी।

1. **द्रव्य ऊनोदरी तप**–ममत्व घटाने के लिए, ज्ञान-ध्यान में वृद्धि करने के लिए, और सुख पूर्वक विहार करने के लिए, वस्त्रों व पात्रों की कमी करने हेतु प्रयास किया जाता है। शास्त्रों में पुरुष का आहार 32 कवल का, स्त्री का 28 कवल का आहार कहा गया है तथा 24 कवल का आहार नपुंसक का माना है। इस प्रमाण से कम आहार करना भी द्रव्य ऊनोदरी तप है। एक ग्रास से आठ ग्रास तक आहार करना अल्पाहार है, नौ से बारह ग्रास तक आहार करना अपार्द्ध अवमौदर्य है। तेरह से सोलह ग्रास तक आहार करना अर्द्ध अवमौदर्य है। सतरह से चौबीस ग्रास तक आहार करना पौन अवमौदर्य है और पच्चीस से इकतीस ग्रास तक आहार करने पर किञ्चित् अवमौदर्य है। द्रव्य अवमौदर्य या द्रव्य ऊनोदरी से स्वाध्याय, समाधि, संयम पालन में सुकरता, इन्द्रिय विजय एवं निद्राविजय आदि लाभ है।

2. **भाव ऊनोदरी**–अभिग्रह को धारण करके भिक्षार्थ जाना भाव ऊनोदरी या भाव अवमौदर्य तप है। ऊनोदरी तप सिर्फ साधुओं के लिए ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोषों का निवारण करने के लिए गृहस्थ को भी इस तप को अङ्गीकार करना चाहिए।

ऊनोदरी तप (रोकथाम/नियन्त्रण)–अधिक खाने से मस्तिष्क पर रक्त का दबाव बढ़ जाता है। परिणामतः पूर्ति कम हो जाती है और नींद आने लगती है। इसके अतिरिक्त अधिक खाने से वायु विकार आदि अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। इन सब शारीरिक बाधाओं का निवारण करने में ऊनोदरी तप बहुत उपयोगी है इससे ब्रह्मचर्य की सिद्धि होती है, यह निद्रा विजय का साधन है। ऊनोदरी तप से सुस्ती मिटती है, स्फूर्ति आती है तथा शरीर और मस्तिष्क को ताजी ऊर्जा मिलती है जो शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य को बनाने में योगदान देती है। इससे मोटापा घटता है वजन कम होता है तथा तोंद कम होती है।

लाभ–निर्जरा मानसिक, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी उपयोगी है। कहा भी है कि अनशन से शारीरिक शुद्धि होती है। यह शरीर का सबसे बड़ा चिकित्सक है। कहा भी है कि 'लंघनं परमौषधम्' माह में एक या दो बार उपवास करने से शरीर के दूषित पदार्थों का निवारण होता है, पाचन तन्त्र के अङ्गों को आराम मिलता है तथा पाचन शक्ति में सुधार होता है। अनशन तप में कई प्रकार के उपवास शामिल हैं जैसे-(1) एक चौविहार उपवास जिसमें 24 घण्टे तक कुछ भी नहीं लिया जाता है। यदि तिविहार उपवास है तो

केवल उबला पानी या धोवन सूर्यास्त होने से पूर्व तक काम में लिया जा सकता है। (2) दो उपवास (बेला), (3) तीन उपवास (तेला), इसी क्रम में शक्ति के अनुसार उपवास कई दिनों, महीनों तक बढ़ाया जा सकता है, यह श्रेणी तप कहलाता है। इसी प्रकार प्रतर तप, घन तप, वर्ग तप-वर्गावर्ग तप शामिल हैं। ये सभी प्रकार के उपवास, आयम्बिल आदि रोगों की रोकथाम में बहुत उपयोगी हैं। अमेरिका के प्राकृतिक चिकित्सिक डॉक्टर हर्बर्ट एम. शेल्टन ने एक पुस्तक लिखी है कि-''उपवास आपके जीवन को बचा सकता है।'' उन्होंने लिखा कि उपवास से नया जन्म मिलता है।

3. **भिक्षाचर्या तप**-मुनियों द्वारा आहार आदि की प्राप्ति के मार्ग को नियम से संकुचित करना या पदार्थों की संख्या को अल्प करना अनेक घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेकर शरीर का निर्वाह करना भिक्षाचारी तप या भिक्षाचर्या तप है। साधुओं के लिये यह आवश्यक तप है। श्रावक के बारहवें व्रत-अतिथि संविभाग व्रत में मुनिराजों को शुद्ध आहार, पानी आदि वस्तुओं के दान करने का विधान बताया गया है।

लाभ-मुनिराजों/साधु-सन्तों को किये गये दान के फलस्वरूप पवित्र जीवन का अनुमोदन होने से जीवन का आत्मिक विकास होता है तथा आत्मिक और मानसिक स्वास्थ्य में सुधार होता है।

4. **रस-परित्याग**-इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिये जिह्वा को प्रिय-स्वादु बलवर्द्धक वस्तुओं का त्याग करके नीरस भोज्य पदार्थ का सेवन करना, रस परित्याग तप है जो जैन जीवनशैली का महत्त्वपूर्ण घटक है। इस तप के अन्तर्गत दूध, दही, घृत, तेल, मिठाई इन पाँच विगय (विकृतिजनक) वस्तुओं को त्याग करना, समस्त विगयों का त्याग करना, मसालों रहित आहार लेना, रूखा आहार लेना, पुराना धान पका हुआ लेना, चना, उड़द आदि के छिलके लेना, अरस, नीरस, अन्त-प्रान्त और लूखा आहार से संयम का निर्वाह करना। शहद, मक्खन, शराब, मांस, मछली, अण्डे, भाङ्ग, गाँजा, सुल्फा, अफीम आदि का सेवन जैन धर्म में पूर्ण रूप से निषिद्ध है। रस परित्याग केवल मुनिजनों, सन्तों, साधुओं के लिए ही नहीं है, बल्कि गृहस्थों, आम लोगों के लिये भी आवश्यक है।

लाभ-भोजन में वसा (Fat) जो घी, मक्खन, तेल, दूध, दही आदि से मिलती है, उनके नहीं लेने या कम लेने से खून में कोलेस्ट्रोल नामक तत्त्व की मात्रा को बढ़ने से रोका जा सकता है। इसके फलस्वरूप मोटापा, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग को रोका जा सकता है। इसी प्रकार नमक, शक्कर, मिठाई रहित भोजन या कम मात्रा में नमक, शक्कर व मिठाई के उपयोग से मधुमेह (Diabetes), गुर्दे सम्बन्धी रोग, गठिया रोग तथा मोटापे से बचा जा सकता है। ये सब रोग वर्तमान में बहुतायत में बढ़ रहे है, क्योंकि हमारे खाने में नियन्त्रण नहीं है, शारीरिक श्रम या शारीरिक व्यायाम नहीं हो रहा है, फलस्वरूप ये आधुनिक जीवन शैली जनित रोग युवाओं को भी चंगुल में फँसा रहे हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी भोजन में उपर्युक्त निषेधों को मानता है।

5. **कायक्लेश तप**-काय क्लेश तप का अर्थ काया को कष्ट देना नहीं है, बल्कि शरीर सुख की अभिलाषा का त्याग करना काय क्लेश है। धूप, शीत सहना, स्थिर आसन से रहना, काया को सक्रिय रखने, शरीर को साधने, कसने, अनुशासित एवं संयत रखने के लिए स्वेच्छा से बिना ग्लानि के वीरासनादि आसनों, कायोत्सर्ग (स्थान) तथा लोंच, आतापना आदि का अभ्यास करना कायक्लेश तप है।

काय क्लेश तप के मुख्य भेद निम्न है-(1) कायोत्सर्ग करके खड़ा होना, (2) कयोत्सर्ग के बिना ही खड़ा रहना, (3) दोनों घुटनों के बीच सिर झुकाये कायोत्सर्ग करना, (4) साधु की बारह प्रतिमाएँ (प्रतिज्ञाएँ) धारण करना।

श्रावक के 11वें व्रत-पौषध व्रत में काय क्लेश तप का पालन भी किया जाता है। शरीर को भूखा रखकर आत्मा का पोषण करना पौषध व्रत है। आत्म-चिन्तन में ही सारा दिवस व्यतीत करना और इस बीच आत्मनिरीक्षण कर आत्मभाव में रमण करना पौषध व्रत है। इस व्रत में सभी सांसारिक प्रवृत्तियों को त्याग कर चौबीसों घण्टे धर्म-जागरण में तत्पर होना पड़ता है।

लाभ-इस व्रत की आराधना से अनात्मभाव घटता जाता है और आत्मभाव का पोषण होता है। काय-क्लेश तप और पौषध व्रत से मानसिक स्वास्थ्य में सुधार होता है। आत्मिक स्वास्थ्य, आत्म-विश्वास तथा आध्यात्मिक सुख में बढ़ोतरी होती है। मानसिक रोगों पर काबू पाया जा सकता है। यथा मानसिक तनाव, आत्महत्या, मानव हत्या, कन्या भ्रूण हत्या आदि मानसिक विकृतियों एवं हिंसाजनित गतिविधियों को रोका जा सकता है।

6. **प्रतिसंलीनता तप**-एकान्त स्थान में रहना, क्रोध आदि प्रसङ्गों से दूर रहना। आस्रव के कारणों का निग्रह करना प्रति संलीनता तप कहलाता है। राग-द्वेष की उत्पत्ति करने वाले शब्दों को कानों से श्रवण करने से रोकना, विकार जनक रूप को देखने से नेत्रों को रोकना, गन्ध से घ्राणेन्द्रिय को रोकना और रस से जिह्वा को रोकना एवं स्पर्श से स्पर्शेन्द्रिय को रोकना, इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप है। क्षमा भाव से क्रोध को शान्त करना, नम्रता द्वारा अभिमान का त्याग करना, सरलता से माया को हटाना, सन्तोष वृत्ति से लोभ का परिहार करना कषाय प्रति संलीनता तप है।

लाभ-इस व्रत के पालन से व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में शान्ति, सन्तोष एवं आत्मिक सुख प्राप्त होता है, मानसिक रोगों से छुटकारा मिलता है। सम्पूर्ण स्वास्थ्य का सकारात्मक स्वरूप इसी तप से प्राप्त किया जा सकता है। पौषध व्रत, देशावकालिक व्रत, सामायिक व्रत द्वारा राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि पर अंकुश लगाया जा सकता है तथा जीवन को आनन्दमय बनाया जा सकता है।

आभ्यन्तर तप के छह प्रकार हैं-

1. **प्रायश्चित्त**-प्रमाद के कारण लगे हुये दोषों का परिहार करना, अपने पाप रूप पर्याय का उच्छेदन करना प्रायश्चित्त है। (1) आलोचना, (2) प्रतिक्रमण-आहार में, विहार में, प्रतिलेखना में, हिलने-चलने में या इसी प्रकार की किसी अन्य क्रिया में आज्ञा दोष लग गया हो तो उसके लिए पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण तप है। मर्यादाओं के अतिक्रमण को रोकना प्रतिक्रमण कहलाता है।

   श्रावक को सुबह-शाम प्रतिक्रमण करना चाहिये। प्रतिक्रमण में **(अ) समभाव**-सामायिक समभावों का साधन, **(ब) वन्दना**-ज्ञान दातागुरु को वन्दन, **(स) स्तुति**-अपने आरोग्य देवों की प्रार्थना, **(द) प्रतिक्रमण**-कृत पापों से निवृत्त होने के लिए जो प्रतिक्रमण (अपने पापों की निन्दना-गर्हणा मिच्छा मि दुक्कडं देना आदि) के योग्य से।

   लाभ-इसके द्वारा मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य को बनाया रखा जा सकता है। प्रायश्चित्त तप दस प्रकार का है।

2. **विनय तप**-गुरु आदि ज्येष्ठ महापुरुषों, वय-वृद्धों तथा गुण-वृद्धों को यथोचित सत्कार-सम्मान देना, विनय तप कहलाता है। विनय तप के सात प्रकार हैं-1. ज्ञान विनय, 2. दर्शन विनय, 3. चरित्र विनय, 4. मन विनय, 5. वचन विनय, 6.

काय विनय, 7. लोभ व्यवहार विनय।

लाभ–विनय से अहंकार का नाश, गुणों और ज्ञान की प्राप्ति तथा आत्मशुद्धि होती है तथा अन्तरमन से गुणों में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

3. **वैयावृत्त्य तप**–स्वार्थरहित रोगियों, अपङ्गों, गरीबों, पवित्र मुनियों, स्वधर्मी बन्धुओं, संघ आदि की सेवा करना।

लाभ–सेवा करने से आनन्द, चिर सुख तथा स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

4. **स्वाध्याय तप**–मानसिक विकास के लिए और ज्ञान वृद्धि के लिए शास्त्रों का पठन-पाठन करना स्वाध्याय तप कहलाता है। यह पाँच प्रकार का होता है–1. वाचना, 2. पृच्छना, 3. परिवर्तना, 4. अनुप्रेक्षा, 5. धर्मकथा।

लाभ–स्वाध्याय तप से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य में लाभ प्राप्त होता है तथा जीवन सुखमय व उपयोगी बनता है।

5. **ध्यान तप**–मानसिक चिन्ता का निरोध करके, एकाग्रता लाना ध्यान है। उत्तम संहनन वाले पुरुष का एकाग्र चिन्तन ध्यान है, चित्त विक्षेप का त्याग करना ध्यान है।

लाभ–ध्यान से तनाव से मुक्ति मिलती है तथा मानसिक स्वास्थ्य में सुधार होता है।

6. **व्युत्सर्ग तप**–काय आदि सम्बन्धी ममता का त्याग व्युत्सर्ग तप है। इसमें काया की समस्त प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है।

लाभ–इससे जीवन सुखमय और शान्तिपूर्वक जीने का मार्ग मिलता है।

श्वास और स्वास्थ्य–श्वास जन्म से मृत्यु तक सक्रिय होता है। हमारी आयु समय में नहीं, वर्षों, महिनों, घण्टों में नहीं किन्तु श्वासों में है जो जितने दीर्घ श्वास लेता है उसकी आयु उतनी ही लम्बी होती है जो छोटे श्वास लेता है उसकी आयु छोटी होती है। जैसे– **(1) सर्प**–5 मिनट में एक श्वास लेता है उसकी आयु 1,000 वर्ष के लगभग है। **(2) घोड़ा, कुत्ता**–आदि जानवर जो जल्दी-जल्दी हाँफते है, छोटे श्वास लेते हैं उनकी आयु बहुत कम होती है। **(3) मनुष्य**–ऋषि, मुनि, तपस्वी जो ध्यान समाधि कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण, मौन, प्राणायाम, आसन, समाधि आदि सद्कार्यों में प्रवृत्त रहते है, दीर्घायु होते हैं। अतः जैनदर्शन में उल्लेखित जैन शैली को अपना कर में श्वास को नियन्त्रित करने में समता और साधना में रत रहना चाहिये, खाने-पीने, सोने में नियन्त्रण रखना चाहिये। चीनी, चिकनाई, चिन्ता, चुगली, चापलूसी, चपलता, चुरूट (धुमपान) आदि से बचना चाहिये।

1. आत्महत्या, मानव हत्या, कन्या भ्रूण हत्या मानसिक समस्याओं का निवारण जैनदर्शन में निहित सिद्धान्तों के पालन से, ब्रह्मचर्य के पालन से, स्वदारा संतोषव्रत के पालन से, वेश्यावृत्ति के त्याग से यौन रोगों एच.आई.वी/एड्स से भी छुटकारा मिल सकता है।
2. खाद्य पदार्थों में मिलावट आज की आम समस्या है, खाने-पीने के उपयोग में आने वाली वस्तु में मिलावट से भी कई रोग उत्पन्न होते हैं, दूध में, घी में, हल्दी में, जीरा में, मिर्च में, राई में, नमक में, धनिया में मिलावट को रोकने के लिए जैनदर्शन के अनुसार तीसरा अणुव्रत अचौर्य व्रत का पालन करने से इस समस्या का समाधान हो सकता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहना युक्तिसंगत है कि जैन जीवनशैली का वैज्ञानिक आधार है जो मानव स्वास्थ्य को बनाये रखने में मददगार है, जैन धर्म, जैनदर्शन वास्तव में स्वास्थ्य का विज्ञान है। जैनधर्म में सिद्धान्तों व छोटे-छोटे नियमों का पूर्णरूप से पालन करने एवं जीवन में अपनाने से बीमारी से बचा जाकर, अच्छा आरोग्यप्रद जीवन जिया जा सकता है।

-बी 174, मालवीय नगर, जयपुर-302017 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 223
ISSN 2249-2011

अपरिग्रही जैन जीवनशैली

डॉ. सुषमा सिंघवी

जैन जीवनशैली से सामाजिक कल्याण और पर्यावरण-पारिस्थितिकी कल्याण भी होता है, साथ ही आध्यात्मिक उन्नति होती है। जैन जीवनशैली प्राकृतिक जीवनशैली है। प्रकृति हर वस्तु से निस्पृह है, न किसी पर घृणा, न किसी से मोह। वृक्ष सबको फल देता है चाहे कोई पत्थर मारे, चाहे उसको जल पिलाए। वैसे ही पानी सब पर बरसता है, हवा सबको छूती है। वैसे ही जैनी प्रकृतिसम राग और द्वेष से निर्लिप्त, निस्पृह होता है। भीतर की तृप्ति, निष्कामता और पूर्णकामता के भाव से बाह्य निस्पृहता फलित होती है, और पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं होने से उनके संग्रह का प्रयत्न भी नहीं होता।

अपरिग्रही जैन जीवनशैली गरीबी और शोषण के निवारण में समाज की मदद करती है। अनासक्ति औपचारिक रूप से भी लाभदायक है, क्योंकि इससे हमारे भीतरी शत्रु क्रोध-मान-माया-लोभ से जुड़ाव छूटता है। सीमित सम्पत्ति रखने से लोगों के साथ रिश्ते भी सुदृढ़ होते हैं। अत्यधिक इच्छाएँ और दूसरों के साथ हमारे सम्बन्धों से जुड़ी माँगें बढ़ने से संग्रह का लगाव बढ़ता है तथा पदार्थों और व्यक्तियों पर स्वामित्व और शासन की प्रवृत्ति बढ़ती है, जिससे जीवनी-शक्ति का दुरुपयोग होता है और सामाजिक वातावरण दूषित होता है।

प्रकृति में परिवर्तनचक्र सार्वभौम है-'उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (तत्त्वार्थ सूत्र, 5.29)। एक क्षण के लिये भी कोई वस्तु बिना परिवर्तन के नहीं रहती। हम द्रव्य रूप से सदा स्व अस्तित्व में नित्य रहते हैं, भले ही सदा परिणमनशील हैं, कभी भी अपरिणामी नहीं रहते, इसलिये बाह्य पर्याय रूप से नष्ट होते रहते हैं या बदलते रहते हैं। इसलिये किसी वस्तु को पकड़े रखना या उसका स्वामित्व होना या संग्रह-परिग्रह करना ये सभी विचार हमारे मानसिक स्तर पर उपजे भ्रम, मेरापन का अहंकार हैं। वास्तविक रूप से व्यक्ति न तो वस्तु का स्वामी हो सकता है न किसी का शासक हो सकता है। इसलिये अन्तःपरिग्रह और बाह्य परिग्रह क्षेत्रों के सीमाकरण की यह अपरिग्रही जैन जीवनशैली सामाजिक कल्याण का आधार है।

जैन जीवनशैली के अनुसार 'इच्छाविहीनता के सिद्धान्त' की पुष्टि होती है। गृहस्थ के द्वादश अणुव्रतों में **'परिग्रह परिमाण व्रत' तथा 'उपभोगपरिभोग परिमाण' या इच्छा परिमाणता का तात्पर्य इस सिद्धान्त में परिनिष्ठित है कि वास्तविक सुख इच्छाओं की अधिकता में नहीं वरन् उनके अल्पीकरण में है, क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति संभव नहीं है।** प्रोफेसर जे.के. मेहता ने अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा कि अर्थशास्त्र उन मानवीय व्यवहारों का अध्ययन करता है जो आवश्यकता अथवा इच्छाविहीनता की स्थिति को प्राप्त करने के लिए किए जाते हैं। उन्होंने कहा कि मनुष्य उस समय अधिकतम सन्तुष्टि अथवा सुख प्राप्त कर सकता है जब एक ओर तो वह संसाधनों का उपयोग सीमान्त उपयोगिता के आधार पर करे तथा दूसरी ओर वह आवश्यकताविहीनता अथवा इच्छाविहीनता की स्थिति में पहुँचने का प्रयास करे। उनके अनुसार मानवीय व्यवहारों का उद्देश्य साम्यावस्था को प्राप्त करना है। मनुष्य को यह अनुभव हो कि इच्छाविहीनता वह लक्ष्य है जिसे सभी को प्राप्त करना है, तो यही जैन जीवनशैली है। **इच्छाविहीनता न खाने, न पीने, न कमाने में नहीं है, अपितु अपनी भोगवृत्ति के त्याग में है। न्यूनतम**

आवश्यकताओं से ही अधिकतम सन्तुष्टि संभव है और जब इच्छा शेष ही नहीं रहे तब सुख की प्राप्ति होती है। (जे.के. मेहताः अ फिलोसोफिकल इण्टरप्रिटेशन ऑफ इकॉनॉमिक्स, लंदन, 1962, पृष्ठ-28) यह अपरिग्रही जैन जीवनशैली पाश्चात्त्य अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त के विरोध स्वरूप अपरिग्रह सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है।

संसार में सुख-प्राप्ति का एक तरीका संसाधनों के प्रयोग के सम्बन्ध में व्याख्या करता है। मानवीय मस्तिष्क शरीर के माध्यम से प्रतिक्रिया करता है। जब मस्तिष्क, इच्छाओं की पूर्ति हेतु चयन के असमञ्जस के कारण, असाम्यावस्था में होता है तब शरीर में कुछ परिवर्तन होते हैं और परिवर्तन संसाधनों के प्रयोग में परिवर्तित हो जाते हैं। सुख-प्राप्ति का दूसरा तरीका व्यक्ति के स्वयं के परिवर्तन से सम्बन्धित है, जिसमें मस्तिष्क किसी भी स्थिति में परिस्थिति या पयार्वरण से अप्रभावित रहता है और बाहरी शक्तियों के प्रति किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करता, पूर्ण साम्यावस्था में रहता है। पाश्चात्त्य धारणा से प्रभावित अर्थशास्त्री सामान्यतः प्रथम उपाय को ही एक नियम के रूप में स्वीकारते हैं, किन्तु प्रो. जे. के. मेहता संसाधनों से अल्पकालीन साम्यावस्था होने को भी नहीं स्वीकारते, क्योंकि कोई भी प्रयत्न जो वर्तमान आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए किया जाता है वह किसी नयी आवश्यकता को जन्म देता है, जैसे- भूख शान्त करने के लिए कुछ कार्य किया जाता है तो इससे विश्राम करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। अतः बाह्य दशाओं को परिवर्तित करके सुख की प्राप्ति नहीं की जा सकती। इसके लिये मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता पड़ती है।

अपरिग्रही जीवनशैली के प्रशिक्षण हेतु सर्वप्रथम उन आवश्यकताओं को त्याग देना चाहिये जिनकी सम्पूर्ति करने में व्यक्ति असमर्थ है। तत्पश्चात् केवल वे ही आवश्यकताएँ शेष रह जाएँगी जिनकी सम्पूर्ति करने में व्यक्ति सक्षम है। **दूसरा तरीका यह है कि आवश्यकताओं को संसाधनों की सीमा तक घटाया जाना चाहिये।** जब यह प्रयास आवश्यकताविहीनता की स्थिति तक पहुँचने की दिशा में प्रथम क़दम बन जाता है तब अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य को धीरे-धीरे प्रयास करना चाहिये। जैन जीवनशैली में आवश्यकता विहीनता के लिए ही संवर और निर्जरा तत्त्वों का निरूपण है, जिसे अहिंसा, संयम और तप अथवा अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की त्रिवेणी से पूर्ण किया जा सकता है।

वर्तमान में हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये संघर्ष ही करते रहते हैं। इस संघर्ष में **हम साम-दाम-दण्ड-भेद सभी नीतियों से इच्छापूर्ति करते हैं। इस लड़ाई से इच्छापूर्ति करने में और इच्छापूर्ति से तत्काल मिलने वाले सुख में इतने व्यस्त हो जाते हैं कि हम यह जान ही नहीं पाते कि इच्छाओं के साथ युद्ध करते-करते हम उस इच्छारूपी शत्रु पर विजय पाकर खुश तो हो रहे हैं, पर उससे वह इच्छा शत्रु दुगुने वेग से तैयारी और ताकत के साथ हम पर पुनः हमला करेगा। इस प्रकार हमारा जीवन इच्छाओं से लड़ते-लड़ते ही पूरा हो जाएगा और सुख का स्वाद कभी नहीं मिलेगा।** सुख प्राप्त करने का केवल एक ही मार्ग है, और वह है दुःख-दर्द से छुटकारा। इच्छाओं की पूर्ति किसी हालत में स्थायी हल नहीं है, क्योंकि इच्छाएँ तो बार-बार पैदा होती हैं।

इच्छाओं की पूर्ति दुःख के मूल कारण को दूर नहीं करती। दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये हमें अपनी इच्छाओं को कम करना होगा, इच्छाओं को जीतना होगा, उन्हें बढ़ावा देना बन्द करना होगा। जब व्यक्ति इच्छाओं को अपना दास बना लेता है, इच्छाओं को जीत लेता है तब वह दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो सकता है और तभी सुख प्राप्ति की कोई सम्भावना बनती है।

-पूर्व अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर
डी-1, जैन कुञ्ज, गोपालबाड़ी, जयपुर (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 225
ISSN 2249-2011

अपरिग्रह सिद्धान्तः सामाजिक न्याय का अमोघ मन्त्र

डॉ. कमलचन्द सोगानी

वर्तमान युग में परिग्रह की सीमा काफी चर्चा का विषय बनी हुई है। महावीर युग में हिंसा का प्राधान्य था, पर ऐसा लगता है कि आज के युग में परिग्रह का प्राधान्य है। ऐसा नहीं है कि महावीर युग में परिग्रह की सीमा की चर्चा न हो। अति प्राचीन ग्रंथों में परिग्रह की सीमा के बारे में स्पष्ट कथन मिलते हैं। उनमें यह कहा गया है कि गृहस्थ को धन-धान्य आदि वस्तुओं को सीमित करना चाहिए और सम्भवतया इस निर्देश को मानकर कई गृहस्थों ने परिग्रह की सीमा को बाँधकर अपरिग्रह की दिशा में अवश्य ही प्रगति की होगी। उन्होंने पाँच हाथी के बजाय दो हाथी रखे होंगे, दस मकान के बजाय एक मकान रखा होगा, लाखों रुपयों के बजाय हज़ारों रुपये रखे होंगे। इस तरह से परिग्रह के त्याग का उदाहरण प्रस्तुत किया होगा। समाज ने ऐसे लोगों को त्यागी कहकर सम्मानित भी अवश्य किया होगा, क्योंकि वे तो ग्रन्थों की सीधी सादी भाषा के अनुसार अपने जीवन को ढाल रहे थे।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इस प्रकार के त्याग को अपरिग्रह की संज्ञा दी जाय? इससे अधिक गहरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि परिग्रह का लक्षण क्या है? क्योंकि परिग्रह के लक्षण को जानकर ही हम परिग्रह-अपरिग्रह का निर्णय कर सकते हैं। अपरिग्रहवादियों के सामने जब यह प्रश्न आया तो उन्होंने अपरिग्रह को समझाने के लिए परिग्रह का लक्षण प्रस्तुत किया। वे समझते थे कि परिग्रह का लक्षण ज्ञात होने पर मनुष्य उन लक्षणों से बचकर अपरिग्रही बन सकेगा। इसलिए उन्होंने परिग्रह का लक्षण बताते हुए कहा कि जहाँ मूर्च्छा है वहाँ परिग्रह है। इसको स्पष्ट करते हुए उनका कहना है कि यह हो सकता है कि व्यक्ति के पास न मकान हों, न धन-धान्य, तब भी इनके प्रति आकर्षण या राग हो तो वह निश्चित रूप से परिग्रही है, जैसे कोई लोभी या अति दरिद्र व्यक्ति। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि बाह्य में परिग्रह हो और अन्तरङ्ग में यदि मूर्च्छा नहीं है तो ऐसा व्यक्ति अपरिग्रही कहलायेगा, जैसे राजा जनक।

यहाँ यह प्रश्न है-क्या परिग्रह का मूर्च्छा लक्षण कोरा व्यक्तिगत नहीं है? क्या मूर्च्छा होने और न होने का ज्ञान हमें हो सकता है? मूर्च्छा एक मानसिक स्थिति है जिसको दूसरे व्यक्तियों में जान पाना तो कठिन है ही, अपने में भी जान पाना अत्यन्त कठिन है। इस तरह से परिग्रह का यह लक्षण होते हुए भी व्यक्ति और समाज के लिए यह उपयोगी नहीं है। सम्भवतया इसी बात को ध्यान में रखकर अपरिग्रहवादियों ने कहा कि सामान्यतया जहाँ बाह्य परिग्रह होता है वहाँ मूर्च्छा होती ही है। कुछ असाधारण व्यक्ति इस कोटि से बाहर चले भी जायें तब भी साधारण लोगों के लिए यह लक्षण घटित होता है, क्योंकि उनके मन में यह बात रही होगी कि समाज साधारण व्यक्तियों के समुदाय से ही निर्मित होता है और अपरिग्रह की चर्चा उसी समुदाय के लिए विशेष महत्त्व की है। इसलिए सामाजिक दृष्टिकोण से बाह्य वस्तुओं की उपस्थिति और अन्तरङ्ग मूर्च्छा के होने में एक कार्य-कारण का सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् उन्होंने यह स्वीकार किया कि जहाँ बाह्य वस्तुएँ हैं (वास्तविक और काल्पनिक), वहाँ मूर्च्छा होगी ही। यह कार्य-कारण सम्बन्ध सामाजिक स्तर पर उचित प्रतीत होता है, अर्थात् किसी व्यक्ति के बाहरी

परिग्रह को देखकर अथवा बाहरी परिग्रह की इच्छा को जानकर हम साधारणतया उसकी अन्तरङ्ग मूर्च्छा का अनुमान कर सकते हैं। इस तरह सामाजिक दृष्टिकोण से बाह्य वस्तुओं का होना एवं न होना ही महत्त्व का है। मूर्च्छा का होना और न होना पूर्णतया व्यक्तिगत होता है। समाज की निगाह केवल बाह्य वस्तुओं पर ही हो सकती है और उसी को कम और ज्यादा करना समाज के हाथ में है। अतः परिग्रह का लक्षण सामाजिक दृष्टिकोण से मूर्च्छा न होकर बाह्य वस्तुओं का होना (वास्तविक) ही माना जा सकता है। इसीलिए अपरिग्रहवादियों ने स्थान-स्थान पर बाह्य वस्तुओं की सीमा पर जोर दिया है। इस तरह से अपरिग्रह के मापदण्ड का प्रश्न वस्तुओं के परिमाण के मापदण्ड का प्रश्न है। अब प्रश्न यह है कि वस्तुओं का कितना परिग्रह, अपरिग्रह की कोटि में माना जाय? परिमाण का निश्चय कैसे किया जाय?

सम्भवतया इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वस्तुओं की व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार संख्या परिमाण का मापदण्ड माना जाना चाहिए। यदि मुझे एक मकान की आवश्यकता है तो मैं एक मकान बनवा लूँ और दूसरा मकान न बनवाऊँ। इसी तरह आवश्यकतानुसार अन्य वस्तुओं का परिमाण भी कर लूँ। यदि मेरी आवश्यकता एक करोड़ रुपये की है तो उतना रख लूँ और बाकी समाज को अर्पण कर दूँ। अब प्रश्न यह उठता है कि आवश्यकता का निर्णय किस आधार पर हो? एक उद्योगपति की आवश्यकताएँ, प्रोफेसर की आवश्यकताएँ तथा अन्य वर्ग के लोगों की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए उनके परिग्रह के परिमाण भी भिन्न होंगे। किसी के लिए 10 कारें भी आवश्यक हो सकती हैं और किसी के लिए एक भी नहीं। क्या हम परिग्रह का निर्णय व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार वस्तुओं की संख्या के आधार पर कर सकते हैं? मेरे विचार से ऐसा करना किसी भी तरह उचित नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह दृष्टिकोण पूर्णतया व्यक्तिवादी है। पर अपरिग्रह एक समाजवादी दृष्टि है। अपरिग्रह का मापदण्ड तब तक उचित नहीं कहा जा सकता जब तक उसके निर्णय में सामाजिक दृष्टि को महत्त्व न दिया जाय। मेरे लिए कितना आवश्यक है, इसका निर्णय व्यक्ति नहीं समाज करेगा। व्यक्ति का निर्णय शोषण को जन्म देता है, पर समाज का निर्णय अपरिग्रह की भावना को। समाज का निर्णय जनतांत्रिक राज्य का निर्णय है, एक अर्थ में कहा जा सकता है। राज्य सामाजिक आवश्यकतानुसार परिग्रह के परिमाण को निश्चित कर सकता है, अर्थात् कितना व्यक्ति के पास रहे और कितना व्यक्ति से समाज को चला जाय। यदि एक व्यक्ति 100 मिलों का मालिक है तो लाभ के फलस्वरूप व्यक्ति कितना रखे और समाज के पास कितना जाय, इसका निर्णय व्यक्ति नहीं समाज ही करेगा।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि परिग्रह के परिमाण की भावना समाज की प्रगति को अवरुद्ध करने वाली होती है। किन्तु मेरे विचार से ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि अपरिग्रह की भावना व्यक्ति के उत्पादन शक्ति को क्षीण नहीं करती, पर उसकी संग्रह शक्ति को सीमित करने की बात कहती है। अत्यधिक संग्रहवृत्ति एक मानसिक रोग है और स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए इस रोग को समाप्तकरना आवश्यक है ही। समाज की प्रगति उत्पादन शक्ति से होती है, संग्रहवृत्ति से नहीं। अतः अपरिग्रह का मापदण्ड हुआ-समाज का वस्तुओं के परिमाण के विषय में निर्णय। एक ऐसा देश हो सकता है जहाँ किसी व्यक्ति के पाँच भवन भी परिग्रह न मानें जायें और एक ऐसा देश भी हो सकता है जहाँ एक भवन होना भी परिग्रह की कोटि में आये। इस तरह से कहा जा सकता है कि मूर्च्छा की तीव्रता और मन्दता का सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं की संख्या से नहीं है, पर सामाजिक परिस्थिति से वस्तुओं के परिमाण के सम्बन्ध में समाज के निर्णय

से है। सामाजिक परिस्थितियों के बदलने से बाह्य वस्तुओं के परिमाण भी बदलते जायेंगे। अमरीका के परिग्रह परिमाण के विचार में और भारत के परिग्रह परिमाण के विचार में अन्तर होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि अपरिग्रहवादियों ने परिमाण के प्रश्न को खुला ही रखा है। देश-काल के अनुसार परिमाण बदला जा सकता है।

यदि परिमाण का माप समाज है तो भारत जैसे देश में कर के माध्यम से, भूमि सीमा आदि के माध्यम से परिमाण को निश्चित करना अपरिग्रह की भावना को दृढ़ करना है। भारत के अधिकांश लोगों को देखते हुए हम सभी किसी न किसी रूप में शोषणवादी है। हमारा एक मकान, एक पैंट-शर्ट भी परिग्रह ही है, क्योंकि भारत के करोड़ों लोग इनसे भी वंचित हैं। अपरिग्रह की भावना समाजवादी समाज की दिशा में हमारे देश को अग्रसर कर सकती है, क्योंकि अपरिग्रह का मापदण्ड वस्तु-परिमाण के सम्बन्ध में समाज का निर्णय है, व्यक्ति का नहीं। जिस प्रकार अहिंसा रसोईघर तक सीमित रह गयी, उसी प्रकार अपरिग्रह थोथे दान देने तक। एक स्कूल बनवाने, अस्पताल बनवाने आदि में हमने अपरिग्रह को सीमित कर दिया। वास्तव में अपरिग्रह तो सारी मानव जाति को सम्मान से जीने देने की एक सामाजिक कला है और इस तरह से महावीर का अपरिग्रह का सिद्धान्त समाज को विकसित करने का एक अमोघ मन्त्र है।

-एच-7, चितरंजन मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर (राज.)

धर्म पौष्टिक है, स्वादिष्ट बनाना है

गुटका पौष्टिक भले नहीं है, परन्तु स्वादिष्ट तो है ही, इसीलिए तो लोग खुशी-खुशी गुटका खाते रहते हैं। नीम का रस पौष्टिक भले ही है, परन्तु स्वादिष्ट तो नहीं है, इसीलिए बहुजनवर्ग उसके सेवन से दूर रहता है। रसगुल्ले स्वादिष्ट भी हैं और पौष्टिक भी हैं, इसीलिए लोग खुशी-खुशी रसगुल्ले खाते रहते हैं। रेत, स्वादिष्ट भी नहीं है और पौष्टिक भी नहीं है, इसीलिए सभी उससे दूर ही रहते हैं

परन्तु धर्म?

वह पौष्टिक तो शत-प्रतिशत है, परन्तु जो आत्मा उसमें रुचि पैदा कर सकती है उसके लिए वह स्वादिष्ट बना रहता है और जो आत्मा उसमें रुचि पैदा नहीं कर सकती, उसके लिए वह नीरस बना रहता है।

पापत्याग का भी परोपकार

भूखे व्यक्ति को भोजन देना यह तो परोपकार है ही। भिखारी को रुपये देना वह भी परोपकार है ही। निर्बल को सहायता करना, वह भी परोपकार है ही, परन्तु प्रतिज्ञापूर्वक पापों का त्याग कर देना भी परोपकार ही है यह बात दिमाग में विशेष रूप से अंकित कर लेनी चाहिए। जो भी आत्मा सामायिक में बैठकर 'करेमि भन्ते' के पाठ सहित पापों का त्याग करती है वह सर्वजीवों को अभयदान देने का परोपकार ही करती है न? कई परोपकार पुण्य के उदय की अपेक्षा रखते हैं, परन्तु पापत्याग रूप परोपकार तो श्रद्धायुक्त सत्त्व से ही जुड़ा हुआ है। **पापकर्मप्रत्याख्यातारश्च परोपकारिणो भवन्ति।** -स्थानाङ्गसूत्र, 127 टीका

धर्म का आचरण हानिकारक?

दवाई लेने से पहले छोटा बच्चा रोता हो, दवाई लेते समय भी रोता हो और दवाई लेने के बाद भी उसका रोना जारी हो, इससे दवाई उसके लिए लाभकारी नहीं ही बनेगी ऐसा कोई नियम नहीं है, परन्तु धर्म करने से पहले मन यदि उद्विग्न ही बना रहता हो, धर्म करते समय मन में यदि व्याकुलता हो और धर्म करने के बाद भी मन यदि दु:खी होता हो तो उस धर्म का आचरण आत्मा के लिए लाभकारी नहीं बनता। अत: धर्म का आचरण रुचिपूर्वक करना चाहिए।

-आचार्य विजय रत्नसुन्दरसूरि

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 228
ISSN 2249-2011

अनेकान्तवाद की जीवनशैली में उपयोगिता

डॉ. धर्मचन्द जैन

उद्यान में खेलते हुए पाँच बच्चे एक व्यक्ति का हाथ खींचते हुए परस्पर झगड़ रहे थे। एक बालक कह रहा था–ये मेरे पापा हैं, दूसरा कह रहा था–ये मेरे मामा हैं; तीसरा उच्च स्वर में बोल पड़ा–तुम दोनों झूठे हो, ये मेरे चाचा हैं, तभी तपाक से चौथा बोला–तुम तीनों गलत हो ये मेरे मौसा हैं, तभी पाँचवाँ बोल पड़ा–अरे नहीं! ये तो मेरे फूफा हैं।

हम जानते हैं कि बच्चों की यह लड़ाई कितनी उचित है। सब अपनी–अपनी दृष्टि से सही कह रहे हैं, किन्तु दूसरे के दृष्टिकोण को नहीं जान पा रहे हैं, इसलिए झगड़ रहे हैं। उन सबके कथन में सच्चाई होते हुए भी वह सच्चाई एकपक्षीय है।

बच्चों की व्यर्थ लगने वाली ऐसी लड़ाई कई बार हमारे जीवन में भी चलती रहती है। **सच्चाई के विभिन्न पक्ष होते हैं, किन्तु हम किसी एक पक्ष को लेकर आग्रह करते रहते हैं कि मेरा ही कथन सत्य है एवं दूसरा झूठ अथवा गलत बोल रहा है।** जैनदर्शन का अनेकान्तवाद सिद्धान्त सत्य को सभी पक्षों से जानने की प्रेरणा करता है।

एक सेठजी बात–बात पर झूठ बोलते हैं, तो लोग उन्हें झूठा समझते हैं। वे जानवरों से बड़ा प्रेम करते हैं। जब कोई गो–सेवा या पशुओं की चिकित्सा के लिए दान माँगने आते हैं तो हजारों की राशि का चेक उन्हें तुरन्त सौंप देते हैं, वे लोग उनको दानी मानते हैं। कुछ पियक्कड़ दोस्त सेठजी को कभी–कभी खींच कर शराबखाने ले जाते हैं, तो वे मना नहीं कर पाते हैं, अपने दोस्तों के साथ जम कर पीते हैं, तो पत्नी की दृष्टि में वे शराबी हैं। पिता के रूप में इतने स्नेहिल हैं कि अपने बच्चों की हर माँग को पूरा कर देते हैं, तो बच्चों की दृष्टि में वे अच्छे और उदार पिता हैं।

सेठजी में दुर्गुण भी हैं और सद्गुण भी। उनमें अनेकान्तवाद की दृष्टि से चारों बातें विद्यमान हैं, वे झूठे भी हैं और दानी भी, शराबी भी हैं, और उदार भी। किन्तु नय दृष्टि से अलग–अलग लोग उनको अलग–अलग स्वरूप में जानते हैं। जनसाधारण की दृष्टि में वे झूठे, गो–सेवकों की दृष्टि में वे दानी, पत्नी की दृष्टि में शराबी तथा पुत्रों की दृष्टि में उदार हैं। अनेकान्त यह बताता है कि किसी एक वस्तु, व्यक्ति या पदार्थ में विभिन्न गुण धर्म होते हैं, उन गुणधर्मों को विभिन्न दृष्टियों से जानने का कार्य नय से किया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो संसार में जो भी वस्तु, व्यक्ति आदि हैं, वे अनेक गुणधर्मों से युक्त हैं। इसलिए सभी वस्तु, व्यक्तियों में अनेकान्तवाद लागू होता है तथा उनके गुण–धर्मों को विभिन्न दृष्टियों से जानने में नयवाद का प्रयोग होता है।

जिसने मात्र द्वितीया का चाँद देखा है उसे चाँद हाँसिए जैसा वक्राकार ज्ञात होता है, जिसने अष्टमी का चन्द्रमा देखा है उसे चन्द्रमा अर्द्धगोल आकार का ज्ञात होता है तथा जिसने मात्र पूर्णिमा का चन्द्रमा देखा है उसे चन्द्रमा पूर्ण गोलाकार में चमकता हुआ नज़र आता है। यहाँ चाँद के आकार को लेकर परस्पर का झगड़ा उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रतिदिन चाँद की कला विकसित होती है, धीरे–धीरे पूर्णिमा को वह पूर्ण गोलाकार में दिखाई देता है, उसके पश्चात् घटते–घटते अमावस्या की एक रात ऐसी आती है जिसमें चाँद दिखाई नहीं देता। **इस तरह एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न स्थितियों में कोई व्यक्ति दयालु, क्रोधी, व्यथित, प्रसन्न, उत्साही, विनम्र, अहंकारी दिखाई देता है।** मनुष्य के भाव परिवर्तनशील होते हैं, इसलिए उसकी ये सभी अवस्थाएँ बनती हैं। जो गुणधर्म बहुलता से दिखाई देते हैं, उसके आधार पर उसे अहंकारी, क्रोधी, लोभी, दयालु, प्रमुदित आदि कहा जाता है।

अनेकान्तवाद दो विरोधी गुण-धर्मों को भी दो

भिन्न दृष्टियों से एक ही वस्तु में स्वीकार करता है। उदाहरण के लिए एक शिशु जन्म लेता है, वह प्रतिदिन विकास को प्राप्त होते हुए बालक, किशोर, युवा, प्रौढ़ आदि अवस्थाओं (पर्यायों) को प्राप्त करता है। उसमें शारीरिक दृष्टि से परिवर्तन दिखाई देने पर भी परिवारजन एवं सम्पर्क में आने वाले लोग उसे एक ही नाम से पुकारते एवं पहचानते हैं। उसमें परिवर्तन भी हो रहा है एवं उसकी एकरूपता भी ज्ञात होती है। अनेकान्तवाद इन दोनों अनुभवों को सही ठहराता है। आगम की भाषा में कहें तो द्रव्यार्थिक नय से वह पुरुष एक ही है एवं पर्यायार्थिक नय से वह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में अलग-अलग स्वरूप में है।

इसी तरह हम जब किसी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की मृत्यु का कथन करते हैं तो वह उनके शरीर के प्राणरहित होने की अपेक्षा से सही है, किन्तु उसमें जो चेतना रूप आत्मा होती है वह कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होती। आत्मा नित्य है किन्तु वह मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की पर्यायों को धारण करती है, अतः वह पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। जैनदर्शन में इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वस्तु में अनेकान्तवाद सिद्ध होता है।

प्रभु महावीर ने विभिन्न नयों एवं द्वारों से किसी विषय का स्पष्टीकरण करते हुए अनेकान्तवाद का प्रयोग किया है। वे कई बार द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के आधार पर भी कथन करते हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में जब यह पूछा गया कि लोक अनन्त है या सान्त, तो प्रभु महावीर ने फरमाया कि द्रव्य की दृष्टि से यह सान्त (अन्त युक्त) है, क्षेत्र की दृष्टि से भी अन्तयुक्त है, किन्तु काल एवं भाव की दृष्टि से अनन्त है। इसी प्रकार प्रभु से पूछा गया कि जीव शाश्वत है या अशाश्वत, तो प्रभु ने फरमाया कि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जीव शाश्वत है, किन्तु पर्यायों की अपेक्षा वह अशाश्वत है। प्रभु से प्रश्न किया गया कि मनुष्य का जागना अच्छा है या सोना? प्रभु ने उत्तर में फरमाया कि धर्मिष्ठ लोगों का जागना अच्छा है एवं अधर्मिष्ठ पापीजनों का सोना अच्छा है। इस प्रकार प्रभु विभिन्न अपेक्षाओं से उत्तर देते हैं। इसका तात्पर्य है कि एक ही वस्तु का बोध एवं कथन विभिन्न अपेक्षाओं से किया जाता है। उसका कारण उस वस्तु में रहे अनेक या अनन्त धर्म हैं। उनमें से एक-एक धर्म को लेकर वस्तु के सम्बन्ध में कथन किया जा सकता है। इस कथन करने की शैली को स्याद्वाद, जानने के दृष्टिकोण को नय एवं वस्तु में रहे अनन्त धर्मों की स्वीकृति अनेकान्तवाद है।

अनेकान्त दृष्टि हमारे सोच को अनाग्रही, व्यापक एवं सम्यक् बनाती है। यह कोई संशयवाद नहीं है, अपितु विभिन्न दृष्टिकोणों से सत्य को जानने एवं प्रस्तुत करने की विधि है। अनेकान्त दृष्टि व्यक्ति को वैचारिक सहिष्णुता, समन्वय एवं सामंजस्य की भावना से ओतप्रोत करती है। उसमें सही समझ का विकास होता है। यही नहीं सत्य को जानने की यह उत्तम विधि है।

जब कोई अपने ही दृष्टिकोण को सही मानकर दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति असहिष्णु होता है तो वह समन्वय एवं सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाता। एक परिवार में बेटे के जन्म की अभिलाषा थी, किन्तु संयोग से बेटी का जन्म हो गया। माता-पिता, दादा-दादी सभी दुःखी हुए, मिठाई बँटने की जगह रुलाई फूटने लगी। उनका दृष्टिकोण एकांगी विचार से दूषित था। बेटी की खूबियों के पक्ष से वे अपरिचित थे। बेटी के जन्म से लेकर लालन-पालन तक उनके मन में कोई उत्साह नहीं था, बल्कि बात-बात पर उसे ताने देते थे, पर वह बेटी बड़ी होनहार थी। बड़ी होकर अपने बलबूते पर आई.ए.एस. की परीक्षा उत्तीर्ण कर गई। जब बधाइयाँ मिलने लगीं तो नेत्रों से खुशियों के आँसू चमकने लगे। वे अब बेटी पर गर्व करने लगे, उनकी मान्यता बदल गई। यहाँ कहने का इतना ही अभिप्राय है कि मनुष्य दूसरे पक्ष को जाने बिना एक पक्ष को ही सही मानकर आग्रह करता है तो दूसरे पक्ष के प्रति असहिष्णु होता है। दूसरा पक्ष समझ में आने पर उसकी असहिष्णुता समाप्त हो जाती है। पति-पत्नी के झगड़े में भी इस प्रकार की असहिष्णुता तकरार का कारण बनती है एवं बढ़ती हुई तलाक तक पहुँच जाती है।

अनेकान्त दृष्टि के अभाव में सहिष्णुता का पक्ष कमजोर हो जाता है। हम हमारे अनुसार ही दूसरों को

बनाना चाहते हैं। परिवार में पिता-पुत्र, भाई-बहन, सास-बहू, देवरानी-जेठानी, ननद-भोजाई आदि में भी कई बार जो कलह होता है, वह अनेकान्त अथवा नयदृष्टि के अभाव में होता है। अनेकान्तवाद दृष्टि को निर्मल बनाता है। ''अपनी ही नहीं दूसरों की भी सुनो'' यह सन्देश है अनेकान्तवाद का। **यदि दूसरा गलत है तो उसे शान्त भाव से तर्क देकर समझाया जा सकता है। हर व्यक्ति के जीवन में गुण-अवगुण दोनों होते हैं। प्रायः व्यक्ति की दृष्टि दूसरों के गुणों पर नहीं अवगुणों पर रहती है, किन्तु अनेकान्त दृष्टि दूसरों के गुणों को देखने के लिए भी प्रेरित करती है।**

बच्चों का लालन-पालन हो या पारिवारिकजनों के साथ मेल-मिलाप, सर्वत्र अनेकान्त दृष्टि एक सार्थक जीवन दृष्टि बनकर उभरती है। बच्चों को केवल डाँटना अथवा उनकी हर बात को मानना दोनों ही बच्चों के विकास में अहितकर है। कहीं उन्हें डाँटना उचित है तो कहीं उनकी बात मानना उचित है। **यह माता-पिता एवं परिवारजनों के विवेक पर निर्भर है कि वे बच्चों को कितना एवं कब डाँटे तथा किस बात पर उनकी प्रशंसा करे, अथवा उनकी बात मानें।** संसार में कोई व्यक्ति सर्वथा बुरा नहीं होता। उसमें कोई न कोई अच्छाई अवश्य होती है, किन्तु अच्छाई की बहुलता अथवा बुराई की बहुलता के कारण हम उन्हें अच्छा या बुरा कह देते हैं। बुरे व्यक्ति में भी अच्छा बनने की सम्भावना हो सकती है।

अनेकान्त दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति दूसरे के अभिप्राय एवं दृष्टिकोण को भी जानने का प्रयत्न करता है तथा उसका आदर करता है। अन्तगडदशासूत्र में अतिमुक्तकुमार के वर्णन में कहा गया है कि-''जिसे जानता हूँ उसे नहीं जानता तथा जिसे नहीं जानता हूँ उसे जानता हूँ।'' यह कथन विरोधी प्रतीत होते हुए भी दृष्टिकोण का खुलासा होने पर सत्य सिद्ध होता है। अतिमुक्तकुमार यह जानते हैं कि मृत्यु होना निश्चित है, किन्तु यह नहीं जानते कि मृत्यु कब होगी। इसी प्रकार वे यह नहीं जानते कि किस कर्म के अनुसार नरक, तिर्यञ्च आदि गति प्राप्त होती है, किन्तु यह जानते हैं कि अपने-अपने कर्म के अनुसार इन गतियों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अनेकान्तदृष्टि विरोधी कथन में समन्वय स्थापित करती है।

तुलनात्मक अथवा सापेक्ष दृष्टि से भी वस्तु के गुण धर्मों की व्याख्या की जाती है। किसी ने एक रेखा खींच कर पूछा कि बताइये यह रेखा छोटी है या बड़ी? समझदार व्यक्ति उसके समीप दूसरी रेखा खींचकर कह सकता है कि यह रेखा छोटी है या बड़ी। किसी छोटी रेखा की अपेक्षा वह बड़ी तथा बड़ी रेखा की अपेक्षा वह छोटी होती है। अतः दोनों दृष्टिकोणों को मिलाने पर यह कहा जा सकता है कि यह रेखा छोटी भी है और बड़ी भी। कभी-कभी जीवन में हिंसा को लेकर भी इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं। हिंसा किसी भी प्रकार की हो त्याज्य होती है, किन्तु कई बार व्यवहार में बड़ी हिंसा की अपेक्षा छोटी हिंसा का विकल्प चुना जाता है। मनुष्य के शरीर में रोग होने पर एंटीबायोटिक दवा का सेवन ऐसा ही विकल्प है। क्योंकि उसमें शरीर में स्थित बैक्टीरिया या जीवाणुओं की हिंसा होती है। मांसाहार के स्थान पर शाकाहार एवं शाकाहार में भी सूखे साग का विकल्प हिंसा को अल्पतर करता जाता है। **जीवन जीने में हिंसा को जितना अल्प किया जा सके, उतना उत्तम है और पूर्णतः अहिंसा का होना सर्वोत्तम है।** अनेकान्त की दृष्टि अहिंसा की पालना में भी उपयोगी है।

102 डिग्री बुखार होने पर एक व्यक्ति कहता है कि मुझे बेहतर लग रहा है, वहीं दूसरा व्यक्ति कहता है कि मैं अच्छा अनुभव नहीं कर रहा हूँ। यहाँ तापमान समान होने पर भी दोनों व्यक्तियों के कथन सत्य हैं। पहले व्यक्ति को पूर्व में रहे 105 डिग्री ज्वर की अपेक्षा बेहतर अनुभव हो रहा है तथा दूसरे को पूर्व में रहे 100 डिग्री तापमान की अपेक्षा 102 डिग्री में अधिक बेचैनी अनुभव हो रही है। दोनों रोगियों का सापेक्ष कथन अनेकान्तवाद की सत्यता को सिद्ध करता है।

एक प्रश्न जैन एकता को लेकर उठता रहता है कि जैन अनेकान्तवादी हैं फिर भी एक क्यों नहीं? प्रश्न सर्वथा उचित है। इसका अनेकान्त दृष्टि से उत्तर दिया जाये तो कहा जा सकता है कि जैन एक भी हैं और अनेक भी। **विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी होने से वे अनेक हैं,**

किन्तु तीर्थंकर महावीर के अनुयायी होने से वे सब एक हैं। जैनदर्शन की मूल मान्यताओं को सभी स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से उनमें एकता है। महावीर जयन्ती के सम्बन्ध में भी सबकी एकता है। हाँ, यह अवश्य है कि यह एकता अन्य बिन्दुओं को लेकर भी स्थापित होनी चाहिए। सम्प्रदायों के आधार पर मान्यता भेद होते हुए भी अनेकान्त दृष्टि से अन्य सम्प्रदायों के प्रति सौहार्द का भाव स्थापित होना चाहिए।

अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर सभी बातों को सच नहीं माना जा सकता। हिंसा पाप है तो वह पाप की कोटि में ही आयेगी, पुण्य की कोटि में नहीं। क्रोध पाप है तो वह पाप की कोटि में आयेगा, पुण्य की कोटि में नहीं। अहंकार पाप है तो वह पाप की कोटि में ही रहेगा, पुण्य की कोटि में नहीं। इसी प्रकार जिस दृष्टिकोण से वस्तु को नित्य कहा जाता है, उसी दृष्टिकोण से उसे अनित्य नहीं कहा जा सकता। द्रव्य की दृष्टि से जिस लोक को अन्तयुक्त कहा जा रहा है उसे उसी दृष्टि से अनन्त नहीं कहा गया। भिन्न-भिन्न दृष्टियों एवं अपेक्षाओं से ज्ञान की भिन्नता एवं कथन की भिन्नता होती है। निश्चय नय से गुड़ में पाँचों रस स्वीकार किये गये है, वहीं व्यवहार नय में उसे मधुर कहा जाता है। भ्रमर में निश्चय से पाँचों वर्ण हैं, वहीं व्यवहार में उसे काला कहा जाता है।

कोई ट्रेन में अपनी सीट पर बैठकर यात्रा कर रहा है। उसे पूछा जाए कि क्या तुम गति कर रहे हो? इस प्रश्न का उत्तर वह दो प्रकार से दे सकता है। एक तो यह कि वह जयपुर से जोधपुर जा रहा है, अतः गति कर रहा है। दूसरा यह कि वह स्थिर बैठा हुआ है। ट्रेन की गति के कारण उसकी भी गति हो रही है। यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। द्रव्य की दृष्टि से वह स्थिर है, क्षेत्र की दृष्टि से वह ट्रेन की अपेक्षा उसी कोच में उसी सीट पर बैठने की अपेक्षा स्थिर है, किन्तु ट्रेन की गति से क्षेत्र परिवर्तन के कारण वह गतिशील भी है। काल की अपेक्षा एवं भाव की अपेक्षा से भी वह गतियुक्त है।

शरीर के सभी अङ्ग परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। एक में पीड़ा का अनुभव होने पर अन्यत्र भी उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। इसीलिए सिरदर्द की दवा मुख द्वारा पेट में ली जाती है। पैर के घाव को ठीक करने के लिए गोली मुँह से निगली जाती है। एक्यूप्रेशर पद्धति में हाथों एवं पाँवों की अँगुलियों में एक्यूप्रेशर करके सम्पूर्ण शरीर को ठीक किया जाता है। मस्तिष्क, आँख, कान, नाक, आमाशय,यकृत आदि सबके बिन्दु हथेलियों एवं पगथलियों में माने गये हैं।

अनेकान्त दृष्टि सत्य के प्रति समर्पण की दृष्टि है। चिन्तन की व्यापकता एवं निर्मलता में इसकी महती भूमिका है। इन्द्रिय दृष्टि से जो हमें सत्य नज़र आता है, कई बार बुद्धि की दृष्टि से वह असत्य दिखाई पड़ता है। इसलिए मात्र इन्द्रिय दृष्टि को सही मानना उचित नहीं। अनेकान्त को नहीं समझने के कारण तथा उसे सही ढंग से नहीं समझने के कारण भ्रांतियाँ उत्पन्न होती हैं। अनेकान्त को संक्षेप में समझना हो तो निम्न बिन्दु महत्त्वपूर्ण हैं-

1. जब वस्तु या विवेच्य विषय में अनेक धर्म पाये जाते हैं तो उसमें अनेकान्तवाद का प्रयोग किया जा सकता है।
2. विभिन्न अपेक्षाओं या दृष्टियों से जो सत्य जाना जाता है, वह पूर्ण नहीं होता। वह आंशिक सत्य होता है।
3. समस्त अपेक्षाओं या दृष्टियों के समन्वय से पूर्ण सत्य को जाना जा सकता है।
4. अनेकान्त दृष्टि के अभाव में व्यक्ति आग्रही एवं सत्य से विमुख होता है।
5. अनेकान्तवाद सहअस्तित्व एवं सहिष्णुता का पोषक है। यह समन्वय एवं सौहार्द को बढ़ावा देता है।
6. पारस्परिक कलह निवारण के साथ यह सामाजिक सामंजस्य स्थापित करता है।
7. अहिंसा के पालन एवं सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में यह सिद्धान्त उपयोगी है।
8. यह सापेक्ष दृष्टि का प्रतिपादक है, क्योंकि यह विभिन्न नयों पर अवलम्बित है।
9. यह प्राणिमात्र के प्रति आदर भाव एवं स्वतन्त्रता का पोषक है।
10. यह सद्गुणों की अभिवृद्धि एवं दृष्टि की निर्मलता में सहायक है।

■

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 232
ISSN 2249-2011

आगमों में उल्लिखित प्रमुख श्रावकों की जीवनशैली*

श्री प्रकाशचन्द जैन

जैन आगमों के अनुसार प्रमुख श्रावकों की नामावलि इस प्रकार है–

1. **उपासकदशाङ्गसूत्र में**–आनन्द, कामदेव आदि 10 प्रमुख श्रावक।
2. **भगवतीसूत्र**–तुंगियापुरी के श्रावक, मद्रुक श्रावक, शंख–पुष्कली, चेटक, वरुणनाग–नथुआ।
3. **ज्ञाताधर्मकथासूत्र**–अरणक, सुबुद्धिप्रधान।
4. **अंतकृतदशासूत्र**–सुदर्शन श्रावक।
5. **राजप्रश्नीयसूत्र**–चित्त मन्त्री।
6. **सुख–विपाकसूत्र**–सुमुख गाथापति।
7. **उत्तराध्ययनसूत्र**–पालित श्रावक।

इन श्रावकों ने ज्योंहि भगवान का उपदेश सुना, उस पर श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि हुई और 12 व्रत स्वीकार कर लिये, जीवन को मर्यादित बना लिया, जिससे उनकी सोच व जीवन प्रणाली में बदलाव आ गया। भगवान महावीर के शासनकाल में होने वाले इन प्रमुख श्रावकों की जीवनशैली की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित थीं–

जीवन में पुण्यकार्य व धर्माराधना को विशेष महत्त्व

भगवान महावीर के सभी स्तर के श्रावक थे। पूणिया जैसा कम आय वाला भी था तो आनन्द, कामदेव जैसे धनाढ्य भी थे। वे धन को केवल मात्र जीवन निर्वाह का साधन मात्र मानते थे, साध्य नहीं। वे धन का सदुपयोग दीन–दुःखी, जरुरतमन्दों की सेवा में करते थे और उनके घर के दरवाजे हमेशा सहयोग के लिए खुले रहते थे। भूखों को भोजन, प्यासों को पानी, वस्त्र, अन्न, औषध, स्थान आदि की व्यवस्था उपलब्ध कराने में अपने धन का बहुत बड़ा हिस्सा व्यय करते थे। धन बढ़ाने या इकट्ठा करने में उनकी कोई रुचि नहीं रहती थी। पुण्य कार्यों में भी वे तब तक ही रुचि लेते थे जब तक वे व्यापार–व्यवसाय से जुड़े रहते थे। ज्योंहि उनके पुत्रादि व्यापार सम्भालने के योग्य हो जाते, वे व्यापार व सम्बन्धित पुण्यकार्यों की जिम्मेदारी उन्हें सौंप कर पूरा जीवन धर्मसाधना में व्यतीत करते थे। आनन्दादि श्रावकों ने तो साढ़े पाँच वर्षों तक पौषधशाला में रहकर, गोचरी आदि लाकर, घर–परिवार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर, प्रतिमाओं की आराधना में अपना समय लगाया। समाज–सेवा और सहयोग आदि के कार्यों से भी संवर-निर्जरा की साधना श्रेष्ठ होती है, भगवान की इस वाणी को आत्मसात् करने में वे सन्नद्ध रहे। अन्त में एक माह की संलेखना, संथारापूर्वक देह का त्याग किया।

वर्तमान में श्रावक समाज धन कमाने की दौड़ में दौड़ रहा है, धनार्जन के साथ वह पुण्य कार्यों में भी आगे हैं, लेकिन जीवन के अन्तिम समय तक इसी में लगा रहता है। निवृत्तिपूर्ण जीवन वाले श्रावक नहींवत् हैं, इसमें आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

स्व–स्थान में धर्माराधना का लक्ष्य

श्रावकों के जीवन चरित्र से यह स्पष्ट होता है कि वे अपने गाँव में या गाँव के बाहर भगवान या सन्त–सतीमण्डल के पधारने पर उनके दर्शन–वन्दन, प्रवचन हेतु जाते थे। कहीं दूसरे गाँव में भगवान विराज रहे हैं और उनके दर्शनार्थ कोई श्रावक गया, ऐसा वर्णन देखने को नहीं मिलता। उनके जीवन में धर्माराधना का महत्त्व

* आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर, 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवनशैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

था। वह आराधना सन्तों की अनुपस्थिति में भी हो सकती है और उपस्थिति में भी। साधनों की कमी बाहर जाने में रुकावट नहीं थी। व्यापारादि के निमित्त वे दूर-दूर तक जाते ही थे। धर्माराधना में इसकी आवश्यकता महसूस नहीं करते थे।

आज आवागमन की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। सन्तसेवा में आकर यदि संवर-निर्जरा की साधना में अपना समय लगायें तब तो आवागमन की प्रवृत्ति भी जीवन को आगे बढ़ाने में सहयोगी हो सकती है, परन्तु आज इस प्रवृत्ति ने पिकनिक जैसा रूप प्राप्त कर लिया है। **व्याख्यान के अलावा सन्तों की सेवा में बैठकर ज्ञानाराधना की प्रवृत्ति बहुत कम है। सुन्दर आवास व भोजन व्यवस्था का आकर्षण और दर्शनीय स्थलों व बाजारों में खरीदी के लोभ को संवरण नहीं हो पाता।** व्यवस्था में जुटे कार्यकत्ताओं के लिए तो चातुर्मास बिना विशेष धर्माराधना के ही पूरा हो जाता है। अतः इस प्रवृत्ति में सुधार अपेक्षित है।

गाँव में रहकर शंख-पुष्कली आदि श्रावकों की तरह सामूहिक दया आदि की आराधना की जा सकती है।

व्यापार में प्रामाणिकता एवं विवेक, कर्मादान के त्यागी

गृहस्थ जीवन चलाने के लिए धनार्जन अनिवार्य है। अधिकांश श्रावक व्यापारी थे। व्यापार का लक्ष्य केवल धनार्जन नहीं होता था, वे पाप से बचने का विशेष विवेक रखते थे। **जिन कार्यों में त्रस जीवों की बहुतायत से हिंसा होती है ऐसे 15 कर्मादान के वे त्यागी होते थे।** खेती और घड़े आदि बनाने का कार्य अधिक हिंसात्मक हैं, परन्तु वे उनके पैतृक व्यवसाय थे, जिन्हें एक साथ छोड़ना कठिन होता है। वे उसमें वृद्धि नहीं करते थे तथा इस बात का पूरा विवेक रखते थे कि पाप का सेवन कम से कम हो।

व्यापार चार प्रकार से अधिक होता था-**1. गणित**-गिनकर चीजें बेचना, जैसे- नारियल आदि। **2. धरिम**-तोलकर देना अनाज आदि। **3. मेय**-मापकर देना तेल आदि। **4. परिच्छेद्य**- काटकर देना-कपड़ा आदि। **व्यापार में प्रामाणिकता के कारण वे राजाओं के द्वारा सम्मान प्राप्त करते थे।** समाज में उनकी अच्छी पेठ थी।

आज समाज में प्रतिष्ठा का मापदण्ड अधिकांशतः पैसा माना जाता है, श्रावकगण पैसा कमाने की धुन में ऐसे जुट जाते हैं कि वे पैसे के लिए विवेक खो देते हैं। कर्मादान के व्यापार करने की होड़ लग रही है। हिंसा-अहिंसा का कोई विचार नहीं है। थोड़ा-सा दान देकर पद-प्रतिष्ठा प्राप्ति का दौर बेतहाशा चल रहा है। इस पर रोक लगनी चाहिए।

सीमित आवश्यकता

आनन्दादि श्रावकों की सम्पत्ति का हिसाब लगायें तो आज के बड़े से बड़े पूँजीपति भी उनसे पीछे हैं। इतना धन होते हुए भी वे उसका अपने लिए बहुत कम उपयोग करते थे। **संघ, समाज, देश आदि के लिए उदारतापूर्वक खर्च करते थे।** सातवें व्रत की मर्यादा से इस बात को समझा जा सकता है। उन्होंने अपने लिए पहनने हेतु केवल दो जोड़ी सूती कपड़े रखे थे। बाकी चीजें भी बहुत सीमित रखते थे।

आज तो लोगों ने अपने और अपने परिवार पर खर्चा इतना बढ़ा लिया है कि जरूरतमन्दों को दान आदि के लिए काटकसर करनी पड़ती है। मध्यमवर्गीय श्रावकों में दान की प्रवृत्ति घट रही है। अतः अपनी आवश्यकताओं को घटाना चाहिए।

मेढ़ीभूत, स्वावलम्बी तथा स्वाभिमानी श्रावक

गाँव-नगर और समाज आदि के विवादों में लोग उनकी बात को प्रामाणिक मानते थे। समाज में उनका वही स्थान था जो शरीर में मेरुदण्ड का होता है। वे सबके काम आते थे। अपना सब कार्य स्वयं करते थे। नौकरों की सहायता नहीं लेते थे। **स्वाभिमानी जीवन जीते थे किसी से दबते नहीं थे। सत्य तथ्य को कहने में बेहिचक थे।**

आज समाज में बढ़ती हुई विकृतियों का एक प्रमुख कारण 'मेढ़ीभूत' श्रावकों का अभाव नज़र आ रहा है।

प्राकृतिक और आयुर्वेदिक पद्धतियों की अनुपालना

वे शरद ऋतु का गाय का उत्तम घी ही काम में लेते थे, पानी केवल बरसात का ही पीने के काम में लेते थे। वस्त्र-सूती, तेल-शतपाक, सहस्रपाक, दातून-हरी मुलेठी, मस्तक के बाल धोने हेतु-दूधिया आँवला, उबटन में गेहूँ के आटे से पीठी का प्रयोग करते थे। दूध, दही, पंचगव्य आदि का उपयोग करते थे।

सुपात्रदान, साधर्मी वात्सल्य एवं अनुकम्पा दान

साधु-साध्वियों को सुपात्रदान की भावना के साथ विपुल अशनपानादि बहराने का स्वयं समय पर घर में उपस्थित रहकर लाभ लेते थे। गाथापति सुमुख ने तो गोचरी बहराकर संसार परीत्त कर लिया। **समाज के जरूरतमन्द लोगों के लिए भोजनशाला, चिकित्सालय, वस्त्रादि का वितरण हमेशा चलता था।** अपंग, अनाथ, गाय, चींटी, कबूतर आदि के लिए भोजन, चारा, चुग्गा आदि की व्यवस्था करने में सदा आगे रहते थे। 40 हजार से 80 हजार तक गायों का पालन उनके अनुकम्पादान का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

आज हमारे श्रावक घर में मंहगी कार रख सकते हैं, किन्तु गायें रखने में कई बहाने बनाते हैं।

तत्त्वज्ञ एवं शास्त्रज्ञ श्रावक

जीवाजीवादि तत्त्वों के गहन ज्ञाता थे। प्रतिदिन परस्पर एक साथ बैठकर शास्त्र के गूढ़तम विषयों पर चर्चा करते थे। अन्य मतियों को वाद में परास्त कर निरुत्तर कर देते थे। उनके लिए शास्त्रकारों ने विशारद, कोविद आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। व्यापारादि आवश्यक कार्यों के अलावा समय को इधर-उधर नहीं बिताकर स्वाध्याय, ध्यान, चर्चा आदि में लगाते थे। इसी कारण वे शास्त्रों के पारगामी बन सके।

आज समाज में तत्त्वज्ञ और शास्त्रों के ज्ञाता श्रावकों की संख्या में वृद्धि हेतु ठोस क़दम आवश्यक है।

धर्म के प्रति पूर्ण समर्पण

धर्म के प्रति श्रद्धा उनके रोम-रोम में व्याप्त थी। मारणान्तिक कष्ट आने पर वे कभी श्रद्धा से चलायमान नहीं होते थे। धर्मक्रियाओं के प्रति वे विशेष जागरूक रहते थे। प्रतिमाह छह पौषध करते, दोनों समय प्रतिक्रमण, प्रतिलेखना, स्वाध्याय, ध्यान आदि उनका क्रम था। खाते-पीते पौषध अर्थात् दयाव्रत का सामूहिक आयोजन भी समय-समय किया करते थे।

आगमकालीन श्रावकों की जीवनशैली से 'सादा जीवन-उच्च विचार' का उद्घोष ध्वनित होता है। आज भी आगम तो हमारे सामने वे ही हैं जो उस समय थे। विषयवस्तु के आकार में कुछ कमी हो सकती है। उससे अच्छे श्रावक तैयार होने में कोई बाधा नहीं है। आज भी कई अच्छे श्रावक हैं, लेकिन सामने कम दिखते हैं। ऐसे श्रावकों को एक मञ्च पर लाकर उनके ज्ञान-दर्शन-चारित्र में और विकास किया जाय। महापुरुषों के सान्निध्य में शिविर आयोजित किये जाएँ। सन्त-सतीवर्ग के अध्ययन-अध्यापन में भी उनकी सेवाएँ ली जा सकती हैं। इस कार्य को सम्पन्न करने हेतु किन्हीं 2-3 सुयोग्य श्रावक-श्राविकाओं पर जिम्मेदारी डाली जा सकती है।

-सम्पादक-स्वाध्याय शिक्षा, 259, गायत्रीनगर 'बी', महारानी फार्म, दुर्गापुरा, जयपुर-302019 (राज.)

जब आत्मा में सम्यग्ज्ञान की सहस्र-सहस्र किरणें फैलती हैं
और उस आलोक से जीवन परिपूर्ण हो जाता है, तब काम,
क्रोध और लोभ का सघन अन्धकार टिक ही नहीं सकता।
-आचार्यश्री हस्ती

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 235
ISSN 2249-2011

श्रावकाचार : एक प्रामाणिक जीवनशैली

डॉ. (श्रीमती) सरोज जैन

रत्नों का पिटारा 'श्रावक' शब्द

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनों का मेल अर्थात् रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है। श्रावकाचार रत्नत्रय को धारण करने की प्रारम्भिक भूमिका है। इसलिए आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक को रत्नों का पिटारा कहा है।[1] श्रावक पद में 'श्र' अक्षर श्रद्धावान् होने का सूचक है। तत्त्वों का श्रद्धान (सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान) अथवा आत्मा से शरीर, धनादि पर पदार्थों के भिन्न होने का श्रद्धान (विश्वास) ही सम्यग्दर्शन है। श्रावक पद का दूसरा अक्षर 'व' विवेकी या ज्ञानी होने का सूचक है। श्रावक को विवेकी होना चाहिये। श्रावक पद का तीसरा अक्षर 'क' क्रियावान (आचरण वाला) प्रयत्नशील या (पुरुषार्थी) होने का सूचक है। इस तरह श्रावक पद के तीनों अक्षर रत्नत्रयधारी होने के सूचक हैं।[2] किसी भी रोग, या दु:ख से मुक्त होने के लिए इन तीनों गुणों की आवश्यकता होती है। संसार के दु:खों से मुक्त होने के लिए भी इन्हीं तीनों गुणों को अपनाने की आवश्यकता है। रोगी को जब औषधि पर रोग शमन करने की श्रद्धा होगी, उसके सेवन आदि की विधि का ज्ञान होगा, तथा वह उसका सेवन करेगा तो उसे रोग से मुक्ति मिल सकेगी ।

जैन साहित्य में गृहस्थ के लिए श्रावक, सावग, सागारिक तथा उपासक शब्दों का प्रयोग हुआ है। पण्डित आशाधरजी ने श्रावक के तीन भेद किये हैं[3]-

1. **पाक्षिक श्रावक**-जिसमें जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत धर्म का पक्ष हो, वह पाक्षिक श्रावक होता है। ऐसा गृहस्थ व्यक्ति लोक में केवलज्ञानी के द्वारा प्रणीत धर्म को ही उत्तम मानता है, जानता है और उसमें ही अटूट श्रद्धान करता है। इस हेतु अष्ट मूलगुणों को धारण करना, और सप्तव्यसनों का त्याग करना आवश्यक है, तभी वह अन्य व्रतों को धारण करने की योग्यता प्राप्त करता है।
2. **नैष्ठिक श्रावक**-जो श्रावक-धर्म में अभ्यस्त है, जैनधर्म में पूर्ण निष्ठा रखता है, धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये पूर्ण समर्पित है तथा मोक्षमार्ग के लिए आवश्यक ग्यारह प्रतिमाओं को व्यावहारिक रूप से पालन करने का प्रयास करता है, वह नैष्ठिक श्रावक है।
3. **साधक श्रावक**-जो व्यक्ति महाव्रतों को पालन करने हेतु मुनि वेश धारण कर आत्म-ध्यान में तत्पर होकर मोक्ष प्राप्ति का साधन करता है, वह साधक श्रावक है।

पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिक:।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिक: साधक: स्वयुक्।।

श्रावक का अर्थ है, जो श्रद्धापूर्वक जिन वचनों को सुने और उनके अनुसार अपना जीवन-यापन करे। 'समणसुत्तं' की गाथा संख्या 301 में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) को प्राप्त जो व्यक्ति प्रतिदिन मुनिजनों से आचार-विषयक (समाचारी) उपदेश सुनता है उसे श्रावक कहा गया है। अत: जिनशासन में श्रद्धा और श्रवण श्रावक के प्रमुख गुण हैं। वह सप्तव्यसनों का त्यागी होता है। पञ्च अणुव्रतों का पालक होता है। चार प्रकार के दान देना श्रावक का परम कर्त्तव्य है। अत: श्रावक का जीवन एक आदर्श नागरिक का जीवन है। समणसुत्तं कहा भी है[4]-

संपत्तदंसणाई, पइदियहं जइजणा सुणेई य।
सामायारिं परमं जो, खलु तं सावगं बिंति।।

श्रावक की प्रमुख क्रियाएँ

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार गृहस्थ श्रावक की कुछ क्रियाएँ हैं, यथा-8 मूलगुण, 12 व्रत, तप, 11 प्रतिमाएँ, 4 दान, 3 रत्नत्रय, क्षमाभाव, जल छानकर पीना ओर रात्रिभोजन नहीं करना आदि। इन क्रियाओं में भी जैनाचार्यों ने छः क्रियाओं को आवश्यक नाम से बतलाया है-दान, पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम और तप। इन षट् आवश्यकों में भी आचार्य कुन्दकुन्द ने दान और पूजा (भक्ति) को प्रमुख बतलाया है, इनके बिना किसी को भी श्रावक नहीं माना है।[5] यथा-

दाणं पूया मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं, जदिधम्मे तं विणा तहा सो वि।।

आचार्य अमितगति का कहना है-भगवान की पूजा-वन्दना संसाररूपी वन को भस्म करने वाला श्रावक का धर्म है। बिना भक्ति के सद्गति नहीं मिलती।

श्रावक की साधना से समाज का उत्कर्ष

आध्यात्मिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के विकास में श्रावक-धर्म की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है। जैन समाज की रीढ़ श्रावक-धर्म है। श्रावक की व्यक्तिगत साधना ही समाज के उत्कर्ष का कारण होती है। इसलिए **श्रावक अपने समाज की प्रगति अथवा अभ्युत्थान करने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। श्रावक अपने परिवार का नहीं, समाज और राज्य का भी मुख्य व्यक्ति होता है।** समग्र परिवार के भरणपोषण की व्यवस्था, बालकों को सुसंस्कारी बनाने की जिम्मेदारी, परिवार में सुख-शान्ति, अनुशासन बनाये रखने का दायित्व उस पर होता है। **अतः उसे कुटुम्ब-जनों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि सभी व्यक्ति उसके व्यवहार से प्रसन्न रहें और अपनी जिम्मेदारियों का दृढ़तापूर्वक पालन करें।** उपासकदशाङ्गसूत्र में आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है-वह आनन्द गृहपति अनेक राजा, धनिक यावत् सार्थवाहों को बहुत से कार्यों में, कारणों में, सलाहों में कुटुम्बों में, गुप्त बातों में, रहस्यों में, निश्चय में, व्यवहार में, परामर्श देने वाला था। राज्य प्रमुख सब लोग आनन्द गृहपति से सभी विषयों में सलाह लिया करते थे। वह आनन्द गृहपति अपने कुटुम्ब का मुख्य प्रमाणभूत आधार, आलम्बन, चक्षुरूप तथा सब कार्यो की वृद्धि करने वाला था।[6]

श्रावक जीवन का लक्ष्य सर्वांगीण विकास करना है। विकास दो तरह का है-1. भौतिक विकास और 2. आध्यात्मिक विकास। भौतिक विकास के अन्तर्गत शारीरिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि एवं सुख-समृद्धि के लिये अधिक से अधिक भौतिक वस्तुओं की परिमाणात्मक वृद्धि आती है। शारीरिक आवश्यकताओं एवं भोगवृत्तियों की पूर्ति के लिए व्यक्ति आर्थिक प्रयत्न करता है तथा अधिकाधिक भौतिक सुख सुविधाओं के साधनों को एकत्रित करता है। पारिवारिक एवं विश्व की सुख-शान्ति मात्र भौतिक विकास में समाहित नहीं है, **अतः गृहस्थ जीवन का अन्तिम लक्ष्य भौतिक विकास में निहित नहीं है, क्योंकि न तो भौतिक-सुख समृद्धि ही जीवन है और न भोगेच्छाओं की पूर्ति या सन्तुष्टि ही जीवन है।** आध्यात्मिक विकास में स्वात्म का ज्ञान-श्रद्धान कर परमात्मा पद की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ में वृद्धि के साधनों का समावेश है। अतः गृहस्थ-जीवन का लक्ष्य है-संयम, त्याग, नियम, चारित्र और आत्मिक अनुभव के द्वारा जीवन की परमोत्कृष्ट स्थान की उपलब्धि करना। श्रावकाचार में इसका विस्तृत मार्ग सुझाया गया है।

इसलिये आवश्यक है कि गृहस्थ जीवन में अर्थ के स्थान पर धर्म को पुनः स्थापित किया जाये। व्यक्ति का आचरण धर्म तथा कानून सम्मत होना चाहिये। व्यक्ति का चारित्र ही देश की सुदृढ़ता का आधार स्तम्भ है। बुरे अर्थात् पापमय या गैरकानूनी कार्यों से बचना और अच्छे अर्थात् शुभ या कानून-सम्मत कार्यों में प्रवृत्त होना ही चारित्र या आचार है। श्रावकों के लिए यह चारित्र बारह प्रकार का हैं-पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।[7] ये बारह व्रत स्वर्गरूपी राजमहल पर चढ़ने के लिए सीढ़ी के समान हैं और नरकादि

दुर्गतियों में जाने से रोकने वाले हैं। श्रावकों के इन बारह व्रतों में श्रावक को प्रामाणिक, ईमानदार होना चाहिए।

अहिंसा का आधार : यत्नाचार

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं–जहाँ प्रमाद का योग हैं वहाँ हिंसा है, चाहे जीव मरे या न मरे, किन्तु प्रमाद के योग के अभाव में हिंसा हो जाने पर भी हिंसा नहीं मानी जाती। जैनाचार्यों के इस मत से स्पष्ट होता है कि यदि व्यक्ति यत्नाचारी है, सावधान है, कषाय रहित है; इसके बावजूद भी उसके द्वारा किसी के प्राणों का घात हो जाये तो उसे हिंसक नहीं माना जाता।[#] इसके विपरीत, यदि व्यक्ति अयत्नाचारी है, असावधान है, क्रोधादि कषाय सहित है, तो दूसरों के प्राणों का घात नहीं होने पर भी उसे हिंसा के दोष से मुक्त नहीं माना जा सकता । जो देखभाल कर चलता है, उसके पैरों तले कोई जीव भी मर जाये, तो भी वह अहिंसक है, क्योंकि वह अप्रमादी है, तथा जो बिना देख–भाल कर चलता है, उसके पैरों तले कोई जीव न भी मरे, तो भी वह हिंसक है, क्योंकि वह प्रमादी है। व्यावहारिक कानून भी इस तथ्य का समर्थन करता है। क्योंकि दूषित विचारों के द्वारा भी जीवों का घात होता है, इसे भाव–हिंसा कहते हैं। और इन्द्रियादिष्ट शस्त्र आदि साधनों के द्वारा जीवों के दश प्राणों का वियोग करना द्रव्य–हिंसा कहलाती है।[8]

द्रव्य-हिंसा में प्राणियों को दु:ख होता है, इसलिये वह अधर्म है। अत: देवता के लिए, मन्त्र सिद्धि के लिए, अतिथि के लिए, पितरों के अर्पण के लिए, भोजन के लिए तथा भय से गृहस्थ व्यक्ति को किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिये। हिंसक निरन्तर उद्वेगजनीय है, वह सदा वैर को बाँधे रहता है। हिंसक व्यक्ति इस लोक में वध, बन्धन और क्लेश आदि को तो प्राप्त होता ही है तथा परलोक में भी अशुभ गति को प्राप्त होता है और निन्दनीय भी होता है, इसलिये हिंसा का त्याग श्रेयस्कर हैं। इस प्रकार यत्नाचार, शुभ परिणाम, जीओ और जीने दो की भावना अहिंसा है। इससे न केवल पारस्परिक सहयोग तथा स्नेह की भावना सहिष्णुता और अवसर की समानता में वृद्धि होती है, अपितु शोषण, हड़तालें, तोड़फोड़ और आगजनी आदि की कार्यवाहियाँ समाप्त होती हैं। फलस्वरूप परिवार, समाज और राष्ट्रीय आय में वृद्धि होकर देश का तेजी से आर्थिक विकास होता है। **अहिंसा के द्वारा मनुष्य की प्रतिष्ठा सम्भव है और अहिंसा ही अन्याय तथा अत्याचार से दीन-दुर्बलों की रक्षा कर सकती है, यही विश्व के लिए सुखदायक है।** अत: श्रावक की जीवन शैली में प्रामाणिक होने के लिए उसे अहिंसक और करुणावान् होना जरूरी है।

समणसुत्तं में श्रावकाचार के व्रतों का विस्तार से वर्णन है। उनमें अणुव्रतों में अहिंसा और अपरिग्रह आज विश्वशान्ति के लिए अपरिहार्य मूल्य बनकर उभरे हैं। समणसुत्तं में कहा गया है कि जैसे जगत् में मेरू पर्वत से ऊँचा कुछ नहीं है, वैसे ही अहिंसा के समान जगत् में श्रेष्ठ और व्यापक धर्म कोई और नहीं है।[9] यथा–

तुगं न मंदराओ आगासाओ विसालयं नत्थि।
जह तह जयंमि जाणसु धम्ममहिंसासमं नत्थि।।

–समणसुत्तं, गाथा–58

समणसुत्तं अहिंसा धर्म की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने के साथ यह भी बताता है कि असावधान, आलसी व्यक्ति हिंसक होता है और अप्रमादी व्यक्ति अहिंसक होता है। अर्थात् **क्रिया के साथ-साथ मन की भावना भी जीव-रक्षण की होनी चाहिए।** जीवन में सद्गुणों का विकास तभी सम्भव है, जब हमारे क्रिया–कलापों में संयम हो। ज्ञानी होने का सार भी यही है कि वह ज्ञानी हिंसक न हो। तभी समता की पालना हो सकती है–

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ कंचण।
अहिंसा समयं चेव, एतावंते वियाणिया।।

–समणसुत्तं, गाथा–147

श्रावक अहिंसा व्रत की पालना करने के साथ

कर्मबन्ध की अपेक्षा उसे हिंसक नहीं माना जाता, व्यवहार में तो वह हिंसक हो सकता है।

सत्य और अचौर्य व्रत के पालन द्वारा भी अपने व्यापार और आय के साधनों में प्रामाणिक बनने का प्रयत्न करता है। श्रावकाचार के ग्रन्थों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह अणुव्रत के पालन में कतिपय अतिचारों से बचने को कहा गया है, जो श्रावक की जीवनशैली को प्रामाणिक बनाते हैं। अपरिग्रह अणुव्रत के पालन में श्रावक अपनी वस्तुओं का परिमाण करता है, अत: वह अनावश्यक संग्रह का कार्य नहीं करता। श्रावक के गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों की परिपालना उसके जीवन को अधिक प्रामाणिक एवं अनुकरणीय बनाती है। अनर्थदण्डव्रत के पालन द्वारा श्रावक प्रयोजन रहित किसी असामाजिक कार्य को नहीं करता। वह चार प्रकार के दानों से समाज और देश की सेवा करता है। शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं में सहयोग करता है।

वैज्ञानिक और संयमित जीवन की शिक्षा

प्रामाणिक श्रावक एवं श्राविकाओं के लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे जैन धर्म तथा श्रावकाचार के किसी भी नियम की पालना तथा आहार-सम्बन्धी जीवन पद्धति के वैज्ञानिक पक्ष से पूरी तरह परिचित हों। आज केवल सिद्धान्त की जानकारी ही जरूरी नहीं है, अपितु उस सिद्धान्त को अथवा वैज्ञानिक तथ्य को व्यवहार में कैसे लाया जाये, इसकी भी पूरी जानकारी श्रावकों और महिलाओं को होनी चाहिये। तभी शाकाहार एवं सात्त्विक जीवन पद्धति के महत्त्व को नई पीढ़ी को समझाया जा सकेगा। **इस बात में पूरी सच्चाई है कि जहाँ चौके की शुद्धि होगी, जिस घर में चौका पवित्र होगा उस घर का जीवन और परिवार के सदस्यों का आचरण सहज रूप से पवित्र और श्रावकाचार के अनुरूप होगा।** अत: हमें धर्म को जीवन से जोड़ना होगा। धर्म और आचरण दोनों में अन्तर नहीं होना चाहिये तभी आने वाली पीढ़ी सुसंस्कारित होगी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति नारी या पुरुष अपने चलने-बोलने, उठने-बैठने, खाने-पीने, सोने आदि की सभी क्रियाओं को सावधानी पूर्वक करता है, उसे कम पाप बन्ध होता है।[10] वह सदाचारी श्रावक अथवा श्राविका बन सकता है। श्रावकाचार के पालन से ही जीवन सार्थक/सफल हो सकता है।

कषाय-विजय : प्रामाणिक जीवनशैली का आधार

संयमित जीवन जीने के लिए यह जरूरी बताया गया है कि मन में बुरे विचारों को जगह न दी जाय। जैनधर्म में ऐसे कुटिल विचारों को कषाय कहा गया है। क्रोध मान, माया, लोभ ये चार प्रमुख कषाय हैं।[11] इनसे व्यक्ति के सद्गुण नष्ट होते हैं। समणसुत्तं में कहा गया है कि क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान (घमण्ड) विनय को नष्ट करता है, माया (कपट) मैत्री को मिटा देती है और लोभ (आसक्ति) सभी सद्गुणों को नष्ट कर देता है, यथा-

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व विणासणो।।

-समणसुत्तं, गाथा-35

समणसुत्तं ग्रन्थ इन दुश्मनों को जीतने के उपाय भी बताता है कि क्षमा से क्रोध का नाश करें, मृदुता (विनयशीलता) से मान (घमण्ड) को जीतें, सरलता से कपट व्यवहार (माया) को दूर करें और सन्तोषवृत्ति (अनासक्ति) से लोभ को जीता जा सकता है (गाथा 136)। समणसुत्तं में प्रतिपादित व्यक्तित्व विकास के ये मूल्य आज विश्व को शान्ति का सन्देश दे सकते हैं।

प्राकृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कर्मरूपी खेत को सुख-दु:ख रूपी फसल की उत्पत्ति के लिए जो विकार (क्रोध मान, माया लोभ) कर्षण करते (जोतते) हैं उन्हें कषाय कहते हैं।[12] इसका शाब्दिक अर्थ यह है कि कष का अर्थ है संसार और उसकी जिससे आय हो अर्थात् संसार जिससे बढ़ता हो वह कषाय है। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **जो विकार जीव के शुद्ध स्वभाव को कलुषित करते हैं, वे कषाय हैं।** दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि चारों कषाय पुनर्जन्म की जड़ का सिञ्चन करते हैं।[13] तत्त्वार्थसूत्र में बताया गया है कि उन चारों कषायों से

युक्त होकर जीव कर्म बन्धन करता है।[14] **कषाय वह है जिससे समता, शान्ति और सन्तुलन जीवन में नहीं रह पाता है।**

कषाय-विजय का सबसे बड़ा उपाय है संयम धारण करना। जब हम संयम और तप दोनों की आराधना में बैठते हैं तो हमारी इन्द्रियाँ जिन्होंने क्रोध आदि कषाय को हवा दी थी वे अन्तर्मुखी होकर आत्मा की ओर मुड़ने लगती हैं। व्यक्ति के अन्दर संकल्प शक्ति का विकास होता है और उसका श्वास तथा नाड़ी पर नियन्त्रण होने लगता है। यह नियन्त्रण ही कषायों पर लगाम लगा सकता है। भगवती आराधना में कहा है[15]-

विज्जा जहा पिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं।
णाणं हिदयपिसायं सुट्ठु पउत्तं करेदि पुरिसवसं।।

अर्थात् जैसे सम्यक् रीति से साधी गई विद्या पिशाच को पुरुष के वश में कर देती है वैसे ही सम्यक् रूप से आधारित ज्ञान हृदय रूपी पिशाच को वश में करता है।

उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण।
तह हिदयकिण्हसप्पो सुट्ठुजत्तेण णाणेण।।761।।

जैसे विधिपूर्वक प्रयोग किये गये मन्त्र से कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है वैसे ही अच्छी तरह से भावित ज्ञान से हृदयरूपी कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है।

कषाय-विजय के लिए प्रतिक्रमण सर्वोत्तम साधन है। साधक इस प्रकार विचार करता है-मन, वचन, काय के विकल्प रूप रत्नत्रय में लगे अतिचारों को आलोचना के दोषों को त्याग कर मैं सम्यक् रूप से गुरु से निवेदन करूँगा ऐसा संकल्प साधक करता है। आत्मालोचन वास्तव में तो कषायों पर विजय प्राप्त करने का ही मार्ग है। मनुष्य जब तक अपने मन में अपने ही दोषों को देखने का संकल्प नहीं करेगा तब तक वह उन विकारों से मुक्त भी नहीं हो सकता है। यह भी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब व्यक्ति दूसरों के दोष देखने के बजाय स्वदोष देखने का क्रम करने लगता है, तब उसका मन विकारों पर विजय प्राप्त करने लगता है। यह प्रतिक्रमण ही सूचित करता है कि हम जितने गलत मार्ग पर गये हैं, उनसे वापिस लौटें। अर्थात् विभाव परिणाम से स्वभाव में लौटना ही कषाय-विजय का हेतु है।

श्रावकाचार-पालन से स्वस्थ समाज

जैनधर्म में प्रतिपादित श्रावकाचार के नियम केवल व्यक्ति के नैतिक आचरण को ही नहीं सुधारते हैं, अपितु वे एक सभ्यसमाज का निर्माण भी करते हैं। जैन धर्म के अनेक सिद्धान्त आज के विश्व के मानसिक और भौगोलिक प्रदूषण को कम करने में भी सहायक हो सकते हैं।[16] **जैन मुनि एवं जैन श्रावक अपने सात्त्विक जीवन द्वारा विश्व को शान्ति और सद्भावना का सन्देश देते हैं।**

समणसुत्तं में कहा गया है कि श्रावक पाँच अणुव्रतों के पालन के साथ सप्त व्यसनों का त्यागी भी होता है। इन व्रतों के पालन से सच्चे श्रावक का जीवन श्रमणाचार की ओर अग्रसर होता है। तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का पालन भी श्रावक को करणीय है। इन्हें सप्त शील व्रत भी कहे गये हैं। इनके पालन से श्रावक धीरे-धीरे सांसारिक जीवन से विरक्त होता जाता है। ये व्रत अहिंसा और अपरिग्रह की पूर्ण साधना में सहायक बनते हैं। **श्रावक के व्रतों के साथ उसकी धार्मिक क्रियाओं में सामायिक को प्रमुख स्थान प्राप्त है।** सामायिक करने से श्रावक श्रमण के समकक्ष साधक की श्रेणी में गिना जाता है।[17] **सामायिक उसके आत्मविकास में सहायक है और उसके द्वारा दिया गया दान लोक-कल्याण में सहयोगी है।**

सन्दर्भ

1. रत्नकरण्डश्रावकाचार
2. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, देवेन्द्र मुनि शास्त्री, उदयपुर
3. सागरधर्मामृत, 1/2
4. समणसुत्तं, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1975, गाथा, 301
5. रयणसार गाथा 11
6. उपासकदसाङ्गसूत्र

7. जैनधर्म, पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, मथुरा, 1975
8. सोमदेवसूरि- उपासकाध्ययन 46/911
9. समणसुत्तं, गाथा 58
10. मूलाचार, गाथा, 1015
11. भगवती आराधना, शिवार्य, गाथा 1354-1390
12. कृषन्ति विलिखन्ति कर्मरूपं क्षेत्रं सुखदुःखशस्योत्पादनयेति कषायाः।
13. चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचति मूलाइं पुणब्भवस्स। - दसवैकालिक, अध्ययन 9
14. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 9, सूत्र 2
15. भगवती आराधना, शिवार्य, गाथा 1354-1390
16. जैनधर्म की सांस्कृतिक विरासत, प्रेम सुमन जैन दिल्ली, 2005
17. प्रज्ञापनासूत्र-सम्पादक ज्ञानमुनि ब्यावर, 1984, 14वाँ पद, सूत्र 962-963

-29 विद्या विहार कालोनी, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर-313001

Five Reasons you should have dinner around Sunset

Dr. Sharmila Patwa

1. **Prevents obesity :-** Dinner is ideally the last meal of your day unless you have developed the horrible of waking up in the middle of night and eating. As the day ends, yours body processes and metabolism goes slow down. So, if you eat late, that food is not utilised for energy. it instead gets converted into fat stores, resulting in weight gain.
2. **Reduces gastrointestinal problems :-** Those who eat late, suffer from digestive problems like acidity, heart burn and bloating because the time gap between dinner and sleep reduces. So, when you lie down to go to sleep, the stomach acid gets refluxed to the esophagus, causing uneasiness. on the contrary, when you eat early, your digestive system processes the food well in time before you go to bed.
3. **Promotes good sleep :-** Poor digestion due to late dinner has serious effects on the sleep cycle with nocturnal acidity, cough and heart burn, you will tend to wake up often at nights. also, with late dinner your water consumption at night increases. so, you'll wake up from sleep to empty your bladder again and again. This results in poor sleep quality.
4. **Allows systems to re-energize :-** Early dinner gives your brain and other organs of the body time to focus on re-energizing themselves for the next day instead of working on digestion, absorption and nutrient extraction, forced on them by having late dinner.
5. **You feel refreshed the next day :-** Your biological clock of the body is programmed based on sunrise and sunset pattern. when you allow your body's systems to work the way they are programmed, you'll hardly feel lethargic and tired the next day.

* If you're still in your office, college or outside at sunset, eat something light that is easily digestible preferably, eat a sandwich, dosa, fruits, nuts or grilled vegetables. Here's how you can have light yet filling dinner.

* After going home, avoid eating an entire heavy meal. preferably, drink warm milk or eat fruits two hours before your bedtime.

* Avoid late night dinner parties as far as possible. since it won't completely avoidable, make sure you don't skip a meal at sunset in order to eat at the party. in fact, if you eat early, you won't feel hungry late night.

-B 174, Malviya Nagar, Jaipur-302017 (Raj.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 241
ISSN 2249-2011

Śrāvakācāra And Margānusāri Śrāvaka–Guṇas for Business Excellence

Dr. H. Kushal Chand

Introduction

Jaina theory of Business Ethics is mainly based on the application of morality in businesses. The objective of this theory is to develop reliable set business principles that emerge out as self-evident. S. Shyama Prasad promotes that the motive of businesses to be profit-making has nothing wrong in it. Nevertheless, they should strictly not manufacture products or offer services that are below the standard level to make money. Neither should they go against the nature of law to carry out their business activities.[1a] It is time to remember the lines of Great Mahatma Gandhi, "this land has enough to meet the needs of everyone, but not their greed".[1b] The Jaina influence is what has made Gandhiji make such an explicit appropriate statement.

It is important to understand the significance of ancient wisdom. Our ancestors did not have access to the technology that we have today, but they surely led a more peaceful and stress-free life. They were not connected to the vast world through media, Internet, Facebook, etc., but the inner connectivity was vibrant and they led a more meaningful and harmless life. They were guided by inner wisdom which enabled them to lead a compassionate lifestyle and not a destructive lifestyle. They were aware that all life is inter-connected. The sound system of ethics grounded in sound metaphysics inspired them to be non-violent, contented, respectful and spiritual. They did not live in a state of illusion that material progress alone can make mankind happy. The spiritual aspect, which held a foremost place in the ancient world, is relegated to an insignificant position today. Hence the problem of improving human nature is no doubt the most baffling of all modern problems'.

The *Ācāryas*, *Upādhyāyas* and *Saddhās* follow the path of right living,i.e self-realization, self-purification, self-conquer in order to be liberated like the *Jinas* and the dharma preached by them is that of non-violence, self-restraint and austerity. Dr.Vastupal Parekh remarks, "Right from its inception, since its revival in 600 BCE, by Lord Mahavira, Jainism has championed an all-inclusive spirituality. Development of human potential has no doubt been its main concern, but the welfare and happiness of all living forms have been equally important." He further says that, "Enabling human spirit to become free and blissful is Jain spirituality. The Jain spirituality blends an experience-based worldview of the universe as a reality, a rational cause and effect-based theory of *karma*, a soul based spirituality, a code of conduct that reveres all lifestyle that preserves our ecosystems, respects differing viewpoints and thus promotes personal and global peace.

The five great vows-*Mahāvrata*s and Jaina Business Ethics

A Jain ascetic adheres to the five vows which are: 1)*Ahiṃsā* (non-killing). 2) *Satya* (truthful speech). 3) *Asteya* (non-stealing). 4) *Brahmacarya* (celibacy), and 5) *Aparigraha* (non-possession). While only four vows had been outlined by Pārśvanātha, Pārśvanātha's fourth vow, apparently *Aparigraha* was

bifurcated into two by Mahavira. While *Aparigraha* also included *Brahmacarya*, it was rendered unequivocal by Mahavira to eliminate the ambiguity of any kind. At the same time, these vows are quite complex to be practised by a layman. The jain ascetics ought to lead the most soul friendly and eco friendly lives and are like god on earth. The ascetics walk barefoot and travel from one place to another practising and teaching the great value of *ahiṃsā* to all people irrespective of caste, creed, gender, nationality, etc. When the Jain laity came in contact with the other community they too are inspired to discipline their life and this is reflected in their approach to doing business ethically, not just for ones own self but for all stakeholders.

When considering the vows as majorly pivotal and the first vow is the vow of *ahiṃsā*, on the other hand, other vows are considered as facets of *ahiṃsā* that form a non-segregated code of conduct in the individual's quest for equanimity and the three jewels (*Ratna-traya*) of right conduct, right knowledge and right faith. The nuns and monks vow for austerity, and it is termed as *maha-vratas* (great vows). However, householders consider the vows in flexible and moderate level and are termed as *aṇuvratas* (basic vows). Underlying the Jain code of conduct is the emphatic assertion of individual responsibility towards one and all. Certainly, the whole world is the convention of one's own conscience. The code is extremely ecological in its non-religious thrust and their practical outcomes.

Śrāvakācāra

The term *Śrāvaka* is commonly used to designate a layman or *Śrāvaka*. Several etymologies, some quite elaborate, are given for this term. The aggregate of all such etymologies could be as follows: One, who sincerely and regularly listens to the teachings and preachings of the *Jina* through the monk for the good of one's own self, is a *Śrāvaka*. Other alternate terms found in usage are: *Śramaṇopāsaka*, its abbreviation *upāsaka* (one who adores the monk and his teachings), *Sāgāra*, *grhin*, *gṛhastha* (one who practices the prescribed code of conduct by staying at home), *deśasañyami* (one who is partially self-restrained and indifferent to worldly attachments), *śraddhā* (one having faith in the words of the *Jina* as taught by the monk) etc. In good old days, the Jain layman was known as *Śrāvaka*. A corrupt form of this word viz., *saravaga* or *saravagi* was in wide currency in later days. Today he is known as a Jaina only.

Similarly, *Śrāvakācāra* is the commonly used term for the code of conduct prescribed for the layman or *Śrāvaka*. The other alternate terms found in usage are: *upāsakācāra*, *Śrāvaka-dharma* (*sāvaya-dhamma* in *Prākrit*), *Sāgāra-dharma*, *gṛhastha-dharma*, etc. Some of the terms used for the monastic code of conduct are: *anagara- dharma*, *yati-dharma*etc, besides others like *yatyācāra*, *muni- dharma*, *sādhu- dharma* etc. Just as in the life of a *Sādhu* such great vows as non-violence constitute the path of renunciation, the sadhu must pursue the path of the *Pancācāra* in order to evolve spirituality and a *Śrāvaka*can also follow this pathto some extent.

A *Śrāvaka* designated as a layman is – *Śra-Śravaṇa/Śrāddha*, listening to the teachings of the *Jinas* with almost *Va–Viveka*–knowledge/Discrimination *Ka–Kriya*–Action. ie., performing right action. Thus a *Śrāvaka* is one who listens (*Śṛṇoti*) to teachings of the *Jinas* or one who has recourse faith (*Śraddhālutam Srati*) or one whose sins flow away from him (*Sravantīya-syapāpam*). He is called a *Śramaṇopāsaka*, *Śramāna* refers to the *Jina* and *upasaka* means one who adores the monks and their teachings with the *nāma*, *sthāpana*, *dravya*, *bhā*va. The types are :

I) *Nāma Śrāvaka* : One who is a Jaina in name only.

ii) *Sthāpana Śrāvaka*: The statue of a layman or *Śrāvaka*

iii) *Dravya Śrāvaka* : One who carries out the rites obligatory for a Jaina but who is empty of spirituality

iv) *Bhāva Śrāvaka* : An ardent Jain householder who has attained self realisation (*samyak-darsan)*

In fact a person does not become a true Jaina unless and until he requires the requisite minimum comprehension of the essential nature of soul and non-soul together with their mutual relationship, and develop a firm faith, based on his own transcendental experience of the reality, which equips him with a correct attitude and proper perspective.

Three fold Divisions of the *Śrāvaka*: Some *ācāraya* Asadhara and Medhavin, for example, have a threefold division of the *Śrāvaka* and on this their expositions of the doctrine and based on it.

I) *Paksika* : A layman or *Śrāvaka* who has an inclination (*paksa*) towards *ahiṃsā*, possesses *Samyaktva* and practice the *mūlaguṇa*s and the *vrata*s and in *assidu* in performing the *pūjā*.

ii) *Naiṣṭhika* : One who pursues his path upwards through the *Pratimās* till he reaches the eleventh. At his culminating point (*nistha*) he quits the household life practices the tenfold *dharma* of the ascetive. It was seen that if he back slides, he is down-graded, the state of a *pāksika*.

iii) *Sādhaka* : One who concludes (*sadhyati*) his human incarnation in a final purification of the self-carrying out *sallekhanā*.

Asadhara gives a classification of the *Śrāvaka* based on his progress through the *Pratimās*.

I) *Jaghanya* (least satisfactory) : first to sixth *pratimā – gra*

ii) *Madhyama* (next best) : Seventh to ninth *Pratimās – varn*

iii) *Uttama* (best) : Tenth and eleventh *pratimā–bhikṣu*

Bhagavatisūtra which is the fifth *Aṅga* is a record of 36,000 questions asked by Gautama and answered by Mahavira. It is the biggest of all the *Ardhamāgadhi* texts in contents. But there is no entire or particular chapter devoted to *Śrāvakācāra*. The 2nd canto of this *Āgama* incidentally reveals a lot about the *Śrāvakācāra* of Tungiya (a small town near patna) in those days. The *Śrāvaks* of Tungiya were rich and famous, surrounded by all luxuries. They knew the nine *tattvās* and never expected anything from anyone. They had unmoving faith in the words of *Jinas* and never knew fear of anything or anyone. They were well-versed in the scriptures. They were chaste, trustworthy and practised the *Silavratas*, *Guṇavratas* and *Aṇuvratas*.

According to the Śvetāmbaras tradition, the basic requirement to be a Jaina *Śrāvaka* is the renunciation of the seven *kuvyasans* viz gambling, meat eating, consuming alcohol, adultery, theft, hunting and visiting prostitutes. While according to Digambaras, *Śrāvaka* has to follow eight *mūla-guṇas* i.e., to refrain from taking meat, wine, honey and five kinds of ficus.[7]

The *MarganusariŚrāvaka– Guṇas*

The *MarganusariGuṇa* prescribed by the *ācāryas* serve as a guide book for the Jain laity. The basis of Jaina Business Ethics can be traced in these 35 rules. Before assuming *dharma*: A clear and fascinating guidance has been given in the Jain religion regarding the way in which an individual should live. Twenty one fundamental virtues should be there in the character of an individual whether it is for the welfare of the individual life, family life, social life, or business life. Life should be improved by righteousness. When we read the description of these virtues, werealise that the Jain religion has attemptedto reform and improve every facet of the life of an individual. Life becomes distorted even if one facet is not properly disciplined and directed. One should possess some of thefollowing.

This treatment of the duties of the ideal layman by a varying number of qualities characterising the person apt to receive the Jaina creed and fulfil its teaching enjoyed considerable popularity with the laterŚvetāmbaras as a means of exposition. A list of thirty-five such qualities or *Śrāvaka-guṇas* universally ascribed to Hemacandra came to be preferred to all others: it is that given in a kulaka of ten verses at the end of the first chapter of the *Yogaśāstra*. However, at least two centuries earlier an enumeration of twenty-one *Śrāvaka-guṇas* had figured in the *Dharma-Ratnaprakaraṇa* by ŚāntiSūri and may indeed belong to an earlier writer.

A list of the virtues which a layman ought to possess must have long been current; they are in fact to be found in the narrative literature wherever the excellence of a hero is described. The canonical texts contain enumerations of abstract qualities, good or bad, which perhaps Haribhadra who first in the *Dharma-Bindu*-[7a] attempted to lay down in a clear and precise fashion in *Sūtra* style the principles of conduct in everyday life which would if properly observed, make of a man a model *Śrāvaka*. In his famous *kulaka*, Hemacandra has versified Haribhadra's *Sūtras*– or at least those which he found most apt– adding to them almost by way of afterthought half-dozen epithets from the already current list of *Śānti Sūri*.

1. Possessed of honestly earned wealth (*nyāya-sampanna-vibhava*) : Haribhadra[8] lays down that a pious layman should exercise a profession which is beyond reaproach and in accordance with family tradition, with due regard for his own substance; for wealth acquired by honest means brings absence from anxiety in this world and leads to a better existence whilst wrongly acquired wealth has dire consequences like the hook that lodges in the fish's gullet. Rectitude is the sovereign specific for amassing wealth (*arthāpty-upaniṣad*) because it helps to eliminate evil *karma*; though fortune may in certain circumstances be amassed by dishonesty, it will only be transient.

For Hemacandra and Suri honestly earned wealth is money that has not been made by recourse to treason, betrayal of friends, breach of trust, theft, false witness, false weights and measures, or deceitful speech. One can enjoy it without apprehension in one's own person and give it to one's friends and kin. *Jinamaṇḍana* says roundly that honest poverty is better than ill-gotten riches, which, according to a popular saying, will last for ten years and then vanish entirely in the eleventh. The practice of this *guṇa* excludes the pursuit of the fifteen forbidden trades and gambling and alchemy and implies a high ethical code in business dealings, and generosity in almsgiving and charity to those in need.

We can find that as everybody knows the companies which filed instance in 1995 and

ran away with the funds of public deposits have no address after 2006. Businessmen should integrate their businesses with moral integrity which will lead them to earn wealth that in turn produces less or no negative effects on their personal life. Such wealth will flourish further and support them in their endeavours.The future generation to stand to benefit from the ethical practices upheld by their ancestors in their business field.

2. Eulogistic of the conduct of the virtuous (*śiṣṭācāra-praśaṃsaka*) : By *śiṣṭā* Hemacandra[11] understands 'men of outstanding qualities who have been schooled by intercourse with the virtuous and the learned'. The qualities to be admired in others are courtesy, gratitude, cheerfulness in misfortune, modesty in prosperity, faithful to tradition and care to avoid ill repute. The essence of this *guṇa* is not to be envious of others. Only when businessmen are courteous and modest, their businesses will gain good reputation.

3. Wedded to a person of the same traditions but not of the same gotra (*kula-śila-samaiḥsārddhamanya-gotra-jaiḥkṇto-dvāha*) : Hemacandra[12] understands by *śila* is a common observance of such interdictions as those on drinking wine or eating meat. *Jinamaṇḍana* also offers an alternative explanation : worship of the same devas and guru and performance of the same ceremonies. Municandra, the commentator of the *Dharma-Bindu* infers from indentity of caste and tradition that the parties to a marriage will have the same material situation, mode of dress, and language. If there are differences on these points, they will not be happy together, and there will be clashes between them. Where a wife, for example, belongs to a family much richer than that of her husband she will tend to be contemptuous of him. Hemacandra, Municandra, and *Jinamaṇḍana*[13] all find occasion to list here the eight forms of marriage recognised in the *Manu-smṛiti*, with the comment that even the four *adharmya* forms may be held to be *dharmya* when there is mutual affection between man and wife. According to Hemacandra, there are four ways of guarding women: having wives of good character like one's mother, not allowing them independence, assigning household tasks to them, and restricting their material possessions. If women are well guarded there will be a properly regulated home, *pūjā* and *dāna* will be rightly performed, and children will be well brought up. Businessmen who adopt this quality will lead a peaceful life at home; when personal life prospers, their business life improves.

4. Apprehensive of sin (*pāpa-bhiru*) : This epithet is common even in the oldest Jaina texts and corresponds to a fundamental concept of the religion. Haribhadra[14] understands by it the fear of committing offences whether overt or hidden. The former, according to Hemacandra[15] would mean adultery, theft, whoring, dicing, and similar disastrous acts and the latter meat-eating and wine-drinking and other such vices, all of which lead to reincarnation in hell. *Jinamaṇḍana*[16] associates with these occasions of stumbling the twenty-two *abhakṣy as* and thirty-two *ananta-kāyas*. This *guṇa* figures also in ŚāntiSūri's list. One who fears commiting offences will not commit bad or unethical business acts.

5. Following the reputable custom of the country (*prasiddhaṃ deśācāram samā-caran*) : Hemacandra understands by *deśācāra* the customs prevailing in a particular area regarding food, clothes, and other aspects of everyday life; if these were not observed unfortunate consequences might result from public hostility in the area. *Jina*maṇḍana[17] goes further : he holds that while pursuing the

dharmācāra, the path of religion, one should also fall in with the *lokācāra*, the general behavior. Since the secular life must of necessity be the basis for all who, living in the world, yet obey the precepts of religion, infractions of the *lokācāra* are to be avoided. For businessmen to flourish, they should get accustomed to the customs of the region.

6. Not denigrating other people, particularly rulers (*a-varṇa-vādīnakvāpīrājādiṣu viśeṣataḥ*) : Municandra explains that the word 'rulers' is intended to include ministers, court chaplains, and other officials. Hemacandra quotes a verse to show that *nīcair-gotrakarma* is incurred by expressing contempt for others and glorifying oneself. Overt denigration, always reprehensible, is dangerous when applied to the great ones of the earth as it may be resulting loss of life and possessions. Relating this *guṇa* to the *satya-vrata*,*Jinamaṇḍana*[18] sees in it a condemnation of envy, calumny, and false accusations. It would seem to correspond to the *sat-kathā of* ŚāntiSūri (in Asadhara *sad-gir*). A *sat-kathā* is defined as a story which glows with truth and narrates the life of a *Tīrthaṅkara* or saint. When businessmen criticise rulers in the region in unfair manner, it leads to devastating effects.

7. Dwelling in a place which is not too exposed and not too enclosed, with good neighbours, and exits (*anativyakte gupte sthāne su-prātiveśmike aneka-nirgama-dvāra-vivarjita-niketana*) : Haribhadra lays down that a house should be built in a suitable spot, an unsuitable site where the houses are too close together or too isolated or where there are undesirable neighbours is not a proper dwelling place. The construction of the house should be determined by favourable elements, and it should not have many exits. If there were many doors, ill-disposed people would be able to go in or out unobserved, so jeopardising the security of goods and chattels and womenfolk. In other words, a householder's home should be well guarded. There should be durva and kuśa grass, untainted soil, and a supply of fresh water on the site chosen. In too exposed a position it would be easy for thieves to burgle, while in too enclosed a position air and light could not reach and in the event of a fire, one cannot escape. If the neighbours were undesirable, such as gamblers, actors, or prostitutes, one's household would be corrupted by listening to their conversations and seeing their actions. If businessmen live in a proper and safe houses with happy neighbours, it tends to create positive energy which further supports business life.

8. Attached to good moral standards (*sad-ācāraiḥkṛta-sanga*) : This *guṇa* appears to imply no more than the avoidance of evil company. In Asadhara's list, it appears as *ārya-samiti*. Businessmen with evil company might move in directions that are unethical and not legal; hence they should follow good standards.

9. Honouring father and mother (*mātā-pitroḥ pūjaka*) : Nothing that the word 'mother' is placed first in the compound because of the very great respect to which she is entitled, Hemacandra explains that respect is to be shown to them by making obeisance at dawn, noon, and dusk, by offering them a *pūjā* of flowers and fruit of the finest colour and perfume, by giving them the best of food, clothes, other material needs and by seeking their consent for all affairs of importance in life. *Jinamaṇḍana*[19] extends the concept 'parents' to include all persons who by their age or position merit reverence. Asadhara uses the designation yajan*guṇa-gurūn* for this *guṇa*. One who honours his father and mother will gain supremacy at business due to his worthiness as an individual.

10. Eschewing a place of calamity (*upaplutaṃ sthānaṃ tyajan*) : Hemacandra explains that in a place of calamity, in other words a town or village where famine or disease are endemic, or where there is war between one's own sovereign and a foreign ruler, the attainment of the tri-varga is impossible; in fact the fund of *karma*, *artha*, and *dharma* already acquired would be soon dissipated. As an *upapluta-sthāna Jinamaṇḍana* cites also a country where there are two rulers or no ruler or where government is carried on in the name of a woman or a child. Performing businesses in such locations and situations will leave businessmen fundless.

11. Not engaging in a reprehensible occupation (*garhite'pravṛtta*) : Hemacandra explains that a practice may be deemed especially reprehensible in one country, such as agriculture in Sauvira, or drinking alcohol in Lāta, or among one caste, such as the consumption of wine or the sale of sesamum or salt by Brahmins, or in one family, such as drinking alcohol in the *Caulūkya* family. *Jinamaṇḍana*[20] states with more precision that caste, country, and family tradition and the age in which one lives are the criteria by which an occupation is to be judged. If, for example, a known Jaina were to take food by night he would make a mockery of his religion. Businessmen should hence not indulge in such occupation.

12. Spending in proportion to one's income (*vyayaṃ āyocitam kurvan*): Spending, says Hemacandra[21] means the apportioning of one's substance for the maintenance of one's dependents, for one's own comfort and almsgiving, *Deva-pūjā* and other purposes, and income means what one earns by trading, tilling the soil, or rearing livestock. *Jinamaṇḍana*[22] goes so far as to fix proportions for this division : a man of limited means should divide his income into four shares : one to form a reserve capital, one to be put back into his business, one to be spent for religious purposes and his own luxuries, and one to be used to provide for his dependents. A rich man, however, could well set aside more than half his income for the *dharma* and lead a life of frugality on earth. In any event, the layman's duty is fulfilled by wise spending since miserliness merely results in the accumulation of wealth to the detriment of one's dependants and one's own self. As Hemacandra points out, if a man is unwilling to spend enough to maintain him in good health he may be incapacitated by sickness from conducting his affairs. Businessmen to some extent spend considerably to be in good health.

13. Dressing in accordance with one's income (*veṣaṃ vittānusārataḥ kurvan*) : Hemacandra explains that the scope here is in fact rather wider than the appellation suggests. If a man does not wear clothes and ornaments suitable to his income, age, social condition, country, and caste, he is liable to become a laughing-stock. This *guṇa* is closely linked with the preceding one, as a man who out of miserliness will not spend his money will also dress in Rāgs, and so, failing to obtain the esteem of his fellow citizens, will be no credit to the Jaina creed. *Jinamaṇḍana* adds that people should not wear torn or soiled clothes; for going to the temple they should choose their best apparel whilst avoiding all ostentation. Businessmen should dress based on their income.

14. Endowed with the eight kinds of intelligence (*aṣṭabhirdhī-guṇairyukta*) : These are generally in Jaina works enumerated as follows :

1) desire to listen (*śuśrūṣā*);
2) listening (*śravaṇa*);
3) grasping (*grahaṇa*);
4) memorizing (*dhāraṇā*);

5) general knowledge (*ūha*);

6) specialized knowledge (*apoha*);

7) knowledge of the substance (*artha-vijñāna*)

8) knowledge of the essence (*tattva-vijñāna*)

To this *guṇa* corresponds presumably the *prajñā* of Asadhara.

15. Listening every day to the sacred doctrine (*dharmamanvahaṃśṛṇvāna*) : Weariness of spirit is removed, says Hemacandra,[23] by listening every day to the sacred doctrine. It is because of its importance to, the religious life that mere listening (*sravaṇa*) is classed as one of the *dhī-guṇas*. One should list an every day to the sacred doctrines.

16. Not eating on a full stomach (*ajīrṇe bhojana-tyāgin*) : All diseases, according to Hemacandra, have their origin in an accumulation of undigested matter in the intestines resulting from eating on a full stomach. This habit is therefore to be avoided in order to maintain the body in health and fitness for the duties of the religious life.

17. Eating at the right time according to a dietary regime (*kāle bhoktāsātmyataḥ*) : Food is to be eaten when one is hungry - in moderation and without gluttony - for an excess of food only provokes vomiting and diarrhea. On the other hand to go without food when one is hungry only results in lassitude and aversion to nourishment. The food and drink consumed should be those to which one's organism is accustomed since childhood and the view should never be taken that a healthy man can digest anything. Gluttony is senseless since the pleasure of taste is only momentary and all food is the same in flavour once it has passed down the throat[24]. The right time for eating is neither the night, the early morning, nor the late evening. A pious man should first ensure that his dependants, servants, and livestock have been fed and then dine himself according to the resources of his kitchen.

18. Fulfilling the threefold aim of life without excluding any of its elements (*anyonya-pratibandhenatrivargaṃ sādhayan*) : Hemacandra[25] comments at considerable length on the *trivarga* without which life is no more real than that of the smelter's bellows which breathes but does not live. To live only for the pleasures of the senses to the exclusion of *artha* and *dharma* or to live only for money to the exclusion of *kāma* and *dharma* lead to endless misfortunes whilst the practice of *dharma* to the complete neglect of *artha* and *kāma* devoid of *dharma* lead to great miseries in the cycle of transmigration, *dharma* and *kāma* without *artha* result in a heavy burden of debt, and *dharma* and *artha* without *kāma* are tantamount to a rejection of the layman's estate.

19. Deligent in succouring the ascetics, the righteous, and the needy (*yathāvadatithausādhaudīne ca pratipatti-kṛt*) : This implies the offering with due courtesy of food and drink and other gifts in almsgiving to monks (*pātra-dāna*) and in charity to those in afflictions (*Karuṇā-dāna*).

20. Always devoid of evil motives (*sadānabhiniviṣṭa*): As abhinivesa is characteristic only of the mean-minded and its absence is one of the five *guṇas* of the third *bhāva-śrāvaka*. A businessman ought to be devoid of evil motives. This is an important aspect of Jaina Business Ethics. The motive is more important than the deed. It is the motive that is termed as drishti.

21. Favourably inclined to virtues (*guṇeṣupakṣa-pātin*) : By *guṇa* here Hemacandra understands benevolence, generosity, readiness to help, patience, and the habit of using courteous and friendly language as well as acts of kindness, as the seed of

religious merit is thereby nurtured into growth. This entry on Hemacandra's list has clearly been borrowed from the *guṇa-rāgin* of ŚāntiSūri[26].

22. Avoiding action which is inappropriate to time and place (*adheśākālayoś-caryāṃ tyajan*) : Hemacandra[27] explains that anyone who engages in an action at a forbidden time or place will certainly be the victim of some calamity from kings, thieves, or others. One should be avoiding action which are inappropriate to time and place.

23. Aware of one's own strength and weakness (*balābalaṃ jānan*) : No undertaking can succeed unless one knows the strength and weakness both of oneself and of others as far as these depend on time and place and circumstances. Like the preceding *guṇa* this belongs to the realm of *nīti*.

24. Venerating persons of high morality and discernment (*vṛtta-stha-jñāna-vṛddhānāṃpūjaka) : According to Hemacandra*vṛddha* is here to be understood in the sense of old, not in years, but in the faculty of discerning between what should be avoided and what should be approved and in the practice of virtue. Respect expressed by making the *añjali*, rising and offering a seat should be accorded them because they abound in good counsel. The same *guṇa* figures in ŚāntiSūri's list as *vṛdhānuga*[28].

25. Supporting one's dependants (*poṣya-poṣaka*) : Municandra explains that the dependants include father and mother, wife and children, and, when the head of the household is rich, any childless sister or aged relative and any friend who has fallen into poverty can be supported. It is clear that Haribhadra was here thinking also of servants and retainers for in succeeding *Sūtras*[29] he prescribes that a servant should be given suitable work, carefully supervised in his occupations, and protected from misfortune; if he has to be admonished, care should be had for his self-respect. *Jina*maṇḍana elaborates a fourfold division of *poṣya*: relatives, divinities, preceptors, and oneself; the relatives must be maintained because otherwise they might be reduced to thieving or vagabondage, thereby bringing discredit on the family. A businessman ought to have mastered the art of relationship management besides managing other divisions in his business establishment.

26. Far-sighted (*dīrgha-darśin*): Taking a step after thinking of the consequences of one's action. The activities of a far-sighted man are described as leading to much profit with little effort, and are widely lauded. This *guṇa* belongs also to ŚāntiSūri[30]. The activities of a far-sighted man are described as leading to much profit with little effort and are widely lauded. One undertakes actions which result in good, not harm.

27. Discriminating (*viśeṣa-jña*): This for Hemacandra[31,] means knowing the difference between what belongs to others and what belongs to oneself, between what is to be done and what is not to be done: a man without discrimination would be indistinguishable from an animal. With this *guṇa*, says ŚāntiSūri, a man is exempt from the prejudices that stem from love and hate.

28. Grateful (*kṛta-jña*) : ŚāntiSūri, too, gives this *guṇa*; he insists particularly on gratitude to the preceptor for the supreme benefit of the sacred doctrine. *Jina*maṇḍana 145 classifies all `human beings into those very many who are devoid of gratitude (*kṛta-jña*), those, still numerous, who are grateful for kindness received (*kṛta-jña*), those few who are ready to do a favour in return for a favour (*pratyupakāraka*), and those very few who are ready to do a kindness (*niṣkāraṇopakāraka*) with out receiving

anything in return.

29. Well-liked (*loka-vallabha*) : For Hemacandra this means a man who is well-liked by respectable people : if his character and behavior do not make him popular he may arouse antipathies which will prevent others from finding the path to enlightenment. ŚāntiSūri holds that he should be conspicuous for almsgiving and virtuous conduct and should avoid everything that is contrary to this world or to the next.

30. Actuated by a sense of shame (*sa-lajja*): This *guṇa* again belongs also to ŚāntiSūri. It implies that a man's sense of shame forbids him to commit sinful acts: he will abide by the *dharma* cost what it may. A businessman ought to be careful in taking only those businesses and projects which will not lead to any kind of shame later on.

31. Compassionate (*sa-daya*): This *guṇa* states that a human being ought to be compassionate if he desires to evolve spirituality.

32. Gentle in disposition (*saumya*) : This evidently implies that because of his gentle disposition a man may be easily propitiated whilst a man of a different disposition will alienate friends and relations. Because of his gentleness, too, he will eschew cruel occupations. ŚāntiSūri gives this *guṇa* as *prakṛti-saumya*.

33. Ready to render service to others (*paropakṛti-karmaṭha*): A businessman should be ready to serve people at all times.

34. Intent on avoiding the six adversaries of the soul (*antaraṅgāri-ṣaḍ-varga-parihāra-parāyaṇa*) : The six enemies are lust (*kāma*), anger (*krodha*), greed (*lobha*), pride (*māna*), vainglory (*mada*), and malicious pleasure (*harṣa*)[32]. Pride means the rejection of salutary advice through arrogance, particularly the refusal to hear the sacred doctrine; vainglory implies pride in one's own family, or personal beauty, or strength, or knowledge; and malicious pleasure lies in causing unnecessary pain to others or in addition to such vices as hunting.

35. Victorious over the organs of sense (*vaśī-kṛte-ndriya-grāma*): Victory over the senses is described as nobler than victory in battle.

When we look at the Jaina householder from the point of view of the virtue of limited attachment to worldly possessions, some of the Jaina qualities and business and trade ethics have no parallels in other business quarters. It is interesting to note that some of these qualities, like *nyāya-sampanna-vibhava* (possessed of honestly earned wealth), *pāpa-bhīru* (apprehensive of sin), *sadacaraihkrita-sanga* (attached to good moral standards), *vyayam-āyocitaṃkurvan* (spending after properly thinking) etc., are laid down as the constituent qualities of an illustrious householder,[33] which must have influenced these merchants all along centuries. The ministers and treasurers in the various kingdoms in the medieval period were Jains because they were trust worthy, honest, spiritual, nonviolent and compassion, were the extraordinary virtues that made their conduct Sreshta and so they were called as Sreshthis/ Sethji.

More over the lay doctrine, besides the virtue of *Parigraha- parimāṇa-* limited attachment to possessions, has also kept a fair amount of check on the layman's acquisitive infatuation through the virtue of *dāna*-gift or charity;[34] and the virtue of charity, as obtaining even today among the members of the Jaina community, needs no further elucidation. We may point out that through centuries the Jain *ācāryas* have been almost and often imperative on the practice of charity by the laity. In this world, if anybody without *dāna*could be called a *gṛhastha*-householder,

then even a bird can be called so, for it too has a house a nest to live in. Jainism thus encourages and cultivates one's personal wisdom, self-reliance and self-control through 35*guṇas*whichprovidesthepath for attaining liberation from the cycle of birth and death and also provides social, ecological, business and economic justice.

MBA., M. Phil., Hons. P.hD.Department of Jainology.
University of Madras.
29/3,Ranganathan Avenue, kilpauk. Chennai-10
(Tamilnadu)

1. Vastupal Parekh, *Jainism and the New Spirituality* (U.S. : Peace Publication, 2002) p.157
2. Jadunath Sinha, *Indian Philosophy (Vol : 2),* 3rd Ed. (New Delhi : Motilal Banarsidass Publishers Private Limited, 2006). p 132
3. Svati Uma, *Tattvartha Sutra.*
4. R. Williams, *Jaina Yoga : A Survey of the medieval Sravakacars (Used)* (New Delhi : Motilal Banarsidass, 1998). p. 12
5. Ibid. p. 16-17
6. Ibid. p. 18
7. Ibid. p. 18, p.1-31
8. Hemacandra and Vijaya Dharma Suri, "The Yogaśāstra, with the Commentary Called Sovpajnavivarana," in *Bibliotheca Indica, v. 172* (Calcutta : Asiatic Society, 1907). p.1 45
9. Ibid. p. 145
10. *G. Jināmaṇḍana Sraddha Guṇa Vivarana* (Bomday : Nirnaya Sagara Press, 1970). p. 7a
11. Hemacandra and Suri, "The Yogaśāstra, with the Commentary Called Svopajnvivarana". p. 145
12. Ibid p. 145
13. *Jināmaṇḍana Sraddha Guṇa Vivarana.* op.cit., p. 7a
14. Haribhadra : *Dharmabindu* edited with translation by L.Suali in GSA I XXI 1908 P. i7
15. Hemacandra and Suri, "The Yogaśāstra, with the Commentary Called Svopajnvivarana". p. 145
16. *Jināmaṇḍana Sraddha Guṇa Vivarana.* op.cit., p. 7a
17. Ibid. p. 7a
18. Ibid. p. 7a
19. Ibid. p. 7a
20. Ibid. p. 7a
21. Hemacandra and Suri, "The Yogaśāstra, with the Commentary Called Svopajnvivarana". p. 146
22. *Jināmaṇḍana Sraddha Guṇa Vivarana.* op.cit., p. 7a
23. Hemacandra and Suri, "The Yogaśāstra, with the Commentary Called Svopajnvivarana". p. 145
24. Ibid. p. 145
25. Ibid. p. 145
26. Ibid. p. 145
27. Ibid. p. 145
28. Ibid. p. 145
29. Ibid. p. 145
30. Ibid. p. 146
31. Ibid. p. 145
32. Ibid. p. 145
33. Dr. V. A. Sangave, All lndia Conference of Prakrit and Jaina Studies, Varanasi, Jan. 1988.
34. Olle Qvarnstrom, ""The Yogaśāstra of Hemacandra : A Twelfth Century Handbook on Svetambara Jainism," in *Harvard Oriental Series 60,* trans. Olle Qvarnstrom (London : Harvard University Department of South Asian, 2002). p. 56) see also Pt. Kailas Chandra Shastri, Jaina *harma* Chaurasi Mathura, 1985, p. 192.

प्रवचनांश

संस्कार के बिना साक्षरता सुखद नहीं

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.

आज साक्षरता की ही नहीं, संस्कारों की भी जरूरत है। शिक्षा का काम निर्दोष है, फिर धार्मिक शिक्षण तो और अधिक निर्दोष है, होनी चाहिए अध्यवसायों की निर्मलता। जिनको ज्ञान दिया जा रहा है उनमें विनय-विवेक के साथ, धर्म के संस्कार जीवन में उतर सकते हैं। हम बार-बार प्रेरणा करते हैं, हमें प्रेरणा नहीं करना पड़े, इसलिए आप स्वयं चिन्तन करें।

आप नोट कर लें-'संस्कार नहीं तो साक्षरता सुख देने वाली नहीं रहेगी।' आप चाहे माता-पिता हैं या दादा-दादी, चार-चार सुपुत्रों की सम्पन्नता है फिर भी देखते हैं पानी पिलाने वाला कोई नहीं है। मतलब क्या? साक्षरता है, पर श्रद्धा, सेवा और विनय नहीं तो वह साक्षरता किस काम की? शिक्षा से जीवन में सरसता आनी चाहिए। जीवन में शिक्षा के साथ संस्कार जरूरी हैं, आप उस पर विचार करें। धार्मिक शिक्षा के लिए हम कहते-कहते थक जायें, परन्तु आपका कितना प्रयास चलता है? जरा सोचें।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 252
ISSN 2249-2011

Vows in Jainism : Importance and Application

Prof. Jagat Ram Bhattacharyya

The English word 'vow' holds many implications in different contexts and languages. In the context of Jain ethics, the word 'vow' is mainly used in the meaning of the word 'vrata'. The word 'vrata', simply turns into '(v)vaya' in Prakrit. Right conduct is one of the fundamental components of the Three Jewels, such as, right world-view, right knowledge and right conduct (*samyak darśana-jñāna-cāritrāṇi mokṣamārgaḥ* - Tattvārthasūtra 1.1). Although the ethical doctrines in Jainism mainly stand on the right conduct, but the right world-view and right knowledge are directly or indirectly based on it. And here is the act of vow which is closely connected with the right conduct.

Indian cultural tradition is interwined with its Philosophy, Religion, society and social customs and so on. And above all spirituality stands as the nucleus that inherently flow within the facets of Indian culture. The teaching of life itself manifests through culture. The ethical doctrines of different schools of Indian philosophy advocate purification of the self in different ways. Primary mode of teaching is to 'inquire the self'. A self-restraint one is able to do that. Self-restraint or continence comes through the practice of austerity and penance. And here is the importance of vows. An avowed person through will-power can achieve the goal. In practical life vows build a better personality that leads to an ideal and successful life. A vigilant one can enjoy the life in its true sense. This is called *bhāvakriyā* or ever alertness. The Bhagavad-gītā also teaches *yogaḥ karmasu kauśalam* (2.50), alertness is the means of accomplishment.

The main focal point of Jainism is the final liberation of the soul. It happens through the removal of karma particle from the soul. The state of liberated soul is endowed with infinite knowledge and infinite bliss or it may be said that the soul remains in its own. According to the view point of *niścaya-naya* and *vyavahāra-naya* the status of the soul is counted in different ways. So the soul is depicted as *bahirātmā* (soul engaged with worldly affairs), *antarātmā* (the inner soul) and *paramātmā* (the supreme soul). In the treatises based on Jaina Yoga and Ethical doctrines, the types and qualities of the soul are defined in many ways.

The ethical doctrines of Jainism in terms of vows are mainly classified with two forms. The code of conduct prescribed for the ascetics and the code of conduct for the lay-devotees. The code of conduct of the ascetics is based on the five great vows *(mahāvratas)* and vows meant for the lay-devotees, the house-holders is called small vows *(aṇuvratas)* and it is of 12 kinds. Tattvārthasūtra says – *aṇuvrato'gārī* (7.15). To maintain the life in a proper way that ultimately leads to the path of liberation is laid on the principle of self-restraint. Jainism advocates that the aim of the soul is to get liberated. The soul is solely responsible for its elevation or relegation in spiritual status. Everybody should exert for the purification of individual soul. With the doctrine of individual soul, Jainism at the very primary level teaches *(appā kattā vikattā ya, duhāṇa ya suhāṇa ya ...)*. It means the individual soul is the doer and the

enjoyer or sufferer for its own act.

Bhagavān Mahāvīra taught Gautama, the chief disciple, *'khaṇaṃ jāṇāhi Goyamā'!* O Gautama, experience the present moment, that means to be alert in every moment. He teaches through Gautama that human being always should be alert in his present moment, and neither with the memory of the past nor with the imagination of the future. Because, a meaningful present moment can make the past and future a meaningful moment in future times.

The five great vows prescribed for the ascetics are meant to be the cause to make free the soul from the fetters of karma particle. An avowed ascetic is always on the path of such arduous practices. Jainism is said to be based on the *samatā* and *vītarāgatā.* Fundamentals of Jainism are also based on the ethics. To follow the ethical doctrines it is strongly recommended to perform the vows as prescribed in the scriptures. In the *Āvaśyakasūtras* of both *Śvetāmbara* and Digamabara prescribe the essential duties of an ascetic. In the *Śramaṇa Āvaśyaka niry*ukti from the *Mūlācāra* of *Vaṭṭakera* we have the six essential duties of an ascetic in the name of *ṣaḍāvaśyaka* is as—

sāmāiya caüvisattha vaṃdaṇayaṃ paḍikkamaṇaṃ|
paccakkhāṇaṃ ca tahā kāussaggo havadi chaṭṭho||

—*sāmāyika* (right conduct abandoning all sinful acts), caturvi*ṃśati-stava* (glorification of twenty four Tīrthaṅkaras), *vandanā* (salutation), *pratikramaṇa* (self introspection), *pratyākhyāna* (abstention from sinful act) and *kāyotsarga* (detachment from body) are the components of six (essential cunducts of an ascetic).

Mostly the Jain scriptures of both the sects teach the path of purification of mind, speech and body directly or indirectly. The three yogas, such as, the mind, speech and body and three *karaṇas* are important to be free from any sinful act. The mind, speech and body are the known to be yoga or means; and doing oneself, inspire others to do and approve others' acts are known as *karaṇas.* So an aspirant of liberation should always be free from the *yogas* and *karaṇas.* The karma, be it meritorious or evil, the association with the soul means bondage. So in terms of bondage the soul ought to be free from either of these two. So the five great vows are strictly dependent on the activities of mind, speech and body with three *karaṇas.* As Jainism does not approve any doer to free others from worldly knot, the individual soul exert to be free from the bondage. The vow for shedding off of karma from the soul is the prime object of individual *Jīva.*

The *Ācārāṅgasūtra*, the very first canonical text of the Śvetāmbara sect, prescribes non-violence in a very subtle way. That has been echoed in the *Daśavaikālika-sūtra* and other primary sources of Jain texts. The application of non-violence in its absolute form should be performed with the six classifications of the *Jīvas.* The unique concept of Jain Philosophy is that it advocates the earth, the water, the air, the fire along with the vegetation and mobile creatures, such as, humans and other creatures, are the sentient beings. So violence with the *Jīvas,* be it one sensed or more in any nature is violence. The canons teach us the violent act and its effects are 'to be known and not to be performed' – *'jāṇiyavvā, ṇa samāyariyavvā'.* So, this is a warning to the seeker of liberation. And, accordingly, the avowed worshiper of the soul succeeds in the path of spirituality. *Ācārāṅga-sūtra* says that a mixture of clays with different colour also causes violence, mixing of water from different sources also causes violence. So it is described as *svakāya-śastra*, homogeneous weapon. Touching and mixing

of different sentient beings also draws the violence and it is said *parakāya-śastra*, heterogenous weapon. It goes without saying that hitting, beating and piercing etc the body of a sentient being, violence occurs in its visible form. In the same way thinking about that or speaking on that, also attract violence. In fact, the manifested violence has the source in mind. Apart from non-violence, the other four vows, such as, truth, non-stealing, celibacy (with self-restraint) and non-possession are also performed in right sense by an ascetic. In the *Yogaśāstra* of Hemacandra the quality of an ascetic being a master is described thus —

mahāvratadharā dhīrā bhaikṣamātropajīvinaḥ|
sāmāyikasthā dharmopadeśakā guravo matāḥ||2.8 Yogaśāstra.

One who observes the five major vows such as, non-violence, truth, non-stealing, celibacy with self-control and non-attachment; one who patiently bears all the afflictions; one who is always able to maintain equinimity ; and one who preaches the true Dharma may be called the right Guru (ascetic).

Everywhere the main strength is the vow by which an ascetic strengthens his/her will power to perform spiritual practices. In the *Yoga-darśana* of Patañjali we come across the term yama as one of the eight limbs of Yoga. The prerequisite of an aspirant of spiritual progression is to maintain yama, the self-restraint. Interestingly the five great vows and the five *yamas* are same in terms of orthography and its partial nature. In Jainism, the way of attaining highest spiritual stage is depended on the observance of five great vows in an absolute form. This is the purest form of an ascetic aspiring emancipation. In the field of yoga, yama is considered to be the essential quality of a practioner. It is not thought to be as weighty as prescribed in the great vows. In yoga the five *yamas* and five *niyamas* act as the tools of the emotional purification through observance of vows. The effect of the purification can help a practioner to boost up the performance of external and internal yoga. However, vows play a great role in performing the ascetism in Jainism including the yoga in general.

A Tīrthaṅkara establishes four *tīrthas* (herds) in which the lay-men and lay-women are given equal importance with that of the monks and nuns. The lay devotees (men and women) are also prescribed code of conducts for their spiritual practices.

samyaktvamūlāni pañcāṇuvratāni guṇāstrayaḥ|
śikṣāpadāni catvāri vratāni gṛhamedhinām ||2.1 Yogaśāstra

A householder observes twelve vows, five minor vows, three qualifying vows and four disciplinary vows, with right faith.

The five great vows are kept in a lenient mode in the life of a lay devotee. And moreover seven vows, four *śikṣāvratas* (disciplinary vows) and three *guṇavratas* (qualifying vows) are observed by an ardent lay-devotee. Here it is interesting to note that a devotee acknowledge the vow to refrain himself from committing a gross violence. It is not mentioned that non-violence would be observed in a lenient way. In one of the stories of a lay-devotee *Ānanda,* it is said — *"tae ṇāṃ se āṇaṃde gāhāvaī samaṇassa bhagavao mahāvīrassa aṃtie tappaḍhamayāe thūlayaṃ pāṇāivāyaṃ paccakkhāi jāvajjīvāe duvihaṃ tiviheṇaṃ — ṇa karemi, ṇa kāravemi, maṇasā vayasā kāyasā"*. Here the devotee takes the vow that he would not commit a gross violence with three *yogas* and by three *karaṇas* in whole life. The words *manasā* and *vayasā* correspond to the rule of Sanskrit and Prakrit grammar. But the form *kāyasā* is applied as an analogy of *maṇasā* and *vayasā*. Linguistically the application of analogy is accepted in the

category of phonological behaviour. The instrumental form of the word *kāya* should be *kāyeṇa* in Prakrit and not *kāyasā*. In the same way, the devotee abstains himself in speaking lie in a gross sense with three *karaṇas* and three *yogas*. The devotee follows the same in case of non-stealing in a gross manner. In case of *brahmacarya*, the celibacy (with self-restrain), a house-holder has the limitation. Jainism has given a solution in maintaining celibacy in a gross form for the lay devotee. The vow for maintaining celibacy in household life is called *sadārasantosīa (Skt. svadāra-santoṣīka)*. Literary it means that a person should be satisfied with his only wife. This is an excellent contribution of Jainism to the society. It inhibits the custom of polygamy and makes the conjugal life happy. It's a wonder that in ancient period when polygamy was customary, even in that period the household happiness was well taken care of. A happy and pure conjugal life can inculcate purity in offsprings that can make an ideal family and society. In the parallel assignment of the non-possession for the lay-devotee is limitation of desire. So a person must limit his desire and act accordingly in his practical life. An example from the *Uvāsagadasā* can be cited that Ānanda, an ardent disciple of Bhagavān Mahāvīra takes an oath in the course of his devoted life that he will hold the property in a limited manner. So he limited the property of houdehold and his business. The story ultimately ends with his renunciation of all what he possessed. So an avowed laity, while limiting his desire, restricts the number of quadrupeds. *Ānanda* restricted the number of cows in ten thousand, restricted the land for house and fields, and limited the number of carts and vehicles. He restricted the number of commodities for his physical enjoyments. He controled over his diet and took limited varieties of food and beverages. He also renounced four kinds of irresolute actions of mind, speech and body, such as, *avajjhāṇācarita* (performing evil kind of meditation), *pamāyācarita* (laziness), *hiṃsappayāṇa* (using means that causes injury) and *pāvakammovadesa* (an evil counsel).

In case of transgression of vows, a laity should always be vigilant in his deeds. The canons advocate that five kinds of major violations in respect of *samyaktva* (rightuousness) should be avoided by the lay-devotee. These are *saṃkā* (doubt), *kaṃkhā* (desire), *vitigicchā* (hesitation), *parapā-saṃḍa-pasaṃsā* (admiration for the adherents of other creeds) and *parapāsaṃḍa-saṃthava* (friendship with the followers of other creeds).

Like wise a lay-devotee should know five types of transgressions in terms of retention from violent acts in a gross manner, but these are to be avoided to perform, such as, *baṃdha* (fetter), *vadha* (slaying), *chaviccheda* (punishment by mutilation of limbs), *atibhāra* (excessive burden) and *bhattapāṇa voccheda* (prohibition of food and water). In the same way, refraining from telling lie in a gross sense, a lay-devotee should know five types of transgressions but should not act upon, such as, *sahasābbhakkhāṇa* (speaking thought-lessly), *rahassabbhākkhāṇa* (revealing a secret), *sadāramaṃtabhea* (exposing the secret of one's own wife), *mosovaesa* (a false advice) and *kuḍalehakaraṇa* (false signature): transgression in terms of abstinence from the stealing in gross sense. The canon prescribes five points in this regard. In the same way, there are five sinful acts that to be known by a lay-devotee in gross sense and and not to be acted upon in terms of satisfying with one's own wife, such as, *ittariya-pariggahiyā-gamaṇa* (kept a woman for short time, a harlot), *apariggahiyā-gamaṇa* (adultery with a unmarried woman or widow), *anaṅga-kiḍḍā* (amorous sports), *paravīvāha-karaṇa* (arranging marriage of others), and

kāmabhoga-tīvvābhilāsa (excessive desire of sensual pleasures). A lay-devotee should always be avowed with his limitation of desires. This is in terms of his money, land, servents and domestic animals. A devotee takes vow to limit his movement in certain areas of all directions. He limits his diet fullly inanimated and fit for an ascetic with limited items.

Through the vow of a lay-devotee, Jainism teaches us to preserve the eco-system and make this earth to be congenial to all creatures. It advocates *"parasparograho jīvānām"* – interdependency in living beings. A devotee should be careful in inhibiting fifteen types of *karmans* that directly response to violent actions. It prohibits a devotee to do *aṅgāra karma* (coal business), making coal and use coal in other works. In the commentary of *Upāsakadaśāṅga-sūtra* it is discussed minutely *(aṅgārakaraṇa-pūrvaka ratadviktayaḥ, evaṃ yadanyapi vahni-samārambhapūrvakaṃ jīvanam-iṣṭakā-bhāṇḍakādi-pākarūpaṃ tadaṃgāra karmeti – p.43)*. It prohibits *vanakarma*. It means the wood business. In the same way, *sāḍī-kamma* (cart making business or cloth business), *bhāḍīkamma* (a work done on hire by beasts of burden), *phoḍī-kamma* (the act of digging ground), *danta-vāṇijja* (ivory trading), *lakkha-vāṇijja* (trading in lac), *rasa-vāṇijja* (wine-traffic), *visa-vāṇijja* (dealing in poison), *kesa-vāṇijja* (dealing in the animals having fur), *davaggidāvaṇa* (setting fire to a mountain), *sara-daha-talāga-pariṣosaṇa* (drying up the ponds, lakes and pools) and so on and so forth are prohibited to a lay-devotee.

We have the details of the explanations of these prohibited karmans in the commentaries of *Upāsakadaśā*, the *Yogaśāstra* of Hemacandra, *Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra* and so on. Jainism teaches the *anartha-daṇḍa-viramaṇa*. In the scriptures the term *'daṇḍa'* implies for the technical meaning of the coalescence of mind. speech and body. And use of those without purpose is said to be the *'anartha-daṇḍa'*. A votary should always be in the mode of abstinence from irresolute actions. Being a householder one cannot be completely free from violence. So there is the prescription of small vows that a votary can observe in his life and make it ideal.

Books Consulted

1. Ācārāṅga-Bhāṣyam.1994. Commentator Ācārya Mahaprajña. Translator Muni Dulharaj, Jain Vishva Bharati Institute (deemed University), Ladnun.
2. Aspects of Jaina Monasticism. 1981. Nathmal Tatia and Muni Mahendra Kumar. Today & Tomorrow Printers and Publishers. Delhi.
3. Āvaśyaka-niryukti. Vol.2. 2017. Edited and Translated by Samaṇī Kusumprajñā, Jain Vishva Bharati, Ladnun.
4. Daśavaikālika-sūtra. 2001. Translated into Bengali by Jagat Ram Bhattacharyya. Jain Bhawan, P25, Kalakar Street, Kolkata- 700 007.
5. Jaina Studies.2008. Edited by Colette Caillat and Nalini Balbir, Papers of the 12th World Sanskrit Conference. Motilal Banarasidass. Delhi. ISBN 978-81-298-3247-3.
6. Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra of Ācārya Samantabhadra.2016. Translated by Vijay K. Jain, Vikalp Printers. Dehradun. ISBN. 81-903639-9-9.
7. Śramaṇa Āvaśyaka niryukti from Mūlācāra of Vaṭṭakera. 2009. Edited by Phoolchand Jain and Anekant Kumar Jain. Jina Foundation. Delhi. ISBN 978-81909686-8-7.
8. Śrāvakācāra of Vasunandī. 2011. Edited with English translation and critical notes by Signe Kirde. Lahnstein, Rowela.
9. That Which Is (Tattvārthasūtra of Umāsvātī). 1994. Edited and Translated into English by Nathmal Tatia, The Institute of Jainology, HarperCollins Publishers, New York. ISBN 0-06-068985-4.
10. Uvāsagadasāo.2003. Annotator, narrator Ācārya Ātmārāmjī Mahārāj. Edited by Ācārya Shiv Muni. Atma-Gyan-Shiv Prakāshan Samiti. Ludhiana.
11. Yogaśastra of Hemacandra.1989. Editted by Surendra Bothra. Translated by A.S. Gopani. Jointly Published by Prakrit Bharati Academy, Jaipur and Shri Jain Swetamber Nakoda Parshwanath Teerth, Mevanagar.

-Professor, Department of Sanskrit, Pali & Prakrit, Bhasa-Bhavana, Visva-Bharati University, Shantiniketan.

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 257
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली और तनाव प्रबन्धन*

डॉ. तृप्ति जैन

वर्तमान वैश्विक जीवन और तनाव

विश्व की प्रमुख समस्याओं में एक समस्या मानव समाज की तनावग्रस्तता है। आज विश्व में न केवल अभावग्रस्त देश ही तनाव से पीड़ित है, अपितु जो विकसित देश हैं, वे उनसे भी अधिक तनावग्रस्त हैं। वर्तमान युग को हम वैज्ञानिक युग कहते हैं, किन्तु सत्य तो यह है कि यह युग वैज्ञानिक युग कम और तनाव युग ज्यादा है। इसका कारण क्या है? कारणों का विश्लेषण किया जाए तो मूल में भौतिक जीवन शैली इसका मुख्य कारण प्रतीत होती है। आज व्यक्ति मात्र भौतिक संसाधनों की दौड में उलझ कर रह गया है। भौतिक संसाधनों के अभाव में स्वयं को तनावग्रस्त अनुभव करता है। उसका मानना है कि देश जितना विकसित होगा, सुख सुविधा के साधन जितने अधिक होंगे तनाव उतना कम होगा। भौतिकता की इस चकाचौंध में ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति अपने जीवन में सुख व शान्ति का साधन बाह्य पदार्थों को ही मानता है। अगर आन्तरिक शान्ति बाह्य पदार्थो से मिलती, सुख व आनन्द भौतिक संसाधनों से मिलता तो आज विकसित देश के व्यक्तियों का जीवन तनावमुक्त होता। आज विश्व में संयुक्त राज्य अमेरिका को सबसे अधिक विकसित देश माना जाता है, किन्तु वहाँ की जनता में तनावग्रस्त लोगों का प्रतिशत सबसे अधिक है। नींद की व मस्तिष्क को शिथिल करने की गोलियों की सबसे अधिक खपत वहीं पर है। इससे यह तो प्रमाणित हो जाता है कि भौतिक सुख-सुविधाओं के संसाधन व्यक्तियों को तनावमुक्त जीवन प्रदान नहीं कर सकते। यदि भौतिक सुख-सुविधाएँ और उनके साधनों की उपलब्धि ही तनावमुक्ति का मूलभूत आधार होता तो प्रत्येक व्यक्ति का जीवन आनन्दमय (शान्तिमय) होता। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि जब भौतिक सुख सुविधा का अभाव तनाव उत्पन्न करता है तो दूसरी ओर संसाधनों की बहुलता भी तनाव उत्पन्न करती है।

अगर भौतिक सुख-सुविधा के संसाधन व्यक्ति के जीवन को तनावमुक्त रख सकते तो आज सभी धनवान सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर रहे होते। प्रत्यक्ष को प्रमाण की जरूरत नहीं होती। देश-विदेश के वे सभी व्यक्ति अधिक तनावग्रस्त हैं जो आर्थिक स्थिति से सम्पन्न हैं। निर्धन व्यक्ति भी तनावग्रस्त है, पर विकसित व आर्थिक सम्पन्नता वाले व्यक्ति उनसे कहीं अधिक तनावग्रस्त हैं। दोनों के स्तरों में अन्तर हो सकता है, किन्तु दोनों के तनावयुक्त होने का कारण एक ही है। मेरी दृष्टि में तनाव का कारण भौतिक की अपेक्षा मानसिक अधिक है।

प्रश्न है आखिर तनाव उत्पत्ति का मूल कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर हमें जैन शास्त्रों में मिलता है। वस्तुत: जैन ग्रन्थों में तनाव शब्द कहीं नही मिलता है, किन्तु इसके पर्यायवाची-आतुरता, चिन्ता, आवेग, विलाप, दु:ख, भय, ईर्ष्या आदि अनेक शब्द मिलते हैं। इन आतुरता आदि शब्दों को हमने पर्यायवाची शब्द इसलिए कहा है, क्योंकि ये तनाव के लक्षण हैं। तनाव की जो अभिव्यक्ति होती है वह दु:ख, विलाप, चिन्ता, भय, आवेग आदि के रूप में ही होती है। जिन कारणों से दु:ख उत्पन्न होता है, जैन धर्म के अनुसार वे ही तनाव के मूलभूत हेतु हैं।

* आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर, 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवनशैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

तनाव का स्वरूप

तनाव के कारणों को जानने से पूर्व तनाव के स्वरूप को समझना आवश्यक है। विभिन्न विद्वानों ने तनाव की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। जहां रिचर्ड[1] एसए रिबिक्का[2], क्रिस्टी[3] आदि ने बाह्य चाह की अपूर्णता से शारीरिक संरचना में होने वाले परिवर्तन को तनाव कहा है वहीं कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसे एक ऐसी मानसिक संवेदना कहा है जो हमारे दैहिक तन्त्र को प्रभावित करती है। उनका मानना है कि भावनात्मक क्रियाओं का असर व्यक्ति के मस्तिष्क पर पड़ता है और उसी से ही कई बीमारियाँ शरीर में जन्म लेती हैं। मनोविज्ञान वह विज्ञान है, जो प्राणी के व्यवहारों तथा मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है तथा प्राणी के भीतर के मानसिक द्वन्द्व एवं दैहिक प्रक्रियाओं तथा परिवेश के साथ उनके सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इन दैहिक व मानसिक प्रक्रियाओं के विचलन को ही तनाव कहा जाता है, परन्तु जब तनाव के कारणों का विश्लेषण करते हैं तो यह पाते हैं कि **तनाव का जन्म हमारी मनोदशा या मनोवृत्ति से ही होता है।** तनाव की दशा में हमारी चित्तवृति अशान्त होती है और चित्त की यह संवेगात्मक विसंगति ही तनाव कही जा सकती है। **तनाव की जन्मस्थली मन है और मन की चञ्चलता ही तनाव उत्पन्न करती है।** मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चित्त या मन का अशान्त होना ही तनाव है। दैहिक दृष्टि से जो हमारी दैहिक क्रियाओं का सन्तुलन भङ्ग कर देता है वह तनाव है। अध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा या चित्तवृति के समत्व या शान्ति को जो भङ्ग करता है वह तनाव है। वस्तुत: जो व्यक्ति की चेतना को चाह या चिन्ता से ग्रस्त बना देता है वह तनाव कहलाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि आत्मा का स्वभाव से विभाव दशा में जाना ही तनाव है। जैनदर्शन के अनुसार तनावमुक्ति का सम्बन्ध आत्मा से है और तनाव का सम्बन्ध शरीर व मन से है। **जब तक देहासक्ति है तनाव बना रहेगा, मन में रागद्वेषादि कषाय भाव जन्म लेते रहेंगे और जब व्यक्ति देह से ऊपर उठ कर देहातीत बन जाता है तो वह अध्यात्म की ओर अग्रसर हो** जाता है और अपनी जीवन शैली में संयम, अहिंसा, अपरिग्रह आदि जैन दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों को जीवन में अपना कर अपने आपको तनावमुक्त कर लेता है।

जीवन की प्रमुख समस्याएँ (तनाव के कारण)

व्यक्ति की समस्याएँ ही विश्व की समस्याएँ बन चुकी हैं और विश्व की समस्याएँ ही व्यक्ति के जीवन में तनाव उत्पन्न कर रही हैं। जहाँ एक तरफ व्यक्ति देहासक्त हो कर भौतिक सुख-सुविधा के साधन जुटा रहा है, वहीं साधन जुटाने की प्रक्रिया भी उसके जीवन में तनाव उत्पन्न कर रही है। यही कारण है कि विश्व में समस्या बढ़ती जा रही है। इच्छाओं, आकांक्षाओं के पूर्ण हाने पर अथवा अपूर्ण होने पर जो चित वृति बनती है वही उसकी जीवन शैली का निर्माण करती है। इसी आधार पर जीवन सुखी अथवा दु:खी बनता जा रहा है। तनाव की समस्या से निजात पाने के जिन संसाधनों का व्यक्ति सहारा ले रहा है उससे उसकी समस्याएँ कम होने की बजाए और अधिक जटिल होती जा रही हैं। इससे एक और प्रमुख समस्या का जन्म हो रहा है-वह है मानवजाति के अस्तित्व का। वैज्ञानिक युग की उभरती नई तकनीकें और आणविक शस्त्र ने यह प्रश्न खड़ा कर दिया है कि विश्व खुद को कैसे सुरक्षित रखे। इंसान का इंसान पर भरोसा नहीं रहा। वह स्वयं की सुरक्षा के लिए शस्त्रों पर भरोसा करता है। स्वयं की और धन की सुरक्षा के लिए मनुष्य चौकीदार से अधिक कुत्तों पर भरोसा करता है। **एक-दूसरे के प्रति विश्वास, सहयोग, प्रेम की भावना खत्म हो गई है। जहाँ एक-दूजे के प्रति सहयोग आदि की भावना समाप्त हो जाती है वहाँ द्वन्द्व अपना स्थान बना लेता है।** यह द्वन्द्व व्यक्ति के स्तर पर तनाव उत्पन्न करता है और वैश्विक स्तर पर हिंसा का रूप ले लेता है। व्यक्ति के व्यवहार में अविश्वास, नकारात्मक सोच, क्रोध, चिड़चिड़ाहट, भय आदि प्रवृत्तियाँ अपना स्थान बना लेती हैं और विश्व में हिंसा और युद्ध के कारण व्यक्ति में जो भय उत्पन्न होता है उसमें तनाव की शृङ्खला अधिक मजबूत होती जाती है। इसीलिए भय को तनाव का समानार्थी भी कहा गया है। कुछेक कारण ऐसे हैं जो व्यक्तिगत स्तर पर ही लागू होते हैं, जैसे-

1. व्यक्ति के मन में असन्तोष की भावना।
2. असंतोष से उत्पन्न संग्रह करने की वृत्ति।
3. राज्याधिकार पाने की लालसा।
4. मान-प्रतिष्ठा पाने और बनाए रखने के लिए असम्यक् प्रयत्न।
5. स्वार्थ या अपना हित साधने हेतु दूसरों को हानि पहुँचाने की वृत्ति।
6. पारस्परिक विरोध।
7. एकान्तवादी दृष्टिकोण।
8. विभिन्न जाति सम्प्रदायों के भेदभाव के कारण प्रेम, सद्भावना, करुणा, विवेक, आपसी समझ आदि मानवीय गुणों का समाप्त हो जाना।
9. सामाजिक विषमताएँ।
10. परीक्षा में असफल हो जाने का भय।
11. किसी अपने की मृत्यु हो जाना।
12. प्रिय वस्तु का खो जाना।
13. किसी से धोखा मिलने का भय।
14. पारिवारिक असन्तुलन।
15. आर्थिक विपन्नता।
16. अतीत व भविष्य की कल्पनाएँ।
17. किसी अनचाही घटना का घटित हो जाना।
18. शोषण की प्रवृत्ति।
19. इन्द्रियों की अतृप्त माँगे।

जैन दर्शन में तनावों के कारण

जैनदर्शन में उपर्युक्त सभी कारणों का विस्तार से विवेचन मिलता है। जैनदर्शन के अनुसार राग-द्वेष तनाव के मूलभूत कारण हैं। इनमें भी राग की प्रधानता है। जैनदर्शन के अनुसार जो जन्म-मरण के कारण हैं, वे ही तनाव उत्पत्ति के कारण हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में तनाव का कारण बताते हुए कहा गया है कि काम-भोग न किसी को बन्धन में डालते हैं और न किसी में विकार ही पैदा कर सकते हैं, किन्तु जो विषयों में राग-द्वेष करता है वही तनावग्रस्त होता है।[4] आचाराङ्गसूत्र में कहा गया है- राग-द्वेष से युक्त प्रमादी जीव छल कपट करता हुआ पुनः गर्भ में आता है।[5] तनाव की अर्थात् दुःख की प्रक्रिया बताते हुए कहा गया है कि जहाँ राग-द्वेष हैं वहाँ कर्म है, जहाँ कर्म हैं, वहाँ बन्धन है और बन्धन स्वयं दुःख है।[6] तनाव एक प्रकार का दुःख है। जैनधर्म के अनुसार दुःख का कारण अविद्या, मोह, कामना आसक्ति, रागद्वेष आदि हैं।[7]

इन्द्रिय एवं मन का विषयों से सम्पर्क होने पर अनुकूल के प्रति राग व प्रतिकूल के प्रति द्वेष होता है। इसलिए आवश्यकता है इन्द्रिय व मन को संयमित करने की। उत्तराध्ययनसूत्र के 32वें अध्याय की अनेक गाथाएँ इस बात का प्रमाण है कि इन्द्रिय एवं मन के विषयों के प्रति आतुर व्यक्ति अतृप्त, चिन्ताग्रस्त व दुःखी ही रहते हैं। जैन आचार्यों ने मन और इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की पुनः प्राप्ति और प्रतिकूल परिस्थिति के निराकरण की प्रवृति को ही इच्छा कहा है।[8] इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।[9] व्यक्ति तृष्णारूपी चलनी को जल से भरना चाहता है। उसकी पूर्ति के लिए स्वयं व्याकुल (तनावग्रस्त) मनुष्य दूसरों को भी परिताप देता है।[10] उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से कहा है कि सभी कामभोग अन्ततः दुःख देने वाले होते हैं। देवताओं सहित समग्र संसार में जो भी दुःख हैं, मानसिक, वाचिक एवं कायिक, वे सब कामासक्ति के कारण हैं।[11] अंगुत्तरनिकाय में भी भूतकाल, भविष्य काल और वर्तमान काल के विषयों के सम्बन्ध में जो इच्छा है उसे तनाव की उत्पति का कारण बताया गया है।[12] इच्छाओं के वशीभूत होकर व्यक्ति आर्तध्यान और रौद्रध्यान करता है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान से तनाव उत्पन्न होता है, जो दूसरों को भी तनावग्रस्त कर देता है।[13] ठीक वैसे ही जैसे एक मछली पूरे तालाब को गन्दा कर देती है। सुख की प्राप्ति में व्यक्ति कषाय प्रवृत्ति करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कषाय को अग्नि की उपमा दी गई है जो आत्मा के सद्गुणों को जलाकर नष्ट कर देता है।[14] व्यक्ति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है बुद्धि एवं विवेक, किन्तु जब क्रोध आता है तो बुद्धि एवं विवेक क्षमता

समाप्त हो जाती है। जिस व्यक्ति की आँखों से लज्जा एवं करुणा झलकती है वह शान्ति प्रिय जीवन जीता है, पर जब मान अपना स्थान बना लेता है तो हर क्षण उस अहं को बनाए रखने का प्रयास मानवीय गुणों को समाप्त कर चित्त को अशान्त बना देता है। इसी प्रकार हिम्मत तथा तन्दुरुस्ती का स्थान क्रमशः हृदय और शरीर में होता है, लेकिन माया व लोभ तन-मन दोनों को तनावमय कर देते हैं और हिम्मत एवं तन्दुरुस्ती दोनों अपना स्थान छोड़ देती है। जैनदर्शन के अनुसार परिग्रह भी जीवन में तनाव उत्पन्न करता है। संग्रह करने वाले व्यक्ति स्वयं भी चिन्तित रहते हैं, दूसरों की भी शान्ति भङ्ग कर देते हैं।[15] सूत्रकृताङ्ग में लिखा है कि हिंसा या युद्ध का कारण संग्रह की वृत्ति है।[16]

तनाव का प्रभाव

जब व्यक्ति तनावयुक्त जीवन जीता है तो उसका प्रभाव उसके शरीर, मन एवं भावों पर पड़ता है। उस समय उसके जीवन जीने का तरीका निम्न प्रकार का हो जाता है।

तनावों का दैहिक प्रभाव

1. तनावग्रस्त व्यक्ति को भूख नहीं लगती ।
2. उसे नींद नहीं आती ।
3. अनेक बीमारियाँ जैसे रक्तचाप, मधुमेह, हृदयघात उसके शरीर में घर कर लेती हैं।
4. वह कभी स्वयं को कष्ट देता है, तो कभी दूसरों के साथ मार-पीट करता है।
5. अगर तनाव की तीव्रता अधिक है तो वह अपना मानसिक सन्तुलन भी खो देता है।
6. वह अपने ही शरीर को नुकसान पहुँचाता है, आत्महत्या तक कर लेता है।
7. व्यक्ति आलसी व लापरवाह हो जाता है।

तनाव का मानसिक प्रभाव

1. व्यक्ति बात करते करते अचानक चुप हो जाता है।
2. अन्धेरे में रहना उसे अच्छा लगता है ।
3. किसी से बात करने की इच्छा नहीं होती है। वह एकांत प्रिय हो जाता है।
4. चिड़चिड़ाहट या क्रोध उसका स्वभाव बन जाता है।
5. काम करते करते होश खो देता है।
6. उसकी सोचने समझने की शक्ति भी क्षीण हो जाती है।
7. व्यक्ति को रोने या विलाप करने से मन में हलकापन महसूस होता है।
8. व्यक्ति को सही गलत का ज्ञान नहीं रहता है।
9. निर्णय लेने की क्षमता नहीं होती।
10. शान्ति का अनुभव नहीं होने पर वह बेचैन रहता है।
11. कभी कभी चुपचाप वह हर पीड़ा सहन करता है तथा रोता रहता है।
12. पुरुषार्थ में कमी होने लगती है।

तनाव का भावनात्मक प्रभाव

1. मेरे साथ बुरा हुआ है, तो मैं भी सबका बुरा ही करूँगा। ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है।
2. नकारात्मक सोच जीवन का अङ्ग बन जाती है।
3. आत्मविश्वास की कमी हो जाती है।
4. मन में ईर्ष्या की भावना उत्पन्न हो जाती है।
5. विवेकशीलता नष्ट हो जाती है।
6. कटु वचन बोलना उसकी रुचि बन जाती है।
7. वह इतना हताश हो जाता है कि जीवन में सिर्फ मृत्यु की इच्छा करता रहता है।
8. गलत संस्कृति अपनाता है, जैसे-सिगरेट पीना, शराब की लत लगा लेना आदि।

जब व्यक्ति तनावग्रस्त होता है तो तनाव स्तर को कम करने के लिए सिगरेट पीता है। उसे लगता है कि उड़ते धुएँ में तनाव भी उड़ जाता है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। शराब के नशे से जब पुनः वास्तविकता में आता है तो मानसिक तनाव के साथ-साथ वह शारीरिक तनाव का शिकार हो जाता है। तनाव क्या है, इसके क्या कारण

हैं और इसका क्या प्रभाव है, यह स्पष्ट रूप से हम सभी जानते हैं, परन्तु हमें जानना है कि तनाव को कम कैसे किया जाए, दूसरी भाषा में इसका प्रबन्धन कैसे किया जाए, यह जानना जरूरी है। मैं आपको जैन जीवनशैली के सन्दर्भ में तनाव प्रबन्धन से सम्बन्धित कुछ बिन्दु बताने जा रही हूँ-

तनाव प्रबन्धन से वैयक्तिक शान्ति

जो जीया जाता है , वह जीवन होता है। जिस तरीके से जीवन जीया जाता है उसे जीवनशैली कहते हैं। **जब व्यक्ति तनावमुक्त होता है तो उसका आचार, व्यवहार, विहार, आहार और संस्कार पाँचों सम्यक् और कुशल होते हैं और जब तनावयुक्त स्थिति होती है तो विपरीत आचरण होता है। ये पाँचों ही जीवन शैली के मुख्य अङ्ग हैं।** वर्तमान युग में आवश्यकता है आचार में जैन जीवनशैली द्वारा बदलाव लाने की, पदार्थों के सही स्वरूप को जान कर सन्तुष्टि जगाने की, जीवन शैली को धर्म के द्वारा संयमित कर जीवन को तनावमुक्त बनाने की। वस्तुत: धर्म व्यक्ति को जीवन चलाने के साधन उपलब्ध नहीं कराता, अपितु जीने की वह कला सिखाता है जिससे मन अमन बन जाता है। मन में उत्पन्न तनाव और राग-द्वेष को धर्म से समाप्त किया जा सकता है।

वर्तमान युग की धारा में जैन धर्म व्यक्ति के जीवन में जिन तत्त्वों का समावेश करता है उससे तनावमुक्त जीवन शैली का निर्माण होता है। संक्षेप में तनाव निराकरण के उपाय निम्नलिखित हैं-

1. आत्म-परिशोधन : विभाव दशा का परित्याग

जैनधर्म के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति तभी सम्भव है जब व्यक्ति पूर्णत: तनावमुक्त होता है। आत्मा का विभाव दशा से स्वभाव में आना ही तनावमुक्ति है। आत्मा स्वभावत: तो शुद्ध बुद्ध और तनावमुक्त है, किन्तु 'पर' के संयोग से वह अशुद्ध या तनावयुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाती है। ठीक वैसे ही जैसे अग्नि के संयोग से पानी अपना शीतल स्वभाव छोड़कर गर्म हो जाता है। आवश्यकता है आत्मपरिशोधन की, जो 'पर' के प्रति राग-द्वेष, कषाय, तृष्णा आदि को त्याग देने से ही सम्भव है।

2. रागद्वेष से मुक्ति ही तनाव से मुक्ति

जब तक राग था गौतम स्वामी को भी केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। उतराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि राग-द्वेष के उन्मूलन से एकान्त सुख रूप मोक्ष की उपलब्धि होती है।[17] उसमें स्पष्ट कहा गया है कि जिसका मोह समाप्त हो जाता है, उसका दु:ख समाप्त हो जाता है।[18] आचाराङ्ग में वर्णित है कि शब्द, रूप आदि के प्रति जो राग-द्वेष नहीं करता है वह मृत्यु से मुक्त हो जाता है।[19] समयसार में भी मुक्ति का मार्ग बताते हुए कहा है- ''मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो'' जीव राग से विरक्त होकर कर्मों से मुक्त होता है, अत: तनावमुक्ति के लिए 'पर' के प्रति, इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग का त्याग करना होगा। जहाँ राग समाप्त होता है वहाँ द्वेष भी नष्ट हो जाता है।[20]

3. कषाय विजय : तनावमुक्ति

दशवैकालिक सूत्र में क्रोध को समाप्त करने का उपाय बताते हुए कहा है कि-क्रोध को क्षमा से नष्ट करो।[21] समभाव से क्रोध को जीता जा सकता है। आस्रव, संवर एवं निर्जरा-भावना की अनुप्रेक्षा करनी चाहिए।[22] योगशास्त्र[23] एवं उत्तराध्ययनसूत्र[24] में क्रोध पर विजय पाने के लिए क्षमा शस्त्र का उपयोग करने हेतु कहा गया है। मान विनय का नाश करने वाला है, अत: मान पर विजय मृदुता अर्थात् विनम्रता से प्राप्त की जा सकती है।[25] आचाराङ्गसूत्र[26] में कहा है-यह जीवात्मा अनेक बार उच्चगोत्र में जन्म ले चुका है, तो अनेक बार नीच गोत्र में भी। इस प्रकार विभिन्न गोत्रों में जन्म लेने से न कोई हीन होता है और न कोई महान्। ऐसी भावना से स्वयं को भावित करे। माया पर विजय ऋजुता से प्राप्त की जाती है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा भी है कि ऋजुभूत सरल व्यक्ति की ही शुद्धि होती है और सरल हृदय में ही धर्म रूपी पवित्र वस्तु ठहरती है।[27] तत्त्वार्थसूत्र में माया

कषाय को अनन्त दु:खों और तिर्यञ्च गति का हेतु बताया गया है।[28] अत: मायावी स्वयं अपने जाल में फँस जाता है। दूसरों का बुरा करने में स्वयं का जीवन कष्ट में पड़ जाता है। लोभ-विजय के लिए लोभ मुक्त होने के क्या फायदे हैं, उनका चिन्तन करना चाहिए। लोभ-विजय से सन्तोष गुण उत्पन्न होता है। असातावेदनीय कर्म का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा होती है।[29] इच्छाओं व आकांक्षाओं को अल्प करने का प्रयास करने से भी लोभ पर विजय प्राप्त की जा सकती है। योगशास्त्र में कहा है-सन्तोषरूपी बाँध को बाँध कर लोभ को आगे बढ़ने से रोका जा सकता है।[30]

4. इन्द्रिय विजय और तनावमुक्ति

इन्द्रियों की लोलुपता में हर उम्र का व्यक्ति डूबा हुआ है। संसार में यह सम्भव नहीं है कि व्यक्ति अपने इन्द्रियों का प्रयोग नहीं करे। जब तक इन्द्रियाँ हैं, व्यक्ति का बाह्य जगत् से सम्पर्क भी होगा ही। ऐसी स्थिति में व्यक्ति तनावमुक्त कैसे हो, इस सम्बन्ध में तनावमुक्ति के लिए इन्द्रिय-विजय का मार्ग दिखाते हुए आचाराङ्गसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में पन्द्रहवें भावना नामक अध्ययन एवं उत्तराध्ययन में गम्भीरता से विचार किया गया है। यह सत्य नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुनने में न आएँ, आँखों के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप देखा न जाए, नाक के समक्ष आई हुई सुगन्ध या दुर्गन्ध सूँघने में न आए, रसना पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आए, स्पर्श होने पर अच्छे या बुरे की अनुभूति न हो, ऐसा नहीं है, परन्तु सभी इन्द्रियों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष को कम किया जा सकता है। धीरे-धीरे उस पर पूर्ण विजय पाई जा सकती है। मन का तो स्वभाव ही चञ्चलता है। इस चञ्चलता को ही समाप्त करना है, क्योंकि यही तनाव का कारण है। मन को नियन्त्रित करने पर कल्पनाएँ भी संयमित हो जाती हैं। इच्छाएँ सीमित हो जाती हैं। सूत्रकृताङ्ग में दु:खमुक्ति के लिए मनसंयम का मार्ग दिखाया गया है। मनः संयम का प्रयत्न ही तनाव मुक्ति का प्रयत्न है।

5. अणुव्रत की जीवनशैली

जीवन में अणुव्रत अपना कर जीना तनावमुक्ति का सबसे सरल उपाय है। अणुव्रत का अर्थ है छोटे-छोटे नियम। जीवन में छोटे-छोटे नियम लें। जैसे व्यसनमुक्त रहना, हर वस्तु का सीमाकरण करना, चोरी नहीं करना, झूठ नहीं बोलना आदि।

6. ममत्व त्याग या तृष्णा पर प्रहार

सूत्रकृताङ्ग में वर्णित है ''ममाइं लुप्पई बाले[31] जब तक ममत्व का त्याग नहीं होगा, तनावमुक्ति मिलना सम्भव नहीं है। मरुदेवी माता ने भी जब पुत्र से ममत्व का त्याग किया, तब केवलज्ञान प्राप्त हुआ। नन्दन मणियार ने ममत्व भाव से तिर्यञ्च गति का बन्ध किया। अत: 'स्व' को 'स्व' तथा 'पर' को 'पर' मान कर जीना चाहिए। जैनदर्शन में यहाँ तक भी कहा गया है कि आत्मा के सिवाय शरीर आदि कुछ भी तेरा नहीं है।[32] ममत्व के परित्याग से व्यक्तिगत संग्रह का भी त्याग होता है[33] तथा कामभोग, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ भी समाप्त होती हैं।

7. इच्छा निर्मूलन की जीवनशैली

मनुष्य अनेकचित्त वाला है अर्थात् अनेकानेक कामनाओं के कारण मनुष्य का मन बिखरा हुआ है। इन कामनाओं की पूर्ति का प्रयास तो चलनी को भरने के प्रयास के समान है।[34] सभी इच्छाएँ कभी पूर्ण नहीं होती। वे आकाश के समान अनन्त हैं। एक इच्छा पूर्ण होने पर दूसरी इच्छा जाग्रत हो जाती है। इसलिए 'बारह भावना' में कहा गया है - हे धीर पुरुष आशा इच्छा का त्याग कर दो, क्योंकि तू स्वयं ही इन कांटों को मन में रखकर दु:खी (तनावग्रस्त) हो रहा है।[35] भगवान महावीर ने भी कहा है ''कामे कमियं खु दुक्खं'' कामनाओं-इच्छाओं को दूर करना ही तनाव (दु:ख) को दूर करना है।

8. अनेकान्तवाद शैली

आज व्यक्ति ही नहीं, पूरा विश्व ही एकान्तवाद के सिद्धान्त पर चल कर एक दूजे को नष्ट करने में लगा हुआ है। ऐसी स्थिति में अनेकान्तवाद

शान्ति का दूत है। व्यक्ति को अपने परिवार, समाज आदि दूसरों की बात को भी उसकी अपेक्षा से समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

9. लेश्या परिवर्तन

हमारे भाव हमारी लेश्या का निर्धारण करते हैं और लेश्या हमारे भावों को परिवर्तित करती है। दोनों ही एक दूसरे पर आधारित है। तनावमुक्त जीवन के लिए हमारा प्रयत्न हो कि हम अशुभ लेश्या से शुभ लेश्या तक जाने का प्रयत्न करें। इसके लिए भाव शुद्धि आवश्यक है। साथ ही शुभ लेश्या के रंगों के ध्यान की प्रक्रिया भी प्रचलित है।

10. अहिंसक जीवनशैली

''धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।''[36] अहिंसा जैन धर्म का सर्वोपरि सिद्धान्त है। किसी जीव की हिंसा नहीं करना अहिंसा है। प्राणिमात्र की रक्षा करना अहिंसा है। भगवान महावीर के शब्दों में कहें तो ''जो तुम अपने लिए चाहते हो वही दूसरों के लिए चाहो और जो तुम अपने लिए नहीं चाहते हो वह दूसरों के लिए भी मत चाहो।'' यही अहिंसा है। दूसरे शब्दों में कहें तो मन, वचन व काया से न किसी की हिंसा करना, न करवाना और न ही करने वालों का अनुमोदन करना। अहिंसा शान्ति का संदेश लाती है। जैन धर्म के इसी सिद्धान्त को आधार बना कर महात्मा गांधी ने देश को तनावमुक्त करवाया था। अहिंसक जीवन शैली स्वयं को शान्त व सुखी तथा दूसरों को भी तनावमुक्त रखती है। हमारे अहिंसात्मक व्यवहार व विचार, हमारे सुसंस्कार व शुद्ध आचरण का निर्माण करते हैं। अहिंसक जीवन शैली केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं, अपितु विश्व शान्ति का भी मूल मन्त्र है।

11. अपरिग्रह जीवनशैली

''कण संचय कीड़ी करे, ते तीतर चुग जाए,
जो कृपण धन संचिये, यूँ ही जाए विलाय''

आचार्य भिक्षु के इस कथन का मूल आधार आचारांग सूत्र है।[37] व्यक्ति धन का संचय करता है, लेकिन वह संचित धन या तो परिजनों के द्वारा बांट लिया जाता है या राजा के द्वारा उसका अपहरण कर लिया जाता है अथवा चोर चोरी करके ले जाता है अथवा तो अग्नि आदि से नष्ट हो जाता है। व्यक्ति सर्वप्रथम धन अर्जित करने के लिए चिंतित होता है, अर्जित होने पर और अधिक पाने की लालसा करता है। संग्रह होने पर धन कहीं नष्ट न हो जाए इसकी चिन्ता से ग्रस्त रहता है। धन जीवन की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु तनावमुक्ति के लिए उससे जुड़ी संग्रहेच्छा एवं आसक्तिवृत्ति का त्याग करना होगा। तभी व्यक्ति के जीवन में संतोष व शान्ति की प्राप्ति होगी।

12. आहार शुद्धि : तनावमुक्ति

एक प्रसिद्ध कहावत है – ''जैसा खाए अन्न वैसा होवे मन।'' इसका स्पष्ट उदाहरण है शाकाहारी व मांसाहारी व्यक्तियों की तुलना। बालक जब पहली बार मांसाहार करता है तब वह उसे सहज भाव से ग्रहण नहीं कर पाता। उस वक्त उसके अन्दर जो दया भाव है उसे वह मारता है, किन्तु इसका उसे पता भी नहीं चलता है। बड़ा होते होते उसके अंदर से दया, करुणा एवं प्रेम की भावना समाप्त हो जाती है। उसके हृदय में अपने स्वार्थ के लिए हिंसा, घृणा, क्रूरता आ जाती है। डॉक्टर सागरमल जैन ने इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि मांसाहार से मस्तिष्क की सहनशीलता की शक्ति व स्थिरता का ह्रास होता है, वासना व उत्तेजना बढ़ाने वाली प्रवृत्ति पनपती है, क्रूरता एवं निर्दयता बढ़ती है। वर्तमान जीवन शैली में, संतुलित आहार के अभाव में जहाँ एक ओर लाखों लोग भूख से मरते हैं वहीं दूसरी ओर तामसिक आहार की लालसा व स्वाद लोलुपता के कारण अनेकों में तनाव उत्पन्न हो रहा है। जैन दर्शन में तनावमुक्तिपूर्वक जीवन जीने का एक आधार शाकाहार एवं संतुलित भोजन बताया है। महाभारत में भी लिखा है – जो मांसभक्षण कभी नहीं करता वह नीरोग एवं सुखी होता है।[38]

13. ध्यान और तनावमुक्ति

वर्तमान में ध्यान की अनके विधियां प्रचलित हैं, किन्तु यहां ध्यान से मेरा तात्पर्य-धर्मध्यान व शुक्लध्यान से है। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान तनाव उत्पत्ति के हेतु हैं और धर्मध्यान व शुक्लध्यान तनावमुक्ति के साधन हैं। स्थानांगसूत्र[39-40] में धर्म व शुक्लध्यान की निरूपित व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्मध्यान में श्रुतधर्म और चारित्र का चिन्तन किया जाता है जो कि चित्त को एकाग्र करता है एवं शुक्लध्यान द्वारा मन को शान्त तथा निष्कम्प किया जा सकता है। धर्मध्यान में स्थिरता के लिए एकत्व, अनित्य, अशरण एवं संसार ये चार अनुप्रेक्षाएँ बताई गई हैं। इन अनुप्रेक्षाओं के माध्यम से व्यक्ति धर्म के सही स्वरूप को समझ कर शुक्लध्यान की ओर अग्रसर होता है तथा शुक्लध्यानी ही मोक्ष को प्राप्त करता है। जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति ही पूर्णत: तनावमुक्ति की स्थिति है।

14. धर्म और तनावमुक्ति

व्यक्ति शान्ति प्राप्त करने के लिए धर्म का मार्ग चुनता है, किन्तु वर्तमान में धर्म, जाति और वर्ण के नाम पर दंगे किए जाते हैं। इसका कारण सूत्रकृतांग[41] में मिलता है कि धर्मत्व को प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण करता है और अपने पक्ष को सही मानकर दूसरे की अवहेलना करता है। तनावमुक्ति के लिए अगर धर्म को अपना साधन बनाना है तो उसके सही स्वरूप को समझना आवश्यक है। ''वस्तु का अपना निज स्वभाव ही उसका धर्म है।[42]'' जिस प्रकार पानी का धर्म है शीतलता, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव है शुद्धता, बुद्धता और मुक्तता। पानी 'पर' के सहयोग से गंदा या उष्ण होता है। 'पर' का वियोग होने पर शीतल व साफ हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय के निमित्त से स्व-भाव से भिन्न हो अधर्म को प्राप्त होता है।[43] अधर्म ही एक ऐसी विकृति है, जिससे आत्मा में तनाव उत्पन्न होता है और धर्म ही एक ऐसा पवित्र अनुष्ठान है जिससे व्यक्ति तनावमुक्त अवस्था को प्राप्त करता है।[44]

उपर्युक्त सभी उल्लेखों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि व्यक्ति को अपनी इच्छाओं का सीमाकरण करके जैन सिद्धान्तों के आधार पर जीवन जीना चाहिए, किन्तु यहाँ एक प्रश्न भी खड़ा होता है कि अगर व्यक्ति आकांक्षी नहीं बनेगा, कल्पनाएं कर इच्छाओं को नहीं बढ़ाएगा तो विकास कैसे करेगा, क्योंकि कुछ नया करने की इच्छाएँ, कल्पनाएँ दूसरों से आगे बढ़ने की प्रवृत्ति ही नए क्षितिज को बुनती है। किसी के अधिक परिग्रह को देख कर, उससे ईर्ष्या होने पर ही कोई नया आविष्कार होता है। इच्छा, ईर्ष्या व्यक्ति को उत्तेजित करती है कि वो ऊँचे मुकाम पर पहुँचे। विज्ञान में तनाव मुक्ति असम्भव है। तनावमुक्ति की अवस्था को प्राप्त करने के लिए आवश्यकता है कि जीने की कला में परिवर्तन हो। संक्षेप में ऐसे कुछ सूत्र प्रस्तुत हैं जो व्यक्ति के जीवन में विकास के साथ-साथ तनावमुक्त जीवन जीना सिखाते हैं।

1.	विज्ञान + हिंसा	= विनाश
	विज्ञान + अहिंसा	= विकास
2.	विज्ञान + एकान्तवादिता	= (अशान्ति) वैचारिक संघर्ष
	विज्ञान + अनेकान्तवाद	= शान्ति और सामाजिक संघर्ष
3.	विज्ञान + परिग्रहवृत्ति	= ईर्ष्या, असन्तोष
	विज्ञान + अपरिग्रह	= सन्तुष्टि
4.	विज्ञान + आसक्ति	= भय, संचयवृत्ति, युद्ध
	विज्ञान + कर्त्तव्यबुद्धि	= सफलता
5.	विज्ञान + राग	= दु:ख, पीड़ा
	विज्ञान + वीतरागता	= सुख, आनन्द
6.	जीवन + असंयम	= तनावयुक्त जीवन
	जीवन + अणुव्रत	= तनावमुक्त जीवन

ये सूत्र ही जैन जीवनशैली को दर्शाने वाले हैं और इन्हें आधार बनाकर अगर व्यक्ति अपना जीवन व्यतीत करे तो निश्चित ही वह तनावमुक्ति को प्राप्त कर सकेगा।

सन्दर्भ

01 kttp.iiwww.fatfreekitchen.com

02. rebecca.j.frey,stressanswers.com

03 bykristi,a dyesmd.mstt from about.com

04. उत्तराध्ययन सूत्र - 32/101

05. आचाराङ्गसूत्र - 3/2/118

06. उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसकी महत्ता–साध्वी विनीतप्रभाजी, पृष्ठ 242
07. वही – 32/7
08. अभिधान राजेन्द्र कोष खण्ड –2 पृष्ठ 575
09. उत्तराध्ययनसूत्र – 9/36
10. आचाराङ्गसूत्र – 32/19
11. उत्तराध्ययनसूत्र – 32/119
12. अंगुत्तरनिकाय – 3/109
13. ध्यानशतक श्लोक 6 से 26 तक
14. उत्तराध्ययनसूत्र – 32/7
15. दशवैकालिकसूत्र – 8/38
16. उत्तराध्ययनसूत्र – 1/54
17. वही – 32/8
18. वही – 32/2
19. आचाराङ्गसूत्र – 3/1/108
20. समयसार – 150
21. दशवैकालिक – उवसमेण हणे कोहं। 8/39
22. बारह भावना
23. योगशास्त्र – 4/11
24. उत्तराध्ययनसूत्र – 29/68
25. दशवैकालिक – 8/38
26. आचाराङ्गसूत्र – 1/2/3
27. उत्तराध्ययनसूत्र – 3/19
28. तत्त्वार्थसूत्र – 6/17
29. उत्तराध्ययनसूत्र – 29/70
30. योगशास्त्र – 4/22
31. सूत्रकृतांग – 2/1/1/14
32. सूत्रकृतांग – 2/1/13
33. आचाराङ्गसूत्र – 1/2/6/99
34. आचाराङ्गसूत्र – 1/3/2
35. आचाराङ्गसूत्र – 1/2/4
36. दशवैकालिकसूत्र – 111
37. आचाराङ्गसूत्र – 2/3/ 97
38. महाभारत, अनुशासन पर्व
39. स्थनाङ्गसूत्र – 4/1/65
40. वही – 4/1/68
41. सूत्रकृताङ्गसूत्र – 1/5/11
42. कार्तिकेयानुप्रेक्षा – 478
43. स्थानाङ्गसूत्र – 1/1/36
44. वही – 1/1/38

– *जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ-341306 (राज.)*

अपव्यय और दान में अन्तर

आचार्यप्रवर श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री

धन के भोग में विश्वास करने वाले, अधिकांशत: यह कहते सुने जाते हैं, कि दुनिया भर के शौक में फिज़ूलखर्च करने से तो अच्छा है, उसे अच्छा खाने–पीने में खर्च किया जाये। पर वे यह नहीं जानते कि द्रव्य का व्यय खाने में करने की अपेक्षा, दान देने में क्या फर्क होता है? इन दोनों स्थितियों में अन्तर बतलाते हुए चन्द चारित्रकार का कहना है–'भोग किये गए द्रव्य की विष्ठा बन जाती है, जबकि दान में, दिया गया द्रव्य पुण्य उत्पन्न करता है।' द्रव्य की इन दोनों स्थितियों में यही महान् अन्तर है। अत: धन को खाने–पीने में खर्च करने की अपेक्षा दान देने में अधिक उपयोगी माना जाना चाहिए।

जो लोग, धन को, इन दो कार्यों में व्यय नहीं करते, उनका धन सञ्चित होकर भी नष्ट हो जाता है। धन का नाश होने के तीन कारण माने जाते हैं–या तो चोर उसे चुरा लेते हैं, या फिर आग में जलकर नष्ट हो जाता है। यदि किसी तरह इन दोनों हानियों से बचा रहता है, तो राजकीय करों में उसे वसूल कर लिया जाता है। इस तरह के सञ्चय स्वभावी लोगों को यह जान लेना चाहिए कि सञ्चित धन अनित्य है। अत: उन्हें उसे निर्धनों या धर्मात्मा व्यक्तियों को दान में देते रहना चाहिए। अन्यथा, धन के नष्ट हो जाने पर, उन्हें भी मधुमक्खियों की तरह अपना पैर पटककर रह जाना पड़ेगा। यदि वे, अपने धन को, दान जैसे सुकृत में लगा देंगे, तो इससे उनका यश और कीर्ति दानवीर कर्ण, बलि और विक्रम की तरह, धरती पर सदा विद्यमान रहेगी। वस्तुत: जो लोग, दिये गये दान के प्रत्युपकार की कामना नहीं करते, ऐसे ही दानी पुरुषों का जीवन सफल माना गया है। *–संकलित*

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 266
ISSN 2249-2011

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' और जैन जीवनशैली*

डॉ. श्वेता जैन

भगवान महावीर के 2500वें निर्वाण दिवस के अवसर पर सन् 1974 में जैनसमाज द्वारा एकमत होकर जैन प्रतीक चिह्न की घोषणा की गई। वह प्रतीक चिह्न जैन जीवन शैली को द्योतित करता है। इस प्रतीक चिह्न में लोक के आकार में विश्व ही नहीं सम्पूर्ण जीव राशि को समाहित कर उनके हित में दिए गए भगवान् महावीर के सिद्धान्तों को विभिन्न आकारों में चिह्नित किया गया है। अर्द्धचन्द्र के रूप में सिद्धशिला को रेखांकित कर उसके नीचे तीन बिन्दुओं के आकार में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूपी त्रिरत्नों को बताया है, जो जैन जीवन-पद्धति का आधारभूत सिद्धान्त है। स्वस्तिक की चार भुजाएँ चतुर्गति, (नरक गति, तिर्यंच गति, देव गति और मनुष्य गति), चतुर्विध संघ (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) एवं चार आत्मगुणों (अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य) को संकेतित करती है। हाथ का चिह्न अहिंसा को, उसमें स्थित चक्र संसार-चक्र को एवं चक्र में उकेरी गई 24 रेखाएँ 24 तीर्थंकर, जो संसार चक्र को पार कर चुके हैं, को बताती हैं। सबसे नीचे 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र को स्थापित किया गया है। यह सब जैन सिद्धान्तों के फलन के रूप में प्रस्तुत होता है।

परस्परोपग्रह जीव का बाह्य लक्षण है। बाह्य लक्षण से तात्पर्य बाह्य क्रियाओं से है। ये बाह्य क्रियाएँ ही जीवनशैली कह दी जाती हैं, जो कि उपयुक्त नहीं है। क्रियाएँ विचारजन्य होती हैं। बाह्य क्रियाओं का विचारों के साथ वैसा ही सम्बन्ध होता है जैसा शरीर और आत्मा का होता है। आत्मा के बिना शरीर क्रियान्वित नहीं हो सकता उसी तरह विचार के बिना क्रिया नहीं हो सकती। क्रियाएँ विचारों को प्रकट करती हैं। अतः परस्परोपग्रह भी एक क्रिया है जो जैन सिद्धान्तों में निहित विचारों को मूर्त रूप देती है। जैनदर्शन का प्रत्येक सिद्धान्त चाहे अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सत्यव्रत हो, चाहे अनेकान्त, रत्नत्रय, तप-आराधना की कोई विधि हो अथवा दया, दान, करुणा और सेवा के उपदेश हों, ये सभी प्राणियों के परस्पर उपग्रह या उपकार के हेतु हैं।

जैन जीवन-शैली जीने की ऐसी कला है, जिसमें व्यक्ति जीवन के मर्म को जानकर व्यवहार में उसे अपनाकर स्वोन्नति के साथ दूसरों को उनके उन्नयन में सहकार या सहयोग प्रदान करता है। जैन-जीवनशैली जीवन-निर्माण के साथ मानव-जीवन को सफलता की ओर ले जाने वाली शैली है। यह शैली मानव मात्र के साथ व्यवहार करने के ही तरीके नहीं बताती, बल्कि पानी के सीमित उपयोग द्वारा जलीय जीव के साथ, पंखे, कूलर, ए.सी. आदि सुख-साधनों से विरति का भाव वायुकायिक जीव के साथ, हरी-त्याग से वनस्पतिकायिक जीव के साथ होने वाले मानवीय व्यवहार को भी संयमित करना सिखाती है। अनेकान्त दृष्टि और सम्यग्दर्शन से युक्त यह शैली व्यक्ति को स्वकृत व्यवहारों में संशोधन करने का मार्ग प्रशस्त करती है और यह बोध उत्पन्न करती है कि सभी जीव एक-दूसरे का उपकार करके ही जीते हैं एवं सभी को एक दूसरे की आवश्यकता होती है, अपेक्षा होती है। इस सापेक्षता के सिद्धान्त को जो नहीं समझ पाता है, उसके मन में शीघ्र प्रतिक्रिया होती है, हिंसा का भाव पैदा होता है। प्रतिक्रिया का भाव समाज में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, डकैती, आतंकवाद जैसी समस्याओं को

* आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवन-शैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

उत्पन्न करता है। इन समस्याओं का मूल क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि विकारों से आविष्ट जीव है। राग-द्वेष से युक्त एकेन्द्रिय यावत् पञ्चेन्द्रिय जीवों में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो अपनी समझ से आवेशों पर नियन्त्रण कर सकता है, कोई पशु-पक्षी क्रोध आने पर क्रोधित न हो अर्थात् अपने पर नियन्त्रण कर ले यह संभव नहीं है और इससे निम्न जाति वाले जीव में तो प्रश्न ही नहीं उठता। **राग-द्वेष से युक्त मानव में परस्पर हितों का टकराव न हो इसके लिए जैन जीवन-पद्धति में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों के पालन पर बल दिया गया है।** इन व्रतों के पालन से मानव परस्पर उपग्रह कर अपने जीवन को मुक्ति की ओर अग्रसर करता है-

अहिंसा व्रत से परस्परोपग्रह

अहिंसा व्रती प्रतिज्ञा लेता है कि मैं मन, वचन, काय से किसी भी निरपराध एवं निर्दोष त्रस प्राणी की जानबूझ कर हिंसा न स्वयं करूँगा और न कराऊँगा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप स्थावर जीवों की हिंसा भी व्यर्थ एवं अमर्यादित रूप में न करूँगा और न कराऊँगा। इस प्रकार की अहिंसा-वृत्ति को अपनाने वाला व्यक्ति न अफवाहें फैलाता है, न दंगे फसाद करवाने में अपनी भूमिका रखता है, न मन के प्रतिकूल होने पर हिंसात्मक विरोध करता है, अपितु सम्यक् प्रकार से अपनी बात रखता है, न दूसरों को हिंसा के लिए उकसाता है, न अपराधियों को पनाह देता है। **वह अपने जीवन में अधिकारों के नाम पर, आरक्षण के नाम पर, जातिवाद के नाम पर, सम्प्रदायवाद के नाम पर होने वाली हिंसा से दूर रहता है और उसका यही प्रयत्न रहता है कि जो समाज में हिंसा फैलाने वाले हैं उनको समझाकर शान्त किया जाय।** वे जानते हैं कि हिंसा बड़ी भयावह होती है, क्षणिक आवेश का प्रतिफल होती है, उससे कोई लाभ होने वाला नहीं है, अतः अहिंसक शैली को जीवन में अपनाना श्रेयस्कर है। **वह मानव, पशु, पक्षियों के प्रति तो अहिंसा का पालन करता ही है, प्राकृतिक संसाधनों का भी सीमित उपयोग करता है।** जैसे जल का अपव्यय नहीं करता, फूल पत्तियाँ भी अनावश्यक रूप से नहीं तोड़ता, वृक्षों को काटने का भी वह विरोध करता है, पृथ्वी के संसाधनों के दोहन करने का समर्थक नहीं होता। अतः अहिंसा व्रत के पालन से जीवमात्र पर उपग्रह होता है।

सत्यव्रत से परस्परोपग्रह

वस्तुस्थिति को सम्यक् रूप से प्रकट करना, झूठ न बोलना, मन-वचन-कर्म में एकता रखना सत्यव्रत है। सत्यव्रती समाज में प्रतिष्ठा पाता है और वह दूसरों के लिए आदर्श होता है। व्यापार, धन्धा, नौकरी, जिस किसी कार्य को करता है, उसे ईमानदारी और निष्ठा के साथ करता है। **वह कालाबाजारी, मुनाफाखोरी, रिश्वतखोरी, ठगाई, जालसाजी, झूठे दस्तावेज, झूठे आरोप लगाना, किसी के साथ विश्वासघात करना जैसे शासन विरोधी कार्य नहीं करता है।** सत्यनिष्ठ व्यक्ति के आस-पास के वातावरण में भी शुद्धि होती है, वहाँ बेईमानी अपना सिर नहीं उठा सकती। सत्य बोलने वाला सत्यव्रत के अनुष्ठान से शान्ति, उन्नति और संतोष प्राप्त करता है तथा सत्य के आचरण द्वारा अन्य व्यक्तियों को भी प्रेरित करता है, जिससे वे भी सत्यनिष्ठ बनते हैं। इस प्रकार सत्य व्रत के आचरण से श्रावक जैन जीवन शैली को अपनाकर परस्पर उपग्रह करता है।

अचौर्य व्रत से परस्परोपग्रह

दूसरे की सम्पत्ति पर अनुचित अधिकार करना चोरी है। मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ अपने पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त साधनों से ही पूर्ण करनी चाहिए। यदि कभी प्रसङ्गवश दूसरों से भी कुछ लेना हो तो वह सहयोगपूर्वक मित्रता के भाव से दिया हुआ ही लेना चाहिए। **किसी भी प्रकार का बलाभियोग अथवा अधिकार शक्ति का उपयोग कर कुछ लेना, लेना नहीं है, छीनना है, चोरी है।** अचौर्यव्रती राजकर की चोरी न कर, कानून विरोधी कार्य न कर, झूठे तोल-माप न कर, मिलावट नहीं कर, चोरी का माल नहीं खरीदकर और चोर की सहायता नहीं कर नैतिक आचरण को प्रोत्साहन देता है। इस शैली को

अपनाकर जीने वाला व्यक्ति जन-जन पर अनुग्रह करता है।

ब्रह्मचर्य व्रत से परस्परोपग्रह

''मैं स्वपत्नी सन्तोष के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का व्यभिचार न स्वयं करूँगा और न ही दूसरों से कराऊँगा। अपनी पत्नी के साथ भी अतिसम्भोग नहीं करूँगा।'' इस प्रतिज्ञा को ग्रहण कर आंशिक रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों का जीवन संयमित होता है। वह शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से पवित्र होता है, ऐसे व्यक्तित्व के द्वारा मानव समाज सुख और शान्ति को प्राप्त होता है।

अपरिग्रहव्रत से परस्परोपग्रह

आवश्यकता से अधिक धन, सम्पत्ति, भोग-सामग्री आदि किसी भी प्रकार की वस्तुओं का ममत्व मूलक संग्रह करना परिग्रह है। आवश्यक वह वस्तु है जो सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्थान में साधन रूप से जरूरी हो और जिससे मनुष्य की जीवन यात्रा निर्विघ्नतापूर्वक चल सके। जो गृहस्थ इस नीति-मार्ग पर चलते हैं, वे स्वयं भी सुखी रहते हैं और सर्वत्र सुख का प्रवाह बहाते हैं। परन्तु जब **इस नियम का यथार्थ रूप से पालन नहीं होता है तो समाज में विषमता उत्पन्न हो जाती है।** यदि प्रत्येक मनुष्य के पास केवल उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप ही सुख-सुविधा की साधन-सामग्री रहे तो कोई मनुष्य भूखा, गृहहीन तथा असहाय न रहे। अन्यथा अत्यधिक विषमता बढ़ने पर धनाढ्य व्यक्ति के साधनों पर गरीब लूटपाट मचायेंगे, छीन लेंगे। ऐसी स्थिति आने से पूर्व ही अपरिग्रहव्रत के माध्यम से पर-उपकार करके वह स्वयं भी उपकृत हो सकता है।

इस तरह श्रावक इन व्रतों के पालन से दूसरों को बाधित न कर उपग्रह करता है। अतः उपग्रह करने का अभिप्राय वस्तुओं का आदान-प्रदान, उपदेश कार्य, सहयोग आदि तक ही सीमित नहीं है, अपितु दूसरों की सम्यक् प्रवृत्तियों में बाधा न पहुँचाना भी परोपकार है। इस प्रकार जैन आचार संहिता या जैन जीवनशैली समाज में एक ऐसी व्यवस्था देती है, जिसका प्रत्येक मानव द्वारा पालन किये जाने पर कोई समस्या पैदा होने की सम्भावना नहींवत् रहती है।

हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप क्रियाएँ करने के पूर्व व्यक्ति पहले स्वयं के मन को मलिन करता है फिर ये क्रियाएँ करता है। जैसे किसी को मारने से पहले स्वयं में द्वेष की प्रबल भावना जगाकर ही बाद में हत्या की जाती है। यह द्वेष की भावना दुःख उत्पन्न करने वाली है, मन की शान्ति को भङ्ग करने वाली है, इस तरह व्यक्ति अपनी हानि किये बिना दूसरे की हानि करने में समर्थ नहीं बनता है। हिंसादि के माध्यम से दूसरे व्यक्ति में भी इन पाप क्रियाओं को बदले की भावना के रूप में बढ़ाकर सहयोग करता है। वह दूसरा व्यक्ति भी पुनः हिंसा, क्रोध आदि करके समाज में विकृतियाँ पैदा करता है। अतः हिंसा आदि पाप क्रियाओं को न करके स्व और पर दोनों के लिए उपकार करता है। इस प्रकार व्रतों के पालन से परस्पर उपग्रह निसर्गतः होता है।

परस्परोपग्रह सिद्धान्त पर आधृत जीवनशैली के प्रकार

सम्पूर्ण प्रकृति परस्पर उपग्रह पर टिकी हुई है। उपग्रह जीव दो प्रकार से करते हैं। एक तो सहज उपग्रह जो प्राणी की नैसर्गिक क्रियाओं से होता है, यथा-वृक्ष के फल, पत्तियों और बीजों को पशु-पक्षी खाकर अपनी उदरपूर्ति करते हैं तो दूसरी तरफ मल के माध्यम से अन्यत्र बीज त्यागकर वृक्ष सन्तति का अवसर प्रदान करते हैं। पञ्चेन्द्रिय प्राणी कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का निष्कासन कर पेड़-पौधों को जीवन प्रदान करते हैं और पेड़-पौधे ऑक्सीजन छोड़कर प्राणियों को जीवित रहने में सहयोग करते हैं। दूसरे प्रकार का उपग्रह वह होता है जिसमें विशेष प्रयत्न या भावना से परोपकार किया जाता है। जैसे-**अपने अधिकार की वस्तुएँ दूसरों को देना, विचारों का परस्पर आदान-प्रदान करना, विषादपूर्ण मनःस्थिति में सान्त्वना देना, हित कार्यों में प्रवृत्ति का उपदेश देना, अहिंसादि व्रतों के पालन से परहित करना, अस्वस्थ होने पर उपचार करना आदि।** ये दोनों प्रकार के

उपग्रह जीवों के दो प्रकार की जीवन शैली को रेखांकित करते हैं। प्रथम सहज जीवन शैली है और दूसरी जैन जीवन शैली है।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् की दार्शनिक पृष्ठभूमि

पृथ्वी, पानी, वनस्पति जैसे एकेन्द्रिय जीव से लेकर पशु, पक्षी, मानव आदि पंचेन्द्रिय तक के जीव परस्परोपग्रह सिद्धान्त को फलीभूत करते हैं। संस्कृत साहित्य में एक सुन्दर उदाहरण है-**'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः'**[1] अर्थात् सूर्य पृथ्वी से थोड़ा जल ग्रहण करके बदले में सहस्र गुणा जल पृथ्वी पर बरसाता है। सूर्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति मानव को उपग्रह में प्रवृत्त होने का सन्देश देती है। वैज्ञानिक खोजों से पता चला है कि पृथ्वी पर जीव की कोई भी प्रजाति पूर्ण नष्ट हो जाती है तो उसका दुष्प्रभाव सर्वत्र होता है, ये तथ्य सम्पूर्ण सृष्टि को परस्पर सम्बद्ध सिद्ध करते हैं। इस परस्पर सम्बद्धता को ध्यान में रखकर ही आचार्य उमास्वाति ने जीवों का लक्षण दिया है-**'परस्परोपग्रहो जीवानाम्।'**[2] इस लक्षण की पुष्टि आगम से भी होती है। महावीर की देशना के सम्बन्ध में कहा गया है- **''सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं''**[3] अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों की रक्षा और दया के लिए ही भगवान की धर्मदेशना प्रस्फुटित हुई थी। यहाँ उपग्रह का भाव परिलक्षित होता है। केवलज्ञान प्रकट होने के बाद उनकी मुक्ति में अब कोई साधक या बाधक नहीं बन सकता था, ऐसा समझकर भी भगवान् के द्वारा उपदेश देना 'परोपग्रह' को जीवों के बाह्य लक्षण के रूप में सिद्ध करता है।

तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार सिद्धसेनगणि ने 'परस्परोपग्रहो' शब्द की दो दृष्टियों से व्याख्या की है। जिसमें प्रथम दृष्टि से **''हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेन चोपग्रहं कुर्वन्ति''**[4] हित प्रतिपादन और अहित के प्रतिषेध को उपकार कहा है तथा द्वितीय दृष्टि से **''उपकारवचनस्य निमित्तार्थत्वात्''**[5] अर्थात् जीवों का परस्पर इष्ट एवं अनिष्ट करने में निमित्त बनना उपकार है। ये दृष्टियाँ सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों को प्रस्तुत करती हैं। वे कहते हैं **''परस्परा क्रिया सातत्येनेत्यत्र''**[6] इस संसार में जीवों की सतत रूप से परस्पर क्रियाएँ चल रही हैं। ये क्रियाएँ दूसरे जीव का हित सम्पादन करने वाली और अहितकारी भी हो सकती हैं। सिद्धसेनगणि की दृष्टि सूत्र की व्याख्या करने या मर्म को स्पष्ट करने की रही है, जबकि जैन जीवन दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में लिखे जाने वाले इस लेख में सकारात्मक दृष्टि को ही प्रमुखता दी गई है।

परस्परोपग्रह सिद्धान्त की समाज में भूमिका

मानव का विकास समाज पर ही अवलम्बित है। समाज के बिना मानव का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। मानवजाति के जीवन तथा विस्तार के लिए समाज अनिवार्य है। यदि मनुष्य एक दूसरे के साथ नहीं रहेगा तो शीघ्र ही उसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। अकेला मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार हमारा शरीर विभिन्न अङ्गों से निर्मित हुआ है, वैसे ही समाज विभिन्न अङ्गोपाङ्गों का समुदाय है। संघ, समुदाय, संस्थाएँ इसके विभिन्न अङ्ग हैं और मनुष्य उसकी एक इकाई है। प्रत्येक मनुष्य समाज में रहकर ही अपनी दिशा निर्धारित करता है। मानव और समाज में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि समाज मनुष्य के लिए है और मनुष्य समाज के लिए। शिशु अवस्था में वह परिवार को अपना समाज बनाता है, युवावस्था में अपने परिवार और स्व व्यवसाय वाले मित्रों को समाज बनाता है। वृद्धावस्था में वह अपने समवयस्कों के बीच अपना जीवन यापन करता है। अतः मानव शैशवावस्था से वृद्धावस्था तक समाज से विभिन्न रूपों में जुड़ा रहता है। बाल्यावस्था में वह पारिवारिक समाज में जीता है, जहाँ अपने माता-पिता से उपकृत होता है और स्वयं उनके कार्यों में सहयोग देकर उपग्रह करता है। इस प्रकार परस्पर उपग्रह करने का पाठ वह बचपन में ही सीख लेता है। यौवनकाल में विवाह कर अपने बच्चों के लालन-पालन, भरण-पोषण में, अर्थोपार्जन में अन्य का

सहयोग प्राप्त करता है और प्रकारान्तर से दूसरों का सहयोग करता है। वृद्धावस्था में अपने अनुभवों को बाँटकर दूसरों का भला करता है और पुत्रादि की सेवा से उपकृत होता है। कोई व्यक्ति यह चाहे कि मैं अन्य किसी का उपकार न लूँ, तो ऐसा कदापि संभव नहीं है। वह किसी न किसी रूप में दूसरे का सहयोग लिए बिना अपना जीवन चला नहीं सकता।

गृहस्थ ही विभिन्न प्रकार से एक दूसरे का सहयोग नहीं लेते, गृहस्थ जीवन का त्याग करने वाले मुनि भी परस्पर सहयोग की अपेक्षा रखते हैं। अतः भगवती आराधना में कहा है–**''सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं''**[7] संघ के मध्य में उत्तमार्थ अर्थात् मोक्ष की आराधना करना सरल होता है। क्योंकि वहाँ साधना करने में परस्पर सहयोग मिलता है। मूलाचार[8] में भी सामान्य रूप से संघ अथवा दो से अधिक श्रमणों के साथ विहार करने को श्रेयस बताया है तथा एकाकी विहार की घोर निन्दा की है। वस्तुतः संयम-पालन में परस्पर के आदर्शों और प्रेरणाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इससे श्रमण दोषों से स्वाभाविक रूप में बचा जा सकता है। इसी दृष्टि से एकाकी जीवन का निषेध किया है और संघ में साधना करने पर बल दिया गया है।

श्रमण-जीवन अध्यात्मशोध का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। **सच्चा श्रमण समाज से जितना लेता है, उससे कहीं अधिक देता है। समाज को न्याय मार्ग का, धर्म का, सुसंस्कारी बनाने का उपदेश देकर श्रमण महान् उपकार करता है।** इन उपदेशों से मानव में परस्पर सौहार्द का, सहयोग का भाव पुष्ट होता है, जो समाज को सुदृढ़ बनाता है।

जैनदर्शन में प्रतिपादित ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' सूत्र को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो यह एक आदर्श सूत्र के रूप में स्थापित किया जा सकता है। इसके लिए कई तर्क दिए जा सकते हैं, यथा-

1. मानवीय सम्बन्ध एक दूसरे के सहयोग पर आश्रित हैं।
2. सम्पूर्ण जगत् में मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जिसके विकास में कई तत्त्वों का योग होता है। जैसे- सभी प्राणी अपनी माँ का दुग्ध पान करते हैं, जबकि मानव अपनी माँ के अलावा गाय, भैंस, बकरी आदि के दुग्ध का जीवन भर सेवन करता है। पशु, पक्षी आदि को स्वावलम्बी होने में कुछ दिन या महीने ही लगते हैं, दूसरी तरफ मानव शिशु को स्वावलम्बी बनने में कई वर्ष लग जाते हैं। इस प्रकार मानव अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक पराश्रित है। अतः उसे अधिक सहयोग लेने की एवज में दूसरों को अधिक सहयोग भी प्रदान करना चाहिए।
3. सहयोग के अभाव में जीवन मत्स्यन्याय की तरह है। जैसे बड़ी मछली छोटी को खा लेती है। इस न्याय पर यदि समाज अवलम्बित हो तो समाज का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। अतः सहयोग की भावना समाज का प्राण है।
4. दूसरों की मदद करना ही स्वयं के लिए मदद प्राप्त करने का मार्ग है। इस दुनिया में ऐसा कोई अमीर नहीं जिसे कभी दूसरों की जरूरत ही न पड़े। यह परस्पर सापेक्षता ही ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' लक्षण की सार्थकता सिद्ध करती है।
5. दूसरों के प्रति तुच्छता का भाव और अपनी उच्चाकांक्षाएँ व्यक्ति के मन में कुण्ठाएँ उत्पन्न करती हैं। ये कुण्ठाएँ व्यक्ति को मानसिक रूप से विकृत कर देती हैं और समाज को भी प्रभावित करती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अपने जीवन में यदि दूसरों की महत्ता और पर-उपग्रह की आवश्यकता का बोध हो तो वह इन विकृतियों का निराकरण करने में समर्थ होता है।
6. पाश्चात्त्य मनोविज्ञान में सामान्यतया व्यक्ति की 14 मूल प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं- 1. भय, 2. घृणा, 3. जिज्ञासा, 4. आक्रामकता, 5. मान, 6. आत्महीनता, 7. मातृत्व की संप्रेरणा, 8. समूह-

भावना, 9. संग्रहवृत्ति, 10. रचनात्मकता, 11. भोजनान्वेषण, 12. काम, 13. शरणागति और 14. हास्य। इन चौदह प्रवृत्तियों में समूह भावना समाज की आवश्यकता को प्रकट करती है। यही कारण है कि समाज से अलग रहकर एकाकी जीना मानव के लिए दुष्कर है, क्योंकि वह अपने जीवन में सदैव दूसरे की अपेक्षा रखता है। हम देखते भी हैं कि बच्चे को बड़े होने में माँ-बाप की अपेक्षा रहती है तो बूढे माँ-बाप को बच्चे से सेवा की अपेक्षा रहती है। इसी सम्बन्ध में जैनाचार्य पूज्यपाद कहते हैं-''स्वामी तावद्वित्तत्यागादिना भृत्यानामुपकारे वर्तते। भृत्याश्च हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेन च। आचार्य उभयलोक-फलप्रदोपदेशदर्शनेन तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते। शिष्या अपि तदानुकूलवृत्त्या आचार्याणाम्''[9] अभिप्राय यह है कि सेवक को स्वामी से धन प्राप्त करने की तथा स्वामी को सेवक से कार्य करने की अपेक्षा होती है। आचार्य हितकारी उपदेश से शिष्य का भला करते हैं तो बदले में शिष्य गुरु के प्रति अनुकूल व्यवहार कर सहयोग करता है। इस प्रकार परस्पर सहयोग की भावना आदर्श समाज की नींव है।

परस्परोपग्रह सिद्धान्त की आवश्यकता एवं महत्ता

परस्परोग्रह सिद्धान्त के द्वारा जैनदर्शन ने मनुष्यों की पारस्परिक सहानुभूति या दया को महत्त्व दिया है। यह सहानुभूति और दया आदर्श जीवन शैली का आधार है। आज के समाज की यह प्रथम जरूरत है। क्योंकि चारों तरफ भोगवाद के माध्यम से प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा बढ़ायी जा रही है। यह प्रतिस्पर्धा दूसरे से अपने को श्रेष्ठ साबित करने की प्रवृत्ति को जन्म दे रही है। इस प्रवृत्ति से एक मानव का दूसरे मानव के प्रति प्रेम का व्यवहार समाप्त हो रहा है और उसका स्थान ईर्ष्या, द्वेष और घृणा ले रही है। ये ईर्ष्या, द्वेष आदि के बीज आतंकवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, हत्या, चोरी न जाने किन-किन समस्याओं के रूप में हमारे सामने आ रहे हैं। एक दूसरे के प्रति सहयोग की भावना का विकास इन समस्याओं का समाधान हो सकता है।

प्रसिद्ध चिन्तक बर्टण्ड रसेल का मत है कि प्रतियोगिता की प्रवृत्ति से दो मुख्य दोष उत्पन्न होते हैं- प्रथम हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ती है और दूसरा परस्पर सहयोग की भावना समाप्त हो जाती है। सहयोग की भावना की न्यूनता परस्पर सामञ्जस्य में कमी कर देती है। सामञ्जस्य की कमी से समाज का ढाँचा चरमरा जाता है। आजकल प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति बाल्यकाल से ही बच्चों में विकसित हो रही है, क्योंकि पूरे समाज की व्यवस्था प्रतियोगिता पर अवलम्बित है। व्यापार का क्षेत्र हो, चाहे शिक्षा का क्षेत्र, पारिवारिक क्षेत्र हो, चाहे राजनीति का क्षेत्र, यहाँ तक कि धार्मिक क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। अतः हमें प्रतिस्पर्धा को कम कर परस्पर सहयोग की भावना को बढ़ाने पर बल देना चाहिये।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' एक प्रायोगिक सूत्र है। इस सूत्र में केवल व्यक्ति, समाज या देश का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण सृष्टि जगत् का हित निहित है। जैन जीवनशैली की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण विश्व में इसी सूत्र से हो रही है।

सन्दर्भ

1. रघुवंश, 1.18
2. तत्त्वार्थसूत्र, 5.21
3. प्रश्नव्याकरणसूत्र
4. सिद्धसेनगणि की टीका, 5.21
5. सिद्धसेनगणि की टीका, 5.21
6. सिद्धसेनगणि की टीका, 5.21
7. भगवती आराधना, 1555
8. द्रष्टव्य-मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ. फूलचन्द प्रेमी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1987, पृष्ठ 299
9. सर्वार्थसिद्धि, सूत्र 5-21 की टीका

-(पोस्ट डॉक्टर फेलो, यू.जी.सी., नई दिल्ली)
समता कुंज, प्लॉट नं. 12/7 ए, जालमविलास स्कीम, पावटा बी रोड़, जोधपुर-342006 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 272
ISSN 2249-2011

Spirituality of Ahiṃsā : A Jaina Perspective

Dr.Priyadarshana Jain

'Ours is a world of nuclear giants and ethical infants. We know more about war than we know about peace, more about killing than we know about living.'

-Omar N Bradley

Lifeline of Spirituality

Spirituality is the nourishment of the inherent divinity within through *Ahiṃsā*.

Ahiṃsā is the lifeline of Spirituality. Ahiṃsā is much more than non-injury.

Ahiṃsā is profound spirituality and the heart of all religious practices.

Ahiṃsā is the very own nature of the pure soul. It is a perfect state of the pure soul.

Ahiṃsā is that which enables one to evolve spiritually.

Ahiṃsā is supreme *Dharma*. [That *Dharma* is supreme which comprises of *Ahiṃsā, Saṃyama* (self-restraint) and *Tapa* (austerity)][1].

Ahiṃsā is complete awareness of the transcendental self.

Ahiṃsā is the transcendental nature of the pure soul.

Ahiṃsā enables one to annihilate all karmas.

Ahiṃsā enables one to purify oneself and cleanse all sins.

Ahiṃsā is nurturing friendliness towards all creatures.

Ahiṃsā is giving up all sinful activities.

Ahiṃsā is establishing oneself in the inner self to manifest the pure self.

Ahiṃsā enables one to experience spiritual bliss.

Ahiṃsā enables one to realize oneself and be oneself.

Ahiṃsā is steadiness of the mind and the self.

Ahiṃsā is practising equanimity.

Ahiṃsā is conquering oneself, gloriously winning over attachment and aversion after having right understanding of reality and one's spiritual self.

Ahiṃsā is the path of spiritual scientists called Jinas (conquerors).

Ahiṃsā is the way to become a Jina (conqueror of the self).

Ahiṃsā is overpowering the treacherous passions viz., anger, conceit, deceit and greed through the practice of the three jewels of right perception-knowledge and conduct.

Ahiṃsā is a sure and only means to emancipation.

Ahiṃsā is a virtuous and religious exercise.

Ahiṃsā is looking upon others as oneself.

Ahiṃsā is being indifferent to prosperity and adversity.

Ahiṃsā is detachment of all that is non-self and absorption of the self in the self.

Ahiṃsā is the way and the destination.

Ahiṃsā is awareness of the self and desirelessness.

Ahiṃsā is straight-forwardness and tolerance.

Ahiṃsā makes one worthy of emancipation.

Ahiṃsā frees oneself from all conditioning.

Ahiṃsā teaches the art of right living

and art of dying.

Ahiṃsā without spirituality begets auspicious karma and ahiṃsā with spirituality leads to emancipation.

Introduction

Jainism is a way of life and admonishes its followers to take to a non-violent, awakened, compassionate and enlightened way of living in all walks of life. It is an out and out spiritual way of living which springs from the thoughtfulness and experience of the inner, pure, divine self. The *Tīrthaṅkara* Arhats and other Jinas practised the same, perfected it, liberated themselves from the wheel of transmigration and accomplished the perfect spiritual state through the practice of *ahiṃsā,* self-restraint and the supreme austerities. Besides serving spirituality, the core values of Jainism address all issues that concern mankind at any given time be it sociological, psychological and environmental. Lord Mahavira was the 24th *Tīrthaṅkara* who lived 2,600 years ago and was preceded by a legacy of 23 *Tīrthaṅkaras* who were spiritual scientists and taught not just by precept but by practice, demonstrating the noble way of non-violent, enlightened, spiritual living. All the Jina images in the beautiful temples in India and abroad are more or less alike, silently giving the supreme spiritual message to all creatures, 'to come unto one-self and discover one-self.' Thus the Gods of the Jains are not creator Gods but pure *Paramātmans* (*param-ātmans* i.e., supreme souls) who have manifested and accomplished their pure spiritual potential and become self-sovereign (*Siddha, Buddha, Mukta*)[2] through the practice of *Ahiṃsā.*

Emphasis on Spirituality and Ahiṃsā

Tīrthaṅkara Māhavirā emphasized on spirituality and spiritual way of living as the summum-bonum of life. It is from this insight that the great principle of *Ahiṃsā* emerged which is the basis of Jaina ethics. This principle of *Ahiṃsā* is an ancient one, and of great relevance today. The Jaina ethics which is the heart of Jainism promotes an eco-friendly, non-violent, compassionate, awakened and spiritual way of living. This is not based on any dogma or blind faith but is grounded in reason and rationality with a great concern for all micro and macro life forms. This uniqueness of Jainism makes this philosophy universally relevant[3]. There is no substance, be it living or non-living without qualities and modifications. There are six substances in the Universe which are comprehended through their characteristics and modes[4]. The soul too is a living entity characterized by infinite attributes viz., knowledge, vision, power, etc which are obscured and distorted due to perversion, lack of right understanding of the nature of the self, and hence the soul is found in the defiled state of bondage[5]. This ignorance of the self is violence related to the self which needs to be checked first and foremost. It is from this ignorance and perversion that all other kinds of violence spring and so today we have the New Spirituality in the form of human rights, animal rights, environmental rights, sustainable development, etc crying for attention so that man may exact his behavior and save the beautiful planet.

Albert Einstein remarked that science can denature plutonium but it cannot denature the evil in the heart of man. Science coupled with spirituality is the need of the hour. Jainism is one of the oldest living religions, which establishes that all life is connected and mutual co-existence is the mantra for universal peace and harmony on one hand and for sustainable development on the other. The scriptures reveal that there is a deep inter-relationship between man and man as well as man and the environment at large. Jainism has paved the path of spiritual

progress through discrimination between right and wrong, purity of thought, word and deed, compassion for the meek creatures, concern for the environment and above all self-restraint for victory of the self. Since ages it has advocated that self-restraint is the key to equitable and sustainable development and the practice of these basic vows is the formula for an eco-friendly life style. 'Scientific vision is to know the reality and spiritual mission is living the reality to combat the global crisis.'

Relation between Spirituality and Ahiṃsā

The enlightened, omniscient *Tīrthaṅkaras* have described the different levels and kinds of the self and revealed that there are 8.4 million kinds of *jīvā yonis* (birth places)[6] where infinite living beings transmigrate in the four-fold existences (*gatis*) due to lack of right understanding of the self (deep spirituality) and taking to different kinds of psychical (*bhāva hiṃsā*) and physical violence (*dravya hiṃsā*). Hence the path of liberation constitutes the right understanding of the self which encompasses heightened consciousness and awareness of the self first and in its light being considerate of all kinds of life forms be it the one-two-three-four and five sensed, micro or macro beings; and not hurting, abusing, insulting, injuring, killing, wounding, ill-treating, exploiting, neglecting, manipulating, disregarding and being cruel to any life form in thought, word and deed. Looking upon all life forms as one's own-self, one refrains from all kinds of hiṃsā, thus protecting one-self and being instru-mental in the well-being of the other. Thus *Ahiṃsā* springs from a deep and profound spirituality and is an application of this deep realization of the true self. Spirituality is thus the lifeline of *Ahiṃsā* and the latter is regarded as the supreme virtue. All other virtues are secondary and are elaborations of this cardinal virtue. The vow of *Ahiṃsā* is all-comprehensive and extolled for the welfare of one and all. The violent acts committed due to carelessness amount to violence; and non-violence is a vigilant attitude of the awakened spirit.

An ascetic is one who understands the nature of the soul and is spiritually awakened. He is committed to the path of complete non-violence, come what may. Even in the face of death, he remains committed to the experience of the pure soul through the practice of *Ahiṃsā* and other vows viz., *Satya* (truthfulness), *Asteya* (non-stealing), *Bramhacarya* (chastity) and above all *Aparigraha* (non-possession/non-attachment). A householder who has faith in the right Gods, *Gurus,* and *Dharma* and has knowledge of the nine tattvas exerts in right conduct although partially and the first step towards this begins with the renunciation of intentional violence (*sankalpi hiṃsā*)[7]. An aspirant, who seeks self-realization and victory over the self, takes care not to indulge in the transgressions of the prescribed vows. Inflicting cruelty to animals and human beings, torturing or terrorizing them, physical assaults to animals and humans, consumption of wine and flesh, hunting, deforestation, exploitation, corruption, inhuman behavior, unfair business practices, attack upon weaker people and nations, child labor, atrocities on women, racial discrimination, ill-treating prisoners, mass violence, suicide etc amount to violation of the vow of *Ahiṃsā*[8]. The ascetics follow the great vow of *Ahiṃsā* along with other vows completely whereas a householder follows it

partially trying to balance his spiritual life and worldly life.

'Nothing is higher than Mount Meru and more expansive than the sky, so also know that no *Dharma* is equal to *Ahiṃsā* in this world,' reveals the Saman Suttam. This doctrine of Ahiṃsā forms the crux of Jaina ethics and provides a sustainable solution to the spiritual, mental, physical, social and environmental problems faced by modern man. The violations of spiritual living and violence attract great heaps of negative energy called karmas and the intrinsic nature of the soul gets veiled by such karmas and causes it to wander and suffer in the four-fold existence. The universal law of karma works automatically and a belief in this universal law inspires one to be spiritual and non-violent to the extent possible. The exhaustive and profound karma theory is propounded not to terrorize the bondaged beings but is so revealed to enable the worthy souls to realize their latent divine potential through spiritual and compassionate living.

Two facets of the same coin

Spirituality and *Ahiṃsā* are two facets of the same coin. If spirituality is astute wisdom of one's consciousness, then absorption of the self, in the self, for the self, by the self is non-violence related to one's own-self. When one is awakened and self-realized then one is careful in all his/her dealings. And then one looks upon all others as pure, godlike selves and does not injure them by thought, word and deed then it is the application of non-violence. One exerts wisely and compassionately, with all life forms irrespective of caste, creed, religion, gender, nationality, etc. Such a person sees the underlying unity of all existence and becomes a responsible pilgrim, who is secure in his wisdom and fearless of tomorrow. Thus Spirituality and *Ahiṃsā* blossom from wisdom and awareness. Hence it is said, 'first awareness, then compassion.'[9] There is only one way (of spirituality and non-violence) for all those who are enlightened and there are many mundane ways for all those who are ignorant, remarks Srimad Rajchandra[10]. Those who are spiritually awakened are definitely non-violent and those who are non-violent are indeed truly spiritual. One cannot subsist without the other.

Uniqueness of Jaina Spirituality

Jainism is not a mere religion; it is a way of life. For, to be religious conveys an institutional connotation whereas to be spiritual connotes personal practice/*sādhanā* and personal empowerment through the realization of the supreme reality thereby fulfilling the deepest motivations and impetus of life. As a result, spirituality has come to have largely positive connotations, while religion has been viewed more negatively. Spirituality is much more than going to a temple or a church and agreeing or disagreeing with institutional doctrines. Unlike in other traditions where spirituality is discussed as a relation with God or some higher force, in Jainism it connotes realizing one's pure potential and the infinite treasures latent in the confines of the self and manifesting it. Unless the divine, spiritual state is manifested, the soul continues to transmigrate and suffer and this is violence (*hiṃsā*) of the self and suffering for the self.

To be absorbed in the pure soul is supreme *Ahiṃsā* (non-violence), to understand the soul rightly is *Anekāntavāda* (non-absolutism) and to practise supreme detachment is *Aparigraha* (non-attachment).

These are the three fundamental principles of Jainism and a fine blend of these is the crux of spirituality. All three have to be holistically examined and applied for spiritual evolution. Also the three jewels (*ratna-traya*) revealed by all the omniscients emphatically, summarize the depth and extant of the unfathomable spirituality and *ahiṃsā*. The path of liberation constitutes of these three jewels viz., *samyak-darshan* (right perception of the pure soul), *samyak-jñāna* (right knowledge of the pure soul) and *samyak charitra* (self absorption) and they have to be understood from the real and practical view points, if not, one falls short of spiritual advancement and remains entangled in the whirlpool of transmigration even though he may be moral, virtuous, righteous and noble in all his dealings. The word *'samyak'* in the three jewels refers to mystical spirituality and *ahiṃsā* finds place in the third jewel. Only on deeper examination and reflection one can understood that *Ahiṃsā* is an essential and fundamental aspect of spirituality as realized, experienced and revealed by the all-knowing enlightened, spiritual personalities called *Tīrthaṅkaras,* Arhats, Jinas.

From the real or spiritual point of view *samyak-darshan* is the right perception of the pure soul, *samyak-jñāna* is the right knowledge of oneself and samyak *charitra* is being oneself. The soul is a knower and a seer and not a doer or enjoyer of anything other than its own nature. The nature (*dharma*) of all living and non-living substances cannot exist out of it. So to be in one's own nature of living and enabling others to realize and abide in one's own spiritual self is the great spiritual message of the motto of 'live and let live.' From the practical point of view, faith in the spiritual personalities (*Arhats* and *Siddhas*) who have accomplished the perfect spiritual state through the practice of *Ahiṃsā* is *samyak-darshan,* knowledge of reality through the tattvas (preaching of the omniscients) is *samyak-jñāna* and complete or partial observance of *Ahiṃsā* and other vows is *samyak-charitra*. Thus we see that the practice of *Ahiṃsā* holds substantial value only when it is preceded by right understanding of the self and reality. The gods, *gurus* and scriptures are mere torch bearers, the kindly light guiding one and all to one's own self, which is godlike, divine, pure, blemishless, self-sovereign, self-born, eternal, transcendental as well immanent, beyond sense perception, characterized by infinite knowledge, vision, bliss and power.

Basis for Spirituality and Ahiṃsā

Lord Mahavira reveals that most living beings do not know from where they come[11] and what their purpose in life is! They spend their time nurturing the instincts of food, fear, pleasure and possessions and consider it to be true living. They flow with the worldly current and consider it to be right. But when one meets an awakened soul or studies the deep secrets of enlightenment through scriptural study applying the tools of Jaina logic viz., *syādvāda* and *anekāntavāda,* one is transformed through spiritual insight. Such a person is addressed as an *ātmavādi* (believer in spirituality/the concept of soul)[12]. Secondly he also realizes that he is an eternal living being and has existed since time immemorial and shall exist in different existences (*gatis*) even after the body is relinquished until he is liberated. Such a person is called a *lokavādi*[13] i.e., believer in the concept of rebirth. Thirdly he realizes that he transmigrates in these existences (8.4 million life forms) only because of his deeds (karmas) and he alone is responsible for all the state of affairs in any given lifetime. Such a person is said to be the believer in the

concept of karma (*kammavādī*)[14] which is the universal law of cause and effect. Fourthly he comprehends that all karmic attraction takes place due to some activity or the other and it is these activities of the mind, body and speech (*kriyā*) that keep him away from the eternal spiritual self. Such a person is called *kriyāvadī*[15] (believer in the concept of actions and its fruits). He then gets truly connected to his true spiritual nature and then the rectification of all sins, vices, defilements (*doshas*) begins in the form of abstinence, renunciation, asceticism, self-discipline and restraint, austerities, penance, meditation, detachment, devotion, selfless service, etc. Thus Spirituality skillfully crafts a person to be humane, divine, responsible, non-violent, truthful, detached, virtuous and noble all at the same time.

Understanding Spirituality and Ahiṃsā through Jaina Metaphysics

There are two basic substances in the universe viz., living and the non-living. In Jaina metaphysics they are termed as *jīvā* and *ajīvā*[16].The *Sthānānga Sūtra* reveals that there is one soul (ege *āyaa*)[17] and the *Dashavaikalika Sūtra* says that there are infinite *jīvās* (anega *jīvā*)[18]. Without the tool of *Anekāntavāda* (*Nayavāda* and *Syādvāda* included) one cannot rightly comprehend the nature of reality[19] and the real meaning of these two statements which seem to be contradictory. And without the comprehension of reality the real practice of spirituality and *Ahiṃsā* does not commence. Hence along with *Ahiṃsā* and *Aparigraha, Anekānta* is equally important for the understanding of Spirituality. 'Ege *āyaa*' means all living beings are qualitatively (spiritually) one and 'anega *jīvā*' means that we are quantitatively infinite. All living beings are of the same kind and *hiṃsā* of another is verily the *hiṃsā* of the self, reveals the *Achāraṅga Sūtra*. The association of the *jīvā* and *ajīvā* is called *āsrava* (karmic influx) which leads to bandha (bondage of soul and non-soul) and is the cause of transmigration (*saṃsāra*); and their disassociation is termed as *nirvāṇa* or *mokshā*. And Spirituality (adhyatma) through the practice of *Ahiṃsā* is the one that brings about this consequence of complete disassociation. This is done through *saṃvarā* (stoppage of karmic influx) and *nirjarā* (annihilation of all non-soul/foreign matter called karmas). Thus Spirituality includes all those exercises, be it religious or spiritual which will bring about complete *saṃvarā* and *nirjarā*. If the soul ignorantly takes to religious exercises without self-actualization, the above outcome is never possible. One may acquire good karma and a temporary or a prolonged stay in the heavens depending on the quality of karmas (*punya* and *pāpa*) but never *moksha* which is a state of *no-karma*. Every soul has to attain that liberated state here and now through Spirituality and *Ahiṃsā* in order to live happily ever after in that state. And that state is beyond description, words fail us as it is a subject of experience and not explanation. One who enjoys that spiritual state while embodied is called an Arhat and when he enjoys that state in a disembodied state, he is called a Siddha. Jainism reveals that this perfected state is the birthright of every *jīvā* and one can channelize one's free will in the right direction and realize that state. Thus channelizing one's potential in the direction of the pure, divine self is Spirituality and the resultant of it is *Ahiṃsā* (a complete *vītarāga* state devoid of attachment, delusion, karma, and suffering).

Application of Spirituality and Ahiṃsā

In the Jaina tradition we can see the application of this deep spirituality in all walks of life be it their rituals of worship, fasting or food habits. 1) Firstly, when one

observes the art and architecture of the Jina images in the Jain temples one will see the deep spirituality reflected in the *Tīrthaṅkara* images. There will be no priest who will communicate to the Lord on our behalf. One invokes the Lord within taking clues from the perfected souls. 2) Secondly, the Jain festivals of *Paryushan, Dasalakshan, Mahāvira Janma Kalyaṇaka, Akshaya tritiya,* etc. too reflect the spiritual fervor. 3) Thirdly, the Jain monks and nuns walk barefoot through the length and breadth of India disseminating the teachings of the *Tīrthaṅkaras* through their life inspiring one and all to excel in Spirituality and *Ahiṃsā.* 4) Fourthly, the belief that one is responsible for all actions and consequences, one exerts with utmost care, minimizing all violence, passions, etc to the extent possible. The protection of the inner pure self is the supreme state of *Ahiṃsā* and compassion. It is from this compassion that the Jains ought to take to philanthropic activities without attaching their ego (*kartā bhāva*) to the noble activities. 5) Fifthly the Jain fasting and food habits too exhibit their care for the self and all life forms of life. The very ardent Jains fast from sunset to sunrise all their life and take to periodical fasting, salt-less diet (*ayambil*, etc). The reason for this is that when the body is emaciated by right comprehension, the *ātman* is definitely thickened by spirituality; and this is done in repeated births in order to eventually disassociate oneself from the karman body which is the cause of the earthly body. Many Jains in the West are taking to Vegan way of living due to the violence involved in the dairy industry. 6) Sixthly, the Jains are admonished not to take to those trades and professions which involve cruelty to animals and are directly or indirectly responsible for environmental degradation and exploitation of the resources.7) Lastly, the Jains wish for *samādhi maraṇa* through the spiritual observance of *Sallekhanā.* As the Jains believe in the eternity of life they live and die for Spirituality through the observance of *Ahiṃsā* in all its dimensions in order to be emancipated.

Conclusion

In olden times there were knives and swords, and only a part of the body was cut, then came the pistols and guns which killed individuals, following this came the atom bombs which destroyed a city or two, but today man has developed the nuclear weapons of mass destruction and the entire world shudders to think of the use of nuclear weapons and missiles. The problem today is not of guided missiles but misguided men, hence the need for the *vrata* (disciplined life of vows) culture and spiritual non-violence. The *Ācharaṅga Sūtra* says that there can be one weapon more powerful than the other, but the weapon of self-restraint (and non-violence) is the supreme one[20].

As all wars must end in peace, all violence must end with non-violence, so also all materialism and suffering can end only with spiritual awakening. The need of the hour is protection and preservation of the pure self and the environment at large and this is possible when every individual, society and nation realizes the significance of the eternal spiritual value and exerts accompanied with it. Thus through inter faith dialogue and faith in the culture of non-violence; humanity and spirituality can blossom and one can realize the higher truths of life and make life meaningful and the earth a better place to live.

References and Endnotes

1. Dashavaikālika Sūtra 1.1, Ed by K.C.Lalwani.
2. Uttarādhyayana Sūtra 29.1, Ed By Madhukar Muni.
3. Article on The Unique and the Universal Dimensions of Jainism,by Priyadarshana Jain.
4. That which is-Tattvārtha Sūtra, Ed by Nathmal

Tatia, Chapter 5.
5. Uttarādhyayana Sūtra, Chapter 32; Samayasara, Chapter 1.
6. Āvashyaka Sūtra, 84 lakh jīvā yoni lesson.
7. A Source book in Jaina Philosophy, by Devendra Muni Shastri.
8. Jainism and the New Spirituality, by Vastupal Parikh.
9. Dashavaikālika Sūtra, Chapter 4.
10. Vācanāmruta, Letters of Srimad Rajchandra
11. Ācharaṅga Sūtra, Chapter 1.1.
12. Ibid Chapter 1.1.
13. Ibid Chapter 1.1
14. Ibid Chapter 1.1
15. Ibid Chapter 1.1
16. Tattavārtha Sūtra, Chapter 5; Uttarādhyayana Sūtra, Chapter 36
17. Sthānānga Sūtra 1.1
18. Dashavāikālika Sūtra, Chapter 4.
19. Bhagavati Sūtra, Chapter 7,2.
20. Ācharaṅga Sūtra, Chapter 1, Ed by Madhukar Muni.

-Asst Prof and Head, Dept. of Jainology, University of Madras, Chennai-5

महिमा नमस्कार सूत्र की

श्री राकेश कोचर

जैनधर्म में नमस्कार सूत्र का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है।
नहीं सूत्र कोई अन्य ऐसा, यह सभी मंगलों में प्रधान है।।
नमस्कार सूत्र का स्मरण करके, हम पंच परमेष्ठी को करते नमस्कार।
आत्मा में तब ज्ञान प्रकाश आता और मिटता अज्ञान अन्धकार।।
अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इनसे ऊँचे कोई पद नहीं हैं।
पंच परमेष्ठी का जो करे आराधन, मोक्ष पद पर बढ़ता वही है।।
अर्हन्त प्रभु हैं केवलज्ञानी, भव्यों के वे भव को हरते।
'नमो अरिहंताणं' कहकर हम, उन देवाधिदेव को नमन करते।।
नमस्कार सूत्र पढ़ते हुए महापुरुषों के निर्मल जीवन का आभास हो।
एक नमस्कार सूत्र भी कहा हो तो दिल में अपूर्व प्रसन्नता का अहसास हो।।
उठते, बैठते, सोते, जागते हर समय नमस्कार सूत्र का ध्यान कीजिये।
विचारों को पवित्र, पावन बनाकर जैन संस्कारों का परिचय दीजिये।।
नमस्कार सूत्र जैनधर्म के अनुयायी की एक बड़ी पहचान है।
पाँच पद में स्थान पाने वालों को कोटि-कोटि प्रणाम है।।
भले दिनचर्या हो व्यस्त आपकी, पर नमस्कार सूत्र को कीजिये याद।
पंच परमेष्ठी के गुण जीवन में आयें तो जीवन बाग है आबाद।।
'नमो अरिहंताणं' कहते ही अर्हंत प्रभु की उज्ज्वल छवि मन में लाइये।
उनके चरण कमलों में श्रद्धा पूर्वक नतमस्तक होकर अपूर्व शान्ति पाइये।।
शाश्वत सुखों में लीन सिद्ध प्रभुजी दे रहे हैं ये सन्देश।
कब तक भटकोगे चार गति में, मोक्ष पथ पर करो प्रवेश।।
धन्य हैं वे आत्माएँ सभी जो तिर गयी नवकार के सहारे।
हम भी शुद्ध मन से ध्यायें इससे तो चमक जायेंगे भाग्य हमारे।।

-Plot no. 29 B, Dagoba Sadan Road, Near Geeta Bhawan, Hiwari Nagar, Nagpur (MH)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 280
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली में अहिंसकाहार

डॉ. पी.सी. जैन

आहार का सम्बन्ध आरोग्य से है और आरोग्य का प्रश्न जीवन से जुड़ा हुआ है वह किसी सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ नहीं है। भगवान महावीर के सामने आत्मा प्रधान थी, शरीर गौण था। आदि से अन्त तक अहिंसा की परिक्रमा करने वाली चेतना उसी स्वास्थ्य को, उसी आहार को मूल्य दे सकती है जिसके कण-कण में आत्मा की सहज स्मृति हो।

महावीर के सामने परम तत्व था आत्मा। उसे स्वस्थ रखने के लिए उन्होंने बहुत कुछ कहा और वह कथन अध्यात्मशास्त्र बन गया। अध्यात्म शास्त्र का दूसरा नाम ही है स्वास्थ्यशास्त्र, उसी में अहिंसक आहार का विस्तृत विवेचन है।

जैन आहार-पद्धति हिंसा पर नहीं अहिंसा पर, विषमता पर नहीं समता पर, साधनों पर नहीं साधना पर दूसरों पर नहीं स्व पर, जिह्वालोलुपता पर नहीं सुस्वास्थ्य पर, क्षणिक राहत पर नहीं, अपितु अन्तिम प्रभावशाली स्थायी परिणामों पर आधारित है। वह रोग के लक्षणों की अपेक्षा आरोग्य के मूल्य कारणों पर आधारित है जो शरीर के साथ-साथ मन एवं आत्मा के विकारों को दूर करने में सक्षम है। यह अहिंसकाहार पद्धति प्रकृति के सनातन सिद्धांतों पर आधारित होने के कारण अधिक प्रभावशाली वैज्ञानिक, मौलिक एवं निर्दोष होने के साथ-साथ जैन सिद्धान्तों की रक्षक होती है।

आहार के दो प्रकार हैं-(अ) अहिंसकाहार, (ब) हिंसकाहार।

शाकाहार शब्द शाक+आहार दो शब्दों से मिलकर बना है। शाक शब्द का अर्थ है-पात, साग, सागपात, हरे पत्ते, सागभाजी। आहार का अर्थ है-भोजन, भोज्य पदार्थ। अर्थात् शाकों का आहार अथवा जिस भोजन में शाक-पत्ते हों। इसमें दूध, दही, तेल, धृत, फल, मेवे तथा जमीन के अन्दर पैदा होने वाले जमीकन्द सम्मिलित नहीं होते। इस प्रकार शाकाहार में सम्पूर्ण आहार समाहित नहीं होता है।

यद्यपि शाकाहार शब्द अति उत्तम शब्द है, इसमें अहिंसा पालन के संकेत भी हैं, पर शाकाहार शब्द आहार को परिभाषित करने की दृष्टि से अपूर्ण है। अत: इसे अहिंसकहार कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। आयुर्वेद के महर्षि विद्धान्-चरक महर्षि, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि ने शाक शब्द का अर्थ शाक वर्ग तथा प्रचलित शाकों से ही लिया है। इनके ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर शाकाहार, अन्नाहार, फलाहार, दुग्धाहार का उल्लेख है। अत: उनके अनुसार आम, नारंगी, मौसमी, फल, मेवे, अन्न, दाल, दुग्धादि पृथक् हैं। यदि शाकाहार शब्द के स्थान पर अहिंसक आहार शब्द प्रयुक्त किया जाये तो ये सम्पूर्ण पदार्थ अहिंसक आहार में समाहित हो जाते हैं। इसमें वे सब खाद्य/भोज्य पदार्थ सम्मिलित हो जाते हैं, जिनमें हिंसा नहीं होती है। इसमें सभी प्रकार के शाक, फल, मेवे, दुग्ध और दुग्ध निर्मित सभी पदार्थ, जमीन के अन्दर पैदा होने वाले पदार्थ आदि सभी इसके अन्तर्गत समाहित होते हैं। इस प्रकार अहिंसकाहार ही सम्पूर्ण आहार है। अहिंसक आहार को अग्र दिये हुए अक्षरार्थों से ही समझा जा सकता है-

अ. अहिंसकाहार

Vegetarian	**(अहिंसक आहार)**
V : Venerable (आदरणीय)	**अ :** अमृतमय
E : Effective (प्रभावी)	**हिं :** हिंसारहित
G : Graceful (शालीन)	**स :** सन्तुलित
E : Exuberant (जीवन्त)	**क :** कल्याणकारी
T : Tasteful (स्वादिष्ट)	**आ :** आह्लादकारी
A : Adroit (कुशल)	**हा :** हाज़मेदार

R : Reliable (सुपरीक्षित) र : रसपूर्ण

I : Ideal (आदर्श)

A : Altruist (परोपकारी)

N : Natural (प्राकृतिक)

अहिंसकाहार से लाभ, महत्त्व, गुण-प्रकृति ने मानव शरीर को अहिंसकाहार के योग्य बनाया है जिससे वह स्वस्थ, सुन्दर, सबल और सुखी रह सकता है।

अहिंसकाहार सहज, शक्तिशाली स्वास्थ्यकारी है। इससे मनुज जीवन विशुद्ध रहता है, यह नई उमङ्गें/तरङ्गें प्रदान करता है, सुरभित वातावरण बनाता है, मानवता प्रदान करता है, सजगता प्रदाता, कर्म खर्चीला, पर्यावरण रक्षक है और करुणा के विचार प्रदान करता है। यह पारिवारिक सौहार्द प्रदाता एवं हिंसक विचारों पर रोक लगाता है, निर्मल स्वभाव बनाता है, दया और धर्म के प्रति अनुराग बढ़ाता है। सदा तन में शक्ति का संचार करता है, शील एवं सौम्यता के गुणों की खान होता है, जन, धन और तन का नाश होने से रोकता है, जीव-जन्तु का विकासक, जीव-जन्तु पर्यावरण के विकास में सहायक होता है। यह उनको संरक्षण प्रदान करता है। यह औषधि प्रदाता, सुकून प्रदाता, मानवता पोषक, खुशहाली प्रदाता है। इससे रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

शोध एवं अध्ययन के आधार पर अहिंसक आहार के लाभ

हमारे देश के लब्ध प्रतिष्ठत वैज्ञानिक प्रो. नीलधर ने परीक्षण के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि अहिंसक भोजन शक्ति, स्वास्थ्य और दीर्घायु प्राप्त करने में सहायक होता है। प्रो. रिचेट ने प्रायोगिक आधार पर यह प्रमाणित किया है कि अहिंसक आहार रक्त-रस सम्बन्धी रोगों को उत्पन्न होने से रोकता है तथा रोग संक्रमण से रक्षा करने योग्य बनाता है। मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारियों में आत्म-विषाक्तता तथा रोगाक्रान्त होने की सम्भावना कम रहती है। शाकाहारियों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी न्यूयॉर्क के एक विख्यात सर्जन ने (जो स्वयं अहिंसक आहारी नहीं था) बतलाया कि अहिंसक आहारी स्त्रियों के प्रसव बहुत जल्दी और बिना किसी विशेष कष्ट के हो जाते हैं। अधिकांश खेल प्रतियोगिताओं में अहिंसकाहारी खिलाड़ी ही विजयी होते हैं। विशेषत: जिन खेलों में सहनशीलता की आवश्यकता होती है, वहाँ उनकी विजय प्राय: निश्चित होती है। अहिंसकाहारियों की हड्डियाँ अपेक्षाकृत अधिक मज़बूत होती हैं, उनके घाव जल्दी भरते हैं तथा वे दीर्घजीवी होते हैं।

डॉ. हिंडहीड ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है "अपनी तमाम छान-बीन के दौरान मुझे एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिला कि मांसाहारी देशों में लोगों की औसत मृत्यु संख्या में कमी रही हो, बल्कि यह अवश्य देखा गया कि जिन देशों के लोग अहिंसक आहारी हैं, वहाँ औसत मृत्यु संख्या कम है। हृदय-रोग, मस्तिष्क-रोग अथवा पाचन-क्रिया की गड़बड़ी से मरने वालों में ऐसे लोगों की संख्या अधिक होती है जो नित्य मांस खाते हैं और उच्च स्तर का जीवन जीते हैं। अहिंसक आहार से व्यवहार में शालीनता आती है, चित्त-वृत्तियाँ शान्त रहती हैं, मन प्रसन्न रहता है एवं शरीर में स्फूर्ति बनी रहती है। अमेरिका में किये गये एक अध्ययन में पाया गया कि अहिंसकाहारी लोग अधिक सहनशील होते हैं। उनके निर्णय अधिक तथ्यपरक और सन्तुलित होते हैं। भारत में केन्द्रीय कारावास, ग्वालियर में किये गये अनुसन्धानों से यह ज्ञात हुआ है कि अहिंसक भोजन के प्रयोग द्वारा कैदियों के आक्रामक व्यवहारों का रूपान्तरण किया जा सकता है। इससे उनकी मानसिकता में परिवर्तन आ गया और वे अपने कृत अपराधों के लिए अपने को दोषी भी अनुभव करने लगे। वे अधिक तर्क-सङ्गत और विनय का व्यवहार करने लगे। एक अन्य सर्वेक्षण में यह भी पाया गया है कि अहिंसक आहारियों के बच्चे अपराधशील प्रवृत्ति के नहीं होते। उनमें उत्तेजक औषधियों, नशीली दवाओं, शराब, सिगरेट, तम्बाकू आदि के सेवन की प्रवृत्ति भी सामान्यत: नहीं होती है।

बोस्टन के विश्वविख्यात हृदय रोग विशेषज्ञ डॉ. पॉल उडले व्हाइट के अनुसार आहार में कम पोषण प्राप्त करने से उतनी हानि नहीं होती, जितनी अधिक पोषण से हो रही है। आहार में अधिक कैलोरी मिलने से ही खतरा बढ़ रहा है। दक्षिण अफ्रीका की बन्तु जाति के लोगों में हृदय-रोग सबसे कम पाया जाता है। वे लोग आहार में 20 प्रतिशत से भी कम वसा, कैलोरी लेते हैं, जबकि अमेरिका में यह 40 प्रतिशत से भी अधिक है। इस सन्दर्भ में यह स्मरण दिला देना उचित है कि उत्तम स्वास्थ्य के लिए ऐसा भोजन ही ग्राह्य है, जिसमें क्षारों और खनिजों की मात्रा तो पर्याप्त हो, परन्तु जो कैलोरी कम व्युत्पन्न करते हों। सम्पूर्ण मांसाहार जगत् में ऐसा भोजन तलाश करना कठिन ही नहीं असम्भव है। किन्तु अहिंसक आहार जगत् में ऐसा भोजन सहज प्राप्य, सर्व-सुलभ और सस्ता है। मौसम के अनुसार टमाटर, गाजर, धनिया पत्ती, अन्न, फल, मेवे, दुग्ध एवं दुग्ध निर्मित आहार उक्त दोनों शर्तों को पूरा करता है। अतएव सभी दृष्टियों से अहिंसक आहार ही उपयुक्त है। यह न केवल मानव की शरीर-संरचना के अनुकूल, सुलभ तथा लाभदायक है बल्कि पर्यावरण-सन्तुलन को भी बनाये रखता है और इस प्रकार सम्पूर्ण जीव-जगत् के विकास और आत्मिक-आध्यात्मिक उन्नति का भी कारण है।

(ब) हिंसकाहार के दोष

यह हानिकारक, अप्रशस्त, जिह्वालोलुपी, अमानवीय, मलिनतापूर्ण, अनैतिक, अस्वच्छ, अधार्मिक, परपीड़ादायक, रोगों का घर, कुपथ की डगर, आर्थिक दृष्टि से महँगा, सामाजिक दृष्टि से अन्याय का पोषक, पर्यावरण की दृष्टि से प्रकृति में असन्तुलन पैदा करने वाला, धार्मिक दृष्टि से अधार्मिक बनाने वाला होता है।

मांसाहारी कौन?

मांसाहारी मनुष्य अत्याचारी, अज्ञानी, अधर्मी, अनाचारी, अनाड़ी, अनुदार, अविवेकी, जिह्वालोलुपी, जीवघाती, तामसी, दुर्व्यसनी, दुष्कर्मी, निर्दय, निष्ठुर, पापात्मा, हृदयहीन तथा क्षुद्र होता है, ऐसा धर्म ग्रन्थों में कहा गया है। क्या आपको उपर्युक्त गुण वाले व्यक्ति के साथ संसर्ग रखना चाहिए? क्योंकि ऋषियों ने कहा है ''संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति''। अर्थात् संगति से ही गुण-दोष प्राप्त होते हैं।

आहार के प्रकार-आहारं चतुर्विधम्-1. चौष्यम्-चूसना, 2. भक्ष्यम्-चबाना, 3. भोज्यम्-निगलना, पीना, 4. लेह्यम्-अवलेह, चाटना

मानव जीवन और पशु जीवनशैली में अन्तर

1. मनुष्य के पास 5 ज्ञानेन्द्रियों के साथ-साथ विकसित मन, मस्तिष्क और विवेक होता है जो पशु-पक्षी या अन्य किसी योनि के जीवन में नहीं होता।
2. बोलने की विशेषता मनुष्य में विशेष।
3. परस्पर विनिमय करने की क्रिया।
4. अपने विचारों को व्यवस्थित रुप में अभिव्यक्त करने की क्षमता।
5. वर्तमान, भूत एवं भविष्य के बारे में समझने, जानने, चिन्तन-मनन करने की योग्यता।
6. भला-बुरा सोचने की क्षमता।
7. रहन-सहन, खान-पान, सामाजिक व्यवस्थाओं, रीति-रिवाजों आदि में भिन्नता।
8. कपड़े पहनने, पूजा-पाठ करने।
9. नित्य-नियम करने।
10. शृङ्गार करने।
11. शोध-खोज करने।
12. आत्मा एवं शरीर का पूर्ण ज्ञान।
13. मानव योनि से ही परम लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है।
14. खान-पान की विशेष योग्यता।
15. लक्ष्य निर्धारण की योग्यता, उसको प्राप्त करने की योग्यता।
16. क्षमताओं को कैसे बढ़ायें, उसका अधिकाधिक उपयोग कैसे लिया जा सकता है, का ज्ञान।

17. ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता।
18. परस्परोपग्राहिता, वाक्पटुता।
19. मितव्ययता का गुण।
20. पशु-पक्षी सोच-समझकर भविष्य की कल्पना एवं घटित होने वाले परिणामों के आधार पर वर्तमान में उचित सावधानी नहीं रख सकते।

डॉक्टरों की शोध और अध्ययन के आधार पर हिंसकाहार

आहार-सम्बन्धी अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि मांसाहार से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है।

1. मांसाहार शरीर में जैव-विष (टॉक्सिन) पैदा करता है।

2. जैव-विष रक्त सञ्चार को बाधित करता है, हृदय-रोग, कैंसर-रोग व अन्य बीमारियों को आमन्त्रित करता है और मानसिक सन्तुलन को बिगाड़ देता है।

3. जैव-विष क्रूरता का जनक होता है, जो व्यक्तियों को हिंसा की ओर ढकेलता है और राष्ट्र को युद्ध की ओर।

बोस्टन के विश्वविख्यात हृदय-रोग विशेषज्ञ डॉ. पॉल उडले व्हाइट तथा अन्य डॉक्टरों का कहना है कि हृदय-रोग का एक मुख्य कारण, मांसाहार के कारण जानवरों की चर्बी से इकट्ठा होने वाला पित्त है। परीक्षणों से भी यह सिद्ध हुआ है कि मांसाहार से प्राप्त होने वाली अतिरिक्त वसा की तह धमनियों में जमा हो जाती है, जिससे सहज रक्त-सञ्चार में बाधा पड़ती है। फलत: हृदय पर अनावश्यक दबाव पड़ता है और यही प्राय: मृत्यु का कारण भी बन जाता है। प्रो. रिचेट ने सिद्ध किया है कि मांसाहार अनेक रोगों को जन्म देता है। मांसाहारी व्यक्ति की रोग-निरोधक क्षमता घट जाती है और वे बड़ी आसानी से रोगों के सामने घुटने टेक देते हैं। उन्होंने सात-आठ साल से कम आयु के बालकों को किसी भी स्थिति में आमिषाहार देने का निषेध किया है, क्योंकि इस आयु में उनमें तज्जन्य विषों को शिथिल करने की क्षमता का अभाव होता है। डॉ. बोशाई के कथनानुसार मांसाहारियों में अहिंसक आहारियों की अपेक्षा दुगुनी विषाक्तता होती है। प्रायोगिक आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि आमाशय और आँतों में मांस की सड़ान्ध से उत्पन्न विषाक्तता भयानक रोगों को जन्म देती है। आमिषाहारियों में कैंसर तथा अन्य प्रकार की बीमारियों की बढ़ती संख्या उसका प्रमाण है।

डॉ. वर्टमैन जो विगत कई वर्षों से मानव-व्यवहार पर भोजन के प्रभाव सम्बन्धी अनुसन्धान की अगुआई कर रहे हैं, इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मांस और मांस से बने खाद्य पदार्थों में उत्तेजक तन्त्रिका-प्रसारी-कैट्रैकोल माइनश, एक्टाइल कोलाइन, टाइराभारिटाइन आदि-बहुतायत से पाये जाते हैं। परीक्षणों में यह पाया गया है कि शरीर में कैटेकोलमाइन की उपस्थिति से व्यक्ति में चञ्चलता, आक्रामकता, शंका, हृत-कम्प, घबराहट आदि की प्रवृत्ति आ जाती है। उसके शरीर से पसीना आने लगता है। उन्माद और सिजोफ्रैनिया जैसे रोगों में कैटेकोलमाइन का स्तर ऊँचा पाया गया है। टाइरामाइन पेट में पहुँचते ही हृदय की गति को असाधारण रूप से बढ़ा देता है जिससे सिरदर्द, बेचैनी, भय, उत्तेजना आदि उपसर्ग दिखलाई पड़ते हैं। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मानव के लिए मांसाहार न तो शारीरिक दृष्टि से, न नैतिक दृष्टि से, न मानसिक दृष्टि से, न सामाजिक दृष्टि से, न सांस्कृतिक दृष्टि से और न ही पर्यावरण सन्तुलन की दृष्टि से उचित है। उलटे वह उसके लिए हर दृष्टि से हानिकारक है, अतएव त्याज्य है।

अहिंसकाहारी एवं हिंसकाहारी प्राणियों की शारीरिक बनावट में भेद

मांसाहारी की शारीरिक बनावट

1. मांसाहारी जीवों के दाँत नुकीले व पञ्जे तेज नाखून वाले होते हैं जिससे वे आसानी से अपने शिकार को चीर-फाड़कर खा सकें।
2. मांसाहारी जीवों के निचले जबड़े केवल ऊपर-नीचे ही हिलते हैं और वे अपना भोजन बगैर चबाए ही

निगलते हैं।

3. मांसाहारी प्राणियों की जीभ खुरदरी होती है तथा ये जीभ बाहर निकालकर उससे पानी पीते हैं।
4. मांसाहारी प्राणियों की आँतों की लम्बाई कम, करीब-करीब उनके शरीर की लम्बाई के बराबर और धड़ की लम्बाई से लगभग 6 गुनी होती है। आँतें छोटी होने के कारण वे मांस के सड़ने और विषाक्त होने से पहले ही उसे शरीर से बाहर फेंक देती हैं।
5. मांसाहारी जीवों के जिगर (Lever) और गुर्दे (Kidney) भी अनुपात में बड़े होते हैं ताकि मांस का व्यर्थ भाग आसानी से बाहर निकाल सकें।
6. मांसाहारी जीवों के पाचक अङ्गों में शाकाहारियों के पाचक अङ्गों की अपेक्षा लगभग दस गुना अधिक हाइड्रोक्लोरिक एसिड होता है, जो मांस को आसानी से पचा देता है।
7. मांसाहारी जीवों की लार (Saliva) अम्लीय (Acidic) होती है।
8. मांसाहारी जीवों का Blood-PH (खून की एक रासायनिक स्थिति) कम होता है यानी उसका झुकाव अम्लीय प्रकृति की ओर (Acidic Side) होता है।
9. मांसाहारी जीवों के Blood-Lipo-Proteins अलग किस्म के होते हैं।
10. मांसाहारी जीवों की सूँघने की शक्ति अत्यन्त तीव्र होती है, आँखें रात्रि में चमकती हैं। वे रात में भी दिन की तरह देख पाती हैं। ये शक्तियाँ उसे शिकार करने में सहायक होती हैं।
11. मांसाहारी जीवों के शब्द कर्कश और भयंकर होते हैं।
12. मांसाहारी जीवों के बच्चे जन्म के बाद एक सप्ताह तक प्राय: शून्य दृष्टि होते हैं।

शाकाहारी की शारीरिक बनावट

1. शाकाहारी जीवों के दाँत चपटी दाढ़ वाले होते हैं। पञ्जे तेज नाखून वाले नहीं होते।
2. शाकाहारी जीवों के निचले जबड़े ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ चारों ओर हिल सकते हैं जिससे ये चबाने के बाद निगलते हैं।
3. शाकाहारी प्राणियों की जीभ चिकनी होती है, ये पानी पीने के लिए जीभ बाहर नहीं निकालते, अपितु होठों से पीते हैं।
4. शाकाहारी जीवों की आँतों की लम्बाई अधिक, करीब-करीब उनके शरीर की लम्बाई से चार गुनी और धड़ की लम्बाई से लगभग 12 गुनी होती है। इस कारण वे मांस को जल्दी बाहर नहीं फेंक पाती।
5. शाकाहारी जीवों के जिगर (Lever) और गुर्दे (Kidney) भी अनुपात में छोटे होते हैं और मांस के व्यर्थ अपाच्य भाग को आसानी से बाहर नहीं निकाल पाते।
6. शाकाहारी जीवों के पाचक अङ्गों में हाइड्रोक्लोरिक एसिड कम होता है जिससे मांस को आसानी से नहीं पचाया जा सकता।
7. शाकाहारी जीवों की लार (Alkaline) क्षारीय (Acidic) होती है और उनकी लार में पाटायलिन रसायन जो कार्बोहाइड्रेट्स को पचाने में उपयोगी होता है, पाया जाता है।
8. शाकाहारी जीवों का Blood-PH अधिक होता है यानी उसका झुकाव क्षारीय प्रकृति की ओर होता है।
9. शाकाहारी जीवों के Blood-Lipo-Proteins एक से होते हैं और मांसाहारी जीवों से भिन्न होते हैं।
10. शाकाहारी जीवों में सूँघने की शक्ति अधिक तीव्र नहीं होती तथा रात में भी दिन की भाँति देखने की शक्ति नहीं होती।
11. शाकाहारी जीवों के शब्द अधिक कर्कश नहीं होते।

-निदेशक, सरस्वती उच्च स्तरीय अध्ययन अनुसन्धान संस्थान, बी-417, प्रधान मार्ग, मालवीय नगर, जयपुर-302017 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 285
ISSN 2249-2011

कर्म वायरस की.... पहेली?.... समाधान है जैन जीवनशैली

श्री तरुण बोहरा 'तीर्थ'

संचालक : सभी को सादर जय जिनेन्द्र, कोरोना काल में अनेक युवाओं ने **जैन जीवनशैली** को जानने एवं जीने की रुचि दिखाई। सरकारी नियमों के निर्देशानुसार हम बड़ी संख्या में एक स्थान पर एकत्रित नहीं हो सकते, इसलिए इस युवा जागृति सत्र में हमने सीमित संख्या में ही **जैन जीवनशैली** हेतु विशेष जिज्ञासु युवा दम्पतियों को प्रवेश दिया है। अब हमारे बीच में आमन्त्रित श्रावकजी आज के विषय '**कर्म वायरस** की पहेली? . . समाधान है **जैन जीवनशैली**' ...पर अपने विचार रखेंगे।

श्रावकजी : पंच परमेष्ठी को नमन! आप सभी देवानुप्रिय श्रावक-श्राविकाओं को सादर जय जिनेन्द्र! यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि आप सभी युवा साथी **जैन जीवनशैली** अपनाना चाहते हैं। किसी भी कार्य के महत्त्व एवं शैली को समझ कर अपनाना .....श्रेष्ठ होता है, अतः हम सभी **जैन जीवनशैली** को समझकर अपनायें .....तो यह शैली विशेष हितकारी सिद्ध होगी। आभारी हूँ कि आप सभी ने इस विषय पर अपनी जिज्ञासाओं को लिखित प्रारूप में रखा .....उन सभी जिज्ञासाओं के समाधान के साथ-साथ .....**जैन जीवनशैली** से सम्बन्धित अनेक विचारों को मैं संक्षिप्त में आपके समक्ष रख रहा हूँ।

उस व्यक्ति के बारिश में भीगने की सम्भावना बहुत कम होती है जो छाते के दायरे में है .... वैसे ही जो गृहस्थ **जैन जीवनशैली** के दायरे में है ...उनके रोगग्रस्त होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। **जैन जीवनशैली** सुरक्षा कवच है ...शरीर के लिए और उससे भी बढ़कर आत्मा के लिए भी। मैं सिर्फ यह तो नहीं कहता कि **जैन जीवनशैली** जीने वाला गृहस्थ ....कोरोना वायरस, अन्य कोई भी वायरस अथवा अन्य रोगों के दुष्प्रभावों से बचा रहेगा, किन्तु यह मेरा अविचल विश्वास है कि ...वह इससे भी बढ़कर ....इन रोगों में ही नहीं ...बल्कि सभी रोगों के मूल में छिपे **कर्म वायरस** को ...अवश्य घुटने टेकने पर मजबूर कर सकता है।

यह सत्य है कि हर भव में आहार हमारी मुख्य आवश्यकता रहा ...और यह भी सत्य है कि **आहार में स्वच्छन्दता** जीवन में जहाँ अनेक स्वच्छन्दताओं को ले आती है ...वहीं **आहार में संयम** अनेक सद्गुणों को समाहित करता है। सम्भवतया इसी कारण से मुख्यतया आहार के आधार पर ही ...यानी आहार शैली की दृष्टि से ...व्यक्ति की जीवनशैली का अन्दाज़ा लगाया जाने लगा। किन्तु सिर्फ सात्त्विक खानपान एवं साधारण वेशभूषा के मापदण्ड पर ...किसी की जीवनशैली को **सादा जीवन** या **अच्छा जीवन** कहा जा सकता है, परन्तु **जैन जीवनशैली** नहीं कहा जा सकता। आमतौर पर यह समझा जाता है कि सात्त्विक आहार करने वाला, जमींकन्द नहीं खाने वाला, रात्रिभोजन का त्याग करने वाला, हिंसक दवाइयों अथवा हिंसक पदार्थों का प्रयोग नहीं करने वाला, सादगीपूर्वक रहने वाला, धर्म आराधना में अग्रणी रहने वाला गृहस्थ ...**जैन जीवनशैली** जीता है ...यह आंशिक सत्य है ...किन्तु पूर्ण सत्य नहीं है ...क्योंकि यह उपर्युक्त जीवनशैली द्रव्य रूप से आंशिक दृष्टिगोचर होती है ...लेकिन हम यह नहीं भूलें कि व्यक्ति के भावों से भी **जैन जीवनशैली** का गहरा सम्बन्ध है। **श्रेष्ठ भाव** एवं उसके अनुरूप ही **श्रेष्ठ आचरण** ...इन दोनों के समन्वय युक्त

जीवन जीने की कला को **जैन जीवनशैली** कहा जा सकता है।

यदि विशेष रूप से समझें .....तो यतनायुक्त जीवनशैली, विवेकयुक्त जीवनशैली, संवरयुक्त जीवनशैली, जैनत्वयुक्त जीवनशैली सभी **जैन जीवनशैली** के ही अलग अलग नाम हैं ...और यदि सरल भाषा में कहा जाए तो **धर्मयुक्त** जीवनशैली यानी **जैन जीवनशैली।** ऐसी बात नहीं है कि **जैन जीवनशैली** से सिर्फ शारीरिक आरोग्य ही प्राप्त होगा ...बल्कि विशेष रूप से मानसिक आरोग्य भी इससे प्राप्त होता ही है ...या यूँ कहें कि यह शैली ...शारीरिक अथवा मानसिक लाभप्रदाता से भी कहीं ज्यादा आत्मिक हितकारक है। आधि, व्याधि और उपाधि तीनों को पराजित कर **समाधि** पाने का अचूक उपाय है **जैन जीवनशैली** ...इससे हम समझ सकते हैं कि यह कितनी महत्त्वपूर्ण है। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि यह सिर्फ एक जीवनशैली ही नहीं, बल्कि **आध्यात्मिक जीवन यात्रा** है ...अपने आप में एक **विस्तृत विज्ञान** है ...और इस महासागर-सी विशाल **जैन जीवनशैली** के अमूल्य रत्नों को प्राप्त करने हेतु हमें इसकी गहराई में जाना होगा।

वर्ष 2019 के जोधपुर वर्षावास में **तत्त्वचिन्तक श्रद्धेय श्री प्रमोदमुनिजी म.सा** . के प्रवचन में मैंने सुना कि-''जिसे अपने भाग्य पर भरोसा है वह ही **जैन जीवनशैली** जी सकता है'' ...इस वाक्य से मेरे भीतर में अनेक उत्सुकताओं का प्रवेश हुआ ...और इन्हीं सन्त महापुरुष से इस शैली के बारे में अनेक रोचक तथ्यों को जाना ....उनके पावन मुखारविन्द से **जैन जीवनशैली** में अनिवार्य ...**आहार शुद्धि** इत्यादि के बारे में जानकर मेरे जीवन को सम्यक् दिशा प्राप्त हुई .... साथ ही सुनने के बाद अनुप्रेक्षा रूपी स्वाध्याय हुआ तथा स्वप्रयोग का आधार बना। स्व प्रयोग के उसी **अनुभव एवं अनुप्रेक्षा** के सारांश को सरल भाषा में मुख्यतः तीन भागों में विचार बिन्दुओं के रूप में आपके सामने रख रहा हूँ-

जैन जीवनशैली जीने हेतु चिन्तन, सावधानियाँ एवं संकल्प

चिन्तन : जैन जीवनशैली जीने वाला सतत चिन्तन मनन करता है कि-

1. शरीर मेरी ही भूल का परिणाम है और शरीर ही मेरी उस भूल को मिटाने का **साधन** भी है।
2. मैं शरीर नहीं हूँ...शरीर तो मेरा **पड़ोसी मित्र** है ... शरीर का ध्यान रखना मेरा कर्त्तव्य है ...किन्तु ध्यान भी सिर्फ़ एक मित्र समझ कर रखना है ... इसे **जँवाई (दामाद)** मानकर वैसी खातिरदारी करने की कोई आवश्यकता नहीं है।
3. चूँकि यह शरीर मेरी साधना में सहयोगी है ...इसलिए इसे स्वस्थ एवं नीरोग रखना मेरा दायित्व है ....तथा सीमित पदार्थों द्वारा इसकी **आवश्यकतापूर्ति** करना मेरा कर्त्तव्य है, किन्तु इसकी **इच्छापूर्ति** करने हेतु ...मैं बिल्कुल भी बाध्य नहीं हूँ।
4. शरीर को इसी क्षण छोड़ना मेरे वश में नहीं है ... लेकिन **शरीर के ममत्व** को छोड़ना इसी क्षण भी सम्भव है।
5. मेरे जीवन में धर्म निरन्तर बढ़ता रहे तथा पाप निरन्तर घटता रहे ...यानी संवर बढ़ता रहे और आस्रव घटता रहे ...इस हेतु मुझे **प्रतिपल जागरूक** रहना है।
6. मुझे आहार-शुद्धि, विहार-शुद्धि, विचार-शुद्धि तथा आचार-शुद्धि का पूर्ण विवेक रखते हुए **सात्त्विक जीवन** जीना है।
7. मुझे **आहार शुद्धि** का विशेष ध्यान रखना है ....क्योंकि शरीर रूपी देवालय में जो आत्मदेव विराजित है उनको अर्पित प्रसाद है आहार ...और मुझे विशुद्ध आत्मदेव को सिर्फ शुद्ध सात्त्विक आहार ही अर्पित करना है।
8. **विहार शुद्धि** की प्रक्रिया में मुझे **कहाँ जाना है और कहाँ नहीं जाना है?** ..यह निर्धारित करना है तथा

अपने बाहरी आवागमन को सीमित रखते हुए ...अन्तर में स्थिर रहने का प्रयास करना है।

9. नकारात्मक विचार सिर्फ पौष्टिक आहार को ही नहीं ...बल्कि तन और मन को भी दूषित कर देते हैं, इसलिए मुझे नकारात्मक विचारों को दूर हटाकर ....सकारात्मक विचारों से **विचार-शुद्धि** को कायम रखना है।
10. **आचार-शुद्धि** के अन्तर्गत मेरे श्रेष्ठ भावों के अनुसार ही मेरा आचरण ...यानी मेरा क्रियात्मक पक्ष भी श्रेष्ठ होना चाहिए।
11. पेट के लिए खाना है यह तो समझ आता है, किन्तु ... जिह्वा के लिए खाना ...यह कहाँ तक उचित है? अतः मुझे खाने के लिए नहीं जीना है ....बल्कि **जीने के लिए खाना** है।
12. मैं **प्रभु महावीर की सन्तान** हूँ और प्रभु की आज्ञानुसार ही मुझे ...जीवन यापन करते हुए संसार रूपी भवसागर को पार कर ...मोक्ष रूपी किनारे तक पहुँचने के लिए ...इस शरीर रूपी नाव का प्रयोग भी करना है और **सदुपयोग** भी करना है।

सावधानियाँ–जैन जीवनशैली जीने वाले गृहस्थ को अनेक सावधानियाँ रखनी होती हैं ...जिनमें मुख्यत:-

1. किसी भी स्थिति में मन को मालिक नहीं बनने देना है .....क्योंकि जब मन अनियन्त्रित होता है तो इन्द्रियाँ बेकाबू हो जाती हैं और विशेष रूप से जब जीभ काबू में नहीं रहती ...तो अनाप-शनाप खा कर पूरे शरीर को बीमार बना देती है। ज्ञानी महापुरुषों द्वारा बताये गये ... **ब्रह्मचर्य, मौन, ध्यान** जैसे साधना के अनेक विशिष्ट आयामों से मन को नियन्त्रित किया जा सकता है।
2. जीवन में कृत्रिम वस्तुओं की जगह **प्राकृतिक वस्तुओं** का ही अधिक प्रयोग करना है । अस्वस्थ होने पर भी यथासम्भव घरेलू उपायों से अथवा प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा ही रोग का इलाज़ करना बेहतर होता है ...अंग्रेजी दवाइयों के उपयोग में प्रबल हिंसा की सम्भावना तो है ही ....साथ में अनेक आनुषंगिक प्रभाव (साइड इफेक्ट्स) भी होते हैं ...जो शरीर को खोखला बना देते हैं।
3. रात्रिभोजन के त्याग के बिना **जैन जीवनशैली** से पूर्णत: जीना असम्भव है, इसलिए हमें हर कीमत पर **रात्रिभोजन का त्याग** करना ही है।
4. जमींकन्द खाने से तामसिक विचारों की उत्पत्ति होती है ....तथा थोड़े से स्वाद के लिए **अनन्त जीवों से वैर** बाँधना एक जैन के लिए कहाँ तक उचित है? बिना किसी शर्त ...या बिना किसी बहाने के जमींकन्द का **आजीवन त्याग** करना समीचीन है।
5. व्यसन चाहे कोई भी क्यों न हों, स्वयं के शरीर के लिए भी ....और परिवार, समाज तथा राष्ट्र के लिए भी अत्यन्त हानिकारक ही है ....अतः **व्यसन मुक्त जीवन** ही जीना है। चाय और काफी की आदत भी इंसान को खूब नचाती है ....परेशान करती है ...इसलिए इन आदतों से भी मुक्त होना ही हितकर है।
6. शक्कर, नमक और मैदा ....यें तीनों ही **सफ़ेद धीमे ज़हर** (White slow poison) जैसे हैं ...जो शरीर की शक्ति को धीरे-धीरे गला देते हैं, अतः इनकी जगह क्रमशः बूरा (खाण्ड)/मिश्री/गुड़ तथा काला/सैंधा नमक एवं आटे/चोकर का ही उपयोग करना चाहिए।
7. होटल के खाने अथवा रेडीमेड खाने में मिलावटी वस्तुओं की प्रबल सम्भावना होती है ...अतः उनका त्याग करके ..घर में बना सात्त्विक भोजन ही खाना चाहिए ...जो बनता भी यतनापूर्वक है और **पौष्टिक** भी होता है।
8. शादी-विवाह अथवा अन्य सामूहिक भोजन के प्रसङ्गों में ...जो लोग हमारी खूब मनुहार करके हमारे मुँह में जबरदस्ती जो मिठाइयाँ खिलाते हैं

(प्रेम प्रदर्शित करते हुए) या हमारी थाली में अनाप-शनाप आइटम परोसते हैं ...या यूँ कहें कि हमें **प्रेमपूर्वक** बीमारियाँ परोसते हैं (बिल्कुल मुफ्त में)...वे लोग हमें शुगर, ब्लड प्रेशर, हार्ट की या अन्य अनेक बीमारियाँ होने पर हमारी तकलीफों को कम नहीं कर सकते .... और न ही हमको ...जीवनपर्यन्त के डॉक्टरों के चक्कर एवं दवाइयों के जाल से बचा सकते हैं .....! **अतः पेट हमारा है तो मना भी हमको ही करना होगा।**

9. घर पर भी भोजन बनाने वाले **शुद्ध भाव** एवं शान्त मन से बनायें, जिससे भोजन आरोग्यवर्धक सिद्ध होगा ...भोजन ग्रहण करने वाले भी शान्तिपूर्वक ग्रहण करें।
10. यथाशक्ति तपस्या अवश्य करें ..यदि कारणवश बड़ी तपस्याएँ नहीं भी हो रही हों ....तो भी नवकारसी, ऊनोदरी, जैसे **छोटे-छोटे व्रत नियम** तो अवश्य पालन करने ही हैं।
11. नि:संदेह आहार का त्याग तपस्या है ....किन्तु **स्वाद का त्याग भी तपस्या है**....इसलिए यथाशक्ति विगय-त्याग का नियम भी रखना है और भोजन भी अनासक्त भाव सहित ग्रहण करना है .... इस हेतु भोजन की थाली में अल्प द्रव्य हों, इसका विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।
12. रोग का भय भी रोग को उत्पन्न करता है ...अतः **निर्भयता** और **सहजता** के साथ जीते हुए ...भय के विचारों को पास भी नहीं आने देना है।

संकल्प-जैन जीवनशैली जीने हेतु हमें कुछ संकल्प भी लेने हैं .... जिनमें मुख्य रूप से-

1. **प्रामाणिकता** एवं **नैतिकता** के बिना **जैन जीवनशैली** जीना असम्भव है ...क्योंकि ये दोनों गुण आध्यात्मिकता के मुख्य आधार हैं ...और बिना अध्यात्म के **जैन जीवनशैली** अपूर्ण ही रहेगी ... अतः अपने जीवन में इन गुणों को धारण करना है। घर-परिवार, व्यापार हो या समाज इन गुणों से युक्त व्यक्ति ...स्वयं की दृष्टि में ...तथा औरों की दृष्टि में भी आदर्श बनता है।
2. **जैन जीवनशैली** की सभी **अच्छाइयों** के शत्रु हैं सप्तकुव्यसन ...इनके आजीवन त्याग का संकल्प अनिवार्य है। मार्गानुसारी के 35 बोलों तथा श्रावक के 21 गुणों को समझना और समझ कर धारण करना **जैन जीवनशैली** की **'फसल और सुरक्षा बाड़'** दोनों का निर्माण करता है।
3. जीवन में **अनर्थदण्ड का त्याग** करना अनिवार्य है, क्योंकि बिना प्रयोजन किया जाने वाला हर कार्य ....इच्छाओं की मर्यादा को लाँघ जाता है और बिना मर्यादापूर्ण आचरण के ...**जैन जीवनशैली** का कोई अस्तित्व ही नहीं है।
4. अतीत का चिन्तन और भविष्य की चिन्ता करने वाले कैसे **जैन जीवनशैली जीयेंगे**? वर्तमान की कीमत समझने वाले ही इस शैली को जी सकते हैं ...और वर्तमान का सर्वश्रेष्ठ उपयोग है **सामायिक**।
5. **जैन जीवनशैली** को जीने के लिए तन, मन और जीवन का नियन्त्रित होना अनिवार्य है और इसका अचूक साधन है **स्वाध्याय**।
6. सभी के प्रति अपनत्व युक्त व्यवहार करना है ....यह इस शैली का अनकहा विज्ञापन भी है ...अतः **नि:स्वार्थ प्रेम** इस शैली का **आधार भी है और परिणाम भी**।
7. दृष्टिकोण हमेशा **आत्मकेन्द्रित** ही रखना है , जिससे **जैन जीवनशैली** बाहर के साथ-साथ भीतर में भी दृष्टिगोचर होगी।
8. तप के सभी **बारह भेद** अपनाने से यह शैली बहुत सरल और सहज हो जाएगी, अतः यथाशक्ति तप करना है।
9. बिना जल के मछली प्राणरहित हो जाती है ...वैसे ही बिना अध्यात्म के **जैन जीवनशैली** निष्प्राण हो जाती है, इसलिए जीवन में हमेशा **अध्यात्म** को अभिन्न अङ्ग बनाये रखना है।

10. लाल बत्ती यानी पाप कार्य हेतु रुकना है और हरी बत्ती यानी निर्जरा के प्रसङ्गों पर आगे बढ़ना है ...यह लाल बत्ती-हरी बत्ती का फ़ॉर्मूला अपनाने से ...जैन जीवनशैली बहुत आसानी से निभ जाएगी।
11. बीते हुए कल से मेरा आज अच्छा हो एवं मेरे आज से भी मेरा आने वाला कल बेहतर बने ....यह सोच जैन जीवनशैली को उत्तरोत्तर निखार देगी।
12. ज्ञानी महापुरुषों ने अनन्त उपकार करते हुए ..प्रतिदिन करने योग्य ...छह आवश्यक कार्य बताये हैं ..जो श्रावक-श्राविका को करने ही हैं ....एक अपेक्षा से ये पूरी जैन जीवनशैली का सारांश है ...ये छह कार्य इस प्रकार हैं-

प्रभुभक्ति .....गुरुसेवा
तप..... संयम से दिनचर्या
करें स्वाध्याय और दें दान....
श्रावक प्रतिदिन करें छह काम''

यदि हम स्वयं को जैन मानते हैं ....तो बिना जैन जीवनशैली अपनाए कैसे रह सकते हैं? उपर्युक्त सभी विचारों को समझकर जैन जीवनशैली अवश्य अपनाएँ। यह अटूट विश्वास रखें कि इस जीवन की जैन जीवनशैली...सिर्फ इस जीवन के लिए ही नहीं, बल्कि परभव के लिए भी अत्यन्त हितकारक सिद्ध होगी .... हम सभी इस महादुर्लभ जीवन की प्रयोगशाला में ....जैन जीवनशैली के प्रयोग से उत्कृष्ट रसायन को प्राप्त करें ...उस उत्कृष्ट रसायन से कर्म वायरस को समूल समाप्त कर तीर्थ से तीर्थंकर बनें ....।

इसी मंगल भावना सहित ....इति शुभम् ...

-'जिनशासन', बी 102, वीतराग सिटी, जैसलमेर बाईपास रोड़, जोधपुर-342008 (राज.)

जीवन का सच्चा धन

डॉ. दिलीप धींग

जीवन का सच्चा धन अच्छे संस्कार हैं।
अच्छे संस्कारों के बिना जीवन बेकार है।।
बड़ों का मान रखें, करें उनका सम्मान।
माता, पिता, गुरु को नित करें प्रणाम।
नहीं करें अवज्ञा कभी सामने नहीं बोलें,
उनका हमारे जीवन पर बड़ा उपकार है।
जीवन का सच्चा धन अच्छे संस्कार हैं।।
परिवार में प्रेम की बाँसुरी बजाएँ।
विनय अनुशासन से जीवन सजाएँ।
सफलता की राह आसान हो जाती,
जहाँ सत्य, निष्ठा और शिष्टाचार है।
जीवन का सच्चा धन अच्छे संस्कार हैं।।
प्रिय, निश्छल और आदर से बोलें हम।
अपनी बोली में सदैव मिश्री घोलें हम।
वाणी की कीमत कभी कम नहीं आँकें,
वाणी से पहचाना जाता घर-परिवार है।
जीवन का सच्चा धन अच्छे संस्कार हैं।।
मोबाइल का मर्यादित उपयोग करेंगे।
नियम से प्राणायाम और योग करेंगे।
करेंगे संगति साधु की, सज्जन की,
सुसंगति से अच्छा बनता व्यवहार है।
जीवन का सच्चा धन अच्छे संस्कार हैं।।
नियमित पढ़ाई और लक्ष्य पर ध्यान करें।
अच्छी परम्पराओं का ज्ञान करें, मान करें।
भाव हो अपनों की, दूसरों की मदद का,
आपस में सहकार तो खुशियाँ अपार हैं।
जीवन का सच्चा धन अच्छे संस्कार हैं।।
माता-पिता की सदिच्छा पूरी हो।
फूहड़ गानों से, गप्प से दूरी हो।
व्यसनमुक्त रहने का संकल्प कीजिये,
जीवन सद्गुणों का झिलमिल हार है।
जीवन का सच्चा धन अच्छे संस्कार हैं।।

-निदेशक : आई.सी.पी.एस.आर., 7, अय्या मुदली स्ट्रीट, साहुकारपेट, चेन्नई-600001

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 290
ISSN 2249-2011

जैन जीवन-शैली में अनर्थदण्डविरमण व्रत*

डॉ. हेमलता जैन

जीवन में मनुष्य सार्थक और निरर्थक दो प्रकार की क्रियाएँ करता है। सार्थक क्रियाएँ अनिवार्य क्रियाएँ हैं, जो स्व और समाज के हित में आवश्यक हैं। शेष अनावश्यक क्रियाएँ निरर्थक क्रियाएँ हैं। निरर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियों का करना अनर्थदण्ड है। अनर्थदण्ड की क्रियाओं से आत्मा निष्प्रयोजन ही पापकर्म से मलिन हो जाती है। **निरर्थक प्रवृत्तियाँ अविवेकी और अनुशासनहीन जीवन की द्योतक हैं।** अतः जैनधर्म में अनुशासित जीवन जीने के लिए श्रावक व्रतों को अपनाया जाता है। गृहस्थ श्रावकों के लिए बारह प्रकार के व्रतों का उल्लेख मिलता है। बारह व्रतों का विभाजन पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के रूप में किया गया है। उपासकदशाङ्गसूत्र में पाँच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों का उल्लेख मिलता है।[1] यहाँ गुणव्रतों का शिक्षाव्रतों में ही समावेश कर लिया गया है। पाँच अणुव्रतों (प्राणातिपात विरमणव्रत, मृषावाद विरमणव्रत, अदत्तादान विरमण व्रत, मैथुन विरमण व्रत और परिग्रह विरमणव्रत) के नाम और क्रम के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएँ एक मत हैं, परन्तु गुणव्रतों के नाम की एकरूपता होते हुए भी क्रम में अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परा में अनर्थदण्ड विरमण व्रत का क्रम आठवाँ है, जबकि दिगम्बर परम्परा में इसका क्रम सातवाँ है।

निरर्थक प्रयोजनों से होने वाले कर्मबन्धनों को रोकने वाला व्रत जैनधर्म में अनर्थदण्ड विरमणव्रत कहलाता है। कोई भी व्यक्ति स्व शरीर, पुत्र-पुत्री, परिवार, नौकर, समाज, देश, व्यापार आदि के निमित्त जो कार्यारम्भ करता है वह अर्थदण्ड है और इसके अतिरिक्त बिना प्रयोजन अथवा प्रयोजन से अधिक कार्यारम्भ करना अनर्थदण्ड है। आचार्य अभयदेव अनर्थदण्ड के विषय में कहते हैं-''अर्थ का अभिप्राय प्रयोजन है। गृहस्थ अपने खेत, घर, धन-धान्य की रक्षा तथा शरीर-पालनादि प्रवृत्तियाँ करता है। उन प्रवृत्तियों में आरम्भ द्वारा प्राणियों का जो उपमर्दन होता है, वह अर्थदण्ड है। दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश ये चारों शब्द एकार्थक हैं।''[2] अर्थदण्ड के विपरीत प्राणियों का निष्प्रयोजन विघात करना अनर्थदण्ड है।

अनर्थदण्ड विरमणव्रत : एक गुणव्रत

गुणव्रत से तात्पर्य ऐसे व्रतों से है जो अणुव्रतों को गुणित करते हुए उनकी रक्षा और विकास दोनों करते हैं। गुणव्रत के द्वारा अणुव्रतों की मर्यादा को और भी अधिक संकुचित किया जाता है। धान्य को रखने के लिए बनाया गया कोठार जैसे धान्य की रक्षा और उसकी गुणवत्ता बनाए रखता है। ठीक वैसे ही गुणव्रत की पालना से अणुव्रत रक्षित और दृढ़ होते हैं। अणुव्रत एवं गुणव्रत जीवन में एक ही बार ग्रहण किए जाते हैं, शिक्षाव्रत अल्प समयार्थ होते हैं। अतः पुनः पुनः ग्रहण किए जाते हैं।

अनर्थदण्डविरमण व्रत जीवन में अपनाया जाने वाला एक महत्त्वपूर्ण व्रत है। मात्र यही एक गुणव्रत है जो पंचमहाव्रतों की परिपालना में अधिक सहायक बनता है। अतः ज्ञानी भगवन्तों ने इसे गुणव्रत की श्रेणी में रखा है। यह व्रत महाव्रतों के गुणों की साक्षात् रक्षा एवं विकास करता है।

---

* आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर, 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवन-शैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी हेतु प्रेषित आलेख।

अनर्थदण्ड विरमणव्रत में चार प्रकार की निष्प्रयोजन प्रवृत्तियों के परित्याग का वर्णन है। ये चतुर्विध प्रवृत्तियाँ हिंसा स्वरूप ही हैं। अतः अनर्थदण्ड हिंसा के चार रूप हैं–1. अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड 2. प्रमादाचरित अनर्थदण्ड 3. हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड 4. पापकर्मोपदेश अनर्थदण्ड।

उपासकदशाङ्गसूत्र के टीकाकार आचार्य अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्ति के पाँच आधार स्तम्भ बताते हैं– पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, प्रमादचर्या और दुःश्रुति।[3]

(1) अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड

अपध्यान शब्द 'अप' उपसर्गपूर्वक 'ध्यै' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है बुरा या अशुभ अथवा अप्रशस्त ध्यान। किसी भी प्रकार के विचारों की एकाग्रता ध्यान है और अशुभ विचारों की एकाग्रता अपध्यान है। ज्ञानीजन ने चार प्रकार के ध्यान बताए हैं–आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान अपध्यान की कोटि में परिगणित होते हैं। प्रिय वस्तु के वियोग की चिन्ता, अप्रिय वस्तु के संयोग की चिन्ता, अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की चिन्ता और दुःख निवारण की सतत चिन्ता आर्त्तध्यान है। जैसे इष्टजन, वस्तु, स्थान, भोग–साधन आदि मिलने पर उनके उपभोग में आनन्दमग्न हो जाना और उन्हें अनश्वर समझना तथा अनिष्ट वस्तुओं, लोगों, भोग–साधनों का संयोग न हो ऐसी कामना करना, रोग से ग्रस्त होने पर दुःखी होना, रोना आदि ये सभी निरर्थक क्रियाएँ हैं, जिनसे अनर्थदण्ड लगता है।

हिंसा करने से, झूठ बोलने से, चोरी करने से और प्राप्त विषयों के संरक्षण की वृत्ति से क्रूरता तथा कठोरता उत्पन्न होती है और व्यक्ति इन्हीं अशुभ विचारों में लगा रहता है, यह रौद्रध्यान है। अतः यह भी अनर्थदण्ड का कारण है।

(2) प्रमादाचरित अनर्थदण्ड

प्रमाद का आचरण जागरूकता का अभाव है। अर्थात् यह ऐसी निद्रा है जिसके होने पर आत्मतत्त्व का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता है। जैनधर्म-दर्शन में मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पाँच भेद प्रमाद के स्वीकृत हैं। ये ऐसे विकार हैं, जिनसे व्यक्ति की चेतना जाग्रत नहीं रह पाती है, वह सही–गलत का विवेक नहीं कर पाती है और अन्ततः वह व्यक्ति यथार्थ से दूर चला जाता है। अतः प्रमाद अप्रमत्तता का बाधक तत्त्व है। अप्रमत्तता आत्मतत्त्व को जानने का साधन है। अपने रूप, सौन्दर्य, बल, ज्ञान तथा जाति का अहंकार व्यक्ति के भौतिक और आध्यात्मिक विकास को अवरुद्ध कर देता है। अतः यह निरर्थक प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय भाव के आचरण से व्यक्ति अपने स्वभाव में नहीं रह पाता है। अतः ये अनाचरणीय प्रवृत्तियाँ अनर्थदण्ड हैं। इन्द्रियों के विषयों की इच्छाएँ समस्त पापवृत्तियों की मूल हैं, इसलिए यह भी अनर्थदण्ड है। लोगों की निन्दा विकथा की प्रवृत्ति, अत्यधिक निद्रा, आलस्य सभी अनर्थदण्ड हैं। इन सभी से हमारा जीवन कष्टमय बन जाता है।

(3) हिंसा–प्रदान अनर्थदण्ड

हिंसक शस्त्र–अस्त्र आदि उपकरणों को प्रदान करने से हिंसा को बढ़ावा मिलता है, अतः यह हिंसाप्रदान की निरर्थक प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है। तलवार, बन्दूक, चाकू आदि अनेक साधन जो व्यक्ति स्व-प्राणरक्षा के लिए रखता है, कभी-कभी वे ही साधन स्व और पर की हत्या के साधन बन जाते हैं। अनर्थदण्ड विरमणव्रत द्वारा इन सभी निष्प्रयोजन प्रवृत्तियों से बचा जा सकता है।

(4) पापकर्मोपदेश

जिस कथन को सुनकर अथवा जिस प्रेरणा को प्राप्तकर व्यक्ति पापकार्य करने के लिए प्रेरित होता है, वह निरर्थक पापयुक्त उपदेश अनर्थदण्ड है। जैसे खटमल, मच्छर, बिच्छू, साँप आदि त्रस जीवों को मारने के लिए कथन करना, मन्दिर–मस्जिद में बलि के लिए भैंस, बकरा, मुर्गा आदि का वध करने की सलाह

देना, दूसरों को फँसाने, झूठी गवाही देने आदि पापकर्मों के लिए उपदेश देना अनर्थदण्ड है। उपदेश देने वाला और उपदेशानुसार कार्य करने वाला दोनों पाप के भागीदार बनते हैं।

अतः यह चार प्रकार का अनर्थदण्ड गृहस्थ साधक के लिए अनाचरणीय है। अनर्थदण्ड की इन प्रवृत्तियों से बचने के लिए इनसे निवृत्त होना आवश्यक है।

अनर्थदण्ड विरमण और योगत्रय

निवृत्ति और प्रवृत्ति व्रत के दो पहलू हैं। इन दोनों के होने से ही व्रत पूर्ण होता है। सत्कार्य में प्रवृत्त होने का असत्कार्यों से निवृत्त होना और असत्कार्य से निवृत्त होने का अर्थ है सत्कार्य में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति करना। जैनधर्म में दोष-निवृत्ति को ही व्रत कहा गया है तथा उसमें सत्प्रवृत्ति का अंश आ ही जाता है। मन, वचन और कर्म की मर्यादित क्रियाएँ भी अनर्थदण्ड से सम्बद्ध दोषनिवृत्ति की साधन हैं।

1. मन द्वारा अनर्थदण्डविरमण–मानव मन सदैव अतीत और भविष्य के विचारों में खोया रहता है। उसने मेरे साथ बुरा व्यवहार किया, नीचा दिखाया, भविष्य में मेरा क्या होगा, मुझे क्या फल मिलेगा, मैं उस व्यक्ति से इस प्रकार प्रतिशोध लूँगा, मेरे परिवार, राष्ट्र, विश्व की क्या स्थिति होगी, मुझे सुख मिलेगा या नहीं, मैं धनिक बनूँगा या नहीं आदि ऐसे अनेक निरर्थक विचारों की उधेड़बुन मानव मन में चलती रहती है। अतएव सर्वप्रथम हमें अपने मन को देखना होगा और उन निरर्थक विचारों पर नियन्त्रण करना होगा। मन की निरर्थक विचार धारा को तोड़कर उसे सही दिशा में प्रेरित कर हम सभी मन द्वारा होने वाले अनर्थदण्डों से बच सकते हैं।

2. वचन द्वारा अनर्थदण्ड विरमण–'सत्याय मितभाषिणाम्'[4] कवि कालिदास रघुवंशी राजाओं के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि रघुवंशी राजा सत्यव्रत के पालनार्थ कम बोलते थे। हम सब भी अपने वचनों पर अंकुश लगाकर प्रयोजनार्थ भाषण करके वचन द्वारा लगने वाले अनर्थदण्ड से रक्षित हो सकते हैं, यथा-मकान, वस्त्र, आभूषण, पकवान आदि को देखकर बहुत अच्छा बनाया है; दुष्ट, अन्यायी मर गया तो अच्छा हुआ, सर्दी अधिक है तो हीटर लगा लो, आग तपा लो, गर्मी है तो ए.सी., कूलर चला लो, घर ठीक करवा लो, झूठ बोलकर परस्पर लोगों में लड़ाई करवा दो, झूठी गवाही दे दो, हड़ताल करो, अनशन करो आदि अनेक प्रकार के निरर्थक वचनों का प्रयोग नहीं करके हम सभी वचन द्वारा होने वाले अनर्थदण्डों से बच सकते हैं।

3. कर्म द्वारा अनर्थदण्डविरमण–मन, वचन के साथ-साथ कर्म से भी हम अनर्थदण्ड से विरमित हो सकते हैं। आवश्यकता है सर्वप्रथम अपने कर्मों को देखने की। देखने मात्र से ही हमें पता लग सकता है कि कितनी निरर्थक क्रियाएँ हम प्रतिदिन करते हैं, यथा चलते-चलते व्यर्थ ही वृक्ष, फल, फूल, पत्ती, घास, तिनका आदि तोड़ लेते हैं। वनस्पति, दीमक और चींटी-मकोड़े के बिलों को कुचलते हुए चलते हैं। कुत्ते, गाय आदि जानवरों को छेड़ते हुए चलते हैं। दूध, दही, घी, तेल, छाछ, पानी आदि तरल पदार्थों के बर्तनों को ढककर नहीं रखते हैं। असत् साहित्य पढ़ते हैं। राजमार्ग पर नहीं चलते हैं, सचित्त पानी पीते हैं।

खोदने-पीसने, लीपने, राँधने-धोने आदि कामों के लिए ऊखल, मूसल, सिलबट्टा, चक्की, चूल्हा, वस्त्र, बर्तन आदि का सम्यक् अवलोकन कर प्रयोग में नहीं लेते हैं। बिजली, पानी, गैस, पेट्रोल आदि का अपव्यय करते हैं। इस प्रकार ऐसे अनेक सावद्य कर्मों को कर हम अनर्थदण्ड के भागी बन जाते हैं। अतएव अनर्थदण्डविरमणव्रत हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण कार्य है जो हमें उस परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक है।

अनर्थदण्डविरमणमयी जैन जीवनशैली अतीव कल्याणकारिणी है। इस व्रत-परिपालन से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व, पर्यावरण और समस्त

जीवों को सुखद परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जब अनर्थदण्डों से बचकर अपना जीवन व्यवहार, कियाएँ आदि करेगा तो परिवार में एकजुटता रहेगी। राष्ट्र उन्नति और विकास करेगा। विश्व में शान्ति का वातावरण होगा। प्राकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग और अत्यधिक दोहन नहीं होगा। समस्त जीवों का जीवनक्रम सुचारू रूप से चलेगा। सभी संतोषपूर्वक अपना जीवन जीयेंगे।

सन्दर्भ

1. अहण्णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि।-उपासगदशांग, 1.12, अनुवादक-अमोलक ऋषि जी, अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया, पृष्ठ 7
2. 'अर्थः प्रयोजनम्। गृहस्थस्य क्षेत्र-वास्तु-धन-धान्य-शरीर-पालनादिविषयं, तदर्थे आरम्भ- भूतोपमर्दोऽर्थदण्डः। दण्डो, निग्रहो, यातना, विनाश इति पर्यायाः।'- संवेगरंगशाला में प्रतिपादित जैन धर्म में आराधना का स्वरूप- पृष्ठ 90
3. उपासकदशाङ्ग टीका, 1.38, द्रष्टव्य संवेगरंगशाला में प्रतिपादित जैन आराधना का स्वरूप, पृष्ठ 91
4. रघुवंशमहाकाव्य, 1.7

-करण विला, प्लॉट नं. 54 ए, लक्ष्मीनगर, पावटा बी रोड़, जोधपुर-342003 (राज.)

छोड़ने योग्य स्वभाव

आचार्य श्री विजयरत्नसेन सूरीश्वरजी म.सा.

(1) ईर्ष्यालु स्वभाव

ईर्ष्या एक ऐसी आग है जो आदमी को भीतर से ही जलाती है। ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे के उत्कर्ष, दूसरों की प्रगति, दूसरों के विकास को देखकर मन ही मन जलता रहता है। ईर्ष्यालु स्वभाव अच्छा नहीं है। ईर्ष्यालु, व्यक्ति हमेशा दुःखी होता है। ईर्ष्या के पाप के कारण आत्मा 'स्त्रीवेद का बन्ध करती है' जिस पाप के उदय से जीवात्मा को स्त्री का जीवन प्राप्त होता है। पीठ और महापीठ मुनि ईर्ष्या के पाप के कारण ही ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में पैदा हुए थे। आत्म-विकास के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए ईर्ष्या के पाप से सदैव बचना चाहिए।

(2) निन्दक स्वभाव

जिसके पास गुणदृष्टि नहीं है, ऐसे व्यक्ति को सर्वत्र दोष ही दिखाई देते हैं। वह जहाँ भी जाएगा, उसे दोष ही दिखाई देगा। ऐसा व्यक्ति निन्दा किए बिना नहीं रहेगा। उसे सागर में गम्भीरता नहीं दिखेगी। वह तो कहेगा 'यह समुद्र कितना खारा है।' कमल को देखकर भी कहेगा, 'अहो! यहाँ तो आस-पास कितना कीचड़ है।' सूर्य को देखेगा तो बोलेगा, 'अहो! यह तो आग के गोले की तरह बरसता है।' चन्द्र को देखकर कहेगा, 'अहो! इसमें तो कलंक है।' निन्दक के पास हमेशा दोष-दृष्टि होती है। उसे कहीं गुण दिखते ही नहीं हैं।

(3) उग्र स्वभाव

कई व्यक्तियों का स्वभाव खूब उग्र होता है। छोटी-छोटी बात में बड़ा झगड़ा खड़ा कर देते हैं। उग्र स्वभाव आग के समान होता है। जिस प्रकार आग सबको जलाकर खाक कर देती है, उसी प्रकार क्रोध की आग अपने सभी सद्गुणों को नष्ट कर देती है। संयम साधना के फल को जलाने का काम क्रोध की आग ही करती है।

(4) निर्दय स्वभाव

कई व्यक्तियों के स्वभाव में दया नाम की कोई चीज ही नहीं होती है। कइयों का स्वभाव खूब निर्दय होता है। सामने वाले के दुःख को देखकर जिसका हृदय द्रवित नहीं होता है, सच मायने में वह इन्सान कहलाने के लिए लायक ही नहीं होता है। निर्दय व्यक्ति का हृदय संवेदन शून्य ही होता है। हजारों-लाखों लोगों की करुण मौत के समाचार सुनकर भी उसके रोम में दया का अंकुर फूटता नहीं है।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 294
ISSN 2249-2011

अनर्थदण्ड : व्यर्थ का पाप

डॉ. धर्मचन्द जैन

कई बार मनुष्य व्यर्थ का पाप करता रहता है। थोड़ी-सी सावधानी एवं विवेक रखे तो वह उस पाप से बच सकता है। **निष्प्रयोजन हिंसा, झूठ बोलने की आदत, काम-विकार बढ़ाने वाली बातें, कुचेष्टाएँ, वाचालता, हिंसा-सम्बन्धी साधनों का संग्रह, उपभोग-परिभोग में वृद्धि आदि व्यर्थ के पाप हैं, जिन्हें आगम की भाषा में अनर्थदण्ड कहा गया है।** दण्ड शब्द यहाँ पाप रूप दु:खद कर्मफल को इंगित कर रहा है।

हिंसा आदि पापों से सर्वथा विरति तो सर्वोत्कृष्ट है, तथा देशत: या आंशिक विरति सर्वथा पापाचरण में लगे रहने की अपेक्षा श्रेयसी है। पापाचरण में लगे रहना भी दो प्रकार का हो सकता है। स्वशरीर रक्षण, परिवार-पालन, समाज, राष्ट्र एवं विश्व की रक्षा की दृष्टि से प्रयोजन युक्त हिंसा आदि पाप सप्रयोजन या अर्थयुक्त हैं, किन्तु इनके अभाव में बिना किसी प्रयोजन के हिंसा आदि पापों का आचरण अनर्थदण्ड है। आज बिना प्रयोजन के भी बहुविध पाप किए जा रहे हैं। उन पापों को किए बिना भी जीवन जीया जा सकता है, अत: उन पापों का परिहार आवश्यक है।

जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि का व्यर्थ विनाश करना या उन्हें व्यर्थ प्रदूषित करना इसी प्रकार का पाप है। **घरों में नल को खुला छोड़ना, लाइट, पंखा, कूलर, ए.सी आदि का उपयोग न करने पर भी विद्युत-स्वीचों को चालू छोड़ देना आदि भी इसी प्रकार निष्प्रयोजन हिंसा है।** मनुष्य यदि जागरूक होकर इनका निष्प्रयोजन नाश न करे तो न केवल स्वयं पाप के दोष से बचेगा, अपितु वह अपने नल एवं बिजली के बिलों की राशि को भी कम कर सकेगा। यही नहीं वह राष्ट्र की सम्पत्ति को बचाकर दूसरों के उपयोग के लिए उपलब्ध कराने में भी सहायक बन सकेगा। **खाद्य-पदार्थों को जूठन में छोड़ना, घर में बची हुई सब्जियों, रोटियों को फेंकना, प्लास्टिक थैलियों में खाद्य सामग्री रखकर उन्हें बाहर डालना आदि भी अनर्थ क्रियाएँ हैं। इनमें जरा-सी सावधानी रखें तो इन क्रियाओं से बचा जा सकता है।** अनर्थदण्ड या अनर्थक्रिया शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं-(1) निरर्थक या निष्प्रयोजन हिंसा आदि प्रवृत्तियाँ। (2) अनर्थकारी अर्थात् विनाशकारी प्रवृत्तियाँ। इन दोनों अर्थों को सम्मिलित कर कहा जा सकता है कि ये **निष्प्रयोजन कृत हिंसा आदि की प्रवृत्तियाँ भी अनर्थकारिणी या विनाशकारिणी होती हैं। इनसे अपना, दूसरों का एवं पदार्थों का भी विनाश होता है।**

जब तक जीवन है तब तक पाप की न्यूनाधिक प्रवृत्ति चलती रहती है। पाप से पूर्ण विरत होना श्रमण जीवन की साधना है। गृहस्थ जीवन में हिंसा आदि पापों से आंशिक विरति की जाती है। एक समझदार गृहस्थ हिंसा से विरति ही करता है, किन्तु अनिवार्य होने पर सप्रयोजन हिंसा में चुनाव करना पड़े तो वह बड़ी की अपेक्षा छोटी हिंसा का चयन करता है। इस प्रकार हिंसा ही नहीं अन्य पाप प्रवृत्तियाँ भी सप्रयोजन एवं निष्प्रयोजन हो सकती हैं। **झूठ, चोरी, मैथुन सेवन आदि ऐसे पाप हैं, जिन्हें किए बिना भी जीवन चल सकता है। इन्हें सप्रयोजन करने का भी विवेक से परिहार करना चाहिए।** परिग्रह रखना सप्रयोजन भी है एवं निष्प्रयोजन भी।

बहुत से पाप मनुष्य निष्प्रयोजन ही करता

रहता है। इनसे वह स्वयं तो कलुषित होता ही है, वातावरण भी कलुषित होता है। दूसरों को पाप का उपदेश करना इसी प्रकार का पाप है। व्यक्ति स्वयं तो पाप करता ही है, दूसरों को भी हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह आदि पाप करने का पाठ पढ़ाता है, जिससे वह व्यर्थ ही पापकर्म का बँध करता है। **पाप प्रवृत्तियों को छोड़ने का उपदेश जहाँ सर्वहितकारी है वहाँ पाप करने का उपदेश सर्व-अहितकारी है।** स्वयं शराब पीने वाला दूसरों को भी शराब का महत्त्व बताकर उसके सेवन के लिए प्रेरित करता है तो अपने साथ वह दूसरों का भी अहित करता है। इसी प्रकार हिंसा आदि प्रत्येक पाप की यही स्थिति है।

सबसे महत्त्वपूर्ण है-अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड। व्यक्ति व्यर्थ ही आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान करता है तथा उनके कारण से हिंसा, झूठ आदि विभिन्न पापकर्म करता है। इष्ट वस्तुओं का वियोग एवं अनिष्ट वस्तु, व्यक्ति का संयोग होने पर आर्त्तध्यान होता है। मनुष्य का अधिकांश जीवन इसी आर्त्तध्यान में व्यतीत हो जाता है। मनुष्य को जो ध्यान दु:ख में डुबाये रखता है वह है आर्त्तध्यान। आर्त्त का अर्थ ही है पीड़ित। इस तरह भूतकाल में घटित दु:खद स्मृतियों एवं भविष्य की चिन्ताओं से ग्रस्त रहना भी व्यर्थ का पाप है, जिससे कोई लाभ नहीं होता। चिन्ता मनुष्य की मानसिक शक्ति को तो क्षीण करती ही है, शरीर में रोग भी उत्पन्न करती है। कभी चिन्ता करना मनुष्य की प्रकृति बन जाती है, जिससे वह पापार्जन करता है एवं सदैव दु:खी रहता है। **हिंसा आदि का आवेश तीव्र होने पर रौद्र ध्यान होता है। इसमें मनुष्य अपना सन्तुलन खो देता है तथा जीव एवं पदार्थों के विनाश हेतु उतारू हो जाता है। इस प्रकार के अपध्यान से बचने में ही अपना हित निहित है।** इसके लिए जागरूकता बढ़ाने की आवश्यकता है। उसे नहीं रोकने पर मानसिक रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रमाद का आचरण भी अनर्थदण्ड है। मनुष्य प्रमाद के वशीभूत होकर सत्य को जानते हुए भी उसका आचरण नहीं करता तथा असत्य को जानते हुए भी उसका त्याग नहीं करता है। **प्रमाद के कारण मनुष्य में अन्य पाप भी स्थान बनाए रखते हैं। यह अन्य बड़े-बड़े पाप का कारण बनता है।**

प्रमाद के पाँच प्रकार हैं-मद्य, विषय, कषाय, निद्रा एवं विकथा। इन पाँचों का सेवन करने पर जागरूकता समाप्त हो जाती है, इसलिए इन्हें प्रमाद कहा गया है। मद्य का सेवन जीवन के लिए आवश्यक नहीं है। यह मनुष्य को बेभान बनाता है तथा असत् प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख करता है। कलह, द्वन्द्व, अपव्यय एवं पारिवारिक अशान्ति का कारण बनता है, अत: त्याज्य है। विषयों के सेवन में रुचि होना भी प्रमाद का द्योतक है। इस प्रमाद के कारण व्यक्ति व्यर्थ ही इन्द्रियों का दुरुपयोग करता है तथा इन्द्रियों के विषय रूप पदार्थों का भी दुरुपयोग करता है। पदार्थों का आवश्यकता से अधिक सेवन अनर्थदण्ड है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप कषाय भी जीव को प्रमत्त बनाता है तथा वह सदसद् का विवेक खोकर व्यर्थ ही उनकी वृद्धि में लगा रहता है। अधिका निद्रा भी मानव को प्रमादी बनाती है तथा वह जिस समय का आत्मोत्थान में उपयोग कर सकता था, उसे व्यर्थ ही बरबाद कर अपना अहित करता है। अत: आवश्यकता से अधिक निद्रा भी अनर्थदण्ड है। विकथा का तात्पर्य है जो चर्चा मनुष्य को आत्मलक्ष्य से भटकाती है वह विकथा है। स्त्रीकथा, भोजनकथा आदि के सम्बन्ध में चर्चा करना विकथा है। निन्दा भी एक प्रकार की विकथा ही है। दूसरों की निन्दा-विकथा करना आवश्यक नहीं है, इसका त्याग किया जा सकता है।

प्रमाद को आठ प्रकार का भी क्हा गया है, जिसके अनुसार बात-बात में वहम करने, पापोत्पादक साहित्य पढ़ने, योग के दुष्प्रणिधान आदि से भी अनर्थदण्ड होता है।

हिंसा के साधन दूसरों को प्रदान करना भी

व्यर्थ का पाप है, क्योंकि दूसरा इनका दुरुपयोग कर सकता है। प्राकृत शब्द 'हिंसप्पयाणे' का एक अर्थ 'हिंसाप्रतान' अर्थात् हिंसा का विस्तार करना भी हो सकता है। कहीं मन से तो कहीं वचनों के माध्यम से हिंसा को बढ़ावा दिया जाता है तो कहीं हिंसा के साधन देकर भी हिंसा को बढ़ावा दिया जाता है। आतंकवाद आदि को बढ़ावा देने की दृष्टि से कृत हिंसा सप्रयोजन हिंसा है। यह महान् अनर्थकारिणी एवं विनाशकारिणी है। ऐसी हिंसा तो मानव-समुदाय में निन्दनीय एवं त्याज्य ही है।

अनर्थदण्ड अथवा निरर्थक पाप-क्रिया करने के कई कारण सम्भव हैं-

1. अज्ञान या अनभिज्ञता-कई बार व्यक्ति को यह ज्ञात ही नहीं होता कि वह निष्प्रयोजन या अकारण ही पाप कर रहा है, अपनी एवं दूसरों की हानि कर रहा है, राष्ट्र एवं विश्व की हानि कर रहा है। **2. असावधानी, आलस्य या प्रमाद**-जानकारी होने पर भी असावधानी आदि के कारण वह निरर्थक पाप करता है। **3. सुविधाभोग की वृत्ति**-यह वृत्ति अनेकविध पाप कार्यों में संलग्न करती है। जानकारी, सावधानी एवं संयम रखकर मनुष्य सहज ही बहुत-सी पापक्रियाओं से बच सकता है।

श्रावक के बारह व्रतों में एक गुणव्रत है- अनर्थदण्ड विरमण। इसके पाँच अतिचार निरूपित हैं- 1. कन्दर्प, 2. कौत्कुच्य, 3. मौखर्य, 4. संयुक्ताधिकरण (असमीक्ष्य अधिकरण) और 5. उपभोग-परिभोग में वृद्धि। कन्दर्प का अर्थ है काम। **काम-विकार को बढ़ाने की चर्चा करना अनर्थक पाप है।** तत्त्वार्थवार्तिक में इसका अर्थ अशिष्ट वचन एवं परिहास करना किया है। भाण्ड की भाँति शारीरिक कुचेष्टाओं को कौत्कुच्य कहा गया है। जैसे **चलते हुए फूल तोड़ना, पत्ते तोड़ना, ठोकर मारना, किसी की जेब में हाथ डालना आदि कौत्कुच्य है। निरर्थक बकवास करना मौखर्य है। अपनी आवश्यकता का आकलन किए बिना सावद्य उपकरणों का संग्रह करना एवं दूसरों को देना संयुक्ताधिकरण अथवा असमीक्ष्य अधिकरण है। बिना प्रयोजन के उपभोग एवं भोग की वस्तुओं में वृद्धि करना भी अनर्थदण्ड है।**

अनर्थदण्ड के आज विभिन्न रूप देखे जा रहे हैं, यथा-(1) मनुष्य व्यर्थ चिन्तन एवं चिन्ता में संलग्न रहता है, जिसका कोई लाभ नहीं है, सिवाय हानि के। मन में विकार बढ़ाने वाला चिन्तन चलता रहता है, किसी के प्रति द्वेषपूर्वक नुकसान पहुँचाने या अनिष्ट होने का चिन्तन चलता है, यह सब व्यर्थ एवं दुश्चिन्तन है। (2) इसी प्रकार वचन के माध्यम से मनुष्य अपशब्दों का प्रयोग कर व्यर्थ ही पाप को जन्म देता है। पाप करने का समर्थन करता है। किसी को नीचा दिखाता है तो व्यर्थ ही किसी की हँसी उड़ाता है। (3) शरीर से भी जीवों को कुचलते हुए चलना, किसी को उत्पीड़न देना आदि अनेकविध हिंसाकारी क्रियाएँ करता है।

चूँकि **अनर्थदण्ड विमरण व्रत एक गुणव्रत है, अतः यह पाँच अणुव्रतों को सुरक्षित एवं सशक्त बनाता है।** प्राणातिपात विरमण व्रत हिंसा को परिमित करने का व्रत है, उसकी मर्यादा करने का व्रत है। परिमाण कर लेने पर भी **निष्प्रयोजन हिंसा को रोकने में अनर्थदण्ड विरमरणव्रत सहयोगी है।** 'हिंसप्पयाणे' शब्द इसी बात का द्योतक है कि हिंसा का विस्तार नहीं करना है। **इसी प्रकार मृषावाद विरमणव्रत अंगीकार कर लेने पर भी उसके पोषण हेतु मुखरी वचन (अनर्गल भाषण) के प्रयोग का निषेध किया गया है। जो भी बोला जाए वह विचारपूर्वक बोला जाए, बिना विचारे अनर्गल वाक्यों का प्रयोग वातावरण को विक्षुब्ध बना सकता है तथा किसी व्यक्ति के हृदय को आघात भी पहुँचा सकता है। अदत्तादान विरमणव्रत, परिग्रह परिमाण व्रत आदि के पोषण के लिए**

अनर्थदण्ड विरमरणव्रत में कामनाओं पर लगाम लगाने का विधान किया गया है। साथ ही यदि उपभोग एवं परिभोग के योग्य वस्तुओं का परिमाण किया है तो उनमें भी आवश्यकता न होने पर उनके प्रयोग में वृद्धि नहीं करने हेतु **उपभोग-परिभोग के अधिक सेवन का निषेध किया जाता है। मैथुन विरमणव्रत की पुष्टि भी अनर्थदण्ड विरमणव्रत से होती है, क्योंकि इसमें कामविकार उत्पन्न करने वाली कथा का निषेध किया गया है।** कई प्रकार के उपन्यास, टी.वी. के धारावाहिक, चलचित्र आदि को अधिक देखना भी कामविकार को बढ़ाने वाला होने के कारण अनर्थदण्ड विरमणव्रत के अन्तर्गत हेय है। इन अणुव्रतों के पोषण के साथ ही मनुष्य की अन्य सावद्य प्रवृत्तियों पर भी यह व्रत अंकुश लगाता है।

इस गुणव्रत के सेवन से सभी पापों पर अंकुश लगता है, क्योंकि इसमें पापकर्म सम्बन्धी प्रेरक वचनों का परिहार किया गया है। कोई क्रोध, मान, माया एवं लोभ को बढ़ाने का उपदेश दे या कोई राग-द्वेष को बढ़ाने का उपदेश दे, कलह उत्पन्न करने निन्दा आदि को बढ़ाने का उपदेश दे अथवा मिथ्यात्वी रहने की प्रेरणा करे तो वह भी अनर्थदण्ड विरमणव्रत के अर्न्तगत त्याज्य है।

अनर्थदण्ड या व्यर्थ के पाप से बचने के लिए मन, वचन एवं काया तीनों स्तरों पर सावधान होने की आवश्यकता है। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, प्रमाद, हिंसा एवं पापकर्म के उपदेश को त्याग कर सदैव जागरूकतापूर्वक अनावश्यक पापक्रिया से बचना चाहिए।

-पूर्व प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.).
एस-1, 28 आयुवानसिंह नगर, महारानी फार्म, दुर्गापुरा, जयपुर-302018 (राज)

रात्रि-भोजन को त्यागें

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा.

- रात में भोजन करने से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह व्रतों का पालन ठीक से नहीं हो सकता।
- साधनाशील व्यक्ति को तो रात में भोजन छोड़ना जरूरी है ही, किन्तु जो जीने के लिए खाता है उसे भी स्वास्थ्य की दृष्टि से रात को भोजन लेना हानिकारक है। जो जीना चाहता है, उसे बीमारी से बचने के लिए रात्रि-भोजन छोड़ना अत्यन्त जरूरी है।
- रात को भोजन न करने वाले का मनोबल एवं आत्म-बल बढ़ता है, पैसा बचता है और साथ ही वह अनेक रोगों से छुटकारा पा लेता है।
- रात्रि में भोजन करना न स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से अच्छा है और न ही धार्मिक दृष्टि से। रात्रि-भोजन-त्याग से जीव हिंसा से तो बचते ही हैं, किन्तु अनेक जीवों को अभयदान भी मिल जाता है।
- जो रात्रि में नहीं खाता उसके जीवन का आधा भाग एक प्रकार से तप में गुजरता है। ऐसे लोग वर्ष में छह मास तपस्या करते हैं। धर्म की दृष्टि से नवकारसी से लगाकर मास-खमण आदि जितने भी तप हैं, वे रात्रि-भोजन के त्याग से ही प्रारम्भ माने गये हैं।
- रात्रि-भोजन त्यागने का एक लाभ यह भी है कि धर्मपत्नी या गृहिणी को रात्रि में प्रतिक्रमण आदि धर्म-साधना का समय मिल जाता है।
- रात्रि में भोजन नहीं करने के कारण परिवार के लिए भोजन समय पर बनेगा, जिससे साधु-साध्वियों को निर्दोष आहार मिल सकेगा।

-हीरा प्रवचन पीयूष भाग-2 से

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 298
ISSN 2249-2011

वैज्ञानिक युग और जैन जीवनशैली

डॉ. धर्मेन्द्र कुमार कांकरिया

आज विश्व में विवाद हैं, हिंसा है, आतंकवाद है, कट्टरता है और शीघ्र सञ्चार की व्यवस्था है। इनकी प्रत्यक्ष निष्पत्ति है तनाव, अशान्ति और असुरक्षा से त्रस्त जीवन। असाधारण तकनीकी विकास ने सुख-सुविधाओं में अभिवृद्धि की है जो अपूर्व है। यह सब होते हुए भी एक अजीब असहाय होने की मनोवृत्ति और आशंका जीवन के आनन्द और उमङ्ग को तिरोहित कर रहे हैं। हर स्तर पर द्वन्द्व हैं और उनकी भयंकरता मानव समाज की दशा और दिशा में प्रश्नवाचक चिह्न लगाती है। एक सामान्य प्रतिक्रिया है वैज्ञानिक प्रगति को दोषी करार देने की। यह सोच यदि सही है तो क्या हम विज्ञान और तकनीकी से प्राप्त प्रगति और उपलब्धियों को छोड़ने के लिए तैयार हैं? यदि नहीं तो विकृति का सही विश्लेषण करने के लिए जीवन-दर्शन पर सन्तुलित विचार करना आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में जैन दृष्टि की विशेष उपादेयता है। जैन दर्शन में प्रतिपादित अहिंसा की सूक्ष्मता आहार, व्यवहार, विचार और आचार में नई दृष्टि देने में समर्थ है। अपनी दृष्टि को परिवर्तित करने के लिये हम कुछ प्रमुख घटकों पर विहङ्गम विचार करेंगे। इसकी पृष्ठभूमि है प्रकृति के सभी संघटकों (जल, वायु, भूमि, समग्र जीव, पेड़-पौधे और अन्य ज्ञात-अज्ञात घटकों) की परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धता और इसमें विकृति के कारण अनगिनत समस्याओं का मकड़जाल। मनुष्य का प्रकृति में सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वह विवेकपूर्ण विश्लेषण करता है, उनकी उचित अभिव्यक्ति कर सकता है और निर्णय ले सकता है। यह दूसरे प्राणियों के लिये इतना सम्भव नहीं है, इस कारण सभी नैसर्गिक घटकों में उचित समन्वय रखने में मानव का विशेष उत्तरदायित्व है।

शाकाहार चयन

कई देशों में मानव समाज ने मांसाहार अपनाया है, जो किसी भी दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। मांसाहार न स्वास्थ्यपरक है और न नीतिपरक। इसके कारण विश्वव्यापी परिस्थिति पर व्यापक दुष्प्रभाव पड़ रहा है। पशुओं के लिए संवेदना और करुणा के अभाव में मानवीय भावनाओं का लगातार ह्रास हो रहा है। यह हिंसा, आतंकवाद, असहनशीलता और निर्ममता को जन्म दे रही है। जैन दृष्टि में शाकाहार एक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली विचारधारा है। भारत में सदियों से प्रचलित इस अहिंसक विचारधारा के लिये पाश्चात्त्य देशों में वैज्ञानिक आधार पर भरपूर समर्थन मिल रहा है। जैनदर्शन की आधारभूत शिक्षा है सभी प्रकार के जीवों के लिए आदर और श्रद्धाभाव, जीवमात्र के प्रति नैतिक आचरण, सभी जीवों को अभयदान और अहिंसा को सर्वोपरि मान्यता। यह संकुचित धार्मिक चिन्तन या पथ नहीं है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाइन ने गहन चिन्तन के बाद कहा कि स्वास्थ्य और पृथ्वी पर जीवन की अभिवृद्धि के लिए शाकाहार सर्वाधिक उपयोगी है।

अनेकान्त दृष्टि का उपयोग

विश्व अशान्ति का महत्त्वपूर्ण कारण है- विचारों में एकांगीपन। मेरी मान्यताएँ, चिन्तन, दर्शन ही सही हैं शेष सब भ्रमपूर्ण हैं, विभ्रान्त हैं, यह विचारधारा कटुता और असहिष्णुता को पनपाती है। वर्तमान संदर्भ में दूसरा चिन्तन या दर्शन भी सही हो सकता है, यह जैन दर्शन की महत्त्वपूर्ण देन है। विज्ञान में भी इस बहुमूल्य आध्यात्मिक विचारधारा को यथेष्ट समर्थन मिला है। अनेकान्तवादी विचारधारा दूसरों के दृष्टिकोण को सम्यक्ता प्रदान करती है, परस्पर सहयोग और

सहिष्णुता बढ़ाती है और विभिन्न दृष्टिकोणों को समादर देकर उन्हें सुलझाने में सहायक और सफल होती है। यह वर्तमान समय में सन्तुलित आकलन के लिए बहुत आवश्यक है।

अनेकान्तवाद के अभाव में भिन्न-भिन्न विचारधाराओं और मान्यताओं में समन्वय और सह-अस्तित्व दुरूह कार्य बन रहा है, टकराव की स्थितियाँ निर्मित हो रही हैं।

अपरिग्रह की प्रभावी दृष्टि

विज्ञान और तकनीकी विकास ने ऐसे साधन और विधियाँ उपलब्ध करा दी हैं जिनकी सहायता से जीवन में सुख-सुविधाएँ बढ़ाने के लिए पृथ्वी के संसाधनों का व्यापक दोहन करने की दृष्प्रवृत्ति बढ़ गई है। इसके कारण नैसर्गिक सम्पदा का उपयोग और उपभोग अनावश्यक त्वरित गति से हो रहा है और सब ओर संकट के लाल संकेत उठ गये हैं। **हर प्रकार का संग्रह करने की मनोवृत्ति ने भयंकर विकृति का रूप ले लिया है।** यदि उत्तरी अमेरिका का जीवन स्तर पाना लक्ष्य हो तो हमारी पृथ्वी के संसाधनों को तिगुना करना पड़ेगा। यह सम्भव भी नहीं है और हितकर भी नहीं है। इस मनोवृत्ति से उत्पन्न उथल-पुथल सर्वव्यापी संत्रास का कारण बन रही है। **इस हिंसोन्मुख प्रवृत्ति के परिमार्जन के लिए अपरिग्रह की जीवन दृष्टि एक क्रान्तिकारी दिशा है।** युगपुरुष गाँधीजी ने इसी तथ्य को पुनः प्रकाशित करने के लिए कहा कि **''सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पृथ्वी पर पर्याप्त संसाधन हैं, परन्तु मानव के बढ़ते लालच को सन्तुष्ट करना सम्भव नहीं है, श्रेयस्कर भी नहीं है''**, अतः परिग्रह का त्याग किये बिना शान्तिपूर्ण विश्व व्यवस्था दुःस्वप्न मात्र बनी रहेगी। **अहिंसा से शान्तिपूर्ण समाज की परिणति तभी सम्भव है, जब नीतिपरक अपरिग्रह स्वीकार किया जाये और व्यवहार में लाया जाये।** एक अहिंसक और न्यायपूर्ण समाज के लिए यह परमावश्यक है। यह भी विचारणीय है कि अपरिग्रह के अभाव में क्या अहिंसा सफल और पूर्णरूपेण सार्थक हो सकती है? नहीं, कदापि नहीं। उपभोक्तावाद मानवता के लिये बड़ा संकट बन कर उभर रहा है।

आचार में अहिंसा

आचरण में अहिंसा जैन दृष्टि की सर्वोत्कृष्ट परिणति है। इसीलिए रियो डिजनेरो (ब्राजील) में ''यू. एन. अर्थ समिट'' (1992) कॉन्फ्रेंस में यह घोषणा पारित की गई कि सम्पूर्ण सृष्टि पवित्र है और एक है। समग्र जीवन और उसके भिन्न रूपों की पुनीतता को स्वीकार करते हुए यह दृढ़ विश्वास व्यक्त किया गया कि शांति और अहिंसा के सिद्धान्त के अनुरूप एक-दूसरे के और सभी जीवों के प्रति मनुष्यों का सम्यक् आचरण होना चाहिए। अहिंसा के प्रति अपनी मान्यताओं और उन पर आधारित आचरण के कारण जैन धर्म को विश्व के सर्वाधिक शान्तिप्रिय धर्म के रूप में ख्याति मिलनी चाहिए। विश्व में जैनदर्शन एक सार्वभौम धर्म के रूप में उभरना चाहिए और यह तदनुरूप आचरण से ही सम्भव है।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के चिन्तन और आचरण में हिंसा ने बीभत्स रूप धारण कर लिया है, जिसमें संवदेनशीलता का भयावह अभाव पनप रहा है। आतंकवाद का भस्मासुर सभी मानव मूल्यों को भस्म करने के लिए आतुर है। वातावरण केवल दूषित ही नहीं हो रहा, वरन् उसमें उत्तरोत्तर कट्टरता और कटुता आ रही है। जनमानस चिन्तित और आन्दोलित है। अब चुनाव हिंसा और अहिंसा के बीच में नहीं, वरन् अहिंसा और सर्वनाश के बीच में है। करुणा, मैत्री और अहिंसक आचरण के अभाव में हमारा अस्तित्व ही खतरे में है।

(लेखक अब स्वर्गस्थ)

-सोसायटी फार साइण्टिफिक एण्ड एथिकल लिविंग
द्वारा : प्राकृत भारती अकादमी,
13 ए, मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017 (राज.)

◆

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 300
ISSN 2249-2011

कर्मसिद्धान्त और पुरुषार्थ का पारस्परिक सम्बन्ध

श्री धर्मचन्द जैन

विश्व की विचित्रता के अनेकानेक कारणों में कर्म भी एक प्रमुख कारण माना जाता है। काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूतवाद, पुरुषवाद आदि कर्म के सहायक कारण माने गये हैं। कर्म को प्रधान कारण मानने से जन-जन के मन में आत्मविश्वास एवं आत्मबल उत्पन्न होता है। साथ ही पुरुषार्थ का पोषण भी होता है। सुख-दुःख का कारण अन्यत्र न ढूँढ़कर अपने आप में ढूँढ़ना बुद्धिमत्ता है।

आचार्य सिद्धसेन ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में लिखा है कि काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पाँच कारणों में से किसी एक को ही कारण माना जाय और बाकी कारणों की उपेक्षा कर दी जाय, तो वह मिथ्या मान्यता है। कार्य की निष्पत्ति में काल आदि सभी कारणों का समन्वय किये जाने पर ही सम्यक् मान्यता बनती है।

कर्म का अर्थ

कर्म का शाब्दिक अर्थ कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया है। जो कुछ भी किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। सोना, बैठना, खाना, पीना आदि दैनिक व्यवहार में जो भी कार्य करते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। जो कर्त्ता के लिए अत्यन्त प्रिय हो, इष्ट हो, वह कर्म कहलाता है। मीमांसा दर्शन में क्रिया काण्ड को, यज्ञ आदि अनुष्ठानों को कर्म कहा है। सांख्यदर्शन में संस्कारों को कर्म कहा है। गीता में कर्मशीलता को कर्म कहा है। न्यायशास्त्र में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन रूप क्रिया को कर्म कहा है। बौद्धदर्शन में जीवों की विचित्रता के कारण को कर्म कहा है। जैनधर्म में- मिथ्यात्व आदि हेतुओं से जो क्रिया की जाती है, उसे कर्म कहा गया है। दूसरे शब्दों में कषाय और योग के द्वारा जो कर्म पुद्गल आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।

जैनधर्म में कर्म दो प्रकार के माने गए हैं-द्रव्य कर्म और भाव कर्म। राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् कषायादि भाव कर्म हैं तथा कार्मण वर्गणा के पुद्गल जो कषायों के कारण आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, वे द्रव्य कर्म कहलाते हैं।

जिस प्रकार से बेड़ी से मानव बँधता है, मदिरापान से पागल होता है, क्लोरोफार्म से मूर्च्छित होता है ये सभी पौद्गलिक वस्तुएँ हैं। ठीक इसी प्रकार कर्मों के संयोग से आत्मा में भी विभाव अवस्थाएँ आ जाती हैं। बेड़ी आदि का बन्धन बाहरी है, अल्प सामर्थ्य वाला है, किन्तु कर्म आत्मा के साथ लगे हुए हैं, अधिक सामर्थ्य वाले एवं सूक्ष्म स्कन्ध हैं, इसलिए बेड़ी आदि की अपेक्षा कर्मों का जीवात्मा पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

जीव अपने मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों से कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को आकर्षित करता है। योगों की प्रवृत्ति होती है, तभी जीव कर्मों से सम्बद्ध होता है। द्रव्य कर्म के होने में भाव कर्म तथा भाव कर्म के होने में द्रव्य कर्म कारण है। जैसे-वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष, अण्डे से मुर्गी और मुर्गी से अण्डा उत्पन्न होने की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है, इसी प्रकार द्रव्य कर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्मों की परम्परा भी अनादि काल से चल रही है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मों के साथ किस प्रकार सम्बद्ध हो सकता है। प्रत्युत्तर में हम यह कह सकते हैं कि प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और आत्मा को अनादि माना है। अनादि काल से आत्मा कर्मों से बँधा हुआ है और विकारी है। कर्मों से बँधा हुआ आत्मा कथञ्चित् मूर्त है। स्वरूप से अमूर्त होते हुए भी संसार दशा में मूर्त है। जो पूर्णतः सभी

कर्मों से मुक्त हो जाते हैं, सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं, उनके कभी भी कर्मों का बन्धन नहीं होता है।

जिन जीवों के पहले से ही कर्म बँधे हुए हैं, उन्हीं के नये कर्मों का बँध होता है। मोहनीय कर्म का उदय होने पर जीव राग-द्वेष में परिणत होता है और वह अशुभ कर्मों का बँध करता है, जो वीतराग बन जाते हैं, मोहकर्म के उदय से रहित हो जाते हैं, उनके सयोगी अवस्था में योगों की प्रवृत्ति होने के कारण मात्र ईर्यापथिक कर्म का ही बँध होता है।

कर्म बँध के कारण

जीव कर्मों का बँध कैसे करता है? इसके उत्तर में प्रज्ञापना सूत्र के 23वें पद में कहा गया है कि ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शन मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व मोह का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता रहता है।

ठाणांगसूत्र, समवायाङ्गसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि में कर्म बँध के पाँच कारण बतलाये हैं-1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय और 5. योग। समवायाङ्गसूत्र के दूसरे समवाय में कषाय और योग को कर्म बँध का कारण कहा है। यहाँ कषाय के अन्तर्गत मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद का भी समावेश समझना चाहिए।

पहले से लेकर दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग दोनों कारणों से होने वाले कर्मों का बँध साम्परायिक बँध कहलाता है। ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक कषायों का उदय न होने से, मात्र योगों की ही प्रवृत्ति होने से ईर्यापथिक बँध होता है। चौदहवें गुणस्थान में अयोगी हो जाने से किसी भी प्रकार के कर्मों का बँध नहीं होता है।

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से भी जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त का विवेचन हुआ है। जो पर निमित्त के बिना वस्तु के असली तात्त्विक स्वरूप का कथन करता है, वह निश्चयनय कहलाता है और जो पर निमित्त की अपेक्षा से वस्तु तत्त्व का कथन करता है, वह व्यवहारनय कहलाता है।

निश्चयनय शुद्ध आत्मा और शुद्ध पुद्गल का ही कथन करता है। पुद्गल मिश्रित आत्मा का या आत्मा मिश्रित पुद्गल का कथन नहीं करता। क्योंकि कर्म का सम्बन्ध सांसारिक आत्मा से है। अत: कर्मयुक्त आत्मा का कथन व्यवहार नय से ही हो सकता है। निश्चय नय पदार्थ के शुद्ध स्वरूप का अर्थात् जो वस्तु स्वभाव से, अपने आप में जैसी है, वैसी ही प्रतिपादन करता है।

संसारी जीवों को द्रव्यकर्मों का कर्त्ता और भोक्ता व्यवहारनय की अपेक्षा से माना जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं लेना कि जीव पुद्गलों का निर्माण करता है। पुद्गल तो पहले से ही विद्यमान हैं। जीव तो अपने सन्निकट स्थित कर्म पुद्गलों को अपनी प्रवृत्तियों से आकर्षित करके अपने से नीरक्षीरवत् सम्बद्ध कर देता है। यही द्रव्य कर्म का कर्त्तापन कहलाता है।

कर्म पुद्गल अपने आप कर्म रूप में परिणत नहीं होते, जीव अपने ही विकारी भावों से उन्हें कर्म रूप में परिणत करता है। दूसरी बात द्रव्य कर्म ही तो भाव कर्मों को उत्पन्न करते हैं। सिद्ध द्रव्य कर्मों से मुक्त हैं, इसलिए भाव कर्मों से भी मुक्त है। जो कर्मों से बद्ध होता है वही उनका फल भी भोगता है। इसी तरह से संसारी जीव कर्मों का कर्त्ता और उनके फल का भोक्ता है, किन्तु मुक्त जीव न तो कर्मों का कर्त्ता है और न कर्मों का भोक्ता ही है।

कर्म की मर्यादा

जैनदर्शन के अनुसार कर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा से अधिक होता है। व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा की सुनिश्चित सीमा है। इसी प्रकार कर्म भी उस सीमा में अपना कार्य करता रहता है। जीव की विविध अवस्थाएँ शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, मन-वचन आदि कर्मों के कारण होती हैं। कुछ कार्यों और घटनाओं में निमित्त बनने, सहयोगी बनने, प्रभावित होने आदि की अपेक्षा से उन कार्यों व

घटनाओं को भी कर्मों से सम्बन्धित मान लिया जाता है, किन्तु प्रमुखता तो स्वयं के शरीर, इन्द्रियाँ, मन-वचन, श्वासोच्छ्वास, स्वयं के भाव, परिणाम, कार्य एवं गतिविधियों की ही है।

बँधे हुए कर्मों का उदय

जो भी कर्म उदय में आते हैं, वे सब अपने स्वयं के बाँधे हुए कर्म ही उदय में आते हैं। यह सही है कि बँधे हुए सभी कर्म उदय में अवश्य आते हैं। कर्म दो प्रकार से उदय में आते हैं-प्रदेशोदय के रूप में तथा विपाकोदय के रूप में। जब कर्म अपना फल दिये बिना ही आत्मा से अलग हो जाते हैं, तब वह प्रदेशोदय कहलाता है तथा जब कर्म अपना विपाक अर्थात् फल दिखाये, सुख-दुःख आदि का वेदन कराये, तब उसे विपाकोदय कहते हैं। भगवती शतक 1 उद्देशक 4 में दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं-1. प्रदेश कर्म और 2. अनुभाव कर्म।

पुरुषार्थ से भाग्य

भूतकाल में हमने जो-जो जिस जिस रूप में कर्मों में पुरुषार्थ किया है, वही हमारा भाग्य कहलाता है तथा वर्तमान में हम जितना-जितना पुरुषार्थ करेंगे, वही भविष्य में हमारा भाग्य बनने वाला है। वर्तमान में हम जो पुरुषार्थ करते हैं, उसका फल अवश्य प्राप्त होता है। भूतकाल की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नहीं भी। यदि वर्तमान का पुरुषार्थ भूतकाल के पुरुषार्थ से कमज़ोर है तो वह हमारे भाग्य को बदल नहीं पायेगा। **यदि वर्तमान का पुरुषार्थ भूतकाल के पुरुषार्थ से प्रबल है तो वह भाग्य में भी परिवर्तन कर सकता है।**

हम हमारे पुरुषार्थ को बढ़ा कर शुभाशुभ कर्मों में परिवर्तन कर सकते हैं। **पुरुषार्थ यदि विशुद्ध भावों के साथ किया जा रहा है तो वह पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृतियों की स्थिति एवं अनुभाग को घटाने वाला बन सकता है** तथा वर्तमान में शुभ प्रकृतियों के बँध का हेतु बन सकता है। पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृतियों को वह अपनी सजातीय शुभ प्रकृतियों में संक्रमित करा सकता है। वर्तमान में बन्धने वाली अशुभ प्रकृतियों की स्थिति तथा अनुभाग दोनों में बहुत कुछ अंशों में कमी कर सकता है।

विशुद्धि के भाव कषायों का त्याग करने से होते हैं। यदि कषायों का त्याग आत्मदृष्टि तथा आत्मश्रद्धान के साथ होता है तो वह अत्यधिक प्रभावशाली बन जाता है। साधक के जीवन में संवर, निर्जरा तत्त्व अधिक बलवान हो जाता है, जिससे मोक्ष मार्ग पर क़दम तेजी से बढ़ने लगते हैं।

आत्मा स्वतन्त्र है अथवा कर्माधीन ?

सामान्यतः जीव जैसा कर्म करता है, उसको वैसा ही फल प्राप्त होता है-दशाश्रुतस्कन्ध-6 में कहा भी है-

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भंवति।

अर्थात् शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है। शुभ अथवा अशुभ कर्म जो निकाचित बँध जाते हैं, उन्हें तो जीव को प्रायः विपाक उदय से भोगना ही पड़ता है, किन्तु जो अनिकाचित हैं, अल्प निकाचित हैं, उन्हें जीव परिणाम विशेष से, भावों की शुद्धि विशेष से बदल सकता है, कम कर सकता है, बढ़ा सकता है अथवा प्रदेशोदय में लाकर समाप्त भी कर सकता है। नियत समय से पहले उदीरणा करण के द्वारा उदय में भी ला सकता है। बँधी हुई स्थिति तथा अनुभाग को घटा-बढ़ा भी सकता है। संक्रमण, उपशमन, निधत्त आदि भी कर सकता है। यह सब जीव के पुरुषार्थ पर निर्भर हैं।

विवेक दृष्टि, अन्तर्दृष्टि, प्रीति दृष्टि जागृत कर लें, तो कर्मों के प्रभाव से अपने आपको बहुत कुछ अंशों में बचा भी सकता है।

आत्मा बलवान या कर्म ?

आत्मा और कर्म इन दोनों में बलवान कौन है? यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है। समाधान रूप में कह सकते हैं कि आत्मा भी बलवान है तथा कर्म भी बलवान हैं। आत्मा में अनन्त शक्ति है तो कर्म में भी अनन्त शक्ति है। कभी जीव कर्मों को पछाड़ देता है तो कभी

कर्म जीव को दबा देता है।

यदि आत्मा जागृत है, सम्यक्त्वी है, भेद विज्ञानी है, ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित है, सावद्य योगों से, पापों से, प्रमादादि से विरत है तो वह कर्म की अपेक्षा अनन्त गुणा अधिक बलवान होता है। तभी तो वह अपने पुरुषार्थ से सभी कर्मों को समाप्त कर शाश्वत सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

यदि आत्मा सुप्त है, मिथ्यात्वादि से ग्रसित है, विकारों एवं कषायों से पराधीन बनी हुई है, आरम्भ-परिग्रह-विषय-कषायों में उलझी हुई है तो वह आत्मा दुर्बल है, उस पर कर्म भारी पड़ते हैं, कदम-कदम पर वे अपना प्रभाव दिखाते हैं। जन्म-जरा-मरण के दु:खों से घेरे रहते हैं।

वीर हनुमान को जब तक अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं हुआ तब तक वह नाग-पाश में बँधा रहा, ठोकरें खाता रहा, अपमान के ज़हरीले घूँट पीता रहा, किन्तु ज्यों ही उसे अपनी शक्ति का, स्वरूप का ज्ञान हुआ त्यों ही नाग-पाश को तोड़कर मुक्त हो गया। इसी प्रकार आत्मा को भी जब तक अपनी स्वाभाविक शक्तियों का ज्ञान नहीं होता, तब तक वह भी कर्मों को अपने से अधिक शक्तिमान समझकर उनसे दबा-दबा सा रहता है। निज स्वरूप का ज्ञान होते ही वह कर्मों पर विजय पाने लग जाता है।

करने योग्य कार्य

1. आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानें और उनका सम्यक् श्रद्धान करें।
2. हमारी विभाव अवस्था कर्मों के कारण से बनी है, अत: कर्मों को बन्धन रूप जानें। **अपने दैनिक जीवन में व्याप्त दोषों, बुराइयों तथा कमियों को छोड़ने योग्य जानें, मानें।** तभी उन्हें छोड़ने का प्रयत्न हो सकता है।
3. कर्मों के बन्धन का एवं कमियों का मुख्य कारण मेरे स्वयं के विकारी भाव हैं, रागादि भाव हैं, अन्य जीवों के भाव नहीं।
4. बाहर के व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति तो मात्र निमित्त हैं, उनका कोई दोष नहीं है, दोष सब मेरे पूर्वकृत कर्मों का है, मेरा स्वयं का है।
5. देव-गुरु-धर्म की शरण ग्रहण करके, अपनी आत्मिक शक्तियों को जगाकर **मुझे ही अपने दोषों, बुराइयों, गलतियों को समाप्त करना है।**
6. जिन-जिन अनन्त आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त की है, वह अपने दोषों, अपने कर्मों को समाप्त करके ही प्राप्त की है। उन्होंने की है तो मैं भी कर सकता हूँ, क्योंकि उनकी और मेरी आत्मा स्वभावत: एक समान है।
7. मैं अपनी समझ, विचारधारा, अपना दृष्टिकोण, अपना श्रद्धान एवं आचरण सुधार कर कर्मों के बन्धन से हमेशा-हमेशा के लिए मुक्ति प्राप्त कर सकता हूँ।
8. यद्यपि कर्म बन्धन प्रवाह की अपेक्षा अनादि से है, किन्तु फिर भी सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन पूर्वक सावद्य योगों का त्याग करके, अप्रमत्त जीवन धारण करके, मैं कर्म बन्धन की शृङ्खला को तोड़ सकता हूँ। इसके लिए आवश्यकता है गुण-दृष्टि की, आत्म-दृष्टि की, व्रत-महाव्रत-समिति-गुप्ति के सदाचरण की।
9. कोई भी समय, कोई भी स्थान, कोई भी घटना, कोई भी परिस्थिति मुझे सुधरने से रोक नहीं सकती। मैं सुधर सकता हूँ, मैं सुधर रहा हूँ, मुझमें अच्छा सुधार हो रहा है, इस प्रकार के सतत मनोभावों से व्यक्ति अपने जीवन को श्रेष्ठ-श्रेष्ठतर-श्रेष्ठतम बना सकता है। मैं भी श्रेष्ठ बनने का पुरुषार्थ करूँ।
10. यह सही है कि कर्म पुद्गल सारे लोक में ठसाठस भरे पड़े हैं। किन्तु यह भी सही है कि जीव जब तक राग-द्वेषादि भाव नहीं करे, तब तक वे कर्म पुद्गल आत्मा पर सम्बद्ध होते ही नहीं हैं। अत: कर्मों को बाँधना अथवा नहीं बाँधना, कम बाँधना अथवा अधिक बाँधना, स्थिति-अनुभाग कम-अधिक

बाँधना ये सब मेरे स्वयं के हाथ में है। जो मेरे हाथ में है, वह तो मुझे करना ही चाहिए। कर्म बन्धन से बचने का पूरा-पूरा प्रयास मैं ईमानदारी से करूँ।

11. **कर्मों के प्रभावों से स्थायी रूप से बचने के लिए समता अचूक औषधि है, रामबाण दवा है।** समता समस्त आगमों का सार है। अत: समत्व भाव को जगाने, बढ़ाने तथा टिकाये रखने का मैं सतत पुरुषार्थ करूँ।

रजिस्ट्रार-अ.भा.श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, नेहरु पार्क, जोधपुर (राज.)

जीवन में विवेक की आँख ज़रूरी

आचार्य विजय रत्नसुन्दरसूरि जी म.सा.

1. दरवाजे के माध्यम से व्यक्ति जैसे परिचितों को मकान में प्रवेश देता है और अपरिचितों को रोकता है वैसे ही, विवेकयुक्त जागृति जीवन में शुभ को सरलता से प्रवेश देती है और अशुभ को जीवन में या मन में प्रवेश करने से रोकती है।
2. जिसके पास चमड़े की दो आँखें हों, परन्तु विवेक की तीसरी आँख न हो वह मनुष्य के चौले में राक्षस बन सकता है। दूसरी ओर जिसके पास चमड़े की दो आँखें न भी हों और सिर्फ विवेक की आँख हो तो वह आत्मा कदाचित् केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकती है।
3. जो रागान्ध, लोभान्ध, कामान्ध या क्रोधान्ध होता है उसके जीवन में विवेकनिष्पन्न कार्य होने की कोई सम्भावना ही नहीं बचती।
4. परमात्मा बनना है तो वात्सल्य को पसन्द करना ही होगा और पापात्मा बनने से रुकना है तो विवेक को पसन्द करना ही होगा।
5. कान की खिड़कियाँ जिस प्रकार घर में पवन और प्रकाश की उपस्थिति को सहज बना देती हैं, उसी प्रकार, जीवन में दीर्घदर्शिता जीवन को स्वस्थता से और मन को प्रसन्नता से युक्त करती रहती है।
6. जो सामने होता है उसी को ही जो देखता रहता है और तदनुसार ही जो प्रवृत्त-निवृत्त होता रहता है वह कदाचित् नुकसान को आमन्त्रण दे बैठता है अथवा तो लाभ से वञ्चित रह जाता है। जबकि, जो दूर का भी देखते रहकर तदनुसार प्रवृत्त-निवृत्त होता रहता है वह बहुत बड़े नुकसान से बच जाने के साथ-साथ महान् लाभों का भी भागी बन जाता है।
7. दो प्रकार के जीवन कलंकित हैं-ध्येयहीन जीवन। हीनध्येय वाला जीवन।
8. जीवन में आवेश को नियन्त्रित करने और मानसिक शान्ति की ठण्डक का अनुभव करने के लिए हमें 'Open mind' अर्थात् उदार विचारशैली की 'system' को जीवन में लगाना ही पड़ता है।
9. आसमान में आने वाली अमावस्या को रोकने की क्षमता आप में भले ही नहीं है, परन्तु आपके मनोजगत में निराशा की या हताशा की अमावस्या को प्रवेश करने से रोकने की क्षमता केवल आप में ही है। आसमान में पूर्णिमा प्रकट होने से रोकने की क्षमता आपमें भले ही नहीं है, परन्तु सुविधाओं की भरमार के बीच भी आपके मन के आसमान में प्रसन्नता की पूनम को यदि आप नहीं खिलने देना चाहते तो वह पाशवी ताकत आपमें है ही।
10. जिसके साथ हम सालों से रहते हैं उनमें से अधिकतर सदस्य यदि हमारे 'नेचर' पर अपनी 'सिग्नेचर' कर देने के लिए सहमत हों, तत्पर और तैयार हों तो समझ लेना कि हमारा स्वभाव अच्छा है।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 305
ISSN 2249-2011

जैन जीवन-शैली से लाभ

डॉ. पारसमल चण्डालिया

आज हम भौतिकता की ओर बेतहाशा दौड़ रहे हैं, इसलिए न तो स्वस्थ हैं और न ही सुखी हैं। हम स्वस्थ रहें, सुखी रहें, इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने जीवन जीने के तरीकों को देखें। यदि हमारी जीवन जीने की शैली सम्यक् होगी तो हम सुखी और स्वस्थ बन सकेंगे।

अच्छा जीवन जीने के लिए केवल कठिन परिश्रम ही आवश्यक नहीं है, अपितु किये जाने वाले प्रत्येक कार्य को बेहतर ढंग से किये जाने की आवश्यकता है। इसके लिए यदि भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता को जोड़ दें, भौतिकता और आध्यात्मिकता में संतुलन बना लें तो हम स्वस्थ और सुखी बन सकते हैं। इस दिशा में जैन जीवन शैली उपयोगी और सार्थक है।

जैन जीवन-शैली यानी श्रेष्ठ और सुन्दर ज़िन्दगी जीने की कला। जैन जीवन शैली को अपनाने से होने वाले लाभ इस प्रकार हैं-

1. जैन जीवनशैली को अपनाने से व्यक्ति नैतिक और आचारनिष्ठ बनता है।
2. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला चरित्र को सर्वाधिक मूल्य देता है। वह किसी भी स्थिति में अवांछनीय तरीकों से व्यवसाय नहीं करता। वह चरित्र को अपना जीवन मानता है, अतः सत्यनिष्ठा और धर्मनिष्ठा से कतरा कर अपने सिद्धान्तों के साथ खिलवाड़ नहीं करता है। वह चरित्रसम्पन्न होता है।
3. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला राजनैतिक बुराइयों, सामाजिक कुरीतियों एवं दुर्व्यसनों से अपने आपको बचाए रखता है।
4. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला धर्म की वैज्ञानिकता और वर्तमान जीवन में उससे प्राप्त होने वाले लाभ का अनुभव करता है अतः वह धर्म से विमुख होने वालों को भी धर्म की उपयोगिता एवं महत्त्व को समझाकर उन्हें धर्म में स्थिर करने का प्रयास करता है।
5. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला समझता है कि जैन धर्म के सिद्धान्त ऊँचे हैं, उन्हें समय के अनुसार बदला नहीं जा सकता है, अतः विपरीत परिस्थितियों का दबाव आने पर भी वह इन सिद्धान्तों से विचलित नहीं होता।
6. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला वर्तमान में जीता है और उसी से भविष्य का निर्माण करता है।
7. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला उन्नत, संस्कृत और समृद्ध बनता है।
8. जैन जीवनशैली ऐसी आदर्श आचार-संहिता है, जिसके आलोक में व्यक्ति स्वयं अपना मार्ग प्रशस्त कर सकता है। जिसका पालन करने वाला मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है। अतः किसी भी जाति, सम्प्रदाय, धर्म वाला व्यक्ति इस आचार-संहिता का पालन कर अपने जीवन को आदर्श और सुखी बना सकता है।
9. जैन जीवनशैली अपनाने वाला मन, वचन और कर्म से सरल होता है, अतः उसके विचार, वाणी और आचरण में सादगी की गरिमा और सुन्दरता की गहरी अनुभूति होती है। ''सादा जीवन उच्च विचार'' उसके जीवन का मूलमन्त्र होता है।
10. जैन जीवनशैली अपनाने वाला अपने को दूसरों से भिन्न नहीं समझता है-''आत्मवत् सर्वभूतेषु''

अथवा ''उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'' उसके जीवन का मूलमन्त्र होता है।

11. जैन जीवनशैली अपनाने वाले के हृदय में दया-अनुकम्पा के भाव होते हैं अतः वह दुःख से पीड़ित व्यक्ति की पीड़ा दूर करना चाहता है। वह सदैव दूसरों की भलाई में लगा रहता है।
12. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला दैहिक सुख को जीवन का अभीष्ट नहीं मानकर आत्मिक सुख पाने का पुरुषार्थ करता है। उसका चिंतन भोगवादी नहीं होकर आत्मवादी होता है।
13. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपनी मनःस्थिति को डगमगाता नहीं है। वह अनुस्रोतगामी नहीं होकर प्रतिस्रोतगामी होता है।
14. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला आडम्बर, प्रदर्शन और अंधविश्वास से अपने को बचाता है।
15. जैन जीवनशैली अपनाने से आत्म-नियंत्रण, संयम और अनुशासन की शक्ति का विकास होता है।
16. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला भारतीय संस्कृति की सुरक्षा करता है।
17. जैन जीवनशैली अपनाने वाला भौतिक विकास के साथ-साथ चारित्रिक विकास भी करता है जिससे श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण होता है।
18. जैन जीवनशैली अपनाने वाला स्वार्थ से परे परार्थ एवं परमार्थ के लिए अपना जीवन अर्पित कर देता है।
19. जैन जीवनशैली अपनाने से मिथ्या दृष्टिकोण दूर होकर सम्यक् दृष्टिकोण का विकास होता है।
20. जैन जीवनशैली अपनाने से पारिवारिक और सामाजिक जीवन में सरसता, प्रसन्नता और मधुरता विकसित होती है।
21. जैन जीवनशैली अपनाने से विवादास्पद प्रसङ्ग में सामञ्जस्य स्थापित करने वाली मनोवृत्ति का विकास होता है।
22. जैन जीवन शैली अपनाने वाला प्राणिमात्र के प्रति मैत्री का क्रमिक विकास करता है।
23. जैन जीवनशैली अपनाने वाला दूसरों की आजीविका में अवरोध पैदा नहीं करता है।
24. जैन जीवनशैली अपनाने वाला अर्जन के साथ विसर्जन करता है।
25. जैन जीवनशैली अपनाने वाले की आजीविका सम्यक् होती है।
26. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला अपराधी मनोवृत्ति से बच जाता है।
27. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला जन्म से जैन नहीं भी हो तो कर्म से जैन बन जाता है।
28. जैन जीवनशैली को अपनाने वाले का दृष्टिकोण सकारात्मक एवं आशावादी होता है।
29. जैन जीवनशैली को अपनाने वाला भले ही बाह्य रूप से समृद्ध नहीं हो, पर आन्तरिक समृद्धि से युक्त होता है।

इस प्रकार जैन जीवन शैली मानवता, नैतिकता और अहिंसा तीनों का समन्वय होने से आदर्श रूप है। यदि हम स्वस्थ, सुखी और सार्थक जीवन जीना चाहते हैं तो जैन जीवन शैली को अपनाएँ। जैन धर्म शाश्वत है अतः जैन जीवन शैली भी अतीत में थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगी। इस जीवन शैली को अपनाने से दिन चर्या सन्तुलित और मर्यादित बनती है। सन्तुलित और मर्यादित जीवन चर्या ही सुखी रहने का मूलमन्त्र है और यही स्वस्थ जीवन का आधार है।

-7/14, उत्तरी नेहरू नगर, बिड़ला बस्ती, ब्यावर-305901, जिला-अजमेर (राज.)

❁ व्यक्ति-व्यक्ति से मिलकर समाज बनता है, समाज मिलकर राष्ट्र बनता है। इकट्ठे हो जाना समाज नहीं है। जहाँ समाज है, वहाँ नियम हैं, क़ायदे-कानून हैं, अनुशासन है। **-आचार्यश्री हीरा**

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 307
ISSN 2249-2011

जैनधर्म में अहिंसक जीवनशैली पर बल क्यों

श्री जिनेन्द्र कुमार जैन

निवृत्तिप्रधान जैनधर्म की प्रमुख दो जीवन-शैलियाँ हैं-(1) अहिंसाप्रमुख श्रमण जीवनशैली (2) अहिंसाप्रमुख श्रावक जीवनशैली। दोनों ही जीवन-शैली में अहिंसा प्रथम एवं अभिन्न अङ्ग है। अहिंसा के बिना दोनों ही जीवनशैलियाँ परिपूर्ण नहीं हैं।

मोक्षसाध्य ही जिनका एकमात्र लक्ष्य है उनके जीवन पर दृष्टिपात करें, तो ज्ञात होता है कि ऐसे श्रमण का एक-एक समय सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव को अभयदान देते हुए व्यतीत होता है। दूसरी ओर उसी साध्य को लक्ष्य में रखकर गृहस्थ-जीवन जीते हुए श्रावक भी जीवों की हिंसा से बचने का प्रयास करते हैं।

दोनों ही साधकों का चाहे चलना हो, उठना हो, बैठना हो, सोना हो, खाना हो अथवा बोलना हो, सभी क्रियाएँ यतनापूर्वक ही हों, इस बात पर सर्वाधिक बल दिया जाता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की रक्षा जैनधर्म एवं जैन जीवनशैली का मूल प्राण है। चाहे पृथ्वी हो, पानी हो, अग्नि हो, वायु हो, वनस्पति हो, कीट-पतङ्ग हों अथवा मुर्गी-मछली आदि पञ्चेन्द्रिय जीव हों सभी प्राणियों को बचाना जैनसाधक का प्रमुख लक्ष्य रहता है।

भगवान द्वारा पञ्च महाव्रत एवं बारह व्रतों के रूप में साधकों के लिए जैनशास्त्रों में जो आज्ञा कही है, उसमें हिंसा का कोई स्थान नहीं है। जैनशास्त्र के अनुसार जैन जीवनशैली में अहिंसा को सर्वाधिक एवं सर्वोपरि स्थान को प्राप्त है। जैनशास्त्रों से कुछ तथ्य रखने का प्रयास करते हैं-

(1) तीर्थङ्करों द्वारा अहिंसा का पालन- जैनसाधकों के चरम इष्ट तीर्थङ्करों द्वारा प्रव्रज्या स्वीकार कर अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन किया जाता है। आचाराङ्गसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भगवान महावीर द्वारा दीक्षाग्रहण एवं जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में भगवान ऋषभदेव द्वारा दीक्षाग्रहण की चर्चा है। जिस अहिंसा का उत्कृष्ट पालन सभी अरिहन्त भगवन्तों द्वारा किया गया, उस अहिंसा का पालन जैनसाधक अवश्य करेगा, क्योंकि वह उन्हीं के द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करता है।

(2) अहिंसा ही उत्कृष्ट धर्म- दशवैकालिकसूत्र अध्ययन 1/1 के अनुसार **धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो। देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।** अहिंसा रूपी धर्म को उत्कृष्ट धर्म कहा गया। आचाराङ्गसूत्र, अध्ययन 4/1/1 के अनुसार **जे अईया जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति, सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेत्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे-**जो अर्हन्त भगवान अतीत में हुए हैं, वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, वे सब ऐसा आख्यान करते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं, ऐसा प्ररूपण करते हैं कि समस्त प्राण, भूत, जीव, सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, परिताप नहीं देना चाहिए एवं उनके प्राणों का विनाश नहीं करना चाहिए, यह अहिंसा धर्म शुद्ध धर्म है। अहिंसा सभी धर्मों का मूल है। निश्चित ही जैनसाधक अहिंसामय जीवन जीकर उत्कृष्ट धर्म का पालन करते हैं।

(3) हिंसा में रचे-पचे लोग अनार्य- आचाराङ्गसूत्र, अध्ययन 4/2/16 के अनुसार **सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा**

अज्जावेयव्वा परियावेयव्वा, परिघेत्तव्वा, उद्दवेयव्वा, एत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं। सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व हनन करने योग्य हैं, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें परिताप दिया जा सकता है एवं प्राणहीन बनाया जा सकता है। यह सरासर अनार्य वचन है। जैनसाधक कदापि स्वयं को अनार्य नहीं कहलाना चाहेंगे। अत: वे शास्त्रवचनों के अनुसार अपनी जीवनशैली निश्चित ही अहिंसामय करना चाहेंगे।

(4) एकान्त दया में मोक्ष–उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 18/35 के अनुसार **सगरोवि सागरंतं, भारहवासं नराहिवो। इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाए परिनिव्वुडे।** सगर चक्रवर्ती भी सागरपर्यन्त भारतवर्ष एवं परिपूर्ण ऐश्वर्य का त्यागकर दया की साधना से परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा को दया एवं प्राणी रक्षण के कारण यतना कहा। सूत्रकृताङ्गसूत्र भी अनेक स्थानों पर जीवदया की बात कहता है। सूत्रकृताङ्गसूत्र के अनुसार जो साधु हिंसा की प्ररूपणा करते हैं वे संसार में रुलते हैं, गाढ़ा दु:ख पाते हैं, अपना जन्म-मरण बढ़ाते हैं, दरिद्री दुर्भागी होते हैं, हाथ-पैर का छेदन पाते हैं, जो दया की प्ररूपणा करते हैं वे संसार में रुलते नहीं, दु:ख पाते नहीं इत्यादि एवं सिद्ध-बुद्ध होकर सर्वदु:खों का अन्त करते हैं। जैन साधक का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। आचाराङ्गसूत्र में हिंसा को राग-द्वेष का कारण माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र 32/7 के अनुसार **रागो य दोसो वि य कम्मबीयं** राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। जैनशास्त्रों के अनुसार राग एवं द्वेष के नष्ट हुए बिना मोक्ष नहीं है। अर्थात् जो अहिंसा का पालन करता है उसे ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा को निर्वाण, निवृत्ति एवं सिद्धवास कहा गया। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जैनसाधक अहिंसामय पथ की ओर अग्रसर रहते हैं।

(5) अहिंसा कल्याणकारी–प्रश्नव्याकरण सूत्र 1/1 के अनुसार **अहिंसा भीयाणं विव सरणं भयभीत प्राणियों के लिए शरण है, पक्खीणं विव गमणं, तिसियाणं विव सलिलं, खुहियाणं विव असणं, समुद्दमज्झे पोतवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहट्ठियाणं व ओसहिबलं, अडवीमज्झे व सत्थगमणं, एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा। जा सा पुढविजलअगणि-मारुयवणस्सइ-बीय-हरिय-जलयर-थलयर-खहयर-तस-थावर-सव्वभूयखेमंकरी** यावत् सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है। प्रश्नव्याकरण के अनुसार अहिंसा 'भद्दा' कल्याण करने वाली तथा 'विद्धी' पुण्य की वृद्धि करने वाली है। अत: जैनसाधक इस कल्याणकारी मार्ग की ओर अग्रसर रहते हैं।

(6) सभी आत्मा अपनी आत्मा जैसी–**आत्मवत् सर्वभूतेषु** के अनुसार सभी प्राणियों को अपने समान मानने का कथन जैनशास्त्रों में अनेक स्थलों पर हुआ है। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव से लेकर बड़े से बड़े जीवों तक सभी जीवों की आत्मा एक समान कही गई है, उनके आत्मप्रदेशों में एक प्रदेश का भी अन्तर नहीं है। अत: दूसरों के द्वारा अपने प्रति किये गये जिस कार्य से पीड़ा पहुँचती है वैसा कार्य जैनसाधक दूसरों के प्रति भी नहीं करता है।

(7) सभी जीवों को दु:ख अप्रिय–सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को दु:ख असाताकारक, अप्रिय, अशान्तिजनक एवं महाभयंकर लगते हैं। आचाराङ्गसूत्र के अनुसार **सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया, दुक्खपडिकूला।** सभी जीवों को आयुष्य प्रिय है, सभी जीव सुख चाहते हैं, दु:ख सबको प्रतिकूल-अप्रिय है। अत: जैनसाधक अपने दु:ख के समान ही अन्य के दु:ख का अनुभव करते हुए अपनी जीवनशैली में अहिंसा को महत्त्व देते हैं।

(8) अहिंसा से साता वेदनीय का बन्ध–प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व पर अनुकम्पा करने से, उन्हें दु:ख न देने से, शोक उत्पन्न न करने से, खेद

उत्पन्न न करने से, आँसू न बहाने से, नहीं पीटने से, परिताप नहीं देने से साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। असाता वेदनीय कर्म का परिपाक कितना भयंकर है यह जैनशास्त्रों से अथवा प्रत्यक्ष सर्वजन विदित है। जैनसाधक कभी भी नहीं चाहेगा कि उसे इस प्रकार के दुष्कर कर्मों का फल भोगना पड़े।

(9) एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा भी पाप का कारण–आचाराङ्गसूत्र 1/2/19 के अनुसार **अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जंघमब्भे, जाव अप्पेगे उद्दवए।** अर्थात् एक जन्मान्ध गूँगा, बहरा तथा अवयवहीन पुरुष जिसके दाँयी-बाँयी ओर जुदे-जुदे आदमी तलवार लेकर खड़े हों। वे सब मिलकर उस आदमी पर अपने शस्त्रों से प्रहार करें तो जैसे वह पुरुष कुछ बोल नहीं सकता, देख नहीं सकता, चल नहीं सकता, पर असह्य पीड़ा का तो अनुभव करता ही है, इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव की पीड़ा भी हम देख नहीं सकते हैं, किन्तु उसको भी वैसे ही पीड़ा तो होती ही है, अत: स्थावर जीवों की हिंसा करना भी पाप है। इसलिए जैन साधक सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव को भी बचाने का प्रयास करता है।

(10) अहिंसा से दीर्घायु की प्राप्ति–स्थानाङ्गसूत्र 3/1/17-18 के अनुसार प्राणों का अतिपात करने, झूठ बोलने, तथारूप श्रमण माहण को अप्रासुक, अनेषणीय आहार देने से अल्प आयुष्य का बन्ध होता है तथा प्राणों का घात नहीं करने से, झूठ नहीं बोलने से तथारूप श्रमण माहण को वन्दन-नमस्कार कर पर्युपासना करने से, उन्हें मनोज्ञ एवं प्रीतिकर आहार देने से दीर्घ आयुष्य का बन्ध होता है। प्राप्त पुण्य आयुष्य को क्षुद्र से क्षुद्र जीव भी खोना नहीं चाहते हैं। दशवैकालिक सूत्र अ. 6/11 के अनुसार **सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं** सभी प्राणी जीना चाहते हैं। पुण्यायु की प्राप्ति दीर्घ हो, यह कौन नहीं चाहता। जन्म और मरण का दु:ख अत्यन्त दु:खदायी होता है। कौन नहीं चाहेगा कि जन्म-मरण कम से कम हो अथवा हो ही नहीं। अहिंसा-पालन से जन्म-मरण घटता है अथवा उसका अन्त हो जाता है।

(11) कृत्य-अकृत्य की प्रमुख कसौटी अहिंसा–श्रमणवर्ग को पाँच महाव्रतों के माध्यम से एवं श्रावकवर्ग को बारह व्रतों के माध्यम से जीवनशैली किस प्रकार से जीना, इसको बताया गया है। जैनसाधक इन व्रतों के अनुसार जीवन जीने का प्रयास करते हैं।

(12) अनर्थदण्ड से होने वाली हिंसा–जिस हिंसा से हमारा कोई प्रयोजन नहीं, उस प्रकार की हिंसा से बचने की बात भी जैनशास्त्रों में अनेक स्थलों पर उद्धृत हुई है। यह हिंसा अनर्थदण्ड के रूप में कही गई है। जैसे चलते-चलते अनावश्यक ही पेड़ की पत्ती तोड़ लेना, चींटी आदि पर पैर रख देना। जैनसाधक जिस कार्य से उसका कोई प्रयोजन न हो, उससे बचने का प्रयास करता है।

(13) हिंसा से अबोधि एवं अहित–आचाराङ्गसूत्र 1/2/16 के अनुसार तं से अहियाए, तं से अबोहीए पृथ्वीकाय आदि का आरम्भ करना, कराना, अनुमोदन करना अहितकर एवं अबोधि का कारण है। प्रश्नव्याकरण में अहिंसा को सम्यक्त्व की आराधना एवं बोधि रूप कहा है। सुलभबोधि होकर ही सम्यग्दर्शन को पाया जा सकता है जो कि मोक्षमार्ग में साधक के अग्रसर होने की प्रमुख सीढ़ी है।

(14) द्रव्य अहिंसा ही नहीं, भाव अहिंसा पर भी बल–जैनधर्म एवं जैन जीवनशैली में द्रव्य अहिंसा पर ही नहीं, भाव अहिंसा पर भी अत्यधिक बल दिया गया है। यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से भाव अहिंसा होती है। यतनापूर्वक चलने से यदि किसी जीव की पैर के नीचे आने से हिंसा हो जाती है, तो उतना पाप नहीं होता जितना बिना यतना के चलने

पर किसी जीव के मरने से होता है। दोनों के पीछे परिणामों का अन्तर है। डॉक्टर द्वारा मरीज को बचाने की भावना से ऑपरेशन करते हुए मरीज की जान जाने पर भी उसको हिंसा का अधिक पाप नहीं लगता।

(15) धर्मनिमित्त हिंसा भी आस्रव का कारण–प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा को अनास्रव कहा अर्थात् हिंसा आस्रव रूप है। अन्य प्रकार की हिंसा की तो बात ही क्या कहें, धर्मनिमित्त की गई हिंसा भी आस्रव का कारण है। यदि धर्मनिमित्त हिंसा को हिंसा न मानें तो जैनसाधु को मुँहपत्ति की क्या आवश्यकता? ईर्या आदि समिति की क्या आवश्यकता? किसी श्रावक ने प्रतिमा घड़ाई, मड़ाई, प्रतिष्ठा करवाई अथवा पूजा की ऐसा जैनशास्त्रों में कहीं भी वर्णन नहीं है। धर्मनिमित्त हिंसा में धर्म होता तो तीर्थंकर भगवन्त इसे मोक्षमार्ग के रूप में कहीं न कहीं अवश्य प्ररूपित करते। ठाणांग में पञ्चमहाव्रत पालन का फल, उत्तराध्ययन में पाँच समिति-तीन गुप्ति का फल, दस समाचारी का फल, तप का फल, विनय का फल, चारित्र का फल एवं उनतीसवें अध्ययन में अनेक बोलों का फल, स्थानाङ्ग में वैयावृत्त्य का फल, भगवती में प्रासुक आहार देने का फल आदि-आदि अनेक फलों का वर्णन जैनशास्त्रों में अनेक स्थानों पर हुआ है। किन्तु धर्मनिमित्त हिंसा का फल कहीं भी वर्णित नहीं है। अर्थात् जैनधर्म एवं जैन जीवनशैली में धर्म के निमित्त हिंसा का भी कोई स्थान नहीं है। इस कारण से स्थानकवासी परम्परा में पूजा आदि का भी निषेध है।

(16) अहिंसा से बड़ी कोई मर्यादा नहीं–

आत्मपरिणामहिंसन-हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवल-मुदाहृतं शिष्यबोधाय।।

असत्य भाषण, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह-इन सब पापों के आचरण से आत्मा के परिणामों की हिंसा होती है। अतएव भाव-हिंसा के कारण होने से ये सभी पाप हिंसा ही हैं। अर्थात् सभी महाव्रतों का या व्रतों का पालन करने रूप मर्यादा अहिंसा रूप ही है। अहिंसा से बढ़कर अन्य कोई मर्यादा नहीं है। जैनसाधक अपना जीवन इस मर्यादानुकूल ही जीता है।

(17) अहिंसा अर्थात् निर्भयता– प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/1 के अनुसार **अभओ सव्वस्स वि** अहिंसा प्राणिमात्र के लिए निर्भय स्थान होने से 'अभय' है। भय रहित होने पर ही मोक्षमार्ग की साधना की जा सकती है। अतः अहिंसा का पालन अनिवार्य है।

अब प्रत्यक्ष एवं व्यावहारिक पक्ष की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि-

किसी भी व्यक्ति के हृदय परिवर्तन में अहिंसा अत्यन्त सहायक है। अहिंसा गुरुत्वाकर्षण बल के समान है। इससे सभी अपनी ओर खिंचे चले आते हैं। अहिंसा सबका कल्याण एवं उन्नति करने वाली है। अहिंसा से पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि समस्याओं का समाधान काफी हद तक किया जा सकता है। अहिंसा के सामने समस्त बुद्धिबल भी नगण्य है। इससे सभी विरोधी प्रवृत्तियों का नाश हो जाता है। मानव की जितनी प्रतिष्ठा अहिंसा से है उतनी अन्य किसी माध्यम से नहीं। अहिंसा से संकल्पशक्ति का विकास एवं मनोविजय स्वयमेव होता है। सभी प्रकार की ध्वन्सात्मक प्रकृतियाँ हिंसा रूप ही हैं। विज्ञान का जिस गति से विस्तार हुआ है, यदि उसमें हिंसा का भाव आ जाये तो विज्ञान अत्यन्त विनाशकारी हो जाता है।

इस प्रकार से शास्त्रप्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण एवं व्यावहारिक पक्ष को देखते हुए जैनसाधक अपनी जीवनशैली में अहिंसा पर अत्यधिक बल देते हैं।

-कार्यकारी सम्पादक, स्वाध्याय शिक्षा,
आर.बी. 40, वरुण कॉलोनी, मानसरोवर-विस्तार,
जयपुर-302020 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 311
ISSN 2249-2011

अहिंसा की विवेचना

डॉ. एन.के. खींचा

जैन संस्कृति की बुनियाद है अहिंसा। जैन संस्कृति में अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चर्चा की गई है। प्रत्येक जीव में आत्मा है। सभी आत्माएँ आत्मचेतना की दृष्टि से समान हैं। जैन संस्कृति के अनुसार किसी भी जीवन का दमन करना, उसे दुःख पहुँचाना, प्राणहरण करना, महापाप है तथा हिंसा है। सभी जीवों को जीने का अधिकार है। जैन संस्कृति का विशिष्ट सूत्र है- **परस्परोपग्रहो जीवानाम्।** अर्थात् सभी जीव परस्पर अब लम्बित हैं। जीवों के अवलम्बन को परस्परावलम्बन कहा गया है। यह जीवों का परस्पर अटूट बन्धन है। इसमें परस्पर सहयोग एवं सहकार रहता है। यह सभी जीवों की हार्दिक मैत्री का सिद्धान्त हैं। यह सिद्धान्त 'जीओ और जीने दो' ही नहीं सिखाता है, बल्कि 'जीने दो जिससे कि हम भी जी सकें' का बोध देता है।

जैन संस्कृति सर्व जीवों को जीने का प्रकृति प्रदत्त अधिकार स्वीकार करती है। उसमें प्रकृति के किसी भी पदार्थ के प्रति शत्रुता, नफ़रत अथवा विरोध के भाव को जरा भी स्थान नहीं है। **जैन संस्कृति जीव-सृष्टि एवं प्रकृति-सृष्टि के प्रति प्रेम, सम्मान, करुणा, आदर, सहिष्णुता, दया, मैत्री, स्नेह, क्षमा तथा समता से व्यवहार करने का बोध देती है।** ईर्ष्या न करना, द्वेष न करना, किसी का अहित न सोचना अहिंसा है।

वर्ल्ड चार्टर आन् नेचर द्वारा, 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' के सिद्धान्त को पूर्णरूपेण स्वीकार किया गया है। परस्पर का ऐक्य, अविभाज्य सम्बन्ध और परस्परावलम्बन का सिद्धान्त ही जैन संस्कृति का मूल मन्त्र है।

मानव तो अनगिनत जीवों में से एक जीव है। अनन्त आकाश, अनन्त काल के चक्र में इस असीम अनन्त विश्व का अस्तित्व है। ऐसी अनन्तता के एक बिन्दु के समान यह पृथ्वी, भू-धरा-वसुन्धरा है, जिसमें असंख्य जीवों में से मानव एक जीव है। यूनाइटेड वर्ल्ड चार्टर आन नेचर का भी यही सन्देश है कि समग्र जीव जगत् के अस्तित्व तथा विकास के लिए यही पद्धति अपनानी होगी।

अहिंसा परम पुरुषार्थ है। जैन संस्कृति में हिंसा-अहिंसा का विचार जीवों की संख्या को आधार बनाने के बजाय भावों के आधार पर किया गया है। अर्थात् किसी एक प्राणी की हिंसा में भी कषाय रूप परिणाम अधिक हुए हों तो हिंसा की तीव्रता मानी गई है। सूत्रकृताङ्ग आगम में हस्ति तापसों की चर्चा है कि विवेकशील मानव को सदैव अल्पत्व और बहुत्व का विचार करना चाहिए। भगवती आराधना में कहा गया है कि जीवों का घात करना अपना ही घात है। इसी प्रकार प्रवचनसार में श्रमण को युक्ताहारी कहा गया है। युक्ताहारी अर्थात् जिनमें एक बार ऊनोदरी, यथालब्ध भिक्षाचरण करना। इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा कि मधु, मांस रहित आहार ही युक्ताहार है। क्योंकि उसमें हिंसा का सर्वथा अभाव है। अर्थात् जीव रक्षा ही सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है। सभी आदर्शों की जननी अहिंसा होती है। अहिंसा जीवन का शोधक तत्त्व है।

अहिंसा का मूल समता है। अहिंसक गृहस्थ अपनी चर्या पर पूर्णतया चौकसी/सावधानी रखता है, ताकि कम से कम जीवों की विराधना हो। अहिंसक सदा सात्त्विक भोजन की भावना रखता है। अहिंसक चर्या में चौका की अहिंसक चर्या-संस्कृति महत्त्वपूर्ण है, जिसमें द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कायशुद्धि तथा भावशुद्धि रखकर चार प्रकार की शुद्धियाँ रखी जाती हैं। पवित्रता का विवरण जैन संस्कृति के भोजनशास्त्र में उल्लिखित है। अर्थात् भोजन-निर्माण एवं उपयोग/उपभोग में प्रमाद

मुक्त होना आवश्यक है। व्यावहारिक जीवन में समभावी होना विवेकशाली अहिंसक संस्कृति का द्योतक है। तीर्थंकर महावीर ने सभी प्राणियों के प्रति संयम रखने को अहिंसा कहा। **'अहिंसा निउणा, दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो'** अर्थात् प्राणियों के प्रति अकुशलता मूलक कार्यों से बचना अर्थात् सब जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। यह नैसर्गिक एवं सहज प्रवृत्ति है। **'सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरीज्जिउं। तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं।।'**

जैनागमों में हिंसा के स्थान पर प्राणातिपात अर्थात् प्राणों का हनन करना कहा गया है। अधिक प्राण शक्ति अर्थात् विकसित प्राणी के हनन में अधिक प्राणातिपात (हिंसा) है। जैन संस्कृति द्रव्यहिंसा और भाव हिंसा से बचाती है।

जैन संस्कृति में असंख्य जीव-जन्तुओं को अभयदान दिया गया है। जैन संस्कृति प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर गमन करती है। बुद्धि से अपनी बुराई/कमी, हिंसा को जानना और उससे बचना आवश्यक है। अपने दर्द, कष्ट/पीड़ा/यातना को याद रखकर दूसरे दर्द को समझना ही दया है। दया ही अहिंसा है। दया ही जैन संस्कृति है। जहाँ शोषण नहीं है, स्तम्भन नहीं है, जहाँ सम्मोहन नहीं है वहीं अहिंसा है, वहीं निर्माण है। इसी प्रकार द्रव्य पवित्रता और भाव पवित्रता भी अहिंसा है। शारीरिक शुचि एवं मानसिक शुचि ही जैन संस्कृति है। अहिंसा में ही आशा की एक झलक दिखाई देती है। जीवमात्र के प्रति अनुकम्पा ही अहिंसा है। जैन संस्कृति में अहिंसा अथवा किसी को कष्ट न देने के सिद्धान्त को सर्वाधिक प्रमुखता दी गई है। अहिंसा सारे व्रत और गुणों का पिण्डीभूत सार है। भगवती आराधना गाथा 791 में कहा गया है कि-

सीलं वदं गुणो वा, णाणणिस्संगदा सुहचाओ।
जीवे हिंसयस्स हु, सव्वे वि णिरत्थया होंति।।

विवेक दृष्टि से पाप कर्मबन्ध नहीं होता है। **जयं चरे, जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए। जयं भुंजन्तो भासन्तो पावकम्मं न बंधइ।।** भावरूप में अहिंसा क्षमा और प्रेम है। यही अहिंसा संस्कृति है तथा प्रकृति है। तीर्थंकर महावीर की देशना में। **'वेरं मज्झं न केण वि'** तथा मेरा किसी से भी वैर नहीं है। **'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'** जो आचरण अपने को प्रतिकूल लगता है, वह दूसरों के प्रति भी न करें। जैन संस्कृति के अनुसार दूसरों के दु:ख को अपना दु:ख समझें। अहिंसक जैन संस्कृति के दस लक्षण हैं। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन और उत्तम ब्रह्मचर्य। यह भी सार्वजनीन सत्य है कि जैसा मैं चैतन्य प्राणी हूँ, वैसे ही जगत् के सारे प्राणी चेतन हैं। सूक्ष्म जीवों, वनस्पति आदि के प्रति भी सद्भावी होना अहिंसा संस्कृति है। अहिंसा सर्व जीवों की रक्षा करती है।

जीवमात्र के प्रति संयम ही अहिंसा है। मन, वचन और काय से त्रसजीवों का घात न तो स्वयं करता है और न ही दूसरों से कराता है और यदि अन्य करता हो तो उसे अच्छा नहीं मानता वह जैन संस्कृति के अहिंसाणुव्रत का धारक होता है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि **'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** प्रमाद के वशीभूत होकर किसी भी जीव के प्राणों का घात करना हिंसा है। एकेन्द्रिय जीव से पञ्चेन्द्रिय जीवों के प्रति सेवाभाव, मृदुता रखना और द्वेष वृत्ति न होना, जैन संस्कृति है। तीर्थंकर महावीर स्वामी ने चार प्रकार की हिंसा बतलाई है-आरम्भी, उद्योगी, विरोधी तथा संकल्पी हिंसा। महावीर के अनुसार अहिंसा का अर्थ है-जो जैसा है, वैसा ही हमें स्वीकार है। अहिंसा की अभिव्यक्ति शब्दों से नहीं, बल्कि कर्म से अधिक होती है। अहिंसा का मूलाधार सदाचार है। अहिंसा जीवन का रस है। अहिंसा साधना के लिए अपनी अधोमुखी वृत्तियों को ऊर्ध्वगामिनी बनाने का प्रयास करना चाहिए।

-सीनियर फैलो, आई.सी.एस.एस.आर., नई दिल्ली

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 313
ISSN 2249-2011

सत्य और अस्तेय : अणुव्रत एवं प्रामाणिकता

श्री पी. शिखरमल सुराणा, डॉ. दिलीप धींग

भगवान महावीर ने गृहस्थाचार के रूप में श्रावक के लिए बारह व्रतों की व्यवस्था की है। आवश्यकसूत्र के अनुसार इनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा-व्रत हैं। उपासकदशाङ्गसूत्र के अनुसार गुणव्रत भी शिक्षाव्रत ही होते हैं, अत: उसमें सात शिक्षाव्रत कहते हुए गुणव्रतों का उनमें समावेश कर लिया गया है। पाँच अणुव्रत हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। व्यक्ति और समाज के निर्माण में अणुव्रतों का बहुआयामी योगदान है। इनके आचरण से अनेक लाभ होते हैं। उनमें एक लाभ यह भी है कि अणुव्रतों के जरिये समाज और देश में प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा होती है। यहाँ द्वितीय अणुव्रत सत्य और तृतीय अणुव्रत अस्तेय के सन्दर्भ में प्रामाणिकता की चर्चा की जा रही है।

सत्य

सत्य व्रत को मृषावाद-विरमण (मुसावायाओ वेरमणं) व्रत कहा गया है। मृषावाद यानी झूठ और विरमण यानी विरत होना या वर्जन करना। अत: मृषावाद-विरमण का आशय है-झूठ से विरत होना। जो व्रत असत्य का वर्जन करता है वह सत्य व्रत है। सत्याणुव्रत के अन्तर्गत गृहस्थ जीवनभर के लिए दो करण तीन योग से स्थूल मृषावाद का त्याग करता है। इसका आशय यह है कि सत्याणुव्रती मन, वचन और काया से न तो झूठ बोलेगा और न ही बुलवाएगा। स्थूल मृषावाद (मोटा झूठ) के अन्तर्गत वे सारे असत्य आ जाते हैं, जो लोक-निन्दनीय और राज-दण्डनीय है। आवश्यकसूत्र में सत्य अणुव्रती के लिए पाँच प्रकार के झूठ का त्याग बताया गया है-

(1) वर-कन्या-सम्बन्धी-वैवाहिक रिश्ते बनाने के लिए वर (विवाह योग्य लड़का) और कन्या (विवाह योग्य कन्या) के बारे में कोई तथ्य छुपाया नहीं जाना चाहिये। यह दो व्यक्तियों और दो परिवारों की खुशियों का मामला है। स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार या किसी भी महत्त्वपूर्ण जानकारी को छुपाकर वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ दिया जाए और बाद में उसका पटाक्षेप हो तो परिवार में कलह हो सकता है, वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद हो सकता है तथा दो या दो से अधिक व्यक्तियों की ज़िन्दगी खराब हो सकती है। इससे समाज कमजोर होता है। अत: रिश्ता बनाते समय अणुव्रती को वर और कन्या के बारे में सही बात बताने में संकोच नहीं करना चाहिये।

(2) गौ आदि पशु-सम्बन्धी-उस जमाने में गाय आदि पशु मुख्य आर्थिक उपादान थे। श्रावक भी गोपालन और खेती-बाड़ी करता था। भारवहन, परिवहन, यात्रा आदि के लिए भी बैल, घोड़ा, ऊँट आदि पशु रखे जाते थे। इसीलिए सत्य अणुव्रत के अन्तर्गत पशु सम्बन्धी झूठ का निषेध किया गया है। इसका लाक्षणिक अर्थ यह है कि व्यवसाय, व्यापारिक वस्तुओं और वाहनों के सम्बन्ध में झूठ नहीं बोलना चाहिये। इससे व्यापार, वाणिज्य और व्यापारिक वस्तुओं के प्रति लोक-विश्वास बना रहता है।

(3) भूमि-सम्बन्धी-भूमि और भवन काफी महँगे होते हैं। इसलिए आर्थिक जगत् में भूमि के क्रय-विक्रय, स्वामित्व और स्वत्व को लेकर झूठ और ठगाई के काफी समाचार सुनने को मिलते हैं। भोले और निर्धन व्यक्ति उसमें फँस जाया करते हैं। सत्याणुव्रती को भूमि, भवन और अचल सम्पत्ति सम्बन्धी झूठ नहीं बोलना चाहिये।

(4) धरोहर-सम्बन्धी-तत्त्वार्थसूत्र में इसे न्यासापहार माना है। न्यासापहार का अर्थ है किसी की धरोहर को हड़प लेना। प्राचीन परम्परागत बैंकिंग प्रणाली में मूल्यवान धरोहर के बदले में ऋण दिया जाता था। सत्य अणुव्रत में गृहस्थ को निर्देश दिया गया है कि वह किसी की अमानत को न तो दबाए, न ही बदले और न ही उसके बारे में किसी प्रकार का झूठ बोले।

(5) कूट साक्षी-वाणिज्यिक गतिविधियों और न्याय-प्रणाली में गवाही का महत्त्व होता है। झूठी गवाही और छद्म साक्ष्यों से विश्वास खत्म होता है। न्यायिक व्यवस्था भी उनके समक्ष दीन-हीन बन जाती है। एक सत्याणुव्रती को कहीं भी लिखित या मौखिक झूठी गवाही नहीं देनी चाहिये।

श्रावक को इन पाँचों ही विषयों में तथा परिवार, समाज, व्यवसाय और व्यवहार के मामलों में स्थूल झूठ का त्याग करना चाहिये। सत्य अणुव्रत के सही अनुपालन के लिए इसके पाँच अतिचारों से भी बचना चाहिये। ये पाँच अतिचार इस प्रकार हैं-

1. **सहसा अभ्याख्यान**-बिना सोचे समझे किसी के लिए कुछ-का-कुछ कह देना अतिचार है। दुर्भावना पूर्वक किसी के लिए अनुचित कहने से अनाचार का दोष लगता है। वचनों की दरिद्रता से जीवन की सम्पन्नता घट जाती है।
2. **रहस्य अभ्याख्यान**-किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना, झूठा कलंक लगाना और किसी की गोपनीय बात को प्रकट करना रहस्य अभ्याख्यान है।
3. **मन्त्रभेद**-पारिवारिक जीवन में सद्गृहस्थ को चाहिये कि कैसी भी स्थिति में ऐसी गुप्त बात प्रकट नहीं करे, जिससे परिवार के किसी सदस्य के मर्म को, हृदय को चोट पहुँचे अथवा उस बात से परिवार में कलह उत्पन्न हो जाय।

   दूसरे और तीसरे अतिचार के अन्तर्गत पारस्परिक विश्वास के मामले में गोपनीयता का महत्त्व बताया गया है। जीवन, परिवार, समाज और देश के कितने ही मामलों में गोपनीयता का स्थान होता है। किसी समूह, समाज या देश के ज़िम्मेदार व्यक्तियों और मन्त्रियों को गोपनीयता की शपथ भी दिलाई जाती है। सत्याणुव्रती को ऐसी गुप्त बात का खुलासा नहीं करना चाहिये, जिससे परिवार या समाज में मुश्किलें खड़ी हो जाएँ।
4. **मृषोपदेश**-मृषावाद का त्यागी कभी किसी को गलत राय या कुशिक्षा नहीं देता है। गलत सलाह से भ्रम पैदा होता है और नुकसान होता है।
5. **कूटलेखकरण**-आचार्य अभयदेव ने जाली दस्तावेज बनाने, झूठी मुद्राएँ बनाने और जाली हस्ताक्षर करने को कूटलेखकरण अतिचार माना है। भ्रष्टाचार रोकने के लिए इस अतिचार के निषेध का बहुत महत्त्व है।

जीवन और व्यापार में विश्वास की परम्परा को स्थापित करने एवं साख बनाए रखने के लिए मृषावाद-विरमण व्रत एक 'व्यापार-मन्त्र' की तरह है। अहिंसा पहला, सत्य दूसरा और अस्तेय तीसरा अणुव्रत है। सत्य के पालन से एक ओर अहिंसा की चमक बढ़ जाती है, दूसरी ओर अस्तेय का पालन सरल हो जाता है।

अस्तेय

अस्तेय व्रत को अदत्तादान विरमण (अदिण्णादाणाओ वेरमणं) व्रत कहा गया है। जो वस्तु दी नहीं गई है, उसे ले लेना अदत्तादान है। अदत्तादान का त्याग करना अस्तेय है। अस्तेय अणुव्रत के अन्तर्गत श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि वह जीवनपर्यन्त मन, वचन और कर्म से न तो स्थूल चोरी करेगा, न करवायेगा। आवश्यकसूत्र में पाँच प्रकार की स्थूल चोरियाँ बताई गई हैं-

1. सेंध लगाकर वस्तुएँ ले जाना।
2. गाँठ खोलकर या जेब काट कर चोरी करना।

3. ताला तोड़कर या दूसरी चाबी से चोरी करना।
4. दूसरों की पड़ी या रखी वस्तु को चोरी की नीयत से ले लेना।
5. जबरदस्ती या छलपूर्वक किसी की वस्तु अपने अधीन करना।

आजकल आधुनिक तकनीकी प्रणालियों से भी अनेक प्रकार की आर्थिक धोखाधड़ी की घटनाएँ सुनने को मिलती हैं, जिन्हें साइबर अपराध कहते हैं। निश्चित ही, इस प्रकार की चोरियाँ लोक-निन्दनीय और राज-दण्डनीय होती हैं। इसलिए ऐसी चोरियाँ तो जो व्रत ग्रहण नहीं करता है, उसके लिए भी पूर्ण वर्जनीय हैं। व्रत ग्रहणकर्ता अपने प्रतिज्ञा-सूत्र में अदत्तादान का त्याग करता है। उसके लिए बिना दी हुई वस्तु को लेने का निषेध है। किसी की चीज हड़पना, वेतन, किराया, ब्याज, पारिश्रमिक आदि में नियमों से परे जाकर दुर्भावना से फेरबदल करना तथा साहित्य-सम्बन्धी चोरियाँ भी श्रावक के लिए वर्ज्य हैं। अस्तेय व्रत के समुचित अनुपालन के लिए पाँच अतिचार बताए गये हैं।

(1) स्तेनाहृत-चोरी की वस्तु लेना, खरीदना और वापरना स्तेनाहृत है। **चोरी करने वाले तो कम होते हैं, परन्तु चोरी की चीजें क्रय करने वाले बहुत मिल जाते हैं। क्योंकि वे सस्ते दामों में मिल जाती हैं।** इससे चोरी को प्रोत्साहन मिलता है और बिना चोरी की सही वस्तुओं के व्यापार पर विपरीत प्रभाव होता है। कीमती वस्तुओं, मूर्तियों की चोरी करने वाले अनेक समूह भी कार्य करते हैं। कितनी ही जगहों पर ऐसे चोरों के गिरोह पकड़े जाते हैं। चोरी की वस्तुएँ खरीदना और बेचना कानूनी तौर पर अपराध है।

(2) तस्कर-प्रयोग-चोरी और तस्करी करने वालों को किसी भी रूप में सहयोग करना, श्रावक के लिए निषिद्ध है। जो लोग चोरों, तस्करों और लुटेरों को वित्तीय या गैर-वित्तीय मदद करते हैं, वे सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में भारी व्यवधान पैदा करते हैं। कुछ लोग प्रत्यक्ष चोरी से तो बचे रहते हैं, लेकिन परोक्ष रूप से चोर, चोरी या तस्करी का समर्थन कर बैठते हैं। ऐसा अनजाने में होना अतिचार है। लेकिन चोर के साथ साँठगाँठ रखकर चोरी को अञ्जाम देना अनाचार कहा जाएगा।

(3) विरुद्ध राज्यातिक्रम-राजकीय नियमों का उल्लंघन विरुद्ध राज्यातिक्रम अतिचार है। आचार्य अभयदेव के अनुसार राज्य द्वारा निषिद्ध सीमाओं का उल्लंघन भी विरुद्ध राज्यातिक्रम है। सरकार द्वारा अन्तरराज्यीय व्यापार और अन्तरदेशीय व्यापार के नियमन और नियन्त्रण के लिए नियमों के विरुद्ध सीमा-उल्लंघन पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। एक श्रावक के लिए यह विधान उसके व्रतों के अन्तर्गत ही हो जाता है। वह बल या भयपूर्वक नहीं, अपितु इच्छापूर्वक राजकीय नियमों के पालन की प्रतिज्ञा करता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि राज्य के नियम यदि लोकहित, संस्कृति या अहिंसा धर्म के विरुद्ध हैं तो उन नियमों का लोकतान्त्रिक तरीकों से विरोध किया जाना चाहिये। आचार्य हस्ती ने भी हिंसा के प्रतिकार की प्रेरणा दी थी। उन्होंने कहा था कि नशाबन्दी, हिंसा और व्यभिचार को रोकने तथा बूचड़खानों के विरोध हेतु श्रावकों को अपनी शक्ति तथा मन्त्रीजनों को अपने प्रभाव का उपयोग करना चाहिये। आचार्यश्री अहिंसा प्रेमियों का आह्वान करते हैं कि वे संगठित होकर और डटकर हिंसा का विरोध करें। शासन द्वारा बनाये कानून यदि धर्म और संस्कृति के विरुद्ध हैं तो उनका विरोध करना राज्य-विरुद्ध कृत्य नहीं है। देश, धर्म और संस्कृति की रक्षा की पवित्र भावना से हिंसक नियमों और अधिनियमों का विधिपूर्वक तथा अधिकारपूर्वक विरोध करना चाहिये।

(4) कूटतुला-कूटमान-गलत और भ्रामक माप-तौल करना इस अतिचार के अन्तर्गत आता है। सद्गृहस्थ यह प्रतिज्ञा करता है कि वह जीवन, व्यवहार

और व्यापार में सर्वत्र ईमानदारी का परिचय देते हुए अपनी प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता कायम रखेगा। इससे उसका व्यवसाय भी बढ़ेगा और विश्वास भी।

(5) तत्प्रतिरूपक व्यवहार–स्तेय अणुव्रती यह संकल्प करता है कि वह अपने मुनाफे के लिए वस्तुओं में मिलावट या घालमेल नहीं करेगा। **मिलावटी वस्तुओं के क्रय-विक्रय से राजकीय नियमों का उल्लंघन, व्यावसायिक प्रतिष्ठा की हानि और जनस्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ होता है।** ऐसा व्यवहार श्रावक को नहीं करना चाहिये।

दूसरे और तीसरे अणुव्रत जीवन, व्यवहार और व्यापार में प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा करते हैं। वाणिज्य जगत् में इन अणुव्रतों के नियमों को 'व्यवसाय के आदर्श नीति-नियम' के रूप में निरूपित किया जा सकता है। **सत्य और अचौर्य अणुव्रत यह सन्देश देते हैं कि व्यक्ति को धार्मिक होने से पूर्व नैतिक और प्रामाणिक होना अधिक आवश्यक है। कितने ही व्यक्ति धार्मिक तो दीख पड़ते हैं, लेकिन उनके जीवन में नैतिकता और प्रामाणिकता का अभाव नज़र आता है।** सत्य और अस्तेय व्यक्ति को नीतिमान और पुरुषार्थी बनने की प्रेरणा देते हैं। **प्रामाणिकता से सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, जप-तप आदि धर्म-साधनाएँ प्रभावी, तेजस्वी और अर्थपूर्ण बन जाती हैं।**

यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि अणुव्रतों की संख्या पाँच हैं, उपरोक्त सत्य और अचौर्य व्रत के अन्तर्गत असत्य और चौर्यकर्म के पाँच प्रकार बताए गए हैं एवं सभी व्रतों के अतिचार भी पाँच-पाँच हैं। क्या पाँच में सब कुछ समाविष्ट हो जाता है? शास्त्रों में अनेक बातों को एक निर्धारित संख्या में सूत्रबद्ध किया गया है। इससे सिद्धान्त को स्मरण करने, समझने और समझाने में सुविधा रहती है। इन 'पाँच' को उपलक्षण से समझना चाहिये। जैसे, माँ ने बेटे से कहा कि रसोई में दही है, ध्यान रखना कि कहीं कोई बिल्ली आकर दही चट न कर जाए। अब यदि कुत्ता आकर दही खाने लगे और बेटा कहे कि माँ ने तो दही की बिल्ली से रक्षा के लिए कहा था तो यह नासमझी या बहाना है।

जिस समय ये सिद्धान्त सूत्रबद्ध किये गये अथवा इन सिद्धान्तों को लिपिबद्ध किया गया, उस समय की सामाजिक छवियाँ भी इन सूत्रों में अंकित होती है। इसलिए वर्तमान की परिवर्तित परिस्थिति में भी सिद्धान्तों को समझना चाहिये। मसलन, सत्य और अस्तेय के सन्दर्भ में इन **'पाँच' का तात्पर्य यह है कि अणुव्रती को सभी प्रकार के झूठ, छल, मिथ्या व्यवहार, शोषण और चोरियों से सदैव बचे रहना चाहिये। सत्य, निष्ठा और प्रामाणिकता उसके जीवन के अङ्ग बन जाने चाहिये। सद्गृहस्थ को निर्देश किया गया है कि वह न्याय-नीति से धन का उपार्जन करे।** सत्य और अचौर्य अणुव्रत सबके लिए न्याय-नीति और प्रामाणिकता का सुपथ प्रशस्त करते हैं।

कभी-कभी कुछ व्रती लोगों के बारे में भी असत्य, अप्रामाणिकता, भ्रष्टाचार आदि के अप्रिय समाचार मिलते हैं। व्रत की साधना व्यक्ति के संकल्प, आत्मबल, पुरुषार्थ और निष्ठा पर अवलम्बित होती है। अणुव्रत गृहस्थ के लिए हैं। गृहस्थ को अपने सांसारिक पुरुषार्थ भी करने होते हैं। उसे अपनी शक्तियों का गोपन नहीं करना चाहिये। शक्ति होने के बावजूद यदि व्यक्ति पुरुषार्थ नहीं करता है, अकर्मण्य जीवन जीता है तो वह एक तरह से 'चोरी' करता है। सद्गृहस्थ को व्रत ग्रहण करके पुरुषार्थी एवं प्रामाणिक बनना चाहिये। फिर भी यदि कोई भूल-चूक, स्खलना अथवा गृहीत मर्यादा का अतिक्रमण हो जाए तो प्रतिक्रमण की साधना करके अपनी व्रतनिष्ठा को अचल-अटल और तेजस्वी बनाना चाहिये।

-Surana & Surana International Law Centre,
61-63, Dr. Radhakrishnan Road, Mylapore,
CHENNAI-600004 (Tamilnadu)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 317
ISSN 2249-2011

ब्रह्मचर्य की बहुआयामी महिमा

डॉ. दिलीप धींग

वर्तमान परिवेश में सामाजिक मान-मर्यादाओं की नई भाषाएँ और परिभाषाएँ गढ़ी जा रही हैं। उनमें कुछ अच्छी, कुछ बुरी और कुछ भ्रामक हैं। दु:खद यह है कि जो ठीक नहीं है, उसे भी ठीक कह-समझकर विभ्रम की स्थिति पैदा की जा रही है। कोई कुछ भी कहे, मानव जीवन की शान्ति और शक्ति अनुशासन और मर्यादाओं में सन्निहित हैं। जब बात स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध और मानव की सामाजिकता की हो तो संयम और आत्म-संयम का महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है। संयम की रक्षार्थ ही मर्यादा की बाड़ होती है और मर्यादा की बाड़ से ही परिवार और समाज सुखी व सुरक्षित रह पाते हैं। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान ऋषभदेव ने विवाह परम्परा का सूत्रपात करके परिवार व्यवस्था की स्थापना की।[1] इससे एक ओर व्यक्ति भीतर-बाहर से स्वस्थ-समर्थ बना, दूसरी ओर समाज को आत्मसंयम और आत्मानुशासन का सुदृढ़ आधार मिला।

विवाह का मूल्य

सामाजिक सांसारिक जीवन में विवाह को मंगलकारी अनुष्ठान माना गया है। विवाह के मंगल या पवित्र होने का कारण यह है कि विवाह के माध्यम से स्त्री-पुरुष अपनी अनिर्दिष्ट और अपरिमित भोगेच्छाओं को केवल एक व्यक्ति के साथ संयोजित और सीमित कर लेते हैं। वस्तुत: यह बहुत बड़ा और उपयोगी संकल्प है। इस संकल्प के साथ अनेक सांसारिक दायित्व, आध्यात्मिक साधनाएँ, त्याग, अनुशासन और जीवन की व्यवस्थाएँ जुड़ी होती हैं। जैन श्रावकाचार के चतुर्थ ब्रह्मचर्य अणुव्रत में इन्हीं दायित्वों, साधनाओं और व्यवस्थाओं का स्पष्ट या गर्भित निरूपण हुआ है। अब दुनियाभर में भारतीय विवाह परम्परा और परिवार-संस्था के गुणगान होने लगे हैं।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अन्तर्गत सद्गृहस्थ या सद्गृहिणी के द्वारा अपनी जीवनसंगिनी या जीवनसाथी के प्रति पूर्ण निष्ठा व्यक्त की जाती है तथा अन्य समस्त स्त्रियों (पुरुषों के लिए) और पुरुषों (स्त्रियों के लिए) के प्रति विकार-मुक्त सम्बन्ध का सत्संकल्प किया जाता है। जैन ग्रंथों में अपने जीवनसाथी के प्रति अटूट निष्ठा रखने वाली सन्नारियों को सती/महासती का दर्जा प्रदान किया गया है।[2] इसी प्रकार अपनी जीवनसंगिनी के प्रति निष्ठावान सत्पुरुषों के प्रतिष्ठापूर्ण व्यक्तित्व के बखान किये गये हैं।[3] **यह व्रत सदाचार और सामाजिकता की नींव है। मानव के चरित्र को पवित्र व प्रभावी बनाने तथा व्यक्तित्व को मैत्रीपूर्ण व रचनात्मक बनाने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत बुनियादी भूमिका निभाता है।** व्यक्ति के चरित्र से ही समाज और देश का चरित्र निर्धारित होता है और जिस समाज और राष्ट्र का चरित्र उज्ज्वल होता है; वह यशस्वी, अजेय और सम्पन्न होता है।

सद्गुणों का आधार

भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत पर बहुत बल दिया। तेबीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के समय में चातुर्यामी व्रत व्यवस्था थी। उस व्यवस्था में बहिद्धादान के अन्तर्गत अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य का समावेश मान लिया जाता था। चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर ने व्रतों की व्यवस्था में ब्रह्मचर्य को स्वतन्त्र स्थान दिया।[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी भी कारण या बहाने से ब्रह्मचर्य व्रत के अनुपालन में ढील या उपेक्षा नहीं होनी चाहिये।

जैन श्रावकाचार में ब्रह्मचर्य व्रत के आंशिक या पूर्ण अनुपालन को शीलव्रत की आराधना माना जाता है। 'शील' शब्द का प्रयोग शालीनता, सद्गुण एवं सदाचरण के अर्थ में भी किया जाता है। बौद्ध दर्शन में

कहीं सम्यक् चारित्र को शील कहा गया है तो कहीं व्रतों को शील कहा गया है। पञ्चशील का आशय भी पाँच व्रतों या पाँच श्रेष्ठ नियमों से है। वैदिक साहित्य में भी शील को सदाचार और शिष्टाचार से जोड़ा गया है।[5] इस प्रकार शीलव्रत-आराधन का तात्पर्य सद्गुणों का आराधन, मर्यादा का अनुपालन और आत्मानुशासन है।

अतिचार पर विचार

उपासकदशाङ्ग में आनन्द श्रावक भगवान महावीर के समक्ष संकल्प करते हैं- 'मैं स्वपत्नी सन्तोषव्रत ग्रहण करता हूँ।'[6] आवश्यक सूत्र के चौथे व्रत के अनुसार श्रावक देव-देवी सम्बन्धी ब्रह्मचर्य-पालन दो करण तीन योग से तथा मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी शीलव्रत का आराधन एक करण एक योग से करता है। सांसारिक जीवन की जिम्मेदारियों और व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रखकर इस व्रत को एक करण एक योग से पालने का विधान किया गया है। इस व्रत में वचन और मनोयोग को जोड़ देने से काया योग की निर्मलता और निराकुलता बढ़ती जाती है। इस व्रत के पाँच अतिचार (दोष) बताये गये हैं-**इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अनंगकीडा, परविवाहकरणे, काम-भोगतिव्वाभिलासे।**[7]

1. **इत्वरपरिगृहीतागमन :** वाग्दत्ता, अल्पवयस्क या अवयस्क तथा रखैल के साथ मर्यादा के विपरीत आचरण इस अतिचार के अन्तर्गत आता है। यदि विपरीत आचरण स्त्री-पुरुष के समागम में परिणत होता है तो अनाचार हो जाता है। वर्तमान सन्दर्भों में इस प्रकार के सम्बन्धों को शारीरिक, सामाजिक और कानूनी दृष्टियों से वर्जनीय तथा हेय माना जाता है।
2. **अपरिगृहीतागमन :** इस अतिचार का अर्थ किसी भी प्रकार की पराई स्त्री या पर पुरुष के साथ समागम करने की ओर बढ़ना है। जिसका व्रत के द्वारा निषेध है।
3. **अनंगक्रीड़ा :** स्वाभाविक रूप से कामसेवन की बजाय अप्राकृतिक तरीकों और कृत्रिम साधनों से कामक्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा अतिचार है। इस अतिचार के माध्यम से समलैंगिक कामक्रीड़ाओं से कोसों दूर रहने की पावन प्रेरणा भी मिलती है।
4. **परविवाहकरण :** सद्गृहस्थ को चाहिये कि वह एक विवाह के पश्चात् दूसरा (पर) विवाह न करे। वर्तमान में इसका अर्थ अपने परिवार के सदस्यों के विवाह के अतिरिक्त अन्य जनों के विवाह करवाने में आसक्तिपूर्ण दिलचस्पी लेना किया जा रहा है। लेकिन निरपेक्ष भाव और सहयोग भाव से इस सम्बन्ध में किसी की मदद करने का सामाजिक मूल्य है। वर्तमान समय में जहाँ सम्बन्ध जुड़ना कठिनतर हो रहा है; विलम्बित विवाह और अविवाह की स्थितियाँ समाज में पैदा हो रही हैं, वहाँ इस सहयोग का मूल्य और बढ़ जाता है। सामूहिक विवाह की परम्परा का एक कारण यह भी है। **ब्रह्मचर्य व्रत का मुख्य लक्ष्य भोगासक्ति घटाना और समाज में सदाचार की स्थापना करना है।** विवाह इन्हीं उच्चतर लक्ष्यों से जुड़ा है।
5. **कामभोग की तीव्र इच्छा :** व्रती को कामोत्तेजना को बढ़ाने वाली औषधियों व मादक चीजों का सेवन नहीं करना चाहिये। तीव्र भोगेच्छा से बचने वाला अपनी जीवन-शक्ति, दीर्घजीविता, रचनात्मकता और आध्यात्मिकता को बढ़ाता है।

व्यसनमुक्ति और ब्रह्मचर्य

गृहस्थ जीवन में ब्रह्मचर्य की साधना को समाज-धर्म और मानव-धर्म बनाने के लिए जैनाचार्यों ने मानव-मात्र को व्यसनमुक्त रहने की प्रेरणा दी है। उन्होंने सप्त कुव्यसन[8] बताये, उनमें से दो व्यसनों के परित्याग से वैवाहिक-मर्यादा और परिवार-संस्था का संरक्षण होता है। ये दो व्यसन हैं - (1) परस्त्री गमन या परपुरुष गमन, तथा (2) वेश्यागमन। एड्स जैसी महामारी के कारण अब चिकित्सक और शरीर-विज्ञानी भी वैवाहिक सीमा पार नहीं करने की हिदायतें देते हैं।

पर-स्त्री गमन (पुरुषों के लिए) या पर-पुरुष गमन (स्त्रियों के लिए) अत्यन्त निम्न स्तर का कार्य है। इससे एक या दो व्यक्ति ही नहीं, वरन् दो या दो से अधिक परिवार तहस-नहस हो जाते हैं। परिवार और समाज के गौरव पर इसका विपरीत असर होता है तथा जीवन का स्थायी सुख, सच्ची शान्ति और समृद्धि नष्ट हो जाती है।

गृहस्थ के शीलव्रत के अन्तर्गत वेश्यागमन भी पूर्ण निषिद्ध है। आज दुर्भाग्य यह है कि वेश्यागमन को व्यवसाय और पर्यटन की आड़ में बढ़ावा दिया जा रहा है। गिरावट का नमूना यह है कि 'सैक्स वर्कर' के रूप में पुरुष भी इस कुधन्धे में लगे हुए हैं। जिस समाज व राष्ट्र का युवा निर्वीर्य हो जाता है, सदाचारी नहीं होता है; वह समाज और राष्ट्र विकास के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता है। देह-व्यापार का सह-अस्तित्व, वाणिज्यिक आचार संहिता और सामाजिकता से कोई रिश्ता नहीं है। इसलिए व्यक्ति और देश की आर्थिक प्रगति में उसका कोई योगदान नहीं है। पिछली सदी के पूर्वार्द्ध में जैन दिवाकर मुनि चौथमलजी ने वेश्याओं को प्रतिबोधित करके उन्हें सदाचारिणी और ब्रह्मचारिणी बनाकर समाज को फिर से यह सन्देश दिया कि घृणा पाप से हो, पापी से नहीं।[9]

सात कुव्यसनों के अन्तर्गत मांसाहार, मदिरापान और शिकार को भी परिगणित किया गया है। ये व्यसन सदाचार और शीलव्रत को खण्डित करने में सहायक बनते हैं। सामिष भोजन और नशाखोरी से व्यक्ति उत्तेजित, उन्मत्त और तामसिकता से ग्रस्त हो जाता है। यही वजह है कि **दुराचार की अधिकांश घटनाओं के साथ शराब और कबाब भी जुड़े होते हैं।** राजस्थान के राजपूत समुदाय की विधवा महिलाओं के लिए मांसाहार-निषेध का नियम यह सिद्ध करता है कि मांसाहार विकारवर्द्धक होता है। रसना और वासना का गहरा सम्बन्ध है। शील और सदाचार की रक्षार्थ विकारवर्द्धक और तामसिक आहार का निषेध होना चाहिये।

समानता के सन्दर्भ

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रावक के चौथे व्रत के अन्तर्गत सुन्दर समाज व्यवस्था, समर्थ सन्तति, आरोग्य और चरित्रवान नागरिक निर्माण के सारे नियम मौजूद हैं। समाज की शान्ति और समृद्धि इस व्रत पर निर्भर करती है। लड़के का विवाह इक्कीस वर्ष की उम्र से पूर्व और लड़की का विवाह अठारह वर्ष की उम्र से पूर्व करना वर्तमान कानून की दृष्टि से निषिद्ध है। इस व्रत की दृष्टि से भी इसे निषिद्ध माना जाना चाहिये। **बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह का निषेध भी इस व्रत के अन्तर्गत हो जाता है।** विधवा-विवाह और विधुर-विवाह को भी प्रचलित सामाजिक परम्परा तथा व्यक्ति विशेष की परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिये। जीवन की व्यवस्थाओं के लिए पुनर्विवाह बुरा नहीं है; बुरा है, भोगग्रस्त जीवन। इसी प्रकार व्रत का विधान स्त्री और पुरुष दोनों के लिए हैं। इसलिए प्रत्येक नियम-उपनियम को समानता के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिये।

प्रेम की कसौटी

शीलव्रत के अन्तर्गत न तो स्त्री के लिए पुरुष हेय है और न ही पुरुष के लिए स्त्री हेय है। दोनों ही के लिए वासनात्मक नज़र और नजरिया हेय है। **शीलव्रत एक ऐसी साधना है, जिसमें शयन-कक्ष ही साधना-कक्ष बन जाता है। उस कक्ष में साधना करने वालों की रात्रियाँ व्यर्थ नहीं जाती हैं।** उनकी निद्रा अलसाई हुई और थकाऊ नहीं होती है; अपितु निद्रा भी योगनिद्रा हो जाती है, जागृति से भर जाती है। भगवान महावीर ने कहा कि जो-जो रात्रियाँ व्यतीत हो जाती हैं, वे पुनः लौटकर नहीं आती है। धर्म करने वालों की रात्रियाँ सफल और अधर्म करने वालों की रात्रियाँ निष्फल हो जाती हैं।[10] निष्फल रात्रियाँ दिन को भी निष्फल और व्यर्थ बना देती हैं। जिनके रात और दिन व्यर्थ हो जाते हैं, उनके जीवन को सफल व सार्थक बनाना बहुत कठिन हो जाता है। शीलव्रती के जीवन का हर पल महान उद्देश्यों के लिए समर्पित हो जाता है।

शीलव्रत के अन्तर्गत पति-पत्नी का प्रेम शारीरिक प्रेम से ऊपर उठकर उच्चतर और अनुत्तर बनता है। वह हृदय के प्रेम तथा आत्मा के प्रेम में परिणत हो जाता है। जैन इतिहास, कथा और काव्य साहित्य में बाईसवें तीर्थंकर नेमीनाथ और उनकी वाग्दत्ता राजुल के सच्चे प्रेम की वैसी ही उत्कृष्ट परिणति दर्शाई गई है।[11] **वस्तुत: शीलव्रत पति-पत्नी के प्रेम की कसौटी है। नश्वर देह के आसरे टिका हुआ प्रेम टिकाऊ तथा शक्तिशाली नहीं होता है। कई बार पढ़ते-सुनते हैं कि एक-दूसरे के लिए मर-मिटने वाले प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी एक-दूसरे को मारने-मिटाने के लिए तैयार हो जाते हैं।** इस नकारात्मक पराकाष्ठा का एक कारण महज शारीरिक आसक्ति या आकर्षण होना है।

शीलव्रत यानी अखंड सौभाग्य

एक उम्र और दायित्वों की सम्पूर्ति के बाद सद्गृहस्थ को शीलव्रत की आराधना में निष्ठा और संकल्पपूर्वक आगे बढ़ना चाहिये। शीलव्रत मनुष्य को अधिक मनस्वी और तेजस्वी बनाकर उसकी रचनात्मकता को बढ़ाता है। **शीलव्रत सेवा और साधना का आधार है तथा सभी साधनाओं का सार भी। जो दम्पती अपने जीवन में आजीवन शीलव्रत अंगीकार कर लेते हैं, उनका सौभाग्य अखण्ड हो जाता है, क्योंकि उनका प्रेम, शारीरिक प्रेम से ऊपर उठ चुका होता है।** अपने जीवनसाथी के चिरवियोग पर शीलव्रती महिला को उसके सामाजिक सौभाग्यसूचक चिह्नों को कायम रखने तथा सभी मांगलिक कार्यों में सहभागिता का सामाजिक नियम बनना चाहिये।

वैसे भी ब्रह्मचर्यमय वैधव्य और वैधुर्य त्यागमय होने के कारण मंगलकारी होता है। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने वैधव्यकाल में देश की प्रधानमंत्री रहते हुए देश की बड़ी-बड़ी योजनाओं और परियोजनाओं का शुभारंभ किया। इसी प्रकार हमारे सामाजिक और धार्मिक कार्यों में माताओं और बहिनों की भेदभावरहित भागीदारी सुनिश्चित होनी चाहिये।

जैन समाज में अनेक दम्पती सभा समारोह में, प्रकट रूप में आजीवन शीलव्रत अङ्गीकार करते हैं।[12] उनका इन तरह से नियमबद्ध होना समाज के लिए एक बहुत ही शुभ सन्देश होता है। इसलिए शीलव्रत अंगीकार करने वाले श्रावक-श्राविका का समाज की ओर शॉल, साफा (पगड़ी), चुन्दरी, माला आदि से सम्मान किया जाता है। इस सम्मान के साथ समाज की ओर से एक सन्तुलित और श्रेष्ठ भाषा में लिखा हुआ प्रशस्ति-पत्र भी प्रदान किया जाना चाहिये। प्रशस्ति-पत्र से शीलव्रत की महिमा से समाज और सम्बन्धित परिवार की पीढ़ियाँ परिचित और प्रेरित होंगी। इससे नारी-सम्मान अभिवर्द्धन और कुछ सामाजिक रूढ़ियों के उन्मूलन में भी मदद मिलेगी।

वैवाहिक ब्रह्मचर्य

जैन साहित्य में विजयकुमार-विजयाकुमारी दम्पती विवाह करने के उपरान्त भी अपने सत्संकल्प की रक्षार्थ सहर्ष निर्दोष शीलव्रत का पालन करते हैं।[13] जैन समाज में यह कथानक बहुत प्रसिद्ध है। ब्रह्मचर्य की महिमा के शास्त्रीय सन्दर्भों के साथ सन्त अपने प्रवचनों और विद्वान् अपने व्याख्यानों में इस कथा को बहुत ही प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत करते रहे हैं। अनेक कवियों ने इस कहानी पर स्वतन्त्र मनोहर काव्य रचकर शीलव्रत की महिमा को जन-जन के मन-मस्तिष्क में स्थापित किया है। इस कथानक से प्रेरणा पाकर अनेक दम्पती यौवनावस्था में ही शीलव्रत के पालन में अग्रसर हुए और आज भी होते हैं।

श्रीमद् राजचन्द्र से अनुप्रेरित होकर महात्मा गाँधी और उनकी पत्नी कस्तूरबा गाँधी ने अपने गृहस्थ जीवन में लगभग 38 वर्ष की उम्र में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत (शीलव्रत) ग्रहण कर लिया था।[14] **जैन परम्परा में सदियों से चली आ रही वैवाहिक ब्रह्मचर्य की अवधारणा और आराधना को गाँधीजी ने अपने जीवन में भी अपनाया और दूसरों को भी प्रेरणा दी।** इस सम्बन्ध में लोकनायक जयप्रकाश नारायण का उदाहरण बेहद प्रेरक है।

जयप्रकाश की सगाई प्रभावती के साथ हुई। सगाई के उपरान्त वे दोनों महात्मा गाँधी से आशीर्वाद लेने पहुँचे। उन्होंने देशसेवा की बात कही। गाँधीजी उनका राष्ट्रसेवा का जज्बा देखकर प्रसन्न हुए और उन्हें वैवाहिक ब्रह्मचर्य की प्रेरणा दी। बापू स्वयं ब्रह्मचर्य के आराधक थे। उनके वचनों का प्रभाव जयप्रकाश और प्रभावती पर पड़ा। भारत-रत्न जयप्रकाश नारायण और प्रभावती ने विवाह पूर्व ही ब्रह्मचर्य व्रत का संकल्प कर लिया और देश की सेवार्थ वैवाहिक ब्रह्मचर्य व्रत को आजीवन निष्ठा से निभाया।[15] राजनीतिक क्षेत्र के नारायण दम्पती का यह उदाहरण सभी जनों के लिए आज भी प्रेरणा का प्रकाशस्तम्भ बना हुआ है। जब देश की सेवा करते हुए सार्वजनिक जीवन में वैवाहिक ब्रह्मचर्य का उदाहरण पेश किया जा सकता है तो समाजसेवा और धर्म-साधना के साथ शीलव्रत की आराधना से जीवन को अभिनव ऊँचाइयाँ अवश्य दी जानी चाहिये।

ब्रह्मचर्य और आबादी

भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य को मानव और मानव-समाज की बुनियाद के रूप में कई उपयोगी आयामों के साथ स्थापित किया। उन्होंने **ब्रह्मचर्य को सभी व्रतों में उत्तम तथा नियम, ज्ञान, श्रद्धा, चरित्र, सत्य, विनय आदि का मूल बताया।**[16] अर्थशास्त्रीय दृष्टि से जिस जनसंख्या के सिद्धान्त को अर्थशास्त्री माल्थस ने अठारहवीं शताब्दी के अन्त (1798) में प्रतिपादित किया था, आगम ग्रन्थों में उसका निरूपण उससे तेबीस शताब्दियों पूर्व ही हो चुका था। जैन सूत्रों में ब्रह्मचर्य को नीरस और संन्यासियों का व्रत ही नहीं, अपितु उसे जीवन्त और प्रत्येक सदाचारी मानव के लिए आवश्यक व्रत बताया गया है। जैन साहित्य के अनुशीलन से यह सिद्ध होता है कि जैन गृहस्थों ने गृहस्थ जीवन में भी नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य का अनुपालन करके परिवार और समाज में अनुकूल वातावरण का निर्माण किया। **इस व्रत ने जनसंख्या-नियन्त्रण के अलावा समाज में सदाचार की स्थापना तथा योग्य, स्वस्थ व समर्थ नागरिकों के निर्माण में महान योगदान किया है।** नारी-स्वतन्त्रता और स्त्री-पुरुष समानता जैसे मुद्दों के सम्बन्ध में ब्रह्मचर्य एक केन्द्रीय भूमिका निर्वहन करने वाला निरापद नियम है।

अर्थशास्त्री माल्थस ने अपने जनसंख्या के सिद्धान्त में बताया कि जनसंख्या ज्यामितीय गति (1, 2, 4, 8, 16, 32) से बढ़ती है, जबकि खाद्यान्न वृद्धि अंकगणितीय गति (1, 2, 3, 4, 5, 6) से होती है। फलस्वरूप जनसंख्या और खाद्य-पूर्ति में असन्तुलन पैदा हो जाता है। इस असन्तुलन के निवारण का उपाय है-लोग आत्मसंयम (ब्रह्मचर्य) को जीवन का अंग बनायें। यदि जनता आत्मसंयम की राह चुनती है तो प्राकृतिक आपदाओं पर भी नियन्त्रण होता है। माल्थस ने चेतावनी देते हुए कहा था-लोग अपने कामोन्माद को यथासम्भव नियन्त्रण में रखें। यदि वे कामोन्माद को इस ढंग से तुष्ट करते हैं कि जिससे अन्त में अनिवार्य रूप से वेदना होती है तो उपर्युक्त नियम की सुस्पष्ट अवज्ञा ही होगी।[17]

यह आश्चर्यजनक है कि माल्थस के बाद जनसंख्या वृद्धि दर में तो कमी आई, लेकिन जीवन की गुणवत्ता में भी कमी होने लगी। **पर्यावरण और आर्थिक विकास का सम्बन्ध जनसंख्या में ही नहीं, संयम की संस्कृति में भी है।** इसका तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्य भोगवादी संस्कृति में उलझा रहता है तो जनसंख्या-नियन्त्रण के सुपरिणाम प्राप्त नहीं होते हैं।[18]

अर्थजगत् में मर्यादा

आत्मसंयम और मर्यादा की उपेक्षा के परिणामस्वरूप अर्थशास्त्र में नीतिशास्त्र की खुल्लमखुल्ला अवहेलना हो रही है। **पर्यटन व्यवसाय में स्वच्छन्द यौनाचार, फिल्म-उद्योग में भद्दे तरीकों से देह-प्रदर्शन और कॉर्पोरेट जगत में विज्ञापनों में नारी-देह को वस्तु की तरह प्रदर्शित करने से मानवीयता और सामाजिकता के अनेक गौरवशाली प्रतिमान ताशपत्तों के महल की भाँति गिर रहे हैं। इससे परिवार टूट रहे हैं, समाज बिखर रहा है और अर्थशास्त्र अपने पुनीत लक्ष्यों से भटकता जा रहा है।**

अर्थशास्त्री डॉ. मार्शल ने उत्पादक-श्रम की अपनी अवधारणा से वेश्यावृत्ति या देह-व्यापार को बाहर निकाल दिया था। प्रो. सैलिगमैन ने भी कहा था कि सच्ची आर्थिक-क्रिया परिणामत: सदाचारिक होनी चाहिये।[19]

शीलव्रत और स्वास्थ्य

ब्रह्मचर्य व्रत के खण्डन से अर्थात् वैवाहिक सीमा के उल्लंघन से सारा संसार एड्स नामक जानलेवा महामारी से जूझ रहा है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार संसार में प्रतिदिन करीब 6000 लोग एड्स से जान गँवा देते हैं और करीब 8200 लोग इस जानलेवा रोग से संक्रमित हो जाते हैं।[20] इसके अलावा कृत्रिम उपायों से आबादी-नियन्त्रण के अन्तर्गत मानव-स्वास्थ्य (विशेषत: स्त्री-स्वास्थ्य) तथा नारी-गरिमा के साथ खुल्लम-खुल्ला खिलवाड़ हो रहा है।[21] इन बीमारियों से बचने और बचाने के लिए अपार धन खर्च किया जा रहा है। एड्स और अन्य रोगों से बचने का सर्वाधिक निरापद उपाय आत्मसंयम है। महात्मा गाँधी भी जनसंख्या-नियन्त्रण के लिए आत्म-संयम के अभ्यास और विकास की सलाह देते हैं। वस्तुत: आत्मसंयम से जनसंख्या पर ही नियन्त्रण नहीं होता, अपितु अनेक प्रकार की समस्याओं पर भी नियन्त्रण होता है। सच है-'अणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कंमि बंभचेरे'-एक ब्रह्मचर्य की साधना से अनेक गुणों का संचार होता है।[22] शासन और प्रशासन को चाहिये कि वह आबादी-नियन्त्रण तथा अनाचार की रोकथाम के लिए कृत्रिम और कानूनी उपायों के साथ-साथ नागरिकों को आत्मसंयम की राह पर अग्रसर होने के लिए भी प्रेरित करे।

भगवान महावीर ने अहिंसा, संयम और तप को उत्कृष्ट धर्म बताया है।[23] संयम का एक अर्थ आत्मसंयम या ब्रह्मचर्य भी होता है। इस प्रकार एक संयम के पालन से अहिंसा और तप दोनों की आराधना सुगम, सुफलदायी और प्रभावशाली हो जाती है। फिर, ब्रह्मचर्य व्रत स्वयं ही अहिंसा की आराधना[24] तथा सर्वोत्तम तप है।[25] व्यक्ति, परिवार, समाज, देश, विश्व, पर्यावरण आदि सभी के लिए ब्रह्मचर्य व्रत अतीव हितकारी है।

सन्दर्भ

1. जैन, सागरमल (डॉ.), जैन धर्म-दर्शन और संस्कृति, भाग-3, पृष्ठ-8
2. सोलह सतियों के जीवन-चरित्र में से कुछ सतियों का वैवाहिक जीवन इस तथ्य का प्रमाण है।
3. मुनि चौथमलजी (जैन दिवाकर), जैन दिवाकर ज्योतिपुंज, भाग-14, सेठ सुदर्शन की लावणी, पृष्ठ-365 तथा हेमचन्द्राचार्य रचित कुमारपाल चरितम्, भगवतीमुनि 'निर्मल' द्वारा सम्पादित, पृ.-211
4. उत्तराध्ययनसूत्र 23.12
5. जैन, सागरमल (डॉ.), जैन धर्म-दर्शन और संस्कृति, भाग-3, पृष्ठ-8
6. उपासकदशाङ्गसूत्र 1.16,मधुकर मुनि सम्पादित पृष्ठ-27
7. उपासकदशाङ्गसूत्र 1.48, मधुकर मुनि सम्पादित पृष्ठ-43 तथा आवश्यक सूत्र चौथा अणुव्रत
8. देवेन्द्रमुनि (आचार्य), जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ 265
9. जैन दिवाकर स्मृति ग्रंथ में पृष्ठ 304 पर अगरचन्द नाहटा का लेख ''सन्तों की पतितोद्धारक परम्परा और जैन दिवाकर मुनि चौथमलजी''
10. उत्तराध्ययनसूत्र 14.24-25
11. आचार्य हस्ती प्रणीत जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृष्ठ-231 तथा जैन दिवाकर ज्योतिपुंज, भाग-14, पृष्ठ-277
12. देखें, आचार्य हस्ती का जीवन चरित 'नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं' पृष्ठ-166
13. सुखलालजी (पद्मभूषण), प्रज्ञा संचयन, पृष्ठ-124
14. देखें, महात्मा गाँधी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' के तीसरे भाग के सातवें व आठवें अध्याय 'ब्रह्मचर्य-1' व ब्रह्मचर्य-2' तथा श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास से प्रकाशित 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ।
15. हिन्दुस्तान रविवारीय, नई दिल्ली, 8 सितम्बर 1996 के अंक में पृष्ठ 4 पर सुशील सिन्हा का लेख। देखें, जयप्रकाश नारायण की जीवनी।
16. 'बंभचेरं उत्तमतव-नियमणाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-

विणयमूलं'-प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/4, युवाचार्य मधुकर मुनि सम्पादित पृष्ठ 213
17. धींग, दिलीप (डॉ.), जैन आगमों का अर्थशास्त्रीय मूल्यांकन, पृष्ठ 297
18. धींग, दिलीप (डॉ.), जैन आगमों का अर्थशास्त्रीय मूल्यांकन, पृष्ठ 298
19. महाप्रज्ञ (आचार्य), महावीर का अर्थशास्त्र, पृष्ठ 110
20. 'नफा-नुकसान' (जयपुर) 9-10 फरवरी 2005 का अंक, पृष्ठ-8
21. वही, पृष्ठ 8
22. प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/4, युवाचार्य मधुकरमुनि सम्पादित पृष्ठ 218
23. 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो'-दशवैकलिक सूत्र 1.1
24. 'अवि य वहो जीवाणं मेहुणं सेवाए होइ बहुगाणं'-भगवती आराधना 922
25. 'तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं'-सूत्रकृताङ्ग 1.6.23

निदेशक : अन्तरराष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन व शोध केन्द्र,
सुगन हाउस, 18, रामानुजा अय्यर स्ट्रीट,
साहुकारपेट, चेन्नई-600079

व्यसन छोड़ें

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.

- पहले गम कम करने के लिए व्यसन का सहारा लिया जाता है, फिर व्यसन उनको सहारा बनाकर मनचाही कर लेता है। इसलिए चाहे घरेलू कारण हों, चाहे व्यावसायिक, परन्तु बुरे दिन आने पर भी व्यसन को गले मत लगाइए।
- आश्चर्य यह है कि जो जातियाँ कुल-परम्परा से व्यसन की आदी थीं, वे तो व्यसन छोड़ रहीं हैं और जिनमें व्यसन व्याप्त नहीं था, व्यसन कोसों दूर था, आज वे जातियाँ व्यसन की शिकार बनती जा रही हैं।
- यह भ्रम है कि व्यसन से गम मिटता है, चिन्ताएँ दूर होती हैं एवं तनाव भागता है। वस्तुत: कोई भी व्यसन चिन्ताएँ नहीं मिटाता, गम नहीं भगाता, तनाव दूर नहीं कर पाता। व्यसन तो जड़ता बढ़ाते हैं, जिससे गम, चिन्ता एवं तनाव का पता नहीं चलता। देखा जाये तो व्यसन चिन्ता बढ़ाते हैं, मस्तिष्क की सहनशीलता को समाप्त करते हैं, व्यथा और बेचैनी को बढ़ाते हैं। व्यसनों से दु:ख घटने की बजाय बढ़ते हैं। शास्त्रों के अनुसार व्यसनों एवं विकृतियों का मार्ग शान्ति का नहीं, अशान्ति का मार्ग है।
- व्यसन की वस्तुएँ न भूख मिटा सकती हैं और न प्यास। ये तो कुत्ते के मुँह की सूखी हड्डी की भाँति होती हैं। भूखा कुत्ता रोटी के न मिलने पर सूखी हड्डी के टुकड़े को मुँह में पकड़ कर जोर लगाकर बार-बार चबाता है। इससे उसके मुँह से मसूड़ों का खून आने लगता है। वह उस खून को चाटकर समझता है कि हड्डी उसकी भूख शान्त कर रही है। व्यसनी व्यक्तियों के साथ भी यही होता है।
- व्यसन धूम्रपान का हो, गुटखे का हो, भाँग-गाँजे-चरस का हो, वेश्यागमन या परस्त्रीगमन का हो, मांस-भक्षण का हो, शिकार खेलने का हो, मदिरा पीने का हो, चाहे जो व्यसन हो, सर्वस्व स्वाहा करने वाला होता है। ये व्यसन व्यक्ति को पतन के मार्ग में ले जाते हैं तथा ऐसे गहरे गर्त में धकेल देते हैं जहाँ से पुन: ऊपर आना अतिदुष्कर है।
- अनीति से प्राप्त धन व्यक्ति को मदान्ध बना देता है, उसमें अनेक दुर्गुणों को उत्पन्न कर देता है। ऐसा व्यक्ति जुआ खेलना सीख जाता है। उसे लगता है कि जुए-सट्टे के द्वारा वह अधिक धन आसानी से शीघ्र प्राप्त कर लेगा। किन्तु जुए का अन्तिम परिणाम सैदव विनाशकारी सिद्ध हुआ है।

-हीरा प्रवचन पीयूष भाग-2 से

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 324
ISSN 2249-2011

प्राकृत-साहित्य में निरूपित काम-विजय की प्रेरणा

प्रोफेसर कल्पना जैन

प्राचीन भारतीय विचारकों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक दृष्टि से उन्नत करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता पर बल दिया था। इन विचारकों के अनुसार जीवन में सुख के दो आधार हैं-एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। मनुष्य के जीवन में भोग और कामना का ही नहीं, बल्कि संयम, नियम, आदर्श तथा आध्यात्मिक विचारों का भी महत्त्व माना गया है। समस्त भौतिक सुख क्षणिक और अस्थायी है, सांसारिक मोह-माया, भोग-विलास आदि मनुष्य को सन्मार्ग पर नहीं ले जाते, बल्कि भ्रमित करते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य के संयमित आचार तथा आध्यात्मिक विचार ही उसे सन्मार्ग पर ले जाते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों से मनुष्य बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष करता है। भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि के मध्य का सन्तुलित दृष्टिकोण ही पुरुषार्थ का सही रूप है। इससे समन्वित पुरुषार्थ व्यक्ति के जीवन को गरिमापूर्ण बनाता है।

ये चार पुरुषार्थ भारतीय संस्कृति के अङ्ग हैं। साहित्य के भीतर से संस्कृति की आत्मा अपने रूप-लावण्य को अभिव्यक्त करती है। इसी कारण साहित्य समाज के यथार्थ स्वरूप को अवगत कराने के लिए मुकुर है और संस्कृति का प्रधान वाहन है। प्राकृत भाषा के साहित्य स्रष्टाओं ने चिन्तन सौन्दर्य की अनुभूति को साहित्य में रूपायित कर अमूल्य मणियों का प्रणयन किया है। प्राकृत साहित्यकारों की यह विशेषता है कि वे पाठक के समक्ष जगत् का यथार्थ अंकन कर नैतिकता की ओर ले जाने वाला सिद्धान्त उपस्थित कर देते हैं।

प्राकृत-साहित्य का आरम्भ आगम-साहित्य से होता है। आगम साहित्य के अन्तर्गत अर्ध मागधी आगम साहित्य और शौरसेनी आगम-साहित्य परिगणित है। आगम-साहित्य का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण आगम-साहित्य में कुछ मुख्य प्रवृत्तियाँ समान रूप से उपस्थित हैं। जैसे शील, सदाचार और संयम का निरूपण, आत्मा के प्रति आस्था, मानवता की प्रतिष्ठा, अपने पुरुषार्थ पर विश्वास कर सर्वतोमुखी विशाल सृष्टि का विकास, वासना, इच्छा और कामनाओं पर नियन्त्रण कर आत्मालोचन की ओर प्रवृत्ति, राग-द्वेषादि संस्कारों का दमन, अनात्मवाद का सिद्धान्त आदि।

आचाराङ्गसूत्र के लोकसार अध्ययन में जीवन-शोधन की विविध दिशाओं का निरूपण करते हुए, कुशीलत्याग, संयमाराधन, चरित्रपालन एवं तपश्चरण का प्रतिपादन किया गया है। इसमें इन्द्रिय-निग्रह के लिए भोजन शुद्धि का तथा साधना मार्ग के लिए द्वादशव्रतों का निरूपण है। इन द्वादशव्रतों का निष्ठा के साथ पालन करने से आत्मोन्नति का मार्ग विकसित होता है। द्वादशव्रतों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं। द्वादशव्रतों में जो प्रथम पाँच अणुव्रत हैं उन्हें कहीं-कहीं शीलव्रत भी कहा गया है। शील का अर्थ है-आचार। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँच व्रत आचार का मूल आधार हैं । प्राकृत साहित्य में वर्णित ये व्रत सार्वभौम हैं-व्यक्ति, देश, काल और परिस्थिति की मर्यादा से परे हैं।

हमें यहाँ पाँच व्रतों में सम्मिलित काम-विजय की प्रेरणा देने वाले ब्रह्मचर्य व्रत पर विचार करना है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है अपनी आत्मा के स्वरूप का

आचरण करना, इन्द्रियों की प्रवृत्ति का निग्रह करना। यह ब्रह्मचर्य अनशन आदि तपों का, नियमों-उत्तर गुणों का, ज्ञान का, दर्शन का, चारित्र का सम्यक्त्व का तथा विनय का मूल है। यह पाँचों व्रतों का मूलाधार है, क्योंकि इसके खण्डित होने पर सभी अणुव्रतों का खण्डन हो जाता है। अणुव्रतों की परिगणना में यद्यपि ब्रह्मचर्य का चतुर्थक्रम है, तथापि वह अपनी अद्भुत महिमा और गरिमा के कारण सभी व्रतों में प्रथम स्थान रखता है । कहा है कि 'तं बंभं भगवंत' ब्रह्मचर्य स्वयं भगवान है।

जैसे श्रमणों में तीर्थंकर सर्वश्रेष्ठ हैं[1]-वैसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। एक ब्रह्मचर्यव्रत की जो आराधना कर लेता है वह समस्त व्रत-नियमों की आराधना कर लेता है।[2] प्राचीन प्राकृत साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि 'ब्रह्म' शब्द के तीन अर्थ रहे हैं-ब्रह्म-वीर्य, ब्रह्मात्मा और ब्रह्म विद्या। 'चर्य' शब्द के भी तीन अर्थ हैं-रक्षण, रमण तथा अध्ययन अर्थात् वीर्यरक्षण, आत्मरक्षण तथा विद्या अध्ययन। आचाराङ्ग का अपर नाम ब्रह्मचर्याध्ययन है।[3]

सूत्रकृताङ्गसूत्र में आचार्य शीलांक ने कहा है कि सत्य, तप-भूत दया एवं इन्द्रिय-निरोध रूप ब्रह्म की चर्या का अनुष्ठान ब्रह्मचर्य है।[4] सम्यक् प्रकार से व्रतों का पालन करना कषाय पर विजय पताका फहराना-यह ब्रह्मचर्य का उद्देश्य है। ब्रह्मचर्यव्रत ब्रह्म है, नित्य है, शाश्वत है और जिनों के द्वारा उपदिष्ट है।[5] सभी क्रियाएँ तभी सार्थक हैं जब ब्रह्मचर्य का उत्कृष्ट रूप से पालन हो। इसे आचार्य अभयदेव ने बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया है-

जई ठाणी, जई मोणी, जई झाणी वक्कलीतवस्सी वा।
पत्थंतो वा अबंभबंभावि न रोयए मज्झ।।[6]

अर्थात् भले कोई कायोत्सर्ग में स्थित रहे, भले मौन धारण करके रहता हो, ध्यान में मग्न हो, छाल को धारण करता हो या तपस्वी हो, यदि वह अब्रह्मचर्य की अभिलाषा करता है तो मुझे नहीं सुहाता, फिर भले ही वह साक्षात् ब्रह्म ही क्यों न हो।

इस प्रकार काम वासनाओं और इच्छाओं के दमन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने की प्रेरणा आचार्यों ने प्रदान की, जिससे व्यक्ति काम पर विजय प्राप्त करने में सक्षम होता है। मनुष्य के छः प्रकार के शत्रु होते हैं-काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। इनमें काम दुर्जय शत्रु है। यह काम शत्रु यदि मन में रहता है तो व्यक्ति सत्कार्य की ओर अग्रसर नहीं हो पाता। काम शूल की तरह चुभने वाला, विष की तरह मारक और आशीविष की तरह क्षणमात्र में भस्म करने वाला है। जिसने काम पर विजय प्राप्त कर ली उसने अतरंग शत्रु पर विजय प्राप्त की है। इसके लिए इन्द्रियों को नष्ट न कर उनके विकारों के परिहार हेतु प्रयास करने की प्रेरणा प्राकृत साहित्य में दी गई है। अनियन्त्रित कामवासनाओं को नियन्त्रित करके समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने हेतु मनीषियों ने विवाह का विधान किया है। विवाह समाज की नैतिक शान्ति, पारिवारिक प्रेम और प्रतिष्ठा को सुरक्षित कर रखने का एक उपाय है। गृहस्थ के लिए विधान है कि वह अपनी विधिवत् विवाहित पत्नी में सन्तोष करके शेष सभी परस्त्री के साथ इस कामवासना का परित्याग करे। यहाँ विवाह का उद्देश्य केवल विषय वासनाओं का सेवन ही नहीं है। यही कारण है कि भार्या को भोग पत्नी न कहकर धर्मपत्नी कहा गया है। विवाह द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छाओं पर ही नियन्त्रण नहीं करता, अपितु स्वयं को धर्ममार्ग में उत्प्रेरित भी करता है।[7]

विषय वासनाओं और इच्छाओं के निरोध पर विजय प्राप्त करने के लिए प्राकृत ग्रन्थों में पाँच भावनाएँ बताई गई हैं।[8] यथा-

'प्रथम भावना-विविक्त शयनासन' अर्थात् स्त्रीयुक्त स्थान का वर्जन कर अन्तःकरण ब्रह्मचर्य की मर्यादा में मन वाला तथा इन्द्रियों के विषय ग्रहण स्वभाव से निवृत्त जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से गुप्त सुरक्षित होता है।

दूसरी भावना-स्त्री कथा वर्जन-नारी जन के समक्ष काम कथा नहीं करनी चाहिए।

तृतीय भावना-स्त्रियों के रूप दर्शन का त्याग करना चाहिए।

चतुर्थ भावना-पूर्वकाल में भोगे भोगों के स्मरण का त्याग।

पञ्चम भावना-स्निग्ध भोजन का त्याग।[9]

इस प्रकार की भावनाओं को भाने से सदाचार और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन होता है, ऐसी प्रेरणा प्राकृत ग्रन्थों में वर्णित है।

आगम-ग्रन्थों में काम अर्थात् इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। प्रश्नव्याकरण में कुशील के दोष दिखाकर शील अपनाने पर बल दिया है, तो विपाकसूत्र में भी बताया गया है कि बीस कथाओं के माध्यम से व्यक्ति अपने राग-द्वेष और मोह आदि भावों से कर्म का बन्ध करता है। छेदसूत्र निसीह में विवेकशून्य आचरण या तो शिथिलाचार है अथवा शून्य आडम्बर। इन दोनों से बचने के लिए देशकाल के अनुरूप मार्ग का निरूपण किया गया है तथा जीवन शोधन के लिए ब्रह्मचर्य के साथ भोजन शुद्धि को भी महत्त्व दिया गया है। महानिसीह के तृतीय और चतुर्थ अध्ययन में साधुओं को कुशील साधु के सम्पर्क से बचने का उपदेश दिया गया है। कामवासना को निन्द्य बताते हुए व्यवहारभाष्य में कहा गया है-

कणकुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमइ मिए।।

जिस प्रकार स्वादिष्ट भोजन को छोड़कर सूकर विष्ठा का ही भक्षण करता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव शुद्ध आचार का परित्याग करके दुराचार का सेवन करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में नेमि-राजुल का प्रसङ्ग काम-वासनाओं पर किस तरह विजय प्राप्त की जा सकती है, इसका सशक्त उदाहरण है। नेमि के विरक्त हो जाने पर राजीमति ने भी परिव्राजिका (साध्वी) होने की ठानी। तब नेमि के भाई रथनेमि ने राजीमति से कहा कि-व्रत, तप और संयम की अग्नि में डालना महिलाओं के लिए उचित नहीं है। अत: उसे छोड़कर पहले विषय सुख का सेवन और बाद में जिनमार्ग का अनुसरण करना चाहिए।[10] तब राजीमति ने कहा कि धर्म बाद में करना निश्चय ही आवश्यक है, तो पहले विषय-सुख से क्या।[11] इसी प्रकार पर्वत की गुफा में एकाकी राजीमति को देखकर पुन: रथनेमि ने जब विषय भोग भोगने का प्रस्ताव रखा, जिसे राजीमति ने अस्वीकार कर रथनेमि को विविध प्रकार से प्रतिबोधित किया और कालक्रम से मोक्ष की ओर अग्रसर हुईं।[12] अर्धमागधी आगम ग्रन्थों में कथाओं और दृष्टान्तों के माध्यम से कामविजय के अनेक प्रसङ्ग आए हैं।

शौरसेनी आगम-ग्रन्थों में भी विषय-वासनाओं से विरक्त होकर काम-विजय की प्रेरणा दी गई है। उसके कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं-

आचार्य कुन्दकुन्द एक महान् प्रभावशाली आचार्य हुए हैं, जो पिछले दो हजार वर्षों में हुए हजारों आचार्यों में अद्वितीय एवं असाधारण हैं। वे कहते हैं कि व्यक्ति को विषय-वासनाओं से दूर रहना चाहिए-

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं - णिरत्थयंमाणुसंजम्मं।।[13]

जो मनुष्य सौन्दर्यरूपी लक्ष्मी से गर्वीला तथा यौवन, लावण्य और कान्ति से युक्त है, किन्तु शीलगुण से रहित है तो उसका मनुष्य जन्म निरर्थक है। ऐसे मनुष्य सदा विषय-वासनाओं में ही फँसे रहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने एक विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्ति करने के लिए प्रेरणा देते हुए कहा है कि भले ही मनुष्य जाति से हीन हो, रूप से विरूप हो, उसकी अवस्था बीत गई हो, इसके बाद भी वह अगर सुशील है तो उसका मनुष्यत्व उत्तम है।[14]

इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष दर्शन से युक्त लोक के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान ने अनेक प्रकार से कथन किया है कि अतीन्द्रिय मोक्ष पद शील से प्राप्त होता है। जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया, जो विषयों से विरक्त

है, धीर है, जो तप, विनय और शील से सहित है ऐसे जीव आठ कर्मों को समग्र रूप से दग्ध कर सिद्धि गति को प्राप्त होते हैं।[15]

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित 'पञ्चास्तिकाय संग्रह', नामक ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत भाषा का अनुपम ग्रन्थ है। इस पञ्चास्तिकाय के अवबोध का उद्देश्य दु:खों से मुक्त होना तथा राग-द्वेष छोड़ना है।[16] इसमें पाप के कारण बताकर उसके निराकरण के उपाय भी बताए हैं। प्रशस्तराग, अनुकम्पा तथा चित्त की अकलुषता से पुण्यास्रव[17] तथा विषय लोलुपता, प्रमादचर्या, 'पर' को दु:खी करना, चित्त की कलुषता, अति रौद्रध्यान, दुष्टभाव वाली धर्मक्रिया, इन्द्रिया सक्ति, कृष्णादि तीन लेश्याएँ पापास्रव[18] की कारण हैं। इन्द्रिय, कषाय तथा संज्ञा पर विजय प्राप्त करने वाले के एवं समभाव वाले के शुभाशुभ पापास्रव[19] नहीं होता।

काम-विजय प्राप्त करने में संयम भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जीवन के उत्कर्ष को निरन्तर गतिशील रखने के लिए व्रत, नियम आदि के पालन और मर्यादा से अपने आचार को सँवारना आवश्यक है। संयम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्राकृत-ग्रन्थों में कहा गया है कि व्रतों के धारण, समितियों के परिपालन, कषायों के निग्रह, मन-वचन काय की दुष्प्रवृत्ति रूप दण्डों के त्याग और इन्द्रियों पर विजय का नाम संयम है। आचार्य वट्टकेर द्वारा रचित मूलाचार[20] में सतरह प्रकार के संयम का वर्णन है, जिनसे विषय वासनाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इन पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र उपाय जिनवचन है-

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमियभूयं।
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं।।[21]

अर्थात् विषयसुख का विरेचन करने वाले और अमृतमय ये जिनवचन ही औषधि हैं। ये जरा-मरण और व्याधि से होने वाली वेदना को तथा सर्व दु:खों को नष्ट करने वाले हैं।

आचार्य शिवार्य ने 'भगवती अराधना' नामक ग्रन्थ में इन्द्रिय, मन, कषाय-विजय का बहुत ही सुन्दर और सटीक व्याख्यान किया है। ग्रन्थ में कहा गया है कि शत्रु, आग, व्याघ्र और काला विषैला सर्प उतनी बुराई या नुकसान नहीं करता जितनी पीड़ा कषाय रूपी शत्रु देता है। यथा-

णहि तं कुणिज्ज सत्तू अग्गीबग्घो व कण्हसप्पो वा।
जं कुणइ महादोसं णिव्वदि-पिग्घंकसायरिऊ।।

आचार्य ने न सिर्फ उससे होने वाली हानि को बताया है वरन् इनको वश में करने वाले उपायों को भी बताया गया है। वे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषाय से प्राप्त सुखों का अच्छापन या बुरापन कभी स्थायी नहीं होता। अत: विषय-भोगों में न राग अच्छा है और न द्वेष । इसमें उपेक्षाभाव और संयम-साधना की भावना ही जीतने का उपाय है।[22] इससे जीव विषयों के प्रति रुचि को नष्ट कर पाता है और मोक्ष को प्राप्त हो सकता है। काम-वासनाओं के जाल में फँसे हुए जीवों को इसके दोष बताते हुए उन्होंने कहा है कि अन्य विष तो एक बार मारते हैं, पर विषय रूपी विष निरन्तर ही मारता रहता है। विषयों में आसक्त हुए जीव नरकों में वेदनाओं को, तिर्यञ्च और मनुष्यों में दु:खों को तथा देवों में दुर्भाग्य को प्राप्त हैं।[23]

'भगवती आराधना' में आचार्य शिवार्य ने मानव जीवन की सभी बीमारियों, बाधाओं और संकटों के निवारण के लिए जो रामबाण औषधि की खोज की है, वह औषधि इन्द्रिय, मन और कषायों के स्वरूप को समझना और उन पर विजय प्राप्त करना है। भगवती आराधना में तन की बीमारी को प्राकृतिक एवं स्वाभाविक समझने की तरकीब बताई गई है और इन्द्रिय, मन एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने का उपाय बताकर मन की बीमारी से बचने को कहा गया है।[24]

आचार्य शिवार्य ने एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक निर्णय सुनाया है कि अनैतिक आचरण के दोष स्त्री-पुरुषों में बैठी हुई कषायों क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि की प्रवृत्तियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं और यह

प्रवृत्ति स्त्री-पुरुष दोंनो में समान रूप से उत्पन्न होती है। शिवार्य ने स्पष्ट किया है कि जैसे शील की रक्षा के लिए स्त्रियाँ निन्दनीय या वर्जनीय होती हैं वैसे ही अपने शील और साधना की रक्षा करने वाली स्त्रियों के लिए पुरुष निन्दनीय एवं वर्जनीय होते हैं।

स्वामीकार्तिकेय द्वारा रचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा में चञ्चल मन और विषय-वासनाओं के निरोध के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं का प्रतिपादन किया है-संसार में कामिनी और कंचन के साम्राज्य का विवेचन करते हुए कहते हैं कि-इस लोक में स्त्रीजन के वश में कौन नहीं है। काम ने किसका मन खण्डित नहीं किया? इन्द्रियों ने किसे नहीं जीता और कषायों से कौन सन्तप्त नहीं हुआ? इसका उत्तर देते हुए कहा है-

सो ण वसो इत्थिजणेसो ण जिओ इन्दिएहिं मोहेण।
जो ण य गिण्हदि गंथं अब्भंतरवाहिरं सव्वं।।

आख्यान मणिकोश में भी शील की महत्ता बताते हुए कथाकार कहते हैं-

अधणाणंधणंसीलंभूसणरहियाणभूसणंपरमं।
परदेसेनियगेयं सयणविमुक्काणं नियसयणो।।[25]

वैराग्य रसायनप्रकरण प्राकृत ग्रन्थ में प्राकृत कवि द्वारा अनेक नीति युक्त उदाहरणों द्वारा काम पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई है-

चउव्विहकसायरुक्खो हिंसादिढमूलविसयबहुसाहो।
जम्मजरामरणफलो उल्लमूलयव्वो य मूलाओ।।[26]

अर्थात् कषायवृक्ष की जड़ हिंसा है, विषय वासनाएँ उनकी शाखाएँ हैं और जन्म-मरण उसके फलरूप हैं। अत: कषाय वृक्ष के कड़वे फल कामादि नहीं खाने हैं तो संयम से काम लेना होगा। प्राकृत भाषा में निबद्ध वैराग्यशतक में भी कामवासनाओं को क्षणभंगुर बताकर उन पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान की है-

रूवमसासमेयं विज्जुलयाचंचलं जय जीवं।
झाणुरागसरिसं खणरमणीयं च तारुण्णं।।[27]

उपसंहार

प्राकृत साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि काम-वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए प्राकृत कवियों ने विभिन्न कथाओं के द्वारा, दृष्टान्तों के द्वारा व्यक्ति को इन्द्रिय-निग्रह, एवं संयम पर चलने को प्रेरित किया गया है। पुरुषार्थ चतुष्टय में अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है और उस तक पहुँचने के लिए हमें आचार्यों के बताए मार्ग पर चलना होगा।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ ग्रन्थ

1. प्रश्व्याकरणसूत्र, पृष्ठ 156, संवरद्वार-4
2. एगंमि बंभचेरे आराहियं आराहियं वयमिणं सव्वं। आचाराङ्ग निर्युक्ति गाथा -29
3. आचाराङ्ग निर्युक्ति -30
4. आचाराङ्ग निर्युक्ति 4.30 की वृत्ति
5. उत्तराध्ययनसूत्र- 16-17
6. अभयदेव टीका पृष्ठ 132, प्रश्नव्याकरणसूत्र, पृष्ठ 218
7. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप - देवेन्द्र मुनि शास्त्री
8. प्रश्नव्याकरणसूत्र पृष्ठ - 219, 220, 220, 224
9. प्रश्नव्याकरणसूत्र वृत्ति, पृष्ठ 213
10. वयतवसंजमभोगे दोहाम्मिणी महिलाओ संपत्तविसय-सोक्खा जिणदेवमग्गं गमिस्सामो-उत्तराध्ययनसूत्र, पृष्ठ 24
11. जइ सो च्चिय कायव्वो ता किं पुव्वं पि विसयेहिं। उत्तराध्ययनसूत्र, पृष्ठ 24
12. कमेण य दो वि केवलिणो जाया सिद्धा य। -धर्मोपदेशमाला विवरण, पृष्ठ 30
13. अष्टपाहुड़- शीलप्राभृत गाथा- 15 पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर
14. अष्टपाहुड़- शीलप्राभृत गाथा- 15 पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर गाथा -18
15. अष्टपाहुड़- शीलप्राभृत गाथा- 15 पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर गाथा - 35
16. पंचास्तिकाय गाथा - 103-104
17. पंचास्तिकाय गाथा - 132-137
18. पंचास्तिकाय गाथा - 139-140
19. पंचास्तिकाय गाथा - 141-142-143
20. मूलाचार गाथा - 95
21. भगवती अराधना गाथा - 1389
22. भारतीय दर्शन और साहित्य के विकास में प्राकृत वाङ्मय

योगदान, पृष्ठ 91, प्रो. प्रेमसुमन जैन का आलेख।
23. भगवती आराधना गाथा - 995
24. भगवती आराधना गाथा - 988
25. आख्यानमणिकोष 29/284
26. वैराग्यरसायन-डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री कृत 'भारतीय संस्कृति की प्राकृत भाषा को देन' में उल्लेख।
27. आचार्य जयवल्लभसूरी। -वैराग्यशतक, गाथा - 8

-विभागाध्यक्ष, प्राकृत भाषा विभाग, श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत केन्द्रीय विश्वविद्यालय, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016

सपना बना शिक्षक

श्री राकेश मेहता (सी.ए.)

कल रात मैंने एक सपना देखा। सपने में मैं और मेरा परिवार शिमला घूमने गये। हम सब शिमला की रंगीन वादियों में कुदरती दृश्य देख रहे थे। जैसे ही हमारी कार सूर्यास्त बिन्दु की ओर बढ़ी, अचानक गाड़ी के ब्रेक फैल हो गये और हम सब करीब 1,500 फीट गहरी खाई में जा गिरे। मेरी तो उसी समय मृत्यु हो गयी। जीवन में कुछ अच्छे कर्म किये होंगे, इसलिये मैं स्वर्ग में पहुँच गया।

देवराज इन्द्र ने मुस्कुरा कर मेरा स्वागत किया। मेरे हाथ में बैग देखकर पूछने लगे कि इसमें क्या है?

मैंने कहा कि इसमें मेरे जीवनभर की कमाई है अर्थात् पाँच करोड़ रुपये हैं।

इन्द्र ने SVG (स्वर्ग) 6767934 नम्बर के लॉकर की ओर इशारा करते हुए कहा कि आपकी अमानत इसमें रख दीजिए और मैंने उनकी आज्ञास्वरूप बैग रख दिया। मुझे एक कमरा भी दिया गया। मैं तरोताजा होकर स्वर्ग के बाजार में निकला और देवलोक के शॉपिंग मॉल में अद्भुत वस्तुएँ देखकर मेरा मन ललचा गया। मैंने कुछ चीजें पसन्द करके टोकरी में डाल दी और कॉउण्टर पर जाकर उन्हें हजार-हजार के नये नोट देने लगा।

प्रबन्धक ने नोटों को देखकर कहा-यह मुद्रा यहाँ नहीं चलती। यह सुनकर मैं हैरान हो गया। मैं इन्द्रदेव के पास शिकायत करने पहुँचा।

इन्द्र ने मुस्कुराते हुए कहा-आप व्यापारी होकर इतना भी नहीं जानते कि जब आपकी मुद्रा बाजू के मुल्क पाकिस्तान, श्रीलंका और बांग्लादेश में भी नहीं चलती, तो आप इस पृथ्वीलोक की मुद्रा को स्वर्गलोक में चलाने की मूर्खता कैसे कर रहे हैं? यह सब सुनकर मुझे मानो साँप सूँघ गया और मैं जोर-जोर से दहाड़े मारकर रोने लगा और परमात्मा से प्रार्थना करने लगा कि भगवान यह क्या हो गया? मैंने कितनी मेहनत से यह पैसा कमाया। धर्म, देश, समाज, माता-पिता, बच्चों, पत्नी, परिजनों, रिश्तेदारों, भाई-बन्धुओं और यार-दोस्तों से भी किसी तरह की हमदर्दी न रखते हुए पैसा कमाया। जीवनभर हाय-पैसा हाय-पैसा करता रहा और यह सब व्यर्थ गया। हाय राम अब क्या होगा?

इन्द्र ने कहा-रोने से कुछ हासिल होने वाला नहीं है। जो लोग जितने भी पैसे लेकर यहाँ आये, वे सब व्यर्थ हो गये। टाटा, बिड़ला और धीरूभाई अंबानी के करोड़ों अमेरिकन डॉलर सबका पैसा यहीं पड़ा है।

मैंने इन्द्र से पूछा-फिर यहाँ कौनसी मुद्रा चलती हैं? इन्द्र ने कहा-अगर कुछ अच्छे कर्म किये हों जैसे नैतिक धर्म की साधना की हो, साधु-सन्तों का सान्निध्य रखा हो, किसी दुःखी आदमी की मदद की हो, किसी रोते हुऐ को हँसाया हो, किसी अनाथ बच्चे को पढ़ा लिखा कर काबिल बनाया हो, किसी को व्यसनमुक्त किया हो। किसी अपङ्ग-विद्यालय, वृद्धाश्रम, मन्दिरों में दानधर्म किया हो-जैसे पुण्य-कर्म करने वाले कर्मशील को यहाँ पर क्रेडिट कार्ड मिलता है और उसे वापर (उपयोग) कर वह यहाँ स्वर्गीय सुख का उपभोग कर सकता है।

इस स्वप्न ने मुझे ज़िन्दगी जीने की राह दिखा दी और अब मैं वह दौलत कमाऊँगा जो स्वर्गलोक में चलती है।

8, Dharm Narayan ji Ka Hatha, Opp. Kayamkhani Hostel, Ship House Road, Paota, Jodhpur (Raj.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 330
ISSN 2249-2011

जैन-जीवन में अर्थोपार्जन एवं उपयोग

प्रो. सी. एस. बरला

प्रस्तावना

ऐतिहासिक रूप में जैन समाज अपनी धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं को सुरक्षित रखने हेतु जाना जाता है। हालाँकि भारत में 2011 की जनसंख्या में जैनों की संख्या मात्र 44.5 लाख यानी 0.37 प्रतिशत ही थी। परन्तु संख्या कम होने पर भी जैन समाज का अपनी विशिष्टताओं तथा देश को प्रदान की जाने वाली सेवाओं के कारण भारत में विशिष्ट महत्त्व है।

प्रस्तुत लेख में यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि सम्पूर्ण विश्व में जैन समुदाय की जीवनशैली, अर्थोपार्जन की विधि तथा आय के आवण्टन में एक अनुपम शैली है, जिसके कारण संख्या में कम होने पर भी न केवल भारत में, अपितु विश्व के अन्य देशों में भी जैनियों की अपनी एक विशिष्ट पहचान है। सदियों से जैन समाज के मनीषियों ने इस पहचान को बनाए रखा है।

संस्कार निर्माण

सामान्य तौर पर भारत में जैन समुदाय के लोग संयुक्त परिवार के रूप में आवास करते हैं, हालाँकि कहीं-कहीं परिस्थितियाँ अनुकूल न होने के कारण एकाकी अथवा न्यूक्लीयर परिवार भी देखने को मिलते हैं। संयुक्त परिवारों में वयोवृद्ध व्यक्तियों के सम्मान की विशिष्ट परम्परा होती है, तथा प्राय: **परिवार के सदस्यों में अनुशासन तथा विनम्रता दृष्टिगोचर होती है।** समाज में भी इन वयोवृद्ध लोगों का सम्मान होता है। यही कारण है कि जैन समाज में प्राय: बड़ों का सम्मान, अनुशासन तथा परस्परोपग्रह की भावना दिखाई देती है। यह देखा गया है कि आमतौर पर **जैन समाज के लोग विनम्र, सहिष्णु तथा परम्पराओं का सम्मान करने वाले होते हैं।** समाज में प्राय: सहमति के आधार पर निर्णय होते हैं, क्योंकि जैन व्यक्ति को बचपन से सहिष्णु तथा संवेदनशील बने रहने के संस्कार दिए जाते हैं।

यद्यपि भारत के राजनैतिक पटल पर जैन लोगों की भूमिका हाल ही के वर्षों में बढ़ी है, फिर भी इनकी भावना में परस्पर सम्मान देने की ही रहती है, तथा बहुमत के आधार पर ही निर्णय लेने की प्रवृत्ति बनी रहती है।

साधर्मिक वात्सल्य

जैन समाज को धार्मिक गुरु, साधु-साध्वी भगवन्त तथा आचार्य आदि प्राय: अपनी देशना में यह बात अवश्य कहते हैं कि आगामों में वर्णित तीर्थंकरों की वाणी आत्म-साधना हेतु मार्ग प्रशस्त करती है, लेकिन **उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है साधर्मिक वात्सल्य** जो समाज को बाँधकर रखने हेतु अपरिहार्य है। कुछ आचार्यों का तो यहाँ तक कहना है कि जितना महत्त्वपूर्ण मन्दिर, स्थानक, उपासरा बनाना है या धर्मसंघ निकालना है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है साधर्मिक वात्सल्य में निवेश करना।

प्राय: इसकी पुष्टि हेतु माण्डो नगरी का एक प्रसंग उपयुक्त होगा। लगभग 500 वर्ष पूर्व धार के समीप माण्डो नगरी थी, जिसमें एक लाख जैन परिवार रहते थे। वहाँ एक अनूठी परम्परा थी। कोई भी नया जैन परिवार यदि माण्डो में जाता था तो विद्यमान परिवारों में से प्रत्येक परिवार की ओर से **नए परिवार को एक ईंट तथा एक स्वर्ण मुद्रा दी जाती थी।** इससे नवागन्तुक परिवार को अपना भवन बनाने तथा व्यापार प्रारम्भ करने हेतु पर्याप्त सहायता मिल जाती थी। **यह साधर्मिक वात्सल्य का एक अनूठा, परन्तु उत्कृष्ट उदाहरण था।**

व्यवसाय का चयन

सामान्य तौर पर कोई परिवार या व्यक्ति उस व्यवसाय का चयन करता है जिसमें अधिकतम लाभ हो। प्राय: इस बात की अनदेखी की जाती है कि उस उपक्रम

में कितनी हिंसा है, तथा उससे समाज के अन्य व्यक्तियों को कितनी हानि हो रही है।

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही जैन परम्पराओं में प्राय: प्रतिक्रमण की व्यवस्था है। इसके अनुसार, **जैन लोगों के लिए वह उपक्रम प्रतिबन्धित है, जिसमें हिंसा निहित है, जिसमें अचौर्य व्रत का उल्लंघन होता है, जिसमें उपभोग-परिभोग व्रत का खण्डन होता है, भूमि के या किसी भी द्रव्य के परिमाण (सीमा) का उल्लंघन होता है, तथा किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार का हनन होता है।** प्राय: जैन लोग प्रतिक्रमण करते समय इन अतिचारों के लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' देते हैं अथवा प्रायश्चित्त का संकल्प लेते हैं। संक्षेप में, विश्वभर के जैन प्राय: उसी प्रकार का व्यवसाय चुनते हैं जिसमें **श्रावक के बारह व्रतों का खण्डन न हो।** इन्हें सात्त्विक व्यवसायों की भी संज्ञा दी जा सकती है। प्राय: हिंसा-रहित तथा अपरिग्रह व्रत का पोषण देने वाले व्यवसाय को ही प्राथमिकता दी जाती है। धार्मिक मान्यता के अनुसार जैन प्राय: ऐसे व्यवसाय से बचना चाहते हैं जिससे अन्य व्यक्तियों को क्षति हो। ये व्यवसाय विग्रहकारी व्यवसायों की श्रेणी में आते हैं। एकाधिकार को प्रोत्साहन देने वाले व्यवसाय से प्राय: जैन दूर रहना चाहते हैं। **विश्व के जिन देशों में भी जैन समाज के लोगों ने व्यापार अथवा उद्योगों में सफलता अर्जित की है, उसके लिए जैन लोगों की निष्ठा, अध्यवसाय, ईमानदारी तथा कर्तव्य-परायणता को ही श्रेय देना होगा।** न केवल विचारों में, अपितु आचार में भी जैन समुदाय के लोग एक मिसाल पेश करते हैं।

शिक्षा का स्तर

अन्य समुदायों की तुलना में जैनियों में शिक्षा का स्तर काफी अच्छा है। हाल के वर्षों में आई.टी., अन्य अभियान्त्रिक प्रशिक्षणों तथा एम.बी.ए. आदि विशिष्ट ज्ञान के क्षेत्र में जैन युवक पर्याप्त संख्या में अपना वर्चस्व स्थापित कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त जैन न्यायाधिपति तथा एडवोकेट की संख्या भी काफी बढ़ी है। 'जीतो' के प्रयासों से अखिल भारतीय तथा राज्य स्तरीय प्रशासनिक तथा पुलिस सेवाओं में भी जैन युवकों की संख्या बढ़ रही है। हालाँकि जैनों को अल्पसंख्यक मान लिया गया है, **तथापि अच्छी बात यह है कि जैन युवक अपनी योग्यता के आधार पर ही उच्च पदों तक पहुँच रहे हैं।** चार्टर्ड अकाउण्टेंट, कॉस्ट एकाउण्टेण्ट, डॉक्टर, कम्पनी सेक्रेटरी आदि के क्षेत्र में भी जैन युवक तथा युवतियाँ बड़ी संख्या में पहुँच रहे हैं।

परन्तु एक बात हमें यह ध्यान रखनी होगी कि विश्व के किसी भी देश में जैन रहें, उनकी समाज तथा धर्म के साथ जो बॉण्डिग है, वह उत्तरोत्तर और अधिक मजबूत हो रही है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, यूरोप, थॉइलैण्ड, ब्रिटेन, हाँगकाँग, जापान, आस्ट्रेलिया आदि देशों में जैन मन्दिरों का जिस तेजी से निर्माण हो रहा है तथा जिस प्रकार धार्मिक, सामाजिक आयोजन किए जाते हैं उससे स्पष्ट है कि जैन लोग दुनिया में कहीं रहें, **अपने धार्मिक तथा सामाजिक संस्कारों को नहीं भूलते, तथा इस बात की अभिव्यक्ति गर्व के साथ करते हैं कि वे जैन हैं।** अपने व्यवसाय में ईमानदारी का परिचय देते हुए वे उस देश के सामाजिक परिवेश में सहज ही अपने आपको आत्मसात् कर लेते हैं।

अर्थोपयोग की विधाएँ

हाल ही में संयुक्त राष्ट्र संघ की विकास परियोजना (यू.एन.डी.पी.) ने निर्धनता की रेखा में परिवर्तन करते हुए बहु-आयामी सूचकांक का निरूपण किया है। तदनुसार अब निर्धनता के आंकलन में विश्व के 1.3 अरब व्यक्तियों की निर्धनता के माप हेतु प्रति व्यक्ति/परिवार की आय के अतिरिक्त अन्य निम्नलिखित मापदण्ड भी लिए जाएँगे।

1. **स्वास्थ्य**-(i) पोषाहार, (ii) शिशु मृत्यु दर
2. **शिक्षा**-(i) स्कूल में व्यतीत वर्ष, (ii) स्कूल में उपस्थिति
3. **जीवन स्तर**-(i) ईंधन का स्रोत, (ii) सफाई, (iii) पेयजल की गुणवत्ता, (iv) बिजली, (v) आवासीय व्यवस्था, (vi) परिसम्पत्ति।

उपर्युक्त मापदण्डों को जैन समाज के परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो ऐसा स्पष्ट होगा कि इसके सन्दर्भ में बहु-आयामी निर्धनता लगभग शून्य ही होगी, क्योंकि जैनों की खर्च करने की प्रवृत्ति में सात्त्विक आहार, नियमित शिक्षा, पोषाहार, उत्तम आवास को ही प्राथमिकता दी जाती है।

मोटे तौर पर जैन परिवारों में अर्थोपार्जन के साथ ही अर्थ के उपयोग में निम्न निर्णायक तत्व शामिल होते हैं।

सात्त्विक आहार

ऐसा अनुमान है कि **अपवादों को छोड़ दें तो लगभग सभी जैन शाकाहारी होते हैं।** यह तथ्य भी हमें ध्यान में रखना है कि अनाज, दाल, चावल, दूध, घी, तेल, सब्जियाँ और फलों की लागत कुल मिलाकर मांसाहार की तुलना में कम होती है। **यह उल्लेखनीय है कि उपयोग हेतु जैन परिवार न केवल प्राथमिकता के आधार पर खर्च करते हैं, अपितु विवेक भी रखते हैं।**

बचत की प्रवृत्ति

लगभग सभी जैन परिवारों में परिवार की रोटी, कपड़ा, आवास की समुचित व्यवस्था करने के **साथ ही परिस्थिति के अनुरूप पारिवारिक आय का एक भाग बचत के रूप में रखने की प्रवृत्ति होती है।** प्राय: यह देखा गया है कि जैन परिवार प्राय: होटल एवं रेस्टोरेण्ट से दूर रहते हैं, क्योंकि उनमें बहुसंख्यक सदस्यों को परहेज होता है। यह भी देखा गया है कि उच्च-मध्य आय वाले जैन परिवार अपनी बचत को स्वर्ण, चाँदी या रत्नों के रूप में रखना चाहते हैं। **कुल मिलाकर जैन परिवारों का खर्च मितव्ययितापूर्ण ही होता है। पर्याप्त बचत होने पर फिर ये परिवार वैभवपूर्ण तरीकों से सगाई या शादी समारोहों पर खर्च करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि बचत का अनुपात आय के साथ उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।**

धार्मिक आयोजनों पर व्यय

जैन समाज में साधर्मिक वात्सल्य, धार्मिक उत्सवों, तप-महोत्सवों का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। प्राय: ये उत्सव चातुर्मास के समय, अथवा विशिष्ट जयन्ती के रूप में आयोजित किए जाते हैं। लाभार्थी परिवारों के अतिरिक्त अनुमोदना करने वाले परिवार भी इसमें योगदान देते हैं। ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार के आयोजनों से धर्म की प्रभावना होती है।

समाज सेवा के उपक्रम

जैन परिवारों की एक विलक्षण विशेषता समाज सेवा में उनके अपूर्व योगदान के रूप में है। राजस्थान के भामाशाह तथा गुजरात के जगडू शाह समाज के जरूरतमन्दों को अपना सर्वस्व अर्पित करके इतिहास में अमर हो गए। हाल के दशकों में बम्बई के दीपचन्दजी गार्डी तथा गुजरात के कुमार पाल भाई का नाम आदर के साथ लिया जाता है।

परन्तु सामाजिक सेवाओं (स्वास्थ्य, शिक्षा तथा जरूरतमन्दों की सहायता) में जैन परिवारों के योगदान का इतिहास बहुत पुराना है। जैन बोर्डिंग (छात्रावास) की शृङ्खला मुम्बई में 120 वर्ष पुरानी है। इसमें मुम्बई में पढ़ने वाले छात्रों को नि:शुल्क ठहरने तथा खाने की व्यवस्था थी। **परन्तु रोचक बात यह थी कि वे छात्र मुम्बई में रोजगार प्राप्त कर लेते थे, तो इस शृङ्खला को जीवन्त रखने हेतु अपना योगदान देते थे।**

समाज-सेवा के उत्कृष्ट उदाहरणों में मुम्बई, अहमदाबाद, जयपुर, नासिक, सूरत, अहमदनगर, देहली, आगरा आदि नगरों में जैन परिवारों ने धर्मशालाओं का निर्माण करवाया।

जयपुर में सुबोध शिक्षण संस्था का प्रारम्भ लगभग एक सौ वर्ष पूर्व किया गया। दुर्लभ जी अस्पताल, अमर जैन अस्पताल तथा भगवान महावीर कैंसर अस्पताल भी लम्बे समय से जयपुर की जनता को स्वास्थ्य लाभ हेतु सेवा दे रहे हैं, और ये जैन परिवारों की उदारता का परिचय दे रहे हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि भारतभर में और विशेष रूप से जयपुर में लगभग सभी जैन व्यावसायिक प्रतिष्ठानों द्वारा चेरीटेबल ट्रस्ट

सञ्चालित किए जा रहे हैं। इन सबसे ऊपर भगवान महावीर विकलाङ्ग सहायता समिति है, जिसके द्वारा लाखों (अब तक 16 लाख) व्यक्तियों को कृत्रिम पैर, केलीपर आदि देकर नाम मात्र के शुल्क लेकर उनका पुनर्वास करने का प्रयास किया जा रहा है। हम इन दानवीर व्यक्तियों, व्यवसायियों तथा व्यक्तियों को नमन करते हैं, जिन्होंने महावीर के सिद्धान्तों पर चलते हुए मुक्त हृदय से दान दिया है। अर्थ के उपयोग का इससे बेहतर गन्तव्य नहीं हो सकता।

-पीएच.डी. (मिशिगन), पूर्व विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
4-ट-13, जवाहर नगर, जयपुर-302004 (राज.)

जीवन-बोध क्षणिकाएँ

श्रद्धेय श्री यशवन्तमुनिजी म.सा.

मान

जब तक रहेगा मान-प्रतिष्ठा
का मोह, तब तक नहीं होगा
आनन्द का आरोह।।

लघुता

जिसे लघुता सुहाती है,
उसे मुक्ति बुलाती है।।

सरलता

सरलता का कर ले साथ,
बन जाएगा जग का नाथ।।

लोभ

पर से कुछ पाने का लोभ
पाप का बाप है, यही पैदा करता
समस्त सन्ताप है।।

राग-द्वेष

जाग! जीव जाग!
अब धो डाल
ये राग-द्वेष के दाग़।।

पाना-खोना

हे चेतन! धन-परिजन के बीच
सिवाय सुख-दुःख के क्या पाता है?
पर याद रख, तू अपने अनन्त आनन्द से
वञ्चित रह जाता है।।

सीमा-समाप्ति

पहले सीमाओं को खोना होगा,
तब कुछ भीतर में पाना होगा।।

उपासना

वही बनते हैं कर्म के नाशक,
जो बनते हैं आत्मा के उपासक।।

पर-परिवाद

निन्दा के रस का कर दो त्याग,
पराये गुणों में रखो अनुराग।।

मोक्ष

हो पर से विरति,
तुम स्व में स्थिति,
तो मिले पञ्चम गति।।

रमणता

अनन्त पुण्य से मिलता है
सत्य (आत्मा) का श्रवण,
फिर होता है चिन्तन-मनन,
फिर बढ़ाये उसमें लगन,
और फिर हो जाए उसी में मगन।।

संसार-निस्सार

देख लिया ना अनन्त बार संसार,
इस बार अन्तर से कह दे निस्सार-निस्सार।।

आत्मान्वेषी

बहुत मिलेंगे पर में सुख के गवेषी,
विरले होते हैं आत्मान्वेषी।।

-संकलित

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 334
ISSN 2249-2011

अणुव्रतों के पालन से आर्थिक लाभ

श्री वीरचन्द्र जैन

मानव जीवन के दो आधार स्तम्भ हैं-आचार और विचार। आचार जीवन का व्यावहारिक पक्ष है तो विचार सैद्धान्तिक। आदमी जैसा करता है, वैसा सोचता है और जैसा सोचता है, वैसा ही करता भी है। आचार और विचार या व्यवहार और सिद्धान्त एक-दूसरे पर आधारित हैं। वह आचरण जो किसी विचार की साया में नहीं है, उस कंकाल के समान है, जिस पर न मांस हो और न त्वचा। और वह विचार जो आचरित न हो, उस खोखले शरीर के समान है, जो हड्डीविहीन हो। अत: दोनों ही की आवश्यकता को समझते हुए सभी धर्मप्रणेताओं और दार्शनिकों ने विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ आचार पर भी प्रकाश डाला है। यानी यह बताया है कि जो धार्मिक सिद्धान्तों को मानता है, उस व्यक्ति का आचार कैसा होना चाहिए। जैनाचार के दो विभाग किये जाते हैं-श्रावकाचार तथा श्रमणाचार। श्रावक के लिये उपदेशित आचार को श्रावकाचार तथा श्रमण के लिये उपदेशित आचार को श्रमणाचार कहते हैं।[1]

श्रावक जब इन आचारों का पालन एकदेश करने लग जाता है तो उसे अणुव्रत कहते हैं और इन अणुव्रतों के पालन करने वाले श्रावक के हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह करने के भाव भी नियन्त्रित होते हैं, जिससे सामाजिक और आर्थिक विकास में बढ़ोतरी होती है। तत्त्वार्थसार में व्रत का लक्षण बताते हुए कहते हैं-

हिंसाया अनृताच्चैव स्तेयादब्रह्मतस्तथा।
परिग्रहाच्च विरति: कथयन्ति व्रतं जिना:।।[2]

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से निवृत्ति होने को जिनेन्द्र भगवान ने व्रत कहा है और हिंसादि पाँच पापों से एकदेश निवृत्ति होने का नाम अणुव्रत जानना चाहिए।[3] पापों का परिपूर्ण त्याग न करके स्थूल रूप से एकदेश त्याग करना अणुव्रत है।[4]

गृहस्थ यदि इन पाँच अणुव्रतों का पालन करता है तो वह स्वयं तो एक अच्छा नागरिक एवं मानव बनता है तथा अपना जीवन उन्नत बनाता ही है, साथ ही वह आर्थिक दृष्टि से भी अनेकविध लाभों का निमित्त बनता है। यह पाँचों अणुव्रतों से होने वाले आर्थिक लाभों की संक्षेप में चर्चा की जा रही है।

अहिंसाणुव्रत के लाभ

1. वर्तमान में अधिकांशत: फौजदारी मुकदमे किसी के प्रति की गई हिंसात्मक कार्यवाही के फलस्वरूप बनते हैं। यदि व्यक्ति अहिंसाणुव्रत का धारी होगा तो वह मनुष्य तो क्या पशुओं की भी अनावश्यक हिंसा नहीं करेगा। इस अहिंसाणुव्रत का पालन करने से कोर्ट तथा कचहरियों के मुकद्दमों की संख्या में कमी होगी। जिससे अर्थ की बचत होगी और न्यायालयों की भी संख्या कम होगी।
2. अहिंसाणुव्रत का धारी होने से वह असहाय तथा निरीह पशुओं की हिंसा नहीं करेगा। इससे मांसाहारियों की तामसिक वृत्ति नहीं होगी। जिसके कारण अनेक अपराध होते हैं, उसमें भी कभी आयेगी और हिंसक प्रवृत्ति का अभाव होने से मनुष्यों में भी परस्पर हिंसा नहीं होगी।

जिससे हिंसा से होने वाले तोड़-फोड़ आदि आर्थिक नुकसान की बचत होगी।

3. अहिंसाणुव्रत का धारी होने से, देश में अहिंसात्मक वातावरण होगा, जिससे देश की आन्तरिक सुरक्षा हेतु होने वाले खर्च में बचत होगी, जिससे अर्थ का व्यय नहीं होगा।
4. अहिंसात्मक वातावरण होने से अनावश्यक पेड़-पौधों की कटाई बन्द हो जाएगी। जिससे हर साल नये पौधों को लगाना और उनकी सुरक्षा में होने वाले खर्च में कमी आयेगी।
5. पेड़-पौधों की कटाई रुक जाने से स्वच्छ पर्यावरण उपलब्ध होगा। जिससे रोगों में कमी आयेगी तो हॉस्पिटल पर होने वाले खर्च में भी बचत होगी।
6. अहिंसाणुव्रत का धारी होने से वह अनेक पेड़-पौधों को नहीं काटेगा जिससे जंगल सुरक्षित रहेंगे। जंगलों के सुरक्षित रहने से समय पर वर्षा होगी तथा पानी की कमी से होने वाले आर्थिक नुकसान से बचा जा सकेगा।
7. अहिंसाणुव्रत का धारी होने से मनुष्य अन्याय, भ्रष्टाचार, घूस जैसे अपराध नहीं करेगा। जिससे आज के युवा वर्ग को अपनी योग्यता के आधार पर रोजगार उपलब्ध होगा और अनावश्यक अर्थ का व्यय नहीं होगा।

सत्याणुव्रत के लाभ

1. सत्याणुव्रत का पालन करने से जनता में सत्य बोलने के कारण न्यायालय में झूठे मुकद्मे नहीं जायेंगे तथा उनकी झूठी गवाहियों का अभाव हो जायेगा। जिससे न्यायालय के मुकदमे में कमी आयेगी और अनावश्यक न्यायालयों का समय बरबाद नहीं होकर, जो वास्तविक मुकदमे हैं वे ही दर्ज होंगे। जिससे सत्यवादी को पूरा न्याय कम समय में मिल जायेगा। जिससे आमजनता और न्यायालय की आर्थिक बचत होगी।
2. लोगों द्वारा सत्याणुव्रत का पालन करने से बाजार में जो ठगी और काला बाजारी के धन्धे हैं वे बन्द हो जायेंगे। जिससे जनता को तो आर्थिक फायदा होगा ही, साथ ही सरकार को भी टैक्स आदि का पूरा आर्थिक लाभ होगा।
3. सत्याणुव्रत का पालन करने से रिश्वतखोरी का अभाव होगा तथा कालेधन में कमी आयेगी, जिससे देश के आर्थिक विकास में बढ़ोतरी होगी।
4. सत्याणुव्रत का पालन करने से व्यक्ति ऑफिस आदि कार्यों में ईमानदारी पूर्वक कार्य करेगा। समय पर पहुँचेगा तथा रिश्वतखोरी बन्द हो जायेगी। जिससे कार्यालयों पर होने वाले अतिरिक्त ड्यूटी पर होने वाले खर्च की बचत होगी और काम समय पर तथा कम समय में हो जायेगा।
5. सत्याणुव्रत का पालन करने पर 'भ्रष्टाचार निरोधक ब्यूरो' आदि संस्थानों की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, जिससे आर्थिक व्यय नहीं होगा।

अचौर्याणुव्रत के लाभ

1. लोगों द्वारा अचौर्याणुव्रत का पालन करने से आम जनता आराम से रहेगी, किसी प्रकार का डर नहीं होगा।
2. अचौर्याणुव्रत का धारी होने से चोरी नहीं करेगा। जिससे न्यायालय मे होने वाले मुकदमों में कमी आयेगी। जिससे आमजनता एवं न्यायालयों के समय और अर्थ की बचत होगी।
3. अचौर्याणुव्रत पालन करने से खाद्य-पदार्थों में मिलावट नहीं की जायेगी। मिलावट का अभाव होने से जनता का स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। जिससे उसमें होने वाले व्यय में कमी आयेगी तथा खाद्य-पदार्थों की जाँच के लिए लगाये गये कर्मचारियों की आवश्यकता न होने से आर्थिक बचत होगी।

4. अचौर्याणुव्रत का पालन करने से कोई अतिचार नहीं लगेगा। अन्यायपूर्वक अर्जन में कमी होगी।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के लाभ

1. ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारी होने से व्यक्ति समस्त माता-बहिनों को, माता-बहिन की दृष्टि से देखता है। जिससे मन में बुरे भाव प्रगट ही नहीं होते हैं। आज महिलाओं के प्रति होने वाले अभद्रतापूर्ण व्यवहार और उस अभद्रतापूर्ण व्यवहार से होने वाली एड्स जैसी बीमारी तथा उसके रोकथाम हेतु होने वाली जाँचों आदि में होने वाले खर्चों से बच सकेंगे।
2. न्यायालय में कम से कम 50 मुकदमे कुशील सेवन से सम्बन्धित होते हैं। जिन पर अनावश्यक खर्च होता है।
3. ब्रह्मचर्य का पालन करने से धर्म की आड़ में होने वाले कुशील से सम्बन्धित अपराधों में कमी आयेगी और इन लोगों की जाँच आदि कार्यों में होने वाले खर्चों में बचत होगी।

अतः ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन आज प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए।

परिग्रह-परिमाण अणुव्रत के लाभ

1. अपरिग्रह व्रत का धारी कम से कम परिग्रह रखता है जिससे दूसरों की ज़रूरतमन्द चीजें सस्ती और सुलभता से प्राप्त होंगी, तो आम जनता के आर्थिक व्यय में कमी होगी।
2. विदेशी चीजों के संग्रह की प्रवृत्ति अणुव्रतधारी के नहीं होने से विदेशों से होने वाले अनावश्यक आयातित वस्तुओं के न भोगने से बचत होगी।
3. अधिकांश लोग अधिक से-अधिक परिग्रह सञ्चय करने की होड़ में अनैतिक तरीके अपनाते हैं। जैसे- रिश्वतखोरी आदि। परिग्रह-परिमाणव्रत से इस प्रकार अनैतिक धनार्जन में कमी आएगी। जिससे आम जनता को आर्थिक लाभ होगा।
4. अधिक परिग्रह न रखने के कारण आम जनता का आर्थिक बजट सुनियोजित हो जायेगा। जिससे अनावश्यक खर्चों की चिन्ता से मुक्ति मिलेगी।
5. अपरिग्रह व्रत का धारी मकान आदि का अधिक परिग्रह नहीं करेगा, जिससे आम जनता को घर/मकान सस्ते दामों में सुलभ हो जायेंगे, जिससे व्यय कम हो जायेगा।
6. अनाज आदि का अधिक संग्रह करने से मकानों में अनाज सड़ता रहता है, जिससे लोगों को प्राप्त नहीं हो पाता तथा दूसरी जगह खरीदने पर अधिक धन खर्च करना पड़ता है।

इस प्रकार पाँचों अणुव्रतों को धारण करने से देश की आय में वृद्धि होगी और आम जनता को किसी भी प्रकार का डर नहीं रहेगा।

सन्दर्भ सूची

1. जैनधर्म में अहिंसा, डॉ. वशिष्ठनारायण सिन्हा, अध्याय-4, पेज, 209
2. तत्त्वार्थसार-श्री मदअमृतचन्द्राचार्य कृत श्लोक-60
3. तत्त्वार्थसार-श्रीमद् अमृतचन्द सूरिकृत श्लोक-61 एकदेशेन विरतिर्विजानीयादणुव्रतम्।।
4. तत्त्वार्थसूत्र, 7/2, देशसर्वतोऽणु महती।

-'अतिथि व्याख्याता' कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार)

- धन की भूख धन से नहीं मिटती, वह सन्तोष से मिटती है।
- देश के नागरिकों को सामूहिक बल से हिंसा का विरोध करना होगा।
- जीवन की गाड़ी में धन का पेट्रोल ही भरते जाओगे और व्रत का जल नहीं होगा तो यात्रा खतरे से खाली नहीं होगी।
- मन बदल जाता है तो जीवन बदलते देर नहीं लगती।

-आचार्यश्री हस्ती

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 337
ISSN 2249-2011

जैन परम्परा में व्याप्त उदारता

डॉ. देव कोठारी

मानव सभ्यता के उदय के साथ-साथ जैन धर्म भी पल्लवित एवं पुष्पित होने लगा। जैनधर्म के पल्लवन की सुदृढ़ आधारशिला आदि एवं प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने रखी। उन्होंने अपने उपदेशों के माध्यम से जिन जीवन-मूल्यों को प्रतिपादित किया, कालान्तर में वे जीवन-मूल्य जैनधर्म की अभिधा से अलंकृत हो गये। इन जीवन-मूल्यों ने जनसाधारण को सुसंस्कृत बनाया तथा मानव को जीवन जीने की कला सिखाई। ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित ये जीवन-मूल्य आगे चलकर क्रमशः जैन परम्परा के रूप में विकसित हुए। जैन परम्परा में विकसित एवं पल्लवित इन जीवन मूल्यों का प्राण तत्त्व है-उदारता। आधारभूत तत्त्व है-उदारता तथा ऊर्जा का स्रोत है-उदारता। **यह उदारता मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण है, आत्म कल्याण की संवाहक है, बहुजन-हिताय की पोषक है, मानव-मानव में मैत्रीभाव जाग्रत करने वाली यह उदारता शिष्ट, सरस, सद्भावी, सौमनस्य एवं सद्व्यवहार को बढ़ावा देने वाली है,** इसमें सकारात्मक सोच है तथा समन्वयात्मक दृष्टि है।

धार्मिक उदारता

ऋषभदेव के बाद के सभी 23 जैन तीर्थंकरों ने उदारता की इस ऊर्जा को जन-जन तक पहुँचाया तथा व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने का भरसक प्रयास किया। जैनधर्म के अन्तिम एवं चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी ने जैनधर्म की इस उदारता को विशिष्ट पहचान दी। उनके काल में धार्मिक क्षेत्र में वैचारिक दृष्टि से काफी मतभेद था। भगवतीसूत्र के सातवें शतक के दसवें उद्देशक में तत्कालीन धार्मिक नेताओं के कई नाम आये हैं, जिनमें कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी उदय, नामोदय, नर्मोदय, अन्यपालक, शैलपालक, शंखपालक तथा सुहस्ती गृहपति आदि के नाम प्रमुख हैं। ये किस दर्शन में विश्वास करते थे, यह तो स्पष्ट नहीं है, लेकिन ये जैनधर्म की श्रमण परम्परा से तथा श्रमण चिन्तन से अवश्य परिचित थे। गणधर गौतम के माध्यम से ये महावीर के पास आये तथा महावीर द्वारा उनकी शंकाओं का समाधान किया गया। फलस्वरूप महावीर की इस धार्मिक उदारता से प्रभावित होकर ये महावीर के पास दीक्षित हो गये।[1] महावीर की धार्मिक उदारता से सम्बन्धित ऐसे और कई उदाहरण है। द्वादशाङ्गी के पाँचवें अङ्ग भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) में ही महावीर के अन्तेवासी रोह अणगार ने तत्कालीन दार्शनिक जगत् में बहुप्रचलित ऐसे कई प्रश्न किये, जिनका महावीर ने सम्यक् उत्तर देकर अपनी स्वाभाविक उदारता का परिचय दिया। इस प्रसङ्ग में रोह अनगार ने एक प्रश्न किया-हे भगवन्! पहले अण्डा है और फिर मुर्गी है या पहले मुर्गी और फिर अण्डा है, यथा-

पुव्विं भंते! अंडए? पच्छा कुक्कड़ी?
पुव्विं कुक्कड़ी? पच्छा अंडए?

महावीर चाहते तो इस प्रश्न को टाल सकते थे, किन्तु उदार दृष्टि अपनाते हुए महावीर ने उत्तर दिया-

एवामेह रोहा! से य अंडए सा उ कुक्कडी, पुव्विं पेते दो वेते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा ..... एयंपि तहेव नेतव्वं जाव सव्वद्धा।[2]

अर्थात् हे रोह! मुर्गी और अण्डा पहले भी हैं और पीछे भी हैं। ये दोनों शाश्वत भाव हैं, अतः इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं है, यही बात अन्य पदार्थों के बारे में भी माननी चाहिए।

इसी तरह महावीर की उदारता के सम्बन्ध में स्कन्दक तापस[3], शिवराजर्षि तापस[4], मुद्गल परिव्राजक[5], तामली तापस[6], पूरण गृहपति[7] आदि के कई प्रसङ्ग भगवतीसूत्र में प्राप्त होते हैं। इनमें जमालि तथा गोशालक का कथानक विशेष प्रसिद्ध है। जमालि को महावीर ने दीक्षित किया था, फिर भी जमालि महावीर के सिद्धान्तों से मतभेद रखता था। उसने कई मिथ्या दावे किये और वह महावीर का विरोधी बन गया, इतना होते हुए भी महावीर ने उसके विरोध में किसी तरह की टिप्पणी नहीं की। यह महावीर की तत्कालीन धार्मिक उदारता का उत्तम व सटीक उदाहरण है।[8]

मंखलिपुत्र गोशालक ने कई बार महावीर से प्रार्थना की कि महावीर उसे अपना शिष्य बना लें। यह जानते हुए भी कि वह महावीर के विचारों से असहमति रखता है, फिर भी महावीर ने गोशालक को अपना शिष्य बना लिया, किन्तु शिष्य होते हुए भी तिलस्तम्भ निष्पत्ति विषय को लेकर महावीर के विचारों पर अश्रद्धा रखने लगा तथा जिनत्व सम्बन्धी विचारों को लेकर भी महावीर से द्वेष रखने लगा, लेकिन महावीर ने अपने अन्य शिष्यों से कहा–

तं मा णं अज्जा! तुब्भं कोइ गोसालं मंखलिपुत्त धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएउ, धम्मियाए पडिसारणयाए पडिसारेउ, धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेउ।[9]

अर्थात् हे आर्यों! आप में से कोई भी मंखलिपुत्र गोशालक के साथ उसके मत के प्रतिकूल कोई भी धर्म सम्बन्धी चर्चा न करें और उसके मत के प्रति तिरस्कार स्वरूप न कहें।

गोशालक के प्रति महावीर का यह सद्व्यवहार महावीर की धार्मिक उदारता और सहिष्णुता को प्रभावी ढंग से स्पष्ट करता है। महावीर को धर्म के प्रसङ्ग में संकीर्णता पसन्द नहीं थी। महावीर गोशालक के क्रोध एवं तेजोलेश्या शक्ति से परिचित थे। क्रोधित होकर गोशालक ने महावीर पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया, किन्तु महावीर ने उस प्रयोग को समभाव से सहा, क्योंकि महावीर धार्मिक विवादों में हिंसा को प्रोत्साहित नहीं करना चाहते थे। जब गोशालक की तेजोलेश्या की शक्ति समाप्त हो गई, तब महावीर ने अपने शिष्यों को गोशालक के साथ वाद-विवाद करने की आज्ञा दे दी। महावीर की धार्मिक उदारता का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

महावीर के समय तेबीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विचारों का भी काफी प्रभाव था। महावीर के परिजन स्वयं पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी थे, किन्तु भगवती सूत्र में महावीर एवं पार्श्वनाथ परम्परा के मध्य दार्शनिक एवं धार्मिक उदारता को लेकर कई बार तत्त्व चर्चाएँ होने का विवरण मिलता है, लेकिन महावीर के अनुयायी श्रावक पार्श्वनाथ परम्परा के साधुओं का उसी प्रकार वन्दन, प्रवचन श्रवण तथा स्वागत-सत्कार करते थे, जैसे वे महावीर का करते थे। **पार्श्वनाथ के साधुओं को जब कभी कोई दार्शनिक या धार्मिक चर्चा करनी होती तो वे चलकर महावीर के पास आते, लेकिन महावीर ने उन्हें कभी निराश नहीं किया, बल्कि पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही उदाहरण देकर वे उनके प्रश्नों के उत्तर दिया करते थे।**[10]

भगवतीसूत्र में ऐसे अनेक प्रसङ्ग आते हैं, जिन प्रसङ्गों में सामान्य गृहस्थ महावीर से कई तरह के धार्मिक प्रश्न करते थे, महावीर उन्हें सटीक उत्तर देते। इस प्रकार के सटीक उत्तर से प्रसन्न होकर वे महावीर के अनुयायी (श्रमण) बन जाते थे।[11] इस सन्दर्भ में ऋषभदत्त[12] तथा सोमिल ब्राह्मण[13] के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार भगवतीसूत्र में वर्णित विभिन्न प्रसङ्गों से यह स्पष्ट होता है कि महावीर धार्मिक उदारता के उस काल में प्रभावी एवं श्रेष्ठ प्रतीक थे।

महावीरकालीन कुछ अन्य धर्म प्रवर्तक भी थे, जिनमें पूरण कश्यप, प्रक्रुध कात्यायन, अजित केशकम्बली, संजय वेलट्ठिपुत्र आदि प्रमुख थे। इनकी अपनी-अपनी मान्यताएँ थी, लेकिन महावीर की धार्मिक उदार दृष्टि के समक्ष ये टिक नहीं सके और

कालान्तर में इनकी धार्मिक मान्यताएँ प्रजा में लोकप्रिय नहीं हो सकीं।

महावीर की यह धार्मिक उदार दृष्टि महावीर के बाद भी लगातार विस्तार पाती गई। यही कारण है कि **जैनधर्म तथा उसकी उदार परम्परा की धार्मिक विचारधारा शंकराचार्य की आलोचनाओं के पश्चात् भी जीवित रहकर विकसित होती रही।**

वैचारिक उदारता : अनेकान्त

महावीर के युग में वैचारिक चिन्तन अलग-अलग कई धाराओं में विभाजित था। हर चिन्तक अपने मत को ही सही मत बताने में लगा हुआ था। उनका मानना था कि वे जो कुछ कह रहे हैं, वही एकमात्र सत्य है। महावीर यह देख-सुनकर आश्चर्यचकित थे कि एक सत्य के इतने अधिक दावेदार कैसे हो सकते हैं? सत्य का स्वरूप तो सदा एक-सा ही रहना चाहिये। महावीर ने अपने काल के ऐसे वातावरण को देखकर अपनी साधना, चिन्तन एवं अनुभव के आधार पर स्पष्ट किया कि **सत्य एकमात्र वही नहीं है, जितना उसे देखा या माना जा रहा है। यह वस्तु के एक गुण का ज्ञान है, वस्तु के अनेक गुण एवं अनेक पर्याय होते हैं,** लेकिन व्यवहार में उसके एक गुण का ही ज्ञान होता है, उसे ही हम समझ पाते हैं, लेकिन दूसरे जो गुण हैं, वे अकथित एवं अदृश्य रह जाते हैं, ऐसी स्थिति में वस्तु का कथन या स्वरूप सापेक्ष रह जाता है। इस प्रकार एक मनुष्य जिस रूप में वस्तु को देख रहा है उसका स्वरूप उतना ही नहीं है। मानव की दृष्टि सीमित है, परन्तु वस्तु का स्वरूप असीम है।[14] चिन्तन की इसी शैली की अभिव्यक्ति का नाम स्याद्वाद है, क्योंकि जानना ज्ञान अथवा चिन्तन का काम है और उस चिन्तन को बोलना या स्पष्ट करना वाणी का काम है। इस तरह चिन्तन की शक्ति अपरिमित है और चिन्तन के प्रतिपादन की शक्ति परिमित है। अत: अनेकान्त और स्याद्वाद का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। महावीर की इसी मान्यता को महावीर के बाद के आचार्यों ने विस्तार दिया है और इस तरह का चिन्तन जैन परम्परा में उदारता के रूप में विकसित हो गया।

उपर्युक्त बात को दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि एक व्यक्ति का नाम विनोद है, किन्तु यह विनोद पिता की अपेक्षा पुत्र है तथा पुत्र की अपेक्षा पिता है। यही व्यक्ति जीजा भी है, पति भी है, मामा और भानजा भी है और मौसा तथा फूफा भी है। विनोद तो एक ही है, किन्तु कोई व्यक्ति विनोद को पुत्र या मामा या पति ही ठहराये तो विनोद का यह सही परिचय नहीं है, क्योंकि महावीर ने कहा है कि ''एक ही धर्म तत्त्व को प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार पृथक् पृथक् रूप में ग्रहण करता है।[15]

इस प्रकार जैनधर्म का यह अनेकान्त चिन्तन उदारवादी चिन्तन है। अगर दैनन्दिनी परम्परा में इस चिन्तन को अपने व्यवहार में या आचरण में उतार लें तो कभी किसी विवाद की सम्भावना ही नहीं रहती है।

आज मानव जीवन में, समाज में, राजनीति, धार्मिक, आर्थिक या अन्य किसी भी विवाद में अनेकान्त स्याद्वाद के चिन्तन को या परम्परा को व्यवहार में उतार लें, तो कभी विवाद या किसी तरह का झगड़ा होने की सम्भावना ही नहीं रहती है। **अनेकान्त की यह उदार दृष्टि व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में शान्ति स्थापित करने का अमोघ अस्त्र है।** सौमनस्य और सद्भाव पैदा करने की मूल्यवान ऊर्जा है।

आर्थिक उदारता : अपरिग्रह

मनुष्य में परिग्रह (संग्रह) करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। संग्रह या परिग्रह की यह प्रवृत्ति कई प्रकार के दु:खों या संकटों को जन्म देती है। महावीर के जीवनकाल में भी तत्कालीन व्यक्तियों में परिग्रह की यह प्रवृत्ति विद्यमान थी, उन्होंने इस प्रवृत्ति से होने वाले विवादों एवं संघर्षों को अपनी आँखों से देखा था। अमीर तथा गरीब की जीवन शैली के अन्तर को देखा था। गरीबों के प्रति अमीरों के व्यवहार को देखा और समझा था। महावीर ने इस प्रवृत्ति के मूल में व्यक्ति के ममत्व को कारण बताया था-**'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।'**[16]

मनुष्य अपनी तथा अपने परिवार की आजीविका चलाने के लिए परिग्रह करता रहता है, वह सोचता है कि मेरा और मेरे परिवार का भरण-पोषण ठीक से हो, अन्य साधन-सुविधाओं की उसे कोई कमी न हो, महावीर ने कहा, कि ऐसी लालसा या ममत्व का कोई अन्त नहीं है। यथा-**'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।'**[17]

अर्थात् इच्छा आकाश के समान अनन्त है, लेकिन वास्तविकता यह है कि-**'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमम्मि लोए अदुवा परत्थ।'**[18]

तात्पर्य यह कि प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में ही अपनी रक्षा कर सकता है। जैन परम्परा में प्रचलित इस मान्यता को मानव स्वीकार कर ले, तो वह स्वयं अपने आपको सुखी रख सकता है, लेकिन वह परिग्रह करता रहता है, करता रहता है। यह **संग्रह वृत्ति ही सब दु:खों की जड़ है।**

आज विश्व में जितनी भी समस्याएँ हैं, उनमें से एक बड़ी समस्या मानव की परिग्रह वृत्ति ही है। इसी परिग्रह वृत्ति ने पूँजीवाद को जन्म दिया। पूँजीवादी शोषण एवं हिंसा ने विश्व को साम्यवाद की ओर धकेला, किन्तु साम्यवाद की कठोरता एवं हिंसक व्यवहार से साम्यवाद भी असफल हो गया, लेकिन जैनधर्म का अपरिग्रह उदारवादी आर्थिक चिन्तन है। इस चिन्तन का मूल है अपने सामर्थ्य से जो अर्जित किया है अथवा परिग्रह किया है, उस **परिग्रह में से अपने पास अपनी जितनी आवश्यकता है उतना रखकर, शेष गरीबों एवं असहायों के मध्य वितरित कर दो,** इस तरह के वितरण का नाम अपरिग्रह है। यह अपरिग्रह विशुद्ध अहिंसात्मक है, इसमें हिंसा लेशमात्र भी नहीं है। महावीर के इस अपरिग्रह को महावीर का समाजवाद कह सकते हैं, ऐसा समाजवाद जो अहिंसक दृष्टि से समाज में समानता और सौमनस्य का वातावरण बनाता है। इस प्रकार लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व महावीर का यह समाजवाद वर्तमान परिवेश में सर्वग्राह्य हो सकता है। अपरिग्रह का यह व्यावहारिक रूप उदारवाद से पूर्ण है। उदारवाद की यह परम्परा जैनधर्म की एक बड़ी उपलब्धि है। अपरिग्रह के इस उदारवादी चिन्तन को आज यदि विश्व अपना ले तो विश्व में जो आर्थिक अशान्ति है, बेकारी है तथा गरीबी है, वह स्वत: समाप्त हो सकती है। आवश्यकता है, जैन परम्परा के अपरिग्रह रूपी इस आर्थिक उदारता को व्यावहारिक रूप से अपनाने की।

अहिंसा का उदारवादी चिन्तन

विश्व में जैनधर्म एक ऐसा धर्म है, जिसने अहिंसा को अपने जीवन-व्यवहार में सर्वोच्च प्राथमिकता देकर उदारता का परिचय दिया है। भगवान महावीर ने इस उदारवादी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-**'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।'**[19] अर्थात् सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। जैनधर्म की इस परम्परा को 'जीओ और जीने दो' कहा जाता है। जैन परम्परा की यह मान्यता है कि-**'मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ।'** विश्व में सभी प्राणियों से मैत्रीभाव रखो, किसी से वैर या शत्रुता के भाव मत रखो। प्राणिमात्र के प्रति यह अहिंसक चिन्तन कितना उदारवादी चिन्तन है? ऐसा स्पष्ट उदारवादी चिन्तन किसी अन्य विचारधारा में नहीं मिलेगा, जो यह कहती है कि-**'अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमंकरी।'**[20]

अर्थात् अहिंसा त्रस और स्थावर सभी प्राणियों का कुशल क्षेम और मंगल करने वाली है। यही नहीं, जैन परम्परा वनस्पति में भी जीव मानती है और उसे तोड़ने, काटने या नष्ट करने में हिंसा मानती है। **जैन परम्परा का यह अहिंसक चिन्तन इतना सूक्ष्म है कि वायुकाय और अप्काय के साथ अविवेकपूर्ण आचरण को भी हिंसा मानती है,** क्योंकि उनमें अदृश्य जीवाणु होते हैं, अविवेकपूर्ण आचरण से उनकी हत्या होती है। इन सबके साथ यदि उदारतापूर्ण आचरण किया जाय, तो वर्तमान में जो प्रदूषण फैल रहा है, उसे रोका जा सकता है, पर्यावरण की शुद्धि हो सकती है।

इस तरह जैन परम्परा में अहिंसा की प्रतिष्ठा

सर्वोपरि है। इसके मूल में जैनधर्म की उदारता है। उदारता ने अहिंसा को नया परिवेश दिया है। वर्तमान में हिंसा, तोड़-फोड़, गुण्डागर्दी, आतंकवाद, बम विस्फोट का बोलबाला है। आणविक हथियारों के निर्माण की होड़ लगी हुई है, **समाज के प्रत्येक वर्ग पर हिंसा की काली छाया मण्डरा रही है। यह जीवन एवं व्यवहार में उदारता की कमी के फलस्वरूप है।** ऐसी स्थिति में अब अहिंसा की ओर झुकाव होना अनिवार्य हो गया है। वस्तुत: जैन परम्परा की अहिंसा उदारता की अहिंसा है। उदारता उसका प्राणतत्त्व है। भूतकाल में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनसे बड़ी-बड़ी समस्याएँ हल हुई है। जैन आचार्यों ने अहिंसा की मौलिक व्याख्या करके समाज में शान्ति एवं उदारता के बीज बोये हैं। यह परम्परा आज भी जैन सन्तों और आचार्यों के प्रवचनों में देखी जा सकती है।

जैन परम्परा की यह मान्यता रही है कि जिस आचरण में हिंसा न हो अथवा कम से कम हिंसा हो, वही उपादेय है। रात्रि भोजन-त्याग, पानी छानकर पीना, मद्य, मांस-मधु का सेवन नहीं करना यह बाह्याचार की परम्परा रही है, लेकिन इसमें द्रव्य और भाव हिंसा दोनों के परिहार का महत्त्व है। अनेकान्त और अपरिग्रह भी अहिंसा के ही रूपान्तर हैं। अहिंसक उदारता की यह दिव्य ज्योति जैन परम्परा का आदर्श रही है। इसी उदारता ने जैनधर्म को ख्याति प्रदान की है।

उदारता से परिपूर्ण जातिवाद

भगवान महावीर के समय में जातिवाद की चर्चा बड़े उग्र रूप से चल रही थी। इस जातिवाद ने तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों को बहुत ज्यादा प्रभावित कर रखा था। उस समय मुख्यत: दो विचारधाराएँ थी। प्रथम ब्राह्मण परम्परा और द्वितीय श्रमण परम्परा। प्रथम ब्राह्मण परम्परा 'जन्मना जाति' की व्यवस्था में विश्वास करती थी। उस ब्राह्मण परम्परा में ब्रह्मा के मुख से जन्म लेने वाले ब्राह्मण, बाहु से जन्म लेने वाले क्षत्रिय, उदर से जन्म लेने वाले वैश्य, पैरों से जन्म लेने वाले शूद्र तथा अन्त में पैदा होने वाले 'अन्त्यज' के रूप में माने जाते थे।[21] इस परम्परा ने महावीर के काल में बड़ा वैचारिक द्वन्द्व मचा रखा था। इस वैचारिक कठोरता ने शूद्रों और अन्त्यजों में हीनता की भावना बढ़ी तथा ब्राह्मण और क्षत्रियों के व्यवहार से इनके साथ छूआछूत की एक नई परम्परा चल पड़ी। इस परम्परा ने धीरे-धीरे इन जातियों में इतनी कठोरता पैदा कर दी कि तत्कालीन वातावरण में ज़हर घुलता गया। श्रमण भगवान महावीर ने इस सामाजिक बुराई को अनुभव किया। इसे सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक एकता में बाधक माना। **महावीर ने जातिवाद की इस बुराई के विरुद्ध क्रान्ति का बिगुल बजाया तथा इसे एक आन्दोलन का रूप देकर इस आन्दोलन को सजीव, व्यापक एवं सार्थक रूप दिया। महावीर ने 'जन्मना जाति' की व्यवस्था का विरोध किया और 'कर्मणा जाति' का शंखनाद किया और कहा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्म, आचरण या वृत्ति के अनुसार होते हैं, यथा-**

कम्मुणा बंभणो होइ, खत्तिओ होइ कम्मुणा।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।[22]

महावीर के इस शंखनाद से 'जन्मना जाति' की मान्यता शिथिल होने लगी और महावीर के इस उदारवादी दृष्टिकोण से 'कर्मणा जाति' की मान्यता लोगों को समझ में आने लगी। जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध में महावीर का यह उदारवादी दृष्टिकोण परम्परा के रूप में क्रमश: विकसित होने लगा। महावीर से पूर्व भी जैनधर्म में जातिवाद की यह उदारता प्रचलित थी। जैन परम्परा में हरिकेशी मुनि एक प्रभावक मुनि थे। उनका दार्शनिक चिन्तन बड़ा व्यापक था, किन्तु वे 'जन्मना जाति' की मान्यता के अनुसार शूद्र जाति के थे। महावीर के काल में मुनि मेतार्य भी शूद्र जाति के थे, लेकिन दोनों जैन परम्परा में दीक्षित थे। जब जन्मना जाति की मान्यता कठोर होने लगी और यह एक बुराई के रूप में समाज में विघटन पैदा करने लगी तब महावीर ने जैनधर्म की प्राचीन उदारवादी जाति-व्यवस्था को नये रूप में प्रस्तुत

किया। महावीर ने कहा–मनुष्य जाति एक है। शूद्र और ब्राह्मण में रूप–रंग और आकृति का कोई भेद नहीं जान पड़ता। दोनों की गर्भाधान विधि और जन्म पद्धति एक है। गाय और भैंस में जैसे जातिकृत भेद है, वैसा शूद्र और ब्राह्मण में नहीं है। इस दृष्टि से मनुष्य–मनुष्य में जो जातिगत भेद है, वह काल्पनिक है। इसी तथ्य को उत्तरपुराण (74.492) में इस प्रकार व्यक्त किया गया है–

वर्णाकृत्यादिभेदानां, देहेस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात्।।
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मात्, अन्यथा परिकल्पते।।

वस्तुतः जाति परिवर्तनशील है। जन्म के समय जिस कुल में जन्म लिया है, बड़ा होने के बाद उसके कर्म से उसकी जाति बदल जाती है। जैन परम्परा में इस जातिवादी व्यवस्था के फलस्वरूप महावीर के पूर्व से लेकर आज तक तथाकथित निम्न जाति के लोगों ने जैनधर्म में दीक्षा ग्रहण कर अपना आत्म–कल्याण किया है। जैन साधु आज भी शुद्ध खान–पान वाली जातियों के यहाँ से आहार ग्रहण करने में संकोच अनुभव नहीं करते हैं। इस प्रकार वर्तमान में जिस तरह जातिवाद का विरोध हो रहा है, उसकी नींव तो जैनधर्म ने पहले ही डाल दी थी। जैनधर्म में जातिवाद के सन्दर्भ में इस उदार दृष्टिकोण और परम्परा के कारण जैन परम्परा में छुआछूत की भावना भी नहीं है। इसी तरह जैन परम्परा में अन्धविश्वास का भी कोई स्थान नहीं है।

नारी स्वातन्त्र्य

नारी स्वतन्त्रता के प्रति प्रारम्भिक काल से ही जैनधर्म का दृष्टिकोण बहुत उदार रहा है। इसिमण्डलत्थू (ऋषिमण्डल स्तवन) में ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दना आदि को वन्दनीय माना गया है।[23] तीर्थंकरों की अधिष्ठायक देवियों के रूप में चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती, सिद्धायिका आदि देवियों को पूजनीय बताया गया है[24] और इनकी स्तुति में परवर्तीकाल में अनेक स्तोत्र रचे गये हैं।

जैनधर्म में पुरुष और नारी में भेद नहीं किया गया है। यही कारण है कि जैनधर्म में उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ महिला योनि से थे और उन्होंने तीर्थंकर पद पाया था। तेबीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में महिलाओं को धार्मिक शिक्षण प्राप्त करने एवं दीक्षित होने का अधिकार था। **पार्श्वनाथ ने भिक्षुणी संघ की स्थापना की थी और साध्वी पुष्पचूला के नेतृत्व में भिक्षुणी संघ में सोलह हजार साध्वियाँ थी।** चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के काल में दासी प्रथा का काफी जोर था। स्त्रियों का व्यापार और क्रय–विक्रय होना सामान्य बात थी। महावीर ने अपने बाल्यकाल में कई प्रकार की दासियों यथा–धाय, क्रीतदासी, कुलदासी, ज्ञातिदासी आदि की सेवा प्राप्त की थी, इस कारण दासियों के जीवन से वे परिचित थे। उस काल में दासियों का रखना वैभव का प्रतीक माना जाता था। महावीर ने इस दासी प्रथा का खुलकर विरोध किया। **महावीर ने नारी जाति को भी आत्म-कल्याण की अधिकारिणी माना और उन्होंने भिक्षुणी संघ की स्थापना की तथा चन्दनबाला को इस भिक्षुणी संघ का नेतृत्व सौंपा।** इस भिक्षुणी संघ में छत्तीस हजार साध्वियाँ थीं, जबकि भिक्षु संघ में चौदह हजार साधु ही थे।

महावीर के काल में भिक्षु संघ में साधुओं की अपेक्षा भिक्षुणी संघ में साध्वियों की संख्या अधिक होना इस बात का सूचक है कि महावीर की नारी के प्रति दृष्टि काफी उदार थी, फलस्वरूप चन्दनबाला, काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, महाकृष्णा आदि क्षत्राणियाँ भी इस भिक्षुणी संघ में दीक्षित थीं तो देवानन्दा आदि ब्राह्मण कन्याएँ भी इस भिक्षुणी संघ में थीं। भगवतीसूत्र में तो इस बात का भी उल्लेख है कि जयन्ती नामक राजकुमारी ने महावीर के पास आकर गम्भीर तात्त्विक एवं धार्मिक चर्चा की थी। यह उदाहरण बताता है कि महावीर ने जैनधर्म संघ की परम्परा में नारी स्वातन्त्र्य की मजबूत नींव रखी। कालान्तर में साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई और आज भी यही स्थिति है। जैनधर्म में नारियों को

गृहस्थ जीवन में भी सम्मान के साथ देखने की परम्परा रही है। इस बात का प्रमाण है कि जैनधर्म प्रारम्भ से ही नारी स्वातन्त्र्य के प्रति उदार रहा है।

भाषायी उदारता

जैनधर्म भाषा के प्रति भी काफी उदार रहा है। जैनधर्म के सभी तीर्थंकरों ने तत्कालीन लोकभाषा को अपने प्रवचनों का आधार बनाया, ताकि आम आदमी को आत्म-कल्याण की बात सहजता के साथ समझाई जा सके। महावीर ने भी इसी परम्परा को आधार बनाकर तत्कालीन बोलचाल की प्राकृत भाषा में उपदेश दिये। वे चाहते तो शिष्ट प्राकृत में उपदेश दे सकते थे, ऐसा करने पर वे अपना पाण्डित्य तो प्रदर्शित कर सकते थे, लेकिन समाज में तत्कालीन जो जड़ता थी उसे नष्टकर धार्मिक क्रान्ति का बीज वपन कर जनसामान्य को अपना सहभागी नहीं बना सकते थे। महावीर के बाद के आचार्यों ने भी इसी भाषायी उदारता का परिचय दिया। वे संस्कृत तथा शिष्ट प्राकृत के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे, लेकिन लोकोपदेश देशज या लोकभाषा में ही देते थे। इस भाषायी उदारता के फलस्वरूप जैन मान्यताओं को जन-जन तक पहुँचाने में काफी सहजता रही।

जैन परम्परा में उदारता की दृष्टि धर्म के प्रचार में भी रही है। धर्माचार्य किसी एक स्थान पर ही स्थिर नहीं रहे, पूरा भारत उनका विचरण क्षेत्र था। क्षेत्र-बन्धन उन्होंने कभी नहीं रखा। इसी तरह जैन परम्परा में दान देने में भी काफी उदारता रही। शास्त्रों में चार प्रकार के दानों की चर्चा आती है, उनमें श्रावकों द्वारा आहार दान, ज्ञान दान, स्वास्थ्य की दृष्टि से औषध दान और अहिंसा की दृष्टि से अभयदान प्रमुख हैं। उदारता के ओर भी कई प्रकार हैं, लेकिन इस आलेख के कलेवर की सीमा को देखते हुए जैन परम्परा में उदारता के स्वरूप को कतिपय शीर्षकों में ही प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त प्रस्तुति के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में उदारता उसे विरासत में प्राप्त हुई है। उदारता उसका प्राणतत्त्व है, उसका आभूषण है, समन्वयात्मक एवं सौमनस्य से परिपूर्ण दृष्टि है तथा जैनधर्म की सञ्जीवनी है। यह ऐसी सञ्जीवनी है जिसने जैनधर्म और उसकी परम्परा को विश्व में अपनी अलग और विशिष्ट पहचान दी है।

सन्दर्भ

1. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र-सम्पादक मधुकर मुनि, ब्यावर सन् 1982 संस्करण, पृष्ठ 202-203
2. वही, प्रथम शतक, उद्देशक-6, पृष्ठ 113-115
3. भगवतीसूत्र, द्वितीय शतक, प्रथम उद्देशक
4. डॉ. जगदीश प्रसाद जैन-जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ 414
5. द्रष्टव्य-डॉ. जे. सी. सिकदर, स्टडीज इन भगवतीसूत्र, पृष्ठ 453-454
6. भगवतीसूत्र - तृतीय शतक, प्रथम उद्देशक
7. भगवतीसूत्र - तृतीय शतक, प्रथम उद्देशक
8. भगवतीसूत्र - नवम शतक, उद्देशक 33
9. भगवतीसूत्र - पन्द्रहवाँ शतक, 66वाँ सूत्र।
10. मधुकर मुनि - व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) द्वितीय शतक, उद्देशक 5, पृष्ठ 218
11. वही - पंचम शतक, उद्देशक - 9, पृष्ठ 517-18
11. भगवतीसूत्र - ग्यारहवाँ शतक - उद्देशक 12
13. वही, बारहवाँ शतक, उद्देशक - 1
14. वही, अठारहवाँ शतक, उद्देशक - 10
15. स्याद्वादमञ्जरी, कारिका - 5
16. सूत्रकृताङ्गसूत्र - 1-15-11
17. दशवैकालिकसूत्र - 6-20
18. उत्तराध्ययनसूत्र - 9-48
19. प्रश्नव्याकरणसूत्र 1-5
20. दशवैकालिक सूत्र 6-16
21. प्रश्नव्याकरण 2-1
22. ऋग्वेद - 10-90-12
23. उत्तराध्ययनसूत्र 33.25
24. द्रष्टव्य - ऋषिमण्डल स्तव - 208
25. प्रवचनसारोद्धार, भाग-1, पृष्ठ 375-76, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सन् 1922

-वरद-पूनम, 8-9, नवलोक कॉलोनी, नवरतन कॉम्पलेक्स, बेदला रोड़, उदयपुर-313001 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 344
ISSN 2249-2011

जीवन में संयम का महत्त्व

डॉ. सुभाष कोठारी

'संयम' भोगों से विरतिपूर्वक आत्म-नियन्त्रण की स्थिति है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो **'संयम'** आत्मा का गुण है, आत्मा का सहज स्वभाव है, यह एक ऐसा चिन्तामणि रत्न कहा जा सकता है जो व्यावहारिक तथा आत्मिक साधना की सफलता के लिए बहुत आवश्यक है। सामान्य रूप से अगर हम संयम को परिभाषित करें तो-

सं = समता

य = यतना

म = मौन

अर्थात् मन में समता, काया में यतना और वाणी में मौन-संयम है।

एक अन्य अर्थ जैन शास्त्रों में प्राप्त होता है-**सम् = सम्यक् रूप से, यम् = नियन्त्रित करना।**

श्रमण भगवान महावीर ने साधना के दो महत्त्वपूर्ण अङ्गों में संयम और तप को माना है, जिसमें संयम को रेखाङ्कित करते हुए कहा-अपने मन-वाणी और शरीर को नियन्त्रण में रखना ही संयम है, अर्थात् मन से अशुभ चिन्तन नहीं करना, वाणी के प्रयोग में सावधानी रखना और शरीर से प्रशस्त कार्यों को सम्पादित करना ही संयम है।

आध्यात्मिक तौर पर भी आचार-संयम, व्यवहार-संयम, भाषा-संयम और विचार-संयम का उल्लेख प्राप्त होता है।

शारीरिक, मानसिक एवं सांसारिक संयम अपनाने से हर कष्ट पीड़ा का शमन होता है तथा यह सुख का कारण बनता है।

आगमों में श्रमणों और श्रावकों के लिए संयम का उल्लेख है। निश्चय से रागादि विकारों की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण सच्चा संयम कहा है, वहीं व्यवहार से 5 इन्द्रियों एवं षट्जीव निकायों की रक्षा करना व्यवहार-संयम माना है, इसी को प्राणी-संयम या इन्द्रिय-संयम भी माना जा सकता है।

जैन आगम स्थानाङ्ग के 10वें स्थान, समवायाङ्ग के 17वें समवाय, उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिकसूत्र संयम के महत्त्व से परिपूरित हैं।

दशवैकालिक की प्रथम गाथा-

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं-अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।।

धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए इस गाथा में संयम के महत्त्व को प्रतिपादित कर दिया है।

देवता भी संयमी के सामने नतमस्तक होते हैं। संयम श्रमणों के लिए कल्पवृक्ष है, साधुता का प्राण है, जिनशासन के लिए आधार स्तम्भ है, जैनधर्म की पहचान संयम से ही है।

संयम से सम्यग्दर्शन पोषित होता है, जीवनरूपी गाड़ी नियन्त्रित होती है, मन पर नियन्त्रण रहता है। संयम के द्वारा ही ईर्ष्या, क्रोध, लोभ और मोह का शमन किया जा सकता है।

संयम से जीवन में हर संकट को टाला जा सकता है, हकीकत तो यह है कि हम सब संयम के महत्त्व को समझते तो हैं, परन्तु जब उसका उपयोग करने का वक्त आता है तब आलस्य-प्रमाद-सुस्ती कर जाते हैं, उसका उपयोग अच्छी तरह नहीं कर पाते, इसलिये हमें अगर सचमुच कर्मयोगी बनना है तो जीवन के हर क्षेत्र में संयम को अपनाना होगा।

विद्वानों ने संयम के महत्त्व को दर्शाने के लिए अलग-अलग व्यक्तियों की अपेक्षा से अलग-अलग व्याख्या की है। शारीरिक संयम के परिचालन के लिए भोजन की मात्रा में कमी, हल्का-भोजन, ज्यादा खट्टा-

मीठा-तीखा खाने से परहेज़, पानी का सीमित उपयोग, कम बोलना, ज्यादा सुनना, विवाद नहीं करना, आलस्य नहीं लेना माना गया है।

इससे शरीर स्वस्थ, प्रसन्न, दीर्घजीवी, नीरोगी, बलवान बनता है। मानसिक एवं आत्मिक संयम का निर्वाह करने पर शत्रुता के भावों का त्याग, काम, क्रोध, मद, अहंकार और लोभवृत्ति से दूरी होगी, छल-कपट, मान-सम्मान, चञ्चलता, प्रशंसा तथा निन्दा से नाता छूटेगा तथा क्षमा, सन्तोष, शान्ति, सरलता के भाव उत्पन्न होने लगेंगे। 'सत्त्वेषु मैत्री' के भावों का विस्तार होगा।

सांसारिक संयम में जादू, टोना, टोटका, भूत-प्रेत, धातु, रसायन, टी.वी., नाटक, पिक्चर से हमारी भावनाएँ दूर होने लगेंगी और हम सांसारिक चिन्ताओं से दूर और मुक्त होने लगेंगे, नकारात्मक भावों में कमी आने लगेगी, रोग-शोक-भय-उद्वेग-सन्ताप नहीं आयेंगे।

सार यह है कि संयम स्वयं को प्यार करने का उपाय है, संयम से भाव, विचार तथा जीवनशैली नियमित बन जाती है। सफल जीवन जीने की राह प्रशस्त होने लगती है, शक्तियों के अपव्यय पर लगाम लग जाती है, संयमी व्यक्ति वरदान, आशीर्वाद एवं शब्दों की सार्थकता सिद्ध कर लेता है। संयमी व्यक्ति जो बोलता है, जो कहता है, जो सोचता है, वह होने लगता है।

इन्द्रिय संयम से मन में आध्यात्मिकता का वास होने लगता है, स्वास्थ्य, आयु, तेज, विद्या, शक्ति, सामर्थ्य बढ़ने लगते हैं।

संयमी व्यक्ति की बुद्धि कुशाग्र और विशद होने लगती है, वाणी मोहक तथा स्मरण शक्ति बढ़ने लगती है। संयमी कभी गलत निर्णय नहीं कर सकता है, इसलिए संयम चरित्र की उत्तम कसौटी माना गया है।

-7, श्रीजीकॉलोनी, न्यू गोपालपुरा, उदयपुर (राज.)

कुछ प्रचलित मान्यताएँ

श्रीमती निधि दिनेश लोढा

सदियों से कुछ मान्यताएँ बहुत प्रचलित हैं, पर क्या वे आज के समय में प्रासङ्गिक हैं?

1. कहा जाता है कि बिल्ली रास्ता काटे तो रुक जाना चाहिए या रास्ता बदल लेना चाहिए, क्योंकि बुरा हो सकता है। पहले के जमाने में न तो उचित सड़कें थीं। लोग घोड़ा गाड़ी से या बैलगाड़ी से एक जगह से दूसरी जगह जाते थे तो कई बार पूरे-पूरे दिन-रात भी लग जाते थे और रास्ते में जंगल वगैरह भी पड़ते थे, तो बिल्ली रास्ते में आई तो रुकने को इसलिए कहते थे कि उसके पीछे कोई और खूँखार जानवर तो नहीं आ रहा, अत: जरा सावधान हो जाये। आज के समय में जहाँ उचित गाड़ियाँ, उचित सड़कें हैं, वहाँ ऐसी अवधारणाओं का कोई औचित्य नहीं लगता है।
2. कहीं बाजार जाते हैं तो हमेशा हमें दही, गुड़ खिलाया जाता है और बड़े लोग कहते थे कि दही, गुड़ खाने के बाद जाने से काम अच्छा होगा। पहले दूध शुद्ध आता था तो दही भी अच्छी गुणवत्ता का होता था। थोड़ा सा दही खाने से मन शान्त होता है और गुड़ से ग्लूकोज मिलता है तो ऊर्जा स्तर बढ़ता है। अब मन शान्त होगा, पर ऊर्जा स्तर ऊँचा होगा तो आप निर्णय सोच समझकर लेते हो तो काम होने के अवसर काफी बढ़ जाते हैं। अत: दही, गुड़ खाने में कोई बुराई नहीं है।

-बी 2402, इण्डियाबुल्स ब्लू, डॉ. ई मोस रोड़, वर्ली नाका, मुम्बई-400018 (महाराष्ट्र)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 346
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली का उदार पक्ष : अन्तरायहीनता

डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन

जैनधर्म के अनुयायी जैन हैं। उनकी विशिष्ट अहिंसक, सत्यमय, अचौर्ययुक्त, अपरिग्रह और शील सम्पन्न जीवन पद्धति को 'जैन जीवनशैली' कहा जाता है। समस्त मनुष्यों में इस जीवन-शैली के प्रति विशेष आकर्षण दिखाई देता है। इसका कारण **'जियो और जीने दो'** की भावना है। इस भावना से सभी को सह अस्तित्व की भावना का परिज्ञान होता है। अपने लिए जिये तो क्या जिये? जीना है तो स्वयं भी जियो और दूसरों को भी जीने दो। उनके जीने का मार्ग प्रशस्त करो। **जैन जीवनशैली की विशेषता यह है कि इसमें व्यक्ति गृहस्थ अवस्था में भी इस बात से डरता है कि मुझ से कोई अनिष्ट न हो जाए।** अनिष्ट का फल मेरे जीवन को संकट में डाल देगा। जिनशासन की स्पष्ट घोषणा है कि-

जं इच्छसि अप्पणत्तो जं च ण इच्छसि अप्पणत्तो।
तं इच्छ परस्स वि य एत्तियगं जिणसासणं।।

जैसा तुम अपने प्रति चाहते हो और जैसा तुम अपने प्रति नहीं चाहते हो; दूसरों के प्रति भी तुम वैसा ही व्यवहार करो, जिनशासन का सार सिर्फ इतना ही है।

हमारे आचार्यों ने किसी के होने वाले कार्य में विघ्न डालने को अन्तराय कहा है। इसे अष्टकर्म के अन्तर्गत समाहित किया है। जो दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य में अन्तराय डालता है, वह अन्तराय कर्म है। इसके पाँच भेद हैं-**'दानलाभभोगोपभोग-वीर्याणाम्'** (तत्त्वार्थसूत्र 8/13)। इनका स्वरूप इस प्रकार है*-

1. **दानान्तराय कर्म**-जिसके उदय से दान देने की इच्छा होने पर भी दान नहीं दे सकें; वह दानान्तराय कर्म है।
2. **लाभान्तराय कर्म**-जिसके उदय से लाभ की इच्छा होने पर भी लाभ नहीं हो पाता; वह लाभान्तराय कर्म है।
3. **भोगान्तराय कर्म**-जिसके उदय से भोगने की इच्छा होने पर भी भोग नहीं कर सकता है; वह भोगान्तराय कर्म है।
4. **उपभोगान्तराय कर्म**-जिसके उदय से उपभोग की इच्छा होने पर भी उपभोग नहीं कर सकता है; वह उपभोगान्तराय कर्म है।
5. **वीर्यान्तराय कर्म**-जिसके उदय से कार्य करने का उत्साह होने पर भी निरुत्साहित हो जाता है; वह वीर्यान्तराय कर्म है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने **'सर्वार्थसिद्धि'** (8/13/759) में कहा है कि दानादि परिणाम के व्याघात का कारण होने से यह संज्ञा मिली है। जिनके उदय से देने की इच्छा करता हुआ भी नहीं देता है, प्राप्त करने की इच्छा रखता हुआ भी नहीं प्राप्त करता है, भोगने की इच्छा करता हुआ भी नहीं भोग सकता है, उपभोग करने की इच्छा करता हुआ भी उपभोग नहीं कर सकता है और उत्साहित होने की इच्छा रखता हुआ भी उत्साहित नहीं होता है। इस प्रकार ये पाँच अन्तराय के भेद हैं।

जीव की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य; ये पाँच लब्धियाँ हैं। अन्तराय कर्म जीव के इन पाँच भावों की अभिव्यक्ति में बाधक कारण है।

अन्तराय कर्म आत्म-विकास में बाधक है। आत्मशक्ति को इसके कारण समुचित फल की प्राप्ति नहीं होती। अत: जैन जीवनशैली में यह बताया जाता है

* अन्तरायकर्म के विशिष्ट स्वरूप हेतु द्रष्टव्य-श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा की पुस्तक 'बन्ध तत्त्व', जो प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर से प्रकाशित है। **-सम्पादक**

कि किसी के मार्ग के अवरोधक मत बनो। कोई अच्छा कार्य करता है तो उसमें बाधा मत डालो। हमारे जैन समाज में प्रतिदिन दान देने की परम्परा है। भले ही वह अल्प हो या अधिक। इससे दान भावना में अन्तर नहीं पड़ता। जैन परम्परा के अनुसार-

हमारे लिए प्रतिदिन है/देने और लेने का दिन
दर्द लेना भले औरों का/दर्द देना नहीं कभी
सर्द राहों में गुजरो तो/वस्त्र कम्बल देना तुम
ठण्ड से ठिठुरते लोगों को/दिया व्यर्थ कभी नहीं
दान देना जरूरी भी है/दान देना सदा सभी
सुखी रहोगे सदा तुम दान से, कल, आज और अभी।

ऐसा माना जाता है कि हमारे पास आज जो भौतिक सम्पदा धनादि है वह पूर्व जन्म में दिये गये दान का परिणाम है और जो असहायता, अभावग्रस्तता, निर्धनता, गरीबी है; वह किसी के द्वारा दान दिये जाने पर उसे मना करने या दान में विघ्न डालने का परिणाम है। यहाँ मुझे एक प्रसङ्ग याद आ रहा है जिसमें एक भिखारी लोगों से भीख की चाह रखने पर भी कहता था कि मैं याचना नहीं कर रहा हूँ, अपितु मैं तो तुम लोगों को शिक्षा दे रहा हूँ कि हे संसार के प्राणियों! कुछ दान दो, कुछ दान दो। नहीं दान देने का परिणाम यह निकला कि मेरी यह स्थिति बन गयी (हाथ में भीख माँगने के लिए कटोरा मिल गया)-

भिक्षुका नैव याचन्ते, बोधयन्ति गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां लोकः, अदानात् फलमीदृशं।।

यदि हमें भोग, उपभोग की यथेष्ट सामग्री प्राप्त नहीं हो रही है, प्रयत्न और पुरुषार्थ करने पर भी समुचित लाभ नहीं मिल रहा है, किसी कार्य के होने से लाभ प्राप्त होगा; यह जानने पर भी अपेक्षित लाभ नहीं मिल रहा है तो स्पष्ट है कि हमने किसी को ऐसा प्राप्त होने में बाधा उत्पन्न की थी। इसलिए हमारे सभी शास्त्र/आगम एवं आचार्य, सन्तगण सदा यही शिक्षा देते हैं कि किसी के कार्य में बाधक मत बनो।

जैन परम्परा में सिखाया जाता है कि तुम अनुकूलता को नहीं जानते, इसलिए प्रतिकूलता से डरते हो। यदि प्रतिकूलताओं में अनुकूलता खोज लेते तो फिर निर्भय हो जाते और तुम्हें डरने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसलिए असावधान नहीं होना है अपितु, ऐसे कार्य करना है जिससे मनुष्य को अपेक्षित लाभ हो। जैन परम्परा का यह सन्देश कि प्राणियों से मित्रता रखो, गुणीजनों से प्रीति करो, विरोधियों के प्रति माध्यस्थ भाव रखो और जो दीन-दुःखी जन हैं उनके प्रति करुणा भाव रखो। इसे सदा क्रियान्वित करो।

जैन परम्परा में गरीबी, रोगग्रस्तता, दुःख का आना अभिशाप नहीं है, अपितु आत्मावलोकन का अवसर है। जो अन्तराय को समझते हैं वे इससे बचते हैं और सद्भावों में वृद्धि करते हैं। वास्तव में मुश्किलों का आना 'पार्ट ऑफ लाइफ' है और उनमें से हँसकर बाहर आना 'आर्ट ऑफ लाइफ' है। जैन जीवन-शैली भी एक कला है। यह औरों को भी अपना बना लेती है। एक बार एक लगभग 10 वर्षीय जैन बालक ने; जो उस समय बिल्कुल गरीब था, उसने अच्छे मन से भावना की कि भगवन् मुझे इतना धन देना कि मैं प्रतिदिन एक हजार रुपये दान कर सकूँ। लेकिन मैं यह धन प्राप्त करने के लिए किसी का दिल नहीं दुःखाऊँगा। कहते हैं कि कालान्तर में वह बालक बड़ा हुआ, उसके साथ संयोग पर संयोग ऐसे जुड़ते रहे कि चहुँओर से धनागम चलता रहा। उन्होंने अपने वचन को याद रखा और प्रतिदिन एक हजार रुपये दान देना प्रारम्भ किया। जब वे लगभग 90 वर्ष की अवस्था में निधन को प्राप्त हुए तब तक उनका प्रतिदिन पाँच लाख रुपये दान देने का नियम बन चुका था। मुम्बई के कैंसर आदि अस्पतालों में यदि कोई गरीब बीमार जाता तो वहाँ के डॉक्टर, कर्मचारी उनका नाम, पता दे देते थे और वे भी यथासम्भव मदद करते थे। यह है जैन जीवनशैली का एक उदाहरण जिससे हमें पता चलता है कि अन्तराय कर्म के उदय में गरीबी आती है, किन्तु अन्तराय नहीं डालूँगा; यह भावना आते ही

धनागम आदि सुख-सुविधाओं के साधन प्राप्त होने लगते हैं।

बहुत से लोगों की सोच यह होती है कि वे अनीति, अन्याय, चोरी, छल-कपट से साधनों की प्राप्ति करें और सुख का जीवन जियें। दूसरी और **जैन जीवनशैली सिखाती है कि तुम दूसरों के जीवन में विघ्न डालकर कभी भी सुख एवं सन्तोष को प्राप्त नहीं करोगे।** सुख और सन्तोष तो तभी मिलेगा जब तुम पुरुषार्थ करोगे। कहा भी है-

पसीने की स्याही से जो लिखते हैं अपने इरादों को,
उनके मुकद्दर के पन्ने कभी कोरे नहीं हुआ करते।।

अहिंसक पुरुषार्थ आवश्यक है। विघ्न डालना तो दूर की बात है, विघ्न से बचना श्रेयस्कर है। जंबूचरियं में आया है-

जं कल्ले कायव्वं अज्जं तं करेह तुरमाणा,
बहुविग्घो य मुहुत्तो मा अवरण्हं पडिक्खेह।।

अर्थात् जो कल करना है उसे आज ही जल्दी से कर डालो। प्रत्येक मुहूर्त बहु विघ्नकारी है अतएव अपराह्न की अपेक्षा मत करो।

हमें अपेक्षित फल या सम्मान नहीं मिले, हमारे अच्छे कार्यों की प्रशंसा नहीं हो। तब भी हमें किसी के कार्य में विघ्न नहीं डालना चाहिए। जैनों के लिए सिखाया जाता है-

तं किं पि साहसं साहसेण साहंति साहससहावा,
जं भाविऊण दिव्वो परंमुहो धुणइ नियसीसं।

अर्थात् साहसपूर्ण स्वभाव वाले पुरुष अपने साहस से कुछ ऐसा साहसमय कार्य सिद्ध कर लेते हैं, कि जिसे देखकर प्रतिकूल भाग्य अपना सिर धुनने लगता है।

हमारे पास समय कम है, आयु अल्प है, साधन सीमित हैं। ऐसे में यदि हम दूसरों के कार्य में अन्तराय ही डालते रहेंगे तो साध्य तो हम से दूर ही जाता रहेगा। हमें **दूसरों के लिए कण्टक नहीं बनना है, अपितु दूसरों के मार्ग में पड़े हुए, उगे हुए काँटों को दूर करना है तभी सफलता मिलेगी।** कहा भी है कि-

काँटों को तू चुनता जा, फूलों की बरसात मिलेगी।
नेक राह पर चलता जा, मञ्ज़िल की सौगात मिलेगी।।

जैन जीवनशैली में सबको पता है कि अभयदान देने का परिणाम भय रहित जीवन का प्राप्त होना है। औषधि दान का परिणाम नीरोग शरीर की प्राप्ति है। ज्ञान दान का प्रतिफल ज्ञान प्राप्त होना है और आहार दान का परिणाम बलशाली शरीर और अल्पभोजी बनना है। इसलिए किसी रोगी के उपचार में, किसी बलशाली के बल में, किसी ज्ञानदान के प्रसङ्ग में, साधु-सन्तों को आहार दान के प्रसंग में कभी भी जैन व्यक्ति अन्तराय या विघ्न उपस्थित नहीं करता। हमारे पुराणों में ऐसे प्रसङ्ग मिलते हैं कि जब पशु-पक्षियों ने आहार दान की अनुमोदना की तो उन्होंने भावी जीवन/भव को सुखमय बनाया। अतः हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि जैन जीवन-शैली का उदार पक्ष अन्तरायहीनता है। अपने जीवन को सभी अन्तराय रहित बनाएँ तो सुख सब जगह आपका स्वागत करेगा।

-महामन्त्री-अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् (रजि.), एल 65, न्यू इन्दिरानगर, बुरहानपुर (म.प्र.)

- धर्म के प्रचार में भी आचार का बल चाहिए।
- जल जीवन है, गृहस्थ को उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।
- श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह धन-सम्पदा का साधन के रूप में उपयोग करे। उसको साध्य समझकर चलेगा तो वह बाधक बनकर उसे मूल साध्य से वञ्चित कर देगी।
- जिसमें श्रद्धा, विवेक और करणी का मेल हो वही श्रावक है।
- आप स्वाध्यायीशील रहें तो आचार की त्रुटियाँ सहज ही दूर हो सकती हैं। **-आचार्यश्री हस्ती**

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 349
ISSN 2249-2011

परिमाण-व्रतों का जीवन में महत्त्व

श्री धर्मचन्द जैन

साधना की दृष्टि से श्रमणधर्म तथा श्रमणोपासक धर्म के रूप में जैन जीवनशैली का दो प्रकार से विभाजन किया गया है। श्रमण या साधु तो सर्वत्यागी संयमी होते हैं। उनके लिए आत्मसाधना ही सर्वोपरि होती है।

महाव्रतों की साधना की अपेक्षा हल्का, सुकर एवं सरल मार्ग है-श्रमणोपासक का। इसमें साधक अपनी शक्ति के अनुसार व्रतों को स्वीकार करता है। व्रतों को स्वीकार करने से पहले उसकी समझ, उसकी धारणा एवं चिन्तनात्मक शक्ति सम्यक् होना आवश्यक है। व्रतों का यथार्थ ज्ञान, उसका विधिपूर्वक ग्रहण और अनुपालन करने से विरति आती है। अर्थात् विधिपूर्वक आत्मसाक्षी और गुरुसाक्षी से व्रतों का ग्रहण, ग्रहण किये व्रतों का बराबर पालन तथा व्रतों का सम्यक् प्रकार से ज्ञान होने पर व्रती बना जाता है। माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य इन तीनों से रहित होकर व्रताचरण करने पर व्रती कहलाते हैं। कहा भी है-निःशल्यो व्रती।

जब तक व्यक्ति अपने अन्तर के स्वरूप से, भीतर के सुख से अनभिज्ञ रहता है, तब तक उसे बाहर के भोगों में सुख प्रतीत होता है। सुख-प्राप्ति के लिए वह बाहर के पदार्थों, साधनों, इन्द्रिय-विषयों को पाने के लिए लालायित हो जाता है। दिन-रात उन्हें पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। जैसे-तैसे प्राप्त करके अपने आपको भाग्यशाली समझता है। किन्तु जब देखता है कि ये भोगों के साधन तो सुख न देकर जड़ता, पराधीनता एवं नीरसता देते हैं तो वह फिर सच्चे सुख को पाने का प्रयास करता है।

सच्चा सुख पाने के लिए सबसे पहले वह सच्चे सुख का स्वरूप समझता है, प्राप्ति का उपाय जानता है, फिर उसके अनुरूप प्रयत्न करने लगता है। जब उसे आत्मिक सुख पर विश्वास होने लगता है, अनुभूति होने लगती है तब उसे भोगों में निस्सारता जान पड़ती है। फिर वह सभी प्रकार के भोगोपभोगों का परिमाण करने को तत्पर होता है। इनमें भी तीन तरह का परिमाण मुख्य है-

1. परिग्रह का परिमाण
2. दिशाओं का परिमाण
3. भोगोपभोग पदार्थों का परिमाण।

1. परिग्रह परिमाण व्रत-शासनेश प्रभु महावीर ने पापों से बचने के लिए व्रतों का विधान किया है। परिग्रह एक प्रकार का मोटा पाप है, क्योंकि वह मानव को पतन के गहरे गर्त में डाल देता है। विवेकी मनुष्य के लिए इससे बचकर चलना अनिवार्य है। परिग्रह आत्मिक-शान्ति एवं विश्व-शान्ति दोनों के लिए ही बाधक एवं घातक है इसीलिए जैन धर्म में आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण में परिग्रह को पाप बताकर अपरिग्रह को व्रतों में स्थान दिया गया है।

भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के अ.4 गाथा 5 में कहा-**वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।** प्रमादी व्यक्ति के लिए धन त्राण रूप-शरण रूप नहीं होता है। व्यक्ति परिग्रह से सुखी नहीं बनता वरन् परिग्रह की मर्यादा से, परिग्रह के त्याग से, वह सुखी बनता है।

इच्छाओं को कम करने से व्यक्ति महापरिग्रह से बच जाता है। जितना-जितना इच्छाओं, कामनाओं का त्याग करता है वह उतना

ही पाप से उपरत होता जाता है। उसकी वस्तुओं के प्रति आसक्ति कम होने लगती है, अत: दु:ख का कोई कारण नहीं रहता। इसके विपरीत महापरिग्रही व्यक्ति वस्तुओं आदि के छूटने पर घोर कष्ट का अनुभव करता है। आर्त्त-रौद्रध्यान आ जाने से वह दुर्गति का अधिकारी बन जाता है।

परिग्रह विरमण व्रत का उद्देश्य दुनियाभर के समस्त पदार्थों की विस्तृत इच्छाओं से अपने-आपको खींचकर एक सीमित दायरे में कर लेना है।

श्रावक के पाँच अणुव्रतों में शान्ति का सञ्चार करने वाले तीन गुणव्रत हैं। गुणव्रतों में सबसे पहला स्थान दिशा-परिमाण व्रत को दिया गया है।

अणुव्रतों में की गई विरति से बाहर जो हिंसादि आस्रवों के द्वार खुले रह जाते हैं उनको अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से बन्द करने में ये गुणव्रत सहायक बनते हैं। जैसे दिशा परिमाण व्रत में छहों दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा कर लेने से पहले जो सर्वत्र हिंसा, असत्य आदि अमुक अंश में खुले थे, वे उक्त मर्यादा के बाहर गमन न करने से बन्द हो जाते हैं।

2. दिशा परिमाण व्रत-लोभवृत्ति और उसके कारण होने वाली हिंसा, असत्य, बेईमानी, चोरी, परिग्रह वृत्ति आदि पापों को, जो कि विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए थे, चाहे वे अणुव्रत के दायरे में ही थे, उनको श्रावक सीमित कर देता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में कहा है-जिस मनुष्य ने दिशापरिमाण व्रत अङ्गीकार कर लिया, उसने बढ़ते हुए लोभ रूपी समुद्र को आगे बढ़ने से रोक दिया। सारांश यह है कि तृष्णा को घटाने के लिए और अपरिग्रह की दृढ़ता के लिए तथा लोभादि के कारण होने वाले हिंसादि दोषों को कम करने के लिए इस व्रत की आवश्यकता है। चित्त की शान्ति के लिए वृत्ति का संकोच होना आवश्यक है जो इस दिशा परिमाण व्रत द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। चित्त की चंचलता से गमनागमन होना स्वाभाविक है। जब दिशाओं में गमनागमन मर्यादित कर दिया जाता है तो सहज ही बहुत से पापों पर रोक लग जाती है।

सुख-शान्ति का मूलाधार सन्तोष है, सत्ता या सम्पत्ति नहीं। सत्ता या सम्पत्ति की अमर्यादित लालसा के कारण सुभूम चक्रवर्ती सेना सहित समुद्र की गोद में समा गया। जिनरक्षित की दुर्गति हुई। अतिलालसा का परिणाम भयंकर होता है। अत: श्रावक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी लालसाओं को सीमित करे और इसके लिए दिशा-परिमाण व्रत को अङ्गीकार करे।

3. उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत-इस व्रत में दैनिक जीवन में उपयोग आने वाली वस्तुओं की मर्यादा की जाती है। विवेकी श्रावक रोजमर्रा की वस्तुओं की एक मर्यादा निश्चित कर लेता है। उसके सिवाय भोगोपभोग के पदार्थों का त्याग कर देता है।

मानव जीवन भोगोपभोग के लिए नहीं है। सही अर्थों में यह मानव जीवन मोक्ष की साधना के लिए है। विवेकी व्यक्ति भोगों के पीछे अन्धा होकर नहीं दौड़ता, अपितु अपनी परिस्थिति, शक्ति, क्षमता आदि का विवेक कर भोगों की मर्यादा करता है।

सामान्यत: सांसारिक पदार्थों का उपभोग दो कारणों से होता है-एक तो शरीर की रक्षा के लिये, दूसरा भोग-विलास के लिए। इन दोनों कारणों में से श्रावक को दूसरे कारण का तो त्याग ही कर देना चाहिए। शरीर-रक्षा के लिए किये जाने वाले उपभोग-परिभोग के सम्बन्ध में मर्यादा की जानी चाहिए।

यदि गहराई से सोचा जाय तो भोगों से जो सुख मिलता है वह विद्युत् की तरह चञ्चल और क्षणिक है, जबकि त्याग का सुख सूर्य के प्रकाश के समान स्थिर होता है।

खुजली को खुजालने की तरह कामजन्य भोग

प्रारम्भ में सुखकर प्रतीत होते हैं, लेकिन उनका परिणाम दुःखकर होता है। कहा भी है-

खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगाम सुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।।

-उत्तराध्ययनसूत्र 14.13

भोगपूर्ण जीवन में कभी सन्तोष और सुख नहीं मिलता। इसीलिए श्रावकों को उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत स्वीकार करके भोगों की मर्यादा करके, सुख-शान्ति एवं सन्तोष युक्त जीवन बिताने का सन्देश दिया है।

यह अनुभूत तथ्य है कि जब मनुष्य भोगों का गुलाम बन जाता है, तब पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर उनके नचाये नाचता रहता है। कामभोग मनुष्य को, उसके सभी शुभ कार्यों को एवं गुणों को ले डूबते हैं। भोगों के अति सेवन से व्यक्ति कर्म-बन्धन कर लेता है और जब उसके फल को भोगने का प्रसङ्ग आता है तब उसे मालूम पड़ता है कि भोगों को मैंने क्या भोगा, भोगों ने मुझे ही अपना शिकार बना लिया है।

भगवान महावीर फरमाते हैं कि अगर तुम्हें सुखी बनना है तो शरीर, इन्द्रियों और मन के विषय-भोगों के गुलाम मत बनो। भोगों के गुलाम बनोगे तो शरीर, इन्द्रियाँ और मन पर आधिपत्य करने के बदले ये तीनों तुम पर आधिपत्य करने लग जायेंगे।

भोगोपभोग का स्वरूप

उपभोग-परिभोग का सामान्य अर्थ होता है- जीवन-निर्वाह के लिए अथवा शरीर-धारण या शरीर-रक्षा के लिए पदार्थों की मर्यादा करना। आवश्यक वृत्तिकार ने उपभोग-परिभोग की परिभाषा इस प्रकार बतलायी है-

उपभोगः सकृद्भोगः स चाशनपानानुलेपनादीनाम्।
परिभोगस्तु पुनर्पुनः भोग्यः,
स चासन-वसन-शयन-वनितादीनाम्।।

अर्थात् जो पदार्थ एक बार सेवन करने के पश्चात् तत्काल या थोड़े समय बाद पुनः सेवन न किया जा सके, उसे उपभोग कहते हैं। जैसे-भोजन, पानी, अंग-विलेपन आदि। इसके विपरीत जो वस्तु एक बार से अधिक बार भी सेवन की जा सकती है, उसे परिभोग कहते हैं। जैसे-आसन, शय्या, वस्त्र, स्त्री आदि।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उपभोग-परिभोग के स्थान पर भोग-उपभोग शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उपभोग-परिभोग का अर्थ 'सम्बोध प्रकरण' के श्रावक व्रताधिकार में इस प्रकार बतलाया है-

उवभोगो विगईओ, तंबोलाहार पुप्फफलमाई।
परिभोगे वत्थसुवण्णमाईयं, इत्थिगेहाइं।।65।।

अर्थात् उपभोग का अर्थ-विगय, तम्बोल, आहार, पुष्प फल आदि हैं। परिभोग का अर्थ-वस्त्र, स्वर्ण आदि के आभूषण, स्त्री, घर आदि है। इसका एक अर्थ यह भी है-जो खान-पान से शरीर के भीतर पहुँचे वह उपभोग और शरीर के ऊपर-बाहर काम में आए वह परिभोग।

जब श्रावक उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत स्वीकार कर लेता है तो उन मर्यादित वस्तुओं के अतिरिक्त सभी वस्तुओं का त्याग हो जाता है। उसकी विरति बहुत बढ़ जाती है। इस व्रत के धारण से पूर्व के सभी व्रतों में विशिष्टता आ जाती है। आत्मिक गुण विकसित होते हैं। जिस भव्य एवं हलुकर्मी आत्मा में अर्थ और काम की तीव्रता दूर होकर मन्दता आती है, वही भोगपभोगों की मर्यादा कर सकता है।

इस व्रत में भोगोपभोग योग्य वस्तुएँ छब्बीस प्रकार की बतलाई गई हैं। इनके आधार पर व्रतधारी उस प्रकार के पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा करता है कि अमुक-अमुक पदार्थों का सेवन न करूँगा। अमुक पदार्थ इतनी बार से अधिक काम में नहीं लूँगा, इतने समय से पूर्व या पश्चात् बनी चीज का उपभोग नहीं करूँगा, अमुक समय पर ही अमुक पदार्थ काम में लूँगा, अमुक पदार्थ इतने समय तक ही काम में लूँगा। इस तरह

से पदार्थों के उपभोग या परिभोग के लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल से मर्यादा करना ही उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है। इसके 26 बोलों में भी 1 से 11 तक के बोल ऐसी चीजों से सम्बन्धित हैं जो शरीर की रक्षा के लिए हैं अथवा जिनसे शरीर में स्फूर्ति या स्वस्थता आती है। इससे आगे के 10 बोलों में ऐसी वस्तुओं की मर्यादा है जो शरीर को शक्ति प्रदान करने वाले हैं। अन्तिम 5 बोल वाहन, उपानत्, शयन, सचित्त और द्रव्यों की मर्यादा से सम्बन्धित हैं। इस व्रत में खाने-पीने की वस्तुओं का परिमाण है ही, उसी के अन्दर काल-सम्बन्धी मर्यादा में रात्रि भोजन त्याग का समावेश हो जाता है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत के दो भेद हैं-1. भोजन-नियन्त्रण और 2. कर्म-नियन्त्रण। भोजन के साथ कर्म (व्यापार-धन्धा, नौकरी आदि आजीविका के साधन) की विरति भी होनी चाहिये।

मर्यादा की कसौटी

श्रावक अपने जीवन में उपभोग-परिभोग की मर्यादा करता है तब उसे मर्यादा के औचित्य को 5 कारणों की कसौटी पर कसकर जाँच लेना चाहिए। आचार्य अकलंक ने 5 कारण इस प्रकार बतलाये हैं-

1. **त्रसवध**-उपभोग-परिभोग वाली वस्तु त्रस जीवों की हिंसा से तैयार नहीं हो।
2. **बहुवध**-जो पदार्थ त्रस जीवों के संहार से तो निष्पन्न नहीं हुआ, किन्तु उसके बनाने में त्रस जीव पैदा हो जाते हो अथवा विपुल स्थावर जीवों की हिंसा होती हो। जैसे-मद्य, शहद आदि।
3. **प्रमाद**-जो प्रमाद बढ़ाते हों, कामोत्तेजक हों, अति गरिष्ठ हों, तामसिक हों, ऐसे पदार्थ त्याज्य हैं।
4. **अनिष्ट**-जो स्वास्थ्य या जीवन के लिए हानिकारक हों, ऐसे मादक पदार्थ तथा धूम्रपान अनिष्ट है।
5. **अनुपसेव्य**-जिसका सेवना घृणित है, जो सेवन योग्य नहीं है। पूर्वजों, शिष्ट पुरुषों ने जिनका उपभोग वर्जनीय माना हो, वे अनुपसेव्य हैं। जैसे-अनजाने फल, अण्डा आदि।

गृहस्थ साधक के भोगोपभोग का उद्देश्य जीवन-निर्वाह का होता है। वह जीने के लिए खाता है, न कि खाने के लिए जीता है। अतएव उसे आहार-विहार आदि में बहुत ही विवेक से काम लेना चाहिए।

'आहार' प्राण-धारण के लिये होता है, न कि स्वाद के लिए। अतएव श्रावक को आहार की सात्त्विकता, आहार की शुद्धि पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है-आहार शुद्ध, सात्त्विक एवं न्याय-प्राप्त हो तो सत्त्वशुद्धि या अन्त:करण की शुद्धि होती है। अन्त:करण की निर्मलता से स्मृति लाभ होता है। आत्म-स्मरण सदा बना रहता है। उससे हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं अर्थात् अज्ञान की गाँठें नष्ट हो जाती हैं।

इस प्रकार उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के कारण गृहस्थ साधक उत्तरोत्तर अन्तर्मुखी होता हुआ मोक्षमार्ग में अग्रसर होता रहता है।

-रजिस्ट्रार, अ.भा. श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, घोड़ों का चौक, जोधपुर (राज.)

- दिल के साफ आइने में ही परमात्मा के दर्शन होते हैं।
- चाहे माला जपें, सामायिक करें या अन्य कुछ करें, सत्य-सदाचार और प्राणिदया को जीवन में उतारना न भूलें। व्यवहार में प्रामाणिक होना मूल गुण होना चाहिए।
- विनीत शिष्य और जातिमान् वृषभ एक बार रास्ते लगने के पश्चात् बिना प्रेरित किये ही चलते रहते हैं।
- मनुष्य का जीवन मिट्टी के पिण्ड के समान है। उसको जैसा संग और शिक्षा मिले वह वैसे रूप में ढल सकता है।

-आचार्यश्री हस्ती

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 353
ISSN 2249-2011

पारिवारिक जीवन में शान्ति एवं सामरस्य

श्री शान्तिलाल बोहरा

मनुष्य जीवन के सात अङ्ग

मानव जीवन को मुख्य रूप से 7 भागों में बाँटा जा सकता है। (1) शारीरिक जीवन (Physical Life) (2) मानसिक जीवन (Emotional Life) (3) पारिवारिक जीवन (Family Life) (4) सामाजिक जीवन (Social Life) (5) आर्थिक जीवन (Financial Life) (6) संवैधानिक जीवन (Constitutional Life) और (7) आध्यात्मिक जीवन (Spritual Life) ये सात विभाग जीवन रूपी इन्द्रधनुष के सात रंग हैं, जो जीवन को सुन्दरता, सौम्यता, प्रशमता और विनम्रता प्रदान करते हैं। सातों विभागों की समरसता से ही जीवन का सर्वाङ्गीण विकास होता है। सातों रंगों के उचित सम्मिश्रण से इन्द्रधनुष शोभायमान होता है। यदि एक रंग भी बेरंग हो जाय तो शोभा एवं श्री से हीनता हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जीवन की शोभा तथा श्री सातों विभागों की सुव्यवस्था पर निर्भर है।

सात अङ्गों की व्यवस्था

जैसे शरीर के लिए सात्त्विक भोजन तथा श्रम आवश्यक हैं, वैसे ही परिवार के लिये सेवा तथा त्याग भाव जरूरी हैं। साथ ही स्वार्थ बुद्धि का त्याग रखना भी जरूरी है। मानसिक शान्ति हेतु प्रभुभक्ति, सामाजिक जीवन हेतु आपसी सहयोग सहित मर्यादा पालन जरूरी है। आर्थिक जीवन में व्यापार अथवा पेशा नीतिपूर्वक चलाना, कानून-व्यवस्था का पालन करना और धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन की उन्नति हेतु तप-नियमों का पालन करते हुए राग-द्वेष को मन्द करना अतिआवश्यक है। इस प्रकार सातों अंगों के सुचारु होने पर ही निज आत्मा की उन्नति तथा पारिवारिक जीवन में सुखमय वातावरण का निर्माण हो सकता है। पारिवारिक जीवन में शान्ति तथा सामरस्य हेतु जैन जीवनशैली का होना अत्यन्त आवश्यक है।

पारिवारिक जीवन की समरसता त्याग एवं नि:स्वार्थ सेवाभावना पर स्थित होती है। स्वजन सदस्यों के समन्वय से परिवार बनता है। परिवार वह संस्था है जिसमें सभी सदस्य एक-दूसरे की सार-सम्भाल करते हैं। जैसे उपाध्याय भगवन्त के गुणों में 'सारए-वारए-धारए' विशेष गुण हैं। अर्थात् उपाध्याय भगवन्त अपने नेश्राय के, अपने संघ के सभी सदस्यों की सार-सम्भाल करते हैं-'सारए।' दोषों का निवारण करने हेतु मर्यादा बाँधते हैं-'वारए।' पुन: सम्यक् स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं-'धारए।' उपाध्याय जी साधक के ज्ञान की एवं साथ ही जीवन आचार की सारणा-वारणा-धारणा करते हैं वैसे ही परिवारजन एक-दूसरे के लिए सारणा-वारणा-धारणा करते हैं। जैनदर्शन के तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि-'परस्परोग्रहो जीवनाम्।' अर्थात् एक-दूसरे के लिए परस्पर सहयोगी बनना या उपकारी बनना जीवों का स्वभाव है। वैसे तो सम्पूर्ण जगत् के जीवों के लिए सहयोगी बनना है, परन्तु विशेष रूप से पारिवारिक जनों के लिए तो सहयोगी बनना ही है।

परिवार एवं जैन दर्शन

जैनधर्म तथा इतिहास पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि भरत क्षेत्र में परिवार-व्यवस्था की नींव आदिदेव श्री ऋषभदेव ने रखी थी। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के जन्म से पूर्व युगलिक काल तथा भोगभूमिज व्यवस्था होने से परिवार की सुदृढ़ व्यवस्था नहीं थी। राजा ऋषभदेव ने आदि युग में असि-मसि-कृषि तथा 64-72 कलाओं का ज्ञान देकर नवयुग की स्थापना की थी। नवयुग (कर्मयुग) के प्रारम्भ के साथ ही एक-दूसरे के प्रति जिम्मेदारी तथा सहयोग भाव का शुभारम्भ हुआ

और परिवार-व्यवस्था को बल मिला। इससे पूर्व एक दम्पती अपने जीवन के अन्तिम छह मास का आयु शेष रहने पर एक युगल को जन्म देता और वह युगल भी मात्र 49 दिन (प्रथम आरा), 64 दिन (द्वितीय आरा) एवं 79 दिन (तृतीय आरा) माता-पिता पर आश्रित रहता था। फिर स्वतन्त्र-स्वनिर्भर हो जाता था। अत: तब परिवार भावना की खास आवश्यकता नहीं थी। दम्पती भी युगल रूप से जन्म लेने वाले ही बनते थे। अत: वरण करके पति-पत्नी स्वीकार रूप विवाह-पद्धति भी नहीं थी। ऋषभदेव (ऋषभकुमार) ने प्रथम बार विवाह-व्यवस्था को प्रारम्भ किया। राजा ऋषभ के 100 पुत्रों, दो पुत्रियों तथा दो पत्नियों सहित सुगठित परिवार था। परिवार में एक-दूसरे के प्रति मान-सम्मान, सेवा, सहयोग तथा जिम्मेदारी से समरसता पैदा होती है।

जैन जीवनशैली एवं परिवार-भावना

जैन जीवनशैली का आधार है त्याग एवं सेवा। त्याग एवं सेवामय जीवन ही जैन जीवनशैली है। जहाँ त्याग भाव होता है, वहाँ स्वार्थ दूर रहता है। जहाँ सेवा भाव होता है, वहाँ आदरशीलता और विनयभाव बढ़ता है। आचार्य हेमचन्द्रसूरि जी ने योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश के श्लोक 47 से 56 तक गृहस्थ धर्म अर्थात् परिवार भावना से सम्बन्धी अनेक बोलों का वर्णन किया है। सम्पूर्ण जीवन शैली हेतु मार्गानुसारी के 35 बोल बताये हैं उनमें से कुछ बोल तो पूर्णरूपेण पारिवारिक समरसता के ही हेतुभूत हैं। जैसे-**तीसरा बोल**-अपने कुल एवं शील में समानता वाले एवं भिन्न गोत्रीय परिवार में विवाह सम्बन्ध करे। जहाँ कुल एवं शील की अर्थात् जीवन-व्यवहार की समानता रहती है वहीं पर दाम्पत्य जीवन सहज सरस निभता है। अत: कहा है-

कुलशीलसमै: सार्द्धं, कृतोद्वाहोन्यगोत्रजै:।।

योगशास्त्र, 1/47

योगशास्त्र में आदर्श घर की व्यवस्था का भी संकेत किया है। मार्गानुसारी के 7वें, 8वें बोल में बताया है।

अनतिव्यक्तगुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मिके।
अनेकनिर्गमद्वार-विवर्जित-निकेतन:।।

योगशास्त्र, 1/49

घर सुरक्षित हो तथा सुरक्षित स्थान पर हो तभी व्यक्ति शान्तिपूर्वक व्यापार आदि कार्यों से बाहर जा सकता है और पीछे भी महिला तथा बालवर्ग सहजता से आश्वस्त होकर रह सकते हैं। सुरक्षित निवास स्थान जीवन-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग होता है। शान्तिमय जीवन जीने में सहयोगी होता है।

माता-पिता की सेवा एवं कर्त्तव्य भावना

माता-पित्रोश्च पूजक:।।50।।
पूजक: पोष्यपोषक:।।54।।

माता-पिता के प्रति पूज्य भाव, अहोभाव रखे एवं सेवा करे। ऐसा करने से परिवार में सुदृढ़ता आती है। अगली युवा पीढ़ी इससे शिक्षा लेकर सेवाभावी बनती है और ज़िम्मेदारी निभाने को धर्म मानती है। बड़ों की सेवा करना और छोटों के प्रति कर्त्तव्य निभाना, ताकि घर में प्रेमभाव की सरिता बहती रहे। प्रेम-शून्य गृहस्थ जीवन नीरस तथा भारभूत हो जाता है।

कर्त्तव्य भावना का महत्त्व है कि बड़ों की आज्ञा को आदरपूर्वक स्वीकार किया जाय और उनको मानसिक सुख तथा शान्ति अनुभव कराई जाये। उपासकदशाङ्गसूत्र में आनन्द श्रमणोपासक के वर्णन में बताया गया है कि जब आनन्द श्रावक निवृत्ति की ओर अग्रसर होते हैं और घर-परिवार की जिम्मेदारी अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपते हैं तब ज्येष्ठ पुत्र पूर्ण मनोभाव के साथ पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके पूरे परिवार को सुव्यवस्था प्रदान करने की प्रतिज्ञा करके अपनी जिम्मेदारी का पालन करते हैं।

तए णं जेट्ठपुत्ते आणंदस्स समणोवासगस्स
'तह त्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ।

-उपासकदशाङ्गसूत्र, 1/67

ज्येष्ठ पुत्र-'तहत्ति' शब्द के साथ विनयपूर्वक सुनता है और आज्ञा पालन हेतु प्रतिबद्ध हो जाता है।

आय के अनुसार व्यय

पारिवारिक सुख-शान्ति के मूल में आय एवं व्यय की उचित व्यवस्था अतिआवश्यक है। **पति या पिता की आय से अधिक खर्च करने वाले पत्नी या पुत्र-पौत्र आदि सदस्य अपने परिवार की इज्जत एवं सुव्यवस्था को खतरे में डाल देते हैं।** मात्र अपनी विलासिता और इच्छापूर्ति हेतु आर्थिक व्यवस्था बिगाड़ देते हैं। आर्थिक व्यवस्था के बिगड़ जाने से पारिवारिक सुख-शान्ति तथा सामाजिक प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचती है और जीवन की समरसता नष्ट प्राय: हो जाती है। इसीलिये आचार्य श्री हेमचन्द्रजी ने सुखी जीवन के लिए **'व्ययमायोचित्तं कुर्वन्'** (योगशास्त्र-1/51) का निर्देश फरमाया है।

अप्रतिबन्ध समन्वय

गृहस्थ जीवन के तीन विभाग या पुरुषार्थ बताये गये हैं। 'धर्म-अर्थ-काम' के रूप में जीवन के तीन पुरुषार्थ गृहस्थ जीवन के आधारभूत हैं। धर्म की मर्यादा युक्त अर्थोपार्जन तथा मर्यादित कामनाओं की पूर्ति परिवार-व्यवस्था की आधार भूमि है। परन्तु इन तीनों का आपस में समन्वय आवश्यक है। अर्थात् एक पुरुषार्थ की व्यवस्था से दूसरा पुरुषार्थ अबाधित रहना अनिवार्य है। अन्यथा किसी एक के भी बाधित हो जाने पर पारिवारिक जीवन की समरसता समाप्त हो जाती है। गृहस्थ जीवन के लिये अर्थोपार्जन भी आवश्यक है और पारिवारिकजनों की उचित माँगों की इच्छाओं की पूर्ति भी अनिवार्य है। साथ ही सभी के जीवन में धर्म की मर्यादा रूपी सुरक्षा कवच का बने रहना भी अतिआवश्यक है। अत: **'अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयन्'** की तर्ज पर जीवन-यापन (योगशास्त्र-1/52) करना ही जैन जीवनशैली है। यही जीवनशैली क्रमश: मोक्ष रूप चतुर्थ पुरुषार्थ की ओर अग्रसर करती है।

परिवार की धुरी गृहिणी

सम्पूर्ण परिवार की धुरी गृहिणी होती है। गृहिणी का सुशीला, सुभाषिणी, सुसंस्कृत एवं सेवाभावी होना ही परिवार की सफलता का राज है। उपासकदशाङ्गसूत्र में आनन्द श्रमणोपासक के अध्ययन में धर्मसहायिका शिवानन्दा के स्वभाव का वर्णन करते हुए बताया गया है कि-**'आणंदेण गाहावइणा सद्धिं अणुरत्ता, अविरत्ता, इट्ठे जाव विहरइ।'**-उपासकदशाङ्गसूत्र 1/6

अर्थात् वह शिवानन्दा आनन्द गाथापति के प्रति अनुरागशील थी एवं अविरक्ता थी। कभी पति या परिवार द्वारा प्रतिकूल व्यवहार होने पर भी नाराज नहीं होती थी। टीका में कहा गया है कि-

प्रतिकूलेपि च भर्तरि, किञ्चिदपि रुष्टा न या भवति, यातु।
मृदुभाषिणी च नित्यं, सा अविरक्तेति निर्दिष्टा।।

-पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज

अर्थात् प्रतिकूलता में भी रुष्ट न होना, मन से भी द्वेष या आवेश न करना और सदा मधुरवाणी बोलना ऐसी सहनशीलता होने से ही परिवार में शान्ति तथा समरसता बनी रह सकती है। साथ ही परिवार में सभी सदस्यों का सम्मान भी जरूरी है चाहे स्त्री सदस्य हो चाहे पुरुष सदस्य हो, सबका समान अधिकार है।

उपसंहार

इस प्रकार देखा जा सकता है कि जीवन में त्याग, सेवा, सहनशीलता, सुव्यवस्था, उत्तरदायित्व एवं धर्म भावनायुक्त जैन जीवनशैली से ही परिवार में सुख-शान्ति बनती है और सभी सदस्यों में समरसता व्याप्त रहती है। हम जैन जीवन शैली अपनाकर ही जीवन में सुख-शान्ति ला सकते हैं और उत्तरोत्तर आत्मोत्थान में अग्रसर हो सकते हैं।

शुभम्!!

-द्वारा : श्री कर्नाटक जैन स्वाध्याय संघ (रजि.),
157, हुरियोपेट, बेंगलोर-560053 (कर्नाटक)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 356
ISSN 2249-2011

प्रतिक्रमण और स्वास्थ्य

डॉ. चंचलमल चोरड़िया

प्रतिक्रमण क्या है ?

प्रतिक्रमण स्वयं द्वारा स्वयं के दोषों का निरीक्षण, परीक्षण और समीक्षा की व्यवस्थित प्रक्रिया है। गलती होना मानव का स्वभाव है। उसको स्वीकारना मानवता है। प्रतिक्रमण गलती को गलती मानने, जानने और छोड़ने का पुरुषार्थ है। गलती को गलती मानने से भविष्य में पुन: गलतियाँ होने की सम्भावनाएँ कम रहती हैं। गलती को गलती न मानने वाला अन्दर ही अन्दर भयभीत, तनावग्रस्त एवं दु:खी रहता है। क्रोध एवं चिड़चिड़ेपन से लीवर और गालब्लेडर, भय से गुर्दे एवं मूत्राशय, तनाव एवं चिन्ता से तिल्ली, पेंक्रियाज और आमाशय तथा अधीरता एवं आवेग से हृदय एवं छोटी आँत तथा दु:ख से फेफड़े एवं बड़ी आँत की क्षमता घटती है।

स्वस्थ कौन एवं स्वास्थ्य क्या ?

स्वस्थ का अर्थ होता है स्व में स्थित होना अर्थात् स्वयं पर स्वयं का नियन्त्रण। स्वास्थ्य का अर्थ है रोगमुक्त जीवन। स्वास्थ्य तन, मन और आत्मोत्साह के समन्वय का नाम है अर्थात् शरीर, मन और आत्मा तीनों जब ताल से ताल मिलाकर कार्य करें, शरीर की सारी प्रणालियाँ एवं सभी अवयव सामान्य रूप से स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करें, किसी के कार्य में कोई अवरोध न हो और उनको चलाने में किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता भी न पड़े तब व्यक्ति स्वस्थ होता है। मन, वचन और काया, आत्मा की अभिव्यक्ति के तीन सशक्त माध्यम हैं। आत्मा ही जीवन का आधार होती है। आत्मा की अनुपस्थिति में शरीर, मन और मस्तिष्क का कोई अस्तित्व नहीं होता और न स्वास्थ्य की कोई समस्या होती है। आत्मा के विकार ही रोग के प्रमुख कारण होते हैं। आत्मा के विकार-मुक्त होने से शरीर, मन, वाणी और मस्तिष्क स्वत: स्वस्थ होने लगते हैं।

इस दुनिया में इतने कष्ट नहीं हैं जितने आदमी भोगता है। वह भोगता है अपने अज्ञान के कारण। ज्ञानी के लिये शरीर में समाधान है, प्रकृति में समाधान है, वातावरण में समाधान है, वनस्पति में समाधान है, आहार-पानी-हवा और धूप के सम्यक् उपयोग एवं मन, वचन और काया द्वारा सम्यक् जीवनशैली जीने में समाधान है। समाधान बहुत हैं, किन्तु उस व्यक्ति के लिए कोई समाधान नहीं, जिसमें अज्ञान भरा हो। प्रतिक्रमण उस अज्ञान को दूर करने में सहायक होता है।

प्रतिक्रमण में छह आवश्यकों का स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्त्व

अच्छे स्वास्थ्य के लिए रोग होने के कारणों को जानना एवं उनसे बचने का प्रयास आवश्यक होता है। जो पूर्ण रूप से स्वस्थ हैं उनकी जीवनशैली को समझ उसके अनुरूप प्रेरणा लेना एवं उनसे सम्पर्क रख आवश्यक परामर्श लेना तथा भविष्य में रोग न हों, उस हेतु शरीर की प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाना आवश्यक है।

प्रतिक्रमण के प्रथम सामायिक आवश्यक में कायोत्सर्ग के माध्यम से 99 अतिचारों का सूक्ष्मता से चिन्तन कर अपने दोषों की समीक्षा की जाती है अर्थात् रोग होने के कारणों का निदान किया जाता है। दूसरे चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में, जो सभी रोगों से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुके हैं, उन तीर्थंकरों का आलम्बन सामने रखकर स्तुति करने से स्वस्थ बनने का उपाय समझ में आता है। हमारा पुरुषार्थ मन को चन्द्रमा के समान निर्मल, हृदय को सूर्य के समान तेजस्वी और विचारों में सागर के समान गम्भीरता लाने का होता है। तीसरे वन्दना आवश्यक में तीर्थंकरों के प्रतिनिधि के रूप में वर्तमान में हमारे सामने उपस्थित पञ्च महाव्रतधारी

आत्म-चिकित्सक साधु-साध्वियों से विनयपूर्वक वन्दन कर स्वस्थ रहने का मार्गदर्शन प्राप्त कर आत्मा को विकार मुक्त बनाने के लिए प्रयास किया जाता है। वे ही सच्चे चिकित्सक हैं जो आत्मशुद्धि का उपचार बताते हैं। वन्दना करने से जोड़ों का दर्द होने की सम्भावना कम रहती है। खमासमणों द्वारा नमस्कार मुद्रा में पञ्जों पर बैठने से शरीर का सन्तुलन होता है एवं स्नायु संस्थान स्वस्थ हो जाता है। चतुर्थ आवश्यक प्रतिक्रमण में मन, वचन और काया के योगों से जिन दोषों का सेवन स्वयं किया जाता है, दूसरों से कराया जाता है एवं दूसरों द्वारा किये गये अकरणीय कार्यों का अनुमोदन किया जाता है उन सब दोषों से निवृत्त होने के लिए कृत दोषों की निन्दा, आलोचना करना इस प्रतिक्रमण आवश्यक का उद्देश्य है। इसके लिए 99 अतिचारों एवं 18 पापों में जो-जो अतिक्रमण हुआ है उसकी आलोचना कर पश्चात्ताप किया जाता है। भविष्य में वे दोष पुनः न लगें इस हेतु पुनः संकल्प लिया जाता है। पञ्च परमेष्ठी के पाँचों पदों पर विराजमान पूज्य जनों के गुणों का स्मरण कर वैसा बनने की भावना अभिव्यक्त की जाती है। प्राणिमात्र के साथ प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से किसी भी दुर्व्यवहार हेतु क्षमा माँगकर मैत्री भाव को विकसित किया जाता है, जिससे तनाव, चिन्ता एवं भय दूर होते हैं एवं व्यक्ति को मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। पाँचवें आवश्यक में लगे हुए दोषों के उपचार हेतु कायोत्सर्ग किया जाता है। व्रतों में अतिचार लगना संयम रूप शरीर के घाव-तुल्य होता है। कायोत्सर्ग उन घावों के लिए मरहम का कार्य करता है। अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग को व्रण-चिकित्सा बतलाया गया है। कायोत्सर्ग से आत्मा विशुद्ध होकर शल्य रहित हो जाती है। द्रव्य दृष्टि से भी कायोत्सर्ग से शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। कायोत्सर्ग सभी प्रकार की थकान से मुक्त होने की साधना है। व्यक्ति को अन्दर से हल्कापन अनुभव होने लगता है। चैतन्य की अवस्था का बोध होने से कायोत्सर्ग आत्मा तक पहुँचने का द्वार है। अन्तिम छठे प्रत्याख्यान आवश्यक से व्यक्ति भविष्य में रोग के कारणों से बचने एवं स्वयं की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने हेतु प्रायश्चित्त के रूप में प्रत्याख्यान द्वारा आत्मा का अहित करने वाली इच्छाओं का निरोध करता है। इन्द्रियों के विषय-भोगों से अनासक्त होने का संकल्प लेकर प्राणों का अपव्यय रोकता है। प्रत्याख्यान से आवेग, उद्वेग, उन्माद छूट जाते हैं और मन शान्त होने लगता है।

प्रतिक्रमण के विविध आसनों का स्वास्थ्य से सम्बन्ध

प्रतिक्रमण करते समय विविध पाठों का उच्चारण करते समय अलग-अलग आसन से बैठने अथवा खड़ा होने के पीछे भी स्वास्थ्य का रहस्य समाया हुआ है। प्रत्येक आवश्यक के प्रारम्भ में आज्ञा लेने हेतु की जाने वाली वन्दना से जोड़ों का दर्द कम होता है। माँसपेशियों में लचीलापन बना रहता है। शरीर में ऊर्जा का प्रवाह सन्तुलित होता है एवं शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

ध्यान के आसन में मन के सारे आवेग शान्त हो जाते हैं एवं प्राणों का अपव्यय रुक जाता है। सहनशक्ति बढ़ती है। तन, मन और वाणी शान्त होते हैं।

बायाँ घुटना खड़ा रखकर जो पाठ बोले जाते हैं, उससे हमारा अहंकार शान्त होता है जिससे सकारात्मक सोच विकसित होती है, गुणग्राहकता विकसित होती है।

दाहिना घुटना खड़ा करने से मनोबल दृढ़ होता है एवं लिये गये संकल्पों के पालन के प्रति उत्साह, जोश एवं सजगता आती है। खड़े रहने से प्रमाद में कमी एवं सजगता आती है। शरीर का सन्तुलन बना रहता है।

प्रतिक्रमण के प्रकार एवं उनका स्वास्थ्य से सम्बन्ध

अज्ञान एवं प्रमादवश किए गये वे सारे अकरणीय कार्य जो कषाय बढ़ाते हैं अथवा पाप की प्रवृत्तियाँ जो अशुभ कर्मों का बन्ध कर हमारी आत्मा को विकारी बनाती हैं, बन्धन में डालती हैं एवं हमें रोगी बनाने में सहयोग करती हैं, उनका प्रतिक्रमण करना चाहिए।

अध्यात्म में ऐसी प्रवृत्तियों को आस्रव अथवा पाप कहते हैं तथा स्वास्थ्य की भाषा में ये रोग के मुख्य कारण होते हैं। इन्हें मुख्यतया पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण–सत्य को सत्य मानकर स्वीकार करना, असत्य को असत्य मानकर छोड़ने का सम्यक् पुरुषार्थ करने का संकल्प करना ही मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण होता है। इन मिथ्या धारणाओं का प्रतिक्रमण नहीं हो तो ये रोग का कारण बन जाती हैं। मेरे दु:खों का कारण मैं स्वयं हूँ। मुझे कोई अन्य रोगी या दु:खी नहीं बना सकता। मेरा अज्ञान अथवा अधूरा ज्ञान एवं उसके अनुसार की गई अशुभ प्रवृत्तियाँ ही मेरे समस्त दु:खों एवं रोग की मुख्य कारण हैं। स्वदोषों को स्वीकार करने से व्यक्ति में सहनशीलता एवं धैर्य बढ़ता है। प्रतिकूलता में दूसरों पर दोषारोपण की प्रवृत्ति समाप्त होती है। व्यक्ति स्वयं के प्रति सजग होने लगता है और रोग होने पर उपचार कराने से पूर्व अहिंसक-उपचारों को सर्वाधिक प्राथमिकता देता है। करणीय-अकरणीय का विवेक जागृत होने से मन, वचन और काया की गलत प्रवृत्तियाँ छूटने लगती हैं, जिससे रोग होने की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं और पूर्व की भूलों के परिणामस्वरूप यदि रोग हो भी जाता है तो व्यक्ति अधिक परेशान नहीं होता। उसका संकल्पबल दृढ़ हो जाता है। अनाथी मुनि ने अपने दृढ़ संकल्प से असाध्य रोगों से मुक्ति प्राप्त की। सनतकुमार चक्रवर्ती मुनि अवस्था में अपने रोगों से विचलित नहीं हुए। गजसुकुमालमुनि सिर पर जलते हुए अङ्गारों की वेदना समभाव से सहन कर सके। मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण से शरीर एवं आत्मा का भेद-ज्ञान होने लगता है और सम्यग्दृष्टि स्थिर होती है।

2. अव्रत का प्रतिक्रमण–व्रत से शरीर एवं इन्द्रियाँ संयमित होती हैं। स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण होता है। संयम एवं मर्यादित जीवन ही स्वास्थ्य का मूलाधार होता है। स्वच्छन्दता रोगों का प्रमुख कारण है। अत: जो व्रतों में अपना जीवन जीते हैं वे अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ होते हैं। व्रत मुख्यतया पाँच होते हैं। साधु उनका पूर्ण रूप से (3 करण एवं 3 योग से) पालन करते हैं, जबकि संसारी व्यक्ति उनको आंशिक रूप से पालन करने का संकल्प ले सकता है। अत: साधु के व्रतों को महाव्रत और श्रावकों के व्रतों को अणुव्रत कहा जाता है। पतञ्जलि के अष्टाङ्गयोग में इनको यम कहा गया है। हिंसा नहीं करना, असत्य नहीं बोलना, चोरी अथवा अनैतिकता का आचरण नहीं करना, कुशील-सेवन नहीं करना और परिग्रह नहीं रखना, ये पाँच यम या व्रत हैं। इन व्रतों में जो-जो स्खलनाएँ (दोष लगे हों) हुई हों उनकी अनुप्रेक्षा कर भविष्य में वे दोष पुन: न लगें, इस हेतु संकल्पबद्ध होना अव्रत का प्रतिक्रमण होता है। श्रावक को, क्षेत्र का परिमाण करना, उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की निश्चित सीमा रखना तथा अनावश्यक, अनुपयोगी प्रवृत्तियों से दूर रहना गुणव्रत कहलाते हैं। सामायिक और पौषध की आंशिक अथवा पूर्ण साधना करना, निश्चित स्थान एवं काल तक गमनागमन आदि का त्याग करना तथा पञ्च महाव्रतधारी साधुओं को सुपात्र दान देना श्रावक के चार शिक्षा व्रत कहलाते हैं। इन बारह व्रतों के सम्यक् पालन में जो दोष लगे हैं, वे अव्रत प्रतिक्रमण से दूर हो जाते हैं। व्रतों का पालन ही संयम है। संयम ही जीवन है। संयमित जीवन ही स्वस्थ जीवन का मूलाधार होता है।

हमें छह पर्याप्तियों एवं दस प्राणों का दुरुपयोग न करके संयम करना चाहिए। इन पर संयम करने से रोग उत्पन्न होने की सम्भावना कम हो जाती है।

3. प्रमाद का प्रतिक्रमण–मैंने कितना समय अनावश्यक, अनुपयोगी, व्यर्थ कार्यों में बर्बाद किया। अपनी क्षमताओं का पूर्ण सदुपयोग नहीं किया। आत्मोत्थान के प्रति कितना सजग रहा। इस प्रकार प्रमाद के प्रतिक्रमण से आत्म-जागृति होने लगती है, आत्म-विकार दूर होने लगते हैं। जागृत मालिक के घर में रोग रूपी चोर के प्रवेश की सम्भावना नहीं रहती। रोग

का कारण दूर होते ही स्वास्थ्य प्राप्त होने लगता है।

4. कषाय का प्रतिक्रमण–क्रोध, मान, माया, लोभ के चिन्तन से इन आवेगों के दुष्प्रभावों का बोध होता है। ये आवेग, तनाव, भय, अधीरता, असन्तोष एवं अनावश्यक कामनाओं को पैदा करते हैं जो हमारी वृत्तियों, भावों को प्रभावित करते हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ अपना कार्य बराबर नहीं कर पाती एवं व्यक्ति नकारात्मक सोच एवं मानसिक रोगों का शिकार बन जाता है। कषाय के प्रतिक्रमण से कषायों में मंदता आती है। कर्मों की निर्जरा होने से आत्मा विशुद्ध होने लगती है, मानसिक रोग नहीं होते।

5. अशुभयोग का प्रतिक्रमण–मन, वचन और काया के योगों के चिन्तन से अकरणीय अशुभ प्रवृत्तियाँ कम होने लगती हैं तथा करणीय शुभ प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं। परिणामस्वरूप करणीय कार्य में प्रवृत्ति होने के साथ-साथ अन्य को भी उसकी प्रेरणा देने तथा सम्यक् पुरुषार्थ करने वालों की अनुमोदना करने का सहज मानस बन जाता है। अकरणीय कार्य ही रोगों के मुख्य कारण होते हैं। अतः अशुभ से शुभ में प्रवृत्ति करना स्वास्थ्य को अच्छा बनाने में सहायक होता है। इस प्रकार पाँचों आस्रवों के प्रतिक्रमण द्वारा आत्म-विकारों के दूर होने से व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है।

आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान की सीमाएँ

आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान एवं अधिकांश चिकित्सक बाह्य कारणों से उत्पन्न शरीर में रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए तो प्रयत्नशील रहते हैं, परन्तु मन में उत्पन्न आत्मा को कलुषित करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, राग-द्वेष, असत्य, अनैतिकता, घृणा, चिन्ता, भय, तनाव, असंयम आदि अशुभ प्रवृत्तियों के विकारों की गन्दगी से उत्पन्न रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए न तो उनका ध्यान ही जाता है और न उनके पास इसको दूर करने का कोई सरल उपाय है। ये ही घुन या कीट हैं जो रोगोत्पत्ति का मुख्य कारण बन हमारे दिल, दिमाग और देह को दुर्बल बनाते हैं।

उपसंहार

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि प्रतिक्रमण से कषाय मंद होते हैं, आत्मा की विशुद्धि होती है, भावों में निर्मलता आती है, सकारात्मक सोच विकसित होती है। स्वविवेक एवं स्वदोष-दृष्टि जागृत होने से आचरण में सजगता आती है, परिणाम स्वरूप शरीर में स्थित सभी ऊर्जा-चक्र सक्रिय रहने लगते हैं और अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ आवश्यकतानुसार सन्तुलित अनुपात में स्रावों का सृजन करने लगती हैं, जिससे शरीर, मन, मस्तिष्क और आत्मा ताल से ताल मिलाकर पूर्ण समन्वय से कार्य करने लगते हैं। मानसिक रोगों को पैदा करने वाले प्रमुख कारण क्रोध, भय, तनाव, अधीरता आदि दूर हो जाते हैं, सहनशीलता और रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ने लगती है। इसी कारण श्रावक एवं साधुओं के लिए प्रतिक्रमण को आवश्यक करणीय कहा है। इस प्रकार सही विधि द्वारा भावपूर्वक किया गया प्रतिक्रमण स्वास्थ्य का सरलतम, सहज, सस्ता, स्वावलम्बी, अहिंसक दुष्प्रभावों से रहित, पूर्णतः वैज्ञानिक, प्रभावशाली और निर्दोष उपचार है जिससे न केवल शरीर, अपितु मन एवं आत्मा भी स्वस्थ होते हैं।

-चोरड़िया भवन, जालोरी गेट के बाहर, जोधपुर-

- ब्रह्मचर्य मानव-जीवन का पानी है। जिसका पानी उतर गया वह हीरा मूल्यहीन हो जाता है।
- भला व्यक्ति भी नीच की संगति से कलंकित होता है।
- श्रावक धर्म की साधना के लिए निर्व्यसनी होना प्रथम आवश्यकता है।
- मनुष्य को पर-दुःख दर्शन के समय नवनीत सा कोमल और कर्त्तव्य पालन में वज्रवत् कठोर रहना चाहिए।
- जो लोग भाई-भाई के बीच एवं सम्प्रदायों के बीच दीवाल खड़ी करते हैं, वे सपूत नहीं हैं।-**आचार्यश्री हस्ती**

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 360
ISSN 2249-2011

आहार का विवेक

सुश्री नेहा चोरडिया

आगम में बताया है–

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बंभचेररओ सया।।

उत्तराध्ययनसूत्र के 16वें अध्ययन की इस 8वीं गाथा में वर्णित है–

1. **आहार कैसा हो?**–सात्त्विक हो, अभक्ष्य न हो, न्याय–नीति से अर्जित धन से प्राप्त हो।
2. **आहार कब करें?**–काल में करें अर्थात् दिन में करें
3. **आहार कितना करें?**–जितनी आवश्यकता हो, परिमित भोजन करें।
4. **आहार क्यों करें?**–धर्म के लिए/जीवन यात्रा चलाने के लिए करें।
5. **आहार कैसे करें?**–स्थिरचित्त होकर करें।

जो जीभ के लिए, स्वाद के लिए खाता है वह कर्मबन्ध करता है, वह भोगी है। जो जीवन के चलाने के लिए खाता है वह योगी है।

स्वास्थ्य के लिए आहार का विवेक जरूरी है। आगमवर्णित पाँच बातों का ध्यान रखने पर आत्मा के साथ स्वास्थ्य तो सह उत्पाद की तरह ही प्राप्त होता है। भगवान ने कहीं पर भी शरीर की बात नहीं की, पर आत्मा का ध्यान रखने पर शरीर प्राय: स्वत: ही स्वस्थ रह जाता है।

भगवान की वाणी में द्रव्य की मर्यादा, विगय की मर्यादा एवं ऊनोदरी तप का वर्णन मिलता है। साधना के लिए ये सब बातें आवश्यक हैं जो स्वस्थता भी प्रदान करती हैं। साथ ही अनशन, आयंबिल, एकाशन आदि की साधना भी आवश्यक है। ये तप आध्यात्मिक बल के साथ मनोबल बढ़ाते हैं तथा शरीर शुद्धि का भी कार्य करते हैं।

आहार कैसा हो?

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीए पानी, वैसी होवे वाणी।।

आहार शुद्ध भावों से बना हुआ हो। जो आहार क्रोध में, द्वेष में बना हुआ होता है वह भीतर में वैसा ही परिणमन करता है। होटल में, नौकर द्वारा बनाया हुआ आहार कितनी मात्रा में शुद्ध हो सकता है ? जो नौकर को अपने समान आहार नहीं दे सकता उसे नौकर से आहार नहीं बनवाना चाहिए, क्योंकि उसकी नज़र उस आहार पर पड़ने से आहार भी दूषित हो जाता है।

अत: शुभ भावों से, शुद्ध स्थान पर बनाए हुए भोजन, पानी को ही ग्रहण करना चाहिए।

आहार कब करें?

(1) आहार दिन में करें।
(2) जब भूख लगी हो तभी करें।
(3) नियमित दिनचर्या में नियमित समय पर भूख लगती है, तब आहार करें।
(4) प्रात: 10 से 11:30 बजे के लगभग पित्त का काल होता है, उस समय आहार का पाचन सही ढंग से होता है, अत: उस समय आहार करना लाभप्रद है।

पानी

(1) भोजन के तुरन्त पश्चात् पानी नहीं पीए। भोजन के लगभग एक घण्टे उपरान्त ही पानी पीए अन्यथा जठराग्नि मन्द होती जाएगी एवं भोजन के पाचन में व्यवधान पैदा होने लगेगा।
(2) परिश्रम के पश्चात्, धूप से आने के पश्चात् पानी पसीना सुखाकर ही पीएँ।
(3) भोजन के तुरन्त पश्चात् सौ कदम चलना उचित है।

आहार कितना करें?

(1) भोजन ऊनोदरी पूर्वक (भूख से थोड़ा कम) करें।
(2) भोजन आधा पेट कर, दुगुना पानी पीवे,
तिगुना श्रम, चौगुनी हँसी, वर्ष सौ जीव।
2 भाग आहार+1 भाग पानी+1 भाग वायु के

लिए छोड़ें। आहार पाचन के लिए, पेट का खाली होना आवश्यक है।

आहार कैसे करें ?

(1) आहार नीचे बैठकर, शान्तचित्त से करें। कुर्सी पर बैठकर आहार करने से पाचन क्रिया ठीक-ठीक रहती है। खड़े-खड़े आहार करने से पाचन क्रिया नहींवत् कार्य करने लगती है। अत: बुफे डिनर समाज में फैली एक गलत परम्परा है, इसका दृढ़ता से विरोध होना चाहिए।

(2) आहार करते समय मुख पूर्व या उत्तर दिशा में होना चाहिए।

(3) प्रतिदिन भोजन करने से पूर्व थाली सामने आने पर तीन नवकार का स्मरण कर भावना भाएँ कि यदि कोई भी सन्त-सती पधार जाएँ तो मैं यह भोजन बहराकर सुपात्र दान का लाभ प्राप्त करूँ। अन्तर मन से यह भावना भाएँ।

(4) दही का प्रयोग पहले और चौथे प्रहर में नहीं करना चाहिए तथा रात्रि में भी दही नहीं खाएँ, क्योंकि प्रात: काल कफ का काल होता है और दही से कफ सम्बन्धी विकार बढ़ते हैं। अत: कफ काल में दही नहीं खाएँ। शाम, रात्रि में दही खाने से स्रोतों में अवरोध उत्पन्न होता है।

(5) दूध के साथ फल का प्रयोग नहीं करें। दूध के साथ नमकीन (लवण) का भी प्रयोग पूर्णत: वर्ज्य है। दूध के साथ आँवले का मुरब्बा ले सकते हैं। पपीता शेक आदि आयुर्वेद के सिद्धान्त में वर्जित पदार्थ हैं।

(6) गर्म दूध/चाय के ऊपर ठण्डा पानी पीना बीमारी को बढ़ावा देना है।

(7) उड़द दाल का प्रयोग नवम्बर से फरवरी (हेमंत-शिशिर) के दिनों में ही करें।

(8) आमरस के साथ करेले की सब्जी का प्रयोग नहीं करें।

(9) मौसम के अनुसार, जहाँ जिस क्षेत्र में जो, जब उपजता है, वहाँ उस क्षेत्र में उस समय उसके अलावा धान्य या सब्जियों का प्रयोग न करें।

(10) बसंत ऋतु में पुराने अनाज का ही प्रयोग हो।

(11) भोजन के साथ फल का प्रयोग न करें। फल सलाद की बात अलग है।

(12) दाल और दूध से बनी खीर का प्रयोग भी साथ में न करें।

(13) जितने सीमित द्रव्य एक समय में खाने में रहेंगे उतना ही पाचन ठीक से होगा। अधिक द्रव्य एक साथ खाना बीमारी को बुलाना है।

(14) दूध, दही का प्रयोग साथ में नहीं करें।

(15) विकृति बढ़ाने वाले पदार्थ को विगय कहा है। कभी किसी विगय का त्याग, कभी किसी विगय का त्याग स्वास्थ्य के लिए उपादेय है।

यतना में धर्म समाया हुआ है। जीव रक्षा की भावना भीतर उत्पन्न हुई है तो सही मायने में धर्म जीवन में सधा है। किसी अनुभवी ने कहा-"क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी की पीड़ा जिस दिन हृदय में टीस मारने लगती है उस दिन से सही धर्म की शुरुआत होती है।" यह जीवन पृथ्वीकाय से वनस्पतिकाय तक के जीवों की नेश्राय से पलता है। गृहस्थ केवल बेइन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक की यतना कर सकता है। साधु एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक की यतना कर सकते हैं।

गृहस्थ एकेन्द्रिय की यतना भले ही नहीं कर पाता हो, पर उनके प्रति दिल में गहरी दया के भाव रखते हुए, उनके प्रति कृतज्ञ होकर उनकी हिंसा में अधिकाधिक कमी करे। अनर्थदण्ड से बचते हुए बेइन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय की विशेष यतना करे। अत: कहा है कि जहाँ चार बातों का विवेक होता है उसे चौका कहते हैं-(1) अनाज का विवेक (2) पानी का विवेक (3) चूल्हे का विवेक (4) स्थान का विवेक।

धर्म विवेक, यतना में समाया हुआ है। जीवों की उत्पत्ति होगी तो हिंसा होगी। हिंसा, अयतना कर्मबन्ध का कारण है, अत: जागृति, विवेक, यतना रख जीवों को

अभयदान प्रदान करें, जैसे-

(1) रात्रि में जूठे बर्तन रखने से जीवोत्पत्ति अधिक होती है, अत: रात्रि में जूठे बर्तन न रखें।

(2) **पानी**-अनछना जल न पीएँ। पानी में त्रसकाय के भी जीव होते हैं और वे प्लास्टिक की छलनी से अलग नहीं होते। अत: पानी के लिए मलमल का कपड़ा ही विशेष जरूरी होता है।

(3) **चूल्हे का विवेक**-चूल्हा जलाने से पूर्व जाँचे, पूँजनी-फेरें, कहीं जीव-जन्तु तो नहीं हैं।

श्रम महत्त्वपूर्ण है

हाथ के चलते रहने से हृदय के रोग नहीं होते। पैर के चलते रहने से पेट/नाभि स्वस्थ रहती है। रीढ़ की हड्डी सीधी रखने से मस्तिष्क के रोग नहीं होते। स्वस्थ रहना है तो कम से कम स्वयं का कार्य स्वयं करें। पानी चाहिए तो नौकर से नहीं कहें, स्वयं उठकर पीएँ आदि-आदि स्वयं के कार्य स्वयं कर स्वावलम्बी बनें और स्वस्थ रहें।

कुछ नुस्खे, कुछ आवश्यक बातें

(1) भोजन के बाद मूत्र त्याग करें जिससे नेत्र ज्योति की रक्षा होती है तथा पेट सम्बन्धी बीमारी नहीं होती।

(2) हमारे शरीर के विकार नाखून से बाहर निकलते हैं यदि नाखून पर कोट चढ़ा दिया, पॉलिस कर दी तो वे विकार नहीं निकल पाते, जिस कारण यूरिन इन्फेक्शन आदि बीमारियाँ बढ़ रही हैं। हम इस विज्ञान को जानें और इसकी जगह पर भले ही मेंहदी का प्रयोग करें। मेंहदी शरीर की विकृतियों को बाहर निकालती है। अत: पहले लोग माह में एक बार उत्सव-त्यौहार के निमित्त मेंहदी लगाते थे। जिससे वे स्वस्थ रहते थे।

(3) गले के रोग में मूलैठी चूसें।

(4) छाले/उपाड़ होने पर मुँह में मिश्री चूसें और दही में चीनी डालकर खाएँ।

(5) जुकाम, खाँसी में प्रात: काल पूरा शरीर ढककर रखें, पसीना आते ही जुकाम, खाँसी ठीक हो जाती है।

(6) सूखी खाँसी में मलाई का प्रयोग कर ऊपर से गर्म दूध का सेवन करें।

(7) पित्त बढ़ने पर मिश्री चूसें, सौंफ-मिश्री का पानी उपयोग में लें।

(8) पेट दर्द में धोवन पानी की पट्टी पेट पर लगाएँ।

(9) नाभि टलने पर 30 डिग्री पर पैर ऊपर उठाएँ, हाथ, गर्दन भी 30 डिग्री पर ऊपर उठाएँ।

(10) खून बढ़ाने के लिए गुड़ के पानी का प्रयोग करें।

अनन्त भवों की यात्रा हो चुकी है, अनन्त-अनन्त पुद्गलों का आहार कर लिया, पर तृप्ति नहीं हुई है। शरीर की खुराक का ध्यान रखा है, पर आत्मा की खुराक ज्ञान और ध्यान है। अत: भगवान फरमाते हैं अतिमात्रा में सरस आहार न करें।

शरीर की आसक्ति अज्ञान है, अविद्या है। जितनी शरीर की आसक्ति घटती जाएगी उतने-उतने हम स्वस्थ अर्थात् स्व में स्थित होते चले जाएँगे।

आहार शरीरासक्ति के लिए नहीं अनाहारी पद को प्राप्त करने के लिए करना है। अत: भगवान फरमा रहे हैं- कैसा भी आहार क्यों न हो, कड़वा हो चाहे कषैला हो, मधु एवं घृत समझकर ग्रहण करें। भगवान के प्रसाद को जैसे मन्दिर में लोग श्रद्धा से ग्रहण करते हैं वैसे शरीर की आवश्यकता हेतु आहार ग्रहण करें, न कि स्वादपूर्ति के लिए। समत्व भाव पूर्वक आहार बनाएँ, समत्व भाव पूर्वक आहार ग्रहण करें।

बीमारियाँ तीन प्रकार की होती हैं

(1) दोषज-वात-पित्त-कफ के असन्तुलन से

(2) कर्मज-कर्म (असाता वेदनीय कर्म) के उदय से।

(3) दोष-कर्मज-तीन दोषों के **असन्तुलन** एवं कर्मोदय से। इनसे बचने के लिए वात-पित्त-कफ का असंतुलन न हो इसलिए अपनी प्रकृति के अनुसार आहार ग्रहण करें तथा विरुद्ध आहार से बचें। इसके लिए कम से कम द्रव्य एक समय में लगाएँ और कर्मज से बचने के लिए सब को साता पहुँचाएँ। मन से, वचन से, काया से किसी को भी असाता न पहुँचाएँ। सबके मंगल की भावना, सबके कल्याण की भावना भाएँ।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 363
ISSN 2249-2011

संलेखना-संथारा जैन जीवनशैली का शिखर चरमोत्कर्ष

श्री जितेन्द्र कुमार डागा

प्रभु महावीर की आदेय अनुपम वाणी के आधार पर निर्ग्रन्थ मुनिराज प्रतिपादित करते हैं कि जीव अनादि है, जीव का कोई अन्त नहीं। जीव को न बनाया जा सकता है न जीव का विनाश किया जा सकता है, जो बनाया जा सकता है वह है जीवन। इसी जीवन के निर्माण की कला को धर्म कहा गया। जो धारण किया जाता है वह धर्म है। जिसके धारण से जीव अपने स्वभाव सहजता, सरलता, निश्छलता, आत्मीयता के गुणों का विकास करता है वह है धर्म।

स्थानाङ्गसूत्र में कहा गया **धम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा-सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव।**

अर्थात् चारित्र धर्म के भी दो भेद हैं-अगार धर्म और अनगार धर्म।

किसी भी राह, मार्ग पर वही साधक सफल हो सकता है जिसके हृदय में लक्ष्य सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित हो। मनोरथ या क्या हमें पाना है वह निर्धारित हो। लक्ष्य या मनोरथ स्पष्ट होते हैं तो यात्रा (संयम-तप इत्यादि) कठिन नहीं लगती है।

आगमकारों ने ठाणांगसूत्र के तीसरे अध्ययन में साधु-श्रावक के तीनों मनोरथों का विवेचन करते हुए कहा है कि जो साधक इन्हें नित्य ध्याता है, वही महानिर्जरा महापर्यवसान वाला होता है।

साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका चारों ही तीर्थों का तीसरा मनोरथ एक ही है-कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना, झूषणा से सेवित होकर आहार पानी का त्यागकर, पादपोपगमन नामक अनशनव्रत को धारण करके एवं मृत्यु को न चाहता हुआ विचरण करूँगा। मनोरथ-मन के रथ-लक्ष्य की दिशा जब सुनिश्चित होती है तो कदम-कदम पर जीवन आनन्दमय होता है। इस पथ पर आरूढ़ होकर साधक चिदानन्द-अक्षय आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

संलेखना संथारा को सदैव मरण की कला के रूप में देखा गया है। वस्तुत: जब आगम के पाठों को सन्त भगवन्तों की पीयूष वाणी के द्वारा श्रवण करते हैं एवं श्रुत-सम्पन्न श्रद्धाशील विद्वानों के चिन्तन का स्वाध्याय करते हैं, तो यह सुस्पष्ट होता है कि संलेखना संथारा जैन जीवनशैली का शिखर है-चरमोत्कर्ष है। अक्षय आनन्द का स्रोत है।

इस रहस्य को समझने के लिए हमें जैन जीवनशैली पर एक दृष्टि डालनी होगी।

जैनदर्शन का मुख्य सन्देश है 'जीओ और जीने दो।' प्राय: गर्भ से ही या जन्मघूँटी में ही संस्कारों के साथ अहिंसा-अपरिग्रह इन दोनों सिद्धान्तो को जैन बालकों के रग-रग में विकसित किया जाता है। उन्हें यह बताया जाता है कि सुख भोग में नहीं त्याग में है। सांसारिक सुख जो दिख रहा है, अनुभव में आ रहा है वह सुख नहीं सुखाभास है। उसका प्रतिफल यह होता है कि पर्युषण एवं दस लक्षण पर्व में जहाँ अन्य बालक-बालिका चॉकलेट इत्यादि के रस में डूबे होते हैं वहीं जैन बालक अपने माता-पिता के सामने एकाशन, उपवास, बेले, तेले हेतु अपनी अर्जी रख रहा होता है। माता-पिता उसकी परीक्षा ले रहे होते हैं, मोहवश कहते भी हैं कि तुम अभी अल्पवय हो, ये सब बड़े होकर करना, पर स्वधर्मी अन्य परिजनों की भाँति उसका मन भी त्याग-अपरिग्रह और जीवों को अभय-दान एवं अहिंसा के परिपालन का होता है और वह अन्तत: माता-पिता को राजी कर इस त्यागमार्ग के कुछ अंश को जीवन में स्वीकार करता है। यह जिनधर्मावलम्बियों के घर-घर की कहानी है।

वह आगे बढ़ता है तो सांसारिक शिक्षा-दीक्षा के साथ निर्व्यसनता की आधारशिला के साथ सामायिक स्वाध्याय की प्रेरणा पाता है। दीन-दुःखियों की सेवा अनुकम्पा एवं दया के संस्कार पाता है। कुछ कर्म सिद्धान्तों के रहस्य से अवगत होते हैं। बड़े सरल शब्दों में एवं भजनों के माध्यम उसे यह बता दिया जाता है कि-

जरा कर्म देखकर करिए, इन कर्मों की बहुत बुरी मार है।
नहीं बचा सकेगा परमात्मा, फिर औरों का क्या एतबार है।।

उसे प्रभु महावीर के जीवन के बारे में बताया जाता है कि अनन्त शक्तिमान उस महान आत्मा को भी पूर्व कर्मों के ऋण को उतारने के लिए कानों में कीले ठुकाने पड़े। अपने आराध्य की इस महिमा को सुनकर उसके हृदयस्थल पर यह अंकित हो जाता है कि 'सुख दियां सुख होत है, दुःख दियां दुःख होय।' उसके हृदय में यह अंकित हो जाता है कि सभी जीव जीना चाहते हैं **(सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं)** कोई मरना नहीं चाहता। प्राणी जगत् के प्रति उसमें मैत्री भावना उपजती है। वह जिन धर्मालम्बी अपने कार्यों से छोटे से छोटे प्राणी की भी हिंसा न हो इस बात का पूर्ण ध्यान रखता है।

जीवन का सफ़र आगे बढ़ता है। इस जगत् का सामना होता है जहाँ सम्पत्ति सर्वेश्वर, जायदाद जगदीश्वर होती है। गृहस्थ के पास कौड़ी नहीं तो वह कौड़ी का। इन धारणाओं से उसका साक्षात्कार होता है। उसके संस्कार कहते हैं कि पैसा सब कुछ नहीं है, पर व्यावहारिक जीवन कहता है कि पैसा बहुत कुछ है। इसी से सभी क्षेत्रों में अवसर मिलते हैं। भोगाकांक्षाओं की धाराएँ हृदय-स्थल पर उमड़ती जाती हैं। इसने इतना धन अर्जित कर लिया, उसने यह सामग्री इकट्ठी कर ली, इस क्षेत्र में धन-अर्जन की सम्भावनाएँ बहुत हैं। इन्हीं चर्चाओं से घिरा उसका मन सन्त्रस्त होता है, शंकित होता है, और सामग्री एकत्रित करने की इस दौड़ में बेतहाशा भागने को उन्मुख भी होता है। उसका चित्त स्थिर नहीं रहता, दुविधा में पड़ जाता है।

ऐसे समय में अनुभव के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि सामायिक एवं स्वाध्याय की वह संजीवनी उसे विक्षिप्त होने से बचाती है। एक मुहूर्त्त जब वह वीतराग वाणी का स्वाध्याय करता है तो संसार की नश्वरता का बोध उसे होने लगता है और कर्म सिद्धान्त की जानकारी उसके क्रोध, मान, माया, लोभ को, अनन्तानुबन्धी (Most Lethal) होने के खतरे को निष्फल कर देती है।

प्रामाणिकता के साथ 15 कर्मादानों के व्यापारों से दूर वे श्रावक-श्राविका अपने जीवन को आगे बढ़ाते हैं। उनके समक्ष प्रतिदिन प्रस्ताव आते हैं जिनसे प्रचुर धनार्जन किया जा सकता है, पर वे अपने लोभ (जो कि सर्व कर्मों का पिता कहा जाता है) का संवरण करते हैं।

'सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय' जीवन पद्धति को अपना कर सभी सांसारिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है। इसी बीच अष्टमी चतुर्दशी, पर्युषण पर्व पर विशेष धर्माराधना की ओर अग्रसर होता है। जप, तप इत्यादि के क्षेत्र में कदम बढ़ाता है। कभी एकाशन कभी उपवास-पौषध करता है, यानी वर्ष के 55 दिन उसके त्यागमय जीवन के अङ्ग बन जाते हैं। वह रात्रि भोजन-त्याग, हरी त्याग से लेकर उपवास पौषध का भी दिन हो सकता है। उसे इस त्याग में विश्राम का अनुभव होता है। शान्ति का अनुभव होता है।

स्थानाङ्गसूत्र का चौथा अध्ययन प्रतिपादित करता है कि-

1. श्रमणोपासक निर्ग्रन्थों के दर्शन करता हुआ, उनके धर्मोपदेश सुनकर परम श्रद्धा से पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत तथा नियम-त्याग, पौषधोपवास आदि धारण करता है। जिससे उसके जीवन में नई चेतना, नई स्फूर्ति एवं नया उत्साह भर जाता है। इससे उसे विलक्षण आनन्द की अनुभूति होती है, वह कर्मभार से थोड़ा मुक्त होता है और विश्रान्ति का अनुभव करता है।
2. जब श्रमणोपासक सामायिक स्वाध्याय करता है

तब उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, कुछ क्षणों के लिए कर्मों के भार या गार्हस्थ्य भार से हल्का हो जाता है। श्रमणोपासक चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि तिथियों में अहोरात्र प्रमाण प्रतिपूर्ण पौषध करता है, कुछ क्षणों के लिए दुनियावी धन्धों से हल्का हो जाता है। उसे आनन्द की अनुभूति होती है, उसके लिए वह जीवन का सुन्दर विश्राम-स्थल है। तप-त्याग के साथ किया गया सामायिक-स्वाध्याय का यह उपक्रम बहुत प्रभावशाली होता है। क्योंकि तप से इन्द्रिय-निग्रह होता है और त्याग-तपस्या के धरातल पर किया गया सामायिक स्वाध्याय का अनुष्ठान आत्मानन्द को प्रस्फुटित करने का अमोघ उपाय होता है।

उसे प्रभु महावीर द्वारा प्रतिपादित कर्म-सिद्धान्त पर अटूट विश्वास होता है। उसकी यह श्रद्धा, प्रतीति एवं विश्वास होता है कि जैसे शब्द लहरी है, वैसे ही कर्म लहरी कर्मवर्गणा के रूप में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है और कषाय और योग के निमित्त से कर्मों का जीव के साथ सम्बन्ध हो जाता है। किसी को रुलाने, झुराने, दुःख देने से असातावेदनीय आदि कठोर कर्मों का बन्ध होता है और साता उपजाने से सातावेदनीय पुण्य का बन्ध होता है। पुण्य सहकारी होता है आत्म-साधना में और प्रशस्त योगों से युक्त जीव घातिकर्मों तक को भी नष्ट करने की क्षमता रखता है। **(गरहणाए णं भंते..... सम्यक्त्व पराक्रम)**

कर्मों के विभिन्न भेदों ज्ञानावरणीय आदि 8 कर्मों को जानकर तथा उनके प्रकृति, स्थिति अनुभाग, प्रदेश इत्यादि बन्ध के प्रकारों से होता है और दृढ़ विश्वास होता है कि-(भगवतीसूत्र, शतक 12, उद्देशक 2) इन्द्रियों (श्रोत्रेन्द्रिय आदि) के वश में रहा हुआ जीव आयुष्य को छोड़कर बाकी सात कर्मों की प्रकृति ढीली हो तो गाढ़ी दृढ़ करता है। थोड़े काल की स्थिति हो तो बहुत काल की स्थिति करता है। मन्द रस वाली हो तो तीव्र रस वाली करता है। आयुकर्म बाँधता है अथवा नहीं भी बाँधता। असाता वेदनीय कर्म बार-बार बाँधता है और चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

आहार का नियन्त्रण इन्द्रिय-नियन्त्रण में बहुत उपयोगी होता है। आचार्य श्री विद्यासागरजी म.सा. के शब्दों के कहें तो-

अन्नपान से पेट की भूख
जब शान्त होती है
तब जागती है रसना की भूख
रस का मूल्याकंन
नासा सुवास भागती है
ललित लावण्य की ओर
आँखें भागती हैं श्रवणा उतारती
स्वरों की आरती है मन मस्ताना होता है
सबका कप्ताना होता आविष्कार
कपाट का होता है अन्यथा
फण कुचली घायल नागिन सी
बिल से बाहर नहीं निकलती
ये इन्द्रिय नागिन।

1. आत्म-साधना हेतु इन्द्रिय की चञ्चलता को रोकने के लिए विविध तप किये जाते हैं। उसे इस तथ्य पर श्रद्धा भी होती है और उसके जीवन के अनुभव में यह बात आ चुकी है कि जो व्रत जिनधर्म में प्ररूपित किए गए हैं, उनका दैनिक जीवन में पालन शरीर और मन को निर्मल बनाकर सभी के प्रति आत्मीय भाव, प्रेम, सहभाव को प्रस्फुरित करने वाला है। तप शरीर की विकृतियों को विषय की ओर उन्मुख होने की चेष्टाओं को वश में कर ध्यान एवं आत्मनिरीक्षण में सहायक होता है। जीव को तत्काल पवित्र करता है जिससे आत्मा स्वभाव को लब्ध करने में सक्षम होती है।
2. जहाँ सामायिक-पौषध आत्मावलोकन और तत्त्व ज्ञान में सहायक होते हैं, वहीं तप शरीर एवं मस्तिष्क को निर्मल बनाता है और व्रताराधन का

समय शास्त्र तथा आगमों के अध्ययन अध्यापन में व्यतीत होता है। इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि कतिपय महापुरुष इस मार्ग पर चलते अपने सामर्थ्य-पुरुषार्थ को इतना विकसित कर लेते हैं कि वे निर्ग्रन्थ श्रमण मार्ग पर आरूढ़ हो जाते हैं। कोई बाल्यावस्था में, कोई युवावस्था तो कोई बड़ी उम्र में भी पर हर किसी का इतना सामर्थ्य नहीं हो पाता। कुछ व्यक्ति गृहस्थी में रह रहे हैं और व्रताराधना से श्रमणोपासक हो जाते हैं। वे अब अहिंसा, अपरिग्रह के सिद्धान्त पर आगे बढ़ते हैं, उपभोग-परिभोग को सीमित करते चले जाते हैं। वे ध्यान-साधना आदि में रमणता को बढ़ाते जाते हैं। कई-कई विशिष्ट महापुरुष होते हैं जो श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं को अङ्गीकार करते हैं और साधना मार्ग में तप-त्याग की आधार शिला के साथ बढ़ते जाते हैं। जब उन्हें लगता है कि जीवन का सन्ध्या काल आ चुका है, अब शरीर जिसे इष्ट कान्त प्रिय समझ रहे थे वह भी साथ छोड़ने जा रहा है तब वे सजग हो जाते हैं।

मृत्यु एक अटल सत्य है, पर कोई इसका सामना रोते-रोते आर्त्तध्यान से करते हैं और कोई आने वाली मृत्यु की निर्भयता के साथ पूर्व में ही तैयारी करके। जैन सभी को अभय देने वाला होता है तो स्वयं भी निर्भय होता है। मृत्यु सामने दिखाई देने पर साधना को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए निर्भयतापूर्वक तैयारी का नाम है संलेखना।

वह यह जानता है कि **'कम्माणि बलवंति हि'** (उत्तराध्ययनसूत्र 25वाँ अध्ययन) कर्म बहुत बलवान् हैं। जो आयुष्य कर्म उसने पूर्व भव में बाँधा है, उसका एक क्षण भी बढ़ाया नहीं जा सकता। ग्रन्थकार कहते हैं कि भस्मग्रह होने की वजह से भगवान महावीर से निवेदन किया गया कि इस भस्मग्रह में आपका निर्वाण होता है तो 2,000 वर्ष तक शासन में हानि होगी। आप अपना जीवन एक क्षण के लिए बढ़ा लें, तो प्रभु ने उत्तर दिया यह सम्भव नहीं है।

साधक के सामने सदैव प्रश्न रहा है कि कर्म बलवान कि जीव? कर्म साहित्य जो कि जीव के 14 गुणस्थानों, यानी आत्मा के विकास की अवधारणा पर आधारित है, इस पहेली का समाधान करते हुए कहता है कि एक कर्म की ताकत अधिकतम 70 कोटाकोटि सागर तक जीव को परेशान करने की है। उसके बाद उसे निर्जरित होना ही पड़ता है। हटना ही पड़ता है। जीव इतना शक्तिशाली होते हुए भी कर्मों के अधीन मात्र इस कारण से है कि पूर्व संस्कारों, अनादि के संस्कारों की वजह से इन कर्मों के उदय में कुछ ऐसा कर बैठता है कि दूसरे कर्म आकर चिपक जाते हैं। जैसे मकड़ी अपने जाल में फँसती जाती है।

साधक इस जन्म-मरण की शृङ्खला से कर्मों के विकट जाल से निकलना चाहता है। इस भव, पर भव, भव-भव, को सुधारने की दिशा में आगे बढ़ना चाहता है। उसे यह श्रद्धा है, प्रतीति है, विश्वास है कि पर भव की आयु अगर बँधेगी तो आठ आकर्षों में किसी एक-दो यावत् आठ आकर्ष बन्ध सकती है। बची हुई आयु के $^{1}/_{3}$ में अर्जित जैसे 99 वर्ष की आयु है तो शेष बचे $^{1}/_{3}$ भाग यानी 66 वर्ष की उम्र में पहला आकर्ष, फिर बचे शेष $^{1}/_{3}$ में यानी $66+(33 \times {}^{2}/_{3}) = 66+22=88$ में दूसरा आकर्ष इस भाँति सात आकर्ष होते हैं, अन्तिम आठवाँ आकर्ष शेष अन्तर्मुहूर्त्त में होता है। साधक की भावना होती है कि अगर आयु बँधनी है तो आराधकता के साथ बँधे जिससे भवचक्र सीमित हो जाये। अत: वह जीवन के उस आखिरी पड़ाव में आराधकता हेतु साधना प्रारम्भ करता है। वह जानता है कि To err is human मानव से गलती हो जाती है और कभी यह भी सम्भव है कि उसकी आयु किसी आकर्ष में विराधना में बन्ध गई हो। पर उसे यह श्रद्धा प्रतीति विश्वास होता है कि अन्तिम क्षण तक डोर जीव के हाथ में है। भगवती आराधना 12/2/9 में वर्णन आता है-**मरणे या..... कार्य इत्यस्माभिरुपन्यतम्।**

मरण समय में रत्नत्रय की विराधना करने से

विराधक को दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण करना पड़ता है। परन्तु दीक्षा, शिक्षा आदि काल में विराधना हो गई हो तो भी मरण काल में रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाने से संसार नाश हो जाता है। अत: मरणकाल में रत्नत्रय में परिणति करनी चाहिए। यह समझकर साधक जीवन के सन्ध्याकाल में संलेखना की ओर उन्मुख होता है। संलेखना एवं संथारा को एक दूसरे का पर्यायवाची समझा जाता है। यहाँ तक कहा जाता है कि दिगम्बर मत सल्लेखना कहता है और श्वेताम्बर संथारा। यह जनश्रुति हो सकती है, पर वस्तुस्थिति यह है कि दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में संलेखना और संथारे का वर्णन है। वस्तुत: 'संलेखना' संथारे (भक्त प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, इंगितमरण) की पूर्व भूमिका है। आचाराङ्गसूत्र विमोक्ष नामक आठवें अध्याय के उद्देशक 7 में संलेखना एवं इंगितमरण विषय पर आगमकार उद्घोष करते हैं-

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ से गिलामि खलु अहं इमंसि समए इमं सरीरंग अनुपुव्वेणं परिवहित्तए' से अनुपुव्वेणं, आहारं संवट्टेता-2 कसाए पयणुए किच्चा, समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे।

संलेखना कब और कैसे (1) नीरस आहार लेने से या तपस्या से शरीर अत्यन्त ग्लान हो जाने पर (2) रोग से पीड़ित होने पर (3) आवश्यक क्रिया करने में अक्षम/असमर्थ हो जाने पर (4) उठने-बैठने आदि नित्य क्रियाओं में अक्षम/असमर्थ हो जाने पर।

संलेखना के मुख्य अङ्ग इस प्रकार हैं

1. **आहार का क्रमश:** संक्षेप/संवर्त्तन (अल्पी-करण) यह द्रव्य संलेखना है।
2. **कषायों को कृश करना**-उपशमन करना। साधक यहाँ कषायों को विशेष रूप से कृश करने का प्रयत्न करता है, इस भाव को संलेखना कहते हैं। साधक यह जानता है, श्रद्धा, प्रतीति एवं विश्वास करता है कि वासनाओं का अन्त होते ही जीवन-मृत्यु में भेद नहीं रहता है। साधक निज अनुभव-आत्म अनुभव कर अमर हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है, इसलिए विवेकपूर्वक शरीर से ही लक्ष्य (निज स्वभाव) को पाने के लिए ही साधक को प्रयत्नशील रहना चाहिए। उसके लिए गति तथा कर्म की आवश्यकता नहीं है, बल्कि चेष्टाओं का अन्त कर अचित्त होना अनिवार्य है। इसलिए वह क्रोध, मान, माया और लोभ को कृश करता है। वह वासनाओं, कषायों का अन्त करने का प्रयास करता है।
3. **कायोत्सर्ग**-यह प्रस्तुत आलापक में 'समाहियच्चे।' इस पद से विवक्षित है। अर्चा का अर्थ है शरीर, समाहितार्च का अर्थ है कायगुप्त। अर्चा का दूसरा अर्थ है लेश्या और समाहितार्च का दूसरा अर्थ विशुद्ध लेश्या वाला।
4. **समता**-इसका सूचन फलगावयट्ठी शब्द से प्राप्त है। जैसे दोनों ओर से छिला जाता हुआ काष्ठ का फलक बाहर से तथा भीतर से कृश होता है वैसे ही जिस साधक का तपस्या के द्वारा बाह्य शरीर और आन्तरिक कषाय कृश हो जाते हैं, वह रोष-तोष की सीमा का अतिक्रान्त करता है वह साधक फलगावयट्ठी कहलाता है।

दूसरी सदी में आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित ग्रन्थ रत्नकरण्डक श्रावकाचार में संलेखना के अवसर का वर्णन करते कहा-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च नि:प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहु: सल्लेखनामार्या:।।

अतिवृद्ध या असाध्य रोग हो जाने पर अथवा अप्रतिहार्य उपसर्ग आ पड़ने पर अथवा दुर्भिक्ष आदि के होने पर साधक साम्य भाव पूर्वक अन्तरङ्ग कषायों का सम्यक् प्रकार से दमन करते हुए भोजन आदि का त्याग करके धीरे-धीरे शरीर को कृश करते हुए इसका त्याग कर देते हैं। इसे ही संलेखना या समाधिमरण कहते हैं।

इसी रत्नकरण्डक श्रावकाचार के अगले श्लोक

में कहा गया कि जिस तप करने वाले के तप के अन्त में संन्यास मरण नहीं आया, सो तप निष्फल है। मूक माटी काव्य में आचार्य श्री विद्यासागर म.सा. के अनुसार–

सल्लेखना यानी काया और कषाय को
कृश करना होता है बेटा
काया को कृश करने से
कषाय का दम घुटता है
घुटना ही चाहिए और
काया को मिटाना नहीं
मिटती काया में मिलती माया में
म्लानमुखी और मुदितमुखी
नहीं होना ही सही सल्लेखना है।

चित्त की शान्ति और समत्व भाव के लिए उस श्रद्धाशील साधक को अव्रत, प्रमाद, कषाय, अशुभयोगों से विरति अति आवश्यक है। कषाय का पतला होना, कृश होना, अल्पीकरण होना सल्लेखना का अङ्ग है।

संलेखना का प्राय: अर्थ सम्–लेखन सम् (सम्यक्) प्रकार से लेखन (कषाय या शरीर) कृश किया जाता है। एक परिभाषा जो सुनने को मिली कि संलेखना लिह् धातु से बना है उसका अर्थ है Percieving सम्यक् प्रकार से देखना, लेखन करना' Accounting करना। जो आत्मा के साथ माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्यात्व शल्य है उन शल्यों (काँटे) को देखकर उन्हें निकाल फेंकना। संलेखना संथारे में दोनों की अपनी अपनी महत्ता है, पर संलेखना बिना संथारा अपूर्ण है। संलेखना में प्रायश्चित्त, विनय, स्वाध्याय, ध्यान, अनशन ऊनोदरी, मन, वचन, काया की समाधारणता आदि के माध्यम से कषायों को बिल्कुल पतला कर दिया जाता है।

काल की अपेक्षा संलेखना जघन्य 12 पक्ष की, मध्यम 12 मास की उत्कृष्ट 12 वर्ष की होती है। उत्कृष्ट 12 वर्ष की संलेखना में प्रथम चार वर्ष उपवास बेला, तेला, चौला या पचोला आदि विविध तप करें। पारणे के दिन उद्गम आदि दोष रहित शुद्ध आहार लेवें। अगले चार वर्ष इसी भाँति विविध तप करें, पारणे के दिन विगय रहित आहार लेवें। उसके बाद दो वर्ष एकान्तर उपवास पारणे के दिन आयम्बिल। ग्यारहवें वर्ष प्रथम छह मास उपवास, बेला, द्वितीय छह मास में विकृष्ट तेला, चोला आदि। पारणे में ऊनोदरी युक्त आयम्बिल। उसके पश्चात् बारहवें वर्ष में लगातार आयम्बिल। पारणे के दिन भी आयम्बिल किया जाता है। बारहवें वर्ष में साधक भोजन में प्रतिदिन एक एक ग्रास कम करते करते एक वक्त भोजन पर आ जाता है। बारहवें वर्ष के अन्त में वह अर्धमासिक या मासिक अनशन या भक्त प्रत्याख्यान आदि कर लेता है। यह है सविचार संलेखना। यह आनुपूर्वी अनशन की प्रक्रिया भी है। दूसरा होता है अविचार संलेखना (आकस्मिक अनशन) सहसा उपसर्ग उपस्थित होने पर या अकस्मात् जंघाबल आदि क्षीण हो जाने पर, शरीर शून्य या बेहोश हो जाने पर हठात् बीमारी या प्राणान्तक आक्रमण हो जाने पर तथा स्वयं के उठने–बैठने आदि की बिल्कुल शक्ति न होने पर किया जाता है। (आचाराङ्ग, शीलाङ्क टीका पत्रांक 289)

अन्तिम वेला में समाधि हेतु चार बातें आवश्यक हैं–1. संयम 2. ज्ञान 3. धैर्य 4. निर्मोहभाव।

अब वह वेला जिस हेतु जीवन भर उसने क्रमपूर्वक साधना की है वह उपस्थित हो चुकी है, महापुरुषों को इसका आभास हो जाता है। आज के युग में भी ऐसे महापुरुषों के उदाहरण हमारे समक्ष हैं। आचार्य भगवन्त श्री हस्तीमलजी महाराज ने पूर्व में ही संकेत दे दिया था कि अन्तिम समय ऐसे स्थान पर होगा, वह भवन राजमार्ग पर होगा, वृक्ष होगा, स्कूल इत्यादि प्राय: समीप होगा। जैसे ही वे उस स्थान पर पहुँचे सभी बातें वहाँ दिखाई दीं तो (प्रवचनों में संलेखना संथारे के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले) वे महापुरुष महाप्रयाण की यात्रा पर आरूढ़ हो गए।

अगर वैसा न भी हो तो वह आचार्य, उपाध्याय स्थविर गुरु भगवन्तों के समक्ष अपनी भावना रखता है और उनकी आज्ञानुसार आगे बढ़ता है। सर्वार्थसिद्धि में

आचार्य पूज्यपाद ने संलेखना के महत्त्व और आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए लिखा है। मरण किसी को इष्ट नहीं है। जैसे अनेक प्रकार के सोने, चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदि का व्यापार करने वाले किसी भी व्यापारी को अपने धन का विनाश कभी इष्ट नहीं हो सकता। यदि कदाचित् उसके विनाश का कोई (अग्नि, बाढ़ आदि) कारण उपस्थित हो जाए तो वह उसकी रक्षा करने का पूरा प्रयास करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ नहीं देखता है, तो घर में रखे हुए उन सोना चाँदी आदि बहुमूल्य पदार्थों को जैसे बचे वैसे बचाता है तथा घर को नष्ट होने देता है। इसी तरह व्रत, शीलादि गुणरत्नों का सञ्चय करने वाला मुमूक्षु गृहस्थ अथवा साधु भी उन व्रतादि गुणरत्नों के आधारभूत शरीर की प्राण पण से रक्षा करता है। उसका विनाश उसे इष्ट नहीं होता है। यदि कदाचित् शरीर में रोगादि विनाश का कारण उपस्थित हो जाए, तो उनका वह पूरी शान्ति के साथ परिहार करता है, लेकिन जब असाध्य रोग, अशक्य उपद्रव आदि की स्थिति देखता है और शरीर का बचना असम्भव समझता है तो आत्मगुणों की रक्षा करता है तथा शरीर को नष्ट होने देता है। वह खाली हाथ नहीं जाना चाहता है।

संलेखना के इस महत्त्व को जानकर, गुरु भगवन्तों की आज्ञा पाकर अब वह एकान्त जीव रहित स्थान पर, संथारा (जीव रहित स्थान) का चयन करता है और आगामी साधना की ओर बढ़ जाता है।

उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठ वकील आदरणीय सुशीलजी जैन जो इन्हीं तथ्यों के आधार पर सारांश तैयार कर रहे थे कि-Sallekhna or Santhara is an extension of the basic philosophy of renunciation followed by the Jain through out their lives. Sallekhana brings peace and contentment.) वे एकाएक रात के डेढ़ बजे रुक गये, कि यहाँ पर कुछ होता होगा। शास्त्रों में ढूँढ़ों कुछ होता होगा। कुछ बातें उनके सामने रखी, उन्हें समझ नहीं आई एकाएक यह बात रखी कि आचार्य भगवन्त श्री हस्तीमलजी म.सा. ने संथारा लेने के पूर्व फिर से पञ्चमहाव्रतों का आरोहण किया था। ऐसा आगमों में स्कन्धक अनगार और अन्य उदाहरणों/ घटनाओं में भी वर्णन आता है, पर क्यों करते हैं, ऐसा इसका कोई स्पष्ट कारण मेरे ध्यान में नहीं है।

एकाएक हर्ष से वे उछल पड़े, कहने लगे कि यही तो एक बात थी जो मैं ढूँढ़ रहा था, कि अब वह साधक जिसने यह साधना की है, वह साधना के शिखर को छूना चाहता है। वह निर्मलतम आचार को पालना चाहता है इसलिए व्रतों का पुनरवलोकन एवं उनमें निहित एक-एक भाव को हृदयगंम कर इस शिखर साधना पर आरूढ़ होना चाहता है। साधना के चरमोत्कर्ष को छूना चाहता है जहाँ पूर्ण समता है, जहाँ सभी के लिए आत्मीयता-क्षमाभाव है-**खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ, मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण णिब्भए भवइ।** क्षमाभाव से प्रसन्नता का सागर फूटता है। सब जीवों से मैत्रीभाव प्रस्फुरित होता है और वह निर्भय बन जाता है। (मृत्यु का भय तिरोहित हो जाता है)

1. **भक्त प्रत्याख्यान**-इसमें चारों आहारों का त्याग एवं स्थान की सीमा की जाती है और अन्य साधकों से सेवा ली जा सकती है।
2. **इंगितमरण**-क्षेत्र की सीमा होती है। साधक उस क्षेत्र में आ-जा सकता है, पर अन्य की सेवा नहीं ली जाती है।
3. **पादपोपगमन**-इसमें एक वृक्ष की कटी डाल की भाँति एक जगह ही रहकर आत्मसाधना की जाती है, किसी की सेवा नहीं ली जाती है।

इन तीनों में से साधक (वर्तमान में संहनन की अपेक्षा भक्त प्रत्याख्यान ही लिया जाता है) कोई एक प्रत्याख्यान अङ्गीकार कर लेता है, वह शरीर के प्रति मोह भाव से ऊपर उठ जाता है।

शरीर के पच्चक्खाण से वह साधक सिद्ध के

अतिशय गुण से सम्पन्न होता है–सरीर-पच्चक्खाणेणं सिद्धाइसय-गुणकित्तणं णिव्वत्तेइ। यह वह अवस्था है जहाँ भय नहीं, शोक नहीं, दु:ख नहीं, दारिद्र्य नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, चाकर नहीं, ठाकर नहीं, भूख नहीं, तृषा नहीं, ज्योत में ज्योत रूप विलीन होने की मनोदशा (शुभ योगों में प्रवृत्ति) होती है। भावों की लौ वीतराग भगवन्त पर स्थिर हो जाती है।

कालं अणवकंखमाणे विहरइ-काल की आंकाक्षा किए बिना विशेष रूप से साधना में चरण आगे बढ़ाता है। आत्मस्थ स्थितप्रज्ञ समाधि में लीन हो जाता है। कडाई अणगार जो इसमें अनुभवशील होते हैं ऐसे अणगारों का सहयोग मिलता है, भाव उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। इस साधना से कर्मों के वृन्द के वृन्द निर्जरित होते हैं।

भत्तपच्चक्खाणेणं जीवे अणेगाइं भवसयाइं निरुम्भई। वह अनेक भव का निरोध करता है–जन्म-मरण की शृङ्खला को या तो तोड़ देता है या सीमित कर देता है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में ऐसी दशा को क्षपक तक भी कहा गया है। आगम उद्घोष करता है कि–

गंथेहि विवित्तेहिं आयुकालस्स पारए।
पग्गहित तरंग चेतं दवियस्स वियावंतो।

(आचाराङ्गसूत्र, अध्याय-8, सूत्र 23) उस साधक की (शरीर उपकरणादि बाह्य और रागादि अन्तरंग) गाँठे खुल जाती हैं (तब मात्र आत्मचिन्तन में संलग्न वह मुनि) आयुष्य (समाधिमरण) के काल का पारगामी हो जाता है। तत्त्वचिन्तक श्रद्धेय श्री प्रमोदमुनिजी म.सा. के मुख से प्रसिद्ध कवि प्रभाकर माचवे की रचना में सुना, जो उन्होंने मृत्यु के कुछ क्षण पूर्व रची थी–

पुरानी हो गई बस्ती, पुराना आशियाना है।
चलो चिड़िया हुआ पूरा, यहाँ का आबदाना है।

सर्वोच्च न्यायालय में संलेखना प्रकरण के पूरे अध्ययन के बाद State Advocate Deputy Attorney Journal नरसिम्हन बोले, कि जब साधक आयुष्य का पारगामी हो जाता है तो उसे ऐसा लगता है कि वह दहलीज़ पर खड़ा है उसे इह भव, परभव दोनों दिखाई देते हैं और अगर उसका संसार बाकी है तो मृत्यु की प्रक्रिया मात्र वस्त्र पलटने जैसी प्रतीत होती है। उसे न जीने की आकांक्षा है न मरने की, न इस लोक की न परलोक की, न ही काम भोगों की आंकाक्षा है। ऐसी कोई भी आकांक्षा की लहर आ भी जाए तो वह इस व्रत (संथारा व्रत) का अतिचार (दोष) समझा जाता है।

ऐसा निर्मल अतिचारों से रहित देहावसान (महाप्रयाण) सकाममरण भी कहलाता है जो कि उत्कृष्ट पुण्यशाली विरल महापुरुषों को ही प्राप्त होता है।

अथ से यावत् जीवन की यही जैन जीवनशैली है। ऐसी शैली का प्ररूपण त्रिकाल त्रिदर्शी भगवन्त प्रभु महावीर ने किया है। यही जीवन शैली हमारी आदर्श है, अनुकरणीय है, अनुमोदनीय है। वस्तुत: यह स्व-पर कल्याणकारी अद्भुत अद्वितीय है।

-1370, तारांचन्द नायब का रास्ता, होटल एल.एम.बी. के पीछे, जौहरी बाजार, जयपुर-302003 (राज.)

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।।

-उत्तराध्ययनसूत्र 3.1

संसार में चार बातें प्राणी के लिए बड़ी दुर्लभ हैं-मनुष्य-जन्म, धर्म का श्रवण, दृढ़श्रद्धा और संयम में प्रवृत्ति अर्थात् धर्म का आचरण।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 371
ISSN 2249-2011

संथारा-मरण : एक विशिष्ट जीवनशैली

श्री अरूण मेहता

युगमनीषी आचार्य श्री हस्ती का दीक्षा शताब्दी वर्ष चल रहा है। आचार्य हस्ती का सम्पूर्ण जीवन आरम्भ से लेकर अन्त तक हम सभी के लिए प्रेरणादायी है, जैन जीवनशैली का एक अनूठा उदाहरण है। उन आचार्य हस्ती के जीवन को देखकर, सम्पर्क-सान्निध्य पाकर हजारों-हजार व्यक्तियों ने अपना जीवन बनाया है, सङ्गळवारा है, उन्नत बनाया है, सार्थक किया है। उन आचार्य हस्ती के जीवन के अन्त को देखकर लाखों व्यक्तियों ने जैन जीवनशैली के महत्त्व को व्यावहारिक (Practical) रूप से समझा है।

वैसे तो प्रत्येक जीव अपना जीवन जीता ही है, या यों कह दें कि जीना पड़ता ही है। सभी जीवों में से मनुष्य गति के जीवों का जीवन ही कुछ सभ्य एवं व्यवस्थित होता है। लेकिन मनुष्य-मनुष्य के जीवन में भी देश, काल, जाति, पन्थ, धर्म आदि के अनुसार बहुत कुछ अन्तर होता है। इन सभी में जैन धर्म के अनुसार जो जीवन जीने की शैली है वह अपने आप में विशिष्ट है, क्योंकि वह आत्माभिमुखी शैली होती है। आत्मकल्याण कराने वाली होती है।

जैन जीवन शैली की कुछ विशेषताएँ

1. बच्चों को गर्भ में ही 'छज्जीवनिकाय' सुनाकर संसार के समस्त जीवों की रक्षा की घुट्टी नित्यप्रति पिलाई जाती है। छोटे-से-छोटे प्राणी कीड़ी-मकौड़ी की यतना के साथ एकेन्द्रिय जीव पानी, अग्नि, वनस्पति आदि की भी यथाशक्य सीमित उपयोग की शिक्षा दी जाती है।
2. जन्म के साथ ही उनकी दैनिक दिनचर्या ऐसी रखी जाती है कि रात में उनको दूध पिलाने की जरूरत ही नहीं पड़ती। रात्रिभोजन-त्याग के संस्कार जन्म से ही दिये जाते हैं।
3. बचपन से ही मांसाहार के दुष्परिणाम समझाकर अण्डा, मांस, मछली आदि के सेवने से दूर रखा जाता है।
4. गाय-कुत्ते और अन्य पशु-पक्षियों को बचपन से ही उनके हाथों से खिलाने-पिलाने के संस्कार दिये जाते हैं, जिससे वे दयालु-कृपालु तथा दानवीर बनें।
5. सप्त कुव्यसनों के दुष्परिणाम समझाकर 8-9 साल की उम्र से ही सर्वप्रथम इनका त्याग कराया जाता है, जिससे उनका जीवन सात्त्विक एवं निष्कलंक बना रहता है।
6. बचपन से ही नवकार मन्त्र, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि सिखाकर उनको शुद्ध धर्म से जोड़ा जाता है।
7. तपस्या के प्रति प्रेरित कर कदम-दर-कदम उसका अभ्यास करवाया जाता है।
8. सन्त-सतियों से सम्पर्क करवाकर उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति-समर्पण पैदा किया जाता है, जिससे जीवन-पर्यन्त उन्हें उचित मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे।

मरण भी जीवन का ही एक अङ्ग है, हिस्सा है, चाहे अन्तिम अङ्ग/हिस्सा ही सही। जैनधर्म जीवन के इस अन्तिम काल या हिस्से को भी जीने की एक विशिष्ट शैली प्रस्तुत करता है, जो अपने आप में अनूठी है, अद्वितीय है।

उत्तराध्ययनसूत्र का पाँचवाँ सम्पूर्ण अध्ययन हमें अपने जीवन के इस अन्तिम भाग को जीने का मार्ग बतलाता है। जिनवाणी के इस जैन जीवन शैली विशेषांक में हम जीवन के इस अन्तिम भाग को जीने

का मार्ग समझने का प्रयास करेंगे अन्यथा हमारा जैन जीवनशैली को समझना अधूरा रह जायेगा।

जैनधर्म यह प्रतिपादन करता है कि मरण जीव की एक अवश्यम्भावी प्रक्रिया है, जो उसी जीव के कर्मों से जनित है। जैनधर्म हमें यह भी शिक्षा देता है कि जन्म के साथ मरण एक निश्चित प्रक्रिया है, जिसे न तो टाला जा सकता है और न ही उसे निरस्त किया जा सकता है। अतः व्यक्ति को मृत्यु से बचने का उपाय नहीं करना चाहिए, बल्कि मृत्यु का सहर्ष वरण करना चाहिए, स्वीकार करना चाहिए। जैन धर्म हमें यह शिक्षा प्रदान करता है कि मृत्यु से घबराना या मातम मनाना अज्ञान है। जैनधर्म में **संथारा** मृत्यु को मातम की जगह महोत्सव मनाने की विधि है, मृत्यु से डरने या भागने की बजाय उसे वरण करने की एक विशिष्ट शैली है। इस विधि या शैली के माध्यम से जीव अमरता को प्राप्त कर सकता है, अमरता के सन्निकट पहुँच सकता है। संथारायुक्त मरण को आगम की भाषा में, शास्त्र की भाषा में पण्डित-मरण व सकाम-मरण से भी सम्बोधित किया गया है। संथारे की संक्षिप्त में शैली इस प्रकार है-

1. जीवन का अन्तिम समय जानकर, पूर्ण सजगता, चेतनता एवं पूर्ण मनोयोग से संसार के समस्त पदार्थों का (घर-परिवार, धन-सम्पत्ति आदि का) आत्मा से त्याग कर, अट्ठारह पापों तथा तीन या चार आहार का त्याग किया जाता है। संथारा में मुख्य रूप से अट्ठारह पापों एवं चारों (या तीनों) प्रकार के आहार का त्याग जीवन भर के लिए कर दिया जाता है। साथ ही घर-परिवार, धन-सम्पत्ति के साथ-साथ अपने शरीर का भी त्याग किया जाता है। शरीर के त्याग से तात्पर्य शरीर के ममत्व के त्याग से है। जिससे शरीर में उत्पन्न सभी रोग-व्याधि से अपने आप को अलग कर लिया जाता है, फिर उस ओर बिलकुल भी ध्यान नहीं दिया जाता है।
2. संथारा सँवर या साधुवृत्ति के साथ किया जाता है। विधिपूर्वक संथारा ग्रहण करने के पूर्व समस्त चौरासी लाख जीवयोनि से तथा विशेषरूप से अपने निकटस्थ सगे-सम्बन्धियों से हार्दिक क्षमायाचना की जाती है।
3. संथारा ग्रहण किया हुआ साधक साधुवृत्ति में रहता है। वह किसी भी प्रकार के आरम्भ-हिंसा का सेवन नहीं करता है।
4. सम्पूर्ण रूप से सावद्य क्रियाओं का व सचित्त पदार्थों के स्पर्श/संघट्टे का त्याग किया जाता है।
5. पलंग, गद्दे आदि का उपयोग नहीं करके घास-फूस व कपड़े के संस्तारक (बिछोना) का उपयोग किया जाता है।
6. किसी प्रकार का हवा का साधन, जैसे- ए.सी., कूलर, पंखा, पंखी आदि का प्रयोग नहीं किया जाता। अग्नि, हीटर का प्रयोग निषिद्ध रहता है तथा सचित्त का संघट्टा (स्पर्श) नहीं किया जाता है।
7. संथारा ग्रहण किये हुए साधक की आवश्यक सेवा-शुश्रूषा व्रतधारी सँवरधारी श्रावक या श्राविका ही कर सकते हैं।
8. उच्चार, प्रस्रवण, खेल, जल्ल, सिंघाण (लघुनीत, बड़ीनीत, गले की खंखार, नाक की श्लेष्म) आदि नाली या गटर में नहीं डाल सकते हैं, ये अचित्त भूमि में परठे जाते हैं, वह भी व्रती द्वारा ही। 9. संथारा ग्रहण किये हुए साधक के भावों को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिये उनको निरन्तर शास्त्र और आत्मलक्ष्यी भजन आदि सुनाकर सहयोग किया जाता है।
10. संथारा ग्रहण किये हुए साधक को संथारे का महत्त्व और परिणाम भी पुनः पुनः बताया जाता है, जिससे वह अपने भावों में स्थिर रहे, वर्धमान रहे।
11. संथारा ग्रहण किये हुए व्यक्ति को साधु-साध्वी जैसे वस्त्र धारण कराये जाते हैं।
12. संथारा स्वीकार किये हुए साधक को किसी भी प्रकार के वाहन में नहीं बिठाया जाता।

13. संथारा ग्रहण किये हुए साधक के देवलोकगमन के पश्चात् किसी प्रकार का रोना-धोना, शोक, उठावणा, बैठक आदि सभी रिवाज का निषेध किया जाता है।
14. संथारे को 'मृत्यु महोत्सव' के नाम से प्रचारित और प्रसारित किया जाता है।
15. संथारा ग्रहण किये हुए साधक के सामने शोर-शराबा, व्यापार आदि की बातें, घर-परिवार की बातें, खाने-पीने की क्रियाएँ आदि नहीं की जाती हैं।
16. संथारा ग्रहण किये हुए साधक के साथ घर-परिवार के सभी सदस्य सामायिक-संवर आदि की अधिक से अधिक साधना करते हैं।
17. संथारा ग्रहण किया हुआ साधक किसी भी प्रकार की दवाई, इन्जेक्शन, ग्लूकोज, वेण्टिलेटर, सक्शन मशीन, नली आदि का प्रयोग नहीं करता है।
18. संथारा ग्रहण किये साधक को हॉस्पिटल, नर्सिंग होम आदि में नहीं रखा जाता है। किसी भी प्रकार का उपचार नहीं किया जाता है।
19. संथारा के उपलक्ष्य में अधिक से अधिक दान-पुण्य पारिवारिकजनों द्वारा किया जाता है। साधक स्वयं संथारा ग्रहण करने के पूर्व यह कर सकता है।
20. संलेखना के पाँच अतिचारों का सेवन नहीं किया जाता है।
21. कोई निदान नहीं किया जाता है।
22. पाँच समिति और तीन गुप्ति का पूर्ण पालन किया जाता है।
23. संथारा गुरु एवं संघ की आज्ञा एवं साक्षी से प्रकटरूप में किया जाता है।
24. संथारा ग्रहण किये हुए साधक के लिए कषाय विजय अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण है। जितनी-जितनी कषायें कम होगी, उतना ही मोक्ष सन्निकट होता जायेगा।

कुछ नहीं जानने-समझने वाले लोग संथारे की साधना को आत्महत्या मानते और कहते हैं, लेकिन इन दोनों में रहे हुए अन्तर को समझकर, समझाकर ऐसी भ्रान्ति मिटायी जा सकती है।

पण्डितमरण तथा आत्महत्या में अन्तर

1. पण्डितमरण समभाव तथा विवेकपूर्वक ग्रहण किया जाता है, इसमें आत्मबल बढ़ता है, जबकि आत्महत्या अज्ञान और मोह से ग्रसित विषम भावों से की जाती है, इसमें आत्मबल क्षीण होता है।
2. पण्डितमरण दण्डनीय नहीं है, जबकि आत्महत्या दण्डनीय है।
3. पण्डितमरण शुभ भावों में किया जाता है, जबकि आत्महत्या अशुभ भावों में की जाती है।
4. पण्डितमरण प्रकटरूप से किया जाता है, जबकि आत्महत्या अप्रकटरूप से या छुपकर की जाती है।
5. पण्डितमरण सद्गति व मोक्ष का कारण बनता है, जबकि आत्महत्या दुर्गति का कारण होती है।
6. पण्डितमरण का साधक सबके प्रति मैत्री एवं क्षमाभाव रखता है, जबकि आत्महत्या में द्वेष और आक्रोशभाव रहता है।

संथारे की साधना से पण्डितमरण वीरता का द्योतक है, वीरता का काम है। जिस व्यक्ति ने जीव और शरीर को अलग-अलग समझ लिया है, जीव और अजीव का भेद-ज्ञान कर लिया है उस व्यक्ति के लिए पण्डितमरण/समाधिमरण सम्भव बन पाता है। वही व्यक्ति मृत्यु को जीतकर इस मृत्यु को महोत्सव बना जाता है। फिर वह मृत्यु से जरा भी डरता नहीं है, मृत्यु का स्वागत करता है। जीने और मरने की इच्छा का सम्पूर्ण त्याग करके अपने आत्मा के लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो जाता है। आचार्य हस्ती तथा अन्य अनेक वीर संथारा-साधकों से प्रेरणा और उत्साह लेकर हम भी अपने कदम इस ओर बढ़ाने का प्रयास करेंगे, यही शुभेच्छा।

-पूर्व महामंत्री, अ.भा.श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ,
467-ए, 7 वीं 'ए' रोड़, सरदारपुरा,
जोधपुर-342003 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 374
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली का बालकों में बीजारोपण कैसे हो?*

डॉ. मंजुला बम्ब

बचपन जीवन का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। प्राय: सभी मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा है कि व्यक्तिगत और सामाजिक अनुकूलन के लिए जीवन के प्राथमिक कुछ वर्ष सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। पूरे जीवन का ढाँचा शैशवकाल में ही एक रूप ग्रहण कर लेता है। बचपन में ही बालक की प्रवृत्तियों और स्वभाव की नींव पड़ जाती है। बालक के भावी जीवन को बनाने के लिए उसके बचपन पर विशेष ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। **बालक को उसके बचपन में ही बहुत सारी बातें सिखाई जा सकती हैं।** परन्तु बड़े होने पर उसमें परिवर्तन लाना बहुत ही कठिन हो जाता है। उसमें संस्कारों का बीजारोपण कैसे हो? यह चिन्तन अनिवार्य है।

मनोवैज्ञानिकों तथा शिक्षा शास्त्रियों के अनुसार बालकों के विकास का अध्ययन जन्मकाल से किशोरावस्था तक होता है।

बालक का विकास जन्म के पहले गर्भ से ही प्रारम्भ हो जाता है। गर्भाधान के तीन-चार मास बाद ही गर्भस्थ शिशु में विशिष्ट विकास का सञ्चार होता है। गर्भ में शिशु-विकास की प्रक्रिया निम्न प्रकार से है-

1. प्रथम सप्ताह में कोशिकाओं का बँटवारा होता है।
2. दूसरे सप्ताह में माँ के द्वारा किये भोजन में से जीवन-पोषण पाने लगता है।
3. तीसरे सप्ताह में जीव की आँखें, रीढ़, मस्तिष्क, स्पाइनल कोर्ड, स्नायु-तन्त्र, पेट, लीवर, फेफड़े, गुर्दे आदि की निर्माण-क्रिया शुरु हो जाती है।
4. चौथे सप्ताह में सिर बनने लगता है, हाथ-पाँव बनने लगते हैं।
5. पाँचवें सप्ताह में छाती और पेट विकसित होकर एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। आँखों पर लैंस तथा रेटिना आ जाता है। कान बन जाते हैं।
6. छठे और सातवें सप्ताह में शरीर के सब अङ्ग-सिर, चेहरा-मुँह एवं जिह्वा बनकर तैयार हो जाते हैं। मस्तिष्क पूरी तरह विकसित हो जाता है। बच्चे के लिंग का पता लग सकता है। वह अपने हाथ-पैर हिला सकता है।
7. आठवें सप्ताह में बच्चा स्पर्श और दर्द का अनुभव कर सकता है तथा अँगूठा चूस सकता है।
8. नवें और दसवें सप्ताह में बच्चा तैरने की मुद्रा में हिलता है जागने तथा सोने की क्रिया करने लगता है। उसके दिल की धड़कन अल्ट्रासोनिक स्टैथेस्कोप पर सुन सकते हैं।

माता अपनी सन्तान के भविष्य का निर्माण कब से करती है? इस प्रश्न के उत्तर में एक समाजशास्त्री ने कहा है कि जिस दिन से वह गर्भ में आता है, उसी दिन से। गर्भ से ही माता के अच्छे-बुरे विचारों की स्याही से सन्तान के संस्कारों का लेख लिखना प्रारम्भ हो जाता है। माता का विचार, आचार एवं व्यवहार ही सन्तान की जीवन-रेखाओं का निर्माण करते हैं।

बाल-विकास के विज्ञान का अध्ययन अभिभावकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। बाल-विकास के अन्तर्गत बालक के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, नैतिक एवं संवेगात्मक विकास का अध्ययन होता है। अपने भावी जीवन में कलाकार होगा या वैज्ञानिक, समाज सुधारक होगा या पञ्चमहाव्रतधारी साधु, यह भी इसके अध्ययन से ज्ञात हो जाता है।

भगवतीसूत्र शतक 1 उद्देशक 7 में गौतम स्वामी पृच्छा करते हैं-'हे भगवन्! गर्भ का जीव देवलोक में

* आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर, 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवनशैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

जाता है या नहीं?' भगवान ने उत्तर दिया-'हे गौतम! जाता है,' अहो भगवन्! संसारी जीवन तो दान देता है, शील पालता है, जिससे देवलोक में जाता है, परन्तु गर्भ का जीव क्या पुण्य करता है, जिससे देवलोक में जाता है? भगवान कहते हैं-'अहो गौतम! कोई सम्यग्दृष्टि जीव माता की कुक्षि में आकर उत्पन्न होता है। माता सामायिक करे, प्रतिक्रमण करे, पौषध करे, दान देवे, शील पाले, तपस्या करे, एकाग्रचित्त होकर व्याख्यान सुने, तब गर्भ का जीव चिन्तन-मनन करे कि मैं भी दान देऊँ, शील पालूँ, शुभ भावना भाऊँ, उदय भाव आवे तो साधु पणा लेऊँ, ऐसा चिन्तन करता हुआ जीव काल करे तो दूसरे देवलोक तक में चला जाता है।'

हमारे जीवन को जन्म देने वाली माता केवल जननी और कोख में धारण करने वाली धारित्री ही नहीं है, वरन् वह तो हमारे जीवन की गुरु और शिक्षिका भी है। अपने बच्चों को बेहतर संस्कार देकर इन्सान बनाना किसी भी देश की सरकार को चलाने से भी अधिक चुनौतीपूर्ण है। चाहे पौराणिक काल की पार्वती हो या त्रेतायुग की कुन्ती या यशोदा, चाहे राजा महाराजाओं के युग की जीजाबाई या अहिल्याबाई हो अथवा हमारे युग की मदर टेरेसा अथवा जन्म देने वाली माँ हो। अपने द्वारा दी जाने वाली ममता, स्नेह, प्यार, मोहब्बत, बेहतर संस्कार और बेहतर जीवन के कारण ही वह सदा पूजनीय रहती है। जॉर्ज वाशिंगटन ने लिखा है कि मैं अपने जीवन में झूठ इसलिए नहीं बोल पाया, क्योंकि बचपन में एक बार झूठ बोलने पर माँ ने यह कहते हुए झन्नाटेदार चाँटा मारा था कि मैं झूठे बेटे की माँ कहलवाने की बजाय बाँझ कहलवाना पसन्द करूँगी। माँ, माँ ही नहीं संस्कारों को देने वाली गुरु भी है।

आज के संस्कारहीन भौतिकयुग में माता ही अपने प्रयत्नों से सन्तानों का उचित मार्गदर्शन कर, धार्मिक संस्कृति के अनुरूप योग्य संस्कारों के द्वारा उनका जीवन अमृत तुल्य बना सकती है। जिस माँ की आँखों में विनय, विवेक और कोमलता झलकती है, प्रेम बरसता है, विनम्रता और आज्ञापालन जिसके जीवन का पाठ है, जिसकी जिह्वा पर अमृत का वास है, वह अपनी सन्तान के मानस पर प्रभावी संस्कार डालती है। सत्संगति और सदाचरणों की प्रतिबिम्ब स्वरूप माता जैन जीवनशैली का बालकों में बीजारोपण करती है।

बालकों में अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है। सीखने की प्रक्रिया अनुकरण द्वारा सम्भव हो सकती है। अनुकरण द्वारा काम को जल्दी सीखा जा सकता है। अत: इसका अत्यन्त महत्त्व है।

सीखने के सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप से तीन मुख्य नियमों की सहायता से समझा जा सकता है। ये नियम बालकों के जीवन-निर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, उपयोगी हैं-

1. तत्परता का नियम-जब व्यक्ति किसी कार्य को करने के लिए तैयार रहता है तो जल्दी सीख लेता है। बाध्य करने पर जल्दी नहीं सीख पाता है। अत: बालक को कुछ भी सिखाने से पहले उसे मानसिक तथा बौद्धिक रूप से तैयार करना चाहिए। शिक्षक बालकों में प्रश्न, पहेलियों आदि शिक्षण की नवीन विधियों द्वारा विषय जानने के प्रति तत्परता का विकास कर सकते हैं। जैसे-हमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, सामायिक आदि सिखाने हैं तो हम चित्रों और कहानियों के माध्यम से उनमें रुचि पैदाकर उनको सिखाने के लिए तैयार कर सकते हैं। उनको दैनिक जीवन में उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की जानकारी देकर उनको अपरिग्रही बनने तथा त्यागमय जीवन जीने के संस्कार दिए जा सकते हैं। उदाहरण स्वरूप-जयपुर में चल रही रविवारीय पाठशाला में धोवन पानी, जमींकन्द और पानी छानकर पीना के बारे में बताया गया। बालक का हृदय कोमल होता है। एक बालक इसकी जानकारी मात्र से इतना प्रभावित हुआ कि घर पर पहुँचने पर अपनी मम्मी से पूछता है कि **'मम्मी आपने पानी छाना कि नहीं? मैं बिना छाना पानी नहीं पीऊँगा और आज से ही मैं आलू-प्याज नहीं खाऊँगा।'** बालक की इस भावना से बालक की माता ने पाठशाला में शिक्षक को अवगत कराया।

2. अभ्यास का नियम-किसी क्रिया को बार-

बार करने से वह दृढ़ हो जाती है। बार-बार अभ्यास करने से मांसपेशियों तथा मस्तिष्क के नाड़ी तन्तुओं में उस क्रिया को करने की आदत पड़ जाती है। बालकों के शिक्षण में इस नियम की सार्थकता भली-भाँति देखी जा सकती है। पढ़ना, लिखना, चित्रांकन, गणित, खेलना, साइकिल चलाना आदि क्रियाओं में अभ्यास का बहुत बड़ा हाथ रहता है। अभ्यास के द्वारा किसी कार्य में निपुणता आती है तथा भविष्य में वही कार्य करने में सरलता आ जाती है।

3. परिणाम का नियम-सीखने में सफलता मिलती है या असफलता, इसका सीखने पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बालक वही कार्य करना चाहता है जिसमें उसकी रुचि होती है और उसे सुख मिलता है। ईनाम पाने पर उस क्रिया को दोहराना चाहता है, वहीं असफलता प्राप्त करने पर उस क्रिया को दोबारा नहीं करना चाहता। प्रशंसा, ईनाम, शाबासी आदि का सीखने पर काफी प्रभाव पड़ता है। बालकों की शिक्षा में इस नियम का व्यापक प्रयोग देखा जा सकता है। जिस काम को करने में बालक को माता-पिता तथा अध्यापक द्वारा प्रशंसा मिलती है उसे जल्दी करना सीख लेता है, डाँट पड़ने पर जल्दी नहीं सीख पाता।

बचपन में दादी-नानी द्वारा सुनाई जाने वाली नैतिक-धार्मिक कहानियों से लेकर सामायिक, व्रत, नियम, ध्यान आदि दैनिक जीवन में संस्कार के आधार बनते हैं। बचपन में सुनी कहानी कथा से मिलने वाली व्यवहार सम्बन्धी नैतिक शिक्षा सुसंस्कार का सबसे बड़ा आधार है। आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा., आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म.सा. आदि महापुरुषों के प्रेरणादायी जीवन का निर्माण गर्भ एवं बचपन में मिले सुसंस्कारों से ही हुआ था। आगमों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं- विजयराजा और श्रीदेवी दोनों धर्मनिष्ठ थे। उसका असर अतिमुक्त कुमार पर भी पड़ा। लगभग नौ वर्ष की उम्र में गौतम स्वामी से भगवान की वाणी सुनी एवं वैराग्य जागृत हुआ। माता-पिता की आज्ञा लेकर दीक्षा ली और उसी भव में मुक्ति प्राप्त कर ली।

मनोविज्ञान बताता है कि बालमन में अनेक सूक्ष्म ग्रन्थियाँ होती हैं। छोटी-छोटी घटनाओं का उन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार के संस्कार उनके मन पर पड़ते हैं वे ही भविष्य में प्रबल होकर स्वभाव का रूप धारण कर लेते हैं।

घर, पाठशाला और समाज, बच्चे के बनने बिगड़ने के ये तीन स्थान हैं। जिस घर में हर समय लड़ाई-झगड़ा, गाली-गलौच, राग-द्वेष लगे रहते हैं, जहाँ धूम्रपान, शराब, अभक्ष्य भोजन, अस्त-व्यस्तता, अनुशासनहीनता, चरित्रहीनता, असत्य-भाषण, हिंसा, उद्दण्डता का ताण्डव हो, उस घर के बच्चों में शील, क्षमा, समता, सेवा, सहकार के संस्कार कहाँ से आयेंगे। **बच्चों के ऊपर माता-पिता एवं घर के अन्य छोटे-बड़े लोगों के आचरणों का प्रभाव पड़ता है।** क्योंकि साँचा जिस प्रकार का होता है उसमें ईंटों का आकार भी उसी प्रकार का बनता है। **अपनी भावी पीढ़ी को सच्चरित्र, सुखी एवं सम्पन्न बनाने के लिए पहले स्वयं को सच्चरित्र, सुसंस्कृत एवं सुसभ्य बनना होगा।** यह तभी सम्भव है जब घर का प्रत्येक सदस्य धर्मप्रेमी हो। घर में सत्संग, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय एवं धार्मिक क्रियाकलाप होते रहते हों। घर के वातावरण की पवित्रता, माता-पिता का सदाचार और परिवार के उत्तम व्यवहार से बालक-बालिकाओं के चरित्र का विकास अच्छी दिशा में होगा, उनमें जैन जीवन कला जीने का बीजारोपण होगा। वे सुसंस्कारी बनेंगे।

जैसे बच्चों को स्कूल भेजने का ध्यान रखते हैं वैसे ही धार्मिक पाठशाला में भेजने का ध्यान रखें तो संस्कारी होने में देर नहीं लगेगी। बच्चों में आध्यात्मिक वातावरण बना रहे, इसके लिए अभिभावक निम्नलिखित बातों का ध्यान रखें, तो बालक-बालिकाओं का जीवन सरल शान्तिमय बन सकता है-

1. बच्चों को धार्मिक पाठशाला एवं धार्मिक शिक्षण शिविरों में भेजना चाहिए।
2. घर के सभी सदस्यों के साथ प्रतिदिन सामूहिक

प्रार्थना एवं यथासमय आध्यात्मिक चर्चाओं का आयोजन हो।

3. बालकों को समय-समय पर पूज्य सन्त-सतियों का सान्निध्य मिलता रहे, ऐसा प्रयास होना चाहिए।
4. उन्हें अपने साथ सामायिक, प्रतिक्रमण, सन्तदर्शन और जिनवाणी-श्रवण करने के लिए ले जाना चाहिए।
5. उन्हें व्रत-नियम का महत्त्व समझाएँ।
6. यह भी प्रयत्न करें कि बालकों को समय-समय पर विद्वानों, महापुरुषों का सान्निध्य प्राप्त होता रहे ताकि उनके आदर्श और प्रेरणादायक जीवन से वे शिक्षा ले सकें।
7. घरों में गन्दा, कामुक और अश्लील साहित्य नहीं आने दें। उनके स्थान पर सत्साहित्य का संग्रह करें। स्वयं अच्छे साहित्य का पठन-पाठन, स्वाध्याय करें और बच्चों को भी वैसी प्रेरणा दें।
8. घरों में सिने अभिनेत्रियों के अश्लील चित्र नहीं टाँगें, उनके स्थान पर आदर्श पुरुषों या प्रकृति पर्यावरण के सुन्दर चित्र टाँग सकते हैं, या दीवारों पर जीवन निर्माणकारी आदर्श वाक्य लिखाये जा सकते हैं।
9. घर में पारिवारिक जीवन में परस्पर सहयोग एवं अपनत्व की भावना का विकास करें। बच्चों में पारस्परिक घृणा और विद्वेष के बीज न बोयें।
10. स्वावलम्बी सदा स्वस्थ और सुखी रहता है। इसलिए बच्चों को स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा देनी चाहिए।
11. माता-पिता स्वयं का जीवन व्यसन रहित बनायें। वे स्वयं मादक द्रव्यों एवं मद्य-मांस आदि का सेवन न करें ताकि बच्चों में गलत संस्कार नहीं पनपें।
12. बच्चों के प्रति सम्मान सूचक शब्दों का व्यवहार करें, उन्हें स्नेह एवं अपनत्व दें। उनके प्रति अपेक्षावृत्ति नहीं रखें। साथ ही बच्चों को माता-पिता का अधिकाधिक सान्निध्य प्राप्त हो इसका ध्यान रखा जाए। बच्चों को आत्मीयता का वातावरण दें।
13. अभिभावक ऐसे होटलों एवं क्लबों में न जाएँ जहाँ भद्दे, कामुक प्रदर्शनों, सामिष व्यञ्जनों एवं मादक द्रव्यों का प्रचलन हों।
14. बच्चों के खाने-पीने पर ध्यान देना चाहिए। बच्चों को सन्तुलित व स्वास्थ्यवर्द्धक आहार कराएँ तथा माता-पिता स्वयं भी वैसा आहार करें।
15. बच्चों को क्रोध से बचाने का सबसे बड़ा उपाय है कि उसके क्रोध करने के कारणों को ढूँढ़ा जाए और उसे मारने तथा डाँटने के बजाए प्रेमपूर्वक समझाएँ, उसे अच्छे-बुरे का ज्ञान कराया जाए। बालक के व्यवहार को समझने की कोशिश की जाए।
16. आवेशों पर नियन्त्रण का अभ्यास, एकाग्रता बढ़ाने का अभ्यास और संकल्पशक्ति का विकास-ये तीन बातें अभिभावक अपने बच्चे को सिखा दें तो उसका जीवन सरस बन जायेगा।
17. बच्चों की श्रम में आस्था होनी चाहिए। जहाँ नेहरू जी ने आराम हराम का नारा दिया था वहाँ आज की पीढ़ी सर्वत्र आराम में ही राम ढूँढ़ रही है। अत: माता-पिता का कर्त्तव्य है कि बच्चों को ऐसे महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़ने को दें, जिनका जीवन स्वावलम्बन का श्रेष्ठ उदाहरण रहा है।
18. बच्चों के सामने माता-पिता एवं परिवारजन वचन-व्यवहार का विवेक रखें। बच्चों की उपस्थिति में माता-पिता आपस में झगड़ें नहीं, क्योंकि गृह-कलह का बहुत बुरा असर बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर पड़ता है।
19. आज की भावी पीढ़ी जल्दी सोना, जल्दी उठना, माता-पिता के चरण स्पर्श करना आदि सभी भूलती जा रही है। बच्चों में बुरे संस्कार पनप रहे हैं। देर से उठो, चाय पानी पीओ। अखबार को सामने रखकर घण्टे भर बैठ जाओ। कुछ देर बाद नाश्ता पानी करो और टी.वी. के सामने बैठ जाओ। दोस्तों

के साथ घूमो-फिरो, देर रात्रि तक घर लौटो। खाद्य-अखाद्य का ध्यान रखे बिना सुबह का भोजन रात को 11 बजे खाओ। टी.वी. पर पिक्चर देखते-देखते सो जाओ। बच्चों की ऐसी प्रवृत्तियों से हानि ही होने वाली है, अत: माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे उनकी दिनचर्या पर ध्यान रखें। समय का सदुपयोग हो, ऐसे कार्यों की प्रेरणा करें। उन्हें सुसंस्कारी बालकों के साथ ही आने-जाने दें।

20. बच्चों को व्यावहारिक ही नहीं नैतिक शिक्षण अवश्य दें। स्कूलों में संस्कार पक्ष गौण होता है और बौद्धिक विकास प्रमुख होता है। आजकल कान्वेण्ट और पब्लिक स्कूल आधुनिक कहलाने वाले अभिभावकों के लिए आकर्षण के केन्द्र बनते जा रहे हैं। वे मानते हैं कि ऐसे स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे आधुनिक रूप से विकसित होते हैं। समाज में जीने के तौर-तरीके बहुत अच्छे ढंग से सीखते हैं, किन्तु आधुनिक जीवन ही सच्चा जीवन नहीं है। सच्चा जीवन जीने के लिए तो सत्संस्कारों एवं आध्यात्मिकता की जरूरत है। बच्चों को बौद्धिक विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक और भावनात्मक विकास का वातावरण निरन्तर मिलता रहे तब ही उनका समग्र विकास हो सकता है। वे अपनी संस्कृति-परम्परा को समझकर अनुशासन, विनय, धैर्य, सच्चाई, सेवाभावना आदि अनेक सद्गुणों से ओतप्रोत आदर्श जीवन जी सकते हैं।

बालकों में संस्कारों का ज्ञान एवं प्रेरणा ही काफी नहीं है। संस्कारों को दृढ़ बनाने हेतु अभ्यास परम आवश्यक है। बच्चों को संस्कारों के बारे में इतना अभ्यास कराया जाये कि वे बच्चों की आदत बन जायें। इसके लिए प्रतिदिन संस्कारों की पुन: पुन: आवृत्ति कराना होगा।

बच्चों में सुसंस्कार दृढ बन सकें इसके लिए बुराइयों के बारे में बच्चों को अच्छी तरह समझाया जाय। जैसे अण्डा शाकाहारी नहीं है इसे तर्कपूर्वक समझाना होगा। जूठा छोड़ना, झूठ बोलना, चोरी करना, मैथुन सेवन आदि कितने हानिकारक हैं, यह बताना होगा। तभी बच्चे त्याग करने हेतु तैयार होंगे।

बालक का निर्माण परिवार का निर्माण है, समाज का निर्माण है, राष्ट्र का निर्माण है अत: माता-पिता का दायित्व है कि वे बच्चों के प्रति लापरवाही न बरतें, बल्कि उन्हें संस्कारी बनाकर अपने कर्त्तव्य का पालन करें। यदि बच्चों के अच्छे और आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण करना है तो पहले स्वयं हमें उदाहरण पेश करना होगा। हम बच्चों के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसी हम उनसे आशा रखते हैं। हम स्वयं बच्चों को समय दें। उनकी बातें धैर्यपूर्वक सुनें और उन्हें प्रेमपूर्वक समझाएँ।

बालकों के जीवन को पवित्र और मंगलमय बनाने के लिए उनमें शुभ संस्कारों के बीज डालकर उन्हें पल्लवित और पुष्पित करना होगा। जैन जीवनशैली के मुख्य बिन्दुओं में ज्ञान, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, सामायिक, प्रतिक्रमण और तत्त्वों की जानकारी देकर उनका आदर्शमय जीवन बनाया जा सकता है। पर आवश्यकता है आज के इस भौतिक चकाचौंधमय वातावरण में माता-पिता स्वयं जीवन जीने की कला सीखें एवं बच्चों का जीवन सुरभित बनावें।

संस्कारों के फूल बालकों की जीवन-डाली पर महकें, मुस्कुरायें और कुसंस्कारों के काँटे उन्हें छू भी न पायें, इसके लिए माता-पिता को सुसंस्कारित बनना होगा। अपनी कथनी और करनी के अन्तर को मिटाते हुए धर्म के समग्र एवं व्यापक रूप को जीवन में उतारना होगा। तभी बालकों में शुद्ध जैन जीवन का बीजारोपण कर उनके जीवन में दया, करुणा, समता, क्षमा, सत्य, विनय, विचार-आचार और विवेक रूपी विविध फूलों की सुगन्ध से स्वयं के जीवन के साथ-साथ परिवार, समाज और देश का वातावरण महक उठेगा।

-567, गली नं. 6, वाल्मीकी मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-302004 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 379
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली में शाकाहार

श्री पदमचन्द गाँधी

आज व्यक्ति भोग-विलास एवं इन्द्रिय सुखों के पोषण हेतु उत्तेजित रहना चाहता है, इस प्रवृत्ति के कारण अपने जीवन को असंयमित बना रहा है। सम्यग्दृष्टि साधक इनसे अनासक्त बनकर अपनी जीवन यात्रा तय करता है तथा सम्यक् जैन जीवनशैली अपनाता है। वह जैनधर्म के अनुसार व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, अहिंसा सम्यक् आचरण को अपनाता है, लेकिन आज मानव की जैविक भूख उपभोक्तावादी युग में निरन्तर बढ़ रही है। असंयमित आचरण जीवन का अभिन्न अङ्ग बनता जा रहा है, जबकि संयमित आचरण जैन जीवनशैली का आधार है। जैनदर्शन में आहार प्रणाली को जीवन शैली का अभिन्न अङ्ग माना गया है। सभ्यता के आदि संस्कर्ता भगवान ऋषभदेव का शाकाहार की परम्परा में विशेष अवदान रहा है, कृषि कर्म के माध्यम से मांसाहार के स्थान पर शाकाहार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर उन्होंने विश्व को एक महान् देन दी है। **शाकाहार का प्रयोग भारतवर्ष की संस्कृति में महत्त्वपूर्ण और गौरवपूर्ण रहा है, जिसने लाखों वर्षों से विश्व को शाकाहार का सन्देश दिया है।** इसी के प्रभाव से आज विश्व के कई देशों में शाकाहार का उपयोग बढ़ रहा है यह जैनधर्म की ही देन है। **आज जैन फूड जैनधर्म की पहचान बन चुका है। आज लोगों की मानसिकता बदल रही है, वे जानते हैं कि शरीर चलाने के लिए सात्त्विक एवं शाकाहार भोजन की आवश्यकता है।** शुद्ध आहार से मन शुद्धि एवं सात्त्विक विचारों का उद्भव होता है। लेकिन खेद है कि आज अधिकांश लोग अपने पारम्परिक एवं सात्त्विक आहार को भूलकर अभक्ष्य, मांसाहार एवं इनके उत्पादों की ओर आकर्षित हो रहे हैं।

1. शाकाहार का ऐतिहासिक स्वरूप-जैन परम्परा की मान्यतानुसार आदि मानव मांसाहारी नहीं था वह शाकाहारी था। जैन आगमों तथा आवश्यक निर्युक्ति गाथा 206, 207 तथा 209 में वर्णन आता है कि आदिकाल में मनुष्य कल्पवृक्षों से अपनी पूर्ति करते थे। उन्हें उतनी ही आवश्यकताएँ होती थी जो वृक्षों के फलों से पूरी हो जाती थी। वृक्षों की शीतल छाया में फलाहार करके सात्त्विक जीवन के आनन्द का रसास्वादन करते थे। उस समय मानव सभ्यता के आदि युग में बहुत ही सरल, दयालु और निश्छल था। अकर्म भूमि में मनुष्य के उपभोगार्थ दशविध कल्प वृक्ष बतलाए। जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होने से सर्वप्रथम भगवान ऋषभदेव ने मानव को कन्दमूल एवं फलों के अतिरिक्त जंगली अन्न को हाथों से मसलकर साफ करके मिट्टी के पात्र में पकाकर खाना सिखाया। ऋषभदेव ने मानव जीवन को अधिकाधिक सात्त्विक बनाने के उपयोग की खोज की और मांसाहार से बचने के लिए कृषि का आविष्कार किया। यही आविष्कार उस युग का एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक चमत्कार था, यहीं से अहिंसा और शाकाहार की यह सुदृढ़ नींव पड़ी।

भगवान ऋषभदेव के बाद 23 तीर्थंकर और हुए जो सभी अहिंसा धर्म के प्रचारक थे। भगवान शान्तिनाथ के समय राजा मेघरथ का वर्णन आज भी अहिंसा का उदाहरण है। उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 22 में स्पष्ट वर्णन है कि भगवान अरिष्टनेमि का जीवन तो अहिंसा के इतिहास का एक उज्ज्वल अध्याय रहा है। उन्होंने अपने विवाह प्रसङ्ग पर होने वाले पशुवध से दयार्द्र होकर सदा-सदा के लिए विवाह से ही मुख मोड़ लिया। प्रज्ञा चक्षु पण्डित सुखलाल जी ने जैन संस्कृति का 'अन्तर हृदय' शीर्षक निबन्ध में नेमिनाथ जीवन पर लिखा है कि एक समय था जब केवल क्षत्रियों में ही नहीं सभी वर्गों में मांस खाने की प्रथा थी, उस समय राजकुमार नेमिकुमार

ने इन्हें बन्द करवाने के निर्देश दिए। भगवान पार्श्वनाथ ने भी अहिंसा पर बल दिया।

भगवान महावीर ने तो अहिंसा की लहर पैदा कर दी। इन्होंने हिंसात्मक यज्ञों का विरोध कर अहिंसा तप आदि रूप यज्ञों का निरूपण किया तथा प्रचलित मांसाहार का सबल स्वर में घोर विरोध किया। इनकी आवाज़ इतनी प्रचण्ड थी कि जो व्यक्ति मांसप्रिय थे उनके शुष्क हृदय में करुणा एवं शाकाहार का स्रोत प्रवाहित हो उठा।

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मैगस्थनीज ने अपनी पुस्तक इण्डिका में लिखा है कि जैनधर्म के प्रभाव के कारण इस काल में अनार्यों को छोड़कर भारत में मांस-मदिरा का सेवन नहीं होता था। इसी प्रकार चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा कि देश भर में कोई मांसाहारी नहीं है, न ही कोई मादक द्रव्यों का प्रयोग करता है। केवल चाण्डाल ही इसका उपयोग करते थे।

इस प्रकार इतिहास स्पष्ट करता है कि भारत भूमि आर्य भूमि थी। यहाँ पर शाकाहार ही मुख्य आहार था, केवल अनार्य ही मांसाहार करते थे। सूत्रकृताङ्गसूत्र में वर्णन आता है-डहरा **समाणा खीरं, सप्पियं अणुपुव्वेणं** अर्थात् मानव मांसाहारी नहीं शाकाहारी है, शिशु अवस्था में मनुष्य मुख्यतः दुग्ध और घृत का आहार करता है और बड़ा होने पर ओदनादि अन्न का आहार करता है। इसकी पुष्टि मानव भोज्य मीमांसा पृष्ठ 11 में इतिहास महोदधि श्री कल्याण विजय जी ने 'सप्पिं' शब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा। वर्तमान काल में भी जन्मते बच्चे के मुँह में दूध एवं घृत डाला जाता है तथा बड़े होने पर अन्न खाना सिखाया जाता है। अतः वस्तुतः मनुष्य का आहार दुग्ध और अन्न ही है।

2. शाकाहार पर दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों का अभिमत-शाकाहार एक ऐसी जीवन शैली है जो सीधे सहअस्तित्व, अहिंसा, करुणा एवं मानवता जैसे उदात्त जीवन मूल्यों पर आधारित है। भारतीय संस्कृति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' सूत्र को अपनाते हुए शाकाहार को हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग माना है। मनुष्य की मूल प्रकृति अहिंसाप्रिय और कारुणिक होने का स्पष्ट और सबसे प्रबल प्रमाण भगवान महावीर स्वयं है। औपपातिकसूत्र 1 उपाङ्ग में महावीर ने कहा-एवं खलु **चऊहिं ठाणेहिं जीवा णेरइत्ताए कम्मं पकरेंति महा रंभयाए महापरिगहयाए पंचिंदियवेहणं, कुणिमहारेणं**। महावीर ने कहा कि मनुष्य के नरक गति में उत्पन्न होने के चार कारणों में से एक मांसाहार भी है। पञ्चेन्द्रिय प्राणी का मांस खाने वाला नरक गति को प्राप्त करता है।

बीसवीं सदी के महानतम वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन ने इस सम्बन्ध को गहराई से समझा था, जिसके आधार पर उनका कहना था कि पृथ्वी पर जीवन बनाये रखने में कोई भी चीज उतना लाभ नहीं पहुँचायेगी जितना शाकाहारी विकास। वस्तुतः शाकाहार मनुष्य की प्रकृति से जुड़ा हुआ है तथा यह एक अत्यन्त स्वाभाविक जीवन शैली है जिसका मूल आहार शाकाहार एवं फलाहार है।

अमेरिकन फूड एण्ड न्यूट्रीशियन बोर्ड की नेशनल कौंसिल ने रिपोर्ट में स्पष्ट किया कि यदि शाकाहार का यथोचित संयोजन किया जाये तो वह स्वयं में पर्याप्त एवं सम्पूर्ण आहार है। ओरियण्टल वाचमेन में छपे पत्र के अनुसार एक वैज्ञानिक ने सिद्ध किया कि शाकाहार मांसाहार से पाँच गुणा अधिक शक्तिशाली है। क्रूएल्टी फ्री गाइड टू लन्दन के सम्पादक स्लेक्स बुर्क ने कहा कि शाकाहारी न तो किसी जन्तु के किसी अन्तर्वर्ती भीतरी भाग को खाता है और न ही किसी बाहरी भाग को ओढ़ता है, पहनता है। डाइट एण्ड फूड नामक अपनी प्रसिद्ध कृति में मूर्धन्य वैज्ञानिक डॉक्टर हेग ने लिखा है कि शाकाहार से शक्ति उत्पन्न होती है और मांस खाने से उत्तेजना बढ़ती है। यही कारण है कि समस्त धर्मग्रन्थों में एक स्वर से मांसाहार का निषेध किया है और इस बुराई पर अड़े रहने वालों को कटु शब्दों में धिक्कारा है।

विश्व विख्यात दार्शनिक पाइथागोरस ने तो चेतावनी देते हुए यहाँ तक कहा है-ऐ मौत के फंदे में उलझे हुए इन्सान! अपनी तश्तरियों को मांस से सजाने के लिए जीवों की हत्या करना छोड़ दे, जो व्यक्ति भोले भाले प्राणियों की गरदनों पर छुरी चलवाता है, उनका करुण-

क्रन्दन सुनता है, जो अपने हाथों पाले हुए पशु-पक्षियों की हत्या करके अपनी मौज मनाता है, उसे अत्यन्त तुच्छ स्तर का व्यक्ति समझना चाहिए। जो पशुओं का मांस खा सकता है वह किसी दिन मनुष्य का खून भी पी सकता है। अमेरिकी राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के एक शोध के अनुसार यदि पूरी दुनिया में शकाहार को बढ़ावा मिले तो धरती को अधिक स्वस्थ, शीतल और समृद्ध बनाया जा सकता है।

3. शाकाहार का प्रभाव–शाकाहार का प्रभाव मनुष्य के तन-मन और आत्मा तीनों पर पड़ता है। जब तक ये तीनों विकार-रहित न हों तब तक किसी को पूरी तरह स्वस्थ नहीं कहा जा सकता, इसलिए ऋषि-मुनियों ने अपना कल्याण चाहने वाले हर व्यक्ति को अपना आहार सात्त्विक रखने के लिए कहा है, जिससे मन और आत्मा को शुद्ध रखा जा सके। लेकिन **खान-पान की बिगड़ी आदतें मन:स्थिति को प्रभावित करती हैं, क्योंकि अन्न के स्थूल हिस्से से हमारा शरीर बनता है, किन्तु इसका सूक्ष्म अंश हमारे मन को गढ़ता है,** ऐसे में तामसिक एवं राजसिक खानपान तत्काल ही तन-मन की चञ्चलता एवं जड़ता के कारण बनते हैं तथा दीर्घ अन्तराल में मन की अस्थिरता एवं विकृति को पुष्ट करते हैं।

आत्मोत्कर्ष तथा आन्तरिक उन्नति के लिए तन-मन और बुद्धि का निर्मल एवं निर्विकार होना आवश्यक है। **मनुष्य के इन साधनों का निर्माण** उस आहार से होता है जिसे वह ग्रहण करता है। **आहार से ही रक्त, रस, मेद, मज्जा आदि सारे शारीरिक तत्त्व बनते हैं और अपने वे सारे गुण-अवगुण समाहित कर लेता है जो उस आहार में होते हैं।** इसीलिए ज्ञानी भगवन्तों ने आहार की शुद्धता, स्वच्छता एवं उपयुक्तता पर अधिक बल दिया है। शाकाहार को ही शुद्ध प्राकृतिक आहार (प्राइमरी फूड) माना गया है, क्योंकि इससे स्फूर्ति, पवित्रता, प्रसन्नता, शक्ति तथा दीर्घायु प्राप्त होती है। मन, बुद्धि और विवेक शुद्ध होता है तथा आत्मा में सुख शान्ति का सञ्चार होता है।

श्रीमद्भगवद् गीता में स्पष्ट किया गया है कि जिसका आहार शुद्ध होता है उसकी मज्जा (मेरो) भी शुद्ध होती है। **'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु'** श्लोक 6/17 के अनुसार योग उसी का सधेगा, जो यथा योग्य आहार-विहार का एवं कर्मों में यथायोग्य चेष्टाओं का ध्यान रखेगा। गीता के 17वें अध्याय में कहा गया है कि आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला रसयुक्त, चिकना तथा स्थिर रहने वाला (जिसमें भोजन का सार अधिक समय तक शरीर में रहे) तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय आहार सात्त्विक व्यक्ति को प्रिय होता है।

चरक कहते हैं (चरक सूत्र 27/349) **प्राण: प्राणभृतामन्नम्** अर्थात् अन्न प्राणियों का प्राण है तथा उपनिषद् कहती है-**अन्नो वै मन:** अर्थात् अन्न ही हमारे मन का निर्माण करता है अर्थात् जैसा हमारा आहार होता है वैसा ही हमारा मन बनता है।

जैनदर्शन के अनुसार शाकाहार का इतना असर होता है कि मन के विकार, विचार एवं आत्मशुद्धि शुद्ध आहार पर ही निर्भर करता है। **शाकाहार आत्म-उत्थान के लिए सर्वोत्तम है।** तामसिक एवं राजसिक आहार मानसिक विकृतियों को जन्म देता है तथा ये आत्म साधना में बाधक होते हैं। जैनधर्म में तो रात्रि-आहार को भी मांसाहार के समकक्ष माना है तथा रात्रि-भोजन के त्याग को श्रेष्ठ बताया है।

आयुर्वेद में आहार को अधिक महत्त्व दिया है तथा स्पष्ट किया है कोई भी पदार्थ जब अन्न मार्ग से ग्रहण किए जाने पर जीवन शक्ति उत्पन्न करे, धातुओं को पुष्ट करे, उसकी रक्षा करे, जीवन की समस्त प्रक्रियाओं को संयमित करे तथा शरीर के महत्त्वपूर्ण अंशों की उत्पत्ति में मदद करे वही आहार कहलाता है। आयुर्वेद में पोषण की दृष्टि से बारह प्रकार के आहार बताये हैं, जिसमें हितकर आहार को पथ्य तथा अहितकर को अपथ्य आहार बताया है जिसमें मांसाहार को अपथ्य आहार की श्रेणी में लिया है। आयुर्वेद में ऋषिगण ज्ञाता कहते हैं कि उपयुक्त

आहार (शाकाहार) ही शरीर के समुचित विकास, सुख एवं स्वास्थ्य का सूचक है।

4. आत्मिक प्रगति के लिए उपयुक्त है शाकाहार–तामसिक, राजसिक, अभक्ष्य तथा मांसाहार केवल उत्तेजना उत्पन्न करता है जिससे केवल वासना, क्रूरता, क्रोध, प्रमाद, आलस्य का जन्म होता है तथा मन की चञ्चलता उत्पन्न करता है। जबकि सात्त्विक आहार से भावशुद्धि, निर्मलता, स्वच्छता, क्रियाशीलता (एक्टिवनेश) तथा मन की शुद्धता बढ़ने से आत्मिक गुणों का विकास होता है और बुद्धि सतोगुणी होती है।

मांसाहार से कषायों एवं कल्मषों के उत्पन्न होने के कारण वे केवल मन:सन्ताप एवं अवरोध ही उत्पन्न करते हैं, क्योंकि ऐसे आहार से किसी की भी तपसाधना, ध्यान, एकाग्रता इत्यादि सफल नहीं हो सकती। वे पेट में जाकर केवल उपद्रव ही खड़े करते हैं जिनके कारण मन में अशान्ति एवं अस्थिरता रहती है।

सम्यक् चारित्र एवं सम्यक् आचार शुद्धि के लिए आहार शुद्धि आवश्यक है। जब आहार शुद्ध होगा तभी विचार शुद्ध होंगे, जब विचार शुद्ध होंगे तो आचरण शुद्ध होगा। मानव जीवन का लक्ष्य आचार शुद्धि से आत्मा को ऊपर उठाना है।

ग्वालियर की जेल में कैदियों को शाकाहार भोजन एवं मांसाहार भोजन देकर एक शोध की गयी, जिसमें स्पष्ट हुआ कि मांसाहार के नियमित सेवन से व्यक्ति, आपराधिक, हिंसक तथा क्रूर बनता है। उसके विचार विध्वंसात्मक पाये गये, जबकि शाकाहारी के परिणाम इसके विपरीत पाये गये।

5. मांसाहार वर्जन के कारण–विज्ञान कहता है कि मनुष्य की बनावट शाकाहारी ही है। उसके दाँत, लसिका द्रव्यों का रस एवं उसकी संरचना, आँतों की लम्बाई, पाचन–क्षमता सभी सिद्ध करते हैं कि मांसाहार मनुष्य के लिए नहीं है, फिर भी मांसाहार का उपयोग बढ़ रहा है जो हानिकारक है।

हिडन बर्ग स्थित जर्मन कैंसर अनुसन्धान केन्द्र ने शाकाहार एवं मांसाहार पर किए गये अध्ययन से यह सिद्ध किया कि शाकाहारी भोजन अधिक लाभकारी, गुणकारी एवं दीर्घजीवी होता है। वस्तुत: मांसाहार अस्वाभाविक है, इसके भक्षण से मनुष्य बर्बर तो बन सकता है, किन्तु वीर नहीं बन सकता। मांस–भक्षण से खूँखारपन और क्रूरता की प्रवृत्ति अवश्य बढ़ती है। अनुसन्धानकर्ता मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य जिन पशुओं का मांस खाता है उनके पाशविक दोष मनुष्य में भी आ जाते हैं।

(i) **पर्यावरण एवं जीवों की सुरक्षा**–मनुष्य अपनी आदतों, स्वाद–लोलुपता और शिकार वृत्तियों के कारण संसार की 300 वन्य स्तनधारी प्रजातियाँ नष्ट हो गयी है। आदमी की क्रूर हरकतों ने पशु–पक्षियों और जीव–जन्तुओं को खत्म कर दिया है। आदमी ने अपने स्वाद, स्वार्थ, मनोरञ्जन एवं कर्मकाण्डों के नाम पर प्रकृति और पर्यावरण को अपूरणीय क्षति पहुँचायी है। फ्रेण्ड्स ऑफ अर्थ संस्था के अनुसार मांस उत्पादन के लिए हर साल छ: लाख हैक्टेयर जंगल साफ कर दिए जाते हैं। पर्यावरण की सुरक्षा के लिए मांसाहार वर्जित होना चाहिए। इससे न केवल पर्यावरण सुरक्षित रहेगा, वरन् जीवों की भी रक्षा हो सकेगी।

(ii) **शाकाहार उत्पाद की तुलना में मांसाहार उत्पादन लागत अधिक**–एक शोध ने स्पष्ट किया कि स्वास्थ्य एवं पर्यावरण की दृष्टि से शाकाहार अधिक बेहतर विकल्प निकल कर आया है तथा यह भी सिद्ध किया कि एक शाकाहारी जहाँ एक एकड़ से भी कम भूमि में निर्वाह कर सकता है, तो वहीं एक मांसाहारी के लिए डेढ़ एकड़ भूमि चाहिए। अमेरिका में एक किलो गेहूँ उत्पादन के लिए पचास गेलन पानी की आवश्यकता होती है जबकि इतने ही मांस के लिए दस हजार गेलन पानी की खपत होती है, जो स्पष्ट करती है कि जितना शाकाहार अपनायेंगे उतना ही मानव की आवश्यकता को पूरा करने के लिए उपलब्ध होगा। एक आकलन के अनुसार

यदि अमेरिका केवल दस प्रतिशत मांसाहार बन्द कर दे तो पूरे विश्व की आवश्यकता पूरी हो सकती है। अर्थात् मांसाहार के उत्पादन के स्थान पर शाकाहार अधिक लाभदायक है।

एक अनुमान के अनुसार विश्व में एक एकड़ भूमि में 800 किलो मटर, 2,400 किलो गाजर और 32,000 किलो टमाटर उत्पादन किए जा सकते हैं, वहीं उतनी ही भूमि के आधार पर केवल 200 किलोग्राम मांस ही तैयार होता है जो अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

विशेषज्ञों के अनुसार मांस की खपत में यदि दस प्रतिशत की कटौती कर दी जावे तो प्रतिदिन भूख से मरने वाले 18,000 बच्चे तथा 6,000 वयस्कों को बचाया जा सकता है। शोध ने स्पष्ट किया कि एक किलो मांस को तैयार करने में सात किलो अन्न या सोयाबीन की खपत होती है। इतना ही नहीं अन्न को सैकण्ड्री फूड (मांस) में बदलने से 90 प्रतिशत प्रोटीन, 99 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट तथा 100 प्रतिशत रेशा नष्ट हो जाता है, जो अन्य दृष्टि से नुकसानदायक है।

सौ विशेषज्ञों द्वारा तैयार की गयी UNO की वर्ष 2019 की क्लाइमेट चेञ्ज की रिपोर्ट में कहा गया है कि वनस्पति आधारित आहार को प्रोत्साहन देना होगा।

(iii) **मांसाहार से हानिकारक बीमारियाँ**–शोध ने स्पष्ट किया कि वध किए गये जानवरों का स्वास्थ्य परीक्षण नहीं होने से उनके रोग, जीवाणु, व्यक्ति में सहजता से प्रविष्ट कर जाते हैं, क्योंकि उबलने से ज़हर अमृत नहीं बनता है। **जानवरों के वध के समय असह्य पीड़ा, तनाव, घबराहट, छटपटाहट मांस को विषैला बना देता है जो असाध्य रोगों का कारण बनता है।** इतना ही नहीं मांस का उपयोग तत्काल नहीं किए जाने से कई प्रकार के जीवाणु पैदा हो जाते हैं जो बीमारियों को उत्पन्न करते हैं। कोई भी व्यक्ति लम्बे समय तक इस पर आश्रित नहीं हो सकता तथा इसको बनाने के लिए शाकाहारी वस्तुओं का उपयोग करना ही पड़ता है। अतः यह उपयुक्त आहार नहीं माना जाता है। इस प्रकार मांसाहार हानिकारक है, रोगों से प्रेम करने वाला है, पाशविक प्रवृतियाँ बढ़ाने वाला है। व्यक्ति को क्रूर, हृदयहीन, असंयमी बनाने वाला, शरीर में कॉलेस्ट्राल बढ़ाने वाला है। अतः इसको वर्जित किया गया है।

(iv) **हिंसा एवं संवेदनहीनता को जन्म**–आज मनुष्य अपने स्वाद के लिए संवेदनहीन हो गया है, उसकी मानसिकता क्रूरतापूर्ण हो गयी है। वह निरीह प्राणियों का हन्ता बन रहा है, आँकड़ों के अनुसार मात्र मांसाहार के लिए पूरे विश्व में एक वर्ष के भीतर 14 अरब प्राणियों का वधकर दिया जाता है। अकेले इंग्लैण्ड जिसकी जनसंख्या छः करोड़ के लगभग है, वहाँ पर दो से पाँच अरब प्राणियों को मांसाहार के लिए समाप्त कर दिया, जिसमें 60 करोड़ मुर्गे और अन्य पाल्ट्री प्राणी, 30 करोड़ के करीब गाय, भैंस, भेड़–सुअर इत्यादि शामिल हैं। अन्य प्राणियों में एक अरब के करीब समुद्री जीव जैसे मछलियाँ, ऑक्टोपस, आइस्टर जैसे प्राणी हैं।

जिन प्राणियों को हम जीवन दे नहीं सकते उनका जीवन मात्र हमारे पेट भरने के लिए छीन लेना क्या इन्सानियत के दायरे में आता है? क्रूरता के दंश से तड़पती मानवता को आज ऐसा सत्पथ दिखाने की आवश्यकता है। प्रभु अरिष्टनेमि ने पशुओं के क्रन्दन को सुनकर अपनी बारात को सिर्फ इस लिए मोड़ लिया कि हजारों पशुओं का वधकर बरातियों को परोसा जाना था। प्रभु ने निरीह प्राणियों को बचाने के लिए साधुत्व को स्वीकार कर लिया। यह थी उनकी संवेदनशीलता एवं अहिंसा की भावना। मांसाहारियों की संवेदनाएँ मर जाती हैं, वे हिंसक होते हैं जो जैन जीवनशैली का अंग नहीं माना जा सकता।

(v) **महामारियों का उद्भव**–मांसाहार के उपयोग से उत्पन्न महामारियों ने विश्व में तबाही मचायी है।

UNO ने स्पष्ट किया है कि मांसाहार से संक्रमण का खतरा बढ़ता है। टी.वी. 9 चैनल ने डेविड कॉमेन की पुस्तक-स्पीलर एनिमल इन्फेक्ट एण्ड दी हूमन पेंडेमिक में स्पष्ट किया वर्ष 1967 में मारबर्ग, 1969 में लस्सा, 1981 में HIV, 1994 में हेण्ड्रा, 1997 में एवियन इन्फ्लूऐन्जा, 1998 में निपाह, 2002 में सार्स, 2009 में स्वान, 2013 में इबोला तथा वर्ष 2019 में कोविड-19 इत्यादि महामारियाँ इन प्राणियों के आहार द्वारा ही फैली हैं। जिनसे करोड़ों लोगों की जान चली गयी और आज पूरा विश्व कोरोना के कहर को झेल रहा है।

महामारियों (कोरोना) के प्रभाव को देखते चीन ने जंगली जानवरों के शिकार एवं उनके आहार पर 5 वर्षों तक रोक लगा दी। ऐसे ही अमेरिका, इटली, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड इत्यादि देशों में मांसाहार का आँकड़ा घटने लगा है तथा शाकाहार की तरफ बढ़ रहे हैं।

(vi) मांसाहार घटती हुई दर से बढ़ रहा है-सेहत सुधारने, बीमारियों एवं महामारियों से बचने के लिए शाकाहार उत्तम आहार है। आँकड़ों के अनुसार इंग्लैण्ड में $^{1}/_{3}$ लोगों ने मांसाहार छोड़ा है, अमेरिका में पहले से $^{2}/_{3}$ लोगों ने इसका उपयोग कम कर दिया है। वर्ष 1967 से इसका उपयोग आज 5 गुणा बढ़ गया है। (70 मै.ट. से 330 मै.ट.) जिसका मुख्य कारण है जनसंख्या में वृद्धि जो पहले 3 अरब (1960) थी वह आज 7.5 अरब हो गयी है। प्रति व्यक्ति आय के बढ़ने के कारण भी इसका उपयोग बढ़ा है, क्योंकि पिछले 50 वर्षों में आय तीन गुणा बढ़ गयी है। जिन-जिन देशों में आय अधिक बढ़ी है, उपयोग भी बढ़ा है। जैसे यू.एस.ए., आस्ट्रेलिया, कुवैत, न्यूजीलैण्ड, अर्जेण्टिना। लेकिन जो देश गरीब हैं वहाँ पर इनका उपयोग घट रहा है। क्योंकि मांसाहार की कीमत अधिक होने से गरीब देश सक्षम नहीं हैं।

भारत के सन्दर्भ में रजिस्ट्रार ऑफ जनरल इण्डिया की रिपोर्ट के अनुसार 30 प्रतिशत शाकाहारी तथा 70 प्रतिशत लोग मांसाहारी हैं। जिसमें तेलंगाना 99 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल में 98.55 प्रतिशत, आन्ध्रप्रदेश में 98.25 प्रतिशत, तमिलनाडु में 97.62 प्रतिशत तथा उड़ीसा में 97.35 प्रतिशत लोग शाकाहारी नहीं हैं। जबकि राजस्थान में 75 प्रतिशत, पंजाब में 66.75 प्रतिशत, गुजरात में 60.95 प्रतिशत तथा मध्यप्रदेश में 58.6 प्रतिशत लोग शाकाहारी हैं।

आज उच्च स्तर पर मांसाहार का उपयोग न किए जाने हेतु नीतियाँ बनाई जा रही हैं। विदेशों में कई जगह पर शाकाहारी रेस्टोरेण्ट एवं जैन भोजन की सुविधाएँ भी बढ़ रही हैं। शाकाहार के महत्त्व को लोग समझ रहे हैं। आज जैन फूड ने पूरे विश्व में अमिट छाप छोड़ी है तथा इसे जैन ही नहीं अजैन भी पसन्द कर रहे हैं। इस तरह यह शाकाहार जैनधर्म की ही देन सिद्ध हो रहा है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि जैन जीवन शैली में मांसाहार को वर्जित करते हुए शाकाहार को अहिंसा, जीवदया, करुणा, मैत्री, मानवता तथा आत्मिक एवं बौद्धिक विकास के आधार पर प्रमुख स्थान प्राप्त है। इनके महत्त्व को सभी धर्मों ने माना है, क्योंकि शाकाहार सभी के लिए उपयुक्त आहार है।

भगवती आराधना ग्रन्थ में लिखा है-

होइणरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाण दंसणं चरित्तं।
आमिसकलिणा ठइओ छायं मइलेइ य कुलस्स।।

अर्थात् जब आहार मर्यादाएँ खोकर मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है तब तप, ज्ञान-दर्शन और चारित्र की मर्यादाएँ भी तोड़ देता है। ऐसा निर्लज्ज कुल की लाज भी गँवा बैठता है। अत: भक्ष्य और अभक्ष्य को जानकर इनसे स्वयं एवं अपने राष्ट्र, कुल, अपने सांस्कृतिक वैभव की रक्षा करें। शाकाहार उत्तम आहार मान कर इसका उपयोग करना सभी दृष्टि से उपयुक्त है।

-25, बैंक कॉलोनी, महेश नगर विस्तार-बी, गोपालपुरा बाईपास, जयपुर (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 385
ISSN 2249-2011

ब्रह्मचर्य की जीवनशैली

श्री संजय सुराणा

प्रभु महावीर स्वामी ने जीवन के जिस पथ का प्रदर्शन किया, उनकी आज्ञाओं और स्वयं की शक्ति के अनुसार उस पथ पर चलने का पुरुषार्थ करना, अपने जीवन के हर क्रियाकलाप को करते समय प्रभु के सन्देश एवं विचारों को स्मृतिपटल पर लाना और तद्रूप आचरण करना ही जैन जीवनशैली के अनुरूप जीवन निर्वाह करना है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है, ब्रह्म अर्थात् आत्मा के समीप रहना। सर्वांग रूप में ब्रह्मचर्य की अखण्ड, अविचल साधना करने वाला ही इन्द्रिय-निग्रह कर सकता है, इन्द्रिय-निग्रह करने वाला ही सिद्धस्थान को प्राप्त कर सकता है, ब्रह्मचर्य सतत आध्यात्मिक सुख का केन्द्र है, आरोग्य तरु की जड़ है, आत्मबल का उद्गम है, नैतिकता और प्रामाणिकता का स्रोत है, सबसे महत्त्वपूर्ण संयम की बुनियाद है।

जैन जीवनशैली में ब्रह्मचर्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आगम-साहित्य में अनेक स्थानों पर इसका वर्णन है। एक जैन श्रावक के लिए सप्त कुव्यसनों का त्याग आवश्यक होता है जिसमें वेश्यागमन और परस्त्रीगमन से विरति की जाती है। आचाराङ्गसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन के चौथे उद्देशक के सूत्र 84 में प्रभु ने फरमाया, **'आसं च छंदं च विगिंच धीरे'** अर्थात् हे धीर! तू भोग की आशा और इच्छा को छोड़ दे। वीरत्थुई (पुच्छिस्सुणं) में भी **'तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं'** की सूक्ति से ब्रह्मचर्य की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र का सोलहवाँ अध्ययन तो सम्पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य समाधि स्थान से ही परिलक्षित है। जैन जीवनशैली के अनुरूप जीवनयापन करने के लिए, ब्रह्मचर्य व्रत की पालना में सजगता के लिए नववाड़ की प्ररूपणा की गई, क्योंकि इतिहास के ऐसे कई प्रसङ्ग हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि ब्रह्मचर्य की पालना इतनी दुष्कर होती है कि बड़े-बड़े साधक, महर्षि कुछ निमित्त पाकर थोड़ा-सा चूक गये। इनमें से कुछ तो प्रायश्चित्त लेकर सम्भल गए और कुछ दुर्गति के अधिकारी बन गये। रथनेमि, अर्हन्नक मुनि, सिंह गुफावासी मुनि अनेक उदाहरणों का इतिहास साक्षी रहा है।

आज हमारी युवा पीढी संस्कारों के अभाव में, भौतिकता के बढ़ाव में, पर लिंग के प्रति आकर्षण के स्वभाव में, वासना को ही प्रेम मानकर जीवन को गलत राह पर ले जा रही है। एड्स जैसे रोगों को निमन्त्रण दे रही है। उत्तराध्ययनसूत्र के 14वें अध्ययन में प्रभु ने फरमाया-**'खणमित्तसुक्खा, बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा, अणिगामसुक्खा'** अर्थात् कामभोग चिरकाल सुख और अनन्त काल दुःख देने वाले हैं, इनके सेवन से तृप्ति की प्राप्ति सम्भव ही नहीं, अपितु भोग की अधिकता तो तृष्णा और अतृप्ति का ही विकास करती है। जैन जीवनशैली समझाती है कि स्वच्छन्दमति पर अंकुश लगाकर ही सही दिशा में विकास हो सकता है। ब्रह्मचर्य की पालना सुचारु रूप से और सजगता से करने के लिए स्थान, भोजन, इन्द्रिय-नियन्त्रण आदि का विचार और विवेक रखना आवश्यक है। जैन जीवनशैली सिखाती है कि एकान्त स्थान पर पुरुष और स्त्री अकेले में वार्तालाप करने से बचें, यहाँ तक कि जैन साधु और साध्वियाँ तो विपरीत लिङ्ग के एक दिन की आयु वाले बालक अथवा बालिका को भी स्पर्श नहीं करते। क्योंकि क्षणमात्र का निमित्त मिलने भर से दीर्घकाल से साधना करने वाली आत्माएँ भी डगमगा गईं तो सामान्य मानव के लिए तो स्थिर रहना अत्यन्त दुष्कर है।

दूसरा भोजन का विवेक, जैन जीवनशैली में 12 प्रकार के तप बतलाए हैं। उसमें अनशन, ऊनोदरी, रसपरित्याग आदि में भोजन का भी परिमाण हो जाता है। परिमाण से अधिक और सरस स्वादिष्ट आहार करने से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक (आत्मिक) हानियाँ होती हैं, ब्रह्मचर्य को क्षति पहुँचती है। अधिक स्निग्ध आहार से मनोविकार बढ़ते हैं जिससे अङ्ग कुचेष्टा होती है और मनुष्य भोग में प्रवृत्त होकर बहुमूल्य ब्रह्मचर्य को मलिन कर डालता है। तीसरा इन्द्रिय-निग्रह, एक सच्चा जैन कभी भी परस्त्री के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, आकृति यहाँ तक कि दीवार या पोस्टर पर लगे नारी के चित्रों को भी टकटकी लगाकर नहीं ताकता। पुराने जमाने में तो जैन श्रावक की इतनी पैठ होती थी कि कोर्ट में उसकी गवाही को प्रमाणित माना जाता था। रानियों के अन्त:पुर में जाने पर भी उन पर कोई रोक-टोक नहीं होती थी और यह उनके सद्चरित्र का प्रमाणपत्र था।

आज हमारी संस्कृति में पाश्चात्य संस्कृति का एक अवगुण अपने पैर पसार रहा है, जिसे '*live in relationship*' के नाम से जाना जाता है जिसका तात्पर्य है बिना विवाह-बन्धन में बन्धे एक साथ रहना। ऐसा करना अनैतिकता को खुला बढ़ावा देना ही है। ऐसी परिस्थितियाँ मात्र वासना को ही विकसित करती है। दिन-प्रतिदिन बढ़ते बलात्कार के किस्से, जिनमें न रिश्तों की मर्यादा है, न उम्र का लिहाज, शिष्टता और शालीनता तार-तार हो रही है। क्रूरता और दुराचार अपनी सारी सीमाएँ लाँघ रहे हैं। **इन परिस्थितियों से समाज को निज़ात दिलानी है तो एक ही उपाय है जैन जीवन शैली को प्राथमिकता देकर जिया जाए।** स्थूलिभद्र के प्रसङ्ग से प्राय: सभी परिचित हैं कि जिस कोशा वेश्या के यहाँ लम्बा काल भोग विलास में बिताकर आए, ऐसी कोशा के यहाँ उस अकेले मुनि ने भोगों को तिलाञ्जलि देने के पश्चात् ब्रह्मचर्य की दृढ़ता के कारण चातुर्मास काल पूर्ण किया, वहीं पर गुरु द्वारा स्थूलिभद्र की अत्यधिक प्रशंसा सुनकर सिंह गुफावासी मुनि ने ईर्ष्यावश कोशा के यहाँ चातुर्मास किया और संयम से चलायमान हो गए। स्थूलिभद्र ने ब्रह्मचर्य की दृढ़ता से वेश्या को श्राविका बना दिया, तो उसी श्राविका ने संयम से च्युत सिंह गुफावासी मुनि को संयम में फिर से स्थिर किया। सेठ सुदर्शन, जिन पर रानी मोहित हो गई, पर जब अपनी मोहक मुद्राओं से भी सुदर्शन को शील से डिगा न पाई, तो उन पर व्यभिचार का आरोप लगा दिया। फाँसी की सजा सुना दी गई, पर जैसे ही सूली पर लटकाने का प्रयत्न किया गया, सूली सिंहासन में परिवर्तित हो गई। यह है शील का प्रभाव, ऐसी होती है ब्रह्मचर्य की महत्ता।

उत्तराध्ययनसूत्र के नवम अध्ययन की 53वीं गाथा में नमिराजर्षि, देवेन्द्र से कह रहे हैं कि काम-भोग शल्य हैं, काम-भोग विष हैं, आशीविष सर्प के समान हैं। इन भोगों की अभिलाषा करने वाले यदि किसी परिस्थितिवश उन काम-भोगों का सेवन नहीं कर पायें तो भी दुर्गति के ही अधिकारी बनते हैं। आज के समय में भी यदि हम देखें कि कोई वासना का पुजारी किसी दुष्कर्म को करने की योजना बनाता है, कोशिश करता है, अपने दुष्कर्म में सफल नहीं हो पाता, तो भी पकड़े जाने पर जेल की काल कोठरी, आतुरता से उसकी प्रतीक्षा कर रही होती है। इसलिए जैन जीवनशैली संयमित जीवन जीने की प्रेरणा देती है। स्वाध्याय की सुगन्ध से स्वयं को वासित करना, तप से अपनी आत्मा को परिपूरित करना, धर्मध्यान से चित्त को विशुद्ध करना, सद्चारित्र से आत्मा को भावित करना, जैन जीवनशैली का प्रमुख आयाम है।

समुद्र पार करने के लिए जिस प्रकार जलपोत रूपी साधन का सहारा लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार दु:ख-मुक्ति के लिए ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ साधन है। दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन में कहा गया 'कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं' अर्थात् काम नष्ट होने से दु:ख स्वत: ही नष्ट हो जाते हैं। मानव जीवन के दु:खों को मूलत: तीन भागों में बाँटा जा सकता है-1. आधि 2. व्याधि 3. उपाधि जनित दु:ख। इन तीनों दु:खों का

निराकरण जैन जीवनशैली की प्ररूपणा के अनुरूप ब्रह्मचर्य को अपनाकर आसानी से कैसे किया जा सकता है, समझने का प्रयास करते हैं।

व्याधि अर्थात् शारीरिक समस्या

शरीर रूपी साधन के जानकार लोगों ने भी वीर्य रक्षा को आवश्यक माना है। मानव जो आहार ग्रहण करता है उसका क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और वीर्य बनता है। ग्रहण किए गए भोजन का 40वें दिन वीर्य बनता है। एक मण भोजन से एक सेर रक्त बनता है और एक सेर रक्त से दो तोला वीर्य बनता है। जिस प्रकार बादाम में तेल और दूध में घी, मक्खन होता है उसी प्रकार शरीर के कण-कण में वीर्य व्याप्त है। एक बार वीर्य नष्ट करने का अर्थ है महीने भर की अर्जित शक्ति की हानि। इसलिए भोगों में लिप्त असंयमित प्राणी का शरीर घुन लगे काष्ठ की तरह खोखला और जीर्ण हो जाता है और उसका शरीर कम्पन, श्वास, कुष्ठ, क्षय तथा कैन्सर जैसे रोगों का घर भी बन सकता है।

अमरीकन डॉक्टर थौर ने कहा कि यदि वीर्य को न पचा सकें तो जीवन में एक बार स्त्री-संसर्ग करें, यदि सन्तोष न हो तो वर्ष में एक बार, उस पर भी सन्तुष्टि न हो तो माह में एक बार, किन्तु मृत्यु जल्दी होगी। फिर भी सन्तुष्टि न हो तो मृत्यु एवं रोगों को आमन्त्रण देना है। सुकरात ने कहा है-यदि संयम से सन्तोष न हो तो सिर पर कफन बाँधकर मनोनुकूल करें, न मालूम कब मौत आ जाय।

अपने आपको संयमित बनाने के लिए जैन जीवनशैली चक्षु-संयम, विविक्तशय्यासन, स्वाध्याय, खाद्य-संयम जैसे अनेक उपयुक्त साधन प्रस्तुत करती है। अपरिमित और गरिष्ठ भोजन तो संयमित होने में ज़हर का काम करते हैं। चिरायुष्यता, तेजस्विता, स्वस्थता आदि ब्रह्मचर्य के ही लक्षण हैं। जैन जीवनशैली कहती है-परस्त्री सेवन का त्याग तो पूर्ण रूप से करना ही है साथ ही साथ स्वस्त्री-सेवन का भी सम्पूर्ण त्याग करना बहुत उत्तम है अन्यथा कम से कम उसकी मर्यादा तो करनी ही चाहिए। पूज्य आचार्य भगवन्त हस्तीमल जी म.सा. को अखण्ड ब्रह्मचारी की उपमा से उपमित किया जाता है। 15 वर्ष की उम्र तक मात्र विद्याध्ययन को प्राथमिकता दी, कोई भी स्त्री उनके दर्शन भी झरोखे-खिड़की में से ही कर सकती थी। तभी अन्तिम क्षणों तक उनकी देह-कान्ति, मुख की तेजस्विता और संयम की उज्ज्वलता इसी शील और ब्रह्मचर्य के कारण अक्षुण्ण रही। वर्तमान आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्र जी म.सा. का भी व्यसन त्याग और शीलव्रती बनाने पर विशेष प्रयास रहता है और उन्हें इस विषय में आशातीत सफलता भी प्राप्त होती है। इसलिए शरीर को नीरोगी बनाने के लिए जैन जीवनशैली का अनुसरण करें। हम व्यवहार में मर्यादा, भोजन में संयम, भौतिक वातावरण से दूरी का प्रयास कर शरीर सम्बन्धी समस्याओं को दूर कर सकते हैं।

आधि अर्थात् मानसिक समस्या

कायिक अब्रह्मचर्य तो घातक है ही, किन्तु मानसिक अब्रह्मचर्य उससे भी अधिक घातक है। उससे वीर्याणु शिथिल हो जाते हैं। अहर्निश के मानसिक विकार से मनुष्य पागल भी हो सकता है और मृत्यु को भी प्राप्त हो सकता है। रावण का उदाहरण आपके सामने है। वह सीता के शील को भङ्ग नहीं कर पाया, पर मन में आए एक बुरे विचार ने सिर्फ उसे ही नहीं अपितु पूरी लंका को बरबाद कर दिया।

मानसिक शान्ति को प्राप्त करने के लिए, आधि को उपशान्त करने के लिए जैन जीवन शैली में ध्यान-साधना, आगम-स्वाध्याय, मौन की आराधना, सामायिक की साधना, सत्साहित्य का पठन-पाठन, गुरुभक्तों की चरण-सन्निधि अनेक उपाय बताये गए हैं। अखण्ड ब्रह्मचर्य के कारण जीव में इतना मानसिक सामर्थ्य विकसित हो जाता है कि विपरीत परिस्थितियों को उसके सामने नत-मस्तक होना ही पड़ता है। इस शील-आराधना के बल से ही पितामह भीष्म के सामने

परशुराम को झुकना पड़ा। सीता, द्रोपदी आदि सतियों के संकट शिलोच्चय का चूर्ण उनके सतीत्व के सामर्थ्य से ही हो सका।

महात्मा गाँधी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है- ''मैंने 37 वर्ष की उम्र में ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया। व्रत लेते ही जुलूह विद्रोह शान्त हो गया। एक महीने बाद ही सत्याग्रह का सूत्रपात हुआ। **ब्रह्मव्रत लेने के बाद मैंने जिस स्वतन्त्रता का अनुभव किया उसका पहले कभी नहीं किया।** ब्रह्मचर्य में असीम सुख है, पर पालन बहुत दुष्कर है इसका अनुभव वृद्धावस्था में भी होता है।''

जब इन्द्रिय-निग्रह होता है, तब भोजन संयमित होता है। गुरु समागम प्राप्त होता है, तो स्वाध्याय में रुचि बढती है, ध्यान-साधना मन को एकाग्र कर वासना में भटकने से बचाती है। तब चित्त में ऐसी अपूर्व शान्ति उत्पन्न होती है कि विषय वासना के ज्वार-भाटे उसमें उद्वेग नहीं ला सकते और जब मानसिक विकारों से मुक्ति मिलने लगती है तो आधियों को तो दूर हटना ही पड़ता है।

उपाधि अर्थात् पदजनित दु:ख

वृहद्आलोयणा में हमने पढ़ा है-'सुख दियां सुख होत है, दु:ख दियां दु:ख होय। आप हणे नहीं अवर को, तो आपको हणे न कोय।।' अर्थात् असाता देने से असाता वेदनीय कर्म बँधता है और जब वह उदय में आता है तब दु:ख की उत्पत्ति तो नि:सन्देह होती ही है। स्त्री-पुरुष के एक बार के संसर्ग में नौ लाख सन्नी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्ता जीवों की हिंसा की सम्भावना हो सकती है। इसलिए अब्रह्म सेवन को बूचड़खाने अर्थात् कसाईघर की उपमा भी दी जाती है। मात्र कुछ देर अपनी भोग विलासिता की सन्तुष्टि के लिए इतनी हिंसा उचित नहीं। इससे तो कर्मों का बन्ध ही होगा जो आत्मा के लिए किसी भी प्रकार हितकर नहीं। इस लोक में तो शारीरिक दृष्टि से अब्रह्म अहितकारी है ही, परभव के लिए भी हानिकारक है।

इस समस्या के समाधान के लिए, आत्मा को मलिनता से हटाकर शुद्ध स्वरूप प्रकटाने के लिए ब्रह्मचर्य रामबाण औषधि है। विवेकानन्द, अब्दुल कलाम आज़ाद के जीवन को पढ़ने और जानने का अवसर हममें से अधिकांश को मिला है। उनके वैचारिक और आत्मिक सौन्दर्य के इतने प्रखर होने का राज उनका ब्रह्मचर्य पालन ही था। ब्रह्मचर्य समस्त व्रतों में महान् और कठोर व्रत है। इसकी आराधना से राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय, मोह, ममत्व एवं विषयों से होने वाले समस्त पापों का शमन हो जाता है। इसलिए **ब्रह्मचर्य को शान्ति तीर्थ भी कहा है।** इसकी साधना से कर्म फलों के मूलभूत राग-द्वेष समूल नष्ट होने पर पुन: कर्म मल की उत्पत्ति नहीं होती, जिससे आत्मा सहज ही विशुद्ध हो जाती है और विशुद्ध आत्मा में आत्मिक दु:ख रह ही नहीं सकता।

आज पाँचवी-छठी कक्षा में ही विद्यालयों में यौन शिक्षा की जानकारी दी जाने लगी है। बची-कुची कसर मोबाइल और इण्टरनेट ने पूरी कर दी है। जिस उम्र में बच्चे में आध्यात्मिक संस्कार भरे जाने चाहिए, उस उम्र में यदि यह कचरा भरा जाएगा तो भटकाव की सम्भावना तो होगी ही। यदि संस्कार को मजबूत किया जाए तो बच्चा अपने आप ही गलत दिशा का रुख करेगा ही नहीं। यदि जैनत्व की जानकारी से परिपूर्ण होगा तो यौन शिक्षा की जानकारी की जरूरत ही नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र के 16वें अध्ययन में आया-'**देव-दाणवगंधव्वा, जक्ख-रक्खस्स किन्नरा। बम्भयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करंति तं।।**' अर्थात् दुष्कर ब्रह्मचर्य की पालना करने वालों को तो देव, दानव सभी नमस्कार करते हैं। जो भ्रम में रहते हैं वे भ्रमण ही करते रहते हैं और जो ब्रह्म अर्थात् आत्मा में रहते हैं वे भव-भ्रमण को मिटा देते हैं।

आज के युग में जहाँ सदाचार कम हो रहा है, सांस्कृतिक पतन हो रहा है, विदेशी संस्कृति का अनुसरण कर समस्याएँ बढ रही हैं, बाजारवाद का प्रभाव घरों में घुस आया है, **तन पर वस्त्रों की कमी व्यभिचार को बढ़ावा दे रही है, युवा पीढ़ी भटकन के**

रास्ते पर अग्रसर है, आने वाला कल खतरनाक मोड़ ले रहा है। वहाँ इन सब पर लगाम कसनी है, जीवन का विकास, व्यक्तित्व का निर्माण करना है, मानव जीवन सफल बनाना है तो जैन जीवनशैली के अनुरूप जीवन निर्वाह के लिए पुरुषार्थ करें। ब्रह्मचर्य की साधना से दु:खों से मुक्ति पाएँ और जीवन को सार्थक करें।

ब्रह्मचर्य व्रत महान् है, संयमी की पहचान है।
मुक्ति दिलाता हर दु:ख से, जैनधर्म की शान है।।
सिद्धि पद दिलवा सकता, ऐसे गुणों की खान है।
देव दानव भी चरणों में झुक,
करते ब्रह्मचारी को प्रणाम है।।

भारत की संस्कृति में तो चाहे वैदिक परम्परा रही हो अथवा जैन परम्परा, सभी में ब्रह्मचर्य का स्थान ऊँचा ही रहा है। वैदिक परम्परा में जहाँ प्राचीनकाल में जीवन के चार विभाग ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम की व्यवस्था रही वहाँ गृहस्थाश्रम को छोड़कर शेष तीनों में ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक था। पूज्य आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा. के जीवन का प्रसङ्ग है, विहार करते हुए एक गाँव में पहुँचे। चौधरियों के परिवार बहुतायत में थे, आचार्य भगवन्त ने शीलव्रत की प्रेरणा दी। उत्तर मिला-हमारे यहाँ तो जैसे ही पुत्रवधू घर में आती है अथवा पोते-पोती का जन्म हो जाता है, हमारा पलङ्ग अथवा खाट कमरे से बाहर, मकान के पोल में आ जाता है। अपनी परम्परा के प्रति कितनी दृढ़ता। वैदिक परम्परा में तो फिर भी अधिकांशत: 50 की उम्र के बाद ब्रह्मचर्य की व्यवस्था है, पर जैन परम्परा में तो जब जीवन का सत्य समझ में आये, भोगों से विरक्ति हो जाए, भोग किंपाक फल के विपाक के समान विष स्वरूप लगने लगें तब शील पालन में उम्र आड़े नहीं आती। तब चाहे वह लघु वय के एवन्ता हो या सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त गजसुकुमाल, जम्बूकुमार, अभयकुमार, भृगु पुरोहित के पुत्र, अत्यन्त भोगों में रही कृष्ण की पटरानियाँ, श्रेणिक की रानियाँ, सभी को शीलव्रत धारण करते रञ्चमात्र का भी समय नहीं लगता है। इतिहास क्या, वर्तमान में भी अनेक उदाहरण हैं जिन्होंने 18-40 वर्ष की यौवन अवस्था में भोग को तिलाञ्जलि दी। सच तो यह है-'त्यागो भोग, रहो नीरोग। मानसिक दु:ख का होगा वियोग।।'

-एस. 149, महावीर नगर, टोंक रोड,
जयपुर (राज.)

पक्षियों को युवतियों की चिन्ता

आचार्य विजयरत्नसुन्दरसूरि जी म.सा.

पवन तोता आज सल्लू कौए से कह रहा था, आज मैं अमरूद खाने के लिए शहर गया था। वहाँ मैंने देखा कि शहर की अधिकतर युवतियों के शरीर पर बहुत कम वस्त्र थे।

सल्लू कौए ने कहा-मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझा, कम अर्थात्?

अरे, इतने कम कि उन युवतियों को देखने में हमें शरम से आँखें नीचे झुकानी पड़े। मुझे ऐसा लगता है कि अधिक महँगाई के कारण शहर की युवतियाँ इतने वस्त्र नहीं खरीद सकती होंगी कि जिससे अपना शरीर ढक सकें।

सल्लू कौए ने कहा-क्यों न हम एक काम करें।

क्या? केले तथा नारियल के पत्ते बहुत बड़े होते हैं। हम उन वृक्षों से पत्ते तोड़-तोड़कर शहर के रास्तों पर डालते जायें, सभी युवतियाँ वे पत्ते लेती रहेंगी एवं अपने शरीर को ढकती रहेंगी। तुम्हारी बात तो ठीक है, परन्तु अधिकतर कम वस्त्र पहनने वाली युवतियाँ गाड़ियों में घूमती रहती हैं, रास्तों पर डाले हुए पत्ते लेने के लिए क्या वे गाड़ियों से नीचे उतरेंगी?

सल्लू कौए के इस प्रश्न का पवन तोते के पास कोई उत्तर नहीं था। ☙

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 390
ISSN 2249-2011

वाणी का संयम : क्यों और कैसे?

डॉ. सुमत कुमार जैन

जीवन का सर्वांगीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य है। समस्त प्राणियों के प्रति संयमभाव ही अहिंसा है-'अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।'[1] मन, वचन, काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है। शील, संयमादि गुणों से समृद्ध व्यक्ति ही सत्पुरुष की कोटि में परिगणित किया जाता है।

वाणी और संयम की महत्ता

वाणी मनुष्य के लिए अनुपम उपहार है। मनुष्य का भाषा पर विशेष अधिकार है। भाषा के कारण ही मनुष्य इतनी उन्नति कर सका है। वर्णों के मेल को शब्द कहते हैं और शब्दों से मिलकर वाक्य बनता है। वाक्य हमारे भावों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। मन में जो विचार आते हैं, वह विचार वचनों में व्यक्त होते हैं। हमारी वाणी में मधुरता का जितना अधिक अंश होगा हम उतने ही दूसरों के प्रिय बन सकते हैं। हमारी बोली में माधुर्य के साथ-साथ शिष्टता भी होनी चाहिए।[2] विदेशी विद्वान फ्रेंकलिन ने अपनी सफलता का रहस्य बताते हुए कहा था कि किसी के प्रति अप्रिय न बोलना तथा जो कुछ बोला जाए उसकी अच्छाइयों से सम्बन्धित ही बोला जाए, तो इस वाणी से सुनने वाला तो प्रसन्न होगा ही, बोलने वाला भी आनन्दित होगा।

जीवन में वाणी का बहुत महत्त्व है। वाणी में अमृत भी है और विष भी (**विषामृतयोराकरी जिह्वा-चाणक्यसूत्र**), मिठास भी और कड़वापन भी। सुनते ही सामने वाला आग बबूला हो जाए और यदि वाणी में शालीनता है, तो सुनने वाला प्रशंसक बन जाए।[3]

हमारी वाणी ही हमारी शिक्षा-दीक्षा, कुल की परम्परा और मर्यादा का परिचय देती है। इसलिए हमें वार्तालाप में व्यापारिक एवं व्यावहारिक बातचीत में थोड़ा अन्तर रखना चाहिए। वाणी किसी भी स्थिति में कटु एवं अशिष्ट नहीं होनी चाहिए।

जैन मनीषियों ने संयम को परिभाषित किया है कि संकल्पपूर्वक समीचीनता के साथ मन, वचन और काया की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना है। सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियन्त्रण संयम है।[4] समवायांगसूत्र के सतरहवें समवाय[5] में संयम का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है-पृथ्वीकायिक-संयम, अप्कायिक-संयम, तेजस्काय-संयम, वायुकाय-संयम, वनस्पतिकाय-संयम, द्वीन्द्रिय-संयम, त्रीन्द्रिय-संयम, चतुरिन्द्रिय-संयम, पञ्चेन्द्रिय -संयम, अजीवकाय-संयम, प्रेक्ष्या-संयम, उपेक्षा-संयम, अल्पहृत्य-संयम, प्रमार्जना-संयम, मन:संयम, वचन-संयम, और काय-संयम। इन संयम के प्रकारों में वचन-संयम के बारे में भी कहा गया है कि ऐसी वाणी का प्रयोग करना चाहिए जिससे जीवमात्र को भी कष्ट न हो, हित-मित एवं मधुर वाणी सर्वजन हिताय होनी चाहिए। सम्राट् अशोक के द्वादश शिलालेख में भी वाणी का संयम सभी धर्मों का मूल कहा है-'**इयं मूले अ वचगुति**'।[6]

वाणी को संयमित रखने की प्रेरणा देते हुए संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है-

जिह्वे! प्रमाणं जानीहि भोजने भाषणेऽपि च।
अतिभुक्तिरतीवोक्ति: सद्य: प्राणापहारिणी।।

अर्थात् हे जिह्वा! तू भोजन और भाषण में भी प्रमाण को जान ले, क्योंकि अतिभुक्ति (अधिक भोजन) और अति उक्ति (अधिक बोलना) शीघ्र ही प्राणों को हरने वाला है। कुरलकाव्य में कहा गया है-किसी इन्द्रिय को चाहे मत रोको, पर अपनी जिह्वा पर

अवश्य लगाम लगाना चाहिए, क्योंकि अनियन्त्रित जिह्वा बहुत दुःख देती है।[7]

प्राकृत साहित्य में वाणी को संयमित रखने के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। कतिपय सन्दर्भ इस प्रकार हैं। जैसे कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है-

हिंसावयणं ण वयदि कक्कस-वयणं पि जो ण भासेदि।
णिट्ठुरवयणं पि तहा ण भासदे गुज्झवयणं पि।।
हिदमिदवयणं भासदि, संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
धम्मपयासवयणं, अणुव्वदि होदि सो विदिओ।।[8]

अर्थात् जो हिंसा-वचन नहीं कहता, कठोरवचन नहीं कहता, निष्ठुर वचन नहीं कहता और न दूसरे की गुप्त बात को प्रकट करता है, हित-मित वचन बोलता है, सब जीवों के सन्तोषकारक वचन बोलता है और धर्म का प्रकाश करने वाला वचन बोलता है, उसे ही अणुव्रती जानो।

उक्त गाथाओं का आशय यह है कि जिन वचनों से अन्य जीवों का घात हो, ऐसे वचन नहीं बोलना चाहिए। जो वचन दूसरों को कड़वा लगे, जिसके सुनते ही क्रोध आ जाये, ऐसे कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए। जैसे-तू मूर्ख है, तू बैल है, कुछ भी नहीं समझता है, इस प्रकार के कर्णकटु शब्द नहीं बोलना चाहिए। जिन वचनों को सुनकर दूसरे को उद्वेग हो, जैसे तू कुजात है, शराबी है, कामी है, तुझमें अनेक दोष हैं, मैं तुझे मार डालूँगा, तेरे हाथ पैर काट डालूँगा-इस प्रकार के निष्ठुर वचन नहीं कहना चाहिए। किन्तु हितकारी वचन कहना चाहिए तथा मित अर्थात् कम बोलना, ज्यादा बक-बक नहीं करना, जिससे सब जीवों को सन्तोष हो, आनन्द आये, ऐसे वचन बोलना चाहिए।

वाणी-विवेक के सम्बन्ध में कहा है कि अपनी वाक्यशुद्धि का ध्यान रखने वाला ज्ञानी सदैव दुष्ट वाणी के व्यवहार का परित्याग करे और परिमित, दोषरहित तथा शास्त्र-सम्मत वाणी को बोले।[9] ऐसा करने वाला वाणी का विवेकी सभी तरह के लोगों के बीच में प्रशंसा को प्राप्त करता है। आगे कहते हैं कि आत्मज्ञ साधक को दुष्ट, सीमित, सन्देहरहित, परिपूर्ण, पूरी तरह व्यक्त, वाचालता रहित, किसी को उद्विग्न न करने वाली और अनुभूत वाणी बोलनी चाहिए।

जिस वाणी के बोलने से अप्रीति उत्पन्न हो, सुनने वाला व्यक्ति शीघ्र कुपित हो जाय, ऐसा अहितकारी वचन विवेकवान् व्यक्ति को कभी नहीं बोलना चाहिए-

अप्पत्तियं जेण सिया आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासेज्जा भासं अहियगामिणिं।।[10]

वाणी की महत्ता का वर्णन करते हुए णाणपंचमीकहा में कहा है-

वयणं कज्जविहूणं धम्मविहूणं च माणुसं जम्मं।
निरवच्चं च कलत्तं तिन्नि वि लोए ण अग्घंति।।[11]

अर्थात् कार्यहीन वचन, धर्महीन मनुष्य-जन्म और सन्तानहीन स्त्री- ये तीनों लोक में सम्मान्य नहीं हैं।

ऋग्वेद में वाणी की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ पर कहा गया है कि जिस प्रकार सत्तू को चलनी से परिष्कृत करते हैं, वैसे ही बुद्धिमान लोग बुद्धि के बल से वाणी को परिष्कृत करते हैं, वहाँ विद्वान् लोग अपना अभ्युदय जानते हैं। विद्वज्जनों के वचन में लक्ष्मी निवास करती है।[12] श्रीमद्भागवत में तीन प्रकार के तपों की चर्चा है-शारीरिक तप, मानसिक तप तथा वाचिक तप। वाचिक तप के सम्बन्ध में कहा है कि उद्वेग उत्पन्न न करने वाले वाक्य, हितकारक तथा सत्य पर आधारित वचन एवं स्वाध्याय वाचिक तप है।

वाणी के प्रकार

उचित और अनुचित के विवेकपूर्वक वाणी का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य हरिभद्रसूरि ने दशवैकालिक की टीका में भाषा के चार प्रकार बतायें हैं-सावद्य अनुमोदनी भाषा, निश्चयकारी भाषा, परोपघातिनी भाषा एवं संशयकारिणी भाषा।[13]

सावद्य अनुमोदनी भाषा से आशय यह है कि जो पाप-प्रवृत्ति को प्रश्रय देती हो, वैसी वाणी का प्रयोग करना सावद्य भाषा कहलाता है। यह अत्यन्त कष्टकारी होती है। यदि कोई व्यक्ति किसी को पीट रहा है तो

कहना कि अच्छा मारा आदि।[14]

निश्चयकारी भाषा अर्थात् जिस बात में शंका हो कि अमुक व्यक्ति ऐसा है या नहीं, वहाँ निश्चित रूप से कहना कि यह ऐसा ही है-यह निश्चयकारी भाषा है। इसमें कहीं असत्य को सत्य और सत्य को झूठ भी साबित कर दिया जाता है। निश्चय जानकारी के बिना निश्चयकारी कथन करना दोष माना जाता है। जैसे-वह कल गाँव गया था या नहीं, इस सम्बन्ध में पक्का पता न होने पर भी कहना कि वह गया था। इस प्रकार की मिथ्या बात किसी के लिए कष्टदायक बन जाती है। ऐसे व्यक्ति द्वारा एक-दो बार इस तरह कहे जाने पर, बाद में उस पर कोई विश्वास नहीं करता है। इसीलिए जहाँ शंका, सन्देह हो, वहाँ ऐसा नहीं बोलना चाहिए।[15]

परोपघातिनी भाषा से अभिप्राय यह है कि जिस भाषा से किसी को कष्ट हो। किसी के दुर्गुणों को उजागर करने वाली भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। किसी के रहस्य को प्रकाशित करने वाली भाषा भी कथनीय नहीं है। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग सम्बन्धों में कड़वाहट पैदा करता है। मित्रता शत्रुता में बदल जाती है और जीवन नीरस बन जाता है।

जीवन में विश्वास का बहुत महत्त्व होता है। विश्वास का आधार गोपनीयता है। जैसे- किसी की व्यक्तिगत बात सुन ली या सुनाई पड़ गई, तो उसे उसकी स्वीकृति के बिना दूसरों को नहीं कहना चाहिए। इसी प्रकार किसी को कुछ लेते-देते देख लिया हो, उस बात को सब जगह बताने से व्यक्ति द्वेष का पात्र बनता है और वाचालता के वशीभूत अपनी विश्वसनीयता खो देता है।

संशयकारिणी भाषा उसे कहते हैं जिसके प्रयोग से व्यक्ति को संशय पैदा होता है। इसमें दो या दो से अधिक अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग कर संशय पैदा किया जाता है। इससे विचारों की उलझन बढ़ती है, अत: व्यक्ति सही तथ्य को समझ नहीं पाता है। अत: संशयकारी भाषा त्यागने योग्य है।

हमारी वाणी में अनेक दोष होते हैं। इन दोषों में से कतिपय द्रष्टव्य[16] हैं-

परुष भाषण अर्थात कठोर वाणी-कभी-भी कड़वी बात नहीं बोलनी चाहिए। किसी भी बात को मृदुता से, मधुरता से एवं अपने हृदय का प्रेम उसमें मिलाकर फिर कहना चाहिए। कठोर वाणी का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। इस हेतु एक दृष्टान्त इस प्रकार है-

गुरु ने शिष्य को किसी घर के मालिक की तलाश करने के लिए भेजा। शिष्य जरा ऐसा ही था, अधूरे लक्षणवाला। उसने घर की महिला से पूछा : ए माई! तेरा आदमी कहाँ है? महिला क्रोधित हो गई और उसने चेले को भगा दिया। इसके बाद गुरु जी स्वयं गए और बोले : माता जी! आपके श्रीमान पतिदेव कहाँ हैं? उस महिला ने आदर के साथ उन्हें बैठाया और पूर्ण जानकारी दी। दोनों ने एक ही बात पूछी, लेकिन पूछने का ढंग अलग था। इस प्रकार कठोर बोलना वाणी का एक पाप है। वाणी का यह दोष मानवता से पतित करवाता है।

अनृत वाणी अर्थात् अपनी जानकारी से विपरीत बोलना-हम जो जानते हैं, वह न बोलें तो चल सकता है, लेकिन जो बोलें वह सत्य ही होना चाहिए, अपने ज्ञान के अनुसार ही होना चाहिए। ज्ञान का कभी अनादर न करें, तिरस्कार न करें। जब हम किसी के सामने झूठ बोलते हैं, तब उसे नहीं ठगते, अपने ज्ञान को ही ठगते हैं, अपने ज्ञान का ही अपमान करते हैं। अधूरे ज्ञान के साथ बोलना भी झूठ बोलने के बराबर है।

पैशुन्य वाणी अर्थात् चुगली करना-इधर की बात उधर और उधर की बात इधर करना। क्या आप किसी के दूत हैं कि इस प्रकार सन्देशवाहक का कार्य करते हैं? चुगली करना आसुरी प्रवृत्ति के अन्तर्गत आता है। इससे कलह पैदा होता है, दुर्भावना जन्म लेती है। चुगली करना वाणी का तीसरा पाप है।

असम्बद्ध प्रलाप अर्थात् असंगत भाषण- प्रसङ्ग के विपरीत बात करना, यदि शादी-विवाह की

बात चल रही हो तो वहाँ मृत्यु आदि की बात नहीं करनी चाहिए। ऐसे ही जहाँ मृत्यु आदि के प्रसङ्ग की चर्चा चल रही हो तो वहाँ शादी-विवाह की बात नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार मानव की वाणी में कठोरता, असत्यता, चुगली एवं प्रसंग के विरुद्ध वाणी आदि ये दोष हमारी वाणी में नहीं होने चाहिए। इन दोषों से युक्त वचन बोलने से बोलने वाले को पाप लगता है।

संयमित-वाणी का प्रयोग

संयम का आधार मन, वचन और काय की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण करना और इन पर लगाम लगाना है। हम रहते कहीं हैं और सोचते कहीं ओर की हैं। बोलने के अवसर पर भी जो जैसा मन में आया वैसा ही बोलने लगते हैं। किसी से कुछ भी कह देते हैं और शरीर की सुख-सुविधाओं की पूर्ति में दिन-रात लगे रहते हैं। सारा जीवन मन, वचन और काय के असंयम में बीत रहा है। अच्छा खाना, अच्छा-अच्छा पहनना और खूब आराम करना। बस पञ्चेन्द्रिय विषयों की पुष्टि और मन को बहलाने में ही व्यक्ति का समय बीतता रहता है।

वाणी के संयम के सम्बन्ध में कहा गया है कि वचन का प्रयोग यदि ठीक रूप से हो, तो उसके द्वारा सुख-शांति संतोष का प्रसार हो सकता है और बातचीत में सावधानी न रखी जाए तो वचन से ही भ्रम, अविश्वास, मारपीट, विवाद, अशान्ति और क्षोभ फैल सकता है। इस कारण बोल-चाल में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है।

संयमित वाणी के हेतु विशेष रूप से तीन रूप कहे गये हैं-हितकारी, मितकारी और प्रियकारी। हमारे आराध्य मुनिराज हित-मित-प्रिय वचन ही बोलते हैं। हितकारी से अभिप्राय है कि जिस वाणी से अपना और दूसरे का कल्याण हो। इस सम्बन्ध में दशवैकालिक में कथन प्राप्त होता है कि बुद्धिमान लोगों को हितकारी और प्रियकारी वाणी का प्रयोग करना चाहिए।[17] उनके मुख से जो भी वचन निकलते हैं, वे हितकर होते हैं। साधु समस्त प्राणियों के हित-इच्छुक होते हैं, अपने घातक व्यक्ति का भी अहित नहीं चाहते, जो प्राणी उनसे द्वेष, घृणा, ईर्ष्या करते हैं तथा मुनिराज का तिरस्कार भी करते हैं, उनके लिए भी हृदय में अशुभ भावना नहीं होती है।

वचन की उपयोगिता के लिए दूसरी बात आवश्यक है-मितकारी वाणी। मितकारी अर्थात् कम बोलना। मितभाषी कभी भी उलझन में नहीं पड़ता है। तदनुसार मुनि महाराज बहुत कम बोला करते हैं, थोड़े शब्दों में अपना वक्तव्य दिया करते हैं, निष्प्रयोजन/बेमतलब जरा भी नहीं बोलते हैं।

बातचीत के समय तीसरी बात यह ध्यान में रखना है कि बोलने में मीठे शब्दों का प्रयोग हो अर्थात् प्रियकारी वाणी बोलना चाहिए, कटु शब्द नहीं। कटु शब्दों से सुनने वालों का हृदय दु:खता है और मीठे शब्दों से श्रोता का चित्त प्रसन्न हो जाता है, वह प्रभावित और आकर्षित होता है। अत: सज्जन व्यक्ति ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो सुनने वाले के कानों को अमृत समान सुखप्रद होती है।

वास्तव में वाणी को संयम में रखने वाला व्यक्ति ऊँचाइयों तक पहुँच जाता है। इसके विपरीत अनियन्त्रित वाणी वाले व्यक्ति को प्राय: जीवन भर सफलता प्राप्त नहीं हो पाती। जो व्यक्ति वाणी से सदैव मीठा बोलता है, उसके मित्रों का क्षेत्र भी विस्तारित होता है। मृदुभाषी होने की स्थिति में लोगों के सहयोग और समर्थन में वह अत्यधिक ऊर्जा का संग्रह कर लेता है, जबकि कटु वचन बोलने वाला व्यक्ति अकेला पड़ जाता है। जो लोग मन, बुद्धि एवं ज्ञान की छलनी में छानकर वाणी का प्रयोग करते हैं, वे ही हित की बातों को समझते हैं और वे ही शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानते हैं। जो व्यक्ति बुद्धि से शुद्ध वचन का उच्चारण करता है, वह अपने हित को तो समझता ही है, जिससे बात कर रहा है उसके हित को भी समझता है।

वाणी में आध्यात्मिक और भौतिक, दोनों प्रकार

के ऐश्वर्य हैं। मधुरता से कही गई बात कल्याण कारक रहती है, किंतु वही कटु शब्दों में कही जाए तो अनर्थ का कारण बन सकती है। कटु वचन रूपी बाण से किसी के मर्म स्थलों को घायल करना पाप है। कटु वाक्यों का त्याग करने में अपना और औरों का भी भला है।

वाणी संयम के लिए मौन

वाणी को संयमित करने में मौन एक कार्यकारी उपाय है। एक उक्ति में कहा भी गया है-**मौनं सर्वार्थसाधनम्।** जीवन में 'मौन' मन की एक आदर्श व्यवस्था है। मौन का भाव है, मन का निष्पन्द होना। मन की चञ्चलता समाप्त होते ही मौन की दिव्य अनुभूति होने लगती है। मौन मन का एक दिव्य अलंकार है, जो इसके स्थिर हो जाने पर सहजता से प्राप्त किया जा सकता है। मौन से मानसिक ऊर्जा का क्षरण रोककर इसे मानसिक शक्तियों के विकास एवं वृद्धि में नियोजित किया जाना सम्भव है। मौन मन को ऊर्ध्वमुखी बनाता है तथा इसकी गति को दिशा विशेष में तीव्र कर देता है।

मौन में मन सहज, शान्त एवं उर्वर होता है और सृजनशील विचारों को ग्रहण कर पाता है, अत: मौन मात्र चुप रहने की अवस्था नहीं है। मौन का अभ्यास करके मन स्थिर एवं प्रशान्त होता है। प्रशान्त मन समस्त मानसिक शक्तियों का द्वार होता है। साधु मन की इस महत्ता से परिचित होने के कारण सार्थक वचन बोलते हैं, जो मन्त्र के समान प्रभावोत्पादक होते हैं। मौन नितान्त असम्भव जान पड़ने वाले कार्यों को सम्भव बनाता है, क्योंकि मौन एक शक्ति है, जो प्रकृति की अजस्र धारा में सतत प्रवाहित होता है। पूर्ण भाव की दशा में मन व्यष्टि से समष्टि का दिव्य बोध कराता है। मौन में मन का अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो जाता है और वह प्रभु की ओर उन्मुख हो जाता है तथा निरन्तर श्रेष्ठता एवं दिव्यता का चिन्तन करता है।

चञ्चल मन वाणी के प्रवाह को नियन्त्रित नहीं कर सकता है और अनियन्त्रित वाणी के दुष्प्रभाव से भला कौन परिचित नहीं है? विषैली वाणी से तो आग्नेयास्त्र एवं परमाणु बम का घातक प्रभाव भी कम है। ऐसी वाणी दूसरों की भावनाओं को आहत करने के साथ ही स्वयं को भी क्षत-विक्षत करती है। द्वापर में महारानी द्रोपदी की कटुवाणी महाभारत के महासंग्राम की आधारशिला बनी। अशान्त, व्यग्र और पीड़ित मन की यह अवस्था होती है।

वाणी की उपयोगिता

हर व्यक्ति को बोलने का अधिकार है। हमारी वाणी जितनी मधुर होगी हम उतने ही सबके प्रिय होंगे। वाणी की मधुरता दिल के द्वार खोलने की कुञ्जी है। कटु वाणी दूसरों को क्रोधित करती है, परन्तु मधुर वाणी दूसरों को प्रसन्न करती है। परन्तु मधुर वाणी बोलने से तात्पर्य यह नहीं है कि मन में द्वेष रखते हुए मीठी वाणी का प्रयोग किया जाए। जीवन का लक्ष्य तो मन की कटुता एवं वैमनस्य को दूर करके अपनी इन्द्रियों पर काबू पाना होना चाहिए।

हमारी वाणी ही हमारे चरित्र का परिचय देती है इसलिए हमारी वाणी किसी भी स्थिति में कटु नहीं होनी चाहिए। कभी गुस्से में, तो कभी अहंकार में हम कटु वाणी बोल कर दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं, जो हमें निर्बल बनाता है। **कुछ लोग अहंकार के कारण वाणी का दुरुपयोग करते हैं, जिससे झगड़े की शुरुआत होती है।** कटु वाणी के कारण छोटी-छोटी बात पर बड़े-बड़े झगड़े हो जाते हैं। मधुर वाणी का पारिवारिक एवं व्यापारिक जीवन में बहुत महत्त्व है इसलिए कहा गया है-

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोये।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होये।।

वाणी का महत्त्व बताते हुए कहा है कि विचारों में चाहे विरोधाभास हो, आस्था में चाहे विभिन्नताएँ हों, परन्तु मनुष्य को ऐसी वाणी बोलनी चाहिए कि बात के महत्त्व का पता चल सके।[18]

मधुर वाणी मन के अनुकूल होती है, जो कानों में पड़ने पर चित्त द्रवित हो उठता है। वाणी की मधुरता हृदय-द्वार खोलने की कुञ्जी है। जिस बात को हम कटु

शब्दों में कहते हैं उसी को हम मधुर बना सकते हैं। वार्तालाप की शिष्टता मनुष्य को आदर का पात्र बनाती है और समाज में उसकी सफलता के लिए रास्ता साफ कर देती है। **कटु वाणी आदमी को रुष्ट कर सकती है, तो इसके विपरीत मधुर वाणी दूसरे को प्रसन्न भी कर सकती है।**

किसी भी क्षेत्र में सफलता पाने के लिए व्यक्ति के व्यक्तित्व की निर्णायक भूमिका होती है, व्यक्तित्व विकास के लिए भाषा का महत्त्व तो है ही, परन्तु इसके साथ-साथ वाणी की मधुरता भी उतनी ही आवश्यक है। यह वाणी ही है जिससे किसी भी मनुष्य के स्वभाव का अन्दाज़ा होता है। चेहरे से अक्सर जो लोग सौम्य अथवा आक्रामक दिखाई देते हैं, असल जिन्दगी में उनका स्वभाव कुछ और ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बातचीत के लहजे से ही व्यक्तित्व का सही अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

उपसंहार

जैन-परम्परा में यद्यपि वाणी-संयम की चर्चा सत्याणुव्रत, भाषा-समिति, वचोगुप्ति एवं सत्यव्रत के अन्तर्गत की जाती है, किन्तु यहाँ विस्तार भय से अधिक विवेचन नहीं किया गया है।

अन्ततः यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वाणी का संयम मानव के जीवन को परिष्कृत कर सकता है एवं नियन्त्रित वाणी से व्यक्ति जग को जीत सकता है। एक सूक्ति में भी कहा है कि-**'पानी मर्यादा तोड़े तो विनाश और वाणी मर्यादा तोड़े तो सर्वनाश'** इसीलिए कहा जाता है कि वाणी पर संयम रखना चाहिए। यह भी कहा गया है कि मनुष्यों का उत्कर्ष और विनाश जिह्वा के अधीन होते हैं (**जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ।** -भागवत)

वाणी पर संयम रखने से अनेक लाभ होते हैं। इसमें व्यक्ति को ही नहीं, बल्कि इससे सारा परिवार, कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र तक का हित होता है। यदि हमारी वाणी मीठी होती है तो आपसी-प्रेम, तालमेल, एकता का परिचय भी देती है एवं हमारी अच्छी सोच, समझ, विवेक, बुद्धि, अच्छी शिक्षा, परवरिश आदि का परिचय भी कराती है। यह भी वाणी के सम्बन्ध में विचारणीय है कि परिवार के हितार्थ यदि वाणी कठोर हो, लेकिन अन्दर से हितकारी हो तो परिवार के साथ सारे देश पर नियन्त्रण किया जा सकता है। मधुर वाणी के माध्यम से हम अपने मन पर नियन्त्रण कर सकते हैं। कहा जाता है कि माँ की वाणी मधुर होती है, जबकि पिता की वाणी कठोर, किन्तु दोनों का अपनी वाणी पर नियन्त्रण अपने परिवार के हिसाब से होता है। माँ बच्चों को प्यार से शिक्षा-संस्कार देती है, वहीं दूसरी ओर पिता बच्चों को प्यार न दिखाते हुए थोड़ी कठोर वाणी का प्रयोग करके, कड़वा बोलकर, बुरा बोलकर और धमकाकर बच्चों को अनुशासित कर आगे बढ़ाने में सहायक होता है।

जब हमारी वाणी में संयम होता है तो विचारों में विशुद्धि बढ़ती है। हमारी सोचने की क्षमता वृद्धिंगत होती है, सही-गलत का निर्णय लेने की क्षमता बढ़ती है, अनावश्यक बोलने से बचते हैं, कषायों से बचते हैं, पापवृत्ति का अभाव होता है और मन शान्त रहता है।

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

1. दशवैकालिक सूत्र-6/9
2. इण्टरनेट से डाउनलोड-मधुर वाणी का महत्त्व पर निबन्ध (Madhur Vani Ka Mahatva Essay in Hindi): Given below some lines of Short Essay / Nibandh on Madhur Vani Ka Mahatva in Hindi-)
3. इण्टरनेट से डाउनलोड-यह वक्तव्य रोहतक रोड़ पर स्थित श्री शिव मन्दिर में आयोजित सत्संग में पुजारी चाँदीराम अत्री ने दिया।
4. सम्यक् यमो वा संयम : धवला, 7/2.1.3/7/3
5. समवायाङ्गसूत्र, संयोजक एवं प्रधान-सम्पा.-मधुकरमुनि, अनु. एवं सम्पा.-पण्डित हीरालाल शास्त्री, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 2000 ईस्वी, पृष्ठ 51
6. सम्राट् अशोक द्वारा स्थापित कराए गये प्राकृत शिलालेख ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में सर्वमान्य हैं।
7. अन्येषां विजयो माऽस्तु संयतां रसनां कुरु।
   असंयता यतो जिह्वा बहूपायैरधिष्ठिता।।-कुरलकाव्य, संमम प्रकरण, श्लोक 7, तमिल मूल-लेखक श्री एलाचार्य, संस्कृत एवं हिन्दी अनुवादक- पं. गोविन्दराय जैन शास्त्री, जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर, 1955ई.
8. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, स्वामी कुमार, गाथा-333-334, शुभचन्द्राचार्य टीका सहित, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल,

आगास, पंचम संस्करण, 2005 ई.
9. सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी, गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए, सयाण मज्झे लहइ पसंसणं।।-दशवैकालिक, अध्ययन 7, गाथा 55
10. प्राकृत विद्या, अक्टूबर, 1988 अंक वर्ष 1, सम्पादक-प्रो. प्रेम सुमन जैन, प्राकृत अध्ययन प्रसार केन्द्र, उदयपुर, उद्धृत गाथा, पृष्ठ 5।
11. णाणपंचमीकहा, महेश्वरसूरि, गाथा 10/191, प्रकाशन-सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई, 1949 ईस्वी
12. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो, यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्र सखाय: सख्यानि जानते भद्रैशां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।।-ऋग्वेद,10/71/21
13. किंच-तहेव त्ति सूत्रम्-तथैव सावद्यानुमोदिनी गी: वाग् यथा सुष्ठु हतो ग्राम इति, तथा अवधारिणी इदमित्थमेवेति, संशयकारिणी वा, या च परोपघातिनी यथा मांसमदोषाय से इति तावेवंभूतां क्रोधाल्लोभाद्भयाद्धासाद्वा, मानप्रेमादीना-मुप-लक्षणमेतत्, मानव: पुमान् साधुर्न हसन्नपि गिरं वदेत्, प्रभूतकर्मबन्धहेतुत्वादिति सूत्रार्थ:।। - दशवैकालिक, अध्याय 7 गाथा 54 की हरिभद्रसूरि की टीका, श्री श्रीपालनगर जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक देरासर ट्रस्ट, मुम्बई, 2012 ईस्वी
14. वही, हरिभद्रसूरि की टीका
15. वही, हरिभद्रसूरि की टीका
16. लाइव हिन्दुस्तान टीम, मेरठ (Published By: Yuvraj-Singh)
17. भासए दोसे य गुणे य जाणिया, तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए, वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं।। -दशवैकालिक, 7 अध्ययन, गाथा 56
18. इण्टरनेट से डाउनलोड-वाणी का महत्त्व, -शाहनवाज सिद्दीकी

-सहायक आचार्य, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, मोहनलाल सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर-313001 (राजस्थान)

अनुक्रिया और प्रतिक्रिया

श्री राकेश मेहता (सी.ए.)

अनुक्रिया सकारात्मक होती है और प्रतिक्रिया नकारात्मक होती है। हम यह ध्यान रखें कि जीवन में कभी भी और किसी भी स्थिति में हम प्रतिक्रिया न करें, बल्कि अपने लिए एक सही और सटीक अनुक्रिया का चयन करें। हमारा व्यवहार किसी बाहरी प्रभाव के आवेश में न आकर, एक गहरे मूल्य पर आधारित चयन से उत्पन्न हुआ हो और संसार का कोई भी बाहरी व्यक्ति हमारे भीतर के भलेपन को अपने पैरों तले रौंदता न चला जाए, इस बात का हमेशा चिन्तन रहे। हमारी आज्ञा के बिना कोई हमें नुकसान नहीं पहुँचा सकता।

गर्व की बात होती है कि हम स्वयं अपनी नज़र में ऊँचा उठें और सदैव अपने चरित्र को जियें चाहे हम कहीं भी हों, किसी भी कसौटी पर हों और कुछ भी कर रहे हों। दूसरों की सीमा के कारण हम खुद को सीमित न कर यह नहीं देखें कि संसार हमारे साथ कैसा व्यवहार करता है।

कुछ लोग होते ही ऐसे हैं जिनके लिए हम चाहे कुछ भी कर दें, लेकिन वे असन्तुष्ट ही रहेंगे। हम उनकी चाहे जितनी बढ़िया सेवा करें, वे हमारे व्यक्तित्व और सेवा में नुक्ताचीनी करते ही रहेंगे, इसलिए गलती के बदले गलती करना कोई सही तरीका नहीं है। क्रोध की प्रतिक्रिया में किया गया क्रोध उससे भी बड़ा क्रोध है। बुराई की प्रतिक्रिया में की गई बुराई उससे भी बड़ी बुराई है। गलत की प्रतिक्रिया में किया गया गलत सही नहीं हो जाता। जीवन में दो नकारात्मकताएँ मिलकर एक सकारात्मकता नहीं बन सकती है। क्या दुर्बलता के बदले दुर्बलता कोई बेहतर संसार बना सकती है?

प्रशंसा करना हमारा चरित्र है और अभद्रता करना किसी और का। हम दूसरों के चरित्र को अपने चरित्र पर नहीं थोपें। किसी के ओछेपन के कारण हमें अपने चरित्र को भी उसी ओछे स्तर तक लाने का कोई औचित्य नहीं है। एक शराबी व्यक्ति के मरने पर उसकी पत्नी को दु:ख और खुशी दोनों होती हैं। उसी तरह हमारी अनुक्रिया से हमें खुशी तो दूसरे को दु:ख या पश्चात्ताप होगा। हमारी अनुक्रिया से दोनों को लाभ होगा।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 397
ISSN 2249-2011

समभाव की साधना : सामायिक आराधना

श्री हेमन्त डागा (बून्दी वाले)

सामायिक जैन परम्परा की एक विशिष्ट साधना पद्धति है, जिसमें मन, वचन और काया को समभावों के द्वारा साधने का प्रयास किया जाता है।

सामायिक का स्वरूप

ममत्व के कारण आत्मा अनादिकाल से चतुर्गति रूप संसार में भटक रही है, परिभ्रमण कर रही है। ऐसी आत्मा को समभाव में रमण कराने के लिए सावद्य योगों से निवृत्ति आवश्यक है जो कि 'सामायिक' से ही सम्भव है। आत्मोत्थान के लिए सामायिक जघन्य, किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रयोग है, मोक्षप्राप्ति का उपाय है। सामायिक शब्द का भावार्थ है-राग-द्वेष में माध्यस्थ भाव रखना, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र में प्रवृत्ति करना। सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना। पापकार्यों का परित्याग कर अहिंसा, सत्य, तप, दया, समता का आचरण करना। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान का त्यागकर धर्मध्यान का चिन्तन करना सामायिक है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा और नवीन कर्मों का सँवर ही सामायिक है। इसके स्वरूप की विशालता के कारण इसे पाँच चारित्र में शामिल किया गया है। पुनः आत्मा का काषायिक विकारों से अलग होकर स्व-स्वरूप में रमण करना ही सामायिक स्वरूप है। सामायिक दो प्रकार की कही गई है-(1) द्रव्य, (2) भाव सामायिक। प्रथम द्रव्य सामायिक उपयोग रहित होती है। इसमें सामायिक के उपकरण, वेशभूषा, प्रमाणोपेत मुँहपत्ति, निर्दोष आसन, परिमार्जनिका द्रव्य-शुद्धि और क्षेत्र-शुद्धि का विवेक सम्मिलित है।

द्वितीय भाव सामायिक में अन्तरंग को राग-द्वेष से रहित करने के लिए प्रयत्न करना और आत्मा को विषम भावों से कषाय, इन्द्रिय-विषय, अशुभ योग, प्रमादादि से दूर करना है। आत्मा के स्वाभाविक गुणों में रमण करना भाव सामायिक है।

अन्य अनेक भेद भी ज्ञानियों ने सामायिक के किये उनमें प्रमुख हैं-(1) श्रुत सामायिक (2) सम्यक्त्व सामायिक (3) नाम सामायिक (4) स्थापना सामायिक (5) क्षेत्र सामायिक (6) काल सामायिक (7) चारित्र सामायिक आदि है।

मूल में सामायिक का सूत्र है

समता सर्वभूतेषु संयमः शुभ भावना।
आर्त्त-रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्।।

श्री भगवती सूत्र में कहा है-'**आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे।**' अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूप में विराजमान रहना ही सामायिक है।

सामायिक का महत्त्व

आध्यात्मिक जीवन में सामायिक का महत्त्व बोधि-बीज के रूप में है। सामायिक का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए आगमकारों ने फरमाया है कि-'**जे के वि गया मोक्खं, जे वि य गच्छन्ति जे गमिस्संति। तं सव्वं सामाइयप्पहावेण मुणेयव्वं।।**' अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान में जो साधक तिरे, तिरेंगे व तिर रहे हैं, यह सब सामायिक के प्रभाव से ही जानना चाहिए।

यदि समभाव की प्राप्ति नहीं हुई तो व्यक्ति कितना ही तप करे, जप करे, क्रिया करे किन्तु वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। सामायिक पापरहित साधना होने से इसमें नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता है और यह जगत् के समस्त प्राणियों के लिए श्रेय, मंगल और कल्याण की भावना का एक विलक्षण

साधन है। सामायिक करने वाली आत्मा भय-मोहनीय कर्म निर्जरित होने से अभय को प्राप्त होती है। अपूर्व, अवर्णनीय, आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कराने में सामायिक जैसा कोई साधन नहीं है।

यह भाव विशुद्धि का अमोघ अस्त्र है, इसमें लोक के समस्त जीवों पर दया-अनुकम्पा भाव सदैव अभिवृद्धि को प्राप्त होते हैं। सामायिक संसार घटाने तथा कर्मवृन्द तोड़ने का अचूक उपाय है। चित्त की चञ्चलता को दूरकर एकाग्रता को दृढ़ करने का साधन है। स्वदोष-वर्जन, परदोष-विवर्जन करने की यह सर्वश्रेष्ठ मशीन है। 92 करोड़ 59 लाख 25 हजार 925 पल्योपम (92,59,25,925) तक भोगे जाने वाले नरक-निगोद के दु:खों का अन्त कराने वाली एक सामायिक ही है।

हमारे परमाराध्य तीर्थंकर प्रभु जी जब साधना मार्ग में प्रवेश करते हैं तो सर्वप्रथम सामायिक चरित्र ही स्वीकार करते हैं। सामायिक करते यदि उत्कृष्ट रसायन आवे तो साधक तीर्थंकर गोत्र का बन्ध करता है, वरना सामायिक रूप समभाव का स्पर्श हो जाय तो साधक 7-8 भव से अधिक जन्म-मरण नहीं करेगा। आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने सामायिक को आद्यमङ्गल माना है। अन्य मंगल जो द्रव्य हैं वे अमंगल हो सकते हैं, पर सामायिक ऐसा भाव मंगल है जो कभी भी अमंगल नहीं हो सकता।

सामायिक में सावद्य योगों के त्याग से समता कैसे?

सामायिक ग्रहण करने का सूत्र है-**करेमि भन्ते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।** अर्थात् हे भगवन्! मैं सामायिक ग्रहण करता हूँ। सावद्य योगों यानी समस्त पाप-क्रियाओं का त्याग करता हूँ। इस सूत्र में ही समता का सन्देश निहित है, क्योंकि एक के त्याग से अनेकानेक त्याग हो जाते हैं और साधक के जीवन में स्वत: ही समता आ जाती है। यह वैसे ही है जैसे पानी पीने से तुरन्त प्यास बुझती है, शान्ति आती है।

सामायिकधारी व्यक्ति बाह्य दुनिया से कटकर आत्मा के अध्यवसायों में चला जाय, तो उसका ममत्वभाव से सम्पर्क निश्चित ही कट जायेगा। समताभाव उमड़ते हुए चले आयेंगे, क्योंकि वह कामनाओं से दूर हो गया है। सामायिक में साधक को सामान्य वेशभूषा धारण करनी होती है। आगमिक उदाहरण तो नामांकित मुद्रिका के भी त्याग का मिल रहा है, ऐसे में साधक जब तमाम प्रकार की लौकिक एषणाओं से ऊपर उठ जाता है तो क्रमश: समभावों में रमण करने लग जाता है।

सामायिक साधक का विचार होता है कि मैं अजर-अमर चैतन्य स्वरूप हूँ। वैभाविक भावों से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, अत: **जीने-मरने, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, सुख-दु:ख में हर्ष तथा शोक क्यों करूँ? मुझे तो अच्छे-बुरे सभी प्रसङ्गों पर समभाव ही रखना चाहिए।** अन्य सब बाह्य प्रसङ्ग तो कर्म जनित विकार हैं। ये तो जैसा पूर्व में किया है वैसा ही भोगना पड़ेगा। इतना सब जो जीव विचार करेगा, उसके मन में सावद्य योगों के उपयोग की इच्छा भी कैसे जागेगी, वह समता के सर में ही नहाता रहेगा।

सामायिक विशुद्ध कैसे बने?

सामायिक आत्मा की साधना है। सावद्य योगों से विरति सामायिक को शुद्ध बनाती है। साधना से साधक छह काय के जीवों के प्रति संयत होता है, मन-वचन और काया को एकाग्र करता है। इन योगों को बाह्य भावों से अन्तर में उतारने पर सामायिक शुद्ध हो सकती है। **साधक निरन्तर इस चिन्तन में रहे कि मैं सामायिक की शुद्ध साधना करके और विशुद्ध होऊँ।** अत: सामायिक जिन कार्यों से दूषित हो सकती है, उन कार्यों को समझकर त्याग दिया जाए तो सामायिक का विशुद्ध स्वरूप हमारे समक्ष आता चला जाएगा। ये दोष हैं सामायिक के 32 दोष, नवम व्रत के अतिचार,

सामायिक पारते वक्त बोले जाने वाले पाठ आदि।

विशेष आज के युग में सुविधा के कई साधनों का बहुत उपयोग बढ़ रहा है। सामान्य जीवन में श्रावक इनका बहुत अभ्यस्त हो चुका है, अत: साधना के समय मोबाइल, इण्टरनेट, सोशल मीडिया आदि के बारे में बहुत सावचेती बरतनी आवश्यक है, वरना दोष तो लगेगा ही।

1. सामायिक के लिए समय, स्थान और आसन की निश्चितता तय करे। (Proper time, place and sitting)
2. बाहरी सम्बन्धों का विच्छेद मात्र कपड़े उतारकर नहीं, राग-द्वेष उतारकर करें।
3. एक-एक पाठ को ध्यानपूर्वक बोलें।
4. सामायिक काल (48 मिनट) के 5 विभाग करें जिनमें (1) सामायिक के पाठ दोष आदि समझें। (2) पुनरावृत्ति करें-पुराने स्तोक आदि का दोहरान। (3) नया स्वाध्याय अनुप्रेक्षा पूर्वक करें। (4) स्वनिरीक्षण अर्थात् गतकाल की त्रुटियों का विचार और (5) चिन्तन करना कि सामायिक को जीवन में कैसे उतारना।

सामायिक के प्रत्याख्यान तीन योग से होते हैं- मन, वचन और काया। अत: शुद्ध सामायिक के लिए इन तीनों की विशुद्धि आवश्यक है।

1. **मन-शुद्धि**-अशुद्ध मन बन्धन का कारण बनता है अत: इसे शुभ चिन्तन में लगाते हुए स्मरणशक्ति में रत रखना ही मन-शुद्धि है।
2. **वचन-शुद्धि**-सामायिक में हित-मित, जिनाज्ञा-सम्मत, संक्षिप्त भाषा का प्रयोग करना ही श्रेयस्कर है। सावद्य, कर्कश, कठोर, क्लेशकारी वचनों का प्रयोग न करना ही वचन-शुद्धि है।
3. **काय-शुद्धि**-यानी आन्तरिक उपाय। विवेकपूर्वक उठना-बैठना, खड़ा होना, अङ्गों का सञ्चार करना, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र के निमित्त से कायिक प्रवृत्ति ही काय-शुद्धि है। इसमें काया के 12 दोषों को टालें।

अन्त में, सामायिक विशुद्धि के लिए दो महत्त्वपूर्ण सूत्रों पर चिन्तन चले कि (1) संसार में मेरा कोई नहीं, मैं किसी का नहीं अथवा सभी समान हैं एवं (2) बाहर की छाप अन्दर में न आने देने का अभ्यास करें।

5. सामायिक सर्वश्रेष्ठ साधना क्यों है?

यह आगमसिद्ध बात है कि सामायिक मोक्षप्रदायिनी साधना है। माता मरुदेवी से लेकर इस समय तक जितने भी महापुरुष सिद्ध हुए, होंगे और हो रहे हैं, वे सब सामायिक की साधना से हुए हैं। सामायिक आत्मा की साधना है, आडम्बर रहित है एवं जैनधर्म के लगभग सभी सम्प्रदायों द्वारा इसे सर्वश्रेष्ठ समझकर अपनाया गया है। एक सामायिक में 12 व्रतों का समावेश हो जाता है तो 18 पापों का त्याग भी इसी से सम्भव है। सामायिक से आत्मा को शक्ति मिलती है, विश्राम मिलता है। सामायिक आत्मा की खुराक है, वह आत्मारूप घड़ी की चाबी/सेल है। कहा है-

जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्य सामाइयं होइ इइ केवलिभासियं।।

अर्थात् जो त्रस और स्थावर सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता है, सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, उसी का सामायिक व्रत है, ऐसा ज्ञानियों ने फरमाया है। यह सूत्र सामायिक की श्रेष्ठता बता रहा है कि जब सभी प्राणियों पर समभाव आ जायेगा तो क्रोध-विभाव का क्या काम? यह आत्मा को विभाव से हटा समतारूप स्वभाव में व्यवस्थित करने की श्रेष्ठ एवं विशिष्ट आध्यात्मिक प्रक्रिया है।

सामायिक स्वाध्याय के प्रबल-प्रेरक परमश्रद्धेय आचार्य भगवन्त 1008 श्री हस्तीमल जी म.सा. ने अपने कई भजनों में सामायिक की श्रेष्ठता-उपादेयता उजागर की। उनके भजन की एक कड़ी "**जीवन उन्नत करना**

चाहो तो सामायिक साधन कर लो, आकुलता से बचना चाहो तो सामायिक साधन कर लो।।'' यह पूरा भजन भी यदि गाएँ तो हर शब्द से सामायिक के प्रति अहोभाव ही प्रकट होंगे।

समस्याओं के समाधान में सामायिक की भूमिका

सामायिक में चिन्तन और स्वाध्याय होता है, जिनसे विवेक का उदय एवं समभाव को बल मिलता है, जो समस्त सुधारों की नींव है। आज जीवन में विभिन्न क्षेत्रों में मसलन सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, शारीरिक-मानसिक तथा अन्य कई प्रकार की समस्याएँ आती रहती हैं। पर **जिस व्यक्ति के जीवन में सामायिक उतर गई उसको समस्या, समस्या लगेगी ही नहीं।** क्योंकि ये समस्याएँ अस्वस्थ मानसिकता, अन्धी दौड़, समझ की कमी, स्पष्ट लक्ष्य का अभाव, विचार-भेद, स्वार्थपरता, संकीर्णता, पद एवं सुख पाने की अभिलाषा आदि कारणों से आती है।

'समता' भाव के अर्जन में ये सब समस्याएँ निश्चित रूप से दूर हो जाती हैं, चाहिये इनको मिटाने का पक्का संकल्प। समता का उल्टा 'तामस' है जो समस्त समस्याओं का घर है। ताला एक चाबी एक, पर एक तरफ चाबी घुमाओ तो ताला बन्द होता है दूसरी तरफ चाबी घुमाओ तो ताला खुल जाता है। अत: यहाँ समभाव ही चाबी हो, हम ऐसी सामायिक करने का लक्ष्य बनावें।

आचार्य हस्ती के शब्दों में

अंश मात्र भी जो सामायिक अपनाते नर-नार हैं।
वैर-विरोध रहे नहीं जग में घर-घर मंगलाचार है।
'गजमुनि' का आधार है, सुख-शान्ति का द्वार है।।

अर्थात् अंशमात्र भी जो सामायिक करता है, उसके मंगलाचार होता है तो फिर पूर्ण शुद्ध सामायिक करने वाले के समस्याएँ कहाँ रहेंगी जैसे पूणिया श्रावक।

कृपानिधान आचार्य भगवन्त श्री हस्तीमल जी म.सा. के द्वारा रचित भजन से इस बिन्दु का शुभारम्भ करें-

'सामायिक से जीवन सुधरे जो अपनावेला,
निज सुधार से देश, जाति सुधरी हो जावेला।
करलो सामायिक रो साधन जीवन उन्नत होवेला।।'

नियमित सामायिक की साधना करने वाले को भगवान ने एकव्रतधारी श्रावक बतलाया है और जो श्रावक है वह अनुकम्पा रहित हो नहीं सकता। अत: जीवन-व्यवहार के जितने भी सोपान हैं उनको गुण-दोष, उचित-अनुचित, करणीय-अकरणीय का ख्याल कर व्यवहार को निभाया जा सकता है। जैन धर्म के नियम तो बूँदी के लड्डू हैं जिसे जितना भी खाओ, मीठा ही लगेगा, जिधर से भी खाओ मीठा ही लगेगा। अर्थात् व्रत-नियम कम ज्यादा भी लिये जा सकते हैं और स्वीकृत नियमों के अन्तर्गत रहते हुए संसार के काम भी किये जा सकते हैं। आवश्यकता है सजगता की, व्रतों के संकल्प निभाने की।

जीवन-व्यवहार में सामायिक आयी या नहीं, यह तो उस कुल्हाड़ी को सूँघने से पता चल जाता है कि जिससे चन्दन काटा गया हो, उसकी खुशबू बोल देती है। इसी प्रकार यदि सामायिक भी की है तो शेष 23 घण्टे उसकी महक आती रहती है। वास्तव में सामायिक का जीवन-व्यवहार से बड़ा गहरा रिश्ता है। क्रोधादि कषाय यदि अन्तर में ही बैठे रहें तो साधु को भी चण्डकौशिक जैसा सर्प बनना पड़ा। हमारे इर्द-गिर्द भी लोग तो तैयार बैठे हैं, अपनी कषायों को उकसाने के लिए, पर इस चेतनराजा को हमें ही समझाना है।

लोकोक्ति है कि कदम-कदम बढ़ाने से ही मञ्ज़िल मिलती है, इसी प्रकार अभ्यास के करते, जीवन में समभाव आने से हमारा जीवन-व्यवहार शुद्ध एवं सुन्दर बनेगा और सामायिक-साधक को देखकर लोग कहेंगे-'सामायिक जिन्दाबाद!' जय महावीर!!

-302/सी.-224 ज्ञानमार्ग, तिलक नगर, जयपुर-302004 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 401
ISSN 2249-2011

स्वाध्याय से आत्म-विशुद्धि एवं लोकहित

श्री प्रमोद महनोत

'**स्वा**ध्याय' शब्द हम अक्सर सुनते हैं। कुछ लोग इसे धार्मिक क्रिया मान कर अपनाते हैं तो कुछ लोग इसी कारण से उसकी उपेक्षा कर जाते हैं। बस यही सबसे बड़ी भूल है। स्वाध्याय भले ही धार्मिक क्रिया है, पर यह मानव के लिए आवश्यक जीवनशैली की भी क्रिया है। अगर हम इस तथ्य को नहीं पहिचानते, तो मानव-जीवन की सम्पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते। स्वाध्याय एक धार्मिक कर्त्तव्य के साथ-साथ ही एक मानवीय विकास का कर्त्तव्य भी है। इस वस्तुस्थिति को समझना और स्वीकारना अत्यन्त आवश्यक है।

पहली बात ध्यान रहे कि सभी प्रकार का पठन-पाठन स्वाध्याय नहीं है, बल्कि **आत्म-विशुद्धि के लिए किया गया अध्ययन जो हमारी विकृतियों को समझने और उन्हें दूर करने में सहायक हो, वह ही स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है।** स्वाध्यायी चिन्तन के द्वारा स्वयं निखर जाता है, क्योंकि उसके दूषण हटते हैं, दुराग्रह टूट जाते हैं तथा वह धीरज ग्रहण कर लेता है। स्वयं की गलती स्वीकार करने में वह अपनी अवमानना नहीं समझता, उसके विचारों में अद्वितीय प्रखरता उत्पन्न हो जाती है। वह स्वाध्याय के मर्म को पहचान जाता है कि भले ही उसकी राय महत्त्वपूर्ण हो, पर दूसरों की सोच भी उतनी ही मूल्यवान है। वह अन्य के विचारों का सम्मान करता है तथा अपनी बात विनम्रता तथा शालीनता से रखता है।

दूसरी बात **स्वाध्याय में अन्तर-चक्षु का खुलना-आत्मद्रष्टा बनना, स्वयं में झाँकना पहली शर्त है। शास्त्र का पढ़ना और अध्ययन करना उसका दूसरा चरण है।** एक प्रश्न-मैं कॉलेज जा रहा हूँ। किसके लिये? पढ़ने के लिए। अन्यथा उत्तर हो सकता है सिर्फ हाजरी लगाने के लिए। स्वाध्याय में ऐसा नहीं चलता। अगर हम स्वाध्याय में जागृति या विवेक नहीं रखेंगे तो स्वाध्याय द्वारा इच्छित परिणाम प्राप्त नहीं कर पायेंगे। हाँ, इतना अवश्य है कि उस काल में पाप-वृत्ति से जरूर बच जायेंगे। उतना परिणाम नहीं देगा जो प्राप्त करना चाहते हैं। स्कूल कॉलेज में शिक्षार्थी पर दबाव होता है, डिग्री हासिल करने की विवशता हो सकती है, पर स्वाध्यायी तो अन्त:करण की प्रेरणा से ही आगे बढ़ता है। वह अपनी समयबद्धता स्वयं निश्चित करता है।

ज्ञानीजन फरमाते हैं कि-'**मनोयोगपूर्वक ग्रन्थ के वाचन-मनन (स्वाध्याय) का फल करोड़ों की सम्पत्ति के दान से भी अधिक उत्तम है।**'

एक धारणा है कि स्वाध्याय व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाता है। पर क्या सिर्फ अन्तर्मुखी होने से हम सफल बन जायेंगे? नहीं, विचारशीलता के साथ-साथ व्यक्ति को सामाजिक होना भी जरूरी है। स्वाध्याय की स्वाभाविक प्रक्रिया में हम परीक्षणों, प्रयोगों, **अनुप्रेक्षा द्वारा अपने आपको निखारते हैं। चिन्तन में ओजस्विता आती है, और लोक हितकारी दर्शन अपनाते हैं।**

अत: स्वाध्याय के दौरान अन्तर्जगत् तथा बाह्यजगत् दोनों का साथ-साथ विकास होगा और होना भी चाहिए, क्योंकि सफल स्वाध्याय की यही तो कसौटी है। अन्तरंग लक्ष्य आत्मा से जुड़ा है। इसमें आत्मा को कलुषित करने वाले सभी विचारों और कार्यों को दूर रखना तथा अन्तर्मन को शुद्ध चिन्तन, शुभ कार्यकलापों में लगाये रखना चाहिये। इस आन्तरिक लक्ष्य को प्राप्त करने में प्रतिपल सजगता जरूरी है। बहिरंग लक्ष्य बाहरी संरचना से सम्बन्धित है, जिनमें प्रमुख हैं समाज-निर्माण एवं उत्थान, जिनशासन की सेवा, श्रावक-श्राविकाओं को धर्माराधना में सहयोग,

स्व-पर कल्याण की लगन, इन सबकी झलक हम स्वाध्याय उन्मुखजनों में पाते हैं और प्रभावित होते हैं।

विज्ञान बिना शोध नहीं, बरसात बिना पौध नहीं, विवेक बिना बोध नहीं, समझ बिना इच्छा निरोध नहीं।

स्वाध्याय में शोध भी होगी और बोध भी होगा। स्वाध्यायी का सर्वप्रथम अपने आन्तरिक सौन्दर्य को खोजने का, फिर उस ढूँढ़े ख़ज़ाने को सबके सामने प्रकट करने का, सबको उसका बोध कराने का कर्त्तव्य है, पर उसका अन्तिम लक्ष्य तो मोक्ष प्राप्ति ही होना चाहिये।

उसके विपरीत जो लोग स्वाध्याय नहीं करते उनमें कुछ संकीर्णताओं की सम्भावना बनी रहती है जो उनके जीवन के रस-स्रोतों को दीमक की तरह खाती रहती है। भले बाहरी तौर पर पता न चले, पर संकीर्णता-रूपी दीमक अन्दर से सब खोखला कर देती है। ऐसे लोग अपनी गलती स्वीकारने की मन:स्थिति में नहीं रहते और जीवन भर सम्यक्त्व से दूर रह जाते हैं। जरूरी नहीं कि हम सीधे निवृत्ति हेतु स्वाध्याय करें, पर अगर असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति मूलक करेंगे तो भी हमें जीवन को उत्कृष्ट और समर्थ बनाने में भरपूर सहायता मिलेगी।

भगवान महावीर ने स्वाध्याय के पाँच प्रकार बतलाये हैं-

1. **वाचना**-शास्त्र या साहित्य का वाचन करना अथवा सद्गुरु की नेश्राय में अध्ययन करना।
2. **पृच्छना**-ज्ञात-अज्ञात विषय तथा संशय निराकरण के लिए प्रश्न करना।
3. **परिवर्तना**-परिचित विषय को स्थिर रखने के लिये बार-बार दोहराना।
4. **अनुप्रेक्षा**-वाचित सूत्र पर तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन करना।
5. **धर्म-कथा**-स्थिरीकृत और चिन्तन किये गए विषय का उपदेश करना।

जब इस प्रकार चिन्तन एवं मनन के द्वारा विषय स्पष्ट हो जाता है, तब व्यक्ति को धर्मोपदेश या अध्ययन कराने का अधिकार मिल जाता है। धर्मोपदेश के अधिकारी तो बन गये हो पर इसका उपयोग नहीं किया, तो आपको स्वाध्याय में पूर्णता प्राप्त करना शेष रह गया है।

ज्ञान प्राप्त कर लिया, पर उसे अपने आप में सीमित रखा, स्व-केन्द्रीय अवस्था में रखा, श्रावकों को प्रचार-प्रसार नहीं किया, मर्म नहीं समझाया, तो आप लोकसेवा से वञ्चित रह गये, धर्म प्रभावना का आवश्यक लाभ नहीं ले पाये।

हालाँकि, स्वाध्याय से प्राप्त आलोक का स्वाध्यायी के दैनिक क्रिया-कलापों में प्रतिबिम्ब ज़ाहिर हो जाता है, पर उस आलोक या सुखद रोशनी का लाभ वह समाज को प्रदान करे तो श्रेष्ठ है, और नहीं भी कर पाये तो भी सच्चे स्वाध्यायी का अन्तर प्रकाश समाज तक पहुँच ही जायेगा।

आचार्य भगवन्त श्री हस्तीमल जी महाराज के प्रवचनों में जिक्र आता है-**स्थानकवासी जैनधर्म स्वाध्याय पर ही टिका है।**

यह कितना सटीक विश्लेषण है, इसकी विशिष्टता को समझना है।

फूलों से शोभित होता चमन,
ज्ञान से शोभे जीव उपवन,
स्वाध्याय है जीवन का अमूल्य धन,
इससे खिले संस्कार सुमन।।

स्वाध्याय करें, अपनी आत्मा का उत्थान करें। समाज में ज्ञान को प्रज्ज्वलित करें, इसी शुभेच्छा के साथ।

-सी 345, हंस मार्ग, मालवीय नगर, जयपुर-302017 (राज.)

जहाँ अनैतिक पूँजी और धन बढ़ता है, वहाँ दुर्व्यसन भी बढ़ते हैं।

-आचार्य श्री हीरा

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 403
ISSN 2249-2011

स्वाध्याय से होता तत्त्वज्ञान

श्री देवेन्द्रनाथ मोदी

भौतिकवाद की अन्धभक्ति के युग में व्यक्ति अत्यधिक बहिर्मुखी हो गया है। यत्र-तत्र-सर्वत्र वैभव के अम्बार लगे हुए हैं। तथापि मन में शान्ति नहीं, अशान्ति की ज्वालाएँ धधक रही हैं। भौतिक साधनों की प्रचुरता ने व्यक्तियों में अधिक तनाव पैदा किया है। तनाव-मुक्ति के लिए नित्य नये मादक पदार्थों का उत्पादन हो रहा है। इन मादक पदार्थों के उपयोग से तनाव द्रौपदी के चीर के समान बढ़ते जा रहे हैं।

जैन महामनीषियों ने तनाव-मुक्ति के लिए गहराई से चिन्तन के रूप में स्वाध्याय-साधना का नवनीत प्रस्तुत किया। स्वाध्याय-साधना वह सञ्जीवनी बूँटी है, जिससे सदा-सदा के लिए तनाव से मुक्त होना सम्भव है। स्वाध्याय से मानव स्व-विवेक को जागृत और समृद्ध कर जीवन की विविध परिस्थितियों-मनःस्थितियों से समायोजन कर दबावों से स्वयं मुक्त हो सकता है। स्वाध्याय की जलती मशाल भौतिकता के घुप्प अन्धकार में मार्गदर्शक बनती है।

स्वाध्याय एक आध्यात्मिक विज्ञान, एक कीमिया, एक समुद्र-मन्थन, प्रखर साधना, एक आभ्यन्तर तप है, जो बुद्धि और हृदय को एक साथ उपकृत करता है, उन्हें रोशनी से जगमगाता है, उनका मार्ग प्रशस्त करता है। अस्वच्छ मटमैले जल में फिटकरी डालने पर वह निर्मल हो जाता है, ठीक वैसे ही स्वाध्याय भी जीवन-जल को स्वच्छ-स्वस्थ रखने में सहायता करता है।

ज्ञानार्जन का विशुद्ध साधन स्वाध्याय (स्व + अधि + आय) स्वयं की आत्मा का अध्ययन, स्व-स्वरूप की ओर अग्रसर करने वाला अध्ययन है जिससे अपने आत्म-स्वरूप का बोध हो, जिसका परिणाम है-ज्ञान। ज्ञान को सुस्थिर, सुरक्षित एवं सर्वजनोपयोगी बनाने के लिए आगमों में स्वाध्याय करने का विधान किया गया है। जिनवाणी का आधार श्रुत तथा श्रुत का आधार स्वाध्याय है, जिससे ही श्रुत में स्थायित्व आता है। स्वाध्याय में शब्द-ज्ञान, अर्थबोध के साथ सत्शास्त्रों का विधि-पूर्वक अध्ययन-चिन्तन-मनन एवं आत्म-शिक्षण का भी समावेश है-

''भीतर में व्याप्त कषायों का,
कुत्सित आचार-विचारों का,
अन्तर में झाँक चिन्तन-मनन कर,
स्वाध्याय के ज्ञान-प्रकाश से शमन करें।''

जिनवाणी का स्वाध्याय आन्तरिक तप एवं महान् निर्जरा का सशक्त माध्यम है। स्वाध्याय से ही सत्-असत्, करणीय-अकरणीय, सम्यक्-मिथ्या, कार्य-अकार्य, मानव-भव की श्रेष्ठता-दुर्लभता का विवेक जागृत होता है। आन्तरिक प्रतिभा और निजरूप चैतन्य का साक्षात्कार होता है। दृष्टि एवं चरित्र को शुद्ध एवं निर्मल रखने में, आत्मा को निर्विकारी और प्रसन्न बनाने में आधारभूत स्वाध्याय ही है।

स्वाध्याय से तत्त्वज्ञान मिलता है, तत्त्वज्ञान से विरति आती है, विरति से संयम आता है, संयम से नवीन कर्मों का अनास्रव हो जाता है, अनास्रव से तप एवं तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश होकर जीव कर्म रहित हो जाता है।

स्वाध्याय की अनिवार्य शर्त है गहरी जिज्ञासा, अपने दोषों-कमियों को दूर करने की तीव्र आकांक्षा

और पूर्णता प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प। स्वाध्यायी एकाग्रचित्त एवं आग्रहरहित होकर वाचना लें फिर जाने हुए विषय के अस्पष्ट पहलुओं का निराकरण करें, शान्तचित्त होकर जाने हुए विषय के अवचनीय पहलुओं को समझें, बार-बार पुनरावर्तन कर उन्हें कण्ठस्थ करें तथा अन्य विद्वानों से वार्त्तालाप के द्वारा स्वाध्याय ज्ञान को व्यापक बनायें।

स्वाध्याय-साधना के प्रेरक एवं ध्वज-वाहक आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. के अनुसार- **''स्वाध्याय से हमारा ज्ञान और दर्शन निर्मल होता है और दृढ़ भी बनता है। जब हमारा ज्ञान एवं दर्शन शुद्ध होगा, निर्मल होगा तो चारित्र में भी आगे बढ़ना होता रहेगा और अन्ततोगत्वा हम कर्मों को काटकर मुक्ति के अधिकारी बन जायेंगे।''** (नमो पुरिसवरगंध हत्थीणं)

जीवन-निर्माण, 'मनुष्य' निर्माण, चरित्र-निर्माण, 'मनुष्यत्व' का ज्ञान प्रदान करने वाली आध्यात्मिक-शिक्षा प्राप्त करना स्वाध्याय का लक्ष्य माना गया है।

मनोयोगपूर्वक स्वाध्याय करने से जीवन में सद्संस्कारों की प्रेरणा जागती है, मैत्रीभावना का झरना बहता है तथा लोकाग्र पर स्थित होकर अनन्त अव्याबाध सुख में लीन होने का लक्ष्य प्राप्त होता है।

आधुनिक शिक्षा और वातावरण के बदलाव से जीवन में जो कमी आ रही है, उसको स्वाध्याय के सहारे ही पूरा किया जा सकता है। मन और आत्मा की शिक्षा स्वाध्याय से ही सम्भव है तभी जीव का अधूरापन मिट पाएगा।

जो शुद्ध मन से नित्य स्वाध्याय करते,
कट जाते हैं उनके सारे पाप।
जो जिनवाणी-सुधा का मनन हृदय से करते,
शान्तभाव से मोक्ष-मार्ग पर वे अपने पग धरते।

-'हुक्म', 5-ए/1, सुभाष नगर,
पालरोड़, जोधपुर-342008 (राज.)

करुणा और अनुकम्पा

श्री कन्हैया लाल लोढ़ा

करुणा से हृदय द्रवित होता है। उसके साथ ही हृदय में स्थित राग भी गल जाता है। जिस प्रकार ताप से ठोस पदार्थ द्रव में, द्रव पदार्थ गैस में परिवर्तित होता होकर अदृश्य हो जाता है, इसी प्रकार करुणा अर्थात् संवदेनशीलता के ताप से प्रगाढ़ 'मोह' द्रवित होकर तरलता में, तरल मोह वाष्प के रूप में उड़कर अदृश्य हो जाता है।

अनुकम्पा

जहाँ करुणा है वहाँ अनुकम्पा है। दुःखियों, पीड़ितों को देखकर जिसका हृदय प्रकम्पित नहीं होता है, वह सहृदय न होकर निर्दय है। उसका हृदय पत्थर-हृदय है। उसमें जड़ता है, संवेदनशीलता का अभाव है अर्थात् दर्शन-गुण पर भयंकर आवरण है। उसके चिन्मयगुण का विकास नहीं हुआ है। संवेदनशीलता ही जीव का लक्षण है। जिसमें जितनी संवेदनशीलता की कमी है, उसमें उतनी ही जड़ता है। वह उतना ही अधिक अविकसित एवं निम्न स्तर का प्राणी है।

संवेदनशीलता का विकास ही चेतना का विकास है। जिस प्राणी के हृदय में जितनी अधिक संवेदनशीलता है, उसके हृदय में उतनी ही अधिक अनुकम्पा होती है।

अनुकम्पा सम्यक्त्व का लक्षण है। जहाँ अनुकम्पा नहीं वहाँ सम्यक्त्व नहीं, अनुकम्पाहीन प्राणी कभी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः साधक वही हो सकता है जो सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि वही है जिसके हृदय में अनुकम्पा है।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 405
ISSN 2249-2011

विश्वशान्ति के परिप्रेक्ष्य में जैन जीवन-पद्धति

श्री त्रिलोकचन्द जैन

जीव, जीवन और जीवन-पद्धति

जीव शाश्वत है, पर जीवन अशाश्वत है। जीव की शुरुआत नहीं, पर जीवन का प्रारम्भ है। जीव का अन्त नहीं, पर जीवन का समापन है। जीव का कोई कर्त्ता नहीं, पर जीवन का निर्माण सम्भव है। जन्म और मृत्यु रूप दो पड़ावों के बीच की यात्रा जीवन है। इस जीवन यात्रा का चालक जीव है। इस जीवन के परिचालन का तरीका ही जीवन-पद्धति है। जीवन तो पशु भी जीता है और मानव भी जीता है। परन्तु जीवन को विशेष बनाने का प्रयत्न मानव ही कर सकता है। मानव के द्वारा जीवन को सुव्यवस्थित रूप से जीना ही आदर्श जीवन-पद्धति है। आदर्श जीवन-पद्धति की विशेषता होती है कि यह स्वयं को तो सन्तोष देती ही है और अन्य के लिए भी अनुसरण योग्य हो जाती है। आदर्श जीवन-पद्धति के मापदण्डों में जैन सिद्धान्तों के आधार पर जिया गया जीवन सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है। जैन जीवन-पद्धति स्वयं के लिए ही नहीं, अपितु सभी के लिए प्रेरक होती है।

जैन जीवन-पद्धति

'जन' शब्द व्यक्ति का पर्यायवाची है। जीवन जीने वाले साधारण व्यक्ति को 'जन' कहते हैं। 'जन' शब्द पर दो मात्राओं के लगने से 'जैन' शब्द निर्मित होता है। ये दो मात्राएँ आचार और विचार रूपी शुचिता की प्रतीक हैं। जब सामान्य जन के जीवन में आचार और विचार की शुचिता अवतरित होती है तब वह जैन बन जाता है। जैन का जीवन सर्वजनहितार्थ, सर्वजन सुखाय की भावना रखने वाला होता है। जैन की जीवन-पद्धति अथवा सिद्धान्त अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के रूप में प्रचलित ही है। जैन जीवन-पद्धति में अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के स्थायित्व को समझने का प्रयास करते हैं।

(1) अहिंसक जीवन-जैनों की जीवन-पद्धति का प्राण अहिंसा है। इनके जीवन के पारिवारिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में इसका व्यवहार परिलक्षित होता ही है। जैनी के जीवन में अहिंसा की परिपालना कतिपय सूत्रों के रूप में देखी जाती है-(1) 'जिओ और जीने दो' सिद्धान्त का वह अपने जीवन में सजीवता से पालन करता है। (2) स्वयं को प्राप्त शक्ति-सामर्थ्य का वह सदुपयोग करता है। (3) दूसरे के मौलिक अधिकारों का वह रक्षण करता है। (4) समता, सहिष्णुता और संवेदनशीलता की त्रिवेणी उसके अन्तर में बहती है। (5) करुणा और मैत्री भावना उसके हृदय में हिलोरें मारती है। (6) छोटे से छोटे प्राणी का दुःख भी उसे बेचैन कर देता है। (7) वह सादगी एवं निराडम्बर युक्त जीवन जीता है।

(2) अपरिग्रही जीवन-अपरिग्रह किसी धर्म विशेष का नहीं, बल्कि सर्वमान्य सिद्धान्त है। लेकिन जैन जीवन-पद्धति में इसका विशेष स्वरूप प्रकट होता है। अपरिग्रह का अध्यात्म पक्ष अनासक्ति एवं व्यवहार पक्ष संग्रह-प्रवृत्ति का अभाव है। जैन जीवन-पद्धति में अपरिग्रह अनेक प्रवृत्तियों से परिलक्षित होता है। उनमें से कतिपय हैं-(1) 'खाली हाथ आया था, खाली हाथ जायेगा।' उक्ति के आधार पर जीवन जीता है। (2) घर-परिवार के सञ्चालन में ट्रस्टीशिप को अपनाकर कर्त्तव्य पालन करता है। (3) आवश्यक अर्थ-संग्रह में न्याय-नीतिमत्ता का पूर्ण ध्यान रखता है। (4) जड़ एवं चेतन पदार्थों पर अनासक्ति का भाव रखता है। (5) अनावश्यक इच्छाओं का निरोध करता है। (6) महत्त्वाकांक्षी नहीं होकर, मर्यादित जीवन को अपनाता है। (7) त्याग की अपरिग्रही संस्कृति को महत्त्व देकर दान, विसर्जन की प्रवृत्ति रखता है।

(3) अनेकान्त सैद्धान्तिक जीवन– समस्याओं के अचूक समाधान का जनक अनेकान्त सिद्धान्त है। एक ही सत्य तथ्य को अनेक पहलुओं से उजागर करना अनेकान्त है। एक विचार को परिपूर्ण नहीं मानकर, सापेक्ष मानना ही अनेकान्तवादी दृष्टिकोण है। जैन जीवन–पद्धति में अनेकान्तवाद सुलझे हुए जीवन का परिचायक है। जैनों के जीवन–व्यवहार में कतिपय रूप से यह दिखाई देता है–(1) व्यक्ति समन्वयवादी दृष्टिकोण का प्रस्तोता होता है। (2) 'मेरा ही नहीं, दूसरे का भी अस्तित्व है' इस भावना के अनुरूप प्रवृत्ति करता है। (3) सबकी वैचारिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है। (4) अनेकता में एकता स्थापित करने का दृष्टिकोण रखता है। (5) सामञ्जस्य को अपनाकर सह अस्तित्व की भूमिका में रहता है। (6) अनाग्रही व्यवहार से सभी में लोकप्रिय होता है। (7) 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र को आत्मसात् करके सहयोग की भावना रखता है।

इस प्रकार जैन जीवन–पद्धति का अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त सिद्धान्त के माध्यम से व्यावहारिक प्रयोग बताया है। यह जैनों के द्वारा जीने वाली श्रेष्ठ पद्धति बतलायी है। इसका आचरण जिस प्रमाण में किया जायेगा, उसी परिमाण में जैन जीवन–पद्धति उसके आत्मतोष एवं व्यवहार को प्रदर्शित करती है।

वर्तमान वैश्विक स्थिति

बारूद के ढेर पर खड़ा आज सम्पूर्ण विश्व भयाक्रान्त है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी–अपनी अनेक समस्याओं के कारण अस्थिरता का अनुभव कर रहा है। अशान्ति ने पूर्ण विश्व पर साम्राज्य स्थापित किया हुआ है। विकसित राष्ट्र अमेरिका नस्लवाद और भेदभाव के अन्तरकलह से त्रस्त है। चीन विस्तारवादी नीति के कारण जापान, भारत सहित सभी पड़ौसी देशों के साथ सीमा विवाद से आक्रान्त है। जापान में दिन–प्रतिदिन प्रदूषण की समस्या गहरा रही है। ब्रिटेन अकेलेपन और तनावग्रस्त लोगों की बढ़ती जनसंख्या से जूझ रहा है। जिससे आत्महत्या का डर बढ़ता जा रहा है। विकासशील देशों में बेरोजगारी, जनसंख्यावृद्धि, कमजोर अर्थव्यवस्था आदि अनेक समस्याएँ हैं। इस प्रकार विकसित और विकासशील देश अपनी–अपनी समस्याओं से तो जूझ ही रहे हैं साथ ही अनेक विश्वव्यापी समस्याएँ भी उन्हें अशान्त किये हुए हैं। अधिकांश राष्ट्रों के अशान्ति और भय की कारण कतिपय निम्नलिखित समस्याएँ हैं–(1) प्रकृति के अप्राकृतिक रूप से दोहन होने से पर्यावरण–प्रदूषण (2) आतंकवाद (3) स्वास्थ्य–समस्या (4) ग्लोबल वार्मिंग (5) भोगवाद (6) परमाणु हथियारों की होड़।

उक्त समस्याओं से अन्य भी कई समस्याएँ हैं, लेकिन मुख्य–मुख्य समस्याएँ ही यहाँ प्रदर्शित की हैं।

वैश्विक समस्याओं के समाधान में जैन जीवन–पद्धति की भूमिका–जब तक समस्याएँ प्रभावी हैं, तब तक अशान्ति है और जब समाधान प्रभावी होता है तब शान्ति का प्रसार होता है। जैन जीवन–पद्धति समग्र समस्याओं के समाधान में अभिन्न भूमिका निभाती है। प्रत्येक व्यक्ति विश्वशान्ति के यज्ञ में पूरा–पूरा भाग ले सकता है। प्रत्येक व्यक्ति विश्व का अविभाज्य अंश है। प्रत्येक राष्ट्र जैन जीवन–पद्धति को अपनाकर सर्वतोमुखी अभ्युदय और शान्ति की ओर अग्रसर हो सकता है।

(1) पर्यावरण असन्तुलन–पर्यावरण–प्रदूषण की समस्या ने विकराल रूप ले रखा है। प्रकृति में अपार सामर्थ्य है। वह अखिल विश्व की पूर्ति कर सकती है। लेकिन आज स्वार्थ एवं महत्त्वाकांक्षी विचारधारा के कारण पृथ्वी का अत्यधिक दोहन, वनों की कटाई, पानी का दुरुपयोग, वायु का प्रदूषण आदि बेहिसाब हो गया है। पर्यावरण के असन्तुलन का मुख्य कारण आर्थिक प्रलोभन है। प्रत्येक मनुष्य, समाज और राष्ट्र के मन में आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने की अपूर्ण लालसा बढ़ती जा रही है। इस कारण पर्यावरण असन्तुलित हो रहा है।

अमेरिकी राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी (1966) के अनुसार वायु, पानी, मिट्टी, पौधे, पेड़ और जानवर सभी मिलकर पर्यावरण की रचना करते हैं। इनका असन्तुलन पृथ्वी पर मनुष्य के जीवन को खतरे में डाल रहा है। आचाराङ्गसूत्र पृथ्वी, पानी, वनस्पति जैसे अव्यक्त चेतना वाले तत्त्वों में भी सजीवता का विधान करता है। पृथ्वी, पानी और वनस्पति के दोहन को हिंसा मानता है। गृहस्थ श्रावक इसकी मर्यादा करता है और जैन श्रमण तो पूर्णतया इनकी हिंसा का त्याग करता है।

आचाराङ्गसूत्र में पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा की पीड़ा को व्यक्त करते हुए कहा है–कोई कठोर हृदय वाला पुरुष निर्दय होकर तीखे भाले से जन्मान्ध पुरुष को भेदता है, तीखे फरसे से छेदता है तो वह जन्मान्ध मूक और बधिर पुरुष छेदने-भेदने वाले को न देखता है, न सुनता है, न अपनी वेदना चिल्लाकर व्यक्त कर पाता है। वेदना को व्यक्त करने में असमर्थ जन्मान्ध के समान पृथ्वीकाय आदि जीव भी अपनी वेदना को व्यक्त करने में असमर्थ हैं। वहाँ सूक्ष्म जीवों की मानव से तुलना कर हिंसा का त्याग करने की प्रबल प्रेरणा दी है।

जैन अपरिग्रही जीवन जीने वाला होने से आर्थिक प्रलोभन के कारण हिंसा का पाप नहीं बाँधता है। वह सभी प्राणियों के जीने के अधिकार की रक्षा करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन जीवन-पद्धति असंदिग्ध रूप से प्रकृति के सन्तुलन में जरा भी बाधक नहीं बनती है। जैन मुनि न तो पृथ्वी का खनन करते हैं, न पानी का दुरुपयोग करते हैं, न ही वनस्पति का दोहन करते हैं, अग्नि का आरम्भ भी उनके लिए वर्जनीय है। न ही वे वायु और ध्वनिप्रदूषण के जनक वाहन का प्रयोग करते हैं। जैन जीवन-पद्धति में प्रदूषण का नितान्त निषेध किया है।

(2) आतंकवाद–आतंकवाद विश्वशान्ति के प्रयासों में नासूर-सा चुभता रहता है। यह एक हिंसात्मक गतिविधि होती है। यदि कोई व्यक्ति या संगठन अपने गैर सरकारी लक्ष्यों की पूर्ति हेतु देश की सुरक्षा को निशाना बनाए तो उसे आतंकवाद कहते हैं। आपराधिक संगठन धर्म के नाम पर हिंसा करके हजारों की संख्या में लोगों को मौत के घाट उतार देते हैं। आतंकवाद की कोई जाति, धर्म और भाषा नहीं होती है।

जैनदर्शन तो कहता है, इस बाहर के आतंक को मिटाने के लिए अपने भीतर के आतंक को मिटाना होगा। आतंकवाद को मिटाने के लिए वैचारिक उदारता लाना जरूरी है। आतंकवादी अपने ही बीच से निकलकर बनता है। समाज या देश की किसी प्रवृत्ति से कुण्ठाग्रस्त होकर या धर्म पर मदान्ध होकर आतंकवादी बनता है। जब राष्ट्रीय नीति आतंकवादी को मारने की अपेक्षा आतंकवाद को समाप्त करने का लक्ष्य ठानेगी, तब ही कुछ सफलता प्राप्त हो सकती है। मैत्री-भावना, करुणा-भावना, समन्वयवादी दृष्टिकोण, सह-अस्तित्व, अनाग्रहवृत्ति आदि जैन जीवन-पद्धति के अचूक अस्त्र आतंकवाद का खात्मा करने में सक्षम हैं। खून से सने वस्त्रों को पानी से धोने का प्रयास वस्त्र को स्वच्छ कर सकता है। आतंकवाद को समाप्त करने के लिए सर्वव्यापी मैत्री अभियान की नितान्त आवश्यकता है।

(3) स्वास्थ्य-समस्या–'पहला सुख नीरोगी काया' यह सूत्र व्यापक रूप से सर्वमान्य है। लेकिन प्रदूषण, मानसिक तनाव आदि के कारण विश्व की एक अच्छी खासी आबादी स्वास्थ्य-समस्याओं का सामना कर रही है। अनेक महामारियों ने अनेक लोगों को स्वाहा किया। वर्तमान में जैविक बीमारियों ने जोर पकड़ रखा है। जीका वायरस, इबोला वायरस आदि से पूर्व में नाश हो चुके हैं और वर्तमान में कोरोना वायरस के कहर से विश्व के सभी देश त्रस्त हैं।

जैन जीवन-पद्धति मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की रामबाण औषधि है। कोरोना महामारी से बचने के लिए जो गाइडलाइन जारी की जा रही है, जैन साधु की तो जीवन-पद्धति में सहज ही वह गाइडलाइन है। मास्क का प्रयोग और सामाजिक दूरी का पालन जैन

साधु प्रतिसमय करते हैं। जैन गृहस्थ भी प्राय: दोनों गाइडलाइन का पालन सहज ही कर लेते हैं। जैनों का आहार इतना सात्त्विक, पथ्ययुक्त और समय के अनुसार होता है कि उनकी आहारचर्या को यदि अपना लिया जाये तो अधिकांश रोगों से मुक्ति पायी जा सकती है।

(4) ग्लोबल वार्मिंग–पृथ्वी का तापमान लगातार बढ़ रहा है और इसके कारण मौसम में होने वाले परिवर्तन की समस्या से पूरा विश्व प्रभावित है। इस समस्या का कारण ग्रीन हाउस गैसें हैं। उनमें कार्बन-डाइ-ऑक्साइड गैस का उत्सर्जन तापमान-वृद्धि का मुख्य कारण है। मानवजनित कार्बन-डाइ-ऑक्साइड इस तापमान-वृद्धि की सबसे बड़ी जिम्मेदार है।

जैन जीवन-पद्धति अहिंसा प्रधान होने से प्रकृति का रक्षण करती है। वनस्पति में पर्याप्त मात्रा में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड़ को ग्रहण करने की क्षमता है। जैन आवश्यकता का जीवन जीता है, न कि विलासिता का। इस कारण वह एयर कण्डीशनर, रेफ्रिजरेटर, कूलिंग मशीन आदि से निकलने वाली गैसें जो कि ग्लोबल वार्मिंग का कारण हैं, उनका उपयोग कम से कम करता है।

जैन श्रावक सुविधा भोगी से अधिक त्यागी होता है। इस कारण उसमें अल्प सुविधा में भी कार्य चलाने की कला होती है। इस तरह जैन जीवन-पद्धति इस समस्या के समाधान में बहूपयोगी है।

(5) भोगवाद-संस्कृति–समग्र विश्व में प्राय: व्यक्ति अत्यधिक भोगवाद के कारण तनावग्रस्त जीवन से त्रस्त है। 'दिल माँगे मोर' की संस्कृति से त्याग-प्रधान संस्कृति का हनन हो रहा है। अनियन्त्रित भोग मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक शान्ति का हनन करता है। भोगवाद के कारण धर्मविहीन समाज बढ़ता जा रहा है। इसके कारण जीवन मूल्यों का ह्रास, बाजारवाद तथा विलासिता ने पैर पसार लिये हैं। आज पश्चिमी देशों की समस्या रात को नींद नहीं आना, मानसिक सन्तप्ति, तलाक आदि भोगवाद के कारण हैं। एक कवि ने तो भोगवादी पश्चिमी सभ्यता पर तंज कसते हुए कहा भी है–

आदमी अपनी संस्कृति से इतना जल्दी क्यों ऊब जाता है।
अरे! पश्चिम की तरफ मत भागिए,
वहाँ जाकर तो सूरज भी डूब जाता है।।

जैन जीवन-पद्धति त्याग प्रधान है, भोग प्रधान नहीं। यहाँ अपरिग्रही जीवन दान की प्रेरणा करता है। अपरिग्रही व्यक्ति अनासक्ति को धारण करता है, अनियन्त्रित इच्छाओं पर नियन्त्रण रख संयमित जीवन जीता है। इस प्रकार भोगवाद क्षणिक सुख पर अवलम्बित है जबकि जैन जीवन-पद्धति चिरशान्ति पर आधारित है।

(6) युद्ध और परमाणु हथियारों की होड़–प्रत्येक राष्ट्र शान्ति की चाहना करता है, पर बीज अशान्ति के बो रहा है। परमाणु बम, हाइड्रोजन बम, नाइट्रोजन बम आदि अनेक बम तथा विनाशकारी गैसों का निर्माण हो रहा है। बारूद के ढेर पर बैठकर शीतल शान्ति की चाह रखना बेमानी ही होगा। प्राप्त शान्ति का दुरुपयोग अशान्ति का मूल है। आज से 75 वर्ष पूर्व 6 और 9 अगस्त 1945 को जापान के हिरोशिमा और नागासकी पर हुआ परमाणु हमला, जिसने एक साथ 20 हजार से ज्यादा लोगों की जान ली, उसे भला कौन भूल सकता है? हिंसा कभी समस्या का समाधान नहीं हो सकती है। कोरिया का युद्ध जो कि विश्व युद्ध की भूमिका बनता जा रहा था, उसे अहिंसा ने ही शान्त किया। युद्ध के महाविनाश ने युद्ध करने वालों को भी भयभीत बना दिया है, वे भी अहिंसा का लोहा मानने को मजबूर हो गये हैं। पर विडम्बना यह है कि युद्ध न हो, यह सभी चाहते हैं, पर वे युद्ध के कारणों को छोड़ना नहीं चाहते।

इस दृष्टि से शस्त्रों के विकास से होने वाले महाविनाश से बचने का एकमात्र उपाय अहिंसा है। वास्तव में शस्त्रों के विकास में भय बहुत बड़ा कारण है, इस कारण भगवान ने अभय पर, अहिंसा पर बल दिया

है। अहिंसा भयभीत नहीं बनाती, अपितु वीर-साहसी बनाती है और विश्व प्रेम का सञ्चार करती है।

विश्वशान्ति हेतु जैन जीवन-पद्धति के आयाम

1. अहिंसा को विश्व धर्म की संज्ञा देकर, इसके सिद्धान्तानुसार जीवन-पद्धति का सञ्चालन हो।
2. सभी राष्ट्र समस्याओं के समाधान में अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त पद्धति का अनुसरण करें।
3. अनाक्रमण और अहस्तक्षेप की नीति अपनाकर समन्वय-नीति से सहयोग भावना रखें।
4. शीतयुद्ध रोकें एवं अनेकान्त पद्धति से विवादों का निपटारा करें।
5. मैत्री भावना से 'सब जगत् का भला हो' भावना की पुष्टि करें।
6. वैश्विक अहिंसा परिषद् की स्थापना हो, जिससे विवादों को सुलझाने में सहयोग मिले।
7. विस्तारवाद की कुटिल नीति का त्याग कर अपरिग्रही जीवन-पद्धति को अपनाएँ।
8. परमाणु बमों को शक्तिहीन करने का उपक्रम हो तथा नये बमों के निर्माण पर रोक लगे।
9. आवश्यकता के अनुसार ही प्रकृति का उपयोग करें, दुरुपयोग नहीं।
10. विश्व के कल्याण की कामना के लिए प्रतिदिन शान्तिप्रार्थना का उपक्रम प्रारम्भ हो।

उपसंहार

जब तक समस्या है, अशान्ति है। समाधान ही शान्ति का सर्जक है। विश्व की समस्याओं का समाधान ही विश्व शान्ति का प्रयास है। अशान्ति के मूल हिंसा, परिग्रह एवं संकीर्णता का त्याग करके शान्ति के आयाम अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त सिद्धान्त को अपनाना ही विश्व कल्याण की भावना है। जैन जीवन-पद्धति स्वयं को शान्त जीवन जीना सिखाती ही है, साथ ही विश्व-शान्ति के लिए भी अनुकरणीय बन जाती है। जैन जीवन-पद्धति के विभिन्न आयाम हैं, उनमें से तीन को लेकर चर्चा की है। समग्र जैन आचार को जीवन में उतारने से तो विश्व बन्धुत्व की भावना रोम-रोम में साकार रूप लेती है।

व्यक्तियों की शान्ति, समाज की शान्ति बनती है, समाज की शान्ति, राष्ट्र की शान्ति का हेतु है और राष्ट्रों की शान्ति विश्व शान्ति का रूप लेती है। जैन जीवन-पद्धति व्यक्ति के जीवन में शान्ति, सन्तोष, निर्भयता, क्षमा आदि अनेक गुणों का प्रभाव जमाती है, जो कि विश्व शान्ति के मूल में सहयोगी है।

सन्दर्भग्रन्थ

1. आचाराङ्गसूत्र-आचार्य हीराचन्द्र, प्रकाशक-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर, प्रथम संस्करण 2019
2. विश्वशान्ति और अहिंसा-आचार्य महाप्रज्ञ, सम्पादक-मुनि धर्मेश, प्रकाशक- जैन विश्वभारती लाडनूँ
3. अहिंसा दर्शन-उपाध्याय अमरमुनि, सम्पादक-पण्डित शोभाचन्द्र भारिल्ल 'न्यायतीर्थ', प्रकाशक-श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, द्वितीय संस्करण- 1957
4. विज्ञान के सन्दर्भ में जैन धर्म-मुनि सुखलाल, प्रकाशक-आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 1985
5. जैन ज्ञान प्रकाश-ज्ञान मुनि, सम्पादक-आचार्य शिव मुनि, प्रकाशक-भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर ट्रस्ट कुप्पकलां (पंजाब), तृतीय संस्करण 2008
6. अपरिग्रह विश्वकोश-डॉ. सुषमा सिंघवी, प्रकाशक-प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2014
7. जिनवाणी अहिंसा विशेषांक-डॉ. नरेन्द्र भानावत, प्रकाशक-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर, मार्च-अप्रैल-मई-जून- 1993
8. लोकतन्त्र : नया व्यक्ति नया समाज-युवाचार्य महाप्रज्ञ, सम्पादक-मुनि धनन्जय कुमार, प्रकाशक-जैन विश्व भारती, लाडनूँ, प्रथम संस्करण-1993

-शोध छात्र, 37/67, रजतपथ, मानसरोवर, जयपुर-302020 (राज.)

विश्व में केवल जैन समाज ही ऐसा है जो जीव हिंसा न करने, मांस-भक्षण न करने, मद्यपान न करने आदि के लिए सम्मान पाता है। **-आचार्य श्री हीरा**

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 410
ISSN 2249-2011

शिक्षा में जैन जीवनशैली का समावेश

श्री निपुण डागा

To educate a person in mind and not in morals is to educate a manace to society. [Theodre roosevelt]

यदि मानव को केवल मस्तिष्क के स्तर पर विकसित किया गया, किन्तु उसे संस्कारित नहीं किया तो आपने समाज के लिए एक बड़ी समस्या को जन्म दिया है।

भौतिकता की चकाचौंध एवं प्रतिस्पर्धा की इस अन्धी दौड़ में बच्चों की शिक्षा ने उनका बचपन, उनकी नैतिकता, संस्कार एवं देश प्रेम को तिलाञ्जलि दे दी है।

हम जैन जीवनशैली पर विशेषांक निकाल रहे हैं, पर बड़े दुःख के साथ यह लिखना पड़ रहा है कि कुछ वर्षों बाद ऐसे विषय पर विशेषांक तो दूर की बात, उस पर चर्चा, वार्त्ता करने वाले लोग भी गिनती के रह जाएँगे। कारण साफ है–हमारी आज की शिक्षा प्रणाली। बड़े-बड़े महानगरों, शहरों (मुम्बई, चेन्नई, जयपुर) आदि में रहते हुए शिक्षा प्रणाली का आंकलन करते हैं तो ये स्पष्ट (ध्वनित) विदित होता है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में केवल भौतिकता पाश्चात्त्य संस्कृति Money minded thinking (धनबुद्धि का सोच) व्यसन आदि को बहुत बढ़ावा दिया जा रहा है और यह सच्चाई देश के हर बड़े शहर, नगर और गाँव की भी कह सकते हैं। समस्या गम्भीर है। अगर वृक्ष की जड़ें ही कमज़ोर हैं तो वृक्ष कैसे मज़बूत रह पायेगा। भवन की नींव ही कमज़ोर है तो भवन कैसे टिक पाएगा। संस्कार की जड़ें तो दूर की बात, व्यसनों एवं भौतिकता की इन जड़ों से भविष्य में जैन जीवनशैली की अपेक्षा करना अतिशयोक्ति मानी जाएगी।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली की कुछ मुख्य समस्याएँ हैं जिनसे जीवनशैली का भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है, वे इस प्रकार हैं–

1. व्यसन एवं पाश्चात्त्य प्रणाली (Westernisation)–हमारे जितने भी उच्च जैन परिवारों के बच्चे हैं वे ऐसे उच्च कोटि के विद्यालय (Top Schools) से अपनी शिक्षा ले रहे हैं, जहाँ का आधुनिक वातावरण हमारी भारतीय एवं पुरातन जैन संस्कृति को गौण कर विलासिता, भौतिकता, व्यसनों, कम उम्र में बच्चों के विजातीय सम्पर्क (Relationship) आदि को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। 12–13 वर्ष के बालकों में दुर्व्यसनों की आदत लगना आम बात होती जा रही है।

2. जैनों द्वारा सञ्चालित शिक्षण संस्थानालय की वर्तमान स्थिति–बड़े मजे की बात है कि जैनों द्वारा सञ्चालित बड़ी-बड़ी पाठशालाओं में केवल नाम मात्र के जैन विद्यार्थी अध्ययन कर रहे हैं और माता-पिता भी इन विद्यालयों में अपने बच्चों को भेजने में 'हमारा सामाजिक स्तर (Status) कम हो जाएगा' ऐसा अनुभव करते हैं। उदाहरण के लिए–जयपुर के सबसे बड़े शिक्षण संस्थानालय में करीब 30,000 से 32,000 विद्यार्थी अध्ययन करते हैं, उनमें से केवल 2,500 से 3,000 बच्चे जैनों के हैं। अगर उनका प्रतिशत निकाला जाय तो केवल 8 से 9 प्रतिशत आएगा जो कि बहुत कम है। सारे विद्यालय, महाविद्यालयों के न्यासी (Trustee) जैनी, धन जैनों का, जमीनों का दान जैनों ने दिया, लेकिन विद्यालय-महाविद्यालयों में अध्ययन कर रहे हैं अन्य समाज के बच्चे। यह तो ऐसी बात हो गयी कि मैंने व्यापार में करोड़ों का निवेश किया और पूरा नफा (Profit) दे रहा हूँ पड़ोसी को।

3. विदेश में स्थापित (settle) होने की प्रेरणा–इन विद्यालयों (schools) की शिक्षण-पद्धति, या पढ़ाने का तरीका ही ऐसा है जिससे बच्चों

की मानसिकता ही ऐसी निर्माण की जा रही है कि उन्हें पाश्चात्त्य संस्कृति उच्च और हमारी प्राचीन अमूल्य संस्कृति एवं पुरानी विचारधारा (old school mentality) को पिछड़ा हुआ (Backward) दर्शाया जाता है। हमारे पुराने तौर-तरीकों के लिए बच्चों में हीन भावना आना स्वाभाविक रूप से देखा जाता है। हमें बाहर जाकर उच्च पढ़ाई करनी है और वहाँ पर ही बसना (Settle) है, ये भाव बच्चों में उत्पन्न होने लग जाते हैं। अनार्य क्षेत्र में जाकर जैन जीवनशैली को जीवित रखना बहुत ही मुश्किल लगता है।

4. बच्चों की बिगड़ती दिनचर्या-हमारे बच्चे हमारी सुनते नहीं हैं, जागने और सोने का समय निश्चित नहीं है। हमारे पूर्वज जिस तारीख (Date) को जागते थे उसी तारीख में सोते थे, लेकिन आज के बच्चों का जागने का और सोने का दिन अलग होता है। खान-पान में पिज्जा, बर्गर (Junkfood) आदि को सेवन करने से स्वास्थ्य बिगड़ना, विद्यालयों में गलत संगति, रहन-सहन (Parties) जनसमूह, सारी रात बाहर रहना (Nightouts) आदि प्रवृत्तियाँ भविष्य में जैन जीवनशैली को जीवित नहीं रहने देंगी।

5. ज़िन्दगी के 10 अमूल्य वर्षों का छीजन (Wastage)-आज के विद्यालयों का पाठ्यक्रम (Syllabus\Curriculum) औसत विद्यार्थी को ध्यान में रखकर बनाया जाता है जिसे पूरा करने में 20 वर्ष लग जाते हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में जैसे हर मरीज को बीमारी की वही (Same) दवा दी जा रही है। हम सब यह अच्छे से जानते हैं कि हमारे जैन बच्चों का दिमाग, समझ, प्रतिभा आदि हमेशा से ही साधारण बच्चों की अपेक्षा उच्च रही है। B.A., B.com, C.A. आदि की पढ़ाई पूरी करने के बाद मुझे आज लगता है कि विद्यालय, महाविद्यालय की 20 वर्षों की पढ़ाई आराम से आधे समय में पूर्ण कर सकता था और साथ ही जो विषय मेरे कोई काम के ही नहीं थे उन पर ज़ोर नहीं देकर केवल रुचिकर एवं योग्यता के अनुसार पढ़ने पर कम समय में अच्छा निर्माण हो सकता था। व्यवसाय (Carrer) की पढ़ाई भी अच्छी तरह से हो सकती थी और साथ ही जैन आगमों, प्राचीन विद्याओं में भी हम निपुण बन सकते थे।

अगर जैन समाज के हितैषी श्रावक अब भी इस विकट समस्या को हल करने पर ध्यान नहीं देंगे तो 45 लाख की आबादी वाले जैन समाज में और गिरावट आने वाली है। जिनशासन के चारों तीर्थों का यह परम पुनीत कर्त्तव्य है कि हम जिनशासन की उन्नति, धर्म की सुरक्षा एवं उज्ज्वल भविष्य के लिए शिक्षा में ही जैनत्व के संस्कार जैन पाठशाला, विद्यालयों द्वारा आरोपण कराने की सुयोजना बनाए। मनोविज्ञान (Child Psychology) कहता है कि गर्भकाल से लेकर यौवन अवस्था (Teenagers) तक हमारा निर्माण काल होता है। इसीलिए प्राचीन संस्कृति तो गर्भकाल से ही शिशु को संस्कार देना आरम्भ कर देती थी ताकि अध्यात्म की जड़ें बहुत गहरी हो जाएँ। इस गम्भीर समस्या को हल करने के 4 मूल स्तम्भ पर काम करना अनिवार्य प्रतीत होता है।

1. **गुरुकुल की आवासीय शिक्षाप्रणाली**-देश के विभिन्न शहरों में स्वामी नारायण की 15 से अधिक शाखाएँ, बाबा रामदेव के गुरुकुल, सद्गुरु ईशा फाउण्डेशन, हेमचन्द्राचार्य की साबरमती गुरुकुल आदि संस्थाएँ प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली को पुन: जागृत करने का काम बहुत अच्छे स्तर पर कर रहे हैं। यहाँ विद्यार्थियों को आधुनिक शिक्षा के साथ भारतीय संस्कृति की अमूल्य विद्याएँ, उनके गौरव, संस्कृति-रक्षण का काम किया जा रहा है। मूल बात जिसकी ओर मैं आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहूँगा, वह यह है कि बच्चों को घर से दूर आश्रम एवं छात्रावास जैसी व्यवस्था में रखकर सब कलाओं में निपुण बनाया जा सकता है। उनमें संस्कृति के लिए प्रेम, आदर जागृत किया जाए, साथ ही जिस बच्चे में जैसी योग्यता है उसको केवल उसी विषय की पढ़ाई कराई जाए।

2. **वर्तमान जैन विद्यालयों में परिवर्तन**–हमारे जैन विद्यालयों को आवासीय गुरुकुल व्यवस्था में परिवर्तित करना और उनके पाठ्यक्रम (Curriuculum) में विद्या (Know-ledge), सद्विद्या (Moral Knowledge) और अध्यात्म विद्या (Spritual Knowledge) के त्रिवेणी संगम को जोड़ना अनिवार्य होगा।
3. **विनयधर्म : शिक्षा का मूल**–वर्तमान शिक्षा प्रणाली का केन्द्र स्थान (Focus) तर्क-वितर्क पर आधारित है, जबकि धर्म का मूल विनय से प्रारम्भ होता है जिसमें अपने गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण अपेक्षित है। व्यवसाय (Carrer) के लिए योग्य शिक्षा एवं गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के संगम से हम भविष्य में बच्चों को आदर्श श्रमणोपासक एवं भौतिकता में भी उच्च पदों पर आसीन कर देश का, समाज का एवं खुद का गौरव बढ़ा सकते हैं।
4. **माता-पिता (Parents) बच्चों के लिए आदर्श बनें**–बच्चों में जैन जीवनशैली स्थापित करने के लिए माता-पिता को सर्वप्रथम स्वयं को भी सुधरना होगा। माता-पिता बच्चों के लिए सबसे पहले शिक्षक होते हैं। अगर बच्चे उनके जीवन में व्यसन, विलासिता और भौतिकता की गन्ध को महसूस करेंगे तो उन्हें कभी भी धर्म पर विश्वास नहीं होगा। जितने बड़े घरों के आधुनिक माता-पिता से परामर्श (Counselling) के समय वार्तालाप हुई तो मालूम पड़ा कि वे खुद भी कई व्यसनों में लिप्त हैं और पाश्चात्त्य संस्कृति से अधिक प्रभावित हैं। पर वे भी यही चाहते हैं कि मेरा बच्चा भले ही C.A., Engineer, Doctor बन जाए, पर संस्कारित भी होना चाहिए। इसलिए माता-पिता को बच्चों के सामने आदर्श रखते हुए अपनी दिनचर्या को सात्त्विक बनाना पड़ेगा। बच्चों में मिरर न्यूरॉन्स होते हैं, जैसा वे देखते हैं वैसा ही आचरण करते हैं।

सारांश

आचार्य उमास्वाति द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है-'**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।**' मेरी अल्प बुद्धि इसी को ही जैन जीवनशैली मानती है। विचारशील, हितैषी धर्म साधक यह गम्भीरता से विचार करें कि बच्चे की दृष्टि को हम संस्कृति के प्रेम के लिए, जैनत्व की श्रद्धा आदि पर केन्द्रित करें तो कच्चे घड़े की इस अवस्था में दर्शन सम्यक् होना शुरु हो सकता है और जैन जीवनशैली की नींव रखी जा सकती है। ज्ञान और चारित्र को भी सद्ज्ञान एवं अध्यात्म ज्ञान के द्वारा सम्यक् बनाया जा सकता है तब ही हम भविष्य में जैन जीवन शैली का वृक्ष हरा-भरा देखेंगे।

कुल मिलाकर समाज के वर्ग को तन-मन-धन से शिक्षा के इस महासंग्राम में अपनी आहुति देनी होगी। वरिष्ठ श्रावकों को ऐसे गुरुकुल की स्थापना करने की योजना में और अन्य श्रावकों को अपने बच्चों को ऐसी नई जीवन-निर्माण की शिक्षा प्रणाली में अपने बच्चों को भेजने का निर्णय लेना पड़ेगा, तब जाकर हम सबके प्रयासों के द्वारा संस्कृति का रक्षण, और धर्म की रक्षा करने में सफल हो पाएँगे।

-बी 13, शिवालिया मार्ग, सेठी कॉलोनी, जयपुर-302004 (राज.)

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएण, रोगेणालस्सएण य।।

-उत्तराध्ययनसूत्र 11.3

अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य इन पाँच कारणों से व्यक्ति शिक्षा (ज्ञान) प्राप्त नहीं कर सकता।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 413
ISSN 2249-2011

सप्त कुव्यसनों के त्याग का महत्त्व*

श्रीमती सुशीला बोहरा

पर्वतों में सुमेरु से बढ़कर, विशालता में आकाश से बढ़कर कोई विस्तृत नहीं, वैसे ही समस्त धर्मों में अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। जैनदर्शन इसी अहिंसा की सुदृढ़ नींव पर खड़ा है। इसीलिये यहाँ का आहार, पेय, वस्त्र-परिधान, रहन-सहन, आजीविका चलाने के साधन जितने भी व्यवहार हैं वे सब अहिंसा से नापे जाते हैं। भगवान ने फरमाया है- एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक समस्त जीवों में जीने की इच्छा है, मरना कोई नहीं चाहता। यहाँ तक कि नरक के नेरिये से लेकर देवलोक के देवेन्द्र तक भी जीने की चाहना करते हैं। एक व्यक्ति का दिल दूसरे व्यक्ति में लगाया जा सकता है, किसी की आँख दूसरे व्यक्ति में बिठाई जा सकती है, अङ्गों का परिवर्तन हो सकता है, लेकिन प्राणी के प्राणरहित होने के बाद अनन्त शक्तिमान वीतराग भगवन्त भी प्राण नहीं दे सकते। अतएव जैनदर्शन के अनुसार किसी को मारना सबसे बड़ा पाप है। सारे व्यसन किसी न किसी रूप में इसी हिंसा पर आधारित हैं। इसलिये ये त्याज्य हैं।

ज़िन्दगी हर कोई जीता है, कोई 'आह' के साथ तो कोई 'वाह' के साथ। 'वाह' में ही ज़िन्दगी की ज़िन्दादिली है, उसी में जीवन का लक्ष्य छिपा है। व्यसन में रत व्यक्ति तथा उनका परिवार 'आह' भरी बोझिल एवं हताश ज़िन्दगी बसर करने को मजबूर हो जाते हैं। अत: क्यों न 'वाह' की सफल, सार्थक और आत्मविश्वास भरी ज़िदगी का आनन्द लें। और यह तभी सम्भव है जब नैतिकता की सुदृढ़ नींव पर हमारा जीवन एवं व्यवहार हो।

परिवार सामाजिक जीवन की रीढ़ की हड्डी है, विश्व का पहला विद्यालय है। पुस्तकीय शिक्षा विद्यालय से प्राप्त हो जाती है, लेकिन सुसंस्कारों की पाठशाला तो अपना परिवार ही है। परिवार से ही समाज बनता है। अतएव गरिमापूर्ण समाज के निर्माण के लिए व्यसनमुक्त परिवारों का होना आवश्यक है। लक्ष्मी भी स्थायी रूप से वहीं निवास करती है जहाँ अनीति-अन्याय, कुसङ्ग और व्यसन न हों। 'व्यसन' धूम्रपान का हो, गुटखे का हो, गाँजा-चरस का हो, वेश्यागमन या मदिरा पीने का या चाहे जो हो, परिवार की सुख-शान्ति का स्वाहा करने वाला होता है।

'व्यसन' शब्द का तात्पर्य

व्यसनं विपत्ति: अर्थात् व्यसन ही विपत्ति है। व्यस्यति पुरुषं श्रेयस: इति व्यसनं। अर्थात् जो आदमी को सत्पथ से, न्याय मार्ग से, श्रेय मार्ग से गिराता है वह व्यसन है। दूसरा अर्थ-विपरीतं असनं व्यसनम्। कुटेवों, बुरी आदतों के कारण व्यक्ति सदाचार और धर्म से विमुख होता है।

संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं-1. मुमुक्षु, 2. बुभुक्षु। मुमुक्षु वे जो 'मोक्तुं इच्छु:' अर्थात् मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं और बुभुक्षु वे हैं जो 'भोक्तुं इच्छु: बुभुक्षु:' अर्थात् भोग की अत्यधिक कामना करने वाले हैं। भोग की इच्छाएँ असीम हैं, जिन्हें व्यक्ति विभिन्न प्रकार के भोगों से तृप्त करना चाहते हैं, लेकिन भोग से तृप्ति होती नहीं। जैसे ईंधन डालने से अग्नि तृप्त नहीं होती, अधिक बढ़ती है, उसी तरह भोगने से भोग की कामना बढ़ती है। व्यसन की नींव भोग ही है चाहे वह

* आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के सान्निध्य में 6-7 अक्टूबर, 2012 को जयपुर में आयोजित 'जैन जीवनशैली' विषयक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

शराब पीने की हो, माँस खाने की या वेश्यागमन आदि आदि की।

व्यसन के प्रकार

व्यसन मुख्य सात माने जाते हैं, यथा-

मद्य मांस वेश्यागमन, परनारी अरू शिकार।
जुआ, चोरी जो सुख चाहे, सातों व्यसन निवार।।

आज इन सातों व्यसनों के साथ कई नये व्यसन जुड़ गये हैं। चरस, गाँजा, हेरोइन, गुटखा आदि नित नये व्यसन व्यक्ति को भ्रमित किये हुए हैं। जो महलों से लेकर झोपड़ियों तक ज़िन्दगी को प्रभावित कर रहे हैं। कहीं माँ लाडले के लिए आँसू गिरा रही है तो कहीं पत्नी। शेयर खरीदना और लाटरी लगाना नये ही व्यसन हैं, जिनसे परिवार बर्बाद हो रहे हैं। इसी जुआ/लाटरी से पाण्डवों को राजमहल छोड़कर 12 वर्ष तक जंगलों की खाख छाननी पड़ी, द्रौपदी का चीर-हरण हुआ, भरे दरबार में उसकी इज्जत को नीलाम किया गया, और कौरववंश का तो विनाश हो गया, फिर भी व्यक्ति उनसे सीख नहीं लेता। शेयर मार्केट खुलते ही इन लोगों की साँसें शेयर के बढ़ते-उतरते भावों पर ऊँची-नीची होने लगती हैं। उन्हें कल नहीं अगले क्षण का भी पता नहीं कि रोड़पति बनेंगे या करोड़पति और फिर सामने दिखती है मौत जो उन्हें आत्महत्या करने तक मजबूर कर देती है।

व्यसनों का प्रारम्भ कैसे

1. **अन्याय और अनीति से उपार्जित धन**-आज धन एवं भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए तीव्र स्पर्धा चल रही है, येन केन प्रकारेण धन प्राप्त करना ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन गया है। व्यक्ति आँख मूँदकर वस्तुओं में मिलावट तथा झूठे नाप-तोल कर रहा है, रिश्वत लेता-देता है, तस्करी करता है, गरीब और जरूरतमन्द लोगों से अन्धाधुन्ध ब्याज ले रहा है और न जाने क्या-क्या करता है। धन-प्राप्ति इस तरह शायद सहज संभाव्य है, पर इससे न तो मान-प्रतिष्ठा मिल सकती है और न मन की शान्ति। अनीति से प्राप्त यह धन व्यक्ति को मदान्ध बना देता है, वह कई बार ऐसे दोस्तों से भी घिर जाता है कि जो उसे कब व्यसनों से घेर लेते हैं इसका उसको भान भी नहीं रहता। **अनीति पूर्वक अर्जित धन, सम्पदा या ऐश्वर्य पूज्य आचार्यप्रवर हस्तीमलजी म.सा. के शब्दों में आठ के पहाड़े के समान हैं जो ऊपर से बढ़ता प्रतीत होता है, लेकिन अन्दर से घटता जाता है।** जैसे आठ एकम आठ। आठ दुनी सोलह। दोनों का योग करे 1 + 6 = 7। वैसे ही आगे का पहाड़ा बढ़ता है और जोड़ कम हो जाती है। वस्तुतः अनीति से प्राप्त धन जितना बढ़ता है उतनी ही सुख-शान्ति, चैन भी घटता जाता है। कभी पुलिस का डर तो कभी आयकर के छापे का डर। ऐसे कितने ही पदाधिकारी, राजनीतिज्ञ और व्यापारियों को जेल की हवा खाने को मजबूर होना पड़ रहा है। हर्षद मेहता, विश्व की प्रसिद्ध 32 कारों को रखने वाले की भी जेल में मृत्यु हुई।
2. **वैभव प्रदर्शन**-शान-शौक़त की शेखी बघारने के लिये होटलों में जाना, वहाँ शराब का सेवन करना, नाचना आदि का प्रचलन दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। कभी New Year के नाम से कभी Valentine day के नाम से, कभी जन्मदिन, कभी अन्य किसी उत्सव के बहाने युवा लोग पाश्चात्त्य देशों की नकल करने में अपनी शान समझते हैं और चीयर्स से दो गिलासें शराब की प्रारम्भ हो जाती हैं। बड़े-बड़े राजा महाराजा, अमीर-उमराव इसी शराब से बरबाद हो गये। आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म.सा. ने एक दिन व्याख्यान में फरमाया-एक गरीब लड़की को खाँसी हो गई। महिला ठाकुर साहब के पास दवाई लेने गई। उन्होंने ढक्कन भर मदिरा उसके बर्तन में डाल दी। महिला बोली-हुजूर यह तो बहुत थोड़ी है इससे खाँसी कैसे खलकेगी? इस पर ठाकुर साहब ने बहुत गमगीन होकर कहा-इस मदिरा से मेरा पूरा रावला खलक गया, खाँसी खलकते क्या

देर लगेगी? बहुत बड़ा व्यंग्य है। फिर भी लोग सम्भल नहीं रहे हैं। जहाँ शराब प्रारम्भ हुई वहाँ धीरे-धीरे सारे व्यसन आ जाते हैं।

3. **गम भुलाने के लिए**-कुछ लोग गम भुलाने, थकान मिटाने के लिए शराब, चरस, गाँजा, सिगरेट आदि का सेवन करते हैं। मजदूर दिनभर मेहनत करता है, शाम को घर थका माँदा आता है उस थकान को मिटाने के बहाने एक घूँट चढ़ा लेता है, धीरे-धीरे यह उसकी आदत बन जाती है। पहले वह शराब पीता है फिर शराब उसे पी जाती है। हालाँकि यह भ्रम है कि व्यसन गम मिटाते हैं, चिन्ताएँ दूर करते हैं। व्यसन तो जड़ता बढ़ाते हैं जिससे चिन्ता एवं तनाव का पता नहीं चलता। उल्टा शराब का नशा उतरने पर अधिक बेचैनी होती है।

4. **फैशन**-आजकल फैशन एवं देखादेखी से भी व्यसन बढ़ रहे हैं। गुटखा हो या सिगरेट, जुआ हो या ताश, मीट हो या शराब का प्रचलन, देखादेखी अधिक बढ़ रहा है। कई बार मित्र पुराणपन्थी कहकर मजाक उड़ाते हैं तो वह उनका सेवन कर लेता है फिर वह लत पड़ जाती है। सिनेमा में इस तरह के दृश्य भी नई पीढ़ी को यह करने के लिए उकसाते हैं।

5. **कुसङ्ग**-सबसे बड़ा कारण गलत शोबत का होना है। गलत मित्रों के चक्कर में आने पर एक दो बार मना करना भी चाहे, लेकिन फिर मित्रों के आग्रह को टाल नहीं पाता। इस कुसङ्ग से किनारा करना आवश्यक है, कहावत प्रसिद्ध है-

काजल की कोठरी में भले ही सयानो जाय।
एक लीक काजल की लागे है कि लागे है।।

नई पीढ़ी में व्यसनों के प्रचलन का बहुत बड़ा कारण संगत ही है। एक बार से कुछ नहीं होगा, यह सोचकर शराब, चरस, स्मैक आदि का सेवन कर लेता है, लेकिन यह तो कुत्ते के मुँह में हड्डी के समान है। एक बार मुँह में लग गया तो छूटना मुश्किल है। आज नई पीढ़ी उच्च शिक्षा के लिए घर से दूर होस्टलों तथा विदेशों में भी जा रही है। वहाँ उनसे बचकर निकलना टेढ़ी खीर है। वहाँ तो परिवार के ठोस संस्कार ही उसे बचा सकते हैं।

आजकल तो सुनने में आ रहा है कि लडकियाँ भी इसमें पीछे नहीं रही हैं। उनके पास मोबाइल, मोपेड एवं मनी है, इसलिये उनको किसी की चिन्ता नहीं। माँ-बाप का अंकुश नहीं, समाज का डर नहीं, लोगों की परवाह नहीं। गाँधीजी से पूछा गया कि देश स्वतन्त्र होने पर पहला कार्य आप क्या करेंगे? उन्होंने कहा-मुझे एक दिन के लिए शासक बना दें तो मैं सबसे पहले शराब बन्द करूँगा। गाँधीजी का यह स्वप्न स्वप्न ही बनकर रह गया और देश बरबाद हो रहा है। इस शराब ने तो स्वर्ग के समान द्वारिका नगरी को भी तो नष्ट भ्रष्ट कर दिया था।

इन व्यसनों से चारित्रिक ह्रास कहाँ तक होगा अन्दाजा लगाना मुश्किल है। आज ऐसे कई परिवार हैं जिनके लड़के-लड़कियों की शादियाँ होने के दो माह बाद शादियाँ टूट रही हैं, क्योंकि उनके पहले से कई सम्बन्ध थे, अन्तरजातीय विवाह को बढ़ावा मिल रहा है, यहाँ तक कि जैन एवं हिन्दू परिवार की लड़कियाँ मुस्लिम परिवारों में निकाह कर रही हैं। आचार्यश्री हीराचन्द्रजी म.सा. के पास पूना के किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति ने बताया कि पूना में प्रतिवर्ष 20-30 लड़कियाँ मुस्लिम लड़कों से निकाह कर रही हैं। मुस्लिम मुल्लाहों ने फतवा निकाला है कि इन परिवारों में शादियाँ करने पर तुम्हें 5-7 लाख रुपये इनाम में मिलेंगे। ये मुस्लिम लड़के इन भोली-भाली लड़कियों को बड़े-बड़े स्वप्न दिखाकर, झूठी शान बखानकर, होटलों में ले जाकर फुसला लेते हैं, फिर निकाह कर उनसे सही-गलत सब काम करवाते हैं। लड़कियों को मज़बूर होकर यह सब सहन करना पड़ता है। आचार्यप्रवर के पास ऐसी घटना से त्रस्त एक लड़की पहुँची और गुरुदेव से अपने को बचाने की गुहार करने लगी। गुरुदेव ने इसीलिये यह नारा

दिया कि 'गुरु हीरा का यह सन्देश, व्यसन मुक्त हो सारा देश।' वे बहुत बड़े-बड़े नारे दे सकते थे, लेकिन उन्होंने समय की नब्ज़ को पहचाना और समाज को चारित्रिक दृष्टि से ढहने से पहले ही सावधान कर दिया।

खाने की बुभुक्षा ने आदमी को कहाँ तक पहुँचा दिया है। आज कई तो छुप-छुपकर मांसाहार कर रहे हैं और कुछ अपनी विवशता बताकर मांसाहार कर रहे हैं। आज प्रतिष्ठित कॉलेजों, होस्टलों में मांसाहार करने वाले बच्चे शाकाहार की अपेक्षा कई गुना बढ़ रहे हैं। पहले हिचकते हुए खाना प्रारम्भ करते हैं फिर धीरे-धीरे वे इसके आदी हो जाते हैं अभिभावकों को पता चलता है तब तक वे इसमें बहुत आगे बढ़ गये होते हैं। एक वह देश था जब चीन से आने वाले फाह्यान, ह्वेनसांग ने अपने संस्मरण में लिखा था-'भारत में मैंने तीन विशेषताएँ देखी-1. जवाहरात की दुकान पर भी यहाँ ताले नहीं लगते थे, 2. नगर या गाँव में रहने वाले लोग शराब नहीं पीते थे, 3. मांसाहारी नहीं थे।' जो विशिष्ट जाति के लोग मांसाहार या शराब पीते थे वे गाँव या नगर से बाहर रहते थे।

आज देश-विदेश में मांसाहारियों की इतनी संख्या बढ़ गई है कि हजारों गायें कत्लखाने में कट रही हैं। जिस देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय यानी 1947 में 3,600 कत्लखाने थे आज 36,000 से भी अधिक पहुँच गये हैं। अकेले देवनार में हजारों गायें-बछड़े और बैल कट रहे हैं और सरकार उनका मांस निर्यात कर अपनी अर्थव्यवस्था को मज़बूत करने के सपने देख रही है। क्या कभी किसी की 'आह' से हम फलफूल सकते हैं? जिस देश में गाय की पूजा होती थी, जिसे माता मानकर पूजा जाता था, जिसके शरीर में 33 करोड़ देवताओं का निवास मानते थे, आज चन्द रुपयों के लोभ में उनका कत्लेआम हो रहा है। जनता चुप बैठी है और सरकार अपने हाथों अपनी देश की अर्थ-व्यवस्था को मज़बूत करने के चक्कर में अपने आदर्शों से गिर रही है। इसके अलावा कुछ खाने के नाम पर पशु-पक्षी कट रहे हैं, कुछ दवाओं के नाम से तथा कुछ अनुसन्धान के नाम एवं कुछ पैसे कमाने के चक्कर में। समझ में नहीं आता कि प्रभु महावीर एवं वर्तमान में गाँधी के देश में यह अनहोनी कैसे हो रही है?

एक नया व्यसन जो आम आदमी में बढ़ रहा है वह है **गुटखे का प्रचलन। गरीब से गरीब की जेब में इसकी दो-चार पुड़ियाँ मिल जायेंगी।** यह सब जानते हुए समझते हुए कि इससे मुँह में कैंसर हो सकता है, दाँत खराब हो जाते हैं। कई स्वयंसेवी संस्थाएँ पोस्टर द्वारा इसका प्रचार भी कर रही हैं, लेकिन कोई सुनने को तैयार नहीं। एक बार जिसने खा लिया वह बार-बार खाने को जैसे मज़बूर हो गया। राजस्थान सरकार ने अभी इसे बन्द कर दिया तो दुगने दामों में यह चोरी छिपे मिल रहा है तथा शहर के अन्दर की कई दुकानों पर धड़ल्ले से बिक रहा है।

हम गुरुओं की नहीं मानते, सरकार की नहीं मानते, शरीर की नहीं मानते, केवल अपने मन की मानते हैं। कोई कुछ कहे, सुने, समझे, किसी की भी परवाह नहीं तो हमें भुगतान ही पड़ेगा।

व्यसनों को क्यों छोड़ें?

1. सुश्रावक की गरिमा बनाये रखने हेतु-हम श्रावक-श्राविकाओं को इन व्यसनों को दूर से ही नमस्कार करना चाहिये। जहाँ निर्व्यसनता है वहाँ जीवन सुरक्षित है। **जो श्रावक व्यसनरत है वह श्रावक कहलाने का अधिकारी ही नहीं है।** आचार्य भगवन्त हस्तीमलजी म.सा. ने गीतिका के माध्यम से सन्देश दिया कि सामायिक का धारक वह है, जिसके जीवन में व्यसन नहीं है। उन्हीं के द्वारा रचित भजन-श्रावक कौन?

निर्व्यसनी हो, प्रामाणिक हो, धोखा न किसी जन के संग हो।
शाश्वत सुख पाना चाहो तो, सामायिक साधन कर लो।।

2. 'व्यसनं विपत्तिः' अर्थात् व्यसन व्यक्ति के लिये विपत्ति रूप है-शराब, अमल, हेरोइन,

चरस, गाँजा, धूम्रपान, गुटखे, वेश्यागमन या परस्त्रीगमन, मांस-भक्षण, शिकार खेलने आदि सभी व्यसन सर्वस्व स्वाहा करने वाले होते हैं। सोने की लंका महाज्ञानी रावण के परस्त्री अपहरण से जलकर राख हो गई। आज भी प्रतिष्ठित कुछ राजनीतिज्ञ एवं संन्यासी इसी के चक्कर में जेल की हवा खा रहे हैं।

त्याग का महत्त्व

1. नीतिपूर्वक कमाया हुआ धन बाहर से भी बढ़ता है, मान-सम्मान और प्रतिष्ठा भी दिलाता है तो हमारे आत्मिक गुणों में भी वृद्धि करता है। अनीति से प्राप्त धन व्यक्ति को मदान्ध बना देता है। नीतिपूर्वक अर्जित धन की तुलना दस के पहाड़े से की जा सकती है। दस का पहाड़ा बाहर से भी बढ़ता है और अन्दर से भी बढ़ता है। ठीक इसी प्रकार नीतिपूर्वक कमाया हुआ धन बाहर से भी बढ़ता है, मान-सम्मान और प्रतिष्ठा दिलाता है तो हमारे भीतर गुणों में भी वृद्धि करता है। इससे व्यक्ति को आन्तरिक प्रगति, सुख-शान्ति और निर्भय-चैन की प्राप्ति होती है।
2. विश्व में केवल जैन समाज ही एक ऐसा समाज है जो जीव हिंसा न करने, मांस-भक्षण न करने, मद्य न पीने आदि के लिये सम्मान प्राप्त कर रहा है, जैन की पहिचान थी कि ये निर्व्यसनी होते हैं। उस सम्मान को बनाये रखने के लिए भी निर्व्यसनी होना आवश्यक है।
3. सुखी जीवन वहाँ है जहाँ व्यसन नहीं। लक्ष्मी स्थायी रूप से वहीं निवास करती है जहाँ किसी प्रकार की बुरी कुटेव नहीं। सदाचरण में वह शक्ति है जो प्रकृति तक को परिवर्तित करने के लिए विवश कर देती है।
4. दुर्व्यसन जहाँ नहीं होंगे वहाँ धर्म के प्रति आस्था एवं श्रद्धा का विस्तार होगा। अहिंसा धर्म में निष्ठा होने से मांस का सेवन करना तो दूर देख भी नहीं सकेंगे। इससे गलत आचार-विचार से बच जायेंगे।
5. सात्त्विक आहार से शरीर स्वस्थ रहेगा, आदर्श चरित्र का विकास होगा। अन्ततोगत्वा अच्छे समाज का निर्माण होगा। बड़ों का आदर, छोटों से स्नेह एवं विनय-विवेक का विस्तार होगा। उनसे देव-गुरु, धर्म के बारे में जानने की जिज्ञासा भी होगी तथा अच्छे-सच्चे गुरुओं के सम्पर्क से जीवन को सही राह मिलेगी।
6. निर्व्यसनी होने पर परिवार में तथा समाज में शान्ति और अन्ततोगत्वा राष्ट्र का उत्थान होगा। व्यवस्थित ज़िन्दगी रहेगी। पापकर्म नहीं बँधेंगे।
7. मांस खाने वाला पशु-हिंसा का सहभागी है। शराब में भी जीव हिंसा होती है।
8. धर्म बदनाम नहीं होगा। अन्यथा लोग धर्म की मखौल उड़ायेंगे।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि व्यसन जीवन के सर्वनाशक हैं। ये जीवन को नरक में ढकेलने का कार्य करते हैं। जुआ खेलने से धन का नाश, मांस भक्षण से दयाधर्म का नाश, शराब से परिवार एवं समाज के हितों का नाश, शिकार से धर्म का नाश, चोरी से प्रतिष्ठा का नाश, परस्त्रीगमन-वेश्यागमन से तन, मन और धन का सर्वनाश करता हुआ मानव अधोगति का मेहमान बनता है। अतएव जीवन को उन्नत बनाने के लिए और चारित्रिक विकास के लिए इन कुव्यसनों को छोड़ना नितान्त आवश्यक है।

अतएव व्यसन मुक्त समाज के लिये स्वयं भी दृढ़ संकल्प लें तथा अपने साथियों, इष्ट मित्रों, परिजनों को भी इसके लिये प्रेरित करें। भाषण, नारे-बाजी, वाद-विवाद, प्रेरक प्रतियोगिताएँ, पोस्टर आदि से व्यसन दूर नहीं होंगे। जो बुरा है उसे छोड़ना पड़ेगा, त्यागना पड़ेगा, कथनी को करनी में तथा विचार को आचार में ढालना होगा तभी हमारा जीवन आनन्दमय बन सकेगा।

-पूर्व संयोजक, अ.भा. श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर (राजस्थान)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 418
ISSN 2249-2011

मदिरापान क्यों वर्जनीय है?

श्री दिलीप जैन

संसार के समस्त प्राणी जीना चाहते हैं, अपने जीवन को अपनी इच्छा से, सुख से बिताने का प्रयास करते हैं। जीवन जीते हुए व्यक्ति अपने आमोद-प्रमोद, मनोरञ्जन एवं आनन्दानुभूति के लिए खान-पान, रहन-सहन को भी बदल लेते हैं। कोई इन्हें सकारात्मक रूप में ढाल लेते हैं तो कई नकारात्मक रूप में परिवर्तित कर लेते हैं। इस नकारात्मक रूप में अपने आपको ढालने वाले लोग अभक्ष्य सेवन, अकरणीय कार्य में संलग्न हो जाते हैं, सेवन नहीं करने योग्य पदार्थों को भी बड़े शौक के साथ ग्रहण करते हैं। प्राय: सही और गलत की सोच से दूर हो जाया करते हैं।

मदिरापान भी एक प्रकार का ज़हर है जो स्वयं भीतर जाकर सत्-असत् के विवेक को बाहर निकाल देता है, बुद्धि को भ्रष्ट कर देता है एवं दुराचार-दुर्गुणों को जन्म देता है। जैन धर्मानुसार मदिरापान को वर्जनीय कहा है, क्योंकि यह नरकायु बन्ध का कारण है, दुर्गुणों की उत्पत्ति का बीज है, संस्कारों को कलुषित करने वाली कालिमा है। सप्तकुव्यसन में मदिरापान को सब कुव्यसनों की जननी कहा है, यदि मद्यपान की लत किसी को लग जाती है तो कहा जाता है कि वह बेभान होकर अन्य व्यसनों का भी आसानी से दास बन जाता है।

इसी विषय में एक कथा पढ़ने को मिलती है- किसी राज्य में एक राजा राज्य किया करता था। वह अपने उपदेशों में कहा करता था कि झूठ बोलना, व्यभिचार करना, हिंसा करना पाप है। लेकिन वह मद्यपान को पाप नहीं मानता था। एक बार रात्रि के समय राजपण्डित ने उस राजा को सही रास्ता दिखाने के लिए बुलाया, उसके सामने मांसादि से बने व्यञ्जन लाए गये तब राजा बोला-''हे राजपण्डित! मांसाहार आदि का सेवन करना पाप है, यह अभक्ष्य है।'' फिर राजा के सामने एक वृद्ध व्यक्ति को बुलाया गया और कहा- राजन्! यह व्यक्ति राज्य के किसी भी कार्य लायक नहीं है, अत: इसे प्राणों से मुक्त कर दो। इस पर राजा ने कहा हिंसा आदि करना महापाप है ऐसा मैं कैसे कह सकता हूँ। तत्पश्चात् एक सुन्दर स्त्री को लाकर राजा से निवेदन किया गया कि आप इस स्त्री का भोग कीजिए, प्रत्युतर में राजा ने सहज भाव से कहा कि मैं पर-स्त्री के साथ व्यभिचार नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करना महापाप है। थोड़े समय के बाद राजा के सामने शराब के प्याले लाए गए, इस बार राजा ने शराब को ग्रहण किया एवं इस प्रकार कहने लगा कि हाँ! इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं और वह मदिरापान करने लग जाता है। मदिरा के सेवन से वह नशे में बेभान हो जाता है। थोड़े ही समय में उसकी भूख जागृत होती है, उसकी नज़र मांसादि से बने हुए व्यञ्जनों पर पड़ती है और उनका सेवन करने लगता है। जब उसका पेट भर जाता है तो उसकी भोग भोगने की इच्छा उत्पन्न होती है, उसकी नज़र स्त्री पर पड़ती है। जैसे ही वह उस स्त्री को भोगने के लिए आगे बढ़ता है तो स्त्री अपनी नज़रें उस वृद्ध व्यक्ति की ओर करती हैं। राजा उस व्यक्ति को बीच में आया हुआ देख तलवार से उसकी हत्या कर देता है, और उस स्त्री के साथ भोग भोगता है। प्रात:काल जब वह नीन्द से उठता है और वहाँ का दृश्य देखता है तो अपने किये हुए कृत्य के बारे में विचार करता है एवं पश्चात्ताप करने लगता है। यह सब विचार कर राजा जोर-जोर से चिल्लाने लगता है और मुँह से यही शब्द निकलते है-''इस संसार में मदिरापान ही सबसे बड़ा महापाप है।'' इसके सेवन से अच्छे-बुरे, सही-गलत एवं भक्ष्य-अभक्ष्य आदि में अन्तर करने की विवेक बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इस प्रकार एक मदिरापान के सेवन से अन्य अकरणीय कृत्य

व्यक्ति कर बैठता है उसे खयाल नहीं पड़ता है। वर्तमान में होने वाले अपराध हत्या, लूट, बलात्कार, रोड़ एक्सीडेण्ट आदि के पीछे भी मूल कारण प्राय: शराब सेवन करना पाया जाता है।

- नेशनल क्राइम रिकोर्डस् ब्यूरो (NCB) की रिपोर्ट के अनुसार शराब के सेवन से प्रतिदिन 15 लोग मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं एवं हर 96वें मिनिट में 1 व्यक्ति शराब के नशे में धुत होकर अपराध कर रहा है। इसका सेवन करने के बाद व्यक्ति अपने आपको निडर, सर्वशक्तिमान एवं तीसमारखाँ समझने लगता है। ऐसी अवस्था में जघन्य से जघन्य अपराध करने में भी वह संकोच नहीं करता है।
- विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने भी अपनी 2018 की रिपोर्ट में लिखा कि दुनिया में ''प्रतिवर्ष 30 लाख लोग शराब के सेवन से मर रहे हैं। यह संख्या एड्स, हिंसा और सड़क हादसों में होने वाली मौतों को जोड़कर प्राप्त आँकड़ों से भी ज्यादा है। वहीं भारत में प्रतिवर्ष 2.6 लाख लोगों की मृत्यु मदिरापान के कारण होती है।

मदिरापान के सेवन से तन, मन, धन की बर्बादी तो होती ही है, साथ ही देश की उन्नति पर भी खासा नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। दिल्ली का निर्भया केस का मामला हो या बेंगलोर में महिला चिकित्सक के साथ होने वाली व्यभिचार की घटना हो, इनके पीछे मूल कारण शराब सेवन पाया गया। क्योंकि शराब स्वयं अन्दर जाकर सारी विवेक बुद्धि को एंव संस्कारों को बाहर कर देती है।

रोज हम कई ऐसी संगीन खबरें सुनते-पढ़ते और देखते हैं जिनसे हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं-

- पिता द्वारा पुत्री से दुर्व्यवहार
- पुत्र ने पैसों के लिए की, अपने माँ-बाप की हत्या
- कार की तेज रफ़्तार ने ली 5 युवकों की जान
- लीवर एवं किडनी के गलने से युवावस्था में ही मौत

इन सब समाचारों में एक ही चीज कॉमन है वह यह है कि ये सारी घटनाएँ-वारदात शराब के सेवन के कारण हुई। वर्तमान में तो यह एक शोक और दिखावे का विषय बन गया है। एक प्रकार का वह वर्ग है जो पार्टी, शादी या कॉर्पोरेट मीटिंग्स में शराब परोसना गर्व की बात मानता है। यह एक प्रकार का फैशन बनता जा रहा है, जो व्यक्ति इन पार्टियों में सबके साथ शराब पीता है, उनका साथ देता है वह सभ्य और शिक्षित एवं स्टैण्डर्ड का माना जाता है एवं अन्य को बड़ी ही हीन दृष्टि से देखा जाता है। ऐसी दिखावे की गलत धारणा बहुप्रचलित है जिससे हमको बचना है एवं दूसरों को भी बचाना है।

मदिरापान से होने वाले नुकसान

1. शारीरिक एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से-शराब सेवन करने वाले व्यक्ति सर्वप्रथम अपने शरीर एवं स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाते हैं। शरीर में विकृति, अल्सर, लीवर में सूजन, कैंसर, पीलिया, नपुंसकता एवं महिलाओं में बाँझपन की सम्भावना आदि घातक बीमारियाँ इसके सेवन से हो रही हैं। शराब शरीर के प्रत्येक अङ्ग को क्षतिग्रस्त कर देती है जिसमें मस्तिष्क भी शामिल है। इसके सेवन से पर्याप्त मात्रा में इन्सुलिन नहीं बन पाता है और व्यक्ति डायबिटीज का मरीज़ बन जाता है और तो और अधिक समय तक इसका सेवन किया गया तो यह स्थिति पैंक्रियाटिक कैंसर में बदल जाती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की फरवरी 2019 की रिपोर्ट के अनुसार 5.70 करोड़ लोग ऐसे हैं जो शराब सेवन के कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी बीमारियों से जकड़े हुए हैं। मदिरापान के सेवन से शारीरिक विकास में वृद्धि नही होती है, शरीर के विभिन्न अङ्ग विकार से ग्रसित हो जाते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि कई लोग जो इसकी लत लगा बैठते हैं, वे कम उम्र में ही अधेड़ एवं कान्तिहीन दिखने लगते हैं। पढ़े-लिखे और समझदार लोगों को तो अवश्य ही मालूम होना चाहिए कि यदि शराब नुकसानदायक नहीं होती, तो उस पर वैधानिक चेतावनी के रूप में 'शराब पीना सेहत के लिए हानिकारक है' यह नहीं लिखा हुआ होता। इन सब घातक दुष्परिणामों से बचने के लिए मदिरापान के सेवन से बचना होगा।

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है, शरीर को स्वस्थ एवं जीवन को बचाने के लिए शराब रूपी ज़हर से कोसों दूर रहना परमावश्यक है।

2. व्यावहारिक एवं सामाजिक दृष्टि से– शराब सेवन करना सभ्य समाज की पहचान नही होती है। आज भी जिस समाज अथवा परिवार में मदिरापान करने वाले व्यक्ति हैं, उन्हें सम्मान एवं सभ्य दृष्टि से नहीं देखा जाता है। उन्हें कुसंस्कारित एवं असभ्य समझा जाता है। व्यवहार जगत् में हम देखते भी हैं यदि कोई व्यक्ति शराब की दुकान के सामने भी दिख जाया करता है तो उसे भी हीन रूप में देखा जाता है, अगर कोई मदिरापान करता हुआ दिखाई पड़े तो वह समाज–स्तर एवं व्यवहार–स्तर पर अच्छा नहीं माना जाता। इस विष तुल्य शराब के सेवन से घर–परिवार नष्ट हो जाया करते हैं, मधुर सम्बन्ध पर्वत की दरार के समान हो जाया करते हैं। प्राचीन कहानियों में पढ़ने को मिलता है कि शराब रूपी राक्षस का कहर ऐसा बरसा कि परिवार के परिवार, गाँव के गाँव एवं कस्बे के कस्बे अपना नामों निशान खो बैठे। महाभारत में वर्णित यदुकुल के विनाश का कारण मदिरा को कहा गया है, वहीं अंतगडदशासूत्र में द्वारिका नगरी के विनाश के कारणों में सुरा (शराब) भी एक प्रमुख कारण थी।

वर्तमान में भी यह देखा और सुना जाता है कि जब कन्या के सम्बन्ध का प्रसङ्ग आता है तो लोग योग्य घर और वर देखा करते हैं, यहाँ घर देखने से तात्पर्य संस्कारयुक्त परिवार एवं खानदानी होना है और अच्छे वर से तात्पर्य उसकी योग्यता के साथ–साथ उसकी आदतें, शोक एवं रहन–सहन से होता है। लड़का अभक्ष्य का सेवन तो नहीं करता, शराब आदि तो नहीं पीता और कोई गलत संगत तो नहीं आदि–आदि। प्रायः देखा जाता है कि **कोई भी पिता अपनी पुत्री का विवाह उस व्यक्ति से नहीं करना चाहता जो मद्य आदि अपेय पदार्थों का सेवन करता हो,** भले ही वह आर्थिक रूप से कितने ही सम्पन्न क्यों न हो? आज भी कई युवा ऐसे हैं जो इस लत में ऐसे मशगूल है जिससे उनका व्यावहारिक, सामाजिक अस्तित्व प्रायः समाप्त–सा हो गया है। न उनको उचित दृष्टि से देखा जाता है। न ही उनके रिश्ते आदि बनने की सम्भावनाएँ शेष रही हुई हैं। इस विषय में एक बात और यहाँ वर्णनीय है कि हम आये दिन समाचार पत्रों के जरिये पढ़ चुके हैं या न्यूज चैनल्स पर सैकड़ों बार ऐसे समाचार सुन चुके हैं कि ''बारात दुल्हन के घर से वापस लौटी'', पता है क्यों, और ऐसे क्या हालात रहे होंगे कि शादी जैसे प्रसङ्ग अन्तिम स्तर पर अधूरे रह जाया करते हैं, वहाँ कारण होता है कि या तो दूल्हा जो बारात लेकर आया है वह शराब के नशे में धुत है या फिर उसके बाराती, किसी को भी यह मञ्जूर नहीं होता है कि हमसे जिनका सम्बन्ध जुड़े, वे इस मदिरापान से जुड़े हुए हों।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की इच्छा थी कि भारत में कोई भी व्यक्ति एवं समाज शराब का सेवन न करे। वर्ष 1927 में उन्होनें कहा था कि–''मैं भारत में कुछ हजार शराबी देखने के बजाय देश को अत्यधिक गरीब देखना पसन्द करूँगा। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति या समाज नही चाहता कि वे असभ्य कहलाएँ। अतः सामाजिक एवं व्यावहारिक स्तर पर भी प्रतिष्ठा कायम रखने एवं स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए मदिरापान वर्जनीय है।

3. आध्यात्मिक दृष्टिकोण से– विभिन्न धर्मों एवं शास्त्रों में मदिरापान को आत्म–कल्याण एवं जीवन–निर्माण में बहुत बड़ा बाधक तत्त्व माना है। जैन धर्मानुसार मद्यपान को नरकायु बन्ध का कारण कहा है, क्योंकि इसके सेवन से व्यक्ति सत्–असत् के विवेक से भ्रष्ट होकर पाप कार्यों में सन्नद्ध हो जाता है।

इस्लाम धर्म में शराब को कुफ्र (हराम) माना है, वहाँ माना जाता है कि जो व्यक्ति शराब का सेवन करता है वह 80 कोड़े की सजा पाने का अधिकारी होता है।

ईसाइयों के धर्मग्रन्थ शराब सेवन का निषेध करते हुए कहते हैं कि–''हमें अपनी देह को किसी के अधीन नहीं होने देना है अर्थात् मदिरापान के सेवन से बचना है।''

इस प्रकार कोई धर्म या दर्शन नहीं है जो इस ज़हर रूपी शराब को ग्रहण करने योग्य बताता हो। मन और व्यवहार में इस प्रकार का दु:शील आचरण दुर्गति एवं पाप सेवन का ही रूप है। **''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्''** शरीर को धर्मसाधना का प्रमुख साधन बताया है। शरीर स्वस्थ है, मन निर्मल है तो साधना-आराधना के क्षेत्र में आसानी हो जाती है। अत: यहाँ भी यह समझने योग्य तथ्य है कि मदिरापान धर्म के क्षेत्र में उत्थान का बाधक कारण है।

क्या करें कि हम और हमारी आने वाली पीढ़ी इस ज़हर के कहर से बचे

- सबसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु यथासमय गुरु-दर्शन, गुरु-वन्दन के लिए सपरिवार अवश्य उपस्थित होवें ताकि पूज्य चारित्रात्माओं की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से हम संस्कारों की डोर में बन्धे रहे।
- पारिवारिक संस्कारों का बखान और चर्चा समय-समय पर सामूहिक रूप में अवश्य होनी चाहिए।
- हमारे बच्चों एवं घर के युवाओं से जीवन्त तथा प्रत्यक्ष वार्त्तालाप प्रतिदिन हो, जिससे कि वे अपनापन महसूस करें।
- यदि बच्चे बाहर पढ़ने के लिए गये हैं, तो सकारात्मक रूप में उनसे अपने परिवार, कुल एवं कृत्य-अकृत्य के बारें में चर्चा अवश्य करें।
- युवा पीढ़ी को स्वतन्त्रता देवें, लेकिन इस बात पर भी पैनी नज़र रखें कि कहीं उनको दी हुई स्वतन्त्रता स्वछन्दता में तो नहीं बदल रही।
- ऐसी संगति एवं लोगों के बीच जाने को नज़र अन्दाज़ करें जहाँ शराबादि के सेवन को एक स्टैण्डर्ड माना जाता हो।
- शराब के नशे में हो रहे अपराधों एवं दुष्परिणामों से भी रूबरू होते रहें, जिससे कि हम अपने आप को संयमित रख पायेंगे।
- वर्तमान के आर्थिक संकट के परिणामों को दृष्टिगत रखते हुए भविष्य को सुधारने में अपने कयास लगावें न कि वर्तनाान का रोना लेकर बैठ जायें।
- अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दें कि जिस मदिरा का लोग प्रचुरमात्रा में सेवन करने को तत्पर रहते हैं क्या वह फायदेमन्द है, अगर होती तो शायद उस पर वैधानिक चेतावनी 'शराब पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है' इस प्रकार नहीं लिखा हुआ होता।
- व्रत-नियमों की मर्यादा में बँधे रहने का प्रयास करते रहना चाहिए, जिससे अभक्ष्य एवं अपेय पदार्थों के सेवन से बच सकें।

सारांश में कहें तो

- सद्-असद् के विवेक को जागृत रखने के लिए मदिरापान वर्जनीय है।
- अपनों के बीच अच्छा स्थान और सम्मान पाने के लिए मदिरापान वर्जनीय है।
- इस लोक और परलोक को स्वर्ग तुल्य बनाने के लिए मदिरापान वर्जनीय है।
- स्वस्थ मस्तिष्क एवं शरीर के निर्माण के लिए मदिरापान वर्जनीय है।
- परिवार, रिश्तों में कड़वाहट पैदा होने से बचने के लिए मदिरापान वर्जनीय है।
- परिवार, समाज और राष्ट्र को सुखद, उन्नत तथा खुशहाल बनाने के लिए मदिरापान वर्जनीय है।
- देश को अपराधमुक्त बनाने के लिए मदिरापान वर्जनीय है।
- सुसंस्कारित व्यक्तित्व के निर्माण के लिए मदिरापान वर्जनीय है।
- आत्मोत्थान के लिए मदिरापान वर्जनीय है।
- जैन जीवनशैली के शुद्ध आचरण एवं आराधन के लिए मदिरापान वर्जनीय है।
- अध्यात्म की साधना से मुक्ति प्राप्त करने के लिए मदिरापान वर्जनीय है।

-प्राचार्य, आचार्य हस्ती आध्यात्मिक शिक्षण संस्थान, ए-9, महावीर उद्यान पथ, बजाज नगर, जयपुर-302015

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 422
ISSN 2249-2011

नशा : फैशन या व्यसन?

सुश्री प्रियल जैन

एक विशालकाय हाथी, कई किलो वजन अपनी सूण्ड से उठाने का सामर्थ्य रखता है। ऐसे हाथी को एक पतली-सी डोरी से खूँटी के सहारे जब बाँधा जाता है तब वह उस बन्धन से आजाद होने का लेश मात्र भी प्रयास नहीं करता। क्या उसमें अपने आपको मुक्त करने का सामर्थ्य नहीं है? इसके पीछे का कारण है-

जब वह बाल अवस्था में होता है तब उसे लोहे की जञ्जीरों से एक बड़े पेड़ के सहारे बाँध दिया जाता है। उस समय वह हाथी बहुत कमज़ोर होता है और जञ्जीरें तथा पेड़ उस हाथी से कई ज्यादा ताकतवर होते हैं। उस हाथी को बन्धन में रहने की न आदत है और न ही कोई चाहत। वह अपने आपको छुड़ाने का प्रयास करता रहता है। वहाँ से भाग निकलने का प्रयत्न करता रहता है, पर अपनी हर कोशिश में असफल होता है। एक दिन अपनी परिस्थितियों से थक कर वह प्रयास करना ही बन्द कर देता है। उस बाल अवस्था में ही अपने आप को समझा लेता है कि उसका यहाँ से मुक्त होना सम्भव नहीं। वही हाथी, बाल अवस्था को त्यागने के बाद जब एक पतली सी डोरी से बाँध दिया जाता है, तब उसके दिमाग में वहाँ से मुक्त होने का विचार तक नहीं आता। वह अपनी आज़ादी को ही भूल जाता है। ऐसे होती है उसकी मानसिक स्थिति। यह तो फिर भी नादान तिर्यञ्च है, पर गलत संगति और संयोगों के मिलने पर हम मनुष्य भी मानसिक स्थिति का शिकार बन जाते हैं। कुव्यसनों को अपने जीवन में आमन्त्रित कर लेते हैं और फिर अपने आपको इनसे मुक्त करने का विचार भी अपने दिमाग में नहीं करते। हम गलत संयोगों की डोर को कुव्यसनों के खूँटे से बाँध लेते हैं और इस कमज़ोर से बन्धन को तोड़ने का प्रयास भी नहीं करते। हमें न उस डोर की कोई आवश्यकता है और न ही उस खूँटी की। एक आज़ाद जीवन प्रतिपल हमारी प्रतीक्षा में है।

National Institute of Alcoholic Abuse & Alcoholism के आँकड़ों के हिसाब से इस देश के 60 प्रतिशत नाबालिग यानी 18 साल से कम उम्र के बच्चे शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन कर लेते हैं। उम्र के इस नादान पड़ाव पर जहाँ कामयाबियों के शिखर की ओर बढ़ा जाता है, वहीं इन कुव्यसनों के कारण वे पतन के गर्त्त में चले जाते हैं। ये व्यसन पहले तो व्यक्ति को मस्त करते हैं, फिर व्यस्त करते हैं, और तत्पश्चात पस्त करते हुए जीवन को अस्त कर देते हैं। कुव्यसन यानी गलत आदतें जो मनुष्य के जीवन को नरक समान बना देती हैं।

द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या, पापर्धि चौर्यं परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि राजन्, घोरातिघोरं नरकं नयन्ति।।

राजकुमार पाल को सन्तों द्वारा दिए गए उद्बोधन के अनुसार-द्यूत, सुरा, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री सेवन ये सात कुव्यसन मनुष्य को घोरातिघोर नरक में ले जाते हैं। शराब तो अपने आप में अनन्त जीवों का पिण्ड है।

According to student welbeing university of Nortedam- 'Intoxication is the point at which alcohol depresses the central nervous system so that the mood add the physical & mental abilities are noticibly changed.' शराब हमारे तन्त्रिका तन्त्र को शारीरिक और मानसिक रूप से कमज़ोर कर देती है। अर्थात् जब शराब में मनुष्य अपनी मर्यादा खोकर निर्लज्ज हो जाता है तब शुद्ध स्वभाव तक का खण्डन कर अपने परिवारजन और कुल की इज्जत तक को गँवा देता है। कहीं पढ़ने में आया था-**बेटा** अपने पिता से बोलता है- ''पापा आप शराब मत पिया करो।''

पिता बोलता है–''पीने दे बेटा, साथ क्या लेकर जाना है?''

बेटा–''इसी तरह पीते रहे तो आप छोड़कर भी क्या जाएँगे?''

यह उपहास नहीं गहरा अहसास था, जो उस बच्चे ने किया।

सब आसान है। इन व्यसनों के कीचड़ से निकलना भी। एक दृढ़ निश्चय की जरूरत है। एक दृष्टान्त से हम इस बात को समझते हैं–

मयंक जो बेंगलुरु में रहने वाला एक युवा है। उसने अपना एम.बी.ए. पूर्ण किया और नौकरी के लिए मुम्बई में शिफ्ट हुआ। वह अपने बचपन के दोस्त संकेत के साथ फ्लैट में रहने लगा, वे दोनों एक ही कम्पनी पर अलग-अलग विभाग में काम करते थे। संकेत ने अपनी पढ़ाई मुम्बई से ही पूरी की और उसको यहाँ रहते हुए पाँच वर्ष हो चुके थे। संकेत अपनी रातें अक्सर अपने दोस्तों के घर बिताया करता था। बहुत करीबी दोस्त होने की वज़ह से एक दिन संकेत मयंक को भी अपने साथ ले गया। मयंक वहाँ जाकर चौंक गया, कि संकेत जैन होने के बावजूद कुव्यसनों के कीचड़ में भयंकर रूप से डूबा है। एक दोस्त होने के नाते अपने दोस्त को इस कीचड़ से निकालने की मयंक ने ठान ली। अगली सुबह होने पर–

संकेत–मुझे तो कल रात खूब मजे आए। तूने एन्जॉय किया?

मयंक–हाँ! क्या मजे? दम घुट रहा था। मैं तो सोच रहा था कि उस घर में जहाँ एक अपशब्द भी कान में कभी नहीं पड़ा, वहाँ का सदस्य इस तरह के व्यसनों में डूबा है।

संकेत–अरे भाई! ये सब बातें फालतू हैं। इनमें कुछ गलत नहीं है। तू कोशिश कर, तू भी सब भूल जाएगा।

मयंक–नहीं, नहीं। मैं जैसा हूँ अच्छा हूँ, तू अपने बारे में सोच ले। एक बार तो शायद तू ऐसा कह सकेगा। ये सब सिर्फ मौज-मस्ती और समृद्धि प्रदर्शन का एक जरिया है। इसके लिए अपनी ज़िन्दगी को मत भूल। इसका कोई future नहीं है।

संकेत–अरे! ये ज़िन्दगी मिली है तो मौज तो हर कोई करेगा और करना भी चाहिए।

मयंक–ज़िन्दगी मिली है तो सिर्फ कमाने और उड़ाने के लिए थोड़ी मिली है। कुछ अच्छे काम करने के लिए मिली है ये ज़िन्दगी, और बार-बार मिलेगी भी नहीं। अभी ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जो बाद में पछताते रह जाओ। छोड़ दे इसे, ज़िन्दगी बहुत सुन्दर है।

संकेत–किसी चीज को बिना Try करे तू उसकी बुराई कैसे कर सकता है? तू खुद Try करके देख, फिर बोलना।

मयंक–मुझे मेरा जीवन प्यारा है। जब मुझे पता है आगे दलदल है तो मैं एक क़दम भी आगे क्यों बढ़ाऊँगा? तुझे तो कीचड़ में रहकर भी समझ नहीं आ रहा कि तू कीचड़ में है।

संकेत–चल ठीक है। तू मुझे बता दे कि ये कीचड़ कैसे है?

मयंक–Basic से start करता हूँ। तू Non Alcoholic drink क्यों नहीं पीता और Alcoholic ही क्यों पीता है?

संकेत–तूने drink किया होता तो तू ये सवाल नहीं पूछता। पीकर देख feeling कुछ और होती है। एक दम stress free हवा में उड़ने वाली feeling होती है।

मयंक–drink करने से stress नहीं मिटता। बस कुछ पलों के लिए हम उसकी अनुभूति नहीं कर पाते। drink अलॉर्म के snooze button जैसा है। उस button को दबाने का मतलब ये नहीं कि वह समय ही नहीं हुआ। stress को face करना ही उसे दूर करने का solution है।

संकेत–ये सिर्फ stress की बात नहीं है। एक social life होती है और उसमें अपनी जगह बनाने और maintain करने के लिए ये सब ज़रूरी होता है और वे मेरे दोस्त हैं, उनके बिना मैं क्या करूँगा।

मयंक–social life maintain रखनी पड़ती है, पर family life नहीं? जिन लोगों ने पाला-पोसा, बड़ा किया उनके बिना रह सकता है, लेकिन जो दोस्त पतन की ओर ले जा रहे हैं उनके बिना नहीं।

संकेत–इस आधुनिकता के जमाने में पिछड़ी हुई सोच वाले लोगों को कोई नहीं पूछता। ये सब आदर्श घर और स्थानक में ही अच्छे लगते हैं। ये सब आगे बढ़ने के लिए बहुत जरूरी हैं।

मयंक–जब मुसीबत में होगा तब घर वाले ही पूछेंगे। बाहर वाले नहीं आते। और अगर आगे बढ़ने के लिए ये जरूरी होता तो धीरू भाई अम्बानी, मुकेश अम्बानी, महात्मा गाँधी, विराट कोहली, अक्षय कुमार और ऐसे कई बड़े लोग बिना शराब पीए भी अपने जीवन की ऊँचाइयों को कैसे छू रहे हैं?

संकेत–सिर्फ stress free और आगे बढ़ने के लिए ही क्यों, खुद भी तो एन्जॉय करते हैं। कौनसा मैं रोज drink करता हूँ। थोड़ा तो कोई भी कर सकता है और मैं खुद रुक जाऊँगा, जब मुझे लगेगा कि मैं ज़्यादा drink करने लगा हूँ।

मयंक–थोड़ा कुछ नहीं होता है-Intoxication begins with the first sip. एक बार दिमाग में Normalise कर दिया, फिर शराबी बनने में ज्यादा समय नहीं लगता और जब तू ज्यादा पीने लगेगा न, तब तुझे रुक जाने की felling ही नहीं आएगी।

संकेत–ऐसा कुछ नहीं। सब हमारे नियन्त्रण में रहता है।

मयंक–मानना नहीं मानना सब तुझ पर है। पर मैं तुझे अनुप्रिया के पड़ोसी की बात बताता हूँ। युग ने बहुत सारे नए मित्रों के साथ कॉलेज की नई life start की। हर रोज साथ समय बिताने, घूमने-फिरने जाते थे। देखते-देखते बहुत अच्छे दोस्त बन गये। एक बार सभी ने nightout का plan बनाया। उन सभी दोस्तों में कुछ के लिए रोज का था और उन्होंने अपने हिसाब से बाकी के लिए भी drink ऑर्डर कर दिये। युग को अटपटा लगा, पर फिर वह सोचने लगा, अगर मैंने drink नहीं की तो कोई मुझे कम्पनी में नहीं रखेगा। बहुत सोचते हुए हिचकिचाहट के साथ युग ने वह पी लिया। उसको बहुत अज़ीब लगा, पर उसने गौर नहीं किया। कुछ दिन बाद फिर वे सब nightout पर गए, पर इस बार युग को वह हिचकिचाहट भी नहीं थी। फिर तो ये सब routine बन गया और धीरे-धीरे ये parties घर पर करने लगे और घर पर parties करते-करते रोज़ का हुक्का, सिगरेट, ड्रग्स भी चालू कर दिये। उन्होंने college bunk करना भी शुरु कर दिया और दिन भर घर में पड़े-पड़े पीने लगे। इन सब में पैसा बहुत लगता तो घर वालों से और पैसे माँगने लगा। जिस क्लब में अक्सर जाया करता था उस क्लब के एक ग्रुप के साथ, नशे में धुत जुआ खेलने की शुरुआत भी कर दी। कुछ समय बाद college पूरा हुआ और युग की बड़ी मुश्किल से नौकरी लगी। उसके सभी दोस्त अपने घर के business में लग गए। युग अपनी सारी कमाई इन कुव्यसनों में उड़ाने लगा। उसने अपनी सारी कमाई दावँ पर लगा दी और सब हार गया। एक दिन ऑफिस में पीकर हंगामा कर दिया, तो ऑफिस से भी निकाला गया। उसके पास अपने शहर जाने के सिवाय कोई चारा नहीं बचा। पर वहाँ जाकर भी न तो पीना छोड़ा न नशा और देखते ही देखते अपने माता-पिता का घर भी दावँ पर लगा दिया। उसे...

संकेत–बात का बतंगड मत बना। ऐसा सबके साथ नहीं होता। मतलब... मेरे दोस्त राघव के पापा को पीते हुए लगभग 50 साल हो गए, पर उनका तो आज तक कुछ नहीं लुटा।

मयंक–राघव के पापा जिन्हें कैंसर है। जो पानी कम और शराब ज़्यादा पीते हैं। संकेत मेरी बात समझ। इस दलदल में घुसने के बाद बाहर निकलना मुश्किल है, पर नामुमकिन नहीं। युग भी सब हार तो गया, पर अपनी family को देखकर उसे बहुत बुरा लगा। आज Alcoholic Anonomous Group का सहारा लेकर वह लड़ रहा है नशे से।

संकेत–उसकी family कैसी है, उनका सारा कर्जा उतर गया क्या?

मयंक–उसकी family ही मेहनत कर रही है कर्जा उतारने के लिए। उसके किसी दोस्त ने उसका हाल तक नहीं पूछा और ऐसे दोस्तों के लिए उसने पीने की शुरुआत कर दी।

तू ही बता हमने बचपने से क्या सीखा है–शराब पीना अच्छा है? इससे स्वास्थ्य अच्छा रहता है? समाज में इज्जत बढ़ती है...?

संकेत–वे ऐसा क्यों सिखाएँगे, तू ऐसा क्यों कह रहा है?

मयंक–क्योंकि तू ऐसा ही कर रहा है संकेत। हम सब जैन हैं। बचपन से ही जो संस्कार हमें मांस नहीं खाने के दिए हैं। क्या वहीं संस्कार हमें नशा नहीं करने के लिए नहीं दिये?

संकेत–दिये तो हैं। पर... हर चीज की सिर्फ Negative side ही थोड़ी होती है।

मयंक–हाँ, इसके भी positive side हैं न–1. अपने निमित्त से लोगों को हँसने का मौका मिल जाता है। 2. आप कुछ भी बोलो आपको कोई भी Seriously नहीं लेता। 3. आपसे कोई भी अपना Secret Share करेगा नहीं, तो सम्भालने का टेंशन भी नहीं। 4. पीकर कहीं गिर जाओ तो Free में घर भी छोड़ दिया जाएगा और चाहिए ही क्या? है न।

संकेत–ऐसा नहीं है। सब थोड़ी उन पर हँसते हैं। उनकी भी Respect है।

मयंक–उनकी Respect का तो पता नहीं, पर उनके परिवार और उनके धर्म की Respect तो नहीं बचती। जब आप खुद उनके संस्कारों की Respect नहीं करोगे तो दूसरा क्या करेगा?

संकेत–मैं गलत कर रहा हूँ न। मुझे drink करना छोड़ देना चाहिए न।

मयंक–तू खुद सोच हमें इससे ऐसा कौनसा फायदा हो रहा है। सिर्फ नुकसान ही तो है। Heart problems, Cancer, ज्ञान तन्तुओं का खोखला होना, स्मृति का लोप होना, तनाव, अन्तर्मन में द्वेष पैदा होना, परिवार तिरस्कृत होना... आदि। शारीरिक, मानसिक और सामाजिक तीनों ही क्षेत्रों में हार ही तो पी रहे हैं।

संकेत– मैं इन सबमें कैसे प्रवेश कर गया, मुझे समझ नहीं आया?

मयंक–Curiosity, मौज–मस्ती, समृद्धि प्रदर्शन, दोस्तों में अपनी जगह बनाना और ऐसी कई और चीजों के साथ प्रवेश करते हैं और फिर पूरी ज़िन्दगी भूल कर इसी को अपनी ज़िन्दगी बना लेते हैं। उसके बाद हम इससे छूट नहीं पाते या छोड़ना नहीं चाहते, ये तो हम ही जानते हैं। पर हमें ये छोड़ देना चाहिए, यह ही सच्चाई है और इसी में हम सब की भलाई भी है।

उसी दिन संकेत ने दृढ संकल्प कर लिया कि वह जीवन भर इन कुव्यसनों से दूर रहेगा। आदत का परिवर्तन हमारे पुरुषार्थ के बिना नहीं होता।

जितने प्रतिशत Alcohol जीवन में है, उतना ही जीवन्तता और चैतन्य पर आवरण रहेगा। किसी भी व्यक्ति के प्रति सहृदयता समाप्त होने लगेगी, दिमाग काम करना कम कर देगा, शारीरिक शक्ति कम पड़ जाएगी। नतीजा– ज्ञान, दर्शन, चैतन्य, सहृदयता सभी कुछ लुप्त, तो इससे बड़ा पाप और क्या हो सकता है कि जीव अपना जीवत्व खोने लगता है।

नशा फैशन नहीं, व्यसन है और व्यसन मुक्ति ही हमारे जीवन के लिए श्रेयस्कर है।

Wine-

Wine is in, wit is out.
The bar room is a bank.
You deposit your money & lose it.
Deposit your Time & lose it.
Deposit your manly independence & lose it.
Deposit your character & lose it.
Deposit your home comfort & lose it.
Deposit your self control & lose it.
Deposit your children's happiness & lose it.
Deposit your soul & lose it.

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 426
ISSN 2249-2011

आधुनिक जीवन में द्यूत-प्रयोग एवं उससे हानियाँ

श्री मनोज कुमार जैन (पाटोली)

आज आधुनिक बनने की होड़ में मानव ने स्वयं को आधुनिकता की इस चकाचौंध में इस तरह लिप्त कर लिया है कि वह मात्र विलासितापूर्ण जीवन को ही इसका पर्याय मानने लगा है। एक-दूसरे से आगे बढ़ने की चाह को ही उसने अपने जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य निर्धारित कर लिया है। सुख-सुविधाओं एवं उपलब्धियों से परिपूर्ण जीवन की चाह प्रत्येक मनुष्य की एक सहज एवं स्वाभाविक इच्छा है, परन्तु नैतिक मूल्यों और संस्कारों के अभाव में ये उपलब्धियाँ एक दुःखद विडम्बना बन जाती हैं।

प्रायः सभी, विशेषकर युवा वर्ग इस दौड़ में शामिल है। आगे बढ़ने की इस अन्धी दौड़ में वे कब व्यसनों के शिकार हो जाते हैं, पता ही नहीं चलता। जैनधर्म में सप्तकुव्यसन बताए गए हैं जिनका प्रयोग निषिद्ध है, वे हैं-मांसभक्षण, मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, शिकार और चोरी। जो क्रिया आदत बन जाए और आत्मा का कल्याण न होने दे, वह व्यसन कहलाती है। निश्चय से तो जो आत्मा के स्वरूप को भुला दें, वे मिथ्यात्व से युक्त राग-द्वेष के परिणाम ही व्यसन हैं। ये लोगों में प्रमुख रूप से आकुलता पैदा करते हैं और दुराचारी बनाते हैं। इनसे ही व्यवहार में व्यक्ति अनेक गन्दी आदतें अपनाता है, जो उसको विपत्ति की ओर अग्रसर करती हैं।

द्यूतक्रीड़ा भी इन्हीं व्यसनों में एक है, जिसका शाब्दिक अर्थ है-जुआ खेलना। हार-जीत की दृष्टि रखते हुए रुपये-पैसे या किसी प्रकार के धन से कोई भी खेल खेलना या दावँ लगाकर अधिक लाभ की आशा या हानि का भय होना, जुआ कहलाता है। कहा भी है- 'अशुभ में हार एवं शुभ में जीत, यह है द्यूत कर्म।' अर्थात् अशुभ में हार और शुभ में जीत मानना ही जुआ है।

आधुनिक नीतिशास्त्र से लेकर प्राचीन काल की नीति-व्यवस्था में द्यूत क्रीड़ा को प्रतिबन्धित खेल घोषित किया गया है-

- चन्द्रगुप्त मौर्य ने इसे खेलने वालों पर कठोर दण्ड का प्रावधान किया।
- पद्मपुराण में इसे प्रतिबन्धित खेल बताया गया है।
- मनुस्मृति में द्यूत क्रीड़ा हेतु कठोर दण्ड के साथ ही आर्थिक प्रतिबन्ध का प्रावधान बताया गया।
- आधुनिक कानून में ऑनलाइन जुआ सहित केसीनो, सट्टा, खेलों में स्पॉट फिक्सिंग, ताश आदि पर प्रतिबन्ध है। इनके खेलने पर अर्थदण्ड सहित कारावास का प्रावधान है।

फिर भी व्यक्ति धनाढ्य बनने की चाह में द्यूत क्रीड़ा का प्रयोग करने लगा है। वह बिना कुछ किए रातोंरात अमीर बनना चाहता है। उस पर अमीर बनने का नशा इस क़दर छाया रहता है कि वह अपने मूल्यों को भुलाकर द्यूत क्रीड़ा (व्यसन)की राह पकड़ लेता है, जैसे-ताश खेलकर पैसा कमाना, लॉटरी के टिकट खरीदना, केसीनो जाकर अपना भाग्य आजमाना,शेयर बाजार के माध्यम से सट्टा लगाना, खेलों एवं चुनावों की हार-जीत पर सट्टा लगाना, ऑनलाइन सट्टा, कीमती धातुओं से सम्बन्धित सट्टा, घोड़े की रेस पर दावँ, पासा आधारित खेल आदि। इस व्यसन में लोगों को यकीन दिलाया जाता है कि वे आसानी से जीत जाएँगे, और उन्हें जीतने पर बड़ी रकम मिलेगी। क्योंकि वे जानते हैं कि लालच में आकर वे इसमें ढेर सारा पैसा लगाने के लिए तैयार हो जाएँगे। इन्सान इस क़दर लालची बन जाता है कि उसे लगता है कि वह शीघ्र ही अमीर बन जाएगा। यही लालच व्यक्ति को इस दलदल में खींच लाता है, हारने के बावजूद भी हारी हुई रकम को पुनः पाने की लालसा उसे अलग नहीं होने देती ।

विभिन्न काल-खण्डों में द्यूत क्रीड़ा के बीभत्स रूप का उल्लेख मिलता है। किसी काल में मुद्रा की व्यवस्था नहीं होने पर लोग भूमि, भवन, गोवंश, राज्य, देश, पत्नी, दास, दासियों तक को दावँ पर लगा देते थे। **जबकि आज तक दुनिया में जो भी अमीर बना है वह द्यूत क्रीड़ा से नहीं, अपनी मेहनत से बना है।** उसे लगता है कि इसके प्रयोग से वह जीवन के परम आनन्द को प्राप्त कर लेगा। इस व्यसन का मक़सद होता है आसानी से पैसा कमाना, इसलिए यह इन्सान के मन में पैसे के प्रति प्रेम उत्पन्न करता है, जो तरह-तरह की बुराइयों की जड़ है। परन्तु यह एक प्रकार की लत है जो व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर, उसे धीरे-धीरे अपने चक्रव्यूह में जकड़ लेती है तथा उसकी सोचने-समझने की क्षमता को विनष्ट कर देती है। यह मृगतृष्णा की तरह मात्र एक भ्रम है। जो इन्सान लालच करता है, उसका पेट कभी नहीं भरता, फिर चाहे उसके पास कितना ही पैसा क्यों न हो। यह एक हँसते-खेलते इन्सान की खुशी छीन लेता है। दुनियाभर में ऐसे लाखों लोग हैं, जो द्यूतक्रीड़ा के लिए लुभाए गए और अब उन्हें इसकी बुरी लत लग चुकी है। **इसमें बड़े-बड़े सपने दिखाकर कंगाली की राह पर धकेल दिया जाता है, जिसका एहसास समय निकल जाने के पश्चात् होता है।**

यह लोभजनक कुरीति है, अर्थात् इसकी उत्पत्ति का मूल कारण व्यक्ति का 'लोभ' ही है। लोभ के वशीभूत होकर ही वह द्यूत क्रीड़ा जैसे व्यसन की ओर अग्रसर होता है। जैन शास्त्रकार के अनुसार-

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयणासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो।।

अर्थात् क्रोध को प्रीति का नाशक, मान को विनय का नाशक, माया को मित्रता का नाशक और लोभ को सर्वविनाशक कहा गया है। इसी लोभ के चलते मनुष्य द्यूत क्रीड़ा के प्रयोग से अपना सर्वस्व खो देता है।

द्यूत-क्रीड़ा के प्रयोग से व्यक्ति को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है-

1. पारिवारिक अलगाव-द्यूत क्रीड़ा में रत व्यक्ति का परम लक्ष्य मात्र पैसा अर्जित करना ही है। ऐसे में परिवार से कहीं अधिक वह मात्र पैसों को महत्त्व देता है, जिससे पारिवारिक रिश्तों मे दूरियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। द्यूतक्रीड़ा करने वाला हर हाल में जीतना चाहता है, फिर चाहे इसकी वजह से किसी का भी नकुसान क्यों न हो। वह सिर्फ स्वयं के बारे में ही सोचता है। **द्यूत क्रीड़ा के लिए पैसे प्राप्त करने हेतु पारिवारिक सदस्यों से झूठ बोलना, उन्हें धोखा देना, चोरी करना,नहीं मिलने पर कलह करना, घर की जिम्मेदारियों से भागना आदि के कारण वह अलगाव महसूस करता है।** व्यक्ति जो भी पैसा कमाता है, उस पर सम्पूर्ण परिवार का अधिकार होता है। द्यूत क्रीड़ा में पैसा हारने से सम्पूर्ण परिवार को उसका नुकसान भोगना पड़ता है, जिसका जिम्मेदार वह स्वयं होता है। परिवार के लोग भी उसे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते हैं। **वह परिवार में अपनी विश्वसनीयता खो देता है।**

2. सामाजिक अलगाव-व्यक्ति के जीवन में समाज का विशेष महत्त्व है। समाज में रहकर ही वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। परन्तु समाज के अपने कुछ नियम-कायदे होते हैं। **समाज ऐसे लोगों को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता है।** समाज में उसका आदर-सत्कार, पद-प्रतिष्ठा सब धूमिल हो जाती है। समाज में वह मात्र नगण्य हो जाता है, जिसके कई दुष्परिणाम उसे और उसके परिवार दोनों को भुगतने पड़ते हैं। वह स्वयं भी सामाजिक गतिविधियों में संलग्न होने की बजाय उनसे दूर भागता है।

3. आर्थिक संकट-इस व्यसन की लत इतनी अधिक लालसा उत्पन्न करती है कि व्यक्ति चारों तरफ से कर्ज में घिर जाने के बावजूद भी स्वयं को इससे अलग नहीं कर पाता। **इसमें पैसा प्राप्त होने की अपेक्षा खोने की अधिक सम्भावना रहती है।** इसके लिए वह किसी को भी दावँ पर लगा सकता है। **वह मात्र अपना पैसा ही नहीं, अपना घर, अपना व्यवसाय, पत्नी, बच्चे सभी को खो**

देता है। इसका उदाहरण हम महाभारत में भी देख चुके हैं कि कैसे पाण्डव द्यूत क्रीड़ा में अपना सर्वस्व खोकर, कंगाल होकर वन जाने को मजबूर हो गए थे। इस तरह आर्थिक तबाही का मञ्जर बनकर यह अच्छे-खासे व्यक्ति को भिखारी बनकर जीने को विवश कर देती है।

4. शारीरिक एवं मानसिक रोगों का शिकार–सफलता की इस अन्धी दौड़ में जीवन-पद्धति इस कदर अस्त-व्यस्त एवं विकृत हो जाती है कि इसमें बिना रुके, बिना थके दौड़ने वाले धावक शीघ्र ही अनेक रोगों एवं विकारों के जाल में फँस जाते हैं। चिन्ता, अवसाद, कुण्ठा, तनाव, चिड़चिड़ापन आदि के कारण व्यक्ति डायबिटीज, हृदयाघात, रक्तचाप कम या अधिक, ब्रेनट्यूमर जैसी गम्भीर बीमारियों से ग्रसित हो जाता है। कई बार तो विक्षिप्त-सा होकर आत्महत्या तक कर लेता है।

बेंगलुरू स्थित राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य एवं तन्त्रिका विज्ञान संस्थान 'निमहेन्स' की रिपोर्ट के अनुसार-आज देश के मानसिक चिकित्सालयों में लगभग 40 प्रतिशत रोगी शरीर से उपजी पीड़ाओं को झेल रहे हैं,जबकि एक दशक पूर्व यह संख्या मात्र 5 प्रतिशत थी।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार-बिगड़ी हुई जीवन शैली से उपजे दिल के रोगों के कारण प्रतिवर्ष लगभग 24 लाख भारतीय अपनी जान से हाथ धो बैठते हैं।

5. नैतिक मूल्यों का पतन–हम जितने आधुनिक हो रहे हैं, हमारे नैतिक मूल्य उतने ही गिरते जा रहे हैं। संस्कारों का प्रवाह ही परम्पराओं को जीवन प्रदान करता है। अगर परिवार से गलत परम्पराओं की शुरुआत हो जाए तो समाज भी उससे अछूता नहीं रहेगा। इस तरह के व्यसन में रत व्यक्ति के मानवीय मूल्यों का ह्रास हो जाता है। उसके संस्कार, उसकी अच्छाई, उसकी सद्भावनाएँ व्यसन के इस दलदल में समा जाती हैं। वह लालसा के वशीभूत होकर अन्याय करना, चोरी करना, झूठ बोलना, धोखा देना जैसे दुर्गुणों का शिकार हो जाता है। वह कर्त्तव्यविमुख होकर अनैतिकता की ओर अग्रसर हो जाता है।

हर कोई व्यसन की इस अन्तहीन दौड़ में भागा जा रहा है। किन्तु उसे इतना भी ध्यान नहीं है कि उसका कितना कुछ पीछे भागता जा रहा है। परिवार तो जीवन रूपी वृक्ष की जड़ है और जड़ के सूखने से कोई भी वृक्ष हरा-भरा नहीं रह सकता। पारिवारिक रिश्तों में जो ऊपरी व्यावहारिकता की लहर चली है, उसने रिश्ते-नातों को धराशायी कर दिया। अब रिश्ते दिलों में नहीं मात्र लाभ-हानि के रह गए हैं। सामाजिक सौहार्द से लेकर पारिवारिक भावनात्मक लगाव तक सभी समाप्त हो गए हैं। किसी भी तरह से रुपया कमाना, इसी को आधुनिक सभ्यता और बेहतर जीवन-शैली माना जा रहा है।

आधुनिक जीवन शैली ही व्यक्ति को इस ओर धकेल रही है। वास्तव में यह विभीषिका आधुनिक युग के उपभोक्तावाद के दौर की स्वाभाविक उपज है। अधिक सुख- सुविधाओं और भोग की साधन-सामग्रियों का अर्जन ही इसका अभीष्ट लक्ष्य है। इसके लिए महत्त्वाकांक्षाओं की मृगतृष्णा से बाहर निकलकर, सोच-विचार को व्यावहारिक धरातल पर लाकर आगे बढ़ना होगा। किस्मत अपने आप में महान् है, लेकिन जीवन का अधिकांश हिस्सा कड़ी मेहनत से बनता है। अपने क्रियाकलापों और लक्ष्यों के बीच व्यावहारिक सन्तुलन होना चाहिए।

इस प्रकार जीवन-शैली सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों पर समुचित ध्यान देते हुए आधुनिक जीवन की व्यसन भरी जीवन पद्धति के नकारात्मक प्रभावों को बहुत हद तक कम कर सकते हैं, और अपने तन-मन के स्वास्थ्य-सन्तुलन को कायम रखते हुए अपने पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को सुखद एवं सन्तोषजनक बना सकते हैं।

-61/484 रजतपथ, मानसरोवर, जयपुर (राजस्थान)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 429
ISSN 2249-2011

जैनधर्म में अहिंसा पर अधिक बल क्यों

श्रीमती सरोज गोलेच्छा

अहिंसा

धर्म के मूल में रही है 'अहिंसा।' अहिंसा की व्यापकता को समझने की महती आवश्यकता है। अहिंसा को अपनाने से अहिंसा के मार्ग पर चलने से हर जंग जीती जा सकती है। हमारे देश के सूत्रधार राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने आजादी अहिंसा के बल पर ही दिलाई थी। केवल जीव हिंसा से बचना ही अहिंसा नहीं। हमारे किसी भी कार्य या व्यवहार से अगर किसी को दु:ख पहुँचे, आघात लगे तो वह कार्य और व्यवहार भी हिंसा की श्रेणी में ही आएगा।

विचारों (भाव) द्वारा भले ही हिंसा दिखती न हो, पर स्वयं की आत्मा भारी बोझ स्वरूप होती है।

'अहिंसा' का सार्थक प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र से जुड़ा है। चाहे वह कर्मक्षेत्र हो या धर्मक्षेत्र। खान-पान में धर्म के सिद्धान्तों को अपनाने से अहिंसा के पालन के साथ-साथ आर्थिक तथा स्वास्थ्य दोनों हित सध जाते हैं।

विचार और वाणी की शुद्धि से मन में आनन्द, मैत्री के भाव, आन्तरिक प्रेम ये सभी विकसित होते हैं। अहिंसा के आचरण से जीवन शुद्ध एवं शुभ बन जाता है। द्वेष के भावों का निष्कासन बाहर की ओर हो जाता है।

'अहिंसा' को अपनाने से व्यक्ति, परिवार, समाज, देश यहाँ तक कि विश्व की कई समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल निकल सकता है। हिंसा से कभी भी किसी भी समस्या का स्थायी समाधान नहीं हो सकता। हिंसक व्यक्ति के स्वभाव में चिड़चिड़ापन, तनाव, उत्तेजना, क्रोध के भाव एवं अशान्ति आ जाती है।

'अहिंसा' को अन्तर में प्रतिष्ठित करने से शान्ति, क्षमा, मधुरता, करुणा, मैत्री, प्रेम ये सभी गुण सहज ही विकसित होते हैं, एवं जीवन एक अपूर्व आनन्द से भर जाता है।

जीवदया अहिंसा का ही एक रूप है। पहले अपने भाव, विचार तथा वाणी में अहिंसा का आचरण कीजिए। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हिंसा से सर्वथा (पूरी तरह) बचना नामुमकिन है। पर हमारी जीवन शैली इस प्रकार की हो, जिसमें हिंसा अल्प से अल्प हो, जहाँ भी हिंसा से बचा जा सकता है, वहाँ बचने के पुरजोर प्रयास किए जाएँ। चाहे व्यक्ति का निजी जीवन हो, पारिवारिक, सामाजिक, व्यावहारिक या धार्मिक आयोजन हो- अहिंसा के प्रति प्रतिबद्धता और सजगता के सापेक्ष प्रयास हों।

अहिंसा के पालन से प्रकृति तथा पर्यावरण की रक्षा के कार्य स्वत: सिद्ध हो जायेंगे। अहिंसा का पालन इतना कठिन नहीं जितना कि सामान्यतया समझा जा रहा है। छोटे-छोटे दैनिक कार्यों में अहिंसा का पालन कर अहिंसा की राह पर चला जा सकता है। जैसे-जैसे धर्म की गहराई में जायेंगे वैसे-वैसे अहिंसा के पालन में वृद्धि होती जाएगी।

अहिंसा के पालन द्वारा विश्व की अनेक समस्याओं का समाधान सुलभ है। आतंकवाद, सीमाविवाद, नस्लभेद, रंगभेद, जातिभेद, भाषावाद, धर्मभेद इत्यादि समस्याओं से विश्व त्रस्त है। इन सभी का सटीक समाधान अहिंसा में निहित है। सुखमय, शान्तिमय विश्व का निर्माण अहिंसा द्वारा ही सम्भव है। अपने समान सभी जीवों को देखना है। जीवन सभी को प्यारा है। जैन धर्म में अहिंसा का अति गहरा तथा सूक्ष्म विवेचन है।

निर्दोष जीवन जीना है तो अहिंसा को अन्तर से अपनाना होगा। संसार रूपी रेगिस्तान में अहिंसा अमृत

के झरने के समान है। करुणा-अनुकम्पा, क्षमा, शान्ति, मैत्री, संवेदनशीलता ये सभी अहिंसा के ही विविध नाम हैं। यह तो सारे शास्त्रों का सार है, शान्त जीवन का आधार है। श्रेष्ठ साधना कोई है तो वह अहिंसा की साधना है।

सभी धर्मों में अहिंसा-पालन की सीख दी गई है। धर्म के नाम पर हिंसा करना धर्म का अपमान है। जब तक वाणी, विचार और भाव में अहिंसकता नहीं आएगी, तब तक जीवन में निर्मलता, सरलता का प्रवेश सम्भव नहीं।

अहिंसा का मतलब काया द्वारा हिंसा एवं युद्ध रोकना ही नहीं, अपितु मन में उत्पन्न अशुभ और हिंसक विचारों का दमन करना भी है। इसको अपनाने से मैत्री और शान्ति का एक नया अध्याय लिखा जा सकता है।

दुनिया के सभी धर्म अहिंसा, इंसानियत, मैत्री, करुणा तथा प्रेम का बोध देते हैं। आवेश, उत्तेजना, अहंकार और क्रोध को वश में करने का अचूक उपाय है 'अहिंसा।'

चन्द समूह अपना हित साधने, अहंकार की पूर्ति हेतु, हीन लालसाओं, स्वयं का आधिपत्य जमाने हेतु और धर्म के प्रति अज्ञानता वश हिंसा का मार्ग अपनाते हैं। नतीजा आतंकवाद, युद्ध एवं अशान्ति का बढ़ावा है विनाश की कगार पर जा रही इस आधुनिक सभ्यता को पुन: पटरी पर स्थापित करने एवं शान्ति, मैत्री के राजमार्ग पर जाने हेतु अहिंसा ही कारगर एवं अचूक हो सकती है। विश्व की सारी सम्पदा थोड़े लोगों के हाथों में है। ये लोग अगर अहिंसा के साथ अपरिग्रह को अपना लें तो कई समस्याओं का समाधान सम्भव है।

ऐसे कई सम्पन्न लोग हैं, जिन्होंने अहिंसा को समझा और अपनी अकूट सम्पदा को मानव एवं प्राणि-सेवा में दान द्वारा अर्पित किया। हिंसा से वैर-युद्ध हो सकता है, पर शान्ति सम्भव नहीं। शान्ति की प्रथम सीढ़ी है अहिंसा।

युद्ध-वैर का समापन शान्ति द्वारा ही सम्भव है और अहिंसा की प्रथम सीढ़ी शान्ति है। अहिंसा तो आत्मा का विश्वास है, प्रकाश और सुख का अहसास है।

-सनावद (मध्यप्रदेश)

अहिंसा का रास्ता : शान्ति

श्री एस.सी. कटारिया

सिकन्दर के समय की बात है, वह विश्व विजय की उमंग लेकर भारत तक आ पहुँचा था। वह एक जंगल से आगे बढ़ रहा था। तभी उसे एक साधु पत्थर की शिला पर लेटे हुए मिले। सिकन्दर को देखकर वह भी ज्यों की त्यों लेटे रहे। सिकन्दर ने अहंकार और गुस्से में आकर कहा, क्या तुम्हें मालूम है कि तुम्हारे सामने विश्व विजेता खड़ा है? साधु ने उपेक्षापूर्वक व्यवहार दिखाते हुए कहा-तुम खून खराबा क्यों करते हो? सिकन्दर ने कहा-'इससे मैं पूरी दुनिया को जीत लूँगा और उस पर राज करूँगा।' साधु ने फिर कहा-फिर? सिकन्दर बोला-मेरे पास महल, गहने, सम्पत्ति, नौकर-चाकर और विराट् सत्ता तथा विशाल साम्राज्य होगा। साधु बोले फिर? सिकन्दर बोले-यह करने के बाद मैं सुकून के साथ रहूँगा। ''तुम इतना सब करने के बाद आराम से रहोगे, तो मैं तो वैसे ही आराम से रह रहा हूँ'', साधु ने लेटे-लेटे ही सिकन्दर को उत्तर दिया और दूसरी तरम करवट लेकर सो गया। तब सिकन्दर को पहली मर्तबा अहसास हुआ कि, एक मूर्खतापूर्ण अभियान पर वह निकला है। उस दिन उसने अपना अभियान सदा-सदा के लिए स्थगित कर दिया। वह समझ चुका था कि सुकून और शान्ति पाने का रास्ता हिंसा का तो कतई नहीं हो सकता था। अहिंसा का रास्ता, शान्ति ही है।

-10 महावीर नगर, रतलाम (मध्यप्रदेश)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 431
ISSN 2249-2011

जैन परम्परा में चातुर्मास एवं पर्युषण का महत्त्व

(1) श्रीमती सुमन कोठारी

चतुर्विध संघ के लिए चातुर्मास का उतना ही महत्त्व है जितना किसी किसान के लिए वर्षा की बूँदों का। अक्सर ज्ञानी गुरुजन यह किंवदन्ती फरमाते हैं कि अगर वर्ष के बारह महीनों में से वर्षाऋतु के चार महीने घटा दें, तो किसान के जीवन यापन के लिए कोई दिवस शेष नहीं रहता। चातुर्मास का आगमन होते ही साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका में आनन्द की लहरें हिलोरे लेने लगती हैं। जैसे बादलों के मण्डराने पर मोर नृत्य करने लगता है।

हम अपने हृदय के द्वार खोलें तो यह चातुर्मास चमत्कार घटित कर सकता है। सत्य का सूरज और आनन्द का अमृत हमारे अन्तर्हृदय में उतर सकता है। चातुर्मास काल हमारे लिये एक स्वर्णिम अवसर है। अवसर का सदुपयोग करने में ही हर समझदार व्यक्ति की समझदारी है। आदमी करवटें बदलता है और सोचता है कि कब सूर्योदय हो और कब काम पर जाऊँ। सूर्योदय के बाद प्रमादवश सोचता है अभी क्या जल्दी है, अभी तो पूरा दिन पड़ा है, सुबह से दोपहर फिर शाम और रात हो जाती है, फिर पछताता है। लेकिन जो अपने जीवन में समय का सदुपयोग कर लेते हैं, अवसर उनके सौभाग्य को जगा देता है। जीवन का आध्यात्मिक प्रयोग एवं शिविर है मनुष्य की चेतना, जो हर पल बाहर ही भटकती रहती है। भीतर लौट आने की प्रक्रिया का नाम है चातुर्मास। यह अन्तर्यात्रा की प्रेरणा का स्रोत है।

अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ के बन्धु चातुर्मास काल में भी सन्त-सतियों के अभाव में वीतराग की वाणी के श्रवण से वञ्चित रह जाते हैं। धन्य हैं वे क्षेत्र, वे श्रावक-श्राविकाएँ जिन्हें सन्त-सतियाँजी का अनुपम लाभ प्राप्त होता है। उनके श्री मुख से वीतराग वाणी सुनने का सुअवसर प्राप्त होता है। हम सबका परम कर्त्तव्य है, हम प्रतिदिन सत्संग करें, प्रवचन-श्रवण करें। सत्संग व्यक्ति के लिए अन्तर सदन में प्रवेश का मार्ग है। कुछ पल की सद्गुरु की अमृतवाणी भी हृदय का रूपान्तरण कर हमारा मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

भगवान महावीर के शब्दों से 'बुज्झिज्जा किं न बुज्झह' चण्ड़कौशिक भद्रकौशिक बन गया, जो क्रोध का अवतार था, क्षमा की मूर्ति बन गया। अनाथीमुनि के कुछ वचनों-राजन्! तुम स्वयं अनाथ हो, तुम किसी के नाथ कैसे बन सकते हो-श्रेणिक राजा को मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी बना दिया। भगवान महावीर के एक उपदेश से इन्द्रभूति गौतम का मान गलित हो गया। वे सम्यग्दृष्टि बन उनके प्रथम शिष्य बन गये। सत्संग की एक किरण हमारे अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने में समर्थ है।

गुरु भगवन्तों के श्री चरणों में समर्पित होकर हम सामायिक, स्वाध्याय का ज्ञान प्राप्त करें।

सामायिक-स्वाध्याय महान्।

जीवन की आध्यात्मिक प्रयोगशाला के ये दो महत्त्वपूर्ण सोपान हैं, स्थानक में की गयी सामायिक की साधना का अभ्यास, घर में, ऑफिस में हर क्रिया-कलाप पर समता का प्रभाव स्थापित करे। जब भी हम सन्त-सतियों के दर्शन-वन्दन हेतु जाएँ, पूर्ण श्रद्धा और समर्पण भाव के साथ जाएँ। यदि वे व्यस्त हों, ज्ञान-ध्यान में या किसी कारण से उनका ध्यान हमारी ओर न हो तो मन में लेशमात्र भी खिन्नता न लाएँ, उनके दर्शन मात्र ही हमें शान्ति प्रदान करने वाले होते हैं।

'बिना सत्संग विवेक न होई, सद्गुरु बिन सत्संग न होई।' चातुर्मास हमें आत्म-जागरण का शंखनाद करने आता है, मोह माया की निद्रा से जगाने आता है। बड़ी प्रसिद्ध एक कहानी-

झेन का डण्डा–एक सम्राट् एक झेन फकीर के पास पहुँचा। सम्राट्–प्रभो! मैं आपसे समाधि को आत्मसात् करना चाहता हूँ। सन्त–ठीक है। सम्राट्–मुझे इसमें कितना समय लगेगा। सन्त–यही कोई 20 वर्ष। सम्राट्–प्रभु 20 वर्ष तो बहुत होते हैं। सन्त–ठीक है 10 वर्ष। सम्राट्–प्रभु 10 वर्ष तक राजपाट छोड़कर रहना बहुत मुश्किल है। सन्त–ठीक है 5 वर्ष। सम्राट्–जिन्दगी का क्या भरोसा, कब क्या हो जाये। सन्त–ठीक है 3 वर्ष से कम नहीं, तुम्हारी इच्छा हो तो रहो, अन्यथा जा सकते हो। सम्राट् को आत्मज्ञान की तीव्र उत्कण्ठा थी। सन्त–एक शर्त और, मैं जो भी कहूँ तुम्हें करना होगा, मैं कुछ भी करूँ, तुम प्रतिक्रिया नहीं करोगे। सम्राट् ने सब कुछ सहर्ष स्वीकार कर लिया। सन्त, सम्राट् से सारे कार्य करवाते, खाना बनाना, कुएँ से पानी लाना, जंगल से लकड़ियाँ काटना आदि। काफी समय बीत गया। सम्राट् का धैर्य धीरे–धीरे कम होने लगा। सोचने लगे, ध्यान सीखने आया था। लगता है गुरुजी काम करवाकर छुट्टी कर देंगे। तभी एक डण्डा सिर पर पड़ा। सम्राट् चौंके, दुःखी हुए। शर्त के अनुसार कुछ प्रतिक्रिया नहीं की। फिर दूसरे तीसरे दिन भी वही डण्डा। चौथे दिन सम्राट् गुरुजी के आने से पहले ही सावधान हो गए। डण्डे से बच गये।

अब गुरुजी ने रात में सोते हुए सम्राट् पर डण्डे का प्रहार किया। सम्राट् ने सोचा, अजीब मुसीबत है दिन में भी चैन नहीं, रात में नहीं। लेकिन कोई प्रतिक्रिया नहीं की। धीरे–धीरे अब वह रात में भी पहले हल्की सी आहट से, फिर परछाई से ही गुरुजी के आने से पहले उठकर बैठ जाते। तब सन्त ने मुस्कुराकर कहा–तुमने समाधि के बीज बो दिये हैं सम्राट्। आओ अब हम भीतर की यात्रा करें, ध्यान के प्रति भी इतनी ही सजगता साध लो, जितनी तुमने बाहर साधी थी। सम्राट् गहरे ध्यान में उतरते गये। आनन्द से अभिभूत हो गये। जब आँखें खोली तो पाया, वे स्वयं भी एक सन्त हो गये। उन्होंने फिर कभी मिट्टी के महलों की ओर नज़र न उठायी। ऐसा बोध, ऐसी जागरूकता, ऐसा पुरुषार्थ हमें भी प्राप्त हो सकता है। यह चातुर्मास केवल चातुर्मास न रहे, हमारे जीवन का वरदान बन जाये।

पर्युषण पर्व–चातुर्मास का हार्द, आत्म–पुरुषार्थ के अनुपम अवसर हैं हमारे पर्युषण पर्व। आध्यात्मिक मनीषियों ने मानव की सहज वृत्तियों को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया है। उसकी कषाय और मोहजनित प्रवृत्तियों को वीतरागता एवं आत्मरमणता के रंग में रंगने की चेष्टा की है। पर्युषण पर्व का लक्ष्य है आत्मशुद्धि करना।

पर्युषण का अर्थ–अपने चारों ओर व्याप्त बाहर के विषय कषायों से मन को हटाकर आत्मस्वभाव में आना एवं तप त्याग की अग्नि में विषय कषायों के कचरे को जलाना, क्षय करना पर्युषण है।

पर्वाधिराज पर्युषण के आठ दिनों का औचित्य–कर्म आठ हैं, आत्मा के गुण भी आठ हैं, पर्युषण पर्व के दिन भी आठ हैं। आठ कर्मों को काटने के लिये प्रथम दिवस दर्शन दिवस, द्वितीय–ज्ञान दिवस, क्रमशः चारित्र दिवस, तप दिवस, भक्ति दिवस, स्वाध्याय दिवस, दान दिवस, अहिंसा एवं क्षमा दिवस के रूप में प्रवचन के माध्यम से सन्त–सतीवृन्द हम पर वीतराग वाणी की वर्षा करते हैं। अगर साधक इन पर्युषण पर्व के आठ दिनों में आत्मा पर लगे एक–एक दुर्गुण को, एक–एक मद को, प्रमाद को एक–एक दिन में भी कम करता जाए, तो हमारी आत्मा निर्मल बन सकती है।

साधु–साध्वी जी एवं श्रावक–श्राविका के करने योग्य आवश्यक कार्य : केश लोच–वर्षावास में अप्काय जीवों की तथा जूँ आदि त्रस जीवों की विराधना न हो, अतः निर्ग्रन्थ साधु–साध्वी जी पर्युषण की अन्तिम रात्रि के पूर्व ही केशलोच अवश्य कर लेते हैं।

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण–श्रमण हो या श्रावक शुद्धि प्रत्येक के लिए आवश्यक है। वर्ष भर में कहाँ–कहाँ गलतियाँ हुईं, पाप हुए, विराधना हुई, किसी

मर्यादा और गरिमा का हमारे द्वारा उल्लंघन हुआ, वीतराग वाणी का प्रमाद एवं अज्ञान के द्वारा पालन न हुआ, तो उनका प्रायश्चित्त मिच्छा मि दुक्कडं कर लेते हैं, यह सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

आलोचना–प्रतिक्रमण आत्मसाक्षी से किया जाता है। आलोचना में ज्ञानी गुरुजनों के समक्ष अपने समस्त पापों को स्वीकार करके प्रायश्चित्त लिया जाता है।

तपश्चर्या–पर्युषण पर्व में बच्चों के मन में तपस्या के प्रति उल्लास जाग्रत होता है। तप की विशेष प्रेरणा के लिए 'अन्तगडदशाङ्गसूत्र' का वाचन किया जाता है, जिसमें 90 आत्माओं का वर्णन है, जिनमें रानियाँ, राजकुमार, माली, बच्चे सभी अन्तकृत आत्माएँ उसी भव में तप करके मोक्ष को प्राप्त हुईं। यह सूत्र हमारे लिये प्रेरणा देने वाला है।

क्षमापना–क्षमापना पर्युषण पर्व का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। पर्युषण में अन्तर्हृदय से क्षमा नहीं माँगी, नहीं दी, तो पर्युषण पर्व की कोई सार्थकता नहीं। पर्युषण एवं संवत्सरी कषाय-मुक्ति का महापर्व है। सर्वत्र शान्ति, समता, त्याग-वैराग्य की शीतलता परिव्याप्त हो, यही चातुर्मास एवं पर्व पर्युषण की सार्थकता है।

-त्रिमूर्ति सर्किल, जे. एल. एन. मार्ग, जयपुर (राज.) मो. 98292-52113

(2) श्री महेन्द्र कुमार जैन

जैनधर्म में चातुर्मास का बहुत अधिक महत्त्व है। चातुर्मास का अर्थ है-चार मास। इस आधार पर वर्षाकाल में चार माह तक एक ही स्थान पर रहना या निवास करना भी चातुर्मास कहलाता है। कभी-कभी अधिक मास होने से 4 माह के स्थान पर 5 माह का भी वर्षावास देखने को मिलता है। इस समय सभी साधु-साध्वी महाराज एक स्थान पर रहकर अपनी आत्म-साधना में तल्लीन रहते हैं तथा जिस स्थान पर साधु-साध्वीजी महाराज चातुर्मास करते हैं उस क्षेत्र के श्रावक-श्राविकाएँ भी उनका उत्तम सान्निध्य पाकर अपनी धार्मिक गतिविधियों में जैसे-प्रवचन-श्रवण करना, सामायिक, स्वाध्याय, संवर, पौषध, प्रतिक्रमण, दया, ध्यान तथा तप-साधना में अपनी-अपनी सामर्थ्य अनुसार संलग्न रहते हैं।

जैनधर्म में चातुर्मास क्यों ?

जैनधर्म के अनुसार वर्षा ऋतु के मौसम में कई प्रकार के कीड़े, सूक्ष्मजीव तथा जगह-जगह हरी वनस्पतिकाय के जीव उत्पन्न हो जाते हैं। कई जीव जो आँखों से दिखाई नहीं देते हैं। ऐसे में साधु-साध्वियों के अधिक चलने से या उठने-बैठने से जीव हिंसा की सम्भावना बनी रहती है। अतः इस जीवहिंसा से बचने के लिए भगवान महावीर ने चातुर्मास को श्रेष्ठ बताया है। गौतम बुद्ध ने चातुर्मास के बारे में कहा है-**चरत्थ भिक्खवे चारिकां, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।** ऐसा कहकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए चरैवेति-चरैवेति का सन्देश दिया।

जैन परम्परा में चातुर्मास धर्म-साधना का वह सागर है जिसमें चतुर्विध संघ डूबकर भी अपने को तिरा हुआ महसूस करता है।

जैनधर्म में पर्युषण महापर्व

आत्मा को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाले पर्युषण महापर्व की आयोजना प्रति वर्ष चातुर्मास के दौरान भाद्र मास में की जाती है। इस महापर्व में निरन्तर धर्म साधना करने का प्रावधान है। इन दिनों जैन श्वेताम्बर मतावलम्बी 8 दिनों तक ध्यान, स्वाध्याय, जप-तप, उपवास, क्षमा आदि विविध प्रयोगों द्वारा आत्म-मन्थन एवं कर्मनिर्जरा करते हैं।

पर्युषण की आराधना के इन दिनों में व्यक्ति अपने आप को आत्मशोधन एवं आत्म-चिन्तन के द्वारा वर्ष भर के क्रियाकलापों का प्रतिक्रमण एवं प्रतिलेखन करता है। पर्युषण के इन दिनों में सभी व्यक्ति एक-दूसरे से क्षमा का आदान प्रदान करते हैं जिससे मनोमालिन्य दूर होता है और स्वाभाविक गुण सरलता, सहजता, कोमलता एवं सहिष्णुता विकसित होते हैं।

पर्युषण का शाब्दिक अर्थ

पर्युषण पर्व का शाब्दिक अर्थ है आत्मा में अवस्थित होना। कर्म रूपी शत्रुओं का जब नाश होता है तब आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित होती है।

पर्युषण पर्व आने पर साधक का मन मयूर के समान नाच उठता है। चतुर्विध संघ इस महापर्व को मनाने के लिए प्रतीक्षारत रहता है। इस अष्ट दिवसीय पावन वेला पर साधक या श्रावक-श्राविका सभी प्रकार के सांसारिक कार्यों को सीमित करते हुए आत्मिक कार्यों में तल्लीन हो जाते हैं। अपना अधिकांश समय सामायिक, दया, संवर, प्रतिक्रमण प्रवचन एवं तपस्या में व्यतीत करते हैं। इस दौरान सभी रात्रिभोजन का त्याग, हरी लीलोती का त्याग, एकाशन, आयम्बिल, तेला, अठाई आदि तप करके कर्म निर्जरा करते हैं।

पर्युषण पर्व के दौरान स्थानकों में साधु-साध्वियों के द्वारा अंतकृतदशाङ्गसूत्र का वाचन किया जाता है। जहाँ सन्त-सती नहीं होते वहाँ स्वाध्यायियों के द्वारा यह कार्य किया जाता है। इस शास्त्र का चयन इसलिए किया जाता है, क्योंकि इसमें ऐसी 90 आत्माओं का वर्णन किया गया है, जिन्होंने एक ही भव में जन्म लेकर कर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त कर लिया।

पर्युषण पर्व का अन्तिम दिवस संवत्सरी या क्षमा पर्व या क्रोध विजय दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस दिन सभी विगत वर्ष की समस्त भूलों के लिए हृदय से एक दूसरे से क्षमा याचना करते हैं। सबके मन में यही भावना रहती है.....

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे!
मित्ती मे सव्वभुएसु, वेरं मज्झं न केणई।

निष्कर्षतः चातुर्मास एवं पर्युषण जैनधर्म के महापर्व हैं। जिनका जैन धर्मावलम्बियों को बेसब्री से इन्तजार रहता है, सबसे महत्त्वपूर्ण बात है इस महापर्व को मनाकर साधक असीम शान्ति एवं सन्तोष को प्राप्त करता है तथा उसके कदम सांसारिक प्रपञ्च को त्यागकर आत्म-उन्नति की ओर अग्रसर होते हैं।

-239, केशर नगर, मुहाना मण्डी रोड़, भारत पेट्रोल पम्प के सामने, जयपुर (राज.) 9413817366

सम्बन्ध

साध्वी युगल निधि-कृपा

जीवन की घड़ी निरन्तर चल रही है। इस घड़ी में कब बारह बज जाए, पता नहीं, फिर सम्बन्धों में मनमुटाव क्यों? आज दो पीढ़ियों में कोई संवाद नहीं है। दिलों में इतनी दूरियाँ हैं कि सब एक ही छत के नीचे रहते हुए भी अपने-अपने कमरों में बन्द हैं। जब मिलते हैं तो चेहरे अज़नबी से लगते हैं। सब पास-पास होकर भी दूर हैं। सम्बन्धों के महीन धागे उलझ चुके हैं। आज के सम्बन्धों में मात्र संयोग है, पर सहयोग नहीं, समझ तो है पर संवेदना नहीं। साथ-साथ तो रहते हैं पर साथ-साथ जीते नहीं सिर्फ जीने का नाटक करते हैं। वे ही सम्बन्ध जीवित हैं जो स्निग्ध एवं सुगन्धित हैं। सम्बन्धों की गाड़ी 'Reverse' में नहीं 'Top Gear' में चले, इसके लिए सभी सम्बन्धों को निःस्वार्थ भाव से पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए ताकि एक-दूसरे को समझने का मौका मिल सके। सम्बन्धों के सरोवर में जो शब्द हम डाल रहे हैं वे कंकर की भाँति हैं या पेड़ के पत्ते की तरह हैं इसका निरीक्षण कर लें। कंकर तो सतह पर अनेक लहरें पैदा करके नीचे बैठ जाता है और पत्ता बिना किसी प्रतिक्रिया के धीमी गति से पानी पर तैरता है। शब्दों में पत्तों सी कोमलता हो, कंकर जैसी कठोरता न हो तो मन की गाँठें अवश्य खुलेंगी, मनमुटावों का कोहरा छँटेगा और एक दिन सहृदयता का प्रकाश अवश्य प्रकट होगा।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 435
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली पर लघु कथा

श्रीमती कमला सुराणा

समीर, अन्तिमा, प्रखर और जावी रेल के डिब्बे में बैठ गए। प्रखर खिड़की के पास बैठ गया। उसे जंगल का दृश्य देखना था। बारिश के दिन थे। जंगल हराभरा दिखाई दे रहा था। उन्हें माउण्ट आबू घूमने जाना था। सामने की सीट पर एक परिवार बैठा था, दोनों परिवारों में गपशप होने लगी। प्रखर को सामने की सीट के नीचे एक बहुत सुन्दर छोटा बैग दिखाई दिया। यह बैग प्रखर के मन में बस गया, किसी प्रकार से यह बैग मुझे लेना है। मन में मन्थन चल रहा था कि चोरी करना पाप है, लेकिन दुष्ट मन को रोक न पाया। बैग चुराने के प्रयास चल रहे थे। गाड़ी रुकी और सामने वाले यात्री कुछ लेने गाड़ी से नीचे उतरे। उनकी पत्नी दरवाज़े पर खड़ी हो गई। प्रखर के माता-पिता समाचार पत्र पढ़ने लग गए। प्रखर को बैग छुपाने का अवसर मिल गया। धीरे-धीरे बैग को खिसका कर अपनी सीट के नीचे रखकर अपने बैग के पीछे रख, छुपा दिया। माउण्ट आबू के दो स्टेशन पहले सामने वाले यात्री उतर गए। उनको बैग दिखाई नहीं दिया और वे भूल गए। प्रखर की मनसा पूरी हो गई, वह गद्‌गद हो गया।

माउण्ट आबू पर लगभग सभी यात्री उतर गए। प्रखर के माता-पिता सामान इकट्ठा करने लगे, तो वह सुन्दर बैग दिखाई दिया। प्रखर के पिताजी ने यात्रियों से पूछताछ की, लेकिन बैग का मालिक कोई नहीं निकला। प्रखर ने बैग उठाया और नीचे उतर गया। होटल पहुँच गए सभी निपटने लगे, प्रखर ने बैग खोला। उसमें आसन, मुखवस्त्रिका, पूँजनी, माला और जैनधर्म की कुछ पुस्तकें थी। अन्य कोई वस्तु न थी। प्रखर को पढ़ने का बहुत शौक था, पुस्तकें पढ़ने लग गया। उसने महावीर स्वामी की कहानी पढ़ी, उसमें पाँच सिद्धान्त थे। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। इन सिद्धान्तों को मानने वाला व्यक्ति सज्जनता की ओर बढ़कर महान् बन जाता है। प्रखर सोचता है, मुझे महान् बनना है।

प्रखर–''पिताजी! भगवान महावीर के पाँच सिद्धान्त समझाइए।''

समीर–''प्रखर! मैं अच्छी तरह से समझा नहीं सकता। अपने गाँव रानी में मेरा मित्र सुभाष जैन है, वह हमें अच्छी तरह से समझा देगा।'' तीन दिन पश्चात् रानी पहुँच गए। विश्राम कर तीसरे दिन सुभाष जैन के घर पहुँच गए। दोनों ने सुभाष जैन को नमस्कार किया।

सुभाष–''बैठिए।''

प्रखर–''चाचाजी, हम आपके पास बहुत जरूरी काम के लिए आए हैं। भगवान महावीर के पञ्चशील सिद्धान्तों की व्याख्या कर दीजिए।''

सुभाष–''जैनियों की जीवन शैली इन सिद्धान्तों के इर्द-गिर्द चलती है। जैन संस्कृति अहिंसक संस्कृति है। **'जीओ और जीने दो'** मन, वचन और काया से किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाना। सभी जीवों पर करुणा और मैत्रीभाव रखना। सबके दुःख-सुख को समान समझना चाहिए।''

प्रखर–''सत्य के बारे में मैं जानता हूँ। मम्मी-पापा मुझे सत्य बोलने के लिए कहते हैं और मैं हमेशा सत्य बोलता हूँ। अब आप मुझे अचौर्य के बारे में बताइए।''

सुभाष–''अचौर्य का अर्थ है, कभी चोरी नहीं करना, बिना पूछे दूसरों की वस्तु लेना चोरी है। जिसकी वस्तु चोरी करेंगे तो उसका जी दुःखेगा, जी दुःखाना हिंसा है।''

प्रखर–''हाय!''

सुभाष–''क्या हो गया?''

प्रखर–''मैंने अनिष्ट कार्य कर लिया है। समझता-बूझता चोरी कर डाली। यह मेरे पास जो बैग है यह मैं चोर कर लाया हूँ।''

समीर–''बैग चोर कर तो नहीं लाए थे। किसी यात्री का बैग सीट के नीचे रह गया था। सभी लोगों से पूछा था, कोई इसका मालिक न मिला तब इसे लाए थे।''

प्रखर–''पिताजी! मैंने चुराने के लिए बैग छिपा लिया था।''

समीर–''प्रखर! क्या कर डाला?''

प्रखर–''मैं लज्जित हूँ।''

सुभाष–''बच्चा है। बचपन में ऐसी गलतियाँ हो जाती हैं।''

समीर–''बच्चा है, आठवीं में पढ़ता है।''

सुभाष–''मित्र समीर! इस बच्चे का साहस सराहनीय है। भय के मारे, बेइज्जती के मारे झूठ भी तो बोल सकता था। अपने को दोषी ठहरा रहा है। पश्चात्ताप भी कर रहा है। पश्चात्ताप मनुष्य को विनम्र बनाता है।''

प्रखर–''चाचाजी मुझे प्रायश्चित्त दीजिए, मुझे शान्ति कैसे मिलेगी। रात को मुझे नीन्द नहीं आयेगी।''

सुभाष–''आगामी मास भादों में जैनियों का आध्यात्मिक महापर्व पर्युषण आ रहा है। यह पर्व आठ दिन मनाया जाता है। उसका पाँचवाँ दिन दान दिवस होता है, **उस दिन कुछ पुस्तकें खरीद कर निर्धन बच्चों को तुम्हारे हाथ से दिलाएँगे।** आठवें दिन **'क्षमा दिवस'** क्रोध विजय-दिवस है, उस दिन तुम मेरे साथ चलना, सन्ध्या पड़ते ही प्रतिक्रमण होता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है पिछले अशुभ कर्मों की निर्जरा करना। **आगामी काल के लिए कुछ संकल्प लेना सभी जीवों से क्षमा याचना करना।**'' वैर भाव छोड़कर आपस में गले लगना ही सच्चा क्षमा दिवस है।

प्रखर–''मैंने क्षमा-दिवस कभी नहीं सुना और पढ़ा भी नहीं।'' जैन दर्शन की मुख्य विशेषता है।

सुभाष–''जैन जीवनशैली वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विचारों पर आधारित है। त्याग, तप, प्रेम, दया, अनुकम्पा, सहिष्णुता, सहानुभूति को प्रमुख स्थान है।''

-ई-123, नेहरू पार्क, जोधपुर (राज.)

बातों के आशय को समझो, तो संघर्ष नहीं होगा

श्री मोहन कोठारी 'विनर'

बातों के आशय को समझो, तो संघर्ष नहीं होगा,
बिना विचारे उछल गये तो, फिर समझो दंगल होगा।
बातों के आशय को समझो...।।टेर।।

कहा प्रभु ने समझो प्राणी, मन को सदा ही शान्त रखो,
विषम प्रसङ्ग जब आए सामने, मत मन को तुम व्यग्र करो।
सोच समझ कर बोलोगे तो, समक्ष तुम्हारे हल होगा।
बातों के आशय को समझो...।।1।।

मन आवेश से भर जाए तो, भाषा संयम नहीं खोना,
विवाद अगर तुम चाहो टालना, समभावों में तुम रहना।
मन पर काबू रख पाए तो, शान्त तुम्हारा मन होगा।
बातों के आशय को समझो...।।2।।

वाद-विवाद के बढ़ जाने से, बहुत अनर्थ हो जाता है,
क्रोधाग्नि के बुझ जाने से, पीछे वह पछताता है।
शान्त-प्रशान्त गर बने रहे तो, भावों में नहीं घर्षण होगा।
बातों के आशय को समझो...।।3।।

-जनता साड़ी सेन्टर, फरिश्ता काम्पलेक्स, स्टेशन रोड़, दुर्ग (छग.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 437
ISSN 2249-2011

जैनधर्म की जीवनशैली : दो उदाहरण

श्री कन्नू जैन

अपनी बात की शुरुआत मैं एक वास्तविक दृष्टान्त के साथ करना चाहूँगा जो कि मेरे स्मृति-पटल पर बार-बार उभरता रहता है। अभी हाल ही में मैं एक परीक्षा देने गया और वहाँ एक अभ्यर्थी सुरेश भाई से परीक्षा केन्द्र पर मुलाकात हुई जो कि गुलाबपुरा-विजयनगर, भीलवाड़ा से परीक्षा देने के लिए आया था। जिस किसी के पास मोबाइल, स्मार्टवॉच आदि ऐसा कोई भी गैजेट था वह सब परीक्षा हॉल में प्रवेश के पहले ही जमा कर लिया गया था।

परीक्षा दो पारियों में थी। पहली सुबह के समय में तथा दूसरी दोपहर बाद। जो सज्जन इन गैजेट्स को जमा कर रहे थे, उन्होंने जमा करते समय सभी को आगाह कर दिया था कि ये सब आपको अब पूर्ण परीक्षा (दोपहर बाद) होने के बाद ही मिलेंगे। जब पहली पारी का पेपर समाप्त हुआ तब वहाँ पाँच-सात अभ्यर्थी अपने जमा गैजेट्स, सामान आदि की माँग करने लगे। ऐसा करने पर उन सज्जन ने वह सब देने से मना कर दिया, लेकिन वे सभी अपनी माँग पर ही अड़े हुए थे। बार-बार जमाकर्त्ता के समझाने पर भी वे सब नहीं मान रहे थे और संगठित होकर शोर करने लगे।

माहौल गरमाने लगा। वहीं पास में मैं और परीक्षार्थी मित्र सुरेश भी खड़े हुए थे और यह सब देख रहे थे। तभी बीच में ही मित्र सुरेश एक सज्जन से बोले-''भाई क्यों हंगामा कर रहे हो, यहाँ ये सब सामान जमा करते समय इन भाई साहब ने पहले ही कहा था कि ये सब आपको पूर्ण परीक्षा समाप्त होने के बाद ही मिलेगा, बीच में नहीं। तो क्यों आप अपना समय और दिमाग दोनों खराब कर रहे हो? थोड़े से समय का ही तो अन्तराल है दूसरा पेपर भी शुरु हो जाएगा, तब आप अपना सामान ले लेना।'' जब मित्र सुरेश ने ऐसा कहा तो मैं यह सब देख रहा था। मैं ये सब सुनकर आश्चर्य करने लगा कि आज भी ऐसे युवा हैं जो इन वस्तुओं (मोबाइल, स्मार्टवॉच आदि) से दूर रहते हैं।

मैं और वह मित्र हम आपस में बातचीत करने लगे, मित्रता थोड़ी और बढ़ गई। उन्होंने अपने परिवार के बारे में कुछ बातें बताई साथ ही मुझसे भी परिचय किया। मैंने जब अपना परिचय दिया और उसको पता लगा कि मैं जैन हूँ तो उस सज्जन के हाव-भाव देखने लायक थे। मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने हमारे जैन धर्म के बारे में जो व्याख्या की वह उन्हीं के शब्दों में-

''जैन साहब आपको तो पता ही होगा कि गुलाबपुरा-विजयनगर एक जैनों की नगरी है। वहाँ के लोग बहुत ही सज्जन हैं। हम कोई भी वस्तु लेने जाते हैं तो हम आप ही के समाज के लोगों से खरीदते हैं। जैन समाज के लोग बहुत ही ईमानदार होते हैं। आप लोग भले ही कम खा लोगे, लेकिन अपना धर्म नहीं छोड़ते। मैं एक निजी विद्यालय में पढ़ाता हूँ। वहाँ पर मेरे कुछ विद्यार्थी जैन हैं जो मुझसे पढ़ने के लिए आते हैं। मैं उनसे पूछता हूँ कि आप लोग रात में खाना क्यों नहीं खाते हो, सूर्यास्त से पहले ही क्यों खाते हो? तब वे विद्यार्थी मुझे जीव हिंसा का बोलते हैं कि रात में खाना खाने से जीव हिंसा होती है और दिन में खाने से नहीं।

जैन साहब जहाँ आप केवल रात्रिभोजन करने में ही जीव हिंसा मानते हो तो आपका धर्म और समाज वास्तव में महान् है। आपका और आपके

धर्म का ध्येय हमेशा यही रहता है कि आपकी वजह से कभी भी कोई परेशान न हो। कभी-कभी तो मुझे ऐसा लगता है कि मैं जैन क्यों नहीं हूँ, क्योंकि आपकी सारी चर्याएँ मुझे अच्छी लगती हैं चाहे आपके स्थानक भवन हों, जैन उपाश्रय हों, आपके जैन मन्दिर या फिर आपके जैन सन्त-सती। इतना ही नहीं आप लोगों के पास खूब पैसा है और आप पैसे को कभी भी लालच की भावना से नहीं देखते हो। मुझे लगता है कि आज कम से कम देश का एक तिहाई धन जो दान में जाता है वह आपके जैन समाज का ही सहयोग है। अधिकतर 'टैक्स पेअर' (करदाता) भी आप ही के समाज के लोग होते हैं अर्थात् देश की इकोनॉमी को बढ़ाने में आपके समाज का बहुत बड़ा योगदान है और ये सब आपकी मेहनत और ईमानदारी से ही होता है। मैं जाति से एक जाट हूँ, लेकिन कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि मैं जैन होता तो कितना बढ़िया होता, क्योंकि हमारे समाज में ऐसी सभ्यता-संस्कृति वाली बात नहीं है। हमारे समाज में कोई किसी की परवाह नहीं करता, सब एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते हैं। आपके समाज के लोग बहुत ही विनम्रता के साथ बातें करते हैं, सबको उदारता के भाव से देखते हैं। हमको ऐसी अच्छी बातें सिखाने वाला कोई नहीं है। मैं एक किसान के परिवार से हूँ, जाति से जाट हूँ। मेरे सारे मित्र वहाँ मुझसे बोलते हैं कि भाई तू जाट का लड़का बिल्कुल नहीं लगता। मेरे अन्दर परिवर्तित व्यवहार में आपके धर्म और समाज के लोगों का सहयोग रहा हुआ है। उसका कारण आपके धर्म के थोड़े बहुत अनुसरण का ही परिणाम है। आपका जैनधर्म वास्तव में महान् है।'' इतना ही नहीं वह तीर्थंकर भगवन्तों के बारे में भी मुझसे चर्चा करने लगे। यह दृष्टान्त अपने आप में जैनधर्म की कई विशेषताओं को उजागर करता है अर्थात् न सिर्फ जैन समाज, बल्कि अन्य समाज भी हमारे जैनधर्म के कार्यकलापों, हमारी संस्कृति के बारे में जानते हैं और कहीं न कहीं उसका अनुसरण भी करते हैं। यह वास्तव में हमारे धर्म की सबसे बड़ी उपलब्धि है। लेकिन न जाने आज हमारा समाज, जिसमें मुख्यत: हमारी युवा पीढ़ी कहाँ जा रही है? वह शायद कहने के ही जैन रह गए हैं। **बढ़ती उम्र गिरने और सम्भलने दोनों का मौका देती है। यह हमारी पसन्द (Choice) है कि हम किस राह पर जाएँ। आज हमारी युवा पीढ़ी व्यसन, नशा, लड़ाई-झगड़े और न जाने ऐसी ही कितनी कुप्रवृत्तियों की ओर बढ़ रही है जो न सिर्फ शरीर, परिवार आदि को खराब करती है हमारे जैन समाज पर भी एक भद्दा कलंक लगा देती है।** आज सबसे ज्यादा हमारी युवा पीढ़ी को सम्भलने और समझने की जरूरत है। अब मैं अपनी बात पर आता हूँ।

ये सब बातें मैं सुन रहा था और अन्दर से बहुत ही प्रसन्नता हो रही थी कि मैं बहुत सौभाग्यशाली हूँ कि मैंने जैन कुल में जन्म पाया है, मैंने एक ऐसे कुल में जन्म पाया है जिसकी विशेषताएँ मुझे अन्य समाज के लोगों से सुनने को मिलती हैं। वास्तव में मेरे लिए वह पल अपने धर्म और समाज के कार्यों पर गर्व करने लायक था। लेकिन आज के समय को देखकर, अपने समाज के लोगों के कार्यकलापों को देखकर अन्दर ही अन्दर बहुत दु:ख होता है। क्या हम भगवान महावीर के सन्देशों, सिद्धान्तों को भूल गये हैं, क्यों हम अपने धर्म के अनुरूप आचरण नहीं कर पा रहे हैं? इसका कारण क्या है और क्या समाधान हो सकता है? इन सभी प्रश्नों के कारण हम स्वयं ही हैं और समाधान भी हमारे स्वयं के पास ही है, आवश्यकता है तो सिर्फ अपने धर्म को, अपने जिनशासन को, और स्वयं को पहचानने की।

क्या हमने कभी सोचा है कि हमें विशेष क्यों कहा जाता है? हमारे धर्म में, साधारण 'जन' शब्द

से दो मात्राएँ अधिक हैं अर्थात् 'जैन।' सामान्य सी भाषा में कहें तो जो साधारण जीवन जीये वह 'जन' है तथा जो विशेष प्रकार का, सबसे अलग और स्वच्छ जीवन जीये वह 'जैन' है। यह केवल एक शब्द ही नहीं इस शब्द की व्याख्या करें और गहराई से समझें तो शायद पूर्ण न हो सके, लेकिन हाँ मुझे इतना जरूर पता है कि हम सब विशेष हैं। फिर भी न जाने आज हमारे समाज को क्या हो गया है, किस दिशा में जा रहा है। आज हम सब वह सब कार्य करते हैं जिसे हमारे धर्म के अनुरूप करना निषिद्ध है। चाहे वह व्यसन हो, चाहे वह सामान्य कार्य हो। आज अगर हम अपनी तुलना अन्य व्यक्ति से करें तो मुझे नहीं लगता कि शायद ही कोई भिन्नता होगी। उसका कारण हमारे क्रियाकलाप हैं। भगवान महावीर ने जो-जो बातें हमको अपने सिद्धान्तों एवं सन्देशों के माध्यम से बतलाई हैं उनमें से शायद ही हममें से कोई व्यक्ति किसी नियम का अपनी ईमानदारी से पालन करता होगा।

वर्णित दृष्टान्त में देखा कि मित्र सुरेश की भावना जैन बनने की रही। इतना ही नहीं वह जैन न होते हुए भी जैनधर्म के कुछ नियमों का पालन भी करते हैं। उन्होंने अपने वक्तव्य में मुझसे यह भी कहा कि मैं कभी-कभी दिन से ही खाना खा लेता हूँ। कभी-कभी आपके सन्त-सतियों के दर्शन के लिए भी जाता हूँ। मैं किसी भी व्यसन का सेवन नहीं करता। उस मित्र की बातें सुनकर ऐसा लग रहा था कि मैं एक जाट से नहीं, बल्कि अपने समाज के ही लड़के के साथ बातें कर रहा हूँ। उस मित्र की बताई हुई हर बात दिल को छू रही थी, लेकिन साथ ही दु:ख भी हो रहा था कि एक अजैन इतनी अच्छी भावना भा रहा है और आज हम जैन होते हुए भी अपने धर्म के मर्म को अच्छे से नहीं समझ पा रहे हैं और न ही अपने धर्म के अनुरूप कार्यों की पालना कर पा रहे हैं। ऐसा इसीलिए कहा जा रहा है, क्योंकि मित्र सुरेश ने एक ऐसी बात भी बताई जिससे हृदय को आघात पहुँचा। वह एक स्थान बता रहे थे जहाँ जैन समाज के ही लोग अपने घर में जन्म ली हुई बेटी को मारने का प्रयास करते हैं अर्थात् बेटी के जन्म को वहाँ अच्छा नहीं मानते। मैंने यह बात सुनकर इसका खण्डन किया, लेकिन वह मित्र पूरी तरह विश्वस्त था तो मुझे भी यह बात माननी पड़ी। यदि आज भी ऐसा अपने समाज में, अरे अपने समाज में क्या देश में कहीं ऐसा होता है तो यह हमारे लिए बहुत ही शर्म की बात है जहाँ बेटी के जन्म लेने को एक शाप की तरह जाना जाता है। यह प्रथा अगर आज भी हमारे धर्म में चल रही है तो वास्तव में यह तो बहुत ही बड़ी विडम्बना है। अरे आज तो जिस घर में देखो, जिस क्षेत्र में देखो चाहे वह शिक्षा का हो, या व्यवसाय का, खेल हो या कोई अन्य क्षेत्र वहाँ बेटियाँ अव्वल आ रही हैं और अपने माता-पिता का नाम रोशन करने के साथ-साथ अपने धर्म एवं देश का भी मान बढ़ा रही हैं। अभी हाल ही की बात ले लें-शिवांगी सिंह देश की एकमात्र महिला पायलट बनीं है जिनको फायटर प्लेन रॉफेल विमान को उड़ाने का गौरव हासिल हुआ, अभी हाल ही में मात्र 19 वर्ष की एक लड़की जो कि गंगानगर, राजस्थान की ही रहने वाली है, वह सबसे कम उम्र की महिला विमान पायलट बनी हैं, हाल ही में लेफ्टिनेण्ट शिवांगी सिंह, लेफ्टिनेण्ट शुभांगी स्वरूप, लेफ्टिनेण्ट दिव्या शर्मा इन तीनों ही महिला पायलटों को हमारी नौ सेना ने एक भारतीय डोर्नियर विमान की जिम्मेदारी सौंपी है और ये तीनों ही एक गरीब परिवार से सम्बन्ध रखती हैं। यह वास्तव में एक गौरवशाली अनुभव है। ऐसे हमारे सामने कई उदाहरण आ जाएँगे जहाँ बेटियाँ खूब आगे बढ़ी हैं, और बढ़ रहीं हैं। लेकिन आज जब ऐसी घटनाएँ सुनने में आती हैं

तो बहुत दु:ख होता है कि हमारा समाज कहाँ जा रहा है। ये घटनाएँ बहुत ही निन्दनीय और शर्मनाक हैं। क्या हम वास्तव में अपने धर्म को भूल गये हैं या फिर मात्र कहने के ही जैन रह गये हैं? हम सब अपनी आत्मा से पृच्छा करें कि क्या यह सब कार्य हमको शोभा देता है जो कि बहुत ही निन्दनीय है। यदि हमारी दृष्टि, विचार, व्यवहारादि सही हैं तो हमारे मन में ऐसे गलत कार्य करने का विचार कभी आयेगा ही नहीं और इसके लिए हमारी जीवनशैली में परिवर्तन होना आवश्यक है।

इन दृष्टान्तों की चर्चा करने का आशय केवल इतना ही था कि हम अपने जीवन में परिवर्तन लाएँ और अपने जीवन में परिवर्तन लाने के लिए जैन जीवनशैली को अपनाना एक सार्थक उपाय सिद्ध होगा। जैन जीवनशैली को यदि पूर्ण मनोयोग से हम अपने जीवन में लायें तो ऐसे कोई भी गलत कार्य करने का भाव हमारे मन में कभी नहीं आयेगा और हम एक उच्च कोटि का जीवन जी पायेंगे। अपनी जैन जीवनशैली को कैसे जीया जाए, इसका एक और सत्य घटना पर आधारित दृष्टान्त याद आता है।

निकिता नाम की एक लड़की जो कि दुर्ग, छत्तीसगढ़ की है। उनका सारा बचपन खूब मौज-मस्ती, पढ़ाई-लिखाई, घूमना-फिरना इत्यादि कार्यकलापों में बीता। लड़कों के साथ रेस (Bike Race) करना, निशानेबाजी, खाने की प्रतियोगिता (Food Competition) सभी में वह प्रथम स्थान पर आती थी। रात्रि भोजन करती थी। हालाँकि घर पर जमींकन्द आदि का सेवन नहीं होता था, लेकिन बाहर वह इन सभी चीजों का सेवन करती थी। स्कूली शिक्षा के बाद वह कॉलेज की शिक्षा पर आई। उन्होंने कॉलेज स्तर पर विज्ञान विषय (Biology, Zoology, Botany, Computer) लिया। ये सारे विषय ऐसे हैं जिसमें प्रयोग (Practical) होते हैं तो न जाने कितने जीवों की हिंसा होती है, घात होती है। वह भी प्रयोगशाला में कॉक्रोच, मेंढ़क आदि की घात करती थी। ऐसा करना अब एक नियमित जीवनशैली में आ गया था। ऐसे ही एक बार अपने विषय (Subject) का प्रयोग (Practical) चल रहा था, जिसमें माइक्रोस्कोप (Microscope) से सूक्ष्म वस्तुओं को देखा जाता है। जब उनकी बारी आई तो उनका आलू, प्याज, आदि के छिलके को वह माइक्रोस्कोप (Microscope) से देख रही थी तो पाया कि प्याज, आलू इनके एक छिलके पर ही सुई की नोंक के बराबर जितने कई जीव वहाँ मौजूद थे। वह आश्चर्यचकित हो गई। विश्वास नहीं हुआ, दूसरा छिलका लिया और सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखा तो उस पर भी ऐसे ही कई जीव पाये। अब उनके हृदय में बहुत गहरा धक्का लगा कि एक छिलके पर इतने सारे जीव मौजूद हैं तो न जाने ऐसे कितने जीवों की हम घात करते हैं। अब उन्होंने जमींकन्द का त्याग, रात्रिभोजन-त्याग, च्युइंगम का त्याग आजीवन ग्रहण कर लिया और सात्त्विक जीवन जीने लगीं। इतना ही नहीं उसके मन में अब दीक्षित होने के भाव आ गए। लेकिन उम्र 18 होने पर उनके विवाह की तैयारी होने लगीं। लड़के देखने आने लगे। कई लड़कों को उसने विवाह के लिए मना (Reject) कर दिया और जिस लड़के को वह पसन्द आती तो वह उसे अपनी सारी सच्चाई बता देती कि मुझे दीक्षा ग्रहण करनी है, प्लीज आप विवाह के लिए मना कर दीजिए। उसने कई लड़कों को विवाह के लिए मना कर दिया। चिन्ता में आकर उनके पिताजी को ब्रेन ट्यूमर हो गया। इतने में उसकी बड़ी बहन ने कहा कि यदि पापा को कुछ हो गया तो इसकी जिम्मेदार तू होगी। अब उसके सामने मुसीबत खड़ी हो गई। वह विवाह करे या दीक्षा ग्रहण करे। लेकिन

उसके मन में तो बस एक ही धुन सवार थी, कि मुझे दीक्षित होना है चाहे कैसे भी हो। अन्त में एक लड़का देखने आया तो उसने उससे कहा कि मैं ब्रह्मचर्य का पालन करूँगी, इसीलिए आप मुझसे सोच-समझकर ही विवाह करना। लड़के ने सोचा कि अभी ऐसे ही कह रही है बाद में सब समझ में आ जाएगी और सब ठीक हो जाएगा। दोनों का विवाह हुआ। विवाह होने के बाद एक वर्ष बीता, दो वर्ष बीते और देखते ही देखते लगभग दस वर्ष बीत गए और उनका ब्रह्मचर्य का पालन यथावत् चल रहा था। तभी दोनों के बीच सहमति बनी और उसके पति ने खुशी-खुशी तलाक देकर दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति दे दी। मेरे हिसाब से यह इतिहास की पहली घटना होगी जिसमें दोनों परिवार (ससुराल और मायका) की तरम से खुशी-खुशी तलाक की सहमति बनी और उस लड़की को दीक्षा की अनुमति दी गई। वह लड़की अब बहुत खुश हुई, क्योंकि जो सपना देखा था वह अब पूर्ण होने जा रहा था। उसने विवाह होने के 10 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पूर्णत: पालन किया। वास्तव में यह भी एक आश्चर्यचकित करने वाली घटना थी। एक अडिग और अदम्य साहस, नियम के प्रति दृढ़ता और अपने शुद्ध भाव को लेकर वह अपने जिनशासन में आगे बढ़ने के लिए निकल पड़ी। **नाम सुश्री निकिता जिन्होंने फरवरी 2019 में दीक्षा ग्रहण की अभी वर्तमान में नूतन श्री जी म.सा.।** वास्तव में यह जैन समाज के लिए और हर एक व्यक्ति के लिए अपने जैनधर्म में दृढ़ता और नियमों के प्रति शुद्ध भाव रखते हुए दृढ़ बने रहने के लिए एक सबसे बड़ी मिशाल है। विशेषत: हम युवा पीढ़ी के लिए जो ये कहते हैं कि हमसे यह नियम नहीं होता, हमसे वह नियम नहीं होता। **अगर हमारे जीवन में, हमारी जीवनशैली में दृढ़ता हो तो कोई भी ऐसा नियम नहीं, जिसका हम शुद्धता और दृढ़ता से पालन न कर सकें।** बस आवश्यकता है तो उस पर अडिग रहने की।

जो लड़की खूब मौज-मस्ती में रहती थी आज उसके जीवन में इतना बड़ा परिवर्तन, यह केवल और केवल जैनधर्म की शिक्षाओं से प्रेरित होकर और अपने मन को दृढ़ निश्चयी बनाकर ही हुआ। इसलिए तो मैंने पहले ही कह दिया था कि जैनधर्म विशेष है। अपने धर्म की विशेष कलाकृति को हम समझें और जितना हो सके उतना हम उसका अनुसरण करें। इसके लिए हम कुछ छोटे-छोटे नियम कर सकते हैं, जब भी हमें समय मिले तब हम सन्त-सतियों के दर्शन-वन्दन का लाभ लेवें एवं धर्म-चर्चा करें जिससे कि हमें अपने जैनधर्म के बारे में कुछ मालूम हो। आज हम ज्ञान-ध्यान तो सीख लेते हैं, लेकिन उसको अपने आचरण में नहीं ला पाते। हमारे सन्त-सतियाँ भी हमें अच्छी-अच्छी बातों को आचरण में लाने के लिए बोलते हैं। जैन जीवनशैली केवल ज्ञान-ध्यान की बातें सुनने से ही नहीं, बल्कि उन बातों का अपने जीवन में आचरण करने से झलकती है। लेकिन ऐसा लगता है कि अभी शायद हम ऐसा करने से कोसों दूर हैं। हम स्वयं अच्छा कार्य करें और दूसरों को भी ऐसा करने के लिए प्रेरित करें। अगर हम ऐसा करेंगे तो न सिर्फ अपने धर्म का मान बढ़ेगा, बल्कि एक शृङ्खला निर्मित हो जाएगी और धीरे-धीरे सभी के आचरण-व्यवहार में, रहन-सहन में, कार्यकलापों में बदलाव आएगा और जीवन खुशहाल होगा। कुछ दो पंक्तियों के माध्यम से-

"गर्व हमें हम जैन हैं, सार्थक करें जीवन को।
दया-क्षमा का भाव रहे नित, दूर करें सब दोषों को।।
श्रद्धा रखें हम जिनवचनों पर, न करें किसी की निन्दा।
नवकार मन्त्र और गुरु भगवन्तों से प्राप्त करें हम शिक्षा।।"

-सुपुत्र श्री सतीश जैन, पुरानी अनाज मण्डी, वार्ड नं. 10, मु.पो. वैर-321408, तह.-वैर, जिला-भरतपुर (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 442
ISSN 2249-2011

जीवन-निर्माण की शैली

डॉ. रमेश 'मयंक'

जैन जीवनशैली ने,
'अहिंसा' को उत्कृष्ट धर्म का
सम्मान दिया,
जिओ और जीने दो का पाठ पढ़ाया।
लाभ-शुभ के माध्यम से
जीवन-निर्वाह और जीवन-निर्माण का
मर्म समझाया।।

जैन जीवनशैली दर्शाती,
व्यक्तिगत जीवन को ऊँचा उठाएँ,
अपना जीवन सुधारने के लिए,
विश्व कल्याण का मार्ग अपनाएँ।
कर्मों को काटने के लिए,
पुरुषार्थ को जीवन का अङ्ग बनाएँ।।

आज के दौर में लाभार्थी,
अध्ययन को अध्याय में ग्रहण करता,
कला, शिल्प, जीवन निर्वहन की
शिक्षा को अपनाता,
भरण-पोषण सुगम हो जाता।।
मानव कर सकता धन अर्जन,
पाकर सुविधामय जीवन।
बन सकता सम्पन्न, जीवन होता समृद्धिशाली।
परन्तु, जीवन निर्माण की दृष्टि से,
क्या नहीं रह जाता खाली...?

जैन जीवनशैली समझाती,
मिलनी चाहिए वह शिक्षा-दीक्षा,
जो कर सके जीवन का निर्माण,
मानवता का विकास।
सदाचारी बनकर,
समाज को सदाचार के साँचे में
ढाल सकने का विश्वास दिलाएँ,
निर्माण की राह दिखाएँ, निर्वाण तक ले जाएँ।

जैन जीवनशैली,
सद्गुणों का करती आराधन,
स्व व पर कल्याण का
शिक्षा दर्शन, सर्व मंगल का स्तवन।
दया-करुणा, तप-संयम,
दिमाग व दिल को बड़ा बनाते,
जीवन में शुष्कता को नहीं पनपने देते।
हरियाली-खुशहाली का करते संचार,
भवसागर कर सकते पार।।

जीवन की इस शैली में, स्वाध्याय का अर्थ,
अच्छे ज्ञान को,
मर्यादापूर्वक ग्रहण करना होता है।
जो जैसा बोएगा, वैसी ही फसल काटेगा,
'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की सोच,
मुक्ति का आलोक फैलाएगी।
प्रत्येक व्यक्ति सामर्थ्य,
तेज और शक्ति को,
पहचान पाएगा, चेतना जगाएगा।।
सद्गुरु सदैव ही
पथ प्रदर्शक, प्रेरक सहायक संरक्षक बनकर,
बाहर के जगत् में मन को भटकाने वाली
प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करेंगे।
और महावीर के उपदेश
आत्म-शुद्धि का पथ प्रशस्त करेंगे।।

-बी-8, मीरा नगर, चित्तौड़गढ-312001 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 443
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली और विश्व-शान्ति

श्री श्रीचन्द जैन

विश्व में शान्ति स्थापित हो, ऐसा हम सब ही चाहते हैं, किन्तु आज विश्व के अनेक देशों में अशान्ति है। पूर्व में हम दोनों विश्व युद्धों, अरब-इजराइल, इराक-ईरान, भारत-चीन, भारत-पाकिस्तान के युद्धों के गम्भीर परिणाम देख चुके हैं। उसके बावजूद आज अनेक देश अणु, परमाणु बम, विनाशकारी आयुधों, रॉकेट, मिसाइल के उपयोग के लिये तैयार खड़े हैं, जिससे सम्पूर्ण मानव जाति का विनाश भी सम्भव है। अलकायदा और आई.एस.आई.एस. जैसे उग्रवादी, आतंकी संगठनों ने अनेक देशों में आतंकवाद फैला रखा है जिसके दुष्परिणाम हम देख चुके हैं।

मनुष्य आज धन दौलत की प्राप्ति के लिए अवैध तरीके अपनाकर परिग्रही एवं अनैतिक होता जा रहा है। अवैध तरीके से कमाये गये धन सञ्चय की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, मनुष्य में प्रेम भाव का अभाव होता जा रहा है। मनुष्य की मनुष्य के प्रति नफ़रत की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। अनेक बुराइयों की ओर मानव बढ़ता जा रहा है। यही सब विश्व अशान्ति के कारण हैं।

विश्व अशान्ति के उपर्युक्त कारण होते हुए भी आज मानव शान्ति की तलाश में भटक रहा है। विश्व में शान्ति कायम करने, व्यापक रूप से फैले हुए आतंकवाद को समाप्त करने, मानवमात्र को सुख, शान्ति, भाईचारे, प्रेम-भाव स्थापित करने में जैनधर्म के सिद्धान्त तथा जैन जीवनशैली बहुत सहायक हो सकती हैं। जैनधर्म के पालन हेतु जाति, सम्प्रदाय, देश आदि का प्रतिबन्ध नहीं है। जैनधर्म वैज्ञानिक धर्म है। जैनधर्म के सिद्धान्तों से विश्व की अनेक बड़ी समस्याओं का अन्त हो सकता है। मेरी अपनी यह मान्यता है, और मेरी ही क्या जैनधर्म के सभी अनुयायियों की यह धारणा है कि यदि जैनधर्म के सिद्धान्तों की पालना, जैन जीवन शैली से रहना सभी देशों में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा अपनाया जाए, तो हमारे देश भारत वर्ष में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व में अनेक मुख्य समस्याओं का अन्त हो सकता है। विचारों में अहिंसा, चिन्तन में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह के द्वारा लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्तों में से निम्न तीन सिद्धान्तों की विवेचना की जा रही है-1. अहिंसा, 2. अपरिग्रह, 3. अनेकान्तवाद।

एक-एक सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना से स्पष्ट है कि उनकी पालना करने से स्वत: ही विश्व में फैली हुई अशान्ति, विश्व शान्ति में परिवर्तित हो सकती है।

1. अहिंसा-जैनधर्म में अहिंसा का सिद्धान्त सर्वोपरि है। मनुष्य ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र की हिंसा को भी जैनधर्म में महापाप की संज्ञा दी गई है। किसी प्राणी की हिंसा के बारे में सोचना भी हिंसा माना गया है। वास्तविक हिंसा ही नहीं, अपितु हिंसात्मक विचारों के मन में आने को भी जैनधर्म में हिंसा माना है। **'जीओ और जीने दो'** के सिद्धान्त को जैनधर्म में प्रमुखता दी गई है।

विश्व में आज मानव-मानव का दुश्मन हो रहा है। मानववध, हत्याएँ, पशुवध, मनुष्य के प्रति अन्य जघन्य अपराध बढ़ते जा रहे हैं। अनेक स्थानों पर आतंकवाद चरम सीमा पर है, जिसमें आये दिन निरपराध बच्चों, स्त्रियों, पुरुषों का जघन्य तरीकों से वध किया जा रहा है। जिससे हमारा देश भारतवर्ष भी अछूता नहीं रहा है। बड़ा ही दु:ख होता है, जब यह सोचते हैं कि ऋषि, मुनियों के इस धर्म में पूर्ण आस्था

रखने वाले देश में भी यह सब कुछ हो रहा है, यह सब क्यों हो रहा है? यह सब कैसे समाप्त होगा? इस पर हम सभी को विचार करना होगा। इन सबकी समाप्ति का सबसे अच्छा तरीका है, अहिंसा महाव्रत का हम सब कठोरता से पालन करें। सम्पूर्ण मानव जाति अहिंसा के सिद्धान्त को ग्रहण करें, तो अनेक देशों की आपसी दुश्मनी तथा आतंकवाद की समाप्ति हो सकेगी।

2. अपरिग्रह–जैनधर्म में अपरिग्रह का महत्त्व है। मनुष्य को उतना ही धन सञ्चय करना चाहिये जितना उसके जीवनयापन के लिए आवश्यक हो। किन्तु हमने आवश्यकताओं को व्यापक बना रखा है। यह तो सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ अलग-अलग हों। किन्तु जैनधर्म यह कहता है कि संयमी एवं सादा जीवन के लिए जो आवश्यकताएँ जैसे मकान, बच्चों के लिए अच्छी एवं उच्च शिक्षा, अच्छा सादगी पूर्ण खाना-पीना, दान-पुण्य आदि के लिए सद्उद्यम से कमाकर धन प्राप्त करना चाहिये। संसार का यदि प्रत्येक मनुष्य इसी प्रकार धन कमाये और जीवन यापन करे, तो आज जो धन-प्राप्ति की लालसा पैदा हो गई है वह समाप्त हो सकती है। आज अवैध साधनों एवं तरीकों से विश्व और हमारे देश में धन प्राप्त करने की होड़ मनुष्य में लगी हुई है। हम सब जानते हैं, हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार पनप रहा है, चाहे सरकारी कार्यालय हो, न्यायालय हो, औद्योगिक क्षेत्र हो, चाहे बैंक हों, यहाँ तक कि राजनीति क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार की जड़ें गहरी हो चुकी हैं। यह सब क्यों हो रहा है? इसका एक ही कारण है। आज प्रत्येक व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा धन कमाकर धनाढ्य बनना चाहता है। चाहे धन कमाने का साधन, तरीका कैसा भी हो, मनुष्य को मानसिक सन्तुष्टि बिल्कुल भी नहीं है। सभी की आज आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही हैं। प्रतिस्पर्धा पनप रही है। दूसरे के पास बंगला, फार्म हाउस, कार, सुख-सुविधा के सभी आधुनिक साधन हैं तो मेरे पास भी ये सभी होने चाहिये। हम अपने से कम स्तर वाले व्यक्ति की ओर नहीं देखते। उसको देखकर अगर हम सन्तुष्ट हो जायें तो हमें मानसिक सन्तुष्टि मिल सकती है।

मैं यह कहने में बिल्कुल भी संकोच नहीं करूँगा कि आज जैनधर्म के मतावलम्बियों में परिग्रह की प्रवृत्ति ज्यादा पनपती जा रही है। हम जैनधर्म को मानने वाले भी अपरिग्रह की अवहेलना कर रहे हैं, जो हमारे लिये अच्छी बात नहीं है। अगर अपरिग्रह के सिद्धान्त की कठोरता से पालना की जाए तो आर्थिक अपराध, भ्रष्टाचार, धन-प्राप्ति के अवैध व्यापार स्वतः ही समाप्त हो सकेंगे।

3. अनेकान्तवाद–एक-दूसरे के धर्म को आदर पूर्वक समझने की भावना दूर होती जा रही है। अलग-अलग धर्मों की बात तो दूर, एक ही धर्म और परम्पराओं को मानने वाले आपस में द्वेष एवं वैमनस्य रखते हैं। अनेकान्तवाद की जगह अपना ही वाद सर्वोच्च है, के सिद्धान्त ने स्थान ले लिया है। समाज में विघटन, तनाव तथा वैर-भाव बढ़ रहे हैं। धर्म, सम्प्रदाय, जाति और मज़हब के नाम पर गली-मोहल्लों में हमेशा साथ रहने वाले, एक-दूसरे के दुःख-दर्द में काम आने वाले पड़ोसियों द्वारा पड़ोसी की हत्या तक की जा रही है। ऋषि-मुनियों के देश भारत में यह सब देखकर बड़ा ही दुःख होता है। अगर अनेकान्तवाद के सिद्धान्त की पालना की जाए तो इस प्रकार की हिंसा, झगड़े, आदि स्वतः ही समाप्त हो सकते हैं।

इस प्रकार जैनधर्म के उपर्युक्त सिद्धान्तों एवं जैन जीवनशैली की कठोरता से पालना की जाए, तो भारत एवं विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है।

-सहायक निदेशक अभियोजन (रिटा.),
पूर्व राष्ट्रीय महामन्त्री-अ.भा. पल्लीवाल जैन महासभा, 110, अशोक विहार विस्तार, गोपालपुरा बाईपास, जयपुर (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 445
ISSN 2249-2011

जैनधर्म में तप की शैली

श्रीमती सुनीता मेहता

आत्मा के अनादिकालीन संस्कारों के कारण संसारी प्राणियों का शरीर के साथ तादात्म्य भाव (अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध) हो गया है। उसी के कारण अज्ञानवश नाना पापकर्मों का बन्ध होता है, जिससे सारा संसार दुःखों से पीड़ित है। समस्त अज्ञानी जीव आधि, व्याधि-उपाधि से पीड़ित हैं। इस पीड़ा को दूर करने की अमोघ औषध के रूप में जैनदर्शन में भगवान महावीर ने तप को बताया है। जैन जीवनशैली के माध्यम से तप के द्वारा शरीर के साथ आत्मा के तादात्म्य सम्बन्ध को जोड़ने वाले कर्मों की निर्जरा करके इस सम्बन्ध को तोड़कर शरीर और आत्मा को अलग किया जा सकता है और आत्मा की विशुद्धि की जा सकती है।

जिस प्रकार शरीर की पुष्टि के लिए व्यायाम आवश्यक है, उसी प्रकार शरीर एवं मन को स्वस्थ बनाने के लिए तप आवश्यक है। जैन जीवनशैली में तप का विशेष महत्त्व है। इससे सहिष्णुता का विकास होता है, अपनी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न होता है। जैन जीवन-पद्धति में दो प्रकार के तप का वर्णन है-बाह्य तप एवं आभ्यन्तर तप। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश एवं प्रतिसंलीनता नामक छह बाह्य तप के द्वारा शरीर, इन्द्रिय एवं मन को नियन्त्रित किया जाता है तथा कषायों पर भी विजय प्राप्त की जाती है। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग नामक छह आभ्यन्तर तप के द्वारा आत्मदोषों का शोधन कर आत्मविशुद्धि प्राप्त की जाती है। ये दोनों बाह्य और आभ्यन्तर तप कर्मनिर्जरा के महान् साधन हैं। जैन जीवनशैली जीवन-निर्माण के साथ मानव जीवन को तप के द्वारा विकास एवं आत्मशुद्धि की ओर ले जाने वाली शैली है। किन्तु आज तप का बाहरी रूप अधिक दिखाई देता है। तपस्या का प्रदर्शन और आडम्बर जैन जीवनशैली की असली तस्वीर नहीं है। असली तस्वीर तो आत्मविशुद्धि में उसकी उपयोगिता से सिद्ध होती है। बारह प्रकार के तप को जैनधर्म के अनुसार समभावपूर्वक आचरित करके आरम्भ-विषय का त्याग करके व्यक्ति अपने लक्ष्य यानी मोक्ष के निकट पहुँच सकता है।

मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा उसी को होती है जो बन्धन में बँधा हो। भोजन की इच्छा उसी को होती है जो भूखा हो, पानी पीने की इच्छा उसी को होती है जो प्यासा हो, जिज्ञासा उसी के भीतर में होती है, जिसको उत्तर जानने की इच्छा हो। भगवान से पूछा गया कि इस बन्धन से मुक्ति का मार्ग क्या है? भगवान ने फरमाया कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप। तप को भले ही आखिरी स्थान मिला हो, पर बिना तपे कुछ नहीं मिलता। बिना तपे स्वर्ण कुन्दन नहीं बनता, बिना तपे रोटी भी नहीं बनती। जब दूध को तपाया जाता है, तभी मावा बनता है। **"No Pains No Gains"** जैनधर्म में प्रभु ने आत्मशुद्धि के लिए तप बताया है। तप के द्वारा कर्म का आंशिक रूप से क्षय किया जाता है। जैन दर्शन में साधक के लिए स्वाध्याय और तप अनिवार्य हैं, स्वाध्याय भी आन्तरिक तप है।

करे बिना कोई भी मानव महान् नहीं होता।
तपे बिना कोई भी मानव भगवान नहीं होता।।

तप का मूल भाव देह में रहते हुए उसमें आत्मबुद्धि का विसर्जन है। अहिंसा, संयम एवं तप यह धर्म की त्रिवेणी है, इससे यह सिद्ध होता है कि

तप के बिना अहिंसा व सत्य अधूरे हैं। तप ज्वाला भी है और ज्योति भी। ज्वाला इस अर्थ में कि मन के चिर सञ्चित विकारों को तप जलाकर भस्म कर डालता है और ज्योति इस अर्थ में कि तप अंतर्मन से अंधकार को नष्ट कर देता है और दिव्य प्रकाश जगमगा देता है। तप विग्रह नहीं अभिग्रह है, दमन नहीं, शमन है। तप भोजन-निरोध ही नहीं इच्छा-निरोध भी है। जैन जीवनशैली के अनुसार तप जीव को सौम्य, स्वच्छ, सात्त्विक एवं सर्वांगपूर्ण बनाने की दिव्य साधना है। यह एक ऐसी साधना है जिस पर आध्यात्मिक परिपूर्णता की सिद्धि मिलती है और अन्त में साधक जन्म-जरा-मरण के चक्र से निकलकर परमात्म पद पा लेता है।

तपस्या करने का सही स्वरूप

जैनदर्शन में तप का सूक्ष्म वर्णन है। जैनदर्शन आत्मशुद्धि के लिए तप करने की प्रेरणा देता है। तप करने में कोई सांसारिक इच्छा व कामना नहीं होती वरन् कर्म-निर्जरा हेतु तप किया जाता है। तप से पूर्व सञ्चित कर्म तपाये जाते हैं। तपस्या मात्र शरीर को तपाने के लिए नहीं वह तो इच्छा, कामना, विषय, कषाय को तपाने के लिए है। शरीर तपाना तो मात्र उसका माध्यम है। इच्छानिरोधस्तपः। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि इच्छाओं-वासनाओं का निरोध करना तप है। इच्छा-निरोध में शरीर की ममता घटती है। जब ममता, आसक्ति घटती है तब सही मायने में तप 'तप' है, वरना वह ताप है। तप में शरीर से भले ही मुरझा जाये, पर मन हर्षित होना चाहिए।

तपस्या में दोष के कारण

1. जैनदर्शन कहता है तप करने से पहले गरिष्ठ भोजन नहीं करें। यह नहीं सोचे कि दूसरे दिन मुझे उपवास करना है या बेला, तेला करना है तो पहले दिन में ज्यादा आहार कर लूँ, जिससे दूसरे दिन भूख नहीं लगे। क्योंकि तपस्या में शरीर के प्रति रही हुई आसक्ति एवं ममता को घटाना है।
2. **तपस्या कपट भाव से नहीं**-अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझने के चक्कर में तपस्या में कपट नहीं किया जाता है।
3. **इस लोक के सुख की कामना के लिए नहीं**-तपस्या करने से इस लोक में मेरा सम्मान, बहुमान होगा, सबके सामने प्रशंसा होगी, वाहवाही मिलेगी, जिससे सुख की प्राप्ति होगी। ऐसा सोचकर तपस्या नहीं की जाती।
4. **परलोक के सुख की कामना के लिए नहीं**-तपस्या करने से कर्मों की निर्जरा होगी, पुण्य का बँध होगा, अशुभ कर्मों का क्षय होगा, जिससे मुझे परलोक में देवता, इन्द्र के समान सुख मिलेगा। ऐसी कामना करके तपस्या नहीं की जाती। तपस्या करके कभी-कभी साधक निदान कर लेता है कि तप से मुझे अमुक प्रकार के फल की प्राप्ति हो तो वह अपनी तपस्या को कोड़ी के भाव बेच देता है, क्योंकि उसे फल की तो प्राप्ति हो जाती है, पर वह अपना संसार बढ़ा लेता है मोक्ष मञ्ज़िल से दूर हो जाता है, जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने चक्रवर्ती बनने का निदान किया और अन्ततः नरकगामी बना।
5. **बहुत काल तक जीवित रहने की आकांक्षा करना**-तपस्या करने से बहुत महिमा प्रशंसा होगी, सभी धन्यवाद देंगे और तपस्या की छवि अच्छी होगी, जलसा अच्छा होगा, इस भावना से बहुत काल तक जीवित रहने की इच्छा करना यह तपस्या का दूषण है।
6. **कष्ट होने पर शीघ्र मरने की इच्छा करना**-तपस्या करने से शरीर कमजोर हो गया, शरीर सूख गया, शिथिल हो गया, चलने-फिरने की स्थिति नहीं रही, कष्ट सहन नहीं होता ऐसा सोचकर शीघ्र मरने की इच्छा करना, यह भी तपस्या का दूषण है। जैनदर्शन तो मरण को भी महोत्सव के रूप में बताता है।

7. **कामभोग की अभिलाषा करना**–तपस्या करने से शरीर कान्तिमय होगा, सभी विकार नष्ट होंगे, कोई रोग नहीं रहेगा, यह सोचकर तप करना ताकि काम-भोग के साधन उपलब्ध हों और शरीर नीरोग रहने के कारण अधिक कामभोग का सेवन कर सकेंगे, यह सोच भी तप का दोष है।
8. **तपस्या प्रदर्शन तथा आडम्बर रहित होनी चाहिए**–जैन जीवनशैली में तप की क्रिया आत्मगुण को जगाने के लिए है। तपस्या में प्रदर्शन और आडम्बर नहीं होना चाहिए, एकान्त उत्साह और आनन्द होना चाहिए। प्रलोभन नहीं होना चाहिए। आज के समय में इसको धर्म प्रभावना समझा जा सकता है, पर यह सही नहीं है। तप तो आत्मा का कर्म मैल, विकार नष्ट करने के लिए की जाती है न कि प्रदर्शन और आडम्बर के लिए। तपस्या क्रोध, मान, माया, लोभ को कम करने के लिए की जानी चाहिए।

तप से लाभ

1. तप से शरीर की आसक्ति, ममत्व कम होता है। 2. प्रायश्चित्त तप से दोषों की शुद्धि होती है और दोष न लगाने की प्रवृत्ति पैदा होती है। 3. विनयतप से मदत्याग, अहंत्याग, नम्रता आदि गुणों का विकास होता है। 4. वैयावृत्त्य तप से सेवा भावना, सहयोग भावना और सहिष्णुता बढ़ती है। 5. स्वाध्याय तप से हिताहित बोध एवं तत्त्व बोध प्राप्त होता है एवं ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है। 6. ध्यान तप से मानसिक शान्ति एवं चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। 7. व्युत्सर्ग तप से शरीर, उपकरण आदि पर से ममता का त्याग होता है। 8. तप के द्वारा साधक अप्रमत्त हो जाता है और अप्रमत्त जीव पाप कर्मों से निवृत्त होकर पूर्वकृत कर्मों को क्षय करने की निरन्तर कोशिश करता है। 9. तप से स्वाद विजय, इन्द्रिय-निग्रह, सन्तोष भावना एवं स्वादिष्ट पदार्थों से विरक्ति होती है। 10. तप से कषाय विजय होती है। 11. तप से शरीर नीरोग रहता है, जिससे धर्म-साधना अच्छी तरह से होती है। 12. तप से शरीर में ऊर्जा का सञ्चार होता है, तन और मन की पीड़ाएँ शान्त होती हैं।

अतः तपस्या का उद्देश्य कर्म-निर्जरा होना चाहिए। तपस्या निष्काम होनी चाहिए। इसमें आरम्भ परिग्रह को कम करना चाहिए। मन, वचन, काय को संयमित रखना चाहिए।

विकृतियों एवं विकारों से बचकर तीन बातें– **स्मरण, स्वाध्याय और स्मृति** को लेकर तप में अगर हम आगे बढ़ेंगे तो यह तप हमारी आत्म-समाधि का कारण बनेगा, शान्ति और कल्याण का हेतु बनेगा, दूसरों की और विश्व की शान्ति एवं कल्याण का कारण बनेगा। अपनी प्रवृत्तियों को अशुभ से हटाकर शुभ में प्रवृत्त करना ही तप है। तप यश कीर्ति पाने के लिए या उत्कृष्ट वैभव के लिए नहीं है, केवल आत्मशुद्धि के लिए है। शरीर की आसक्ति को त्यागकर तप में आत्मस्थ बनकर प्रभु की उपासना में तल्लीन रहना ही उपयुक्त है। आत्मा को पूर्णतः विशुद्ध बनाने के लिए बाह्य तप के साथ अन्तरंग तप भी आवश्यक है। बाह्य तप के द्वारा विषय, कषाय, मिथ्यात्व, मोह, ममता का प्राचुर्य और प्राबल्य कम करना, उनकी उत्तेजना को शान्त करना और अन्ततोगत्वा आन्तरिक तप से उन विकारों को पूर्णतः समाप्त करना है, उन्हें पूर्णतः नष्ट कर आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को प्रकट करना है। कहा भी है करोड़ों भव के सञ्चित कर्म तप के द्वारा क्षीण और विलीन किये जा सकते हैं। जो तप कर्म, निर्जरा के लिए किया गया है, वही तप श्रेयस्कर है तभी सिद्धि तक आत्मा पहुँच सकती है।

-पूर्व अध्यक्ष, श्री जैन रत्न श्राविका मण्डल, जोधपुर
467-ए, 7 वीं 'ए' रोड़, सरदारपुरा,
जोधपुर-342003 (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 448
ISSN 2249-2011

जब आप विदेश यात्रा पर जाएँ

श्रीमती सुधा चौधरी

भारत में शाकाहार बहुत प्रचलन में है, पर जब भारतीय विदेश जाते हैं तो अवश्य सोचते हैं कि क्या मैं वहाँ शाकाहारी भोजन प्राप्त कर सकूँगा? मांसाहारी भी जब विदेश जाते हैं तो वे भी यह सोचकर परेशान रहते हैं कि वे स्वयं इतने अधिक मांस भोजी नहीं हैं या लगातार मांस का सेवन नहीं करते हैं या फिर कुछ खास किस्म के जानवरों के मांस को उन्होंने कभी नहीं खाया है जो विदेश में अधिक प्रचलित है। एक मांसाहारी हिन्दू सामान्य तौर पर गाय का मांस कभी भी नहीं खाता।

भोजन के अतिरिक्त उपहार को भी यहाँ शामिल किया जा रहा है।

उपहारों का आदान-प्रदान यह एक भारतीय संस्कृति का बड़ा प्यारा सा नियम है। हम भी जब विदेश में अपने किसी आत्मीयजन के पास जाते हैं तो अपनी संस्कृति का प्रतीक कोई विशेष उपहार ले जाना चाहते हैं जो हम अपने मेजबान को भेंट कर सकें। भारत हस्तकला की वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु दुर्भाग्य यह है कि, भारतीय हस्तकलाओं में बहुतायात हड्डी, खोल (सीप), चमड़ा, सिल्क का प्रयोग होता है। यहाँ विचाराधीन यह है कि यदि हम स्वयं प्राणि-वध से जुड़ी किसी वस्तु का प्रयोग नहीं करते हैं, तो उसको उपहार में कैसे दे सकते हैं? एक समय था जब हाथी-दाँत और चन्दन से तैयार शो-पीस बड़े गर्व के साथ अपने मित्रों को भेंट किए जाते थे। ऐसी अविवेकपूर्णता से खरीदा गया और दिया गया उपहार, वन्य जीवन का उपहास उड़ाता है। इस तरह के उपहारों को अब ले जाना प्रतिबन्धित कर दिया गया है।

B.W.C. के वर्षों के अथक प्रयासों से सरकार ने 1992 ईस्वी से भारतीय और अफ्रीकन हाथियों के हाथी दाँत के व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। उपहार, उपहार देने वाले की मानसिकता और उसके देश के सांस्कृतिक मूल्यों को व्यक्त करते हैं। मान लीजिए सिगार और शराब की बोतल का उपहार कोई देता है तो हम यह अनुमान लगाते हैं कि उनके देश में स्मोकिंग और शराब का सेवन बुरा नहीं समझा जाता है। इसी प्रकार **पशुओं से बना उपहार किसी को देते समय यह ही व्यक्त करेगा कि हम जीवन का सम्मान करना नहीं जानते या अहिंसा में हमारा विश्वास दृढ़ नहीं है।**

पहले भारतीय चर्म उद्योग की वस्तुएँ उपहार स्वरूप भेजी जाती थीं। यह सच है, किन्तु यह भी सच है कि वे वस्तुएँ स्वाभाविक मौत से मृत पशुओं के चर्म से बनती थीं। अब परिस्थितियाँ बिल्कुल भिन्न हैं, सारा चमड़ा बूचड़खाने की देन है। बस हमें वही उपहार देना है जो हमारी आचार-नीति से मेल खाता हो।

जब आप अन्तरराष्ट्रीय उड़ानों की यात्रा करें

1. टिकट कराने से पहले अपनी भोजन-सम्बन्धी जरूरतों के बारे में बताकर, स्पष्ट पता लगा लें कि शाकाहारी भोजन उपलब्ध होगा या नहीं। यह भी पता लगाएँ कि चीज (रेनेट से बनाया), अण्डा, जिलेटिन, मछली इनमें से किसी का भी मामूली अंश स्वीकृत नहीं है। फलभोजी (Vegans) लेने वाले भी, अपनी सीमाएँ बताकर जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
2. उड़ान के अड़तालीस घण्टे पूर्व अपने भोजन के बारे में टेलीफोन से एयरलाइन्स के ऑफिस से पता लगाना चाहिए। भोजन पकाने वालों को, जो भी भोजन के आदेश हैं यदि प्रथम बार में नहीं पहुँचे होंगे तो, बाद में मिल जाएँगे।
3. एयरपोर्ट पर पहुँचने के बाद भी अपने शाकाहारी या फलभोजी (Vegans) भोजन के बारे में पता लगा

सकते हैं। यदि किसी कारण से आप भोजन को प्राप्त नहीं कर पाएँ तो भी बेहतर होगा फल की प्लेट माँग लें या छोटे से लंचबॉक्स में दो-चार पूरी या पराठा रखकर यात्रा पर चलें और गर्व से शाकाहार ग्रहण करें।

भारतीय जो विदेश यात्रा पर जाते हैं उन्हें शुद्ध शाकाहारी भोजन या फलभोजी (Vegans) के लिए अब उतनी मुश्किलों का सामना नहीं करना पड़ता जितना पहले करना पड़ता था। लगभग विश्व के प्रत्येक देश में अब शाकाहारी भोजन लोकप्रिय है और ग्राहकों के लिए उपलब्ध है।

विदेश में किसी भी शाकाहारी नीति का अनुकरण करने वाले रेस्टोरेण्ट में भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वहाँ के स्थानीय नामों (डिश) से हम परिचित नहीं होते हैं, यदि जरा-सा भी उस भोजन को पकाने की विधि में असमंजस हो या सन्देह हो तो खाद्य सामग्री के शाकाहारीपन की पूछताछ से पुष्टि कर लें एवं सन्देहास्पद नाम वाली डिश का ऑर्डर देने से सदैव बचें।

विदेश में सदैव पूछें कि किस तेल या घी को भोजन पकाने में प्रयुक्त किया गया है। विदेश में भी तलने के लिए चर्बी, सूअर की चर्बी, मछली का तेल प्रयुक्त किया जाता है।

मार्गरीन-यह मक्खन का विकल्प है और हाइड्रोजीनेटिड वनस्पति तेल या मछली का तेल भी हो सकता है। सलाद के बारे में यह अनुमान भी गलत हो सकता है कि सलाद पूर्ण शाकाहारी है (उसमें मांस हो सकता है) सलाद ड्रेसिंग भी मांसाहार युक्त हो सकती है।

सॉस और टॉपिंग्स के बारे में भी उसके घटकों को पढ़ना चाहिए। जिस रेस्टोरेण्ट में आप पहुँचें, ऑर्डर लेने वाले व्यक्ति को अपने शाकाहारी सिद्धान्तों से अवगत कराएँ अन्यथा वहाँ कुछ लोग मछली को शाकाहार मानते हैं या अण्डा भी शाकाहार की श्रेणी में रखते हैं। यहाँ तक आपके साथ धोखा किया जा सकता है कि तरी में से मांस के टुकड़े अलग करके डिश परोस दी जाए। फलभोजी (Vegans) पासपोर्ट आपकी सहायता करता है। आप यह भी बताएँ कि आप काफ रेनेट से बनी चीज का इस्तेमाल नहीं करते हैं।

दही को व्यावसायिक स्तर पर जमाने के लिए बछड़े के रेनेट का इस्तेमाल किया जा सकता है। दूध में यदि प्रोसेसिंग के दौरान यदि विटामिन 'डी' आदि मिलाकर फोर्टीफाइड (दृढ़ बनाना) किया जाता है तो विटामिन का स्रोत जानवरों से हो सकता है।

विदेश में जैम (Jam) में जिलेटिन हो सकती है। सूप के स्वाद और सुगन्ध को बढ़ाने के लिए सूप पर वोनिटो की एक पर्त डाली जाती है जो टूना मछली की तरह होती है। नारंगी रंग के कोला पेय में बी-किरोटिन, जिसका घोल जिलेटिन में बनाया जाता है, मिलाया जाता है।

भारत में उत्पादित शक्कर अब हरे निशान के साथ उपलब्ध है (धामपुर चीनी)। विदेशों में रिफाइण्ड शुगर के उत्पादन में गाय की हड्डी का कोयला (रिफाइण्ड करने में) प्रयोग होता है। विदेशी शक्कर चुकन्दर से भी बनाया जाता है, जो जैन लोग उपयोग में नहीं लाते।

यू.एस.ए. में चुकन्दर से बनाई जाने वाली शक्कर को रिफाइण्ड करने के लिए हड्डी के कोयले के स्थान पर अधिकांशतया एक शाकाहारी उन्नत-पद्धति को उपयोग में लाया जाता है।

गुड़, शीरा, मेपल (एक वृक्ष), कार्न सीरप आदि को भी मीठा करने में प्रयुक्त किया जाता है। खाँड या शीरा या गुड़ पूर्णत: पौधों से प्राप्त मीठा है, किन्तु अन्य प्रकार के सीरप या मीठा करने वाले पदार्थ को सूअर की चर्बी या दुग्ध के उत्पाद या फिर जन्तु वसा से निकाली गई ग्लिसरीन के साथ प्रोसेस किया जा सकता है।

वैसे भी भारतीय जब विदेश जाते हैं तो अपने साथ घर की बनी मिठाई, नमकीन आदि ले जाते हैं। यदि वे अपने साथ हरे निशान वाली शक्कर ले जाना चाहें तो

अपनी चाय को मीठा कर सकते हैं। भारत में रहकर जिस शाकाहार का हम आसानी से अनुकरण कर सकते हैं, उसी शाकाहार को विदेश में कायम रखना मुश्किल अवश्य है, नामुमकिन नहीं।

पश्चिम के अनेक पशु अधिकार संगठन, दयालुता को प्रकट करते हुए शाकाहार को बढ़ावा दे रहे हैं। उनके द्वारा इस तरह की गाइड लाइन, जिसमें विस्तृत जानकारी होती है-शाकाहारी उत्पादों की, वेजन वस्तुओं की, रेस्तराँ और भोजन सम्बन्धी सूची, जिसकी सहायता से यात्रियों को बहुत सुविधा हो जाती है।

वेजन पासपोर्ट (वेजन क्या खाते हैं और क्या नहीं, की पुस्तिका 38 भाषाओं में) वेजन सोसायटी के द्वारा उपलब्ध कराई जाती है। यू.के. की वेजन सोसायटी वेजन लोगों की यात्रा के दौरान बहुत मददगार साबित होती है। प्रत्येक पृष्ठ पर अलग-अलग भाषाओं में एक ही मैसेज रहता है जिसे वेटर को पढ़वाया जा सकता है।

-पुस्तक 'एक अहिंसात्मक जीवनशैली' से साभार

स्वार्थ की प्रीति

प्रियवक्ता श्री विनयचन्द जी महाराज

एक बार कुत्तों की कांफ्रेन्स हुई। कुत्ता समाज के विकास और उज्ज्वल भविष्य पर विचार-चर्चा आरम्भ हुई। एक सज्जन कुत्ते ने प्रस्ताव रखा। 'हमारा समाज आपस में लड़ने के लिए काफी बदनाम है। हम आपस में लड़ते हैं। छोटे से रोटी के टुकड़े के लिए हम बुरी तरह से लड़ पड़ते हैं। यह कितनी बुरी बात है। आज प्रेम और भाई-चारे का युग है। मानव समाज विश्व-प्रेम के निकट पहुँच रहा है। समय आ गया है। हम अपनी जाति का कलंक धोएँ। विश्व-प्रेम तो दूर की कहानी है। कम से कम जाति-प्रेम को अवश्य अपनाएँ। हम प्रस्ताव करते हैं-''कैसे भी प्रलोभन क्यों न सामने आएँ हम कभी न लड़ेंगे।'' सभी ने एक स्वर से प्रस्ताव का अनुमोदन किया।'

अनुमोदन के स्वर अभी हवा में गूञ्ज रहे थे कि आकाश में उड़ती हुई चील के मुख से छूटकर हड्डी का टुकड़ा गिरा। टुकड़ा देखते ही सभी उस पर झपट पड़े और उस टुकड़े के लिए एक-दूसरे पर भी झपट पड़े। प्रस्ताव की गूञ्ज तो अभी समाप्त ही नहीं हुई थी कि बेचारे प्रस्ताव के जन्म की दूसरी घड़ी में ही उसके लिए मौत का वारण्ट कट गया। स्वार्थ के क्षेत्र में एक भी प्रस्ताव जिन्दा रह ही नहीं सकता। प्रस्ताव की स्याही भी नहीं सूखी होगी कि प्रस्ताव निर्माण करने वाले हाथों से ही उसकी मौत हो जाती है।

ऐसे तो मानव अध्यात्म की ऊँची उड़ान भरता है, पर जहाँ उसके नन्हे से स्वार्थ पर चोट पड़ती है तो वह तिलमिला उठता है। अपने छोटे से स्वार्थ की रक्षा के लिए दूसरे के बड़े से बड़े हित को कुचल देने को तैयार हो जाता है। यह मानव की क्षुद्र बुद्धि है जो कि उसे अपने देह की दीवारों से ऊपर उठने नहीं देती। अपने लिए वह हजारों रुपये खर्च कर सकता है, पर दूसरे के लिए दो रुपये खर्च करने के लिए उसकी देहबुद्धि उसे आज्ञा नहीं देती। पर याद रखिए अपने स्वार्थ के लिए खर्च किए गए हजारों रुपये नष्ट होने के लिए हैं तो गरीब के हित में खर्च किए गए दो रुपये खेत में बिखरे गए दाने हैं जो एक दिन हजार गुना प्रतिफल लेकर आएँगे।

-पुस्तक 'जीवन का दिव्य आनन्द', भाग-3 से संकलित

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 451
ISSN 2249-2011

श्री उपासकदशाङ्गसूत्र के परिप्रेक्ष्य में जैन जीवनशैली

श्रीमती कश्मीरा शाह

श्री उपासकदशाङ्गसूत्र सप्त अङ्ग आगम है और धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत आता है। इस ग्रन्थ में गृहस्थ धर्म के लिए गिहिधम्म, सावयधम्म, अगारधम्म, उवासगधम्म आदि अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस आगम में 10 प्रसिद्ध श्रावकों का उल्लेख है, जो भगवान महावीर के परम उपासक थे। दसों ही श्रावक जन्म से जैन नहीं थे। नगर में जहाँ प्रभु का पदार्पण हुआ, वहीं प्रभु की एक देशना से प्रतिबोधित होकर उन्होंने श्रावकत्व को स्वीकार किया। सभी की श्रावकत्व पर्याय 20 वर्षों की है, जिसमें 14 वर्षों तक उन्होंने गृह-भार वहन किया और अन्तिम 6 वर्ष तक 11 प्रतिमाओं की पालना की और 1 महीने का संथारा लेकर सभी एकावतारी हुए। सभी श्रावक पहले देवलोक में उत्पन्न हुए और वहाँ 4 पल्योपम का आयुष्य पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और साधना-आराधना कर मोक्षगामी बनेंगे।

श्री उपासकदशाङ्गसूत्र में बड़ी कुशलता से व्यावहारिक और निश्चय दृष्टिकोणों को समझाते हुए श्रावक के व्रतों एवं प्रतिमाओं का बड़ा ही मार्मिक एवं सुव्यवस्थित वैज्ञानिक पद्धति से वर्णन किया गया है। अणुव्रत यानी जहाँ अगार धर्म का स्वीकार करना और उसके अन्तर्गत आचार सम्पदा की पालना करना। परिवार के बीच में रहते हुए, संसारी होकर भी, एक श्रावक 12 व्रत द्वारा अपने जीवन में धर्म को अनुकूल बनाकर, जल-कमलवत् अलिप्त रह सकता है।

श्रावक धर्म तो इतना सहज और सरल है कि इसकी आराधना हर एक को करनी चाहिए, ताकि इस जीवन के आधि, व्याधि और उपाधि जैसे वर्तमान भव के रोग तो मिटेंगे ही, साथ ही साथ भव-भव के रोग से भी सहजता से मुक्त होकर जन (संसारी) से जिन (सिद्ध) तक की यात्रा कर सकेंगे। व्रती श्रावक के लिए जैन आगम-ग्रन्थों में एक महत्त्वपूर्ण वाक्यांश मिलता है-**बहूहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरन्ति।** श्रमणोपासक शील, व्रत, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास तथा यथा परिगृहीत तपःकर्म के द्वारा अपने आपको भावित करते हुए रहते हैं। इस वाक्यांश में श्रावक की धर्माराधना की समग्र विधि आ जाती है।

श्रद्धा, विवेक और क्रिया का सूचक है श्रावक शब्द। जो श्रावक प्रभुवचन के प्रति श्रद्धालु है, हृदय से विवेकी है और आचार से समृद्ध है, वह श्रावक है। अभिधान राजेन्द्र कोष के अनुसार 'श्रा' शब्द तत्त्वार्थ श्रद्धान की सूचना करता है। 'व' शब्द धर्म क्षेत्रों में बीज बोने की प्रेरणा करता है। 'क' शब्द क्लिष्ट कर्म को दूर करने का संकेत देता है। जैन आगम साहित्य में श्रमणोपासकों का जो वर्णन मिलता है, उसमें उनकी सामाजिक और धार्मिक-दोनों अवस्थाओं का चित्रण है। सम्पन्नता, दानशीलता और अपरिभावनीयता-यह उनकी सामाजिक अवस्था का चित्रण है। तत्त्वज्ञान, आत्मनिर्भरता, धर्म के प्रति दृढ़ आस्था, व्रतों की आराधना और तपस्या-यह उनके धार्मिक जीवन का चित्रण है। भौतिक जीवन के साथ धार्मिक जीवन का योग होना श्रावक जीवन की अपनी विशेषता है।

श्रावक धर्म का श्रेष्ठपालन करने वाले प्रभु महावीर के एक लाख उनसठ हजार श्रावक एवं तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएँ थीं। श्री उपासकदशाङ्गसूत्र में श्री मुख से 10 श्रावकों का ही नाम क्यों? ये सभी श्रावक विभिन्न क्षेत्रों के ऐसे प्रमुख

व्यक्ति हैं जिनके पास अपार सुख-सम्पत्ति, यश-कीर्ति, धन-वैभव, सुख में लीन हो सकें, ऐसे अपार साधन उपलब्ध होते हुए भी उन्होंने इन सभी चीजों का त्याग किया और जीवन को धर्म के लिए समर्पित कर दिया। पुण्य से मिले ऐश्वर्य एवं भोग के साधनों का जो स्वेच्छापूर्वक त्याग करता है, वही वास्तव में त्यागी है। सांसारिक सुखों की प्राप्ति के समय में त्याग, यौवन में ब्रह्मचर्य, सत्ताधीशता में क्षमा और समृद्धि में शील-सदाचार का पालन करना आदर्श माना जाता है। यही त्याग का आदर्श मार्ग है और श्री उपासकदशांग सूत्र के 10 श्रावकों के जीवन में यह आदर्श दिखाई देता है। इसलिए इन 10 श्रावकों का वर्णन इस आगम में किया है और परमात्मा के श्री मुख से भी उनका नाम लिया गया है। इसलिए ये दस श्रावक त्याग के आदर्श प्रतीक हैं। समाज में रहते हुए भी वे धर्म आचरण का उत्कृष्ट और उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

श्री उपासकदशाङ्गसूत्र में श्रावक जीवन की विशेष विवेकपूर्ण चर्या का दिग्दर्शन होता है। इस आगम में श्रावकों के लिए एक विशेषण आया है-**आओग-पओग संपउत्ते** अर्थात् व्यापार में वे नीति और मर्यादा का पूर्ण पालन करते थे। हजारों कर्मचारियों दास-दासी, हजारों पशुओं आदि का भरण-पोषण, संरक्षण करने में वे बड़े कुशल और दक्ष थे। आगम में श्रावकों के लिए '**अड्ढे अपरिभूए मेढीपमाणभूए चक्खुभूए**' आदि विशेषण दिए गए हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं। अड्ढे यानी वे धन तथा सद्गुणों से मण्डित थे। अपरिभूए यानी वे किसी से भी पराभूत यानी हार खाने वाले नहीं थे। मेढीपमाणभूए यानी उनका चारित्र समाज में आदर्श और प्रमाण माना जाता था। चक्खुभूए यानी वे चक्षुभूत थे-धर्म एवं समाज के मार्गदर्शक थे। अच्छे कार्यों को आगे बढ़ाने वाले थे। इन श्रेष्ठ गुणों से आज के श्रावक वर्ग के लिए अनेक प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं।

श्री उपासकदशाङ्गसूत्र सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं से अवगत कराता है। यह हमें कुटुम्ब, परिवार, स्वजन, मित्र, पति-पत्नी और अन्य रिश्तों को कैसे सँजोए रखना और उन सम्बन्धों की मधुरता को कैसे बनाए रखना यह हमें सिखाता है। श्रावकों के कथन से संयुक्त परिवार का चित्र हमारे सामने आता है जो आज लगभग लुप्त हो रहा है, क्योंकि आनन्द गाथापति अपने परिवार के साथ एवं अनेक मित्र, परिजन, सम्बन्धी, दास-दासी एवं उनके परिवारों के साथ रहते थे। श्री उपासकदशाङ्गसूत्र में बताया है कि जो घर का स्वामी है, सभी उनकी आज्ञा का पालन करते थे। आनन्द श्रावक परिवार के मुख्य केन्द्र बिन्दु प्रमाण, थापक, आधार, आलम्बन, मार्गदर्शन एवं मेढ़ीभूत थे, क्योंकि वे सभी के हित का चिन्तन करते थे। आज इसी प्रथा का यदि हम भी हमारे घरों में उपयोग करें तो हमारा घर स्वर्ग बन जाए और कई मुश्किलें आसान हो जाए।

भगवान महावीर ने श्रावक धर्म की जो आचार-संहिता दी है, गृहस्थ के लिए वैसी आचार-संहिता किसी धर्म में देखने में नहीं आई। इतनी व्यवस्थित आचार-संहिता कहीं और नहीं, क्योंकि यह आचार-संहिता 2,600 वर्ष पुरानी है, पर ऐसा लगता है कि मानो वर्तमान की समस्याओं के लिए आज ही किसी ने लिखी हों। गृहस्थ के लिए या सामाजिक जीवन के लिए जितनी आचार-संहिताएँ उपलब्ध हैं, उनमें बारह व्रत जैसी सर्वांगीण और महत्त्वपूर्ण अन्य कोई नहीं हैं।

जहाँ चारित्रिक निष्ठा के साथ आचार पल रहा था, वहीं आज स्थिति बदली हुई भासित होती है। भगवान महावीर के समय में श्रावकों के धनबल और सत्ताबल की अपेक्षा चरित्रबल को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। स्वयं भगवान महावीर ने मगध सम्राट् श्रेणिक को पुणिया श्रावक के पास भेजकर धनबल और सत्ताबल की अपेक्षा चारित्रबल को प्रधानता दी थी। अपने प्रधान गणधर और 14,000 शिष्यों के अग्रणी इन्द्रभूति गौतम गणधर को समाधिमरण की साधना में रत

आनन्द श्रावक के पास क्षमायाचना के लिए भेजकर महावीर ने जहाँ एक ओर आत्मशुद्धि की महत्ता को प्रतिपादित किया था, वहीं श्रावक के जीवन की गरिमा को भी स्थापित किया था, पर वर्तमान संघीय व्यवस्था में गृहस्थ वर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान तो स्वीकारा जाता है, किन्तु बदली हुई परिस्थितियों में चरित्रबल की अपेक्षा गृहस्थ का धनबल ओर सत्ताबल का ही प्राधान्य है। भगवान महावीर के युग में उन्हीं श्रावकों का समाज पर वर्चस्व था जो संघीयहित के लिए तन-मन-धन से समर्पित होते थे, फिर वे चाहे सम्पत्तिशाली हों या निर्धन ही क्यों न हों? आज हम देखते हैं कि समाज के शीर्ष स्थानों पर वे ही लोग बैठे हुए हैं, जिनके चरित्र की निष्ठा पर अनेक प्रश्नचिह्न लगे हैं।

आज हमारे जीवन में कितनी गाँठे हैं। यदि चिन्तन करें, तो पता चलेगा कि माँ-बेटी के बीच में मतभेद हैं, बाप-बेटे के बीच में गलतफहमियाँ हैं, पति-पत्नी के बीच में कलह हैं, मित्र-मित्र के बीच में क्लेश है, सेठ-नौकर के बीच में नोंक-झोंक है, पड़ोसियों के साथ अनबन है। कहने का तात्पर्य यह है कि कहीं गाँठ है तो कहीं चुभन है, कहीं आक्रोश है तो कहीं तनाव है, कहीं भय है तो कहीं स्ट्रेस है।

जीवन में आज जितनी भी समस्याएँ हैं, उन सभी समस्याओं का समाधान एकमात्र जीवन शैली को बदलने से प्राप्त हो सकते हैं। जीवन शैली के मुख्यतः तीन अङ्ग हैं-शरीर, मन और हमारे भाव। आज हम हमारे जीवन में यह अनुभव कर रहे हैं कि हम शरीर से अस्वस्थ हैं, मन से असन्तुलित हैं और भावों से नकारात्मक हो गए हैं। इन सब से ऊपर उठने का एकमात्र समाधान है जैन जीवन शैली को समझना, चिन्तन कर उसे अपनी ज़िन्दगी में अपनाना। इन 10 श्रावकों का जीवन पूरे समाज को मार्गदर्शन देने वाला है। स्वस्थ समाज-संरचना के लिए यह आगम आधारभूत बन सकता है। विश्व में आज जितनी भी व्यसन, फैशन और टेंशन है, उन सबमें जीवनशैली का बड़ा हाथ है।

जहाँ सम्पूर्ण विश्व आक्रमक हो रहा है, वहाँ जिनशासन हमें उत्तम क्षमा आदि आत्मा के गुणों की ओर ले जा रहा है। जहाँ सम्पूर्ण विश्व के लोग एक-दूसरे को डुबाने में लगे हैं, वहाँ अपना जिनशासन तिण्णाणं-तारयाणं की ओर है। जहाँ सम्पूर्ण विश्व पाने और इकट्ठा करने तथा परिग्रह जोड़ने की होड़ में लगा है, वहाँ अपना जिनशासन खुशहाल जीवन जीने की एक शैली, यानी एक आनन्दित प्रफुल्लित जीवनशैली की ओर हमें ले जाता है। जहाँ सम्पूर्ण विश्व के लोग कोरोना महामारी से पीड़ित होकर दुःखी और चिन्तित हो रहे हैं, वहाँ अपना जिनशासन एवं जैन जीवन शैली परोक्ष रूप से सुखी एवं परम सुखी होने का सुलभ मार्ग बताती है।

आज हमें अपने आदर्श अतीत को देखना होगा, अपने पूर्वजों की चारित्रनिष्ठा को समझकर उसे जीना होगा तभी हम अपने प्राचीन गौरव की रक्षा कर सकेंगे। गृहस्थ जीवन की श्रेष्ठ साधना करने वाले इन 10 श्रावकों की यह जीवन कथा हम सब की चेतना को जागृत करे और अपनी क्षतियों को दूर करके धर्म-साधना में सहायक रूप बनें, ऐसी आराधना करके हम भी धन्यातिधन्य बनें, इन्हीं भावो के साथ।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. श्री उपासकदशाङ्गसूत्र
2. श्री सूत्रकृताङ्गसूत्र
3. श्री सूत्रकृताङ्ग चूर्णि
4. श्री भगवतीसूत्र भाग 1,2
5. श्रावक सम्बोध पूर्वभाग 1-5
6. श्रावक धर्म
7. पहचान जैन श्रावक की
8. प्रभुवीर के 10 श्रावक
9. उपासकदशाङ्ग और उसका श्रावकाचार

-Chennai

स्वभाव से परभाव में जाना अतिक्रमण है, परभाव से पुनः स्वभाव में लौटना प्रतिक्रमण है।
-आचार्यश्री हीरा

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 454
ISSN 2249-2011

जीवन की कला

डॉ. मीनाक्षी डागा

जैनधर्म जिनेश्वर प्रभु द्वारा दिखाया गया वह मार्ग है, जिस पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति सही जीवन जी सकता है। एक ऐसा जीवन जो स्वयं और दूसरों के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए और विश्व के लिए भी सुखद और कल्याणकारी हो। **जैनधर्म सही मायने में सुखद जीवन जीने की कला सिखाता है।** इसके सिद्धान्तों में समरसता, सरसता और मधुरता की पूर्णता है। जीवन है, तो जीना भी है। जीने के लिए जिन क्रियाओं को करना आवश्यक है, उन्हें सही प्रकार से करने की विधि बताता है, जैनधर्म। क्या कार्य करने चाहिये और किस प्रकार करने चाहिये, एक सुन्दर, सुव्यवस्थित और सफल जीवन जीने के लिए, यह सब कुछ सिखाता है, जैनधर्म।

जैनधर्म मानव जीवन के महत्त्व को समझाते हुए मानव में सद्गुणों के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। साथ ही सभी प्रकार के दुर्गुणों से मुक्त होने का मार्ग भी बताता है। इसमें आचार-विचार और व्यवहार की शुद्धि पर बल दिया गया है। निर्मलता, पवित्रता और समानता की दृष्टि को महत्त्व दिया गया है। इसमें समता, क्षमा, सन्तोष, सरलता और नम्रता को धर्म का आधार कहा है। अहिंसा, संयम और तप के द्वारा आत्मशुद्धि का मार्ग दिखाया गया है। यह चलने में सावधानी, खड़े होने में सौम्यता, बैठने में स्थान की पहचान, सोने में जागरूकता, भोजन में विवेक और बोलने में हित-मित-प्रिय वचन का व्यवहार सिखाता है।

जैनधर्म मानव जीवन की सीमितता को स्वीकार करते हुए जीवन के प्रत्येक क्षण को बहुमूल्य मानता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बहुत बार यह कहा गया है-**'समयं गोयम! मा पमाए'** अर्थात् गौतम क्षणमात्र का भी प्रमाद मत करो। इसीलिए कहा है कि जो रात और दिन आते हैं वे चले भी जाते हैं, वे पुन: लौटकर नहीं आते हैं, परन्तु जो व्यक्ति प्रतिक्षण धर्म, अच्छे आचरण, अच्छे विचार, अच्छे व्यवहार आदि को करते हैं, वे अपने जीवन को सफल कर लेते हैं। वे ही इच्छित स्थान प्राप्त कर लेते हैं। वे ही मनुष्य जन्म पाकर जीवन को सफल बना लेते हैं।

इस प्रकार यह जैनधर्म महान से महानतम आदर्श तक पहुँचने का श्रेष्ठ मार्ग है। यह जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों का विशद विवेचन करता हुआ हमारा मार्गदर्शन करता है।

जैन की परिभाषा को हम आवश्यकसूत्र के इस सूत्र द्वारा समझ सकते हैं-

''अरहन्तो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो। जिण-पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं।।''[1]

जीवन पर्यन्त यह जैन होने की प्रतिज्ञा है कि अरिहन्त सर्वज्ञ प्रभु मेरे देव हैं, सुसाधु, जो निर्ग्रन्थ साधु हैं, वे ही मेरे गुरु हैं तथा जिनेश्वर प्रभु द्वारा कथित तत्त्व (धर्म) रूप समकित को मैं धारण करता हूँ।

इस प्रकार सम्यक् प्रकार से जिनेश्वर प्रभु के द्वारा की गई तत्त्व की विवेचना पर श्रद्धा रखने वाला, अरिहन्त प्रभु की सर्वज्ञता पर श्रद्धा रखने वाला तथा उनके अनुगामी सुसाधु पर गुरु के रूप में श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति ही जैन होता है। वह जिनेश्वर प्रभु द्वारा विवेचित परमार्थ (तत्त्व) का जानकार होता है तथा परमार्थ के जानकार सुसाधु की तत्परता से सेवा भी करता है। **इस प्रकार सकारात्मक प्रवृत्ति रूप से जैनधर्म को अपनाने के बाद निवृत्तिरूप से मिथ्यादृष्टियों की संगति का त्याग भी करता है।** निरतिचार (बिना किसी

दोष) रूप से समकित को धारण करता है। समकित से तात्पर्य है जीवन का सही मार्ग। इस सही मार्ग से भटकाने वाले पाँच विरोधी आचरण हो सकते हैं, उन्हें अतिचार कहा गया है। सच्चे जैन को स्वयं को इन अतिचारों से बचाना होता है। वे अतिचार हैं-

1. जिनवचन में शंका करना।
2. परदर्शन की आकांक्षा करना।
3. धर्म के फल में सन्देह करना।
4. पर पाखण्डी की प्रशंसा करना।
5. पर पाखण्डी का परिचय करना।

इस प्रकार जैन होने का पहला परिचय यही है कि उसकी श्रद्धा सम्यक् हो, अपने आराध्य अरिहन्त (सर्वज्ञ) देव और उनके द्वारा बताये धर्म और उस धर्म को प्रसारित करने वाले निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति सर्वप्रथम जैनधर्म ने अन्धश्रद्धा और पाखण्ड धर्म का विरोध करके समकित या सम्यग्दर्शन को ही धर्म के आधार रूप में प्रतिष्ठित किया है। **श्रद्धा सम्यक् हो, इसके लिए तत्त्व का सम्यग्ज्ञान आवश्यक है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक् श्रद्धा होती है, तब उसी के अनुरूप आचरण भी सम्यक् होगा, जिसे जैनधर्म में सम्यक् चारित्र कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की यह त्रिपदी आत्मा को उसके लक्ष्य मोक्ष तक ले जाने वाली है।** जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में कहा है-

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।''[2]

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनों संयुक्त रूप से मोक्ष का मार्ग हैं। मोक्ष मार्ग का अर्थ है-जीव की विशुद्धि का मार्ग, जीव का अपने आत्मस्वरूप में स्थित होने का मार्ग, जीव के अज्ञान और दुःखों का सदा के लिए अन्त करने का मार्ग और जीव का अपने अनन्त गुणों से युक्त हो, सदा के लिए सुख-शान्ति प्राप्त करने का मार्ग।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र को 'रत्नत्रय' कहा गया है, क्योंकि ये तीनों रत्न के समान अत्यन्त ही दुर्लभ और अनमोल हैं। इन्हें दुर्लभ इसीलिए कहा गया है, क्योंकि प्रथम तो आध्यात्मिकता में रुचि रखने वाले जीव ही बहुत कम पाये जाते हैं और कुछ मोक्षाभिलाषी जीव होते भी हैं, तो मोक्ष-मार्ग की जानकारी उन्हें मिल पाए और जानकारी मिलने के बाद भी सभी उस मार्ग को अपने जीवन में अपनाकर लक्ष्य प्राप्ति तक उस पर चलते रह सकें, ऐसा कोई विरले ही कर पाते हैं। इसीलिए आचारांग सूत्र में इसके लिए कहा गया है-**'पणया वीरा महावीहिं।'**[3]

पाप से दूर रहने वाले पवित्र मानव ही इस एक मात्र महान सिद्धि पर चल सकते हैं। इसीलिए यह रत्नत्रय का महापथ अत्यन्त ही दुर्लभ है। ये तीनों रत्न अनमोल इसीलिए कहे गये हैं, कि पहले तो इनकी प्राप्ति दुर्लभ है। दूसरे प्राप्त करने वाले को यह मोक्ष-मार्ग जीवन के परमलक्ष्य परमपद की प्राप्ति निश्चित ही कराता है, जिसका कोई मोल है ही नहीं। इस मोक्ष-मार्ग पर चलकर मनुष्य आत्मसाक्षात्कार करके अपना जीवन धन्य बना लेता है, जिसे पाने के बाद कुछ पाना शेष नहीं रहता।

सन्दर्भ

1. आवश्यकसूत्र 2. तत्त्वार्थसूत्र-उमास्वाति, 1/1,
3. आचाराङ्गसूत्र- 1/3/20

-एम.ए., एम.फिल., पी.एच.डी., 14, व्हाइट हाऊस, वी.डी. नगर, पाली (राज.)

卐 नीति और ईमानदारी से प्राप्त धन समाज में प्रतिष्ठा दिलाता है।
卐 व्यसनी से उसी प्रकार बचना चाहिए, जिस प्रकार छूत के रोगी से बचा जाता है।
卐 विकृति का सबसे बड़ा कारण व्यक्ति के अहंकार की तुष्टि में रहा हुआ है।
卐 अन्यायोपार्जित धन के कारण विवाह, खान-पान, रहन-सहन सबमें विकृतियाँ आई हैं।

-आचार्यश्री हीरा

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 456
ISSN 2249-2011

भोजन में न छोड़ें जूठन

श्रीमती विमला जैन

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए और उससे सम्बन्धित सभी क्रियाएँ करने के लिये भोजन करना आवश्यक है। हम सभी लोग प्रतिदिन सुबह-शाम अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भोजन करते हैं। कभी-कभी शरीर के रोगी हो जाने के कारण अथवा तपस्या हेतु हम भोजन नहीं करते हैं, फलस्वरूप शरीर स्वस्थ हो जाता है और हमारे पूर्व सञ्चित कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है। पूर्ण रूप से भोजन का त्याग अनशन तप कहलाता है और आंशिक रूप से भोजन का त्याग अथवा जितनी मात्रा में भोजन की आवश्यकता है, उससे कुछ कम मात्रा में भोजन करना भी ऊनोदरी तप कहलाता है। इससे भी हमारे मन और रसना इन्द्रिय पर नियन्त्रण हो जाता है और तप होने से कर्मों की निर्जरा होती है तथा शरीर स्वस्थ हो जाता है।

प्राय: व्यक्ति जब अपने घर पर भोजन करता है, तब तो वह भूख एवं आवश्यकतानुसार ही भोज्य पदार्थ थाली में लेता है, और उसका पूरा भक्षण कर लेता है तथा जूठन नहीं छोड़ता है। परन्तु वही व्यक्ति जब किसी समारोह में अथवा कहीं अन्यत्र किसी दूसरे व्यक्ति के घर पर या होटल-रेस्टोरेण्ट में खाना खाने जाता है तो वहाँ पर जूठन छोड़ देता है। वहाँ पर जूठन छोड़ना वह अपनी शान समझता है। कभी शादी समारोह या किन्हीं अन्य कार्यक्रमों में अत्यधिक भीड़ होने के कारण भी व्यक्ति एक बार में ही अपनी प्लेट भोज्य पदार्थों से पूरी भर लेता है। वह सोचता है कि फिर दोबारा खाना लेने के लिए नहीं जाना पड़े। परिणामस्वरूप वह पूरा भोजन खा नहीं पाता है और जूठन छोड़ देता है। अत: हमें सर्वप्रथम अपने शरीर और स्वास्थ्य के अनुकूल भोज्य पदार्थों की तलाश (गवेषणा) करनी चाहिये। सामूहिक भोज में बफे सिस्टम के अन्तर्गत अलग-अलग टेबिलें और स्टॉलें लगी होती हैं, वहाँ घूमकर हमें अपने स्वास्थ्य के लिये लाभदायक और रुचिकर भोज्य पदार्थों का अवलोकन करने के पश्चात् आवश्यकतानुसार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में भोजन सामग्री लेना चाहिये, ताकि हम उसको पूरा खा सकें। यदि भोजन की मात्रा कम प्रतीत हो तो दूसरी बार या तीसरी बार भी हम पुन: भोजन ले सकते हैं। इससे हम इच्छानुसार पर्याप्त मात्रा में भोजन भी कर सकते हैं और जूठन छोड़ने की जरूरत भी नहीं पड़ेगी।

जूठन छोड़ने पर जहाँ एक ओर महँगे-महँगे खाद्य पदार्थ व्यर्थ नष्ट हो जाते हैं, वहाँ दूसरी ओर खाद्य पदार्थों के नाली में या जमीन पर फेंकने से जीवों की उत्पत्ति और हिंसा भी होती है तथा गन्दगी होने से वातावरण भी दुर्गन्धमय एवं प्रदूषित हो जाता है। आर्थिक दृष्टि से भी आयोजक को नुकसान होता है। जूठन छोड़ने पर जो खाद्य सामग्री 100 व्यक्तियों के लिये भी कम पड़ जाती है, वही खाद्य सामग्री जूठन नहीं छोड़ने पर 125 व्यक्तियों के लिए भी पर्याप्त हो सकती है।

जैनधर्म में तो यहाँ तक कहा गया है कि भोजन करने के पश्चात् यदि थाली को धोकर पी लिया जाए, तो एक आयम्बिल करने के बराबर तक का फल प्राप्त होता है। एक प्रकार से यह अस्वाद व्रत या स्वाद पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास है।

सामाजिक दृष्टि से भी यदि विचार किया जाये तो प्राय: देखा जाता है कि गरीब/बेसहारा और अनाथ लोगों को दोनों वक्त का पूरा भोजन नहीं मिलता है। ऐसी स्थिति में यदि हम जूठन छोड़ते हैं तो एक तरह से हम उन दीन-दु:खी गरीब लोगों का हक छीनते हैं और

अप्रत्यक्ष रूप में उनको भोजन से वञ्चित करते हैं तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति को बर्बाद कर देश के लाखों-करोड़ों लोगों के साथ में अन्याय करते हैं।

जूठा नहीं डालें

जहाँ तक होटल एवं रेस्टोरेण्ट में भोजन करते वक्त जूठन छोड़ने का प्रश्न है, वहाँ तो और भी अधिक दयनीय और भयावह स्थिति होती है। होटल/रेस्टोरेण्ट वाले तो कभी-कभी उसी जूठे खाने को दूसरे व्यक्ति को परोस देते हैं या फ्रिज में रखकर शाम को गरम करके अन्य ग्राहकों को खिला देते हैं अथवा कचरे या नाली में फेंक देते हैं। इससे एक तरफ तो हमें अधिक धन खर्च करना पड़ता है और दूसरी तरफ अन्य व्यक्तियों के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ करने में अप्रत्यक्ष रूप में हम भी भागी हो जाते हैं। इसलिये होटल/रेस्टोरेण्ट में भोजन करते वक्त तो हमें पूरी तरह से अपनी आवश्यकता और कार्य का आकलन करके भोजन सामग्री मँगवाने का ऑर्डर देना चाहिये और कभी भी जूठन नहीं छोड़ना चाहिये। फिर भी यदि भोजन बच गया तो उसे पैक करवाकर अपने साथ ले लेना चाहिये और उसे घर पर लाकर काम में ले लेना चाहिये अथवा अन्य किसी जरूरतमन्द को दे देना चाहिये या फिर जानवर को खिला देना चाहिये।

अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भोजन में जूठन छोड़ना आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक और नैतिक सभी दृष्टियों से विचार करने पर हानिकारक एवं पापवर्धक है, इसलिये हमें अपनी आदत बना लेना चाहिये कि चाहे घर हो या बाहर कभी भी जूठन नहीं छोड़ें। खास तौर से सामूहिक प्रीतिभोज के अवसर पर जूठन नहीं छोड़ने का विशेष ध्यान रखना चाहिये। जैन आगमों में उल्लेख मिलता है-

हियाहारा, मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छन्ति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा।।

अर्थात् जो मनुष्य हिताहारी, मिताहारी और अल्पाहारी होते हैं, वे कभी वैद्यों (चिकित्सकों) के पास में नहीं जाते हैं, क्योंकि वे स्वयं ही अपने चिकित्सक होते हैं।

अत: हम सभी को जैन जीवनशैली को अपनाते हुए कभी भी भोजन में जूठन नहीं डालना चाहिये और अपने बच्चों में भी ऐसे ही संस्कार डालने चाहिये।

-अध्यक्ष, राष्ट्रीय पोरवाल महिला मण्डल,
70, 'जयणा' विश्वकर्मानगर-द्वितीय, महारानी फार्म,
जयपुर-302019 (राज.)

- भीतरी ग्रहों का शमन करने पर बाहर के ग्रहों का कोई भय नहीं रहता।
- विषमवृत्तियों को सम करने और कषाय की दाह का शमन करने वाली क्रिया का नाम ही सामायिक है।
- विभूषा, स्त्री-संसर्ग और प्रणीत भोजन ब्रह्मचारी के लिए विष हैं।
- विषय-कषाय से मन को खाली करने पर भगवत्-निवास होता है।
- अहंकार से सत्कर्म वैसे ही क्षीण हो जाता है, जैसे मणों दूध पावरत्ती संखिया से ज़हरीला हो जाता है।
- महापुरुष अपनी जगहितकारी प्रवृत्तियों और कल्याण-कामना से स्वयं याद आते हैं, वे याद कराये नहीं जाते।
- गुरु और गुणीजनों की सेवा, बालजन का संग-त्याग, स्वाध्याय और एकान्त चिन्तन भाव-निर्माण के साधन हैं।
- शासन एवं धर्मरक्षण का कार्य केवल साधुओं का ही समझना भूल है, साधु की तरह श्रावक संघ का भी उतना ही दायित्व है।

-आचार्यश्री हस्ती

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 458
ISSN 2249-2011

जैन जीवनशैली अपनाइए : हृदय-रोगों से बचिए

श्रीमती सुशीला पोकरना

ज़िन्दगी के लिए हृदय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवयव है। यह यदि थोड़ी देर के लिए भी रुक जाए तो जीवन रुक जाता है। शरीर के इस महत्त्वपूर्ण अवयव के बारे में जानिए-

हृदय (दिल)-मांस का लोथड़ा है, जिसमें सकिड़ों शिराएँ चौबीस घण्टे खून को शरीर में इधर से उधर ले जाया करती हैं, ताकि दिल की धड़कन बन्द न हो, क्योंकि जब यह बन्द हो जाती है तो इन्सान जनाजे के लिए तैयार हो जाता है। मुट्ठी या दो मुट्ठी भर आकार वाला दिल मानव शरीर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है, जीवन का आधार है। मानव हृदय 250-350 ग्राम का होता है। महिलाओं का हृदय वजनी होता है। स्वस्थ व्यक्ति का हृदय (दिल) औसतन एक मिनट में 72 बार धड़कता है।

हृदय-रोगों की समस्या-वर्तमान में हृदय रोगियों की संख्या चौंका देने वाली गति से बढ़ रही हि। विश्व में 180 लाख लोग औसतन हर साल हृदय-रोगों के कारण मौत के शिकार होते हैं। 80 प्रतिशत हृदय जनित मौतें विकसित और गरीब देशों में होती हैं। अनुमान है कि वर्ष 2030 में 2 करोड़ 40 लाख लोग हर साल हृदय रोग के शिकार होंगे। भारत में नगरों में होने वाली मौतों में 33 प्रतिशत मौतें हृदय-रोग के कारण होती हैं। हृदय-रोग के आक्रमण के शिकार बने लोगों में से आधे लोग तो अस्पताल पहुँचने से पहले ही मर जाते हैं। चार में से एक मौत भारत में कोरोनरी धमनी रोगों के कारण हो रही है। भारत में 6 करोड़ के लगभग हृदय रोग के मरीज हैं। अज्ञानता के कारण हृदय-रोग का बीज-निक्षेप बाल्यावस्था में ही हो जाता है। हृदय-रोग का एक दयनीय पहलू यह है कि इसका आक्रमण होने पर हृदय का जो अंश निर्जीव हो जाता है, वह पुन: सजीव नहीं हो सकता है। हाँ, उस जख्म में सामान्य कोषों के द्वारा रुझान आ जाता है। किन्तु वे कोष हृदय की मूल मांसपेशियों जैसे नहीं होते। फलत: हृदय सदा के लिए दुर्बल हो जाता है। हर साल विश्व में हृदय की रक्त वाहिनिकाओं में रुकावट होने से 3 लाख से ज्यादा एंजियोप्लास्टी और उससे भी ज्यादा बाई-पास सर्जरी होने लगी हैं। बड़े-बड़े शहरों में फाईव स्टार हॉस्पिटल द्वारा प्रतिदिन हृदय रोगों की जाँच तथा उपचार हेतु एंजियोग्राफी, एंजियोप्लास्टी, बाई-पास सर्जरी के बड़े-बड़े विज्ञापन आ रहे हैं, किन्तु हृदय-रोग बचाव और रोकथाम के बारे में बहुत कम प्रचार-प्रसार हो रहा है। दिल में लगने वाले स्टेण्ट का बाजार 22 से 25 प्रतिशत की गति से बढ़ रहा है। हृदय उपचार सम्बन्धी उत्पादों का व्यवसाय 144 अरब रुपये के आस-पास पहुँच गया है। हृदयप्रत्यारोपण भी होने लग गया है, किन्तु हृदय-सम्बन्धी उपचार महँगा होता जा रहा है। इसलिए हृदय रोगों की रोकथाम महत्त्वपूर्ण है।

हृदय-रोगों के बढ़ने का कारण

(1) आहार-विहार और व्यवहार में बड़ा परिवर्तन ही हृदय (दिल) की बीमारियों के बढ़ने का कारण है। हम आलसी और स्वास्थ्य के प्रति लापरवाह हो गये हैं, हमारे पास स्वास्थ्य के लिए वक्त नहीं है। हमारे खाने में तले हुए और मीठे खाद्य पदार्थों की अधिकता हो गई है। समस्या यह नहीं है कि हम खाना ज्यादा खाते हैं, समस्या यह है कि हम उसे पचाने के लिए कुछ नहीं कर रहे हैं।

(2) हमारे जीवन से शारीरिक श्रम गायब हो गया है। हम यान्त्रिक हो गये हैं। इसकी वजह से हमारे शरीर में फैट (वसा) और कॉलेस्ट्राल बढ़ रहा है, जिसका सीधा असर हृदय (दिल) पर हो रहा है।

(3) हमारे जीवन में भौतिक सुविधाएँ तो बढ़ी हैं, लेकिन मानसिक शान्ति गायब हो गई है। मानसिक अशान्ति और तनाव भी हृदय रोग का प्रमुख कारण है।

(4) हमारे जीवन जीने का तरीका बदल गया है, प्रकृति से तालमेल टूट गया है, हम जीने के लिए नहीं खाते बल्कि खाने के लिए जीते हैं। खाते भी ऐसा कि जिससे दिल की शिराओं के बीच रुकावट हो जाती है। पहले दवा खाकर फिर एंजियोप्लास्टी और बाई-पास सर्जरी कराकर जीने की कोशिश करते हैं।

(5) दिल का दिमाग से बहुत गहरा नाता है, अगर दिमाग ठण्डा है तो दिल भी शान्त रहता है, लेकिन अगर दिमाग में गर्मी हो, तेजी हो, उत्तेजना हो तो उसका सीधा असर हृदय (दिल) पर पड़ता है।

दिल का मर्ज किसको अधिक

(1) आँकड़े बताते हैं कि दिल का मर्ज पैसे वालों को, आरामतलबी जीवन जीने वालों को या ज्यादा खाने वालों को ही अधिक होता है। मेहनत, मजदूर, कसरत-वर्जिश और योग-ध्यान करने वाले दिल के मर्ज से, दिल के रोगों से बचे रहते हैं।

(2) हमारे देश में ऐसे तमाम योगी, साधक, मुनि-साधु, सिद्ध और फकीर हैं जो कई वर्षों तक, सौ वर्षों तक जीते हैं और जिन्दगी भर डॉक्टर का मुँह नहीं देखते हैं।

हृदय-रोगों से बचाव हेतु जैन जीवनशैली

जैन जीवनशैली संयम, व्रत एवं नियमों के साथ जीवन जीने की प्रेरणा देती है, जिससे खान-पान पर नियन्त्रण और संयम होता है, साथ ही अनावश्यक इच्छाएँ भी नियन्त्रित हो जाती हैं। आहार-संयम पर जैन जीवनशैली में विशेष बल दिया गया है-

(1) जैन जीवनशैली के अन्तर्गत छह विगयों का सीमित मात्रा में उपयोग करने पर बल दिया जाता है। वसा तथा कॉलेस्ट्राल बढ़ाने वाले पदार्थ यथा-दूध, दही, घी (मक्खन), तेल, मीठा (शक्कर, गुड़) तले हुए पदार्थ इन छह विगयों का सीमित मात्रा में उपयोग करने से हृदय की रक्त वाहिकाओं में वसा-कॉलेस्ट्राल का जमाव नहीं होगा, तो हृदय की रक्तवाहिकाओं में रुकावट नहीं होगी एवं हृदय-रोग नहीं होगा।

(2) जैन जीवनशैली में चार महाविगय-माळस, मदिरा, मधु, मक्खन का पूर्णरूपेण त्याग करना, शुद्ध शाकाहारी सात्त्विक-भोजन करना विधेय है। सात्त्विक जीवन जीने से बचाव हो सकेगा। अण्डे और मांसाहारी भोजन में कॉलेस्ट्राल अत्यधिक मात्रा में होने से मांसाहारियों की रक्तवाहिनी-धमनियों में अवरोध होने से हृदय-रोग तथा लकवे की शिकायत हो सकती है। आहार वैज्ञानिकों तथा चिकित्सकों ने सिद्ध कर दिया है कि मांसाहार से मनुष्य में अनेक प्रकार के रोग होते हैं, उनमें हृदय-रोग प्रमुख है। इस कारण विदेश में बड़ा वर्ग मांसाहार छोड़कर शाकाहार की ओर मुड़ रहा है।

(3) नमक, शक्कर के कम मात्रा में उपयोग करने को जैन जीवनशैली में महत्त्व दिया गया है। अत: नमक के कम उपयोग करने, खाली पेट शक्कर या मीठा न खाने से गुर्दे और हृदय रोगों से बचा जा सकता है। नमक के नियन्त्रण में आयम्बिल तप मददगार होता है।

(4) जैन जीवनशैली के तहत इच्छाओं पर अंकुश रखने तथा जीवन में सन्तोष धारण करने पर अत्यधिक बल दिया गया है। इच्छाओं पर नियन्त्रण रखने और सन्तोष धारण करने से हम अशान्ति एवं तनाव से मुक्त रहकर हृदय रोग से बच सकेंगे।

(5) तम्बाकू, धूम्रपान, गुटखा, भाँग, गाँजा, अफीम और अन्य मादक तथा व्यसनीय पदार्थों का जैन जीवनशैली में पूर्णतया निषेध है। इन व्यसनीय, मादक पदार्थों का पूर्णतया त्याग करने से हृदय रोगों से बचाव और हृदय रोगों की रोकथाम सम्भव है।

(6) जैन जीवनशैली में भूख से कम खाना यानी अवमौदर्य (ऊनोदरी) का पालन करने पर जोर दिया गया है। ठूँस-ठूँसकर खाना रोगों को निमन्त्रण देना है। मोटापा, हृदय-रोग अत्यधिक खाना खाने और शारीरिक श्रम न करने से होते हैं। अत: भूख से कम खाने

से जहाँ पाचन ठीक रहता है, वहाँ हृदय-रोग से भी बचाव होता है।

उपर्युक्त वर्णित जैन पद्धति से जीवन जीने के तरीकों का पालन करने के साथ ही रोजाना कम से कम 45 से 50 मिनट, तेजी से पेड़-पौधे वाले स्थानों पर अहिंसक तरीके से बगीचे में घूमना चाहिए। एक दिन में दस हजार क़दम घूमें, एक मिनट में 60 से 80 क़दम चलें, एक बार में 80 ग्रास से ज्यादा भोजन न करें, एक दिन में 80 प्राणायाम करें। 80 मिनट सकारात्मक चिन्तन करें, समभाव-समता धारण करें। वर्ष में 80 दिन अनाज का त्याग करें।

दिल की धड़कन, कमर-चौड़ाई, ब्लडप्रेशर (रक्तचाप) को नियन्त्रित रखने तथा नुकसानदायक कॉलेस्ट्राल को बढ़ने से रोकने के लिए उपर्युक्त वर्णित जैन जीवनशैली के नियमों का पालन करना चाहिए।

इसके साथ ही गुर्दे और फेफड़ों की गतिविधियों पर ध्यान दें तथा समय-समय पर स्वास्थ्य की जाँच करावें। Hurry (जल्दबाजी), Worry (चिन्तन) और Curry (तली-भुनी, तैलीय पदार्थ के सेवन) से बचें।

व्यक्तिगत स्तर पर हमें अपनी जीवन शैली को जैन जीवनशैली के रूप में सुधारने की आवश्यकता है। याद रखें-दिल है, तो जान है। जान है तो जहान है।।

अन्त में हृदय-रोग से बचाव के लिए तीन नियमों का पालन करें-

(1) नियमित, आध्यात्मिक-शारीरिक व्यायाम, सामायिक-स्वाध्याय और प्रतिक्रमण।

(2) ध्यान-प्राणायाम।

(3) सात्त्विक जीवन, सकारात्मक सोच युक्त तनाव रहित जीवन।

(4) सात्त्विक, सादा, शाकाहारी भोजन का उपयोग, व्यसनमुक्त जीवन का दृढ़ता से पालन तथा शारीरिक श्रम करें।

-बी. 174, मालवीय नगर, जयपुर-302017 (राज.)

सामायिक-स्वाध्याय करें

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.

- सामायिक और स्वाध्याय जीवन-निर्माण के महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं, इन्हें जीवन का अंग बनायें।
- मात्र सामायिक की वेशभूषा सामायिक नहीं, सामायिक है 'सम' की आय। समताभाव इस अर्थ में सामायिक है। सामायिक में बैठने पर समताभाव एवं वीतरागता का पोषण होना चाहिए। सामायिक करने वाला अपने समान ही दूसरों को समझता है। जैसा मेरा जीव है वैसे ही दूसरों का जीव है, जैसे मैं सुख चाहता हूँ, वैसे ही दूसरे भी सुख चाहते हैं। इस प्रकार सामायिक करने वाले में कषाय-शमन के साथ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के भाव जागृत होते हैं।
- स्वाध्याय के प्रकाश में सामायिक करने का अनूठा लाभ है। स्वाध्याय जीवन को दिशा देता है तो सामायिक उसको शान्ति प्रदान करती है।
- सामायिक करे और समता नहीं आवे, ऐसा नहीं हो सकता। घी खावे और चिकनाहट नहीं आवे, कभी सम्भव नहीं।
- मात्र वाचना कर लेना स्वाध्याय नहीं है, पृच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा एवं धर्म-कथा के साथ स्व का अध्ययन स्वाध्याय है।
- आचार्य भगवन्त (श्री हस्तीमल जी म.सा.) ने सामायिक-स्वाध्याय की महती प्रेरणा की। इन्हें जीवन-निर्माण के लिए अपनाएँ।

-हीरा प्रवचन पीयूष, भाग-2 से गृहीत

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 461
ISSN 2249-2011

सुखमय जैन जीवनशैली के कुछ सूत्र

श्री मनीष जैन 'उज्ज्वल'

प्रत्येक व्यक्ति के सामने एक चुनौती है। चुनौती यह है कि वह अपना वर्तमान जीवन सुखमय कैसे जीए? उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जन्म, मृत्यु, रोग, शोक-दु:ख हैं (उत्तराध्ययनसूत्र 19/16)।

यह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सच है कि जो जन्मता है वह मरता भी है। जीएगा तो शरीर और आत्मा साथ-साथ रहेगी। देह है तो रोग भी है, शोक भी है, चिन्ता भी है और अन्य बाधाएँ भी हैं।

रोग वर्तमान की जड़ है, भय भविष्य की आशंका है और शोक अतीत का पश्चात्ताप है। बस इन्हीं चुनौतियों के साथ व्यक्ति जीवन जी रहा है। व्यक्ति के साथ यह दु:ख तब तक रहने वाला है जब तक वह अनन्त सुख को प्राप्त नहीं कर ले।

व्यक्ति अनन्त सुख को पाना ही चाहता है तो पहले उसे वर्तमान को सुखमय बनाने का प्रयास करना होगा। संसार में सभी मनुष्य सुखपूर्वक जीने के आकांक्षी हैं। महापुरुषों ने सुखमय जीवन शैली के कुछ सूत्र बताये, जिसके आचरण से वर्तमान में सुखपूर्वक जीने की इच्छा पूर्ण हो सकती है-

अशुभ विचारों की उपेक्षा

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का प्रभाव हमारें विचारों पर पड़ता है। फिर विचारों का प्रभाव हमारे तन, मन, आत्मा, व्यवहार, स्वास्थ्य और जीवन शैली पर पड़ता है। बुरे विचारों को आश्रय देने में बहुत बड़ा खतरा है, क्योंकि एक बार उनका सम्मान करके दिल में जगह दे दी तो वे वहीं स्थान बना लेते हैं। उसके बाद प्रयास करके भी बाहर निकालना मुश्किल हो जाता है।

बुरे विचारों की पहचान होनी भी आवश्यक है। पहले विवेक से उनको जानना, फिर ज्ञान के डण्डे द्वारा उन्हें अपने दिलो-दिमाग में से बाहर निकाल देना। संसार में रहने वाले गृहस्थ हों या साधक, सबके लिए अशुभ विचारों का नियमन, निग्रह बहुत जरूरी है। संसार के पदार्थ, अन्य व्यक्ति एवं परिस्थितियाँ उतनी दु:खदायी नहीं, जितने कि ये अशुभ विचार हैं।

वर्तमान को सुखमय बनाने के लिए अशुभ विचारों को 'Let Go' कहना अर्थात् उनकी उपेक्षा करना ही सुखदायी है।

अपेक्षा की करें उपेक्षा

संसार में किन्हीं भी दो व्यक्तियों का चेहरा, प्रकृति, विचार, व्यवहार एक समान नहीं होते। अत: हम किसी के समान नहीं बन सकते, और न ही कोई अन्य हमारे समान बन सकता है, अपेक्षा से उपेक्षा जन्मती है, जो मूलत: दु:ख का कारण बनती है। हम अपेक्षा द्वारा नहीं, अपनी योग्यता से, अपनी अभिव्यक्ति से स्तरीय स्थान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार मिली सन्तुष्टि ही हमारे जीवन के लिए हितकारी रहेगी। इसलिए किसी से अपेक्षा रखकर अपने सुख-दु:ख की तुलना किसी और के साथ नहीं करने से जीवन में सुख-शान्ति का अनुभव होता रहेगा।

सकारात्मक चिन्तन

हमेशा सकारात्मक चिन्तन रहना चाहिए। हमारा मन चञ्चल प्रकृति का होने के कारण वह बहुत जल्दी नकारात्मकता में दौड़ जाता है। जो व्यक्ति सुखपूर्वक जीवन जीने के अभिलाषी हैं, उन्हें अपने चिन्तन के तरीके का अन्तरवलोकन करना होगा। सकारात्मक सोच वाले साधक कभी किसी के दोष नहीं देखकर अपनी आत्मा की ही निन्दा, गर्हा करते हैं। वे स्वयं के दोष देखते हैं, दूसरों के नहीं। सकारात्मक चिन्तन ही मनुष्य के सुखमय जीवन का राज है।

मन निर्मल रखें

निर्मल मन में ही अच्छे विचारों का निवास होता है। हमारे आगम कहते हैं कि सरल, स्वच्छ मन में ही धर्म तत्त्व ठहर पाता है। जहाँ धर्म होता है वहाँ तो सुख होना ही स्वभाविक है। मन हमारे व्यक्तित्व का दर्पण है। मन अच्छा है तो व्यक्ति भी अच्छा है। मन बुरा है तो व्यक्ति बुरा है। रोगी मन व्यक्ति को अशान्त बना देता है। सुखपूर्वक जीने के लिए मन की निर्मलता आवश्यक है।

मुस्कुराहट रखें

हमारी मुस्कान हमारे मन को भी तरोताजा करती है तो सामने वाले को अपनत्व से भरा एहसास भी देती है। 'Smile Goes For Miles' इस कहावत के अनुसार समझना है कि हमारी मुस्कुराहट हमसे दूर यानी परायों को भी अपना बना देती है। चाहे कितनी भी थकान, वेदना अथवा प्रतिकूलता हो, सामने वाले की एक मीठी मुस्कान हमें ऊर्जा से भर देती है। मुस्कुराने वाला स्वयं ही अपूर्व शक्ति, प्रसन्नता और ऊर्जा से भर जाता है। जीवन में सुखानुभूति के लिए हमेशा अपने चेहरे पर मुस्कुराहट बनायें रखें।

वर्तमान में जो सुखपूर्वक जीना चाहता है और अनन्त सुख को प्राप्त करना चाहता है वह व्यक्ति महापुरुषों के द्वारा बतायी गयी सुखमय जीवनशैली के सूत्रों को अपने जीवन में अपनायश्र और उन पर अमल करे।

-'आचार्य हस्ती मेधावी छात्रवृत्ति योजना'
No. 5, Car Street, Poonamallee, CHENNAI-600056 (Tamilnadu)

विष से भी अधिक भयंकर : क्रोध

श्री श्रीकान्त गुप्ता

कोई कहता था क्रोध विष के समान होता है,
कोई कहता था क्रोध में व्यक्ति बेभान होता है।
कोई कहता था क्रोध शान्ति को निगल जाता है,
कोई कहता था क्रोध से सुख, दुःख में बदल जाता है।।
लेकिन क्रोध को जब नजदीक से देखने का अवसर आया,
तो क्रोध को विष से भी अधिक भयंकर और ज़हरीला पाया।
क्रोध मात्र शान्ति का नहीं, आत्मा के गुणों का भी घात करता है,
क्रोध मात्र सुख पर ही नहीं, आत्मानन्द पर भी आघात करता है।।
क्षणमात्र का क्रोध भी कितना घातक हो सकता है?
जो अमृतमय जीवन में भी विषकंटक हो सकता है।
अल्पतम क्रोध भी दीर्घतम आनन्द को हिला देता है,
क्रोध का सामना क्रोध से करने पर तो पछताना ही पड़ा है।
इसीलिए अपने भावों को सार्वजनिक बताना पड़ा है।।
क्रोध का निमित्त मिलने पर भी जो विचलित नहीं होते,
पौद्गलिक प्रतिकूल शब्दों के प्रभाव से जो व्यथित नहीं होते।
शत-शत नमन! शत-शत वन्दन! उन महापुरुषों को,
जिनके मन में क्रोध के बीज ही अंकुरित नहीं होते।।

-आई.आई.सी.एस., सरदारपुरा, जोधपुर (राज.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 463
ISSN 2249-2011

जैन संस्कृति में सेवा-भाव

संकलन : श्री रेणुमल जैन

- जैन समाज ने जन-समाज की सेवा की है। सुदूर इतिहास को अलग रखकर भी केवल गुजरात, मारवाड़, मेवाड़ या कर्नाटक आदि प्रान्तों का एक बार भ्रमण करें, पहाड़ों की चट्टानों पर शिलालेख पढ़ें तो मालूम हो जायेगा कि जैन संस्कृति क्या है? उसके साथ जन-सेवा का कितना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है?
- संस्कृति व्यक्ति की नहीं होती, समाज की होती है और समाज की संस्कृति का अर्थ है-समाज अधिक से अधिक सेवा की भावना से ओतप्रोत हो, उसमें द्वेष नहीं, प्रेम हो; द्वैत नहीं, अद्वैत हो; विभिन्नता में भी समानता हो। संस्कृति का यह विशाल आदर्श जैन संस्कृति में पूर्णतया घटित होता है। इसके लिए जैनधर्म का गौरवपूर्ण उज्ज्वल अतीत पूर्णरूपेण साक्षी है। हमें जन-सेवा को ही भगवान की सच्ची उपासना समझनी है।
- भगवान ने अपने प्रवचन में कहा-"वैयावृत्त्य करने से, सेवा करने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है।" साधारण जन-समाज में सेवा का आकर्षण पैदा करने के लिए भगवान महावीर का यह उदात्त प्रवचन महनीय है।
- जैन सम्राट् 'सम्प्रति' सेवा के क्षेत्र में प्रसिद्ध रहे हैं। जैन इतिहास बताता है कि सम्राट् के हृदय में जन-सेवा की भावना किस प्रकार कूट-कूट कर भरी हुई थी और किस प्रकार उन्होंने उसे कार्यरूप में परिणत कर जैन संस्कृति के गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखा। महाराजा कलिंग चक्रवर्ती खारवेल और गुर्जर-नरेश कुमारपाल ने भी सेवा के क्षेत्र में जैन संस्कृति की मर्यादा को बराबर सुरक्षित रखा।
- यदि आप सेवा न करें और यह विचार करें कि इसने कभी मेरा काम तो किया ही नहीं। मैं ही इसका काम क्यों करूँ? कष्ट पाता है तो पाए अपनी बला से, मुझे क्या लेना-देना? यह सही सोच नहीं है।
- जिस प्रकार योगी समदृष्टि होता है, शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखता है, सुख-दुःख, अपमान-सम्मान, निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ आदि की अनुकूलता, प्रतिकूलता में समता से रहता है उसी प्रकार सेवक भी शत्रु-मित्र के प्रति समता-भाव रखता है तथा सबका हित ही करता है।"
- सेवा में सुख-सुविधा का विशेष त्याग करना पड़ता है। उदाहरणार्थ रोगियों की सेवा में। सेवक को रोगी के मलमूत्र, उल्टी-पीप आदि घृणित पदार्थ साफ करने होते हैं। उसे घृणा को जीतना होता है। रोगी की शुश्रूषा के लिए रात-भर जागना पड़ता है। क्षय, कोढ़, हैजा आदि संक्रामक रोग से ग्रस्त रोगियों के सम्पर्क में आना और स्वयं को रोगग्रस्त होने की सम्भावना का खतरा उठाकर सेवा करना कितना महान् कार्य है। इसका प्रत्यक्षीकरण विभिन्न सेवा-स्थलों में किया जा सकता है।
- सेवा मानव-जीवन की विशेषता है। गृहस्थ ही नहीं साधु-वर्ग को भी सेवा-धर्म को बड़ी कठोरता से पालन करना होता है। भगवान महावीर ने कहा- यदि कोई साधु अपने बीमार या संकटापन्न साथी को छोड़कर तपश्चरण करने लग जाता है, शास्त्र-चिन्तन में संलग्न हो जाता है तो वह अपराधी है, संघ में रहने योग्य नहीं है। उसे प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा अन्यथा उसकी शुद्धि नहीं हो सकती।

(लेखक अब स्वर्गस्थ)

-स्वास्तिक प्लाईवुड, एफ-2, अंजुमन कॉम्प्लेक्स, सदर, नागपुर-440001 (महा.)

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 464
ISSN 2249-2011

गुरु-हस्ति-गुणाष्टकम्

(वसन्ततिलकावृत्तम्)

श्रद्धेय श्री विनम्रमुनिजी म.सा.

पीपाड़ शहर में परमश्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के पावन सान्निध्य में श्रद्धेय श्री विनम्रमुनिजी म.सा. द्वारा प्रवचन में सामायिक-स्वाध्याय के प्रबल प्रेरक, युगमनीषी, अध्यात्मयोगी, प्रतिपल स्मरणीय, परम श्रद्धेय आचार्य भगवन्त श्री हस्तीमलजी म.सा. के 100वें दीक्षा दिवस (दीक्षा शताब्दी) के अवसर पर प्रस्तुत भावाभिव्यक्ति। **-सम्पादक**

आचारपञ्चक-समाचरणैकदक्षम्,
संसार-सागर-समुत्तरणैकचित्तम्।
विश्वोपकार-करणे सततैकनिष्ठम्,
तं हस्तिमल्लगणिनं सततं स्मरामि।।1।।

आजन्मनोऽनुभजमान-विरक्तभावम्,
आशैशवात् प्रदलितस्मररक्तचित्तम्।
आ संयमात् गहनशास्त्रनिबद्धबुद्धिम्,
तं हस्तिमल्लगणिनं सततं स्मरामि।।2।।

यैः प्रस्तुताः गहनशास्त्रविशुद्धबोधात्,
जैनेतिहास-सरलीकृत-शास्त्र-टीकाः।
चन्द्रोपमश्च गगने सुधियां समाजे,
तं हस्तिमल्लगणिनं सततं स्मरामि।।3।।

सारं निनाय सकलार्हतशास्त्रमध्यात्,
सद्धर्मदानमतुलं श्रुतदेशनाभिः।
अर्हद्विरः प्रतिगृहं प्रचचार बाढं,
तं हस्तिमल्लगणिनं सततं स्मरामि।।4।।

लावण्य-कल्पललना-कलनाकलायाः,
लाम्पट्यलालसभरा ऋषयो भवन्ति।
ब्रह्मौजसा विनिहतः खलु शम्भरारिः,
तं हस्तिमल्लगणिनं सततं स्मरामि।।5।।

गाढं दुराग्रहवशाच्च सिवाञ्चिपट्टे-
रागत्य तं चिरविवादमपास्त दूरं।
सर्वत्र शान्तिमकरोत् शुभभावनाभिः,
तं हस्तिमल्लगणिनं सततं स्मरामि।।6।।

ङ्गशैथिल्यभाग् भवतु मा किल कोऽपि
साधकः,
एतद्धिया दृढतरा नियमाः प्रदत्ताः।
अद्यापि तानुचरन्ति च तत्प्रभावात्,
तं हस्तिमल्लगणिनं सततं स्मरामि।।7।।

कालाच्चिरात् क्षितितलात् त्रिदिवं गतेऽपि,
अद्यापि भाति भुवि यस्य यशःशरीरम्।
भक्ता रटन्ति शुभनाम पवित्र-मन्त्रम्,
तं हस्तिमल्लगणिनं सततं स्मरामि।।8।।

(भुजङ्गप्रयात वृत्तम्)

विनम्रो मुनिर्भोः प्रशिष्यस्त्वदीयः,
सभक्त्या त्वयि त्वष्टकं व्याचकार।
पठेत्कोऽपि भक्त्या पवित्रान्तरात्मा,
सुखं तस्य सर्वं भवेद् भावशुद्धिः।।9।।

10-11 दिसम्बर 2020
जिनवाणी 465
ISSN 2249-2011

प्रस्तुत विशेषाङ्क हेतु उदारमना श्रावकों का श्रद्धार्पण

1.	श्री कैलाशचन्दजी, श्री प्रकाशचन्दजी, श्री विमलचन्दजी हीरावत, जयपुर	31,000
2.	श्री संदीपजी माँगीलालजी मुणोत (भोपालगढ़ वाले) शिरपुर	21,000
3.	श्री विनोदजी, श्री विवेकजी, श्री विज्ञानजी लोढा, जयपुर	15,000

11,000 रुपये

4. श्री बुधमलजी, पदमचन्दजी, चैनराजजी कोठारी, अहमदाबाद
5. श्री कन्हैयालाल विमलादेवी हिरण चेरिटेबल ट्रस्ट, अहमदाबाद
6. श्री हरकचन्दजी बोथरा, अजमेर
7. श्री कान्तिलालजी केवलचन्दजी गाँधी, अमरावती
8. श्री मीठालालजी, जितेन्द्रकुमारजी, गौतमचन्दजी छाजेड़ 'मधुर', बालोतरा
9. श्री ओमप्रकाशजी, मनीषजी, अभिषेकजी बाँठिया, बालोतरा
10. श्री रूपकुमारजी, मोहनराजजी, मदनराजजी, धर्मेश कुमारजी चौपड़ा (कवास वाले), पाली, जोधपुर, बालोतरा, सूरत
11. श्री चेतनप्रकाशजी शान्तिलालजी डूंगरवाल, बैंगलूरू
12. वीर परिवार-श्री धनरूपमलजी अमित कुमारजी, श्री अभिजीत जी मेहता, बैंगलुरू
13. श्री ज्ञानचन्दजी, श्री विजयकुमारजी, श्री अजयकुमारजी रेड, बैंगलुरू
14. श्री पदमराजजी श्री अमितजी श्री आशीषजी मेहता, बैंगलुरू
15. श्रीमती सुशीलादेवी श्री नरेन्द्रजी भण्डारी, बैंगलुरू
16. श्री भगवानजी अमितजी सुराणा, बीकानेर
17. श्री इन्दरमलजी मनीषकुमार जी सुराणा, बीकानेर
18. श्री सुधाजी नवीनजी डागा, बीकानेर
19. श्री बुधमलजी बोहरा, चेन्नई
20. श्री दलीचन्दजी नवरत्नजी कवाड, चेन्नई
21. श्री गौतमजी सुराणा, चेन्नई
22. श्री हरीशकुमारजी यशकुमारजी कवाड, चेन्नई
23. श्री इन्दरचन्दजी राजकुमारजी सुराणा, चेन्नई
24. श्री कल्पेशजी पंकजकुमारजी कवाड, चेन्नई
25. श्री नरेन्द्रजी वीरेन्द्रजी कांकरिया, चेन्नई
26. श्री पी. शिखमलजी सुराणा, चेन्नई
27. श्री पदमचन्दजी रौनकजी कवाड, चेन्नई

28. श्री प्रसन्नचन्दजी दिनेशजी कवाड, चेन्नई
29. श्री प्रेमकुमारजी ललिताजी कवाड, चेन्नई
30. श्री रविन्द्रकुमारजी मनोज जी कवाड, चेन्नई
31. श्री सुरेशकुमारजी धीरजजी कवाड, चेन्नई
32. श्री बाबूलालजी, नरेन्द्रकुमारजी, जिनेन्द्रकुमारजी, राजेन्द्रकुमारजी जिंदल, देई
33. स्व. श्री अमरचन्दजी, स्व. श्रीमती विजयाकुमारीजी, अभयकुमारजी, कुलदीपजी लोढ़ा, गोटन
34. श्री हंसराजजी प्रदीपजी चौपड़ा, गोटन
35. श्री मोहनलालजी, कैलाशचन्दजी, श्रीपालजी, शान्तिलालजी देशलहरा, हैदराबाद
36. श्री मोहनलालजी, सुमेरचन्दजी, मूलचन्दजी, हर्षिलजी चौरडिया, इन्दौर
37. श्री मदनलालजी राजेशजी बाघमार, जबलपुर
38. श्री विमलचन्दजी डागा, जयपुर
39. श्री बादलचन्दजी कर्णावट, जयपुर
40. श्री ज्ञानचन्दजी श्री विनयजी कोठारी, जयपुर
41. श्री हेमन्तजी, डॉ. शरद जी डागा, बून्दी वाले, जयपुर
42. श्री जसराजजी चौपड़ा, जयपुर
43. श्रीमती कंचनकुमारीजी, श्री विनयचन्दजी, श्री नरेन्द्रकुमारजी डागा, जयपुर
44. श्री केवलचन्दजी, पुखराजजी, देवेन्द्र जी जैन (जरखोदा वाले), जयपुर
45. श्री महेन्द्रसिंहजी कर्णावट, जयपुर
46. श्री मनीषजी मेहता, जयपुर
47. श्रीमती मंजू पदमचन्दजी कोठारी, जयपुर
48. श्री नवरतनजी कोठारी (के.जी कोठारी परिवार), जयपुर
49. श्री प्रदीपजी श्रीमती मधुजी मोदी, जयपुर
50. श्री प्रदीपजी मेहता, जयपुर
51. श्री प्रमोदजी श्री अंकितजी लोढ़ा, जयपुर
52. श्री प्रमोदजी मोहनोत, जयपुर
53. श्री रिषभजी लोढ़ा, जयपुर
54. श्री सुमेरसिंहजी उपेन्द्रजी बोथरा
55. श्री सूरजराजजी मेहता, जयपुर
56. श्री सुशीलजी सिंघवी, जयपुर
57. श्री उम्मेदराजजी एवन्तराजजी, यशकुमार जी डूंगरवाल, जयपुर
58. श्री विमलजी विक्रमजी ललवाणी, जयपुर
59. श्री पूनमचन्दजी जामड, जयपुर
60. श्रीमती मंगलाजी ईश्वरजी चोरडिया, जलगाँव

61. श्री अचलराजजी, जितेन्द्रजी, सुरेशजी, हर्षजी डागा, जोधपुर
62. छोटमल लाडकँवर नव-सुमन डागा चेरिटेबल ट्रस्ट, जोधपुर (ट्रस्टी-श्री नवरतनजी पुनीतजी डागा)
63. श्री चंचलमलजी बच्छावत, कोलकाता
64. श्री केवलचन्दजी कांकरिया एण्ड फेमिली, कोलकाता
65. श्री प्रवीणकुमारजी मनोजकुमारजी संकलेचा, चेन्नई
66. श्री धर्मचन्दजी सुरेशचन्दजी जैन, कुशतला, सवाईमाधोपुर
67. मैं. कल्पतरू लिमिटेड, मुम्बई
68. श्री विनीतजी गोठी, मुम्बई
69. श्री सुभाषजी, अशोकजी, बिपिनजी,, सुनितजी, यशजी, वरितजी धोका, मैसूर
70. श्री एस. मंगलचन्दजी जैन, पल्लीपेट, तिरूवल्लुर
71. श्रीमती सुशीला जी पितलिया पत्नी श्री सोहनलालजी पितलिया, रतलाम
72. श्री सुनीलजी नाहटा श्री अनीलजी नाहटा, बैंगलौर वाले, बंगारपेठ (10,000/-)

5,100 रुपये

73. श्री महावीरचन्दजी भण्डारी, मुम्बई
74. श्री विवेक जी मोहनोत, अजमेर
75. श्री क्राान्तिचन्दजी मेहता, अलवर
76. वीर परिवार-श्री बस्तीमलजी श्री अमितकुमार जी श्रीश्रीमाल (शिमोगा वाले), बैंगलुरू
77. श्री जैन रत्न श्राविका मण्डल, बेंगलुरू
78. श्री भैरूलालजी, पारसचन्दजी, रमेशचन्दजी, पदमजी, वीरेन्द्रजी जैन, चौथ का बरवाडा
79. श्री माणकचन्दजी रविन्द्रकुमारजी जैन, देई
80. श्री ओमप्रकाशजी गोयल, देई
81. श्री राजकुमारजी जिन्दल पुत्र श्री सौभागमलजी जिन्दल, देई
82. श्री सुरेन्द्र कुमार जी गजेन्द्र कुमार जी जिंदल, देई
83. श्री देवेन्द्रजी, योगेन्द्रजी उपेन्द्रजी जैन, फाजिलाबाद
84. श्री निर्मलचन्दजी संजयजी बाघमार, जबलपुर
85. श्री अभिनन्दनजी जैन, राधा निकुंज, मानसरोवर, जयपुर
86. श्री अपूर्व जैन द्वारा-राजस्थान सर्जिकल, जयपुर
87. श्री अशोक कुमारजी सेठ, जयपुर
88. श्री बाबूलालजी, श्रीमती सरोजजी, श्री पीयूषजी जैन, जयपुर
89. श्री दानमलजी डॉ. दीपकजी, लोकेशजी जैन, (जरखोदा वाले) महावीर नगर, जयपुर
90. श्री धर्मचन्दजी प्रदीपकुमारजी जैन (श्यामपुरा वाले) जयपुर
91. डॉ. पारसमलजी, नीरज नयनजी (चौथ का बरवाडा वाले) जयपुर
92. श्री हरकचन्दजी दिनेशकुमार जी जैन, महारानी फार्म, जयपुर

93. श्री जम्बू कुमारजी जैन, जयपुर
94. श्री कपूरचन्दजी डॉ. पंकजजी जैन, (बिलोता वाले) राधा निकुंज, मानसरोवर, जयपुर
95. श्री नरेश कुमारजी सौरभजी जैन, त्रिवेणी नगर, जयपुर
96. श्री नथमलजी श्री अमिताभजी हीरावत, जयपुर
97. श्री पदमचन्दजी गाँधी (थाँवला वाले) जयपुर
98. श्री पारसचन्दजी, हर्षितजी, गौरवजी, ध्रुवजी जैन, देवली वाले, (जैन कचौरी) मुहाना मण्डी, जयपुर
99. श्री प्रजनलालजी, आदीश्वरकुमारजी, नेमीश्वरकुमारजी, सीमंधरकुमारजी, संदीपजी जैन, राधा निकुंज, मानसरोवर, जयपुर
100. श्री पुखराजजी कुचेरिया, जयपुर
101. श्री राजेन्द्रजी जितेन्द्रकुमारजी जैन (गाडोली वाले) नन्दपुरी, सोडाला, जयपुर
102. श्री राजेन्द्रजी राजा, श्री विकासराजजी, श्री हितार्थराजजी जैन, मानसरोवर, जयपुर
103. श्री राजेन्द्रप्रसादजी, अभिषेकजी, डॉ. प्रज्ज्वलजी जैन (जरखोदा वाले) जयपुर
104. श्री रमेशचन्दजी लोकेश कुमारजी जैन, जयपुर
105. श्री रामस्वरूपजी, विनोदकुमारजी, सुशीलजी, राजेशजी जैन (गाडोली वाले), मानसरोवर, जयपुर
106. श्री शान्तिलालजी मेघराजजी जैन, चौरू वाले, जयपुर
107. श्री श्रीचन्दजी बेताला, जयपुर
108. श्री सुरेशचन्दजी शैलेषजी कोठारी, जयपुर
109. श्री विनोदकुमारजी सेठ, जयपुर
110. श्री देवेन्द्रनाथजी मोदी, जोधपुर
111. श्री हस्तीमलजी डोसी, मेडतासिटी
112. श्री नेमीचन्दजी अरिहन्तजी डोसी, मेडतासिटी
113. श्री श्रीपालजी निखिलजी, अंकितजी डोसी, मेडतासिटी
114. श्री अजयजी हीरावत, मुम्बई
115. श्रीमती कमलादेवीजी बाफणा पत्नी स्व. श्री कल्याणमलजी बाफणा, श्री अमरजी बाफणा, मुम्बई
116. श्री आनन्दजी, श्री सूर्यप्रकाशजी, श्री प्रवीणजी कर्णावट, मुम्बई
117. श्री अनिलजी बाबेल, मुम्बई
118. श्री अनिलजी हीरावत, मुम्बई
119. श्री अनिलजी सुराणा, मुम्बई
120. श्रीमती अनीताजी खिंवसरा, श्री अशोकजी खिंवसरा, मुम्बई
121. श्री बसन्तजी मुणोत, मुम्बई
122. श्रीमती बिन्दूजी चौधरी पत्नी श्री गजराजजी चौधरी, मुम्बई
123. श्रीमती चन्द्राजी मुणोत, मुम्बई
124. श्रीमती चेतनजी भोजराजजी बोथरा, मुम्बई

125. श्री चिमनलालजी आशीषजी डांगी, मुम्बई
126. श्री देवेन्द्रजी सिंघवी, मुम्बई
127. श्री धनपतजी भंसाली, मुम्बई
128. श्री दिलीपजी (डी) जैन, मुम्बई
129. श्री दिलीपजी रांका, नासिक
130. श्री गौतमजी, नवरत्नजी, अजीतजी, मनीषजी ओस्तवाल पुत्र स्व. श्री राजमलजी ओस्तवाल, मुम्बई
131. श्री गौतमजी मेहता, मुम्बई
132. गुप्तदान, मुम्बई
133. श्रीमती इन्दूजी कमलेशजी जैन, मुम्बई
134. श्री जम्बूकुमारजी आयुषजी पारख, मुम्बई
135. श्री जयन्तीजी लूंकड़, मुम्बई
136. श्री महेन्द्रजी कुम्भट, मुम्बई
137. श्री मनोजजी जैन, मुम्बई
138. श्रीमती मीनूजी सुखेन्द्रजी लोढ़ा, मुम्बई
139. श्री नरेन्द्रजी हीरावत, मुम्बई
140. श्री पारसचन्दजी हीरावत, मुम्बई
141. श्री पुखराजजी मेहता, मुम्बई
142. श्री राजेन्द्रजी डागा, मुम्बई
143. डॉ. धर्मचन्दजी, रिषभजी, टीकमजी, विनोदजी जैन, जयपुर/मुम्बई/अलीगढ़-रामपुरा (टोंक)
144. श्री शरदजी जैन (बाफणा), मुम्बई
145. श्री रिखबराजजी राहुलजी छाजेड, मुम्बई
146. श्री सुभाषजी धाडीवाल, मुम्बई
147. श्रीमती सुनन्दाजी बसन्तजी जैन, मुम्बई
148. श्री सुनीलजी बादलचन्दजी बोहरा, मुम्बई
149. श्री सुनीलजी लूणिया, मुम्बई
150. श्री सुरेन्द्रजी मेहता, मुम्बई
151. श्री तेजमलजी चितरंजन जी जैन, मुम्बई
152. श्रीमती उर्मिलाजी पंकजजी गोलेछा, मुम्बई
153. श्री विक्कीजी मेहता, मुम्बई
154. श्री वीरेन्द्रजी (सोनूजी) डागा, मुम्बई
155. डॉ. इन्दरजी जैन, मुम्बई
156. श्रीमती हेमलता जी सांखला
157. श्रीमती चमेलीदेवीजी जैन पत्नी स्व.श्री महावीरप्रसादजी जैन, बजरिया, सवाईमाधोपुर

158. श्री ऋषभकुमारजी नैतिक जी जैन, सवाईमाधोपुर
159. श्री सुबाहुकुमारजी, मनोजकुमारजी, मनीषकुमारजी सर्राफ, सवाईमाधोपुर
160. श्री प्रवीणकुमारजी, श्री नितिनकुमारजी, श्री दीपकजी, श्री प्रफुल्लकुमारजी रूणवाल परिवार, बीजापुर/माघवनगर (5,050/-)

5,000 रुपये

161. श्री प्रशान्तजी प्रकाशचन्दजी जामड, अकोला
162. श्री अशोकजी तनुजजी मरलेचा, बैंगलुरू
163. श्री भोपालचन्दजी महेन्द्रजी पगारिया, बैंगलुरू
164. श्री गौतमचन्दजी ओस्तवाल, बेगलुरू
165. श्री हुकमचन्दजी , श्री संतोषजी, श्री विपुलजी, श्री हर्षितजी डोसी, बेंगलुरू
166. श्री कमलचन्दजी मनीषजी सांखला, बैंगलुरू
167. श्रीमती कंचनबाईजी गणेशमलजी, श्री गौतमजी भण्डारी, बेंगलुरू
168. श्री मदनलालजी, श्रीपारसमलजी, श्री शान्तिलालजी बोथरा, बीजापुर/वल्लारी
169. श्री महावीरजी मरलेचा, बैंगलुरू
170. श्री नवरतनजी भंसाली, बैंगलुरू
171. श्री पदमचन्दजी बम्ब, बैंगलुरू
172. श्रीमती पानीबाईजी, श्री धर्मीचन्दजी, श्रीमती सरोजाबाईजी, श्री सुगनचन्दजी मूथा, बेंगलुरू
173. श्री पारसमलजी, श्री हेमन्तकुमारजी, श्री खींवराजजी ओस्तवाल, बैंगलुरू
174. श्री प्रदीपजी उमंगजी चोरडिया, बैंगलुरू
175. श्रीमती पुष्पादेवीजी थानमलजी विनायकिया, बैंगलूरू
176. श्री राजेन्द्रजी कर्णावट, बैंगलुरू
177. श्री सुभाषजी रिषभजी सिंघवी, बैंगलुरू
178. श्री सुनीलकुमारजी, श्री विनीतजी, श्री आशीषजी लोढ़ा, बैंगलुरू
179. श्री हस्तीमलजी, श्री ललितकुमारजी, श्री यशवन्तकुमारजी, श्री रिषभजी, श्री मनीषजी गोलेछा, ब्यावर
180. श्रीमती इचरजबाईजी महावीरचन्दजी श्रीश्रीमाल, चेन्नई
181. श्री प्रवीणजी श्री देवेशजी लोढ़ा, जयपुर
182. श्री अमीरचन्द जी जैन, (सेवानिवृत्त आर.ए.एस), जयपुर
183. श्री देवेन्द्रजी श्री अशोकजी डागा, जयपुर
184. श्रीमती मंजू जी मूसल, जयपुर
185. डॉ. (श्रीमती) मन्जुलाजी, श्री आलोकजी बम्ब, जयपुर
186. श्री मुकेशजी जैन पोद्दार, जयपुर
187. श्री नरेन्द्रकुमार जी जैन, मानसरोवर, जयपुर
188. श्री नरेशचन्दजी योगेश जी जैन, प्रतापनगर, जयपुर

189. श्री नरपतचन्दजी श्री अनिलजी सिंघवी, जयपुर
190. गुप्तदान, जयपुर
191. डॉ. प्रेमसिंहजी लोढ़ा, जयपुर
192. श्री राजेन्द्र कुमारजी श्री रितुलजी पाटवा, जयपुर
193. श्री राजेन्द्रजी संचेती, जयपुर
194. श्री रामकल्याणजी, श्री रविन्द्रकुमारजी, श्री सुशीलजी जैन, जयपुर
195. श्री त्रिलोकचन्दजी संजीवजी कोठारी, जयपुर
196. श्री प्रेमकुमारजी सुनिलकुमार जी चौपडा,जयपुर
197. श्री वीरेन्द्र कुमारजी जैन, प्रताप नगर, जयपुर
198. डॉ एस.एस.भण्डारी, जोधपुर
199. श्री पंकजजी जैन पुत्र श्री पी.आर.जैन, जोधपुर
200. श्री सुभाषजी गुन्देचा, जोधपुर
201. गुप्तदान, जोधपुर
202. श्री एडविथ जी जैन, सूरत
203. श्री धनसुरेशजी, श्री आशीषजी, श्री अमितजी, श्री सुमितजी जैन, सवाईमाधोपुर
204. श्री गणपतजी मनोजकुमारजी जैन, सवाईमाधोपुर
205. श्री राधेश्यामजी, श्री कुशलजी, श्री पदमचन्दजी, श्री अशोक कुमारजी गोटावाले, सवाईमाधोपुर
206. श्री मदनलालजी भंवरलाल जी राठौर, उज्जैन
207. श्रीमती प्रेमलताजी प्रकाशचन्दजी मेहता, सोलसुम्बा स्टेशन, उम्बरगाँव रोड़

समस्त उदारमना लाभार्थियों का हार्दिक आभार।

-अशोक कुमार सेठ, मन्त्री-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

जिन उदारमना श्रावक-श्राविकाओं ने इस विशेषाङ्क हेतु अर्थसहयोग कर लाभ लिया है, किन्तु उनका यदि नाम प्रकाशित होने से रह गया है, तो वे अपने जमा के विवरण के साथ नाम, मोबाइल नम्बर आदि की सूचना कार्यालय सहायक श्री अनिल कुमारजी जैन के मोबाइल नम्बर 9314635755 पर भिजवाकर अनुगृहीत करें, उनके नामों का प्रकाशन जनवरी, 2021 के अंक में किया जाएगा। जिनवाणी कार्यालय के व्यवस्थापक श्री प्रदीपजी बंसल का कोरोना के कारण 17 नवम्बर, 2020 को निधन हो जाने से हो सकता है, कुछ सूचनाएँ हमें सही रूप में प्राप्त नहीं हुई हों।

सादर,

-अशोक कुमार सेठ, मन्त्री-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

अहंकार के वृक्ष पर
विनाश के फल लगते हैं।

ओसवाल मेट्रीमोनी बायोडाटा बैंक

जैन परिवारों के लिये एक शीर्ष वैवाहिक बायोडाटा बैंक

विवाहोत्सुक युवा/युवती
तथा पुनर्विवाह उत्सुक उम्मीदवारों की
एवं उनके परिवार की पूरी जानकारी
यहाँ उपलब्ध है।

ओसवाल मित्र मंडल मेट्रीमोनियल सेंटर

४७, रत्नज्योत इंडस्ट्रियल इस्टेट, पहला माला,
इरला गांवठण, इरला लेन, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६.

फोन : **022 2628 7187**

ई-मेल : **oswalmatrimony@gmail.com**

सुबह १०.३० से सायं ४.०० बजे तक प्रतिदिन (बुधवार और बैंक छुट्टियों के दिन सेंटर बंद है)

स्वर्गीय श्रीमती राधा देवी जैन धर्मपत्नी स्व. श्री धर्मचन्द जी जैन

(13 जुलाई 1948 - 15 सितम्बर, 2020)

आपका प्रेरणादायी व्यक्तित्व हमारे जीवन में प्रकाश स्तम्भ की तरह कार्य करता रहेगा। आपने सदैव परिवार को एक सूत्र में बांधे रखा और सभी की प्रेरणास्रोत रहीं । आप हमेशा धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में अपनी सहभागिता निभाती रहीं। आपकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद से परिवार द्वारा निम्नलिखित मंदिर एवं स्थानक का निर्माण धर्मलाभ हेतु करवाया गया :-

1. श्री महावीर दिगम्बर जैन मन्दिर, हरिमार्ग, सिविल लाइन्स, जयपुर।
2. श्री फतेहचन्द स्मृति जैन स्थानक, 102, गौरव नगर, सिविल लाइन्स, जयपुर
3. श्री धर्मचन्द भवन जैन स्थानक, मैन अजमेर रोड, ठीकरिया जयपुर।
4. श्री महावीर दिगम्बर जैन मंदिर, वर्धमान सरोवर, सी-ब्लॉक, मानसरोवर, जयपुर
5. श्री धर्मचन्द भवन जैन स्थानक, वर्धमान सरोवर, सी-ब्लॉक, मानसरोवर, जयपुर

आपके द्वारा सदैव जैन साधु संतो की सेवा का भाव रखा गया एवं इनके दर्शन लाभ हेतु देश के विभिन्न क्षेत्रों में परिभ्रमण किया। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि आपके दिखाए मार्ग पर सदैव आगे बढते रहें। आपके दिए गए उच्च संस्कार जीवन में हमारा मार्गदर्शन करते रहेंगे। आपके जीवन आदर्श हमारे लिये सदैव प्रेरणा स्रोत रहेंगे।

श्रद्धावनत:

सुरेश जैन, गौरव जैन, गौतम जैन

108, हरिमार्ग, सिविल लाइन्स, जयपुर

:: प्रतिष्ठान ::

*** जैन साड़ी स्टोर * गौरव प्राईवेट लिमिटेड**

90, बापू बाजार, जयपुर । फोन 0141-2577120

गजेन्द्र निधि

आचार्य हस्ती मेधावी छात्रवृत्ति योजना

उज्जवल भविष्य की ओर एक कदम.....

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ

Acharya Hasti Meghavi Chatravritti Yojna Has Successfully Completed 13 Years And Contributed Scholarship To Nearly 4500 Students. Many Of The Students Have Become Graduates, Doctors, Software-Professionals, Engineers And Businessmen. We Look Forward To Your Valuable Contribution Towards This Noble Cause And Continue In Our Endeavour To Provide Education And Spirituals Knowledge Towards A Better Future For The Students. Please Donate For This Noble Cause And Make This Scholarship Programme More Successful. **We Have Launched Membership Plans For Donors.**

We Have Launched Membership Plans For Donors

MEMBERSHIP PLAN (ONE YEAR)		
SILVER MEMBER RS.50000	GOLD MEMBER RS.75000	PLATINUM MEMBER RS.100000
DIAMOND MEMBER RS.200000		KOHINOOR MEMBER RS.500000

Note - Your Name Will Be Published In Jinwani Every Month For One Year.

The Fund Acknowledges Donation From Rs.3000/- Onwards. For Scholarship Fund Details Please Contact M.Harish Kavad, Chennai (+91 95001 14455)

The Bank A/c Details is as follows - Bank Name & Address - AXIS BANK Anna Salai, Chennai (TN)

A/c Name- Gajendra Nidhi Acharya Hasti Scholarship Fund **IFSC Code** - UTIB0000168

A/c No. 168010100120722 **PAN No.** - AAATG1995J

Note- Donation to Gajendra Nidhi are exempted u/s 80G of Income Tax Act 1961.

छात्रवृत्ति योजना में सदस्यता अभियान के सदस्य बनकर योजना की निरन्तरता को बनायें रखने में अपना अमूल्य योगदान कर पूण्यार्जन किया, ऐसे संघनिष्ठ, श्रेष्ठीवर्यो एवं अर्थ सहयोग एकत्रित करने करने वालों के नाम की सूची -

KOHINOOR MEMBER (RS.500000)	PLATINUM MEMBER (RS.100000)
श्रीमान् मोफतराज सा मुणोत, मुम्बई। श्रीमान् राजीव सा नीता जी डागा, ह्यूस्टन। युवारत्न श्री हरीश सा कवाड़, चैन्नई।	श्रीमान् दूलीचन्द बाघमार एण्ड संस, चैन्नई। श्रीमान् दलीचन्द सा सुरेश सा कवाड़, पून्नामल्लई। श्रीमान् राजेश सा विमल सा पवन सा बोहरा, चैन्नई। श्रीमान् प्रेम सा कवाड़, चैन्नई। श्रीमान् अम्बालाल सा बसंतीदेवी जी कर्नावट, चैन्नई। श्रीमान् सम्पतराज सा राजकवंर जी भंडारी, ट्रिपलीकेन-चैन्नई। कन्हैयालाल विमलादेवी हिरण चैरिटेबल ट्रस्ट, अहमदाबाद। प्रो. डॉ. शैला विजयकुमार जी सांखला, चालीसगांव (महा.) श्रीमान् विजय जतिन जी नाहर, इन्दौर श्रीमान् गुप्त सहयोगी, चैन्नई।
SILVER MEMBER (RS.50000)	
श्रीमान् गुप्त सहयोगी, चैन्नई। श्रीमान् गुप्त सहयोगी, चैन्नई। श्रीमती गुप्त सहयोगी, चैन्नई। श्रीमान् महावीर सोहनलाल जी बोथरा, जलगांव (भोपालगढ़) श्रीमान् सोहनराज जी बाघमार, कोयम्बटूर। कन्हैयालाल विमलादेवी हिरण चैरिटेबल ट्रस्ट, अहमदाबाद। श्रीमान् विजयकुमार जी मुकेश जी विनीत जी गोठी, मदनगंज-किशनगढ़ श्रीमान् गुप्त सहयोगी, अहमदाबाद। श्रीमान् गुप्त सहयोगी, मुम्बई। श्रीमान् अमीरचन्द जी जैन (गंगापुरसिटी वाले), मानसरोवर, जयपुर	

सहयोग के लिए चैक या ड्राफ्ट कार्यालय के इस पते पर भेजें - M.Harish Kavad - No. 5, Car Street, Poonamallee, **CHENNAI-56**
छात्रवृत्ति योजना से संबंधित जानकारी के लिए सम्पर्क करें - मनीष जैन, चैन्नई (+91 95430 68382)

'छोटा सा चिन्तन परिग्रह को हल्का करने का, लाभ बड़ा गुरु भाइयों को शिक्षा में सहयोग करने का'

JVS Foods Pvt. Ltd.

Manufacturer of :

NUTRITION FOODS

BREAKFAST CEREALS

FORTIFIED RICE KERNELS

WHOLE & BLENDED SPICES

VITAMIN AND MINERAL PREMIXES

Special Foods for undernourished Children
Supplementary Nutrition Food for Mass Feeding Programmes

With Best Wishes :

JVS Foods Pvt. Ltd.

G-220, Sitapura Ind. Area,
Tonk Road, Jaipur-302022 (Raj.)
Tel.: 0141-2770294
Email-jvsfoods@yahoo.com
Website-www.jvsfoods.com
FSSAI LIC. No. 10012013000138

CERTIFIED ISO 22000 CERTIFIED

Food Safety System Certification 22000

KALPA-TARU®

WELCOME TO A HOME THAT DOESN'T FORCE YOU TO CHOOSE. BUT, GIVES YOU EVERYTHING INSTEAD.

Life is all about choices. So, at the end of your long day, your home should give you everything, instead of making you choose. Kalpataru welcomes you to a home that simply gives you everything under the sun.

022 3064 3065

ARTIST'S IMPRESSION

Centrally located in Thane (W) | Sky park | Sky community | Lavish clubhouse | Swimming pools | Indoor squash court | Badminton courts

PROJECT
IMMENSA
THANE (W)
EVERYTHING UNDER THE SUN

TO BOOK 1, 2 & 3 BHK HOMES, CALL: +91 22 3064 3065

Site Address: Bayer Compound, Kolshet Road, Thane (W) - 400 601. | **Head Office**:101, Kalpataru Synergy, Opposite Grand Hyatt, Santacruz (E), Mumbai - 400 055. | Tel: +91 22 3064 5000 | Fax: +91 22 3064 3131 | **Email**: sales@kalpataru.com | **Website**: www.kalpataru.com

In association with HDFC PROPERTY FUND

This property is secured with Axis Trustee Services Ltd. and Housing Development Finance Corporation Limited. The No Objection Certificate/Permission would be provided, if required. All specifications, designs, facilities, dimensions, etc. are subject to the approval of the respective authorities and the developers reserve the right to change the specifications or features without any notice or obligation. Images are for representative purposes only. *Conditions apply.

If undelivered, Please return to

Samyaggyan Pracharak Mandal

Above Shop No. 182, Bapu Bazar, Jaipur-302003 (Raj.) Tel. : 0141-2575997

स्वामी सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के लिए प्रकाशक, मुद्रक - अशोक कुमार सेठ द्वारा डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर राजस्थान से मुद्रित एवं सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, शॉप नं. 182 के ऊपर, बापू बाजार, जयपुर-3 राजस्थान से प्रकाशित। सम्पादक-डॉ. धर्मचन्द जैन